श्री काशी संस्कृत ग्रन्थमाला ७८

याज्ञवल्क्यस्मृतिः

विज्ञानेश्वरप्रणीत 'मिताक्षरा'-व्याख्या 'प्रकाश'

हिन्दीव्याख्यया च विभूषिता

Reprint

L

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला
१७८

श्रीमद्योगीश्वरमहर्षियाज्ञवल्क्यप्रणीता

याज्ञवल्क्यस्मृतिः

विज्ञानेश्वरप्रणीत 'मिताक्षरा' व्याख्यया
'प्रकाश' हिन्दीव्याख्यया च विभूषिता

हिन्दीव्याख्याकार
डॉ० उमेशचन्द्र पाण्डेय
एम० ए०, पी-एच० डी० साहित्यरत्न

प्रस्तावना-लेखक
श्री नारायण मिश्र, एम० ए०
संस्कृत तथा पालिविभाग
भारती महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

चौखम्भा संस्कृत संस्थान
भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा प्रचारक
पोस्ट बाक्स नं० ११३९
के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन, (गोलघर समीप मैदागिन)
वाराणसी–२२१००१ (भारत)

THE
KASHI SANSKRIT SERIES
178
*****

YĀJÑAVALKYASMṚTI

Of

YOGĪSHWARA YĀJÑAVALKYA

With the Mitākṣarā Commentary

of

VIJÑĀNESHWAR

Edited with

The 'Prakash' Hindī Commentary

By

Dr. UMESH CHANDRA PĀNDEY

M. A., Ph. D., Śāhityaratna

Preface by

ŚRĪ NĀRĀYAṆA MIŚRA, M. A.

Bhārati Mahāvidyālaya B. H. U., Varanasi.

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN

Pvblishers and Distributors of Ortental Cultural Literature

Post Box No. 1139

K. 37/116, Gopal Mandir Lane (Golghar Near Maidagin)

VARANASI-221 001 (INDIA)

प्रस्तावना

श्री नारायण मिश्र
संस्कृत तथा पालि विभाग :
भारती महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

श्रुति-स्मृती चक्षुषी द्वे द्विजानां न्याय-वर्त्मनि।
मार्गे मुह्यन्ति तद्धीनाः प्रपतन्तिः पथश्च्युताः॥
(बृहस्पति-स्मृति, संस्कार-काण्ड, श्लो० ११)

इस अमर आत्मा को जन्म-जन्मान्तर तक अत्यन्त कठोर तपस्या करने के बाद मानव-शरीर में प्रवेश और उस शरीर के माध्यम से अपने को इस प्रपञ्च से विमुक्त करने का अवसर प्राप्त होता है। परन्तु खेद का विषय है कि मानव-शरीर में गर्भाशय से निःसरण के साथ-साथ ही इस (आत्मा) की कर्त्तव्य-बुद्धि विस्मृति के गर्त में विलीन हो जाती है। जिस उद्देश्य से यह आत्मा मानव-शरीर के अधिगम के लिए कठोर प्रयास करती रहती है उस उद्देश्य की पूर्त्ति आकाश-पुष्पायित सी हो जाती है। इसी कारण से जन्म लेते ही जीवात्मा को पुनः रोना ही पड़ता है। अपने कर्त्तव्य के विस्मरण के कारण जीवात्मा के विलाप का निम्न-लिखित पद्य में बहुत ही मार्मिक रूप में प्रतिपादन किया गया है—

जातो मृतश्च कतिधा न कति स्तनानां
पीतम्पयो न कलिताः कति मातरो न।
उत्पत्य बन्ध-विधुतावधुना यतिष्ये
इत्यस्य विप्लवमुपैति बहिर्मनीषा॥

कर्म चक्र में इस प्रकार अनादि काल से परिभ्रमण-शील जीवात्मा की उपर्युक्त परिदेवना से आर्द्र हृदय वाले परमर्षियों ने अपने ज्ञान-दीप में प्रतिभासमान परम्परागत अखण्ड ज्ञान-राशि-स्वरूप वेद को जीवात्मा के कर्त्तव्य के परिज्ञान के लिए अभिव्यक्त किया। परन्तु वेद भी कुछ ही विवेकी पुरुषों के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ न कि सर्व-साधारण के लिए। अतः करुणा-प्रवण मनु आदि महर्षियों ने अपने वैदिक-विज्ञान को सर्व-साधारणोपयोगी बनाने के लिए धर्मशास्त्र का निर्माण किया। इस धर्मशास्त्र में धर्म-शासक ऋषि के द्वारा प्रायेण वैदिक-ज्ञान की ही स्मृति होने के कारण इसे (धर्म-शास्त्र को) स्मृति-शब्द से भी अभिहित किया जाता है (धर्मशास्त्रन्तु वै स्मृतिः—मनु० २।१०)।

यद्यपि स्मृति–ग्रन्थों में कुछ ऐसे भी तत्व हैं जो वर्त्तमान वेद में उपलब्ध नहीं होते तथाऽपि उन तत्वों के वैदिक-ज्ञान पर ही निर्भर होने का अनुमान किया जाता है।[1] यद्यपि धर्म के प्रतिष्ठित व्याख्याता जैमिनि ने यह भी माना है

---

१. द्रष्टव्य—"श्रुति-स्मृति-विरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी।"— जाबाल-स्मृति
"श्रुत्या सह विरोधे तु बाध्यते विषयं विना।"—भविष्य-पुराण
—मनु. २।१४ की व्याख्या में कुल्लूकभट्ट द्वारा उद्धृत।

कि यदि स्मृति में कहीं वेद-विरुद्ध विषय हो तो उसे प्रमाण नहीं मानना चाहिए ("विरोधे त्वनपेक्षम्०" जै० सू० १।३।३॥) तथापि विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि यदि वर्त्तमान वेद में अनुपलब्ध परन्तु अविरुद्ध स्मार्त-मत के मूल-भूत वैदिक-विधि का अनुमान हो सकता है तो क्या वर्त्तमान-वेद-विरुद्ध स्मार्तसिद्धान्तों से उनके मूल-भूत वेद का अनुमान नहीं किया जा सकता है? वेदोक्तियों में आपन्न परस्पर विरोध तो विकल्प में ही पर्यवसन्न होता है न कि उससे वेद पर कुछ आक्षेप माना जाता है, जैसा मनु ने भी कहा है—

श्रुति-द्वैधं तु यत्र स्यात् तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ ।
उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥ (मनु० २।१४)

स्मृति (धर्म-शास्त्र) का प्रतिपाद्य विषय

धर्म-शास्त्र के प्रतिपाद्य-विषय का संकेत आङ्गिरस स्मृति में इस प्रकार किया गया है—

"यत्पूर्वमृषिभिः प्रोक्तन्धर्म-शास्त्रमनुत्तमम् ।
तत्प्रमाणन्तु सर्वेषाँल्लोक-धर्मानुवर्णनम् ॥" (आङ्गिरस-स्मृति १।८)

इसका तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण,[1] क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र एवम् वर्ण-सङ्कर के आजीवन कर्त्तव्य का अनुविधान ही धर्मशास्त्र का लक्ष्य है। इसी से यह भी स्पष्ट है कि 'धर्म-शास्त्र' शब्द में प्रयुक्त 'धर्म' शब्द का अर्थ क्या है।

विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा में धर्म का विभाजन निम्न-लिखित रूप में किया है—"अत्र च धर्मशब्दः षड्विध-स्मार्त-धर्म-विषयः। तद्यथा:—वर्ण-धर्मः, आश्रम-धर्मः, वर्णाश्रम-धर्मः, गुण-धर्मः निमित्त-धर्मः, साधारण-धर्मश्चेति। (मिताक्षरा—१।१)।

(१) वर्ण-धर्म का निर्देश भगवद्गीता में बहुत ही स्पष्ट रूप में किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार ब्राह्मण-वर्ण के धर्म ये हैं—

शमो दमः तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्म-कर्म स्वभावजम् ॥ (गीता-१८।४२)

श्रीमद्भागवत ने ब्राह्मण-वर्ण के धर्म का परिगणन निम्नोक्त रूप में किया है—
शमो दमः तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम् ।

---

१. "भगवन्सर्व-वर्णानां यथावदनुपूर्वशः ।
अन्तर-प्रभवाणां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि ॥"—मनु० सं १।२

"वर्णाः ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शुद्राः।......तेषाम् अन्तर-प्रभवाणां च सङ्कीर्ण-जातीनां चापि अनुलोम-प्रतिलोमजानां च अम्बष्ठ-क्षत्तृ-कर्ण-प्रभृतीनां........यथावत् यो धर्मो यस्य वर्णस्य येन प्रकारेणार्हतीत्यनेन आश्रम-धर्मादीनामपि प्रश्नः।"

—मन्वर्थ-मुक्तावली १।२

"वर्णाश्रमेतराणां हि ब्रूहि धर्मानशेषतः" ।—या० स्मृ० १।१

ज्ञानं दयाऽच्युतात्मत्वं सत्यञ्च ब्रह्म-लक्षणम्[1] ॥
(श्रीमद्भागवत-७।११।२१)

मनु का कथन निम्न-लिखित है—
अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानम्प्रतिग्रहञ्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ (मनु० १।८८)

क्षत्रिय-धर्म का गीतोक्त स्वरूप निम्न-निर्दिष्ट है—
शौर्यं तेजो धृतिः दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वर-भावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ (गीता-१८।४३।)

श्रीमद्भागवतोक्त क्षात्र-धर्म अधोलिखित हैं—
शौर्यं वीर्यं धृतिस्तेजः त्यागश्चात्म-जयः क्षमा।
ब्रह्मण्यता प्रसादश्च सत्यञ्च क्षत्र-लक्षणम् ॥
(श्रीमद्भागवत-७।११।२२)

मनूक्त क्षत्रिय-धर्म का स्वरूप इस प्रकार है—
प्रजानां रक्षणन्दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियाणां समासतः ॥ (मनु० १।८९)

वैश्य-धर्म का वर्णन गीता में इस प्रकार किया गया है—
कृषि-गौरक्ष्य-वाणिज्यं वैश्य-कर्म स्वभावजम् ॥
(गीता-१८।४४ क ख)

श्रीमद्भागवत में वैश्य-धर्म का विवरण निम्न-लिखित रूप में प्रस्तुत किया गया है—
देव-गुर्वच्युते भक्तिस्त्रि-वर्ग-परिपोषणम्।
आस्तिक्यमुद्यमो नित्यं नैपुण्यं वैश्य-लक्षणम् ॥
(श्रीमद्भागवत ७।११।२३)

मनु-प्रतिपादित वैश्य-धर्म का स्वरूप निम्न-निर्दिष्ट है—
पशूनां रक्षणन्दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ (मनु० १।९०)

शूद्र-धर्म का वर्णन भी गीता में है—
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ (गीता-१८।४४ ग घ)

तथा—
शूद्रस्य सन्नतिः शौचं सेवाऽस्वामिन्यमायया।
अ-मन्त्र-यज्ञो ह्यस्तेयं सत्यं गो-विप्र-रक्षणम् ॥
(श्रीमद्भागवत-७।११।२४)

---

१. श्रीमद्भागवत के सभी श्लोक श्रद्धेय डा० सिद्धेश्वर भट्टाचार्य जी के 'The Philosophy of the श्रीमद्भागवत' से उद्धृत किए गये हैं, एतदर्थ मैं उनका ऋणी हूँ।

मनु ने शूद्र के धर्म का विवरण इस प्रकार किया है—

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ (मनु० १।९१)

वर्णसङ्कर के धर्म का संक्षिप्त रूप में सङ्कलन श्रीमद्भागवत के निम्नलिखित श्लोक में किया गया है—

वृत्तिः सङ्करजातीनां तत्तत्कुल-कृता भवेत् ।
अ-चौराणामपापानामन्त्यजान्त्यावसायिनाम् ॥

(श्रीमद्भागवत ७।११।१७)

याज्ञवल्क्य-स्मृति में वर्ण-धर्म का निरूपण इस प्रकार किया गया है—

इज्याऽध्ययनदानानि वैश्यस्य क्षत्रियस्य च ।
प्रतिग्रहोऽधिको विप्रे याजनाध्यापने तथा ॥
प्रधानं क्षत्रिये कर्म प्रजानाम्परिपालनम् ।
कुसीद-कृषि-वाणिज्य-पाशुपाल्यं विशः स्मृतम् ॥
शूद्रस्य द्विज-शुश्रूषा तयाऽजीवन् वणिग्भवेत् ।
शिल्पैर्वा विविधैर्जीवेद्द्विजाति-हितमाचरन् ॥

(याज्ञ० स्मृ० १।११८-२०)

(२) आश्रम-धर्म का सम्बन्ध सभी आश्रमों से है । द्विजाति की जीवनावधि को चार भागों में विभक्त किया जाता है । इन आश्रमों के यथाक्रम नाम हैं—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वान-प्रस्थ, संन्यास ।

ब्रह्मचर्याश्रम में वेदाध्ययनादि धर्म माने गये हैं । ब्रह्मचर्याश्रम की अवधि का निरूपण मनु ने निम्न-लिखित पद्य में किया है—

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् ।
तदर्धिकम्पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥ (मनु० ३।१)

तीन वेद के अध्ययन के लिए ३६ वर्ष अर्थात् प्रतिवेद के अध्ययन के लिए बारह-बारह वर्षों की अवधि अपेक्षित होती है । अथवा १८ वर्षों तक (प्रतिवेद के अध्ययन के लिए छः छः वर्षों की अवधि), किं वा नौ वर्षों (१ वेद के लिए तीन वर्ष) तक अथवा वेदाध्ययनसमाप्ति-पर्यन्त ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करना चाहिए । याज्ञवल्क्य ने कुछ विशेष बतलाया है—

प्रतिवेदम्ब्रह्मचर्यं द्वादशाब्दानि पञ्च वा ।
ग्रहणान्तिकमित्येके.................. ॥ (या० स्मृ० १।३६)

ब्रह्म-चर्याश्रम के समापन के अनन्तर द्विजाति के कृत्य का वर्णन याज्ञवल्क्य में निम्नलिखित रूप में पाया जाता है—

गुरवे तु वरन्दत्वा स्नायाद्वा तदनुज्ञया ।
वेदं व्रतानि वा पारं नीत्वा ह्युभयमेव वा ॥
अविप्लुत-ब्रह्म-चर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत् ॥

(या० स्मृ० १।५१-५२ क ख)

इसी द्वितीय आश्रम को गृहस्थाश्रम कहा जाता है। इसे गृहस्थाश्रम कहने का कारण मनु के व्याख्याकार कुल्लूकभट्ट ने बतलाया है—

"कृतदारपरिग्रहो गृहस्थः, गृहशब्दस्य दारवचनत्वात्"(मन्वर्थमुक्तावली-३।२)

इस आश्रम का मुख्य धर्म है—पञ्च-महायज्ञ[1]। इस प्रसङ्ग में मनु का निम्न-लिखित पद्य स्मरणीय है—

> वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथा-विधि।
> पञ्च-यज्ञ-विधानञ्च पक्तिं चान्वाहिकीं गृही॥ (मनु० ३।६७)

पञ्च-महा-यज्ञ तथा अन्यान्य गृहस्थ-धर्म के विषय में मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य-स्मृति आदि का अवलोकन करना चाहिए।

गृहस्थ तथा गार्हस्थ्य का महत्त्व सभी आश्रमियों तथा आश्रमों से अधिक है, जैसा मनु ने कहा है—

> यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व-जन्तवः।
> तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः॥
> यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
> गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥
>
> (मनु० ३।७७–७८) इत्यादि।

इस आश्रम की अवधि [2]आत्म-वार्धक्य-सम्प्राप्ति तथा पौत्रोत्पत्ति आदि मानी जाती है। यद्यपि साधारणतः यह प्रतीत होता है कि पूरी जीवनावधि को समान-समान चार भागों में विभक्त कर प्रथम-भाग को ब्रह्मचर्य में तथा द्वितीय-भाग को गार्हस्थ्य में पर्यवसन्न करना[3] चाहिए, तथापि आयु की अवधि के दुर्ज्ञेय होने के कारण ब्रह्मचर्य की पूर्व-प्रतिपादित षट्त्रिंशद् वर्ष आदि एवं गृहस्थाश्रम की आत्म-वार्धक्य आदि अवधि ही शास्त्र-सिद्ध होती है। अत एव कुल्लूकभट्ट का भी कथन है—

"आद्यमित्युक्तम्ब्रह्म-चर्य-कालोपलक्षणार्थम्, अनियत-परिमाणत्वादायुषः चतुर्थ-भागस्य दुर्ज्ञानत्वात्। ....गृहस्थस्तु यदा पश्येत् (मनु० ६।२) इत्य-नियतत्वात् द्वितीयमायुषो भागमित्यपि गार्हस्थ्य-कालमेव॥"

(मन्वर्थ–मुक्तावली–४।१)

इस प्रसङ्ग में एक बात पर ध्यान देना चाहिए कि कुल्लूक-भट्ट आदि ने मनु के श्लोक (६।२) में 'अपत्यस्यैव चापत्यम्' पाठ मान कर आत्म-वार्धक्य तथा पौत्रो-

---

१. गृहस्थधर्मत्वेऽपि पञ्चयज्ञानाम्प्रकृष्ट-धर्म-ख्यापनार्थम्पृथङ्निर्देशः।

—मन्वर्थ-मुक्तावली ५।१६९

२. गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वली-पलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदाऽरण्यं समाश्रयेत॥ —मनु. ६।२

३. चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाऽऽद्यं गुरौ द्विजः।
द्वितीयमायुषो भागं कृत-दारो गृहे वसेत॥ —मनु. ४।१

त्पत्ति में समुच्चय सा प्रस्तुत किया है परन्तु यह उचित नहीं, क्योंकि पौत्रोत्पत्ति अनिश्चित है, अतः विकल्प ही मानना चाहिए। मनु के 'अपत्यस्यैव चापत्यम्' में च के स्थान में 'वा' पढ़ना चाहिए, यही मत मिताक्षराकार का भी है—

"अयं च वन-प्रवेशो जराजर्जर कलेवरस्य जात-पौत्रस्य वा।
यथाऽऽह मनुः (६।२)—

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वली-पलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव वाऽपत्यं तदाऽरण्यं समाश्रयेत्॥"

(मिताक्षरा-३।४५)

गृहस्थाश्रम के अनन्तर की अवस्था का नाम [1]वान-प्रस्थ है। वन-प्रवेश करने का प्रकार निम्नलिखित मनु तथा याज्ञवल्क्य के एकवाक्यत्व से स्पष्ट हो जाता है—

सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम्॥

(मनु० ६।३ क ख)

सुत-विन्यस्त-पत्नीकस्तया वानुगतो वनम्।
वान-प्रस्थो [2]ब्रह्मचारी साग्निः सोपासनो व्रजेत्॥

(या० स्मृति० ३।४५)

इस आश्रम के धर्म मिताक्षरा (३।४५) में उद्धृत वसिष्ठ-स्मृति में इस प्रकार वर्णित किए गये हैं—

"वानप्रस्थो जटिलः चीराजिन-वासा न फाल-कृष्टमधितिष्ठेत् (कृष्ट-क्षेत्रस्योपरि न निवसेत्—मिताक्षरा); अकृष्टं मूल-फलं सञ्चिन्वीत, ऊर्ध्व-रेताः क्षमाशयो दद्यादेव न प्रतिगृह्णीयात् ऊर्ध्वं पञ्चभ्यो मासेभ्यः श्रावणिकेन (वैदिकेन मार्गेण न लौकिकेनेत्यर्थः—मिताक्षरा) अग्निमाधाय आहिताग्निः वृक्ष-मूलको दद्यात् देव-पितृ-मनुष्येभ्यः स गच्छेत् स्वर्गमानन्त्यम्।"

इस आश्रम के धर्म का विशद वर्णन तो मनुस्मृति आदि में देखना चाहिए।

वान-प्रस्थ आश्रम की अवधि राग-क्षय है। इस विषय में मनु का कथन निम्न-निर्दिष्ट है—

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः॥ (मनु० ६।३३)

इसकी व्याख्या में कुल्लूक-भट्ट ने स्पष्ट किया है—"अनियतपरिमाणत्वादायुषस्तृतीयभागस्य दुर्विज्ञानात् तृतीयमायुषो भागमिति रागक्षयावधि वान-प्रस्थकालोपलक्षणार्थम्। अत एव शङ्खलिखितौ—वन-वासादूर्ध्वं शान्तस्य परिगतवयसः पारिव्राज्यम्—इत्याचख्यतुः।" अतएव विज्ञानेश्वर ने भी कहा है :—"यावता कालेन तीव्र-तपः-शोषित-वपुषो विषय-कषाय-परिपाको

---

१. वने प्रकर्षेण नियमेन च तिष्ठति चरति इति वन-प्रस्थः, वन-प्रस्थ एव वान-प्रस्थः। संज्ञायां दैर्घ्यम्—मिताक्षरा ३।४५

२. ब्रह्म-चारी = ऊर्ध्वरेताः, साग्निः = वैतानाग्नि-सहितः। —मिताक्षरा

भवति पुनश्च मदोद्भवाऽऽशङ्का नोद्भाव्यते तावत्कालं वन-वासं कृत्वा……"
(मिताक्षरा ३।५६-५७)

इस तृतीय आश्रम के अनन्तर काल में—

'चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान्परिव्रजेत्।'
(मनु० ६।३३)

इस परिव्राजकाश्रम में केवल ब्राह्मण का अधिकार है। दूसरे मत के अनुसार सभी द्विजातियों का अधिकार माना जाता है (मिताक्षरा-३।५६-५७)। प्रव्रजन के बिना मोक्ष के अभाव को मानने वाले मिताक्षराकार (३।५५) द्वितीय मत को ही अच्छा समझते हैं—ऐसा प्रतीत होता है।

इस आश्रम के धर्मों का दिग्दर्शन याज्ञवल्क्य के अधोलिखित पद्य में होता है—

सर्व-भूत-हितः शान्तास्त्रिदण्डी सकमण्डलुः।
एकारामः परिव्रज्य भिक्षार्थी ग्राममाश्रयेत्॥ (या० स्मृ० ३।५८)

इस आश्रम-धर्म का सम्बन्ध केवल द्विजातियों से है। साथ ही सभी आश्रमों में व्युत्क्रम नहीं होता है; हाँ, उल्लङ्घन हो सकता[1] है। इस विषय में भागवत के विशिष्ट विचार का अवलोकन डा० सिद्धेश्वर भट्टाचार्यकृत 'The Philosophy of the श्रीमद्भागवत' (पृ० ३४) में करना चाहिए। श्रीमद्भागवत के विचार का मूल तो मनुस्मृति में ही है, जिसका अन्वेषण मनीषियों के लिए असाध्य नहीं है।

(३) वर्णाश्रम-धर्म का अर्थ है वर्ण-विशेष के आश्रम-विशेष से सम्बद्ध धर्म। उदाहरणार्थ—

ब्राह्मणो बैल्व-पालाशौ क्षत्रियो वाट-खादिरौ।
पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः॥ (मनु० २।४५)

आदि को लिया जा सकता है।

(४) गुण-धर्म का अर्थ विज्ञानेश्वर के शब्दों में इस प्रकार किया गया है—"शास्त्रीयाभिषेकादिगुण-युक्तस्य राज्ञः प्रजा-परिपालनादिः" (मिताक्षरा १।१)

(५) निमित्त-धर्म का अर्थ प्रायश्चित्त होता है।

(६) साधारण-धर्म का वर्णन मनु ने इस प्रकार किया है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय-निग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म-लक्षणम्॥ (मनु० ६।९२)

---

१. ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्, यदि वेतरथा ब्रह्म-चर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा। जाबाल उपनिषत्-४;
और भी देखिए—मन्वर्थ-मुक्तावली ६।३८; तथा मिताक्षरा ३।५६-५७।

बृहस्पति ने मनु-सम्मत कुछ अन्य साधारण-धर्म का उल्लेख किया है :—

चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद् वाचं दद्याच्च सूनृताम् ।
एष साधारणो धर्मः चातुर्वर्ण्योऽब्रवीन्मनुः ॥

(बृ० स्मृ० संस्कारकाण्ड, श्लो० ३१३)

याज्ञवल्क्य के अनुसार साधारण-धर्म ये हैं—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय-निग्रहः ।
दानं धर्मो दया क्षान्तिः सर्वेषान्धर्म-साधनम् ॥

(या० स्मृ० १।१२२)

बृहस्पति ने साधारण-धर्म का निर्देश निम्न-निर्दिष्ट पद्य में किया है—

'दया क्षमाऽनसूया च शौचानायासमङ्गलम् ।
अकार्पण्यमस्पृहत्वं सर्व-साधारणानि तु ॥'

(बृ०स्मृति० संस्कारकाण्ड, श्लो० ४८९।)

बृहस्पति ने इस श्लोक के प्रत्येक पद की व्याख्या भी की है, परन्तु उसका उपस्थापन संक्षिप्त भूमिका में उचित नहीं है। अतः जिज्ञासुओं को संस्कार-काण्ड के श्लोकों (४९० से ५०१ तक) को देखना चाहिए।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि यदि स्मृति का लक्ष्य प्रवृत्त-कर्म का ही विवरण है तो इस का शास्त्रत्व ही लुप्त हो जाता है, क्योंकि कोई भी प्रबन्ध तभी शास्त्र कहलाने योग्य होता है यदि वह मनुष्य के सर्वोत्कृष्ट अभ्युदय (=मोक्ष) का प्रसाधक हो (शास्त्रत्वं हित-शासनात्)। प्रवृत्त-कर्म के अनुष्ठान से मोक्ष की अधिगति तो सम्भव ही नहीं है। अतः प्रवृत्त-कर्म का विधान करने-वाला धर्म-शास्त्र वस्तुतः शास्त्र नहीं है।

इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि स्मृति में प्रवृत्त-कर्म का प्रतिपादन है तथाऽपि स्मृति का तात्पर्य प्रवृत्त-कर्म में नहीं है अपि तु प्रवृत्त-कर्म के द्वारा चित्त-शुद्धि कर निवृत्ति-मार्ग की अधिगति में ही। अत एव मनु ने कहा है—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत ॥ (मनु० २।१)

यदि राग-द्वेष-हीन होकर मनुष्य किसी भी कर्म का अनुष्ठान करता है तो वह कर्म वस्तुतः प्रवृत्त नहीं है। यदि कथमपि उसे प्रवृत्त भी कहा जाय तब भी उससे निवृत्ति की अधिगति तो निर्बाध ही है। प्रवृत्त-कर्म का अनुष्ठान तो निवृत्त-कर्म की पूर्व-पीठिका है। अतः गीता का भी उपदेश है—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥

स्मृतिकार का भी प्रवृत्त-कर्म के अनुविधान में यही उद्देश्य है। याज्ञवल्क्य ने तो स्पष्ट रूप में कहा है—

इज्याचार-दमाहिंसा-दान-स्वाध्याय-कर्मणाम् ।
अयन्तु परमो धर्मो यद् योगेनात्म-दर्शनम् ॥

(या० स्मृ० १।८)

अतः उपर्युक्त आक्षेप निराधार है ।

धर्म-शास्त्र प्रवर्त्तक ऋषि

याज्ञवल्क्यस्मृति में धर्म-शास्त्र-प्रवर्त्तक ऋषियों का नाम-निर्देश निम्न-लिखित श्लोकों में किया गया है—

मन्वत्रि-विष्णु-हारीत-याज्ञवल्क्योशनोऽङ्गिराः ।
यमापस्तम्ब-संवर्ताः कात्यायन-बृहस्पती ॥
पराशर-व्यास-शङ्ख-लिखिता दक्ष-गौतमौ ।
शातातपो वशिष्ठश्च धर्म-शास्त्र-प्रवर्त्तकाः ॥ (या० स्मृति० १।४-५)

इसकी व्याख्या में आदित्य-देव ने एक गौतम-सूत्र को उद्धृत किया है—

अत्र [1]गौतमः—स्मृतिर्धर्म-शास्त्राणि, तेषाम्प्रणेतारः मनु-विष्णु-दक्षा-ङ्गिरोऽत्रि-बृहस्पत्युशन-आपस्तम्ब-गौतम-संवर्त-आत्रेय-कात्यायन-शङ्ख-लिखित-पराशर-व्यास-शातातप-प्रचेतो-याज्ञवल्क्यादयः ।'

(अपरार्कव्याख्या या० स्मृ० १।४-५)

शङ्ख-लिखित के कथनानुसार धर्मशास्त्र-प्रणेताओं की सूची निम्न-लिखित है—

"तथा च शङ्ख-लिखितौ—स्मृतिर्धर्म-शास्त्राणि; तेषाम्प्रणेतारः मनु-विष्णु-यम-दक्षाङ्गिरोऽत्रि-बृहस्पत्युशन-आपस्तम्ब-वसिष्ठ-कात्यायन-पराशर-व्यास-शङ्ख-खित-संवर्त-गौतम-शातातप-हारीत-याज्ञवल्क्य-प्राचेतसादयः" ।

(वीरमित्रोदय या० स्मृ० १।४-५; तथा वी० मि० परिभाषाप्रकाश पृ० १६)

परन्तु बालम्भट्टी में 'शंखश्च' प्रतीक के अन्तर्गत जो उद्धरण है उसमें मनु, विष्णु, यम, दक्ष तथा अङ्गिरा का उल्लेख नहीं है । प्राचेतसादयः में प्रयुक्त 'आदि' शब्द से ग्राह्य ऋषियों का विवरण बालम्भट्टी में इस प्रकार है—

"आदिना बुध-देवल-सुमन्तु-जमदग्नि-विश्वामित्र-प्रजापति-पठीनसि-पितामह-बौधायन-च्छागलेय-जाबाल-च्यवन-मरीचि-कश्यपाः[2] ॥" (बालम्भट्टी पृ० ९)

देवल का निर्देश इस प्रकार है—

मनुर्यमो वशिष्ठोऽत्रिर्दक्षो विष्णुस्तथाऽङ्गिराः ।
उशना वाक्पतिर्व्यास आपस्तम्बोऽथ गौतमः ॥
कात्यायनो नारदश्च याज्ञवल्क्यः पराशरः ।
सम्वर्तश्चैव शङ्खश्च हारीतो लिखितस्तथा[3] ॥ (बालम्भट्टी पृ० ९)

---

१. वर्त्तमान गौतम-धर्म-शास्त्र में यह अंश उपलब्ध नहीं है ।

२. कृत्य-रत्नाकर में 'सोम' का नाम इससे अधिक है । कृ० र० पृ० २९

३. कृत्य-रत्नाकर (पृ. २९) में 'यमः' प्रतीक के अन्दर ये ही श्लोक अविकल रूप में दिये गए हैं ।

मार्कण्डेय-स्मृति में मनु, गौतम, कश्यपादि, पराशर, वेद-व्यास, शङ्ख, लिखित तथा कात्यायन का निर्देश किया गया है।

(मा० स्मृ० स्मृति-सन्दर्भ भाग ६, पृ० ६३, कलकत्ता)

'चतुर्विंशतिमत' में याज्ञवल्क्य-निर्दिष्ट २० ऋषियों में से कात्यायन तथा लिखित को छोड़कर अन्य १८ तथा गार्ग्य, नारद, बौधायन, वत्स, विश्वामित्र एवं शंख (शांखायन ?) का निर्देश है।

(म० म० काणे–'Hisoty of Dharmashashta' पृ० १३३)

आपस्तम्बने १० धर्म-शास्त्राचार्यों का निर्देश किया है—एक (किसी ऋषि-विशेष के लिए निर्दिष्ट है), कण्व, काण्व, कुणिक, कुत्स, कौत्स, पुष्करसादि, वार्ष्यगणि, श्वेतकेतु तथा हारीत। बौधायन ने हारीत के साथ-साथ औपजङ्घनि, कात्य, काश्यप, गौतम, प्रजापति, मनु तथा मौद्गल्य का उल्लेख किया है।

(Introduction to the बृहस्पतिस्मृति, P. 88, Footnote–2)

भारद्वाजस्मृति में भी दिग्दर्शन-क्रम में निम्नलिखित ऋषियों का उल्लेख किया गया है—

भृगुरत्रिर्वसिष्ठश्च शाण्डिल्यो रोहितः क्रतुः।
हरितो (हारीतो ?) गौतमो गर्गः शङ्खः कालातपोऽङ्गिराः॥
मार्कण्डेयश्च माण्डव्यः कपिलो नारदः शुकः।
जमदग्निर्याज्ञवल्क्यो विश्वामित्रः पराशरः॥
एते वाऽन्येपि मुनयो धर्मज्ञा धर्म तत्पराः॥

(भा० स्मृ० १।३-५)

पराशर-स्मृति का विवरण भी निम्न-लिखित है—

श्रुता मे मानवा धर्माः वासिष्ठाः काश्यपास्तथा।
गार्गीया गौतमीयाश्च तथा चौशनसाः स्मृताः॥
अत्रेर्विष्णोश्च संवर्त्ताद्दक्षादाङ्गिरसस्तथा।
शातातपाश्च हारीतात् याज्ञवल्क्यात्तथैव च॥
आपस्तम्बकृता धर्माः शङ्खस्य लिखितस्य च।
कात्यायनकृताश्चैव तथा प्राचेतसान्मुनेः॥

(पराशरस्मृति–१।१२-१६।)

गरुड़-पुराण (९३।४–६) में याज्ञवल्क्य के स्थान में अहम् (=गरुड) को रखकर अतिरिक्त ऋषियों का निर्देश याज्ञवल्क्यस्मृति के समान ही किया गया है। अग्निपुराण में तो याज्ञवल्क्य-स्मृति का ही (यत्र तत्र क्रम-परिवर्तन के साथ) रूपान्तर मिलता है—

मनुर्विष्णुर्याज्ञवल्क्यो हारीतोऽत्रिर्यमोऽङ्गिराः।
वसिष्ठ-दक्ष-संवर्त्त–शातातप-पराशराः॥
आपस्तम्बोशनो–व्यासाः कात्यायन–बृहस्पती।
गोतमः शङ्ख–लिखितौ धर्ममेते यथाऽब्रुवन्॥

(अग्निपुराण-अ० १६२, श्लो० १-२)

वर्त्तमान संगृहीत बृहस्पति-स्मृति (बड़ौदा) में यथावसर मनु (पृ० १९, ३९, ८४ आदि), गौतम (पृ० २०८), कात्यायन (पृ० १०६), उशना (पृ० ३०१), बृहस्पति (पृ० ३०१, ५५० आदि), अङ्गिरा (पृ० ३७८), आपस्तम्ब (पृ० ३७८), गर्ग (पृ० २८३), जीव (पृ० २६२), देवेन्द्रगुरु (२८९), पञ्चशिख (पृ० २३१), पराशर (२३३), पाराशर (पृ० ३२६), पितामह (पृ० ९१), प्रजापति (पृ० ३५८), भार्गव (पृ० २३३), वसिष्ठ (पृ० १०३), व्यास (पृ० ३२०), शंख-लिखित (पृ० २३३), शाकटायन (पृ० ३६३), शौनक (पृ० २२७), स्वयम्भू (पृ० ३०४ आदि) तथा भृगु (पृ० ६६) का निर्देश किया गया है। इन नामों में कुछ का पर्यायत्व भी सम्भावित है। जैसे—बृहस्पति, जीव, देवेन्द्रगुरु शब्द प्रायशः एक ही व्यक्ति के लिए निर्दिष्ट हुए हैं। इसी प्रकार पितामह तथा प्रजापति शब्द समानार्थक प्रतीत होते हैं। परन्तु निर्णीत रूप में कुछ कहना कठिन है।

पैठीनसि ने ३६ स्मृतिकारों का निर्देश किया है—

तेषां मन्वङ्गिरो-व्यास-गौतमाऽत्र्युशनो-यमाः।
वसिष्ठ-दक्ष-संवर्त्त-शातातप-पराशराः ॥
विष्ण्वापस्तम्ब-हारीताः शङ्खः कात्यायनो भृगुः।
प्रचेता नारदो योगी बौधायन-पितामहौ ॥
सुमन्तुः कश्यपो बभ्रुः पैठीनो व्याघ्र एव च।
सत्य-व्रतो भरद्वाजो गार्ग्यः कार्ष्णाजिनिस्तथा ॥
जाबालिर्जमदग्निश्च लौगाक्षिर्ब्रह्म-सम्भवः।
इति धर्म-प्रणेतारः षट्त्रिंशदृषयस्तथा ॥

(स्मृति-चन्द्रिका पृ० १, वी० मि० परि० प्र० पृ० १५)

ये छत्तीस ही स्मृतियाँ हैं या स्मृति-कार हैं ऐसी बात नहीं है। यह तो उपलक्षण है। अतः स्मृतिचन्द्रिकाकार का कथन है:—

"ननु चेयम् परिसंख्या? मैवम्; तथा सति वत्स-मरीचि-देवल-पारस्कर-क्रतु-ऋष्यशृङ्ग-शिखर-छागलेयात्रेयादीनां धर्म-शास्त्र-प्रणेतृत्वं न स्यात्"।

(स्मृ० च० पृ० १)

वीर-मित्रोदय में प्रयोग-पारिजात के कुछ श्लोक उद्धृत हुए हैं जिनमें ३६ स्मृतियों का वर्गीकरण स्मृतियों तथा उपस्मृतियों में हुआ है—

मनुर्बृहस्पतिर्दक्षो गौतमोऽथ यमोऽङ्गिराः।
योगीश्वरः प्रचेताश्च शातातप-पराशरौ ॥
संवर्त्तोशनसौ शङ्ख-लिखितावत्रिरेव च।
विष्ण्वापस्तम्ब-हारीता धर्म-शास्त्र-प्रवर्त्तकाः ॥
एते ह्यष्टादश प्रोक्ताः मुनयो नियत-व्रताः।
जाबालिर्नाचिकेतश्च स्कन्दो लौगाक्षि-काश्यपौ ॥
व्यासः सनत्कुमारश्च सुमन्तुश्च पितामहः:

व्याघ्रः कार्ष्णाजिनिश्चैव जातूकर्णः कपिञ्जलः ॥
बौधायनश्च काणादो विश्वामित्रस्तथैव च ।
पैठीनसिर्गोभिलश्च उपस्मृति-विधायकाः ॥

यद्यपि उपस्मृति-विधायकों की नामावली का उपसंहार यहीं प्रतीत होता है तथापि और भी २१ स्मृति-कारों का नाम-निर्देश तीन श्लोकों में किया गया है—

वसिष्ठो नारदश्चैव सुमन्तुश्च पितामहः ।
बभ्रुः कार्ष्णाजिनिः सत्य-व्रतो गार्ग्यश्च देवलः ॥
जमदग्निर्भरद्वाजः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
आत्रेयः छागलेयश्च मरीचिर्वत्स एव च ॥
पारस्कर-ऋष्यश्रृङ्गौ वैजवापस्तथैव च ।
इत्यन्ये स्मृति-कर्त्तार एकविंशतिरीरिताः ॥

यद्यपि याज्ञवल्क्य-स्मृति (श्लोक० १।४–५) की व्याख्या में मित्र-मिश्र इन स्मृतियों को स्पष्टतः उपस्मृति नहीं कहते हैं तथापि 'परिभाषा-प्रकाश' (पृ० १८) में इन सभी श्लोकों के बाद "एते एवोपस्मृतिकर्त्तारो मदनरत्ने-प्युक्ताः" कह कर इन सब को उपस्मृति मानने के पक्ष में ही प्रतीत होते हैं। परन्तु 'जाबालिर्नाचिकेतश्च' आदि में परिगणित सुमन्तु, पितामह तथा कार्ष्णाजिनि का 'वसिष्ठो नारदश्चैव' आदि श्लोकों द्वारा परिगणित २१ स्मृति-कर्त्ताओं में पुनरुल्लेख है। अतः उपस्मृतिकारों की संख्या ३६ होनी चाहिए। एक ही स्थान में पुनरुक्ति का आधार समझ में नहीं आता!

किन्तु उपर्युक्त सूची भी पर्याप्त नहीं है, इसे केवल दिग्दर्शक समझना चाहिए, कारण इनके अतिरिक्त स्मृतिकारों का भी उल्लेख धर्मशास्त्र-निबन्धों में मिलता है। उदाहरणार्थ 'निर्णयसिन्धु' में लग-भग १२५ से भी अधिक स्मृति-कारों के वचन उद्धृत हैं। भविष्यपुराण में भी स्मृतियों की संख्या का निर्देश अस्पष्ट रूप में स्मृतियों के आनन्त्य का ही प्रतिपादक प्रतीत होता है। 'स्मृति-मुक्ताफल' में तो ८८००० ऋषियों को धर्मप्रवर्त्तक बतलाया गया है—

अष्टाशीति सहस्राणि मुनयो गृहमेधिनः ।
पुनरावर्त्तिनो बीज-भूताः धर्म-प्रवर्त्तकाः ॥ (स्मृति-मुक्ताफल, पृ० ८)

इस विचित्र परिस्थिति में सभी स्मृतिकारों का नाम-निर्देश तो असम्भव-प्रायः ही है। डा० काणे ने स्मृति-परम्परा का यथासम्भव विशद वर्णन अपने ग्रन्थ 'History of Dharma-Shastra' में किया है। इस ग्रन्थ से बहुत स्मृति-कारों का परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

याज्ञवल्क्य-स्मृति

(क) याज्ञवल्क्य परिचय

याज्ञवल्क्य-स्मृति शब्द से साधारणतः यह प्रतीत होता है कि यह स्मृति याज्ञवल्क्य के द्वारा बनाई हुई है। महाभारत के शान्तिपर्व के ३१२वें अध्याय

में, शतपथब्राह्मण (१४।९।४।३३) तथा भागवत (१०।६।६१–७४) में यह बतलाया गया है कि याज्ञवल्क्य वैशम्पायन के शिष्य थे। वैशम्पायन से उन्होंने विद्या-ग्रहण, विशेषतः यजुर्वेद का अध्ययन, किया था। परन्तु एक समय गुरु-शिष्य में मतभेद के कारण याज्ञवल्क्य ने अपने गुरु की विद्या को वान्त (Vomitted) कर दिया और पुनः भगवान् सूर्य की आराधना कर मध्याह्नकाल में सूर्य से यजुर्वेद का अध्ययन किया। इसी यजुर्वेद को 'शुक्ल यजुर्वेद' तथा मध्यंदिन में सूर्य से अधिगत होने से 'माध्यन्दिन-संहिता' भी कहा जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में विदेह जनक के गुरु के रूप में भी याज्ञवल्क्य का वर्णन विस्तृत रूप में पाया जाता है। बृहदारण्यक के तृतीय अध्याय में यह बतलाया गया है कि विदेह जनक ने अपने यज्ञ में सभी प्रदेशों के ब्रह्म-ज्ञानियों को आमन्त्रित किया था। सभी के उपस्थित होने पर जनक ने उन सब के समक्ष अपना विज्ञापन किया—"यो वो ब्रह्मिष्ठः स एताः गाः उद्जताम्"। जनक के विज्ञापन को सुन कर सभी मौन हो गए थे। कुछ समय के पश्चात् याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्यों से उन गायों को ले जाने के लिए कहा। इस पर सभी क्रुद्ध हो गये और याज्ञवल्क्य के साथ उन सबों का क्रमशः शास्त्रार्थ (ब्रह्म के विषय में) हुआ। इस शास्त्रार्थ का स्वरूप वस्तुतः 'जल्प' (विजिगीषुद्वयस्य कथा जल्पः) था। जैसा कि जल्प के लक्षण से ही स्पष्ट है, इस कथा में उचित-अनुचित का विवेक नहीं सा रहता है। याज्ञवल्क्य भी इस अपकर्ष से रहित नहीं रह सके[1]। उन्हें भी समय-समय पर त्रास-प्रदर्शन, शाप-दान आदि करना पड़ा। इन्हीं अपकर्षों के कारण विद्यारण्य स्वामी ने अपने जीवन्मुक्ति-विवेक (पृ० २५७–२६२) में याज्ञवल्क्य के विषय में यह उपसंहार किया है—

"तस्मात् किम्बहुना ? ब्रह्मविदां याज्ञवल्क्यादीनामस्त्येव मलिन-वासनाऽनुवृत्तिः।" (जी० मु० वि० पृ० २६२)

(ख) प्रकृत स्मृति का कर्त्ता

प्रकृत स्मृति के कर्त्ता उपर्युक्त याज्ञवल्क्य ही हैं या कोई अन्य व्यक्ति—यह प्रश्न कुछ जटिल सा है। प्राचीन परम्परा के अनुसार बृहदारण्यक के याज्ञवल्क्य ही इस स्मृति के प्रणेता माने जाते हैं। आदित्य देव ने लिखा है—"अस्याश्च संहितायाः याज्ञवल्क्यः प्रणेतेति व्याख्यातॄणां स्मृतिरेव प्रमाणम्" (अपरार्क १।१)। याज्ञवल्क्य-स्मृति में भी एक श्लोक है जो स्पष्टतः इस स्मृति के कर्त्ता के रूप में बृहदारण्यक के याज्ञवल्क्य को ही प्रस्तुत करता है—

ज्ञेयं चारण्यकमहं यदादित्यादवाप्तवान्।
योग-शास्त्रञ्च मत्प्रोक्तं ज्ञेयं योगमभीप्सता॥ (या० स्मृ० ३।११०)

परन्तु मिताक्षराकार ने प्रथम श्लोक के अवतरण में लिखा है—"याज्ञवल्क्य-शिष्यः कश्चित्प्रश्नोत्तररूपं याज्ञवल्क्य-प्रणीतं धर्म-शास्त्रं कथयामास"। इस कथन

---

१. अस्ति हि याज्ञवल्क्यस्य..........भूयान् विद्यामदः। तैः सर्वैरपि विजिगीषु-कथायाम्प्रवृत्तत्वात्। —जीवन्मुक्तिविवेक पृ. २५७ (आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थमाला)

के आधार पर प्रा० काणे इस स्मृति को याज्ञवल्क्य-प्रणीत नहीं मानते। उनकी दृष्टि में उपर्युक्त 'ज्ञेयं चारण्यकम्' आदि श्लोक भी रचयिता का कपट-प्रबन्ध मात्र सा प्रतीत होता है। प्रो० काणे ने अपने मत को इस प्रकार प्रस्तुत किया है :—

This (ज्ञेयं चारण्यकमहम्) is simply put in to glorify the याज्ञवल्क्य-स्मृति as the work of a great and ancient Sage, Philosopher and Yogin. From the style and doctrines of the स्मृति it is impossible to believe that it was the work of the same hand that gave to the world the उपनिषद् containing the boldest philosophical speculation couched in the simplest yet the most effective language. Even orthodox Indian opinion was not prepared to admit the unity of authorship in the case of the स्मृति and the आरण्यक.

(History of Dharmas'āstra, P. 169, Vol. I)

यद्यपि मेरा दुराग्रह नहीं है कि प्राचीन-परम्परा ही सत्य है, तथाऽपि डा० काणे द्वारा उपस्थापित युक्तियों में कुछ प्रबलता नहीं दीख पड़ती है। यदि याज्ञवल्क्य से भिन्न किसी व्यक्ति की यह रचना है तो उस व्यक्ति का नाम इस स्मृति से सर्वथा विलुप्त क्यों हो गया—यह एक समस्या हो जाती है। किसी प्रबल कारण के अभाव में अपनी रचना को दूसरे महा-पुरुष के नाम से प्रसिद्ध कराने में लेखक की प्रवृत्ति को मनो-विज्ञान से समर्थन नहीं सा मिलता है। भाषा के आधार पर दोनों में भेद मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि वास्तविक दृष्टि से भाषा का सम्बन्ध व्यक्ति से होता है न कि देश से। अवस्था-भेद के अनुसार एक व्यक्ति की भाषा तथा रीति में परिवर्तन के उदाहरण भी कम नहीं हैं। यदि विज्ञानेश्वर के कथनानुसार याज्ञवल्क्य के किसी शिष्य को ही इस स्मृति का प्रणेता मान लिया जाय तब भी श्रद्धेय प्रो० काणे द्वारा अभिप्रेत भाषा-तारतम्य, रीति-तारतम्य तथा वस्तु-तारतम्य का उचित समाधान प्रायशः असम्भव ही है। दूसरी बात यह भी है कि स्वयम् विज्ञानेश्वर भी इस विषय में व्यामुग्ध (Confused) से प्रतीत होते हैं कि इस स्मृति के प्रणेता कौन हैं। पहले तो उन्होंने मान लिया है कि याज्ञवल्क्य के किसी शिष्य ने इस स्मृति की रचना की थी, परन्तु ४-५ श्लोकों की व्याख्या मेंउन्हों ने दो बार "याज्ञवल्क्य-प्रणीतस्य" तथा "याज्ञवल्क्य-प्रणीतम्" कहा है। एवञ्च विज्ञानेश्वर के आधार पर कुछ निर्णय करना तो वाञ्छ-नीय नहीं होना चाहिये। इसके अतिरिक्त आचाराध्याय के द्वितीय श्लोक में—"मिथिलास्थः स योगीन्द्रः" कहा गया है जिससे भी प्राचीन-परम्परा का ही समर्थन होता है। सभी श्लोकों को प्रक्षिप्त या विक्षिप्त मान कर कुछ निर्णय कर लेना कहाँ तक न्याय्य है—यह विचारणीय है।

अतः जब तक कुछ सद्धेतु न मिले तब तक केवल हेत्वाभास के आधार पर ही निगमन नहीं करना चाहिए प्रत्युत इस स्मृति के कर्ता के विषय में उपस्थित

समस्या का उपसंहार सन्देह में ही करना उचित है। योगि-याज्ञवल्क्य आदि, प्राचीन की दृष्टि में, इस याज्ञवल्क्य से अभिन्न परन्तु नवीनों की दृष्टि में भिन्न, माने जाते हैं।

(ग) याज्ञवल्क्य स्मृति की श्लोक-संख्या

याज्ञवल्क्य-स्मृति की श्लोक-संख्या के विषय में विश्वरूपाचार्य, विज्ञानेश्वर तथा अपरादित्य का मत एक नहीं है। विश्वरूप के अनुसार याज्ञवल्क्य-स्मृति में १००३, विज्ञानेश्वर के मत में १००९ और अपरादित्य की व्याख्या में १००६ श्लोक पाये जाते हैं। व्याख्याओं में अनुपलब्ध परन्तु कुछ मूल पुस्तकों में उपलब्ध—"श्लोकानामपि विज्ञेयं सहस्रं चतुरुत्तरम्" के आधार पर तो मूल-श्लोकों की संख्या १००४ प्रतीत होती है। मित्र-मिश्र ने विज्ञानेश्वर का ही अनुसरण किया है। शूलपाणि ने अपनी व्याख्या में १०१० श्लोक माने हैं।

व्याख्यात श्लोकों में विषमता के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी श्लोक हैं जिनका सङ्केत केवल मूल पुस्तक में है, किसी भी व्याख्या में नहीं। उदाहरणार्थ, आचाराध्याय में और भी कुछ श्लोक अधिक उपलब्ध होते हैं—२३३ एवं २३४ श्लोकों के मध्य में अर्ध-श्लोक है—"अपहता इति तिलान् विकीर्य च समन्ततः।" इसी प्रकार ३०८ तथा ३०९ श्लोकों के मध्य में एक श्लोक है—

ग्रहाणामिदमातिथ्यं कुर्यात् संवत्सरादपि।
आरोग्य-बल-सम्पन्नो जीवेत्स शरदः शतम् ॥

व्यवहाराध्याय के अन्त में भी मूल पुस्तक में निम्न-लिखित तीन श्लोक अधिक हैं—

(१) राजभिर्दत्त-दण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥
(२) एवमुद्धृतदण्डानां विशुद्धिः पापकर्मिणाम्।
स्व-धर्म-स्थापनाद्राजा प्रजाभ्यो धर्ममश्नुते ॥
(३) यत्र दण्ड-विधिर्नोक्तः सर्वैरेव महात्मभिः।
देश-कालादि सञ्चिन्त्य तत्र दण्डो विधीयते ॥

इसी प्रकार प्रायश्चित्ताध्याय के अन्त में भी कुछ श्लोक पाये जाते हैं—

(१) विप्रेष्वपि विशेषेण धार्या वाजसनेयिकैः।
इच्छद्भिः श्रेयसि फलमिह लोके परत्र च ॥
(२) यदवाप्तं मया देवादादित्याद्वै सनातनात्।
तद्वै सर्वमिदम्प्रोक्तं श्रुति-स्मृत्यभिसम्मतम् ॥
(३) निःश्रेयस-करं नृणां शास्त्रं देवर्षि-सेवितम्।
ज्ञात्वा ये ह्यध्यवस्यन्ति तेऽन संयान्ति वै पुनः ॥

(ये तीन श्लोक मिताक्षरा के ३२७ तथा ३२८ श्लोकों के मध्य में पाये जाते हैं।)

(४) धर्मार्थी प्राप्नुयाद्धर्ममर्थार्थी चार्थमाप्नुयात् ॥
कामानवाप्नुयात्कामी प्रजार्थी चाप्नुयात् प्रजाम् ॥

(यह श्लोक मिताक्षरा के ३३० तथा ३३१ के बीच में पाया जाता है ।)

(५) निर्जित्य वादे देवान् वै ऋषीन् सर्वानुपस्थितान् ।
गा बोधेनाहृतास्तस्मै नमो ब्राह्मण-हेतवे ॥

(६) अध्याय-त्रय-संक्षिप्तं सर्वेषां बुद्धि-वर्धनम् ।
अनुष्टुप्छन्दसा ह्येतत् याज्ञवल्क्येन भाषितम् ॥

(७) सर्व-पाप-हरं पुण्यं सुप्रसन्नं समअसम् ।
श्लोकानामपि विज्ञेयं सहस्रं चतुरुत्तरम् ॥

(८) आदित्यस्य प्रसादेन प्राप्तवान् यो यजुर्गणम् ।
प्रणमेद्याज्ञवल्क्यं तं पिप्पलादगुरोरलम् ॥

(ये श्लोक सर्वान्त में पाये जाते हैं ।)

यद्यपि कुछ श्लोक तो स्पष्टतः अनावश्यक प्रतीत होते हैं तथापि मूल पुस्तक में उपलब्ध होने के कारण यहाँ उल्लिखित हुए हैं ।

श्लोक-संख्या में वैमत्य के अतिरिक्त पाठान्तर तो बहुत ही हैं (विशेषतः बालक्रीडा मिताक्षरा तथा अपरार्क में)। यद्यपि प्राचीन (निर्णयसागर के) मिताक्षरा-संस्करण में पाठान्तरों का कुछ निर्देश था तथापि प्रस्तुत संस्करण में उसका लोप ही कर दिया गया । इसका कारण प्रकाशक तथा हिन्दी-व्याख्याता ही जानते हैं । म० म० पी० वी० काणे ने कुछ पाठान्तरों का विवेचन भी प्रस्तुत किया है । जिज्ञासुओं को इसके लिए उनका 'History of Dharma-Shastra' देखना चाहिए ।

याज्ञवल्क्य स्मृति का विषय-विवरण

सम्पूर्ण याज्ञवल्क्य स्मृति तीन अध्यायों से विभक्त है—आचाराध्याय, व्यवहाराध्याय तथा प्रायश्चित्ताध्याय ।

प्रथम आचाराध्याय में १३ प्रकरण हैं—(१) उपोद्घात-प्रकरण (श्लो० १–९), (२) ब्रह्मचारि-प्रकरण (श्लो० १०–५०), (३) विवाह-प्रकरण (श्लो० ५१–८९), (४) जाति-वर्ण-विवेक-प्रकरण (श्लो० ९०–९६), (५) गृहस्थ-धर्म-प्रकरण (श्लो० ९७–१२८), (६) स्नातक-व्रत-प्रकरण (श्लो० १२९–१६६), (७) भक्ष्याऽभक्ष्य-प्रकरण (श्लो० १६७–१८१), (८) द्रव्य-शुद्धि-प्रकरण (श्लो० १८२–१९७), (९) दान-धर्म-प्रकरण (श्लो० १९८–२१६), (१०) श्राद्ध-प्रकरण (श्लो० २१७–२७०), (११) गण-पति-कल्प-प्रकरण (श्लो० २७१–२९४), (१२) ग्रह-शान्ति-प्रकरण (श्लो० २९५–३०८), (१३) राज-धर्म-प्रकरण (श्लो० ३०९–३६८) ।

द्वितीय व्यवहाराध्याय है। व्यवहार शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ वीरमित्रोदय में उद्धृत कात्यायन के अनुसार निम्न-लिखित है—

विर्नानाऽर्थेऽवसन्देहे हरणं हार उच्यते।
नाना-सन्देह-हरणाद् व्यवहार इति स्मृतः॥

बृहस्पति ने व्यवहार शब्द का अर्थ अधोलिखित रूप में बतलाया है—

शास्त्रं केवलमाश्रित्य क्रियते यत्र निर्णयः।
व्यवहारः स विज्ञेयः…………… ॥

(बृ० स्मृ० पृ० ४, श्लो० १९)

विज्ञानेश्वर की व्याख्या सबों से स्पष्टतम है—

'अन्य–विरोधेन स्वात्म-सम्बन्धितया कथनं व्यवहारः। यथा कश्चिदिदं क्षेत्रादि मदीयमिति कथयति अन्योऽपि तद्विरोधेन मदीयमिति॥' (मिताक्षरा० २।१)

इस अध्याय में २५ प्रकरण हैं, जिनका निर्देश इस प्रकार है—

(१) साधारण-व्यवहार-मातृका-प्रकरण (श्लो० १–८),
(२) अ-साधारण-व्यवहार-मातृका-प्रकरण (श्लो० ९–३६),
(३) ऋणादान-प्रकरण (श्लो० ३७–६४),
(४) उपनिधि (A sealed diposit) प्रकरण[१] (श्लो० ६५–६७),
(५) साक्षि–(Witness) प्रकरण (श्लो० ६८–८३),
(६) लेख्य–(Written document) प्रकरण (श्लो० ८४–९४),
(७) दिव्य–(Ordeal) प्रकरण (श्लो० ९५–११३),

(८) दाय-विभाग (Partition of Inheritance) प्रकरण (श्लो० ११४–१४९),

(९) सीमा-विवाद–(Settlement of disputed boundary questions) प्रकरण (श्लो० १५०–१५८),

(१०) स्वामि-पाल–(The owner and the keeper of cattle) विवाद-प्रकरण (श्लो० १५९–१६७),

(११) अ-स्वामि-विक्रय-प्रकरण[२] (श्लो० १६८–१७४),

(१२) दत्ताऽप्रदानिक–(Non-delivery or resumption of gifts) प्रकरण (श्लो० १७५–१७६),

(१३) क्रीतानुशय–(Returning a thing purchased to the seller) प्रकरण (श्लो० १७७–१८१),

---

१. यथाह नारदः— असंख्यातमविज्ञातं समुद्रं (Sealed) यन्निधीयते।
तज्जानीयादुपनिधिं निक्षेपं गणितं विदुः॥ मिताक्षरा० २।६५॥

२. तस्य च लक्षणं नारदेनोक्तम्—
निक्षिप्तं वा पर-द्रव्यं नष्टं लब्ध्वाऽपहृत्य वा।
विक्रीयतेऽसमक्षं यत्र स ज्ञेयोऽस्वामिविक्रयः। मिता० २।१६८॥

(१४) अभ्युपेत्याऽशुश्रूषा-(Negligence of promised service) प्रकरण (श्लो० १८२-१८४),

(१५) संविद्व्यतिक्रम-(Breach of contract) प्रकरण (श्लो० १८५-१९२),

(१६) वेतनादान-प्रकरण (श्लो० १९३-१९८),

(१७) द्यूत-समाह्वय-(Gambling) प्रकरण (श्लो० १९९-२०३),

(१८) वाक्पारुष्य-(Defamation) प्रकरण (श्लो० २०४-२११),

(१९) दण्ड-पारुष्य-(Assault) प्रकरण (श्लो० २१२-२२९),

(२०) साहस- (Aggressive act) प्रकरण (श्लो० २३०-२५३),

(२१) विक्रीयाऽसम्प्रदान-(Non-delivery of the sold) प्रकरण (श्लो० २५४-२५८),

(२२) सम्भूय-समुत्थान-(joint dealing) प्रकरण (श्लो० २५९-२६५),

(२३) स्तेय (Theft) प्रकरण (श्लो०२६६-२८२),

(२४) स्त्री-संग्रहण-(Seduction) प्रकरण (श्लो० २८३-२९४) तथा,

(२५) प्रकीर्णक-(Miscellany) प्रकरण (श्लो० २९५-३०७)।

प्रायश्चित्ताध्याय में ५ प्रकरण हैं—

(१) अशौच-प्रकरण (श्लो० १-३४), (२) आपद्धर्म-प्रकरण (श्लो० ३५-४४), (३) वानप्रस्थ-धर्म-प्रकरण (श्लो० ४५-५५), (४) यति-धर्म-प्रकरण (श्लो० ५६-२०५), (५) प्रायश्चित्त-प्रकरण (श्लो० २०६-३३४)।

प्रायश्चित्त-प्रकरण में महा-पातक उप-पातक आदि का स्वरूप-निर्देश तथा प्रायश्चित्त-विधान आदि दिए गए हैं।

याज्ञवल्क्य-स्मृति का महत्त्व

पूर्व-निर्दिष्ट सभी धर्म-शास्त्र-प्रवर्त्तक-सूचियों में मनु के सर्व प्रथम निर्देश होने के कारण यह तो स्पष्ट है कि स्मृतियों में मनुस्मृति का स्थान सर्वोपरि है। इसी लिए बृहस्पति का कथन है—

वेदार्थ-प्रतिबद्धत्वात् प्रामाण्यन्तु मनोः स्मृतम्।
मन्वर्थ-विपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते॥

(बृ० स्मृ० सं० का० श्लो० १३)

अङ्गिराने भी मनु को ही सर्वप्रथम स्थान दिया है—

यत्पूर्वं मनुना प्रोक्तन्धर्म-शास्त्रमनुत्तमम्।
न हि तत्समतिक्रम्य वचनं हितमात्मनः॥

(Dr. Jha : Hindu Law in its Sources, P. 44)

उपर्युक्त बृहस्पति-वाक्य से यह स्पष्ट है कि किसी भी स्मृति को प्रतिष्ठित होने के लिए यह आवश्यक है कि वह मनु के मत से समर्थित हो। प्रकृत याज्ञवल्क्य-स्मृति भी आद्यन्त मनु के मत से ओत-प्रोत है। नीचे कुछ श्लोक मनु-स्मृति तथा याज्ञवल्क्य-स्मृति के दिये जाते हैं जहाँ केवल अर्थ-साम्य ही नहीं अपि तु शब्द-साम्य भी है—

मनु-स्मृति	याज्ञवल्क्य-स्मृति
(१) वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। एतच्चतुर्विधम्प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्। २।१२॥	(१) श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। सम्यक्संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्॥ १।७॥
(२) निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः॥ २।१६।	(२) निषेकाद्याः श्मशानान्ताः तेषां वै मन्त्रतः क्रियाः॥ १।१०॥
(३) गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्॥ २।३६॥	(३) गर्भाऽष्टमेऽष्टमे वाऽब्दे ब्राह्मणस्योपनायनम्॥ १।१४॥
(४) आषोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्त्तते। आद्वाविंशात् क्षत्रबन्धोः आचतुर्विंशतेर्विशः॥ अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः। सावित्री-पतिताः व्रात्याः भवन्त्यार्य-विगर्हिताः॥ २।३८–३९॥	(४) आ-षोडशाद्वाविंशात् चतुर्विंशाच्च वत्सरात्॥ ब्रह्म-क्षत्र-विशां काल औपनायनिकः परः॥ अत ऊर्ध्वं पतन्त्येते सर्वधर्म-बहिष्कृताः। सावित्री-पतिताः व्रात्याः व्रात्यस्तोमादृते क्रतोः॥ १।३७–३८॥
(५) न स्कन्दते न व्यथते न विनश्यति कर्हिचित्। वरिष्ठमग्नि-होत्रेभ्यो ब्राह्मणस्य मुखे हुतम्। ७।८४॥	(५) अस्कन्नमव्यथञ्चैव प्रायश्चित्तैरदूषितम्॥ अग्नेः सकाशाद्विप्राग्नौ हुतं श्रेष्ठमिहोच्यते॥ १।३१६॥
(६) अलब्धञ्चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः। रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत्॥ अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया। रक्षितं वर्धयेद्वृद्ध्या वृद्धयं पात्रेषु निःक्षिपेत्। ७।९९,१०१	(६) अलब्धमीहेद्धर्मेण लब्धं यत्नेन पालयेत्। पालितं वर्धयेन्नीत्या वृद्धम्पात्रेषु निःक्षिपेत्॥ १।३१७॥

याज्ञवल्क्य-स्मृति में किये गये मनु-स्मृति के संक्षेप के कुछ निदर्शन निम्न-लिखित हैं—

म० स्मृ०	या० स्मृति०
(१) प्राङ्नाभिवर्धनात् पुंसो जातकर्म विधीयते । मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्य-मधु-सर्पिषाम् ॥ नामधेयं दशम्यान्तु द्वादश्यां वास्य कारयेत् । पुण्ये तिथौ मुहूर्त्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥ चतुर्थे मासि कर्त्तव्यम् शिशोर्निष्क्रमणं गृहात् । षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यथेष्टं मङ्गलं शुभे ॥ चूड़ाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः । प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्त्तव्यं श्रुति-चोदनात् ॥ २।२९-३०,३४-३५ ॥	(१) ......एते जातकर्म च ॥ अहन्येकादशे नाम चतुर्थे मासि निष्क्रमः । षष्ठेऽन्न-प्राशनं मासि चूड़ा कार्या यथाकुलम् ॥ १।११-१२॥
(२) हीन-जाति-स्त्रियं मोहात् उद्वहन्तो द्विजातयः । कुलान्येव नयन्त्याशु स-सन्तानानि शूद्रताम् ॥ शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम् ॥ जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते ॥ ३।१५,१७॥	(२) यदुच्यते द्विजातीनां शूद्राद्दारोपसंग्रहः । नैतन्मम मतं यस्मात् तत्रायं जायते स्वयम् ॥ १।५६॥
(३) सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणो गर्भिणीः स्त्रियः । अतिथिभ्योऽग्र एवैतान् भोजयेदविचारयन् ॥ भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि । भुञ्जीयातां ततः पश्चात् अवशिष्टन्तु दम्पती ॥ ३।११४,११६॥	(३) बालः स्ववासिनी-वृद्ध- गर्भिण्यातुर-कन्यकाः । सम्भोज्यातिथि-भृत्यांश्च दम्पत्योः शेष-भोजनम् ॥ १।१०५॥

स्थल-विशेष में याज्ञवल्क्य में मनु के मत का कुछ परिष्कार भी किया गया है। उसके कुछ दृष्टान्त अधो-लिखित हैं—

म० स्मृ०

(१) गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत
ब्राह्मणस्योपनायनम् ।२।३६

(२) एकोऽलुब्धस्तु साक्षी स्यात्
८।७७॥

(३) अकामतः कृतम्पापं
वेदाभ्यासेन शुध्यति ।
कामतस्तु कृतं मोहात्
प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः ॥ ११।४६॥

(४) रेतः-सेकः स्वयोनीषु
कुमारीष्वन्त्यजासु च ।
सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु
गुरुतल्पसमं विदुः ॥ ११।५८॥

या० स्मृ०

(१) गर्भाष्टमेऽष्टमे वाऽब्दे
ब्राह्मणस्योपनायनम् ।१।१४॥

(२) उभयानुमतः साक्षी
भवत्येकोऽपि धर्मवित् । २।७२॥

(३) प्रायश्चित्तैरपैत्येनो
यदज्ञानकृतम्भवेत् ।
कामतो व्यवहार्यस्तु
वचनादिह जायते ॥ ३।२२६॥

(४) सखि-भार्या-कुमारीषु
स्वयोनिष्वन्त्यजासु च ।
सगोत्रासु सुत-स्त्रीषु
गुरुतल्प-समं स्मृतम् ॥
पितुः स्वसारं मातुश्च
मातुलानीं स्नुषामपि ।
मातुः सपत्नीं भगिनीम्
आचार्यतनयां तथा ॥
आचार्य-पत्नीं स्व-सुतां
गच्छंस्तु गुरु-तल्पगः ॥

३।२३१-३३॥

कुछ स्थान में मनु से साधारण वैमत्य भी है। उदाहरण के लिए 'ब्रह्म-हत्या-सम' तथा 'सुरा-पान-सम' कार्यों में मनु तथा याज्ञवल्क्य के परस्पर विभिन्न कथन को देखें—

म० स्मृ०

(१) अनृतं च समुत्कर्षे
राज-गामि च पैशुनम् ।
गुरोश्चालीक-निर्बन्धः
समानि ब्रह्म-हत्यया ॥ ११।५५॥

(२) ब्रह्मोज्झता वेद-निन्दा
कौट-साक्ष्यं सुहृद्वधः ।
गर्हितानाद्ययोर्जग्धिः
सुरापान-समानि षट् ॥ ११।५६

या० स्मृ०

(१) निषिद्ध-भक्षणं जैह्म्यम्
उत्कर्षे च वचोऽनृतम् ।
रजस्वला-मुखास्वादः
सुरापान-समानि तु ॥ ३।२२९॥

(२) गुरूणामध्यधिक्षेपो
वेदनिन्दा सुहृद्वधः ।
ब्रह्म-हत्या समं ज्ञेयम्
अधीतस्य च नाशनम् ॥ ३।२२८॥

इतनी समता या साधारण-विषमता के अतिरिक्त दोनों में असाधारण विषमता भी द्यूत-समाह्वय-प्रायश्चित्त आदि में स्पष्ट उपलब्ध है। परन्तु देश-काल के अनुसार ही याज्ञवल्क्य-स्मृति में यह परिवर्त्तन हुआ है—यही प्रतीत होता है। अतः परमार्थतः याज्ञवल्क्य-स्मृति को मनुस्मृति का विप्रतीप कहना उचित नहीं है।

मनुस्मृति से अतिरिक्त अन्यान्य प्राचीन धर्मशास्त्र के मत का भी यथोचित सन्निवेश याज्ञवल्क्य-स्मृति में हुआ है, परन्तु विस्तर-भय से यहाँ उनके उदाहरण नहीं दिये जाते हैं। बहुत से उदाहरण तो याज्ञवल्क्य-स्मृति की व्याख्याओं के अवलोकन से भी स्पष्ट हो जाते हैं, दोनों की तुलना करने पर तो कुछ कहना ही नहीं है।

विषय-विन्यास की दृष्टि से भी याज्ञवल्क्य-स्मृति बहुत ही प्रशस्त है। संक्षेप में अधिक अर्थ की अभिव्यक्ति इसकी विशेषता है। जहाँ मनुस्मृति में २७०० श्लोक हैं वहीं या० स्मृ० में केवल १००९ (मिताक्षरा-कार के अनुसार) श्लोक हैं। मनुस्मृति का विषय-विन्यास स्फुट होने पर भी बहुधा सङ्कीर्ण हो गया है जब कि या० स्मृ० में सङ्कीर्णता का सर्वथा अभाव ही दृष्टि-गोचर होता है। मनुस्मृति में वर्णन के प्रसङ्ग में निदर्शन आदि का पुट अधिक है जो या० स्मृ० में प्रायशः नहीं मिलता है। सृष्टि-प्रक्रिया आदि कुछ विषयों की तो या० स्मृ० में कोई चर्चा ही नहीं है जब कि म० स्मृ० में पूरा प्रथम अध्याय सृष्टि-प्रकार के वर्णन में ही पर्यवसन्न हुआ है। मनुस्मृति में पुनरुक्ति भी बहुत है। कुछ निदर्शन निम्न-लिखित हैं :—

१ वेदोऽखिलो धर्म-मूलं स्मृति-शीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनाम् आत्मनस्तुष्टिरेव च॥ २।६॥
वेदःस्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधम्प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥ २।१२॥

तथा,

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः।
रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धम्पात्रेषु निःक्षिपेत्॥ ७।९९॥
अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेद्वेक्षया।
रक्षितम्वर्धयेद्वृद्ध्या वृद्धम्पात्रेषु निःक्षिपेत्॥ ७।१०१॥

अतः विषय में मन्वर्थानुगामिनी तथा प्रतिपादन में संक्षिप्त किन्तु युक्त्यनुसारिणी तथा देश-काल-पात्र को ध्यान में रखकर निर्णय करने वाली या० स्मृ० का सभी स्मृतियों में विशिष्ट स्थान है।

याज्ञवल्क्य-स्मृति के व्याख्याकार

विश्वरूप-(७५०—१००० ई०)

याज्ञवल्क्य-स्मृति के व्याख्याकारों में सर्वप्रसिद्ध तथा सर्व-प्रथम उपलब्ध व्याख्याकार विश्वरूपाचार्य हैं। इनकी व्याख्या का नाम 'बालक्रीडा' है जिसका

प्रकाशन महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री के द्वारा 'त्रिवेन्द्रम संस्कृत ग्रन्थमाला' से हुआ है। यह व्याख्या दो भागों में प्रकाशित हुई है। व्याख्या की भाषा अत्यन्त मनोहर है। याज्ञवल्क्य के अभिप्राय को, विशेषतः आचार तथा प्रायश्चित्त अध्यायों में, विश्वरूप ने विश्वरूप बना दिया है। इसीलिए मिताक्षराकार ने प्रारम्भ में ही इनका ससम्मान निर्देश किया है—

"याज्ञवल्क्य-मुनि-भाषितम्मुहुः विश्वरूप-विकटोक्तिविस्तृतम्" ॥

(मिताक्षरा० आचार० श्लो० २)

याज्ञवल्क्य के समर्थन के लिए (यत्र तत्र अपने विमत के समर्थन के लिए भी) विश्वरूप ने वेदों से तथा अनेक स्मृतियों एवम् गृह्य-सूत्रों से उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। स्थान-स्थान पर मिताक्षराकार का मत भी इनसे भिन्न है। यद्यपि इन्होंने 'अन्ये' 'अपरे', 'यत्तु' आदि शब्दों से अपने से प्राचीनतर व्याख्याकारों का भी निर्देश किया है तथापि किसी का नाम स्पष्ट रूप में निर्दिष्ट नहीं हुआ है। विश्वरूप की प्रवृत्ति मीमांसा की ओर अधिक है। अनेकशः जैमिनि के सूत्रों का इन्होंने उद्धरण किया है। इनका समय महामहोपाध्याय काणे के अनुसार ७५० ई० से लेकर १००० ई० तक माना गया है।

विज्ञानेश्वर (१०७०—१११५)

विज्ञानेश्वर की ऋजु-मिताक्षरा समस्त धर्म-साहित्य में अद्वितीय है। महामहोपाध्याय काणे का कथन है—

Its position is analogous to that of the महाभाष्य of पतञ्जलि in grammar or to that of the काव्य-प्रकाश of मम्मट in poetics.

(History of Dharma. P. 287)

आङ्ग्लशासन काल में तो मिताक्षरा का बड़ा ही महत्त्व था। इसी के आधार पर न्यायालय में दायभाग आदि का निर्णय किया जाता था। यदि यह कहा जाय कि मिताक्षरा के कारण याज्ञवल्क्य-स्मृति का भी महत्त्व कुछ अधिक हो गया तो अत्युक्ति न होगी। याज्ञवल्क्य के अभिप्राय को परिष्कृत करने के लिए इन्होंने अनेक स्मृतियों, पुराणों तथा वैदिक-ग्रन्थों से उद्धरण प्रस्तुत किए हैं। स्मृतिकारों का निर्देश तो विश्वरूप की तुलना में चतुर्गुण है—ऐसा कहा जा सकता है। ये मीमांसा के बड़े ही प्रकृष्ट पण्डित प्रतीत होते हैं। वस्तुतः धर्म-शास्त्र के मर्म को जानने के लिए मीमांसा का विशद ज्ञान अनिवार्य है। इन्होंने 'यथाकामी भवेद्वापि' (या० स्मृ० १।८१) श्लोक की व्याख्या में विधि का विमर्श बहुत ही तार्किक युक्ति से मीमांसा शास्त्र के अनुसार प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार १।८६, २।११४, २।१२६ आदि श्लोकों की व्याख्या में भी उनके मीमांसा-शास्त्रीय वैदुष्य का उत्कर्ष देखा जा सकता है।

इनका जन्म भारद्वाज गोत्र में हुआ था। इन्होंने अपने पिता का नाम पद्मनाभ भट्टोपाध्याय बतलाया है। गुरु के विषय में इनका निर्देश है—

उत्तमोपपदस्येयं शिष्यस्य कृतिरात्मनः।

इस श्लोक के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि इनके गुरु का नाम उत्तमात्मा अथवा आत्मोत्तम रहा होगा।

इन्होंने अपनी मिताक्षरा में विक्रमादित्य देव को अपने आश्रयदाता के रूप में निर्दिष्ट किया है। विक्रमादित्य देव का वर्णन 'विक्रमाङ्कदेव-चरित' महाकाव्य में महाकवि बिल्हणद्वारा विशद रूप में वर्णित है। "विक्रमाङ्क-देव-चरित" के सम्पादक म० म० पं० रामावतार पाण्डेयजीने अपनी भूमिका में चालुक्यवंशीय विक्रमादित्य का समय १०७६ से ११२४ ई० के बीच माना है। अतः विज्ञानेश्वर का भी समय वही होना चाहिए।

अपरादित्य (द्वादश शतक-पूर्वार्ध)

या० स्मृ० पर तीसरी व्याख्या अपरार्क है। यह व्याख्या मिताक्षरा से विस्तृत तथा धर्म-शास्त्र के सिद्धान्तों का आकर है। आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना से १९०३-४ में दो भागों में यह प्रकाशित हुई है। इस व्याख्या में पुराणों से बहुत ही उद्धरण किये गए हैं। पुराणों से अतिरिक्त गौतम आदि धर्म-शास्त्रों से भी बहुत प्रमाण प्रस्तुत किए गए हैं। इनका जन्म-समय १११५ से ११३० ई० के मध्य में माना जाता है। इनके पिता का नाम अनन्त देव तथा पितामह का नागार्जुन था। ये जीमूतवाहन के वंश में उत्पन्न हुए हैं, जैसा या० स्मृ० की व्याख्या के अन्त में इनके लेख से स्पष्ट होता है—'इति श्री-विद्याधरवंशप्रभवश्रीशिलाहार नरेन्द्र-जीमूतवाहनान्वयप्रसूत श्रीमदपरादित्य देव.........'। एक दूसरे अपरादित्य देव भी हुए हैं जिनका जन्म समय ११८४-११८७ है परन्तु डा० काणे के कथनानुसार या० स्मृ० के व्याख्याता प्रथम अपरादित्य देव ही है। कहीं-कहीं इनका नाम केवल आदित्यदेव भी पाया जाता है। भासर्वज्ञ के न्यायसार पर भी इनकी एक बृहद्व्याख्या—न्यायमुक्तावली है, जो १९६१ ई० में मद्रास से प्रकाशित हुई है। इनके विषय में विशेष विवरण के लिए डा० काणे का History of Dharmas'āstra (PP. 328-334) देखना चाहिए।

शूलपाणि (१३७५-१४६० ई०)

शूलपाणि बङ्गाल के धर्म-शास्त्रीय-निबन्ध-कारों में प्रमुख माने जाते हैं। इन्होंने या० स्मृति की टीका लिखी। इस टीका का नाम 'दीप-कलिका' है। यह व्याख्या अत्यन्त-संक्षिप्त होने पर भी प्रामाणिक है। यही कारण है कि वीर-मित्रोदय तथा अष्टाविंशति-तत्त्व आदि प्रामाणिक निबन्धों में इनके मत का उल्लेख है। ये साहुदियाल वंश के बङ्गीय ब्राह्मण थे। प्रो० काणे के निर्देशानुसार, बल्लालसेन के राज्य-काल से राढीय ब्राह्मणवर्ग के निम्न-तर वर्गीय ब्राह्मण ही साहुदियाल कहलाते हैं। रुद्रधर के द्वारा 'गौड़ीय' शब्द से निर्दिष्ट होने के कारण इनका बङ्गीयत्व माना जाता है। इनका समय प्रो० काणे तथा जगन्नाथ रघुनाथ घारपुरे के अनुसार १४ शतक के अन्त तथा १५ शतक के मध्य के बीच माना जाता है।

मित्र-मिश्र (१८०० ई०)

मित्र-मिश्र के नाम से प्रसिद्ध 'वीरमित्रोदय' व्याख्या विशाल-काय तथा प्रमेय बहुल है। मित्र मिश्र का समय १८वीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जा सकता है, क्योंकि आनन्द चम्पू में इन्होंने इसके निर्माण-काल का उल्लेख किया है—

'मीनारोहिणि-रोहिणी-सहचरे कृत्वाऽन्तिके रेवतीं
याते चण्ड-मरीचि-मालिनि तुलां वारे च वाचस्पतेः।
शाके खाङ्कगतर्तुभू (१६९०) परिमिते ह्यानन्दकन्दाभिधां
चम्पूम्पूरितवान् सित-स्मर-तिथौ श्रीमित्र-मिश्रः कृती ॥'

अतः इनका समय यदि १८ शतक का मध्य-भाग माना जाय तो कुछ अनुपपत्ति नहीं दीखती है।

इनकी व्याख्या में अनेक स्मृति तथा पुराणों का उद्धरण तथा विवेचन मिलता है, जिनसे इनके विद्या-वैभव का पता चलता है। परन्तु यह विषय ध्यान देने योग्य है कि यह व्याख्या इनकी अपनी लिखी हुई नहीं है अपितु किसी सदानन्द नाम के विद्वान् ने मित्र मिश्र के अनुरोध से इसका संग्रथन किया था और मित्र मिश्र के नाम से ही इसे प्रख्यापित किया। इसके समर्थन में वी० मि० (या० स्मृ० व्याख्या) में उल्लिखित निम्ननिर्दिष्ट श्लोक है—

उत्तंसस्तीरभुक्तेः अखिल-बुध-गुरुः श्रीसदानन्दधीमान्
श्रीभाजो मित्रमिश्राज्जगदुपकृतये बिभ्रदादेशदीपम्।
जानानान्दैन्य-दोषापहमकलि-भयं याज्ञवल्क्योक्तिकोशात्
दृष्ट्वा स्मृत्यर्थसारं समचिनुत यशो धर्म-लक्ष्मी-विहारम् ॥

(या० स्मृ० व्या० आ० अ० मङ्गल श्लो० १६)

जो कुछ भी हो, वीर-मित्रोदय व्याख्या के महत्त्व का अपलाप तो कथमपि नहीं किया जा सकता। धर्म-शास्त्र-कानन में परिभ्रमण करने की इच्छा रखने वाले सज्जन के लिए तो यह व्याख्या विशेषतः उपयोगी है।

प्रस्तुत-संस्करण

प्रस्तुत संस्करण में आधुनिक युग के नियोग को ध्यान में रखकर मूल स्मृति का हिन्दी-अनुवाद समन्वित कर दिया गया है, जिससे संस्कृत के प्रगाढ़ ज्ञान से रहित जिज्ञासुजन का भी अभिलाष पूर्ण हो सके। साथ ही विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा, जिसका महत्त्व प्राच्य तथा पाश्चात्य—दोनों ही दृष्टियों से अनुपम है, का समावेश कर दिया गया है जिससे प्राचीन तथा नवीन का सह-स्रोत प्रवाहित होता रहे।

आशा है विद्वज्जन इस नवीन संस्करण का यथोचित स्वागत कर चौखम्बा प्रकाशन के अध्यक्ष को प्रोत्साहित करेंगे जिससे ये इसी तरह संस्कृत तथा संस्कृतज्ञ की सेवा में सोत्साह तत्पर रह सकें।

मति-मान्द्याद्नुचिताः सम्भवन्ति पदे पदे ॥
तथापि ते नहि पदं लभन्ते महतां हृदि ॥ १ ॥
तुच्छोऽप्यवस्थातुमर्हः प्रकाशः सवितुर्मुखे ॥
अन्धं तमो महदपि न कदाचिदपीत्यलम् ॥ २ ॥

—श्री नारायणमिश्रः

भूमिका

स्मृति साहित्य

भारतीय धर्मशास्त्र में वैदिक धर्मसूत्रों के उपरान्त स्मृतियाँ आती हैं। स्मृति शब्द का प्रयोग श्रुति से विपर्यास प्रदर्शित करने के लिए किया गया है। श्रुति तथा स्मृति द्वारा विहित आचार को धर्म बताया गया है (श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः, वसिष्ठधर्मसूत्र, १. ४. ६) श्रुति से वेद का अर्थ लिया जाता है और स्मृति शब्द का प्रयोग श्रुति अर्थात् ईश्वरप्रकाशित एवं ऋषिदृष्ट वाङ्मय से भिन्न साहित्य के लिए हुआ है। उपयुक्त अर्थ में धर्मसूत्र भी स्मृति ग्रन्थ हैं। ("श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः", मनु० २. १०)। श्रुति श्रवण, मनन और अध्यापन का विषय है। स्मृति स्मरण का विषय है और परम्परागत धार्मिक साहित्य है। संकीर्ण अर्थ में स्मृति और धर्मशास्त्र में कोई भेद नहीं है।

वैदिक साहित्य में हम सूत्रों के अन्तर्गत श्रौतसूत्र या श्रुति पर आधारित सूत्रों का विभाजन पाते हैं। "श्रौतसूत्रों के साथ ही साथ हम दूसरे प्रकार के कल्पसूत्र भी पाते हैं, जिन्हें गृह्यसूत्र कहा गया है। ये गृहस्थजीवन की उन क्रियाओं का वर्णन करते हैं जो जन्म, जन्म के पूर्व, विवाह, मृत्यु और मृत्यु के बाद के अवसरों पर की जाती हैं। इन रचनाओं की उत्पत्ति उनके नाम से ही पर्याप्त रूप में प्रकट हो जाती है, कारण गृह्यसूत्र के अतिरिक्त उनका नाम स्मार्त-सूत्र या स्मृति पर आधारित सूत्र भी है। स्मृति का अर्थ वह है जो याद किया जाने योग्य हो। इस प्रकार हम स्मृति का श्रुति अर्थात् श्रवण के विषय से स्पष्ट रूप से भेद कर सकते हैं, कारण, स्मृति सीधे स्मरण शक्ति पर छाप डालती है और इसके लिए किसी विशेष शिक्षा या साधन की आवश्यकता नहीं पड़ती।"[1]

इसी विद्वान् ने इस बात का भी उल्लेख किया है कि मेगस्थनीज् के अनुसार भारतीय लोग विधि का व्यवहार "स्मृति द्वारा ही" "अथो म्नीमिस" किया करते थे।[2]

संकुचित अर्थ में स्मृति से धर्मशास्त्र की उन रचनाओं का तात्पर्य है जो प्रायः श्लोकों में हैं और उन्हीं विषयों का विवेचन करती हैं जिनका प्रतिपादन धर्मसूत्रों में किया गया है। इन स्मृतियों में अग्रणी हैं—मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियाँ। मनुस्मृति सबसे प्राचीन है और ईसा से कई सौ वर्ष पहले रची गई थी। अन्य स्मृतियाँ ४०० से १००० ई० के बीच की हैं। स्मृतिकारों की संख्या विस्तृत है।

---

१. भारतीयसाहित्य, अनु० उमेशचन्द्र पाण्डेय, पृ० ११।

२. वही, पृ० १४

स्मृतियाँ प्रायः पद्य में हैं और भाषा की दृष्टि से स्मृतियाँ धर्मसूत्रों के बाद की रचनाएँ हैं। स्मृतियों की भाषा लौकिक है। विषयवस्तु की दृष्टि से स्मृतियाँ धर्मसूत्रों से अधिक व्यवस्थित और सुगठित हैं।

मुख्य स्मृतिकार १८ हैं—मनु, बृहस्पति, दक्ष, गौतम, यम, अंगिरा, योगीश्वर, प्रचेता, शातातप, पराशर, संवर्त, उशनस्, शंख, लिखित, अत्रि, विष्णु, आपस्तम्ब, हारीत।

इनके अतिरिक्त उपस्मृतियों के भी लेखकों के नाम इस प्रकार गिनाये गये हैं—

नारदः पुलहो गार्ग्यः पुलस्त्यः शौनकः क्रतुः।
बौधायनो जातुकर्ण्यो विश्वामित्रः पितामहः॥
जाबालिर्नाचिकेतश्च स्कन्दो लौगाक्षिकश्यपौ।
व्यासः सनत्कुमारश्च शान्तनुर्जनकस्तथा॥
व्याघ्रः कात्यायनश्चैव जातुकर्ण्यः कपिञ्जलः।
बौधायनश्च काणादो विश्वामित्रस्तथैव च।
पैठीनसिर्गोभिलश्चेत्युपस्मृतिविधायकाः॥

वीरमित्रोदय, परिभाषा प्रकरण के अनुसार स्मृतिकारों की संख्या २१ है और वे हैं—

वसिष्ठो नारदश्चैव सुमन्तुश्च पितामहः।
विष्णुः कार्ष्णाजिनिः सत्यव्रतो गार्ग्यश्च देवलः॥
जमदग्निर्भारद्वाजः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
आत्रेयश्च गवेयश्च मरीचिर्वत्स एव च॥
पारस्करश्चर्ष्यश्रृङ्गो बैजवापस्तथैव च।
इत्येते स्मृतिकर्तार एकविंशतिरीरिताः॥

स्वयं स्मृतिकारों ने दूसरे स्मृतिकारों का उल्लेख किया है और उनकी संख्या का अपने ज्ञान के अनुसार निर्देश किया है। मनु ने ६ के, याज्ञवल्क्य ने २० के, पराशर ने १९ के नाम गिनाये हैं। स्मृतियों की संख्या के विषय में भिन्न प्रकार की सूचनाएँ मिलती हैं। जैसा कि प्रो० काणे ने निष्कर्ष निकाला है—'यदि बाद में आनेवाले निबन्धों, यथा निर्णयसिन्धु, नीलकण्ठ, एवं वीरमित्रोदय की मयूख सूचियों को देखा जाय तो स्मृतियों की संख्या १०० हो जायगी'।[1]

यहाँ उल्लेखनीय है कि जो स्मृतियाँ उपलब्ध हैं उनकी संख्या अपेक्षतया कम है। अनेक स्मृतियों की केवल व्याख्याएँ उपलब्ध हैं। साथ ही स्वरूप तथा शैली की दृष्टि से भी ये स्मृतियाँ भिन्न हैं।

याज्ञवल्क्यस्मृति

स्मृति साहित्य में मनुस्मृति के बाद दूसरी महत्त्वपूर्ण स्मृति है याज्ञवल्क्य-स्मृति। कुछ दृष्टि से तो याज्ञवल्क्यस्मृति का मनुस्मृति की अपेक्षा भी अधिक

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, अनु० काश्यप, पृ० ४१।

व्यावहारिक महत्त्व है। याज्ञवल्क्यस्मृति मनुस्मृति के बाद की रचना है यह बात विषयवस्तु के कारण तो स्पष्ट है ही और भी अनेक विशिष्ट तथ्यों के कारण भी स्पष्ट है। इसमें विषयवस्तु का विधिवत् विभाजन किया गया है। गणेश और ग्रहों की पूजा भी इस स्मृति की विशेषता है। दान से संबद्ध कर्मों का ताम्रपत्र पर लेख और मठों के संगठन का वर्णन भी इस स्मृति में पाया जाता है, ये बातें मनु में नहीं उपलब्ध होतीं। इसमें बौद्धमत का खण्डन किया गया है। मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति की तुलनात्मक विशेषताओं के विषय में वेबेर ने निम्न-लिखित विचार व्यक्त किये हैं: 'जो विषय दोनों में पाये जाते हैं उनमें भी हम याज्ञवल्क्य में अधिक सूक्ष्मता और स्पष्टता पाते हैं, और विशिष्ट उदाहरणों में, जहां दोनों में ठोस अन्तर दिखाई पड़ता है, याज्ञवल्क्य का दृष्टिकोण स्पष्टतः बाद के समय का है।'[1]

मनु ने व्यवहार के जितने प्रमाण गिनाये हैं उनकी अपेक्षा याज्ञवल्क्यस्मृति में लिखित ताम्रपत्र अधिक गिनाया गया है। मनु ने दिव्यों के अन्तर्गत अग्नि और जल के दो दिव्यों का वर्णन किया है जब कि याज्ञवल्क्य ने पांच दिव्यों का वर्णन किया है। दार्शनिक विषयों के विवेचन में याज्ञवल्क्य और मनुस्मृति में समानता है, किन्तु भ्रूणविज्ञान याज्ञवल्क्यस्मृति में नवीन विषय है, जिसे कीथ ने किसी आयुर्वेदिक ग्रन्थ से लिया हुआ माना है।

याज्ञवल्क्यस्मृति मनुस्मृति की अपेक्षा छोटी है। मनुस्मृति में २७०० श्लोक हैं, जबकि याज्ञवल्क्यस्मृति में लगभग एक हजार श्लोक हैं। शैली की दृष्टि से याज्ञवल्क्यस्मृति संक्षिप्त है और प्रवाहमय है। प्रो० काणे ने यह संभावना व्यक्त की है कि याज्ञवल्क्यस्मृति के रचयिता के सामने रचना करते समय मनुस्मृति रही होगी, कारण अनेक स्थलों पर दोनों स्मृतियों में समान शब्द पाये जाते हैं।

किन्तु जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है याज्ञवल्क्य एक मौलिक विचारक और धर्मशास्त्रकार हैं। वे पहले के आचार्यों का पिष्टपेषण मात्र नहीं करते, अपितु देशकाल के परिवर्तनों के साथ परिवर्तित मान्यताओं को प्रस्थापित करते हैं और अपने पूर्ववर्ती मनु से कई स्थलों पर सहमत नहीं होते। भाषा की दृष्टि से याज्ञवल्क्यस्मृति पाणिनि के नियमों का पालन करती है। एकाध शब्द अपवाद भी मिल जाते हैं।

पूर्ववर्ती साहित्य से संबन्ध—

याज्ञवल्क्यस्मृति में वेद, वेदांगों, आरण्यकों, उपनिषदों, पुराणों, इतिहास, नाराशंसी के साथ-साथ स्वयं याज्ञवल्क्यप्रणीत बृहदारण्यक और योगशास्त्र का उल्लेख है। आरम्भ में उन्नीस धर्मशास्त्रकारों के नाम गिनाये गये हैं।

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

---

१. भारतीय साहित्य, अनु० उमेशचन्द्र पाण्डेय, पृ० २७८।

मन्वत्रिविष्णुहारीतयाज्ञवल्क्योशनोऽङ्गिराः।
यमापस्तम्बसंवर्ताः कात्यायनबृहस्पती॥
पराशरव्यासशङ्खलिखिता दक्षगौतमौ।
शातातपो वसिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रयोजकाः॥ १. ३-५।

आन्वीक्षिकी अर्थात् दर्शनशास्त्र एवं दण्डनीति का उल्लेख भी हुआ है—

स्वरन्ध्रगोप्ताऽऽन्वीक्षिक्यां दण्डनीत्यां तथैव च।
विनीतस्त्वथ वार्तायां त्रय्यां चैव नराधिपः॥ १. ३११।

सूत्रों, स्मृतियों, धर्मशास्त्रों का नामतः उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु सामान्यतः इनकी चर्चा याज्ञवल्क्यस्मृति में मिलती है।

याज्ञवल्क्यस्मृति में शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेयी-संहिता के अनेक मन्त्रों का उल्लेख है और विवेचित विषयों की दृष्टि से पारस्करगृह्यसूत्र से भी इसका संबन्ध है। प्रो० काणे के अनुसार "स्मृति के कुछ अंश बृहदारण्यकोपनिषद् के केवल अन्वय मात्र हैं।" इस प्रकार याज्ञवल्क्यस्मृति का संबन्ध याज्ञवल्क्य के नाम से ख्यात रचनाओं के साथ तथा शुक्ल यजुर्वेद की परम्परा के साथ भी दिखाई पड़ता है।

गरुडपुराण और अग्निपुराण में याज्ञवल्क्यस्मृति के समान बहुत सी बातें उपलब्ध होती हैं। शंखलिखितधर्मसूत्र में भी याज्ञवल्क्य का उल्लेख है। विद्वानों का विचार है कि याज्ञवल्क्यस्मृति का मुख्य स्मृतिभाग ७०० ई० से अपरिवर्तित चला आ रहा है।[1]

याज्ञवल्क्यस्मृति का समय—

याज्ञवल्क्यस्मृति के समय के विषय में वेबेर का मत है : "इस रचना के लिए प्राचीनतम सीमा दूसरी शताब्दी ई० के आसपास की मानी जा सकती है, कारण, इसमें मुद्रा के अर्थ में नाणक शब्द का प्रयोग है और जैसा कि विल्सन ने अनुमान किया है यह शब्द कनेर्कि के सिक्कों से लिया गया है, जिसने ४० ई० में शासन किया था। दूसरी ओर इस समय की निचली सीमा छठीं या सातवीं शताब्दी रखी जा सकती है, कारण, विल्सन के अनुसार इस स्मृति के अंशों को भारत के अनेक भागों में शिलालेखों में उद्धृत किया गया है।[2]

याकोबी ने याज्ञवल्क्यस्मृति का समय बारह ग्रहों की संख्या के आधार पर चतुर्थ शताब्दी ई० के बाद माना है।[3]

प्रो० काणे ने याज्ञवल्क्यस्मृति के समय के विषय में जो निष्कर्ष निकाले हैं उनके अनुसार इस स्मृति के समय की निचली सीमा नवीं शताब्दी के बाद की नहीं हो सकती। कारण—

---

२. काणे, वही, पृ० ५१।

१. भारतीय साहित्य, अनु० उमेशचन्द्र पाण्डेय, पृ० २७८।

३. वही, पृ० २७८, टिप्पणी २।

१ टीकाकार विश्वरूप नवीं शताब्दी के हैं।

२. विश्वरूप ने अपने पहले के कई भाष्यकारों का उल्लेख किया है, जिन्होंन याज्ञवल्क्यस्मृति पर टीकायें लिखी हैं।

३. शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में याज्ञवल्क्यस्मृति ३. २२६ का निर्देश किया है।

अतः 'याज्ञवल्क्यस्मृति को हम ई० पू० पहली शताब्दी तथा ईसा के बाद की तीसरी शताब्दी के बीच कहीं रख सकते हैं।'[१]

वर्णित विषय—

याज्ञवल्क्यस्मृति का आरम्भ मुनियों के प्रश्न से होता है। योगीश्वर याज्ञवल्क्य मिथिला को सुशोभित कर रहे थे। मुनियों ने उनकी पूजा की और कहा कि आप वर्णों, आश्रमों और दूसरे (अनुलोम, प्रतिलोम, संकर जातियों) का धर्म हमें पूरी तरह से समझाइये।

योगीश्वरं याज्ञवल्क्यं संपूज्य मुनयोऽब्रुवन्।
वर्णाश्रमेतराणां नो ब्रूहि धर्मानशेषतः ॥ १।१।

और तब याज्ञवल्क्य उस देश में किये जाने वाले धर्म का प्रतिपादन करते हैं, जिस देश में काले मृग स्वच्छन्द विचरण करते हैं।

यस्मिन् देशे मृगः कृष्णस्तस्मिन्धर्मान्निबोधत ॥

इस उपक्रम के बाद याज्ञवल्क्यस्मृति आरम्भ होती है, और बीच-बीच में पृच्छालु मुनिगण शंका करते हैं जिनका समाधान याज्ञवल्क्य करते चलते हैं। यह स्मृति लगभग समान विस्तार के तीन अध्यायों में विभक्त है।

संक्षेप में इस स्मृति में वर्णित विषयों को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

आचाराध्याय—चौदह विद्याएं, एवं धर्म के उपादान। संस्कार-जन्म से विवाह तक। उपनयन और उसका समय। ब्रह्मचारी के कर्तव्य एवं निषिद्ध कर्म। विवाह, विवाह की योग्यता, सपिण्ड संबन्ध का नियम। अन्तर्जातीय विवाह, आठ प्रकार के विवाह। क्षेत्रज पुत्र और पुनर्विवाह। गृहस्थ के कर्तव्य। पंच महायज्ञ, अतिथि सत्कार, मधुपर्क। चारों वर्णों के कर्तव्य। आचार के दस सिद्धान्त, गृहस्थ की जीवनवृत्ति। स्नातक के कर्तव्य। अनध्याय, भक्ष्याभक्ष्य का नियम, पवित्रीकरण के नियम। दान के नियम, पात्र एवं वस्तुएँ। श्राद्ध के नियम, इसका समय, श्राद्ध में बुलाने जाने योग्य ब्राह्मण, श्राद्ध की विधि एवं दक्षिणा। ग्रह शान्ति। राजधर्म और दण्ड।

व्यवहाराध्याय—न्याय करने वाले व्यक्ति, न्याय करने वाली परिषद् के सदस्य। जमानत, व्याज की दर, ऋण, बन्धक के प्रकार। साक्षी की पात्रता, शपथ, लेखप्रमाण। दिव्य। धन का विभाजन, स्त्री का भाग, पुत्रों के प्रकार और

---

१. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, अनु० आचार्य काश्यप, पृ० ५३।

उनमें विभाजन के नियम, स्त्रीधन, स्वामी और भृत्य के विवाद, दास्य के नियम। मजदूरी। जुआ, मानहानि और व्यभिचार आदि जैसे अपराधों का दण्ड।

प्रायश्चित्ताध्याय–अशौच के नियम, मृत के संस्कार, तर्पण। जन्मविषयक अपवित्रता। विपत्ति में आचार और जीविका निर्वाह। वानप्रस्थ के नियम, यति के नियम। गर्भ में शिशु का विचार और मानव शरीर रचना, आत्मा का जन्म क्यों? योगी की अमरता का रहस्य। आत्मज्ञान के साधन। रोगव्याधियाँ, नरक, महापातक, उपपातक और इनके प्रायश्चित्त। दस 'यम एवं नियम। सान्तपन, महासान्तपन, तप्तकृच्छ्र, पराक, चान्द्रायण, एवं अन्य व्रत।

टीकाकार और संस्करण—

याज्ञवल्क्यस्मृति पर मुख्य चार टीकाकारों की टीकाएं हैं, वे हैं: विश्वरूप, विज्ञानेश्वर, अपरार्क और शूलपाणि। विश्वरूप की बालक्रीडा नाम की टीका गणपतिशास्त्री ने त्रिवेन्द्रम संस्कृत ग्रन्थमाला में प्रकाशित की है। मिताक्षरा में इस टीका का उल्लेख है। विश्वरूप का समय ७५० ई० तथा १००० ई० के बीच का है। विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा टीका का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इसके विषय में म० म० काणे ने ठीक ही कहा है: "यह ग्रन्थ उतना ही प्रभावशाली माना जाता रहा है जितना व्याकरण में पतंजलि का महाभाष्य एवं साहित्यशास्त्र में मम्मट का काव्यप्रकाश। विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा में अपने पूर्व के लगभग दो सहस्र वर्षों से चले आये हुए मतों का सारतत्त्व ग्रहण किया और ऐसा रूप खड़ा किया जिसके प्रकाश में अन्य मतों और सिद्धान्तों का विकास हुआ।"[1] इस टीका की रचना का समय १०७०–११०० ई० का माना जाता है।

याज्ञवल्क्यस्मृति पर तीसरी प्रमुख टीका अपरादित्य की है। यह आनन्दाश्रम प्रेस पूना से प्रकाशित है और अपरार्क-धर्मशास्त्र-निबन्ध नाम से अभिहित है। मिताक्षरा की अपेक्षा यह बड़ी है और इसमें अन्य धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों से बहुत अधिक उद्धरण लिए गये हैं और पुराणों के अंश भी उद्धृत किये गये हैं। अपरार्क की तिथि ११००–१२०० ई० के बीच होने का अनुमान किया जाता है। बंगाल के धर्मशास्त्रकार शूलपाणि की टीका है दीपकलिका, जो छोटे आकार की है। इसमें मिताक्षरा और विश्वरूप के मतों का उल्लेख है। शूलपाणि का समय चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम पाद से आरम्भ कर पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बीच माना जा सकता है।

याज्ञवल्क्यस्मृति के अनेक संस्करण हुए हैं। प्रमुख हैं: निर्णयसागर संस्करण, त्रिवेन्द्रम संस्करण और आनन्दाश्रम संस्करण। इन संस्करणों में श्लोकों की संख्या में कुछ भिन्नता है।

याज्ञवल्क्य

याज्ञवल्क्यस्मृति का संबन्ध याज्ञवल्क्य ऋषि से है। वैदिक ऋषियों की परम्परा में याज्ञवल्क्य का महत्वपूर्ण स्थान है, जिसके अनुसार याज्ञवल्क्य

१. काणे, वही, पृ० ७२।

मुख्यतः शुक्लयजुर्वेद और शतपथब्राह्मण के द्रष्टा हैं। शतपथब्राह्मण में भी याज्ञवल्क्य के विषय में अनेक आख्यान आये हैं और इनमें याज्ञवल्क्य के विचारों को मान्यता दी गयी है। ११।३।१।२ में वे जनक को अग्निहोत्र यज्ञ समझाते हैं और स्वयं जनक से गूढ़ यज्ञिय क्रिया का ज्ञान प्राप्त करते हैं। ११।६।३ में याज्ञवल्क्य और शाकल्य के शास्त्रार्थविवाद का वर्णन है, जिसमें देवताओं की संख्या के विषय में विचार किया गया है और अन्त में याज्ञवल्क्य के एकेश्वरवाद के सिद्धान्त को स्वीकारा गया है। परन्तु याज्ञवल्क्य अपने प्रतिद्वन्द्वी शाकल्य को उनकी हठधर्मिता के कारण शीघ्र मृत्यु प्राप्त करने का शाप देते हैं। याज्ञवल्क्य को अनेक यज्ञों का उद्घोषक माना गया है। शतपथब्राह्मण के अतिरिक्त याज्ञवल्क्य का नाम किसी अन्य वैदिक ग्रन्थ में नहीं आता। शांखायन आरण्यक में दो स्थलों पर याज्ञवल्क्य का उल्लेख है किन्तु उन अंशों को विद्वानों ने शतपथब्राह्मण से उद्धृत माना है।[1]

याज्ञवल्क्य शुक्ल यजुर्वेद, शतपथब्राह्मण तथा बृहदारण्यकोपनिषद् के प्रणेता या उद्घोषक थे इस विषय में प्रायः सन्देह व्यक्त किया गया है। शुक्ल यजुर्वेद की संहिता वाजसनेयी-संहिता कहलाती है और यह नाम याज्ञवल्क्य की उपाधि वाजसनेय के आधार पर पड़ा है। यदि याज्ञवल्क्य इस संहिता के उद्घोषक न भी हों तो भी उन्हें संकलनकर्ता मानने में कोई आपत्ति नहीं। इसी प्रकार शतपथब्राह्मण का भी प्रचुर अंश सीधे याज्ञवल्क्यरचित है और शेष अंश को आधिकारिक रूप देने के लिए उनका नाम संबद्ध कर दिया गया है, ऐसी संभावना की जाती है। अतः जैसा कि जे० डाउसन ने कहा है : "यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि शतपथब्राह्मण की रचना उनके अधीक्षण में या उनके शिष्यों द्वारा की गयी थी।"[2]

शतपथब्राह्मण से संबद्ध बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य एक यज्ञक्रिया के आचार्य की अपेक्षा दार्शनिक के रूप में दिखायी पड़ते हैं। इस उपनिषद् में याज्ञवल्क्यीय काण्ड नाम का अंश विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिसमें याज्ञवल्क्य की प्रशस्ति है और उनके आत्मविषयक दार्शनिक विचारों का संग्रह है। इस उपनिषद् में याज्ञवल्क्य का जिस प्रकार उल्लेख किया गया है उससे स्पष्ट है कि यह अकेले याज्ञवल्क्य की रचना न होकर उनके शिष्यों और अनुयायियों द्वारा भी रचित है। विण्टरनित्स का इस विषय में यह मत है कि स्वयं बृहदारण्यकोपनिषद् में अन्य आचार्यों का भी उल्लेख है। इसके अतिरिक्त याज्ञिक और तत्वचिन्तनविषयक इतने विभिन्न मतों को याज्ञवल्क्य से संबद्ध किया गया है कि उन्हें इन सबका उद्घोषक स्वीकारना कठिन प्रतीत होता है।[3]

---

१. मैकडानल एवं कीथ, वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० १८९।

२. ए क्लासिकल डिक्शनरी आफ हिन्दू माइथोलोजी, पृ० ३७२।

३. हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग १, पृ० २४६, टिप्पणी।

बृहदारण्यकोपनिषद् ६।५।३ में उन्होंने मैत्रेयी को आत्मा के विषय में तथा अमरता के बारे में जो व्याख्यान दिये हैं वे भारतीय दर्शन में उत्कृष्ट कोटि के चिन्तन के परिचायक हैं। इस उपनिषद् के तीसरे और चौथे अध्यायों के प्रायः सभी ब्राह्मणों में याज्ञवल्क्य किसी न किसी आचार्य से दार्शनिक विवेचन करते हुए दिखाई पड़ते हैं, जैसे जनक, अश्वल, आर्तभाग, भुज्यु, कोहल, गार्गी, आरुणि या शाकल्य से।

महाभारत में याज्ञवल्क्य युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के अवसर पर उपस्थित दिखाये गये हैं, यह कुछ विचित्र प्रतीत होता है। याज्ञवल्क्य-रचित एक योगशास्त्र का भी उल्लेख कूर्मपुराण १।२५-२७ में मिलता है और विण्टरनित्स का विचार है कि यह याज्ञवल्क्यगीता का निर्देश करता है जिसमें योग की व्याख्या की गयी है।[1]

प्रश्न उठता है : क्या वैदिक परम्परा के ऋषि याज्ञवल्क्य हो प्रस्तुत याज्ञवल्क्यस्मृति के प्रणेता हैं? प्रश्न सकारण है। वैदिक ग्रन्थों की भाषाशैली से स्मृति की भाषा और शैली नितान्त भिन्न है और इनमें समय की दृष्टि से सामीप्य नहीं है, और शायद इसी तथ्य को दृष्टिगत करके मिताक्षरा टीका के लेखक विज्ञानेश्वर ने स्पष्ट संकेत किया है कि याज्ञवल्क्य के किसी शिष्य ने धर्मशास्त्र को संक्षिप्त करके वर्तमान रूप प्रदान किया है। परन्तु स्वयं याज्ञवल्क्यस्मृति (३. ११०) में इस बात की घोषणा की गई है कि इस स्मृति के प्रणेता आरण्यक अर्थात् बृहदारण्यकोपनिषद् के रचयिता हैं और उन्हें सूर्य ने ज्ञान प्रदान किया, तथा वे योगी थे—

ज्ञेयं चारण्यकमहं यदादित्यादवाप्तवान्।
योगशास्त्रं च मत्प्रोक्तं ज्ञेयं योगमभीप्सता॥

याज्ञवल्क्य के साथ इस स्मृति का संबन्ध संभवतः इसे महत्ता प्रदान करने के लिए जोड़ा गया है। किन्तु एक बात निर्विवाद है और वह यह कि शुक्ल यजुर्वेद की परम्परा से इस स्मृति का संबन्ध है, इस तथ्य पर यहाँ हमने याज्ञवल्क्यस्मृति का परिचय देते समय प्रकाश डाला है।

बृहदारण्यकोपनिषद् ६।३।१५ में याज्ञवल्क्य को उद्दालक आरुणि का शिष्य बताया गया है और राजा जनक के साथ इनके संबन्धों के कारण इन्हें विदेह का निवासी कहते हैं, किन्तु मेक्डानल और कीथ के मत में यह सन्देहास्पद है—

'Despite the legend of Janaka's patronage of him, his association with Uddalaka, the Ku'ru Pancala renders this doubtful.'

—वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० १८९।

शतपथब्राह्मण के अन्त में (१४।९।४।२९ आदि) आचार्यों की जो सूची दी गयी है उसमें याज्ञवल्क्य ४५ वें स्थान पर आते हैं और उसमें भी उनके गुरु का

१. विण्टरनित्स, वही, भाग १, पृ० ५७४, टिप्पणी।

नाम उद्दालक आरुणि है। जहाँ तक याज्ञवल्क्य के समय का प्रश्न है वे परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों के काल के ऋषि हैं।

किसी भी स्थिति में वे पाणिनि के पहले के हैं। याज्ञवल्क्यविषयक ब्राह्मणीय आख्यानों का विवेचन प्रस्तुत लेखक ने अपने शोधग्रन्थ 'द लेजेण्ड्स इन द शतपथब्राह्मण' में किया है।

योगियाज्ञवल्क्य एवं बृहद् याज्ञवल्क्य नाम की याज्ञवल्क्य की रचनाओं के विषय में डा० काणे ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में डेकन कालेज संग्रहालय की पाण्डुलिपियों का हवाला दिया है, जिनमें प्रथम में १२ अध्याय और ४९५ श्लोक हैं तथा दूसरे में १२ अध्याय और ९३० श्लोक हैं। वृद्धयाज्ञवल्क्य नाम की स्मृति का भी उल्लेख मिलता है। इससे विश्वरूप ने अपनी टीका में उद्धरण लिए हैं। मिताक्षरा में भी इसका उल्लेख आया है।

—उमेशचन्द्र पाण्डेय

विषयानुक्रम

(टीका में विवेचित महत्त्वपूर्ण विषयों का भी निर्देश इस विषयानुक्रम में किया गया है)

१. आचाराध्याय

(१) उपोद्घातप्रकरण

(२) ब्रह्मचारिप्रकरण

(३) विवाहप्रकरण

(९) दानप्रकरण

(१०) श्राद्धप्रकरण

(११) गणपतिकल्पप्रकरण

(१२) ग्रहशान्तिप्रकरण

(१३) राजधर्मप्रकरण

२. व्यवहाराध्यायः

(१) साधारणव्यवहारमातृका-प्रकरण

(२) असाधारणव्यवहारमातृका-प्रकरण

(३) ऋणादानप्रकरण

(९) सीमाविवादप्रकरण

(१०) स्वामिपालविवादप्रकरण

(११) अस्वामिविक्रयप्रकरण

(१२) दत्ताप्रदानिकप्रकरण

(१३) क्रीतानुशयप्रकरण

(१४) अभ्युपेत्याशुश्रूषाप्रकरण

(१५) संविद्व्यतिक्रमप्रकरण

(१६) वेतनादानप्रकरण

(१७) द्यूतसमाह्वयप्रकरण

(१८) वाक्यपारुष्यप्रकरण

(१६) दण्डपारुष्यप्रकरण

(२०) साहसप्रकरण

(२१) विक्रीयासंप्रदानप्रकरण

(२५) प्रकीर्णकप्रकरण

३. प्रायश्चित्ताध्यायः

(१) आशौचप्रकरण ।

(४) आपद्धर्मप्रकरण

(५) प्रायश्चित्तप्रकरण

(६) प्रकीर्णकप्रायश्चित्तानि

॥ श्रीः ॥

याज्ञवल्क्यस्मृतिः

'मिताक्षरा' सहितहिन्दीव्याख्योपेता

आचाराध्यायः ॥ १ ॥

उपोद्घातप्रकरणम्

धर्माधर्मौ तद्विपाकास्त्रयोऽपि क्लेशाः पञ्च प्राणिनामायतन्ते ।
यस्मिन्नेतैर्नो परामृष्ट ईशो यस्तं वन्दे विष्णुमोङ्कारवाच्यम् ॥ १ ॥
याज्ञवल्क्यमुनिभाषितं मुहुर्विश्वरूपविकटोक्तिविस्तृतम् ।
धर्मशास्त्रमृजुभिर्मिताक्षरैर्बालबोधविधये विविच्यते ॥ २ ॥

याज्ञवल्क्यशिष्यः कश्चित्प्रश्नोत्तररूपं याज्ञवल्क्यमुनिप्रणीतं धर्मशास्त्रं संक्षिप्य कथयामास—यथा मनुप्रणीतं[1] भृगुः । तस्य चायमाद्यश्लोकः—

योगीश्वरं याज्ञवल्क्यं संपूज्य मुनयोऽब्रुवन् ।
वर्णाश्रमेतराणां नो ब्रूहि धर्मानशेषतः ॥ १ ॥

योगिनां सनकादीनामीश्वरः । श्रेष्ठस्तं[2] याज्ञवल्क्यं संपूज्य मनोवाक्काय-कर्मभिः पूजयित्वा मुनयः सामश्रवःप्रभृतयः[3] श्रवणधारणयोग्या अब्रुवन् उक्तवन्तः धर्मान्नोऽस्मभ्यं ब्रूहीति[4] । कथम् ? अशेषतः कात्स्न्र्येन । केषाम् ? वर्णाश्रमेत-राणाम्, वर्णा ब्राह्मणादयः, आश्रमा ब्रह्मचारिप्रभृतयः, इतरेऽनुलोमप्रतिलोम-जाता मूर्धावसिक्तादयः । 'इतर'शब्दस्य 'द्वन्द्वे च' (पा. १।१।३१) इति सर्वनामसंज्ञाप्रतिषेधः । अत्र च 'धर्म'शब्दः षड्विधस्मार्तधर्मविषयः[5] । तद्यथा—वर्णधर्मः, आश्रमधर्मः, वर्णाश्रमधर्मः, गुणधर्मः निमित्तधर्मः, साधारणधर्मश्चेति । तत्र वर्णधर्मो ब्राह्मणो नित्यं मद्यं वर्जयेदित्यादि[6] । आश्रमधर्मोऽग्नीन्धनभैक्ष-

---

१. पाठान्तरम्—मनुनोक्तं ।   २. प्रभुस्तं ।   ३. सोमश्रवादयः ।
४. ब्रूहि कथयेति ।   ५. स्मार्तकर्मविषयः ।   ६. वर्जयेदिति ।

चर्यादिः। वर्णाश्रमधर्मः पालाशो दण्डो ब्राह्मणस्येत्येवमादिः। गुणधर्मः शास्त्रीयाभिषेकादिगुणयुक्तस्य राज्ञः प्रजापरिपालनादिः। निमित्तधर्मो विहिताकरणप्रतिषिद्धसेवननिमित्तं प्रायश्चित्तम्। साधारणधर्मोऽहिंसादिः। 'न हिंस्यात्सर्वा[1] भूतानि' इत्याचण्डालं साधारणो धर्मः। 'शौचाचारांश्च[2] शिक्षयेत्'इत्याचार्यकरणविधिप्रयुक्तत्वाद्धर्मशास्त्राध्ययनस्य प्रयोजनादिकथनं नातीवोपयुज्यते। तत्र चायं क्रमः-प्रागुपनयनात्कामचारकामवादकामभक्षाः। ऊर्ध्वमुपनयनात्प्राग्वेदाध्ययनोपक्रमाद्धर्मशास्त्राध्ययनं, ततो धर्मशास्त्रविहितयमनियमोपेतस्य वेदाध्ययनं, ततस्तदर्थजिज्ञासा, ततस्तदर्थानुष्ठानमिति। तत्र यद्यपि धर्मार्थकाममोक्षाः शास्त्रेणानेन प्रतिपाद्यन्ते, तथापि धर्मस्य प्राधान्याद्धर्मग्रहणम्। प्राधान्यं च धर्ममूलत्वादितरेषाम्। न च वक्तव्यं धर्ममूलोऽर्थोऽर्थमूलो धर्म इत्यविशेष इति। यतोऽर्थमन्तरेणापि जपतपस्तीर्थयात्रादिना[3] धर्मनिष्पत्तिः, अर्थलेशोऽपि न धर्ममन्तरेणेति। एवं काममोक्षावपीति ॥ १ ॥

भाषा—(किसी समय) योगियों में श्रेष्ठ याज्ञवल्क्य की पूजा करके (सोमश्रवस आदि) मुनियों ने कहा कि आप वर्णों, आश्रमों और दूसरे (अनुलोमज-प्रतिलोमज संकर जातियों) का धर्म हमें पूर्णरूप से बताइए ॥ १ ॥

एवं पृष्टः किमुवाचेत्याह—

मिथिलास्थः स योगीन्द्रः क्षणं ध्यात्वाऽब्रवीन्मुनीन्।
यस्मिन्देशे मृगः कृष्णस्तस्मिन्धर्मान्निबोधत ॥ २ ॥

मिथिला नाम नगरी तत्र स्थितः स याज्ञवल्क्यो योगीश्वरः क्षणं ध्यात्वा किञ्चित्कालं मनः समाधाय एते श्रवणाधिकारिणो विनयेन पृच्छन्तीति युक्तमेतेभ्यो वक्तुमित्युक्तवान्मुनीन्। किम्? 'यस्मिन्देशे मृगः कृष्णस्तस्मिन्धर्मान्निबोधयत'—इति। कृष्णसारो मृगो यस्मिन्देशे स्वच्छन्दं विहरति तस्मिन्देशे वक्ष्यमाणलक्षणा धर्मा अनुष्ठेया नान्यत्रेत्यभिप्रायः ॥ २ ॥

भाषा—मिथिला नगरी में विराजमान उस योगीश्वर ने थोड़ी देर अपने मन में विचार करके मुनियों से कहा कि जिस देश में काले मृग (स्वच्छन्द) विचरण करते हैं उस देश में (अनुष्ठेय) धर्मों को समझिए ॥ २ ॥

---

१. सर्वभूतानि इति। २. श्रीत्युक्तशौचाचारान्। ३. जपतीर्थयात्रा।

'शौचाचारांश्च शिक्षयेत्' इत्याचार्यस्य धर्मशास्त्राध्यापनविधिः। शिष्येण तदध्ययनं कर्तव्यमिति कुतोऽवगम्यत इत्यत आह—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥ ३ ॥

पुराणं ब्रह्मादि, न्यायस्तर्कविद्या, मीमांसा वेदवाक्यविचारः, धर्मशास्त्रं मानवादि, अङ्गानि व्याकरणादीनि षट्, एतैरुपेताश्चत्वारो वेदाः विद्याः पुरुषार्थसाधनानि[1], तासां स्थानानि च चतुर्दश, धर्मस्य च चतुर्दश स्थानानि हेतवः। एतानि च त्रैवर्णिकैरध्येतव्यानि। तदन्तर्भूतत्वाद्धर्मशास्त्रमप्यध्येतव्यम्[2]। तत्रैतानि[3] ब्राह्मणेन विद्याप्राप्तये धर्मानुष्ठानाय चाधिगन्तव्यानि! क्षत्रियवैश्याभ्यां धर्मानुष्ठानाय। तथा च शङ्खेन विद्यास्थानान्युपक्रम्योक्तम्—'एतानि ब्राह्मणोऽधिकुरुते स च वृत्तिं दर्शयतीतरेषाम्' इति। मनुरपि द्विजातीनां धर्मशास्त्राध्ययनेऽधिकारः, ब्राह्मणस्य प्रवचने नान्यस्येति दर्शयति (२।१६) 'निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः। तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिञ्ज्ञेयो नान्यस्य कर्हिचित्[4] ॥ विदुषा ब्राह्मणेनेदमध्येतव्यं प्रयत्नतः। शिष्येभ्यश्च प्रवक्तव्यं सम्यङ् नान्येन केनचित् ॥' इति ॥ ३ ॥

भाषा—पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र और (व्याकरण आदि) अङ्गों सहित (चारों) वेद चौदह विद्या के और धर्म के स्थान या कारण हैं ॥ ३ ॥

अस्तु धर्मशास्त्रमध्येतव्यं, याज्ञवल्क्यप्रणीतस्यास्य शास्त्रस्य किमायातमित्यत आह—

मन्वत्रिविष्णुहारीतयाज्ञवल्क्योशनोऽङ्गिराः[5] ।
यमापस्तम्बसंवर्ताः कात्यायनबृहस्पती ॥ ४ ॥
पराशरव्यासशङ्खलिखिता दक्षगौतमौ ।
शातातपो वसिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रयोजकाः[6] ॥ ५ ॥

'उशनः' शब्दपर्यन्तो द्वन्द्वैकवद्भावः। याज्ञवल्क्यप्रणीतमिदं धर्मशास्त्रमध्येतव्यमित्यभिप्रायः। नेयं परिसंख्या, किंतु प्रदर्शनार्थमेतत्। अतो बौधायनादेरपि धर्मशास्त्रत्वमविरुद्धम्। एतेषां प्रत्येकं प्रामाण्येऽपि साकाङ्क्षाणामाकाङ्क्षापरिपूरणमन्यतः क्रियते। विरोधे विकल्पः ॥ ४–५ ॥

---

१. पुरुषार्थज्ञानानि, पुरुषार्थसाधनज्ञानानि। २. तदन्तर्गतत्वात्। ३. तत्र ब्राह्मणेनैतानि। ४. कस्यचित्। ५. ऽङ्गिरः। ६. प्रवर्तकाः।

भाषा—मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत, याज्ञवल्क्य, उशनस् , अङ्गिरस् , यम, आपस्तम्ब, संवर्त, कात्यायन, बृहस्पति, पराशर, व्यास, शङ्ख, लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप और वसिष्ठ–ये धर्मशास्त्रों के प्रणेता हैं ॥ ४–५ ॥

इदानीं धर्मस्य कारकहेतूनाह—

देशे काल उपायेन द्रव्यं श्रद्धासमन्वितम् ।
पात्रे प्रदीयते यत्तत्सकलं धर्मलक्षणम् ॥ ६ ॥

देशो 'यस्मिन्देशे मृगः कृष्णः' (१।२) इत्युक्तलक्षणः, कालः संक्रान्त्यादिः, उपायः शास्त्रोक्तेतिकर्तव्यताकलापः, द्रव्यं प्रतिग्रहादिलब्धं गवादि, श्रद्धा आस्तिक्यबुद्धिः, तदन्वितं यथा भवति तथा । पात्रं 'न विद्यया केवलया' (आचार-१।२००) इत्येवमादिवक्ष्यमाणलक्षणम् । प्रदीयते यथा न प्रत्यावर्तते तथा परस्वत्वापत्त्यवसानं त्यज्यते । एतद्धर्मस्योत्पादकम् । किमेतावदेव नेत्याह— सकलमिति । अन्यदपि शास्त्रोक्तं जातिगुणहोमयागादि तत्सकलं धर्मस्य कारणं जातिगुणद्रव्यक्रियाभावार्थात्मकं चतुर्विधं धर्मस्य कारणमित्युक्तं भवति । तच्च समस्तं व्यस्तं वा यथाशास्त्रं द्रष्टव्यम् । श्रद्धा सर्वत्रानुवर्तत एव ॥ ६ ॥

भाषा—(पवित्र) देश में (उपयुक्त) समय पर विधिपूर्वक जो भी (स्वर्णादि) द्रव्य योग्य व्यक्ति को दान दिया जाता है वह सब धर्म का लक्षण है ॥ ६ ॥

इदानीं धर्मस्य ज्ञापकहेतूनाह—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
सम्यक्सङ्कल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम् ॥ ७ ॥

श्रुतिर्वेदः, स्मृतिर्धर्मशास्त्रम्, तथा च मनुः (२।१०) 'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं[1] तु वै स्मृतिः' इति । सदाचारः सतां शिष्टानामाचारोऽनुष्ठानम्[2], स्वस्य चात्मनः प्रियं, वैकल्पिके विषये यथा—'गर्भाष्टमेऽष्टमे वाब्दे' (आचार. २।१४) इत्यादावात्मेच्छैव[3] नियामिका । सम्यक्सङ्कल्पाज्जातः कामः शास्त्राविरुद्धो[4] यथा—'मया भोजनव्यतिरेकेणोदकं न पातव्यम्' इति । एते धर्मस्य मूलं प्रमाणम् । एतेषां विरोधे पूर्वपूर्वस्य बलीयस्त्वम् ॥ ७ ॥

भाषा—वेद-धर्मशास्त्र, सज्जनों के आचरण, अपने आत्मा के अनुकूल (उत्तम) कार्य तथा विवेकपूर्ण संकल्प से उत्पन्न हुई इच्छा—ये सब धर्म का मूल कहे गये हैं ॥ ७ ॥

---

१. विरोधे तु । २. नुष्ठानं नाशिष्टानाम् । ३. इत्यत्रात्मेच्छैव. इत्यादिष्वात्मेच्छैव । ४. शास्त्राविरुद्धः कामो यथा ।

देशादिकारकहेतूनामपवादमाह—

इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् ।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥ ८ ॥

इज्यादीनां कर्मणामयमेव परमो धर्मः यद्योगेन बाह्यचित्तवृत्तिनिरोधेनात्मनो दर्शनं याथातथ्यज्ञानम् । योगेनात्मज्ञाने देशादिनियमो नास्तीत्यर्थः । तदुक्तं 'यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्' (ब्र. सू. ४।१।६।१०) इति[1] ॥ ८ ॥

भाषा—यज्ञानुष्ठान, आचार, इन्द्रियनिग्रह, अहिंसा, दान, वेदाध्ययन और (पुण्य) कर्मों में यही श्रेष्ठ धर्म है कि योग अर्थात् बाह्य चित्तवृत्ति के निरोध द्वारा आत्मा का याथातथ्य बोध हो ॥ ८ ॥

कारकहेतुषु ज्ञापकहेतुषु वा संदेहे तु निर्णयहेतुमाह—

चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत्त्रैविद्यमेव वा ।
सा ब्रूते यं स धर्मः स्यादेको वाऽध्यात्मवित्तमः ॥ ९ ॥

चत्वारो ब्राह्मणाः वेद[2]धर्मशास्त्रज्ञाः पर्षत् । तिस्रो विद्या अधीयन्त इति त्रैविद्याः, तेषां समूहस्त्रैविद्यम् । धर्मशास्त्रज्ञत्वमत्राप्यनुवर्तते, तद्वा पर्षत् । सा पूर्वोक्ता पर्षत् यं ब्रूते स धर्मः । अध्यात्मज्ञानेषु निपुणतमो धर्मशा[3]स्त्रज्ञश्च एकोऽपि वा यं ब्रूते सोऽपि ध[4]र्मः ॥ ९ ॥

भाषा—वेद और धर्म को जानने वाले चार पुरुषों की या तीन विद्याओं के ज्ञाता तीन ही पुरुषों की पर्षत होती है । वह (पर्षत) जो भी कहे वह धर्म होता है । अध्यात्मज्ञान में निपुणतम एक ही व्यक्ति जो कुछ कहता है वह धर्म होता है ॥ ९ ॥

इत्युपोद्घातप्रकरणम् ।

ब्रह्मचारिप्रकरणम्

एतैर्नवभिः श्लोकैः सकलशास्त्रोपोद्घातमुक्त्वा इदानीं वर्णादीनां धर्मान्वक्तुं प्रथमं तावद्वर्णानाह—

ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः ।
निषेकाद्याः श्मशानान्तास्तेषां वै मन्त्रतः क्रियाः ॥ १० ॥

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राश्चत्वारो वर्णा वक्ष्यमाणलक्षणास्तेषामाद्यास्त्रयो ब्राह्मणक्षत्रियवैश्या द्विजाः,–द्विर्जायन्त इति द्विजाः, तेषां द्विजानां वै एव न[5] शूद्रस्य,

---

१. पातञ्जले । २. वेदशास्त्रधर्मज्ञाः । ३. वेदधर्मशास्त्रज्ञश्च । ४. सोऽपि धर्म एव । ५. न शूद्राणां ।

एतेन शूद्रस्यामन्त्रकाः क्रियाः इत्युक्तं भवति, 'शूद्रोऽप्येवंविधः कार्यो विना मन्त्रेण संस्कृतः' इति यमोक्तेः। निषेकाद्याः निषेको गर्भाधानमाद्यो यासां तास्तथोक्ताः। श्मशानं पितृवनं तत्संबन्धि कर्म [1]अन्तो यासां ताः क्रिया मन्त्रैर्भवन्ति ॥ १० ॥

भाषा—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये (चार) वर्ण हैं; इनमें आरंभ के तीन द्विज हैं। गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक की इनकी सभी क्रियाएँ मन्त्रों द्वारा सम्पादित होती हैं ॥ १० ॥

इदानीं ताः क्रिया अनुक्रामति—

गर्भाधानमृतौ पुंसः सवनं स्पन्दनात्पुरा।
षष्ठेऽष्टमे वा सीमन्तो मास्येते जातकर्म च ॥ ११ ॥
अह्न्येकादशे नाम चतुर्थे मासि निष्क्रमः।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि चूडा कार्या यथाकुलम् ॥ १२ ॥

गर्भाधानमित्यनुगतार्थं कर्मनामधेयम्। एवं वक्ष्यमाणान्यपि। तद् गर्भाधानमृतौ ऋतुकाले वक्ष्यमाणलक्षणे। पुंसवनाख्यं कर्म गर्भचलनात्पूर्वम्। षष्ठेऽष्टमे वा मासि सीमन्तोन्नयनम्। एते च द्वे पुंसवन-सीमन्तोन्नयने क्षेत्रसंस्कारकर्मत्वात्सकृदेव कार्ये, न प्रतिगर्भम्। यथाह देवलः—'सकृच्च संस्कृता नारी सर्वगर्भेषु संस्कृता। यं यं गर्भं प्रसूयेत स सर्वः संस्कृतो भवेत्' इति। यद्वा-एते आ इते आगते गर्भकोशाज्जाते [2]कुमारे जातकर्म एकादशेऽहनि [3]नाम। तच्च पितामहमातामहादिसम्बद्धं कुलदेवतासम्बद्धं वा। यथाह शङ्खः (२।१४)—'कुलदेवतासम्बद्धं पिता नाम कुर्यात्' इति। चतुर्थे मासि निष्क्रमणलक्षणं सूर्यावेक्षणं कर्म। षष्ठे मास्यन्नप्राशनं कर्म। चूडाकरणं तु यथाकुलं कार्यमिति प्रत्येकं सम्बद्ध्यते ॥ ११-१२ ॥

भाषा—गर्भाधान संस्कार (गर्भधारण के) समय पर होता है और पुंसवन गर्भचलन के पहले होता है; जन्म लेने पर जातकर्म, ग्यारहवें दिन नामकरण, चौथे मास में निष्क्रमण, संस्कार करे। छठें मास में अन्नप्राशन संस्कार करे और चूडाकरण संस्कार कुल की रीति के अनुसार करना चाहिए ॥ ११-१२ ॥

एतेषां नित्यत्वेऽप्यानुषङ्गिकं फलमाह—

एवमेनः शमं याति बीजगर्भसमुद्भवम्।

---

१. अन्ते यासां। २. कुमारे जाते। ३. नामकरणम्।

एवमुक्तेन प्रकारेण गर्भाधानादिभिः संस्कारकर्मभिः कृतैरेनः पापं शमं याति। किंभूतम्? बीजगर्भसमुद्भवं शुक्रशोणितसंबद्धं गात्रव्याधिसंक्रान्तिनिमित्तं वा, न तु पतितोत्पन्नत्वादि ॥—

स्त्रीणां विशेषमाह—

तूष्णीमेताः क्रियाः स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रकः ॥ १३ ॥

एता जातकर्मादिकाः क्रियाः स्त्रीणां तूष्णीं विनैव मन्त्रैर्यथाकालं कार्याः। विवाहः पुनः समन्त्रकः कार्यः ॥ १३ ॥

भाषा— इस प्रकार से (इन संस्कारों द्वारा) शुक्र और गर्भ से संबद्ध पाप शान्त होता हैं। ये जातकर्मादि) स्त्रियों के लिये विना मन्त्र के किये जाते हैं और विवाह संस्कार मंत्रों के साथ होता है ॥ १३ ॥

उपनयनकालमाह—

गर्भाष्टमेऽष्टमे वाऽब्दे ब्राह्मणस्योपनायनम्।
राज्ञामेकादशे सैके विशामेके यथाकुलम् ॥ १४ ॥

गर्भाधानमादिं[1] कृत्वा जननं वाष्टमे वर्षे ब्राह्मणस्योपनायनं उपनयनमेवोपनायनम्। स्वार्थे अण्। [2]वृत्तानुसारात्, छन्दोभङ्गात्। आर्षं वा दीर्घत्वम्। अत्रेच्छया विकल्पः। राज्ञामेकादशे। विशां वैश्यानां सैके एकादशे। द्वादशे इत्यर्थः। 'गर्भ'ग्रहणं सर्वत्रानुवर्तते। समासे गुणभूतस्यापि 'गर्भ'शब्दस्य बुद्ध्या विभज्योभयत्राप्यनुवर्तनं कार्यम्। 'गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भाद्धि द्वादशे विशः' (शंख. २।७) इति स्मृत्यन्तरदर्शनात्[3]। यथा अथ [4]शब्दानुशासनं, केषां शब्दानाम्? लौकिकानां वैदिकानामिति। अत्रापि कार्यमित्यनुवर्तते। कुलस्थित्या केचिदुपनयनमिच्छन्ति ॥ १४ ॥

भाषा—गर्भकाल से आठवें अथवा जन्म से आठवें वर्ष में ब्राह्मण का उपनयन संस्कार होता है। इसी प्रकार कुल के अनुसार क्षत्रिय के लिए ग्यारहवें वर्ष में और वैश्य के लिये बारहवें वर्ष में यह संस्कार विहित है ॥ १४ ॥

गुरुधर्मानाह—

उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम्।
वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत् ॥ १५ ॥

स्वगृह्योक्तविधिनोपनीय गुरुः शिष्यं[5] महाव्याहृतिपूर्वकं वेदमध्यापयेत्। महाव्याहृतयश्च भूरादिसत्यान्ताः सप्त। पञ्च वा गौतमाभिप्रायेण। किञ्च

---

१. अवधिं कृत्वा जन्मनो। २. प्रकरणानुसारम्। ३. वचनात्। ४. शब्दानामिति। ५. शिष्यं गुरुः।

शौचाचारांश्च वक्ष्यमाणलक्षणान् शिक्षयेत्। 'उपनीय शौचाचारांश्च शिक्षयेत्' इत्यनेन प्रागुपनयनात्कामचारो दर्शितो वर्णधर्मान्वर्जयित्वा। स्त्रीणामप्येतत्समानं विवाहादर्वाक्; उपनयनस्थानीयत्वाद्विवाहस्य ॥ १५ ॥

भाषा— गुरु शिष्य का उपनयन संस्कार करके उसे महाव्याहृतियों के साथ वेद पढ़ावे और शौच के नियमों की शिक्षा दे ॥ १५ ॥

शौचाचारानाह—

दिवासंध्यासु कर्णस्थब्रह्मसूत्र उदङ्मुखः।
कुर्यान्मूत्रपुरीषे च रात्रौ चेद्दक्षिणामुखः ॥ १६ ॥

कर्णस्थं ब्रह्मसूत्रं यस्य स तथोक्तः। कर्णश्च दक्षिणः, 'पवित्रं दक्षिणे कर्णे कृत्वा विण्मूत्रमुत्सृजेत्' इति लिङ्गात्। असावहनि संध्ययोश्च उदङ्मुखो मूत्रपुरीषे कुर्यात्। चकाराद्भस्मादिरहिते देशे। रात्रौ तु दक्षिणामुखः ॥ १६ ॥

भाषा— यज्ञोपवीत कान पर चढ़ाकर दिन में एवं सन्ध्या को उत्तर की ओर मुख करके तथा रात्रि में दक्षिण की ओर मुख करके मूत्र और पुरीष का त्याग करे ॥ १६ ॥

गृहीतशिश्नश्चोत्थाय मृद्भिरभ्युद्धृतैर्जलैः।
गन्धलेपक्षयकरं शौचं कुर्यादतन्द्रितः ॥ १७ ॥

किंच, अनन्तरं शिश्नं गृहीत्वोत्थायोद्धृताभिरद्भिर्वक्ष्यमाणलक्षणाभिर्मृद्भिश्च गन्धलेपयोः क्षयकरं शौचं कुर्यात्। अतन्द्रितोऽनलसः। उद्धृताभिरद्भिरिति जलान्तःशौचनिषेधः। अत्र 'गन्धलेपक्षयकरम्' इति सर्वाश्रमिणां साधारणमिदं [1]शौचम्। मृत्संख्यानियमस्त्वदृष्टार्थः ॥ १७ ॥

भाषा— शिश्न को पकड़ कर और उठाकर, अलग लिये गये जल और मिट्टी द्वारा (मल के) गन्ध एवं लेप को नष्ट करने वाला शौच आलस्यरहित होकर करे ॥ १७ ॥

अन्तर्जानु शुचौ देश उपविष्ट उदङ्मुखः।
प्राग्वा ब्राह्मेण तीर्थेन द्विजो नित्यमुपस्पृशेत् ॥ १८ ॥

शुचौ अशुचिद्रव्यासंस्पृष्टे। देश इत्यु[2]पानच्छयनासनादिनिषेधः। उपविष्टो न स्थितः शयानः प्रह्वो गच्छन्वा। उदङ्मुखः प्राङ्मुखो वेति दिगन्तरनिवृत्तिः। 'शुचौ देशे' इत्येतस्मात्पादप्रक्षालनप्राप्तिः। ब्राह्मेण तीर्थेन वक्ष्यमाणलक्षणेन द्विजो न शूद्रादिः। नित्यं सर्वकालमाश्रमान्तरगतोऽपि। उपस्पृशेदाचामेत्। कथम्? अन्तर्जानु जानुनोर्मध्ये हस्तौ कृत्वा दक्षिणेन हस्तेनेति ॥ १८ ॥

---

१. शौचमिदं। २. इत्युपादानात्।

भाषा—ब्राह्मण प्रतिदिन दोनों घुटनों के बीच हाथ रखकर, पवित्र स्थल पर उत्तर या पूर्व की ओर मुख करके बैठे और ब्राह्मण तीर्थ से आचमन करे ॥ १८ ॥

प्राजापत्यादितीर्थान्याह—

कनिष्ठादेशिन्यङ्गुष्ठमुलान्यग्रं करस्य च ।
प्रजापतिपितृब्रह्मदेवतीर्थान्यनुक्रमात् ॥ १९ ॥

कनिष्ठायास्तर्जन्या अङ्गुष्ठस्य च मूलानि करस्याग्रं च प्रजापतिपितृब्रह्मदेव-तीर्थानि यथाक्रमं वेदितव्यानि ॥ १९ ॥

भाषा—कनिष्ठा, तर्जनी और अंगुठे के मूलभाग तथा हाथ का अग्रभाग-ये सब क्रमशः प्रजापति तीर्थ, पितृतीर्थ और देवतीर्थ कहे जाते हैं ॥ १९ ॥

आचमनप्रकारः—

त्रिः प्राश्यापो द्विरुन्मृज्य खान्यद्भिः समुपस्पृशेत् ।
अद्भिस्तु प्रकृतिस्थाभिर्हीनाभिः फेनबुद्बुदैः ॥ २० ॥

वारत्रयमपः पीत्वा मुखमङ्गुष्ठमूलेन द्विरुन्मृज्य खानि छिद्राणि ऊर्ध्वकाय-गतानि घ्राणादीनि अद्भिरुपस्पृशेत् । [1]अद्भिर्द्रव्यान्तरासंसृष्टाभिः । [2]पुनरद्भि-रित्यब्ग्रहणं प्रतिच्छिद्रमुदकस्पर्शनार्थम् । स्मृत्यन्तरात्–'अङ्गुष्ठेन प्रदेशिन्या घ्राणं चैव मुखं स्पृशेत् । अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां च चक्षुः श्रोत्रं पुनः पुनः ॥ कनिष्ठाङ्गुष्ठ-योर्नाभिं हृदयं तु तलेन वै । सर्वाभिस्तु शिरः पश्चाद्बाहू चाग्रेण संस्पृशेत् ॥' इति । पुनस्ता एव विशिनष्टि–प्रकृतिस्थाभिः गन्धरूपरसस्पर्शान्तरमप्राप्ताभिः । फेनबुद्बुदरहिताभिः । तु शब्दाद्वर्षधारागतानां शूद्राद्यावर्जितानां च निषेधः ॥ २० ॥

भाषा—तीन बार जल पीकर, (अँगूठे के मूलभाग से) दो बार मुख धोकर, नाक, कान, आँख और मुँह का जल से स्पर्श करे । वह जल स्वच्छ होना चाहिए' उसमें फेन एवं बुलबुले न होंवे ॥ २० ॥

हृत्कण्ठतालुगाभिस्तु यथासंख्यं द्विजातयः ।
शुध्येरन्स्त्री च शूद्रश्च सकृत्स्पृष्टाभिरन्ततः ॥ २१ ॥

हृत्कण्ठतालुगाभिरद्भिर्यथाक्रमेण द्विजातयः शुध्यन्ति । स्त्री च शूद्रश्च अन्ततः [3]अन्तर्गतेन तालुना र ।भिरपि । 'सकृत्' इति वैश्याद्विशेषः । च शब्दादनुपनीतोऽपि ॥ २१ ॥

---

१. संस्पृष्टाभिः । २. पुन ब्ग्रहणं । ३. अन्तेन ।

भाषा—द्विजाति अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य क्रमशः हृदय, कण्ठ और तालु तक जल के पहुँचने पर शुद्ध होते हैं। स्त्री और शूद्र तो तालु से एक ही बार जल स्पर्श कराने पर शुद्ध हो जाते हैं ॥ २१ ॥

स्नानमब्दैवतैर्मन्त्रैर्मार्जनं प्राणसंयमः।
सूर्यस्य चाप्युपस्थानं गायत्र्याः प्रत्यहं जपः ॥ २२ ॥

प्रातःस्नानं यथाशास्त्रमब्दैवतैर्मन्त्रैः 'आपोहिष्ठा' इत्येवमादिभिर्मार्जनम्। प्राणसंयमः प्राणायामो वक्ष्यमाणलक्षणः। ततः सूर्यस्योपस्थानं सौरमन्त्रेण गायत्र्याः। 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' [1]इत्याद्यायाः प्रतिदिवसं [2]जपः कार्यः। 'कार्य'-शब्दो यथालिङ्गं प्रत्येकमभिसंबध्यते ॥ २२ ॥

भाषा—स्नान, अब्दैवत मन्त्र द्वारा मार्जन, प्राणायाम, (तदुपरान्त) सूर्योपस्थान और गायत्री का जप प्रतिदिन करे ॥ २२ ॥

प्राणायामविचारः—

गायत्रीं शिरसा सार्धं जपेद् व्याहृतिपूर्विकाम्।
प्रतिप्रणवसंयुक्तां त्रिरयं प्राणसंयमः ॥ २३ ॥

गायत्री पूर्वोक्ताम् 'आपोज्योतिः' इत्यादिना शिरसा संयुक्तां उक्तव्याहृति-पूर्विकां प्रतिव्याहृति प्रणवेन संयुक्तां ओंभूः ओंभुवः ओंस्वरिति त्रीन्वारान्मुख नासिकासंचारिवायुं निरुन्धन् मनसा जपेदित्ययं सर्वत्र प्राणायामः ॥ २३ ॥

भाषा—शिरोमन्त्र और महाव्याहृति (का जप करने) के उपरान्त (प्रत्येक महाव्याहृति में) प्रणव जोड़ते हुए गायत्री का तीन बार (मुख और नासिका की) श्वासवायु रोककर जप करने पर एक प्राणायाम होता है ॥ २३ ॥

सावित्रीजपप्रकारः—

प्राणानायम्य संप्रोक्ष्य तृचेनाब्दैवतेन तु।
जपन्नासीत सावित्रीं प्रत्यगातारकोदयात् ॥ २४ ॥
संध्यां प्राक्प्रातरेवं हि तिष्ठेदा सूर्यदर्शनात्।

प्राणायामं पूर्वोक्तं कृत्वा तृचेनाब्दैवतेन पूर्वोक्तेनात्मानमद्भिः संप्रोक्ष्य सावित्रीं जपन् प्रत्यक्संध्या[3]मासीत। अर्थात् 'प्रत्यङ्मुख' इति लभ्यते। आ तारकोदयात् तारकोदयावधि। प्राक्संध्यां प्रातः समये एवं पूर्वोक्तविधिमाचरन् प्राङ्मुखः सूर्योदयावधि तिष्ठेत्। अहोरात्रयोः संधौ या क्रिया विधीयते सा संध्या। तत्र

१. मित्यादेः।　　२. जपः कार्यः।　　३. मुपासीत।

अहः संपूर्णादित्यमण्डलदर्शनयोग्यः कालः, तद्विपरीता रात्रिः । यस्मिन्काले खण्डमण्डलस्योपलब्धिः स संधिः ॥ २४ ॥

भाषा—प्राणायाम के उपरान्त मार्जन के मंत्र से सिर पर जल छिड़ककर (सन्ध्या को) पश्चिम की ओर मुख करके तारागण का उदय होने तक सावित्री का जप करे ॥ २४ ॥

अग्निकार्यं ततः कुर्यात्संध्ययोरुभयोरपि ॥ २५ ॥

ततः संन्ध्योपासनानन्तरं द्वयोः संध्ययोरग्निकार्यं अग्नौ कार्यं समित्प्रक्षेपादि यत्तत्कुर्यात् स्वगृह्योक्तेन विधिना ॥ २५ ॥

भाषा—इसी प्रकार प्रातःकाल सूर्य के उदय होने तक पूर्व दिशा को करके मुख जप करे । इसके उपरान्त दोनों सन्ध्याओं में (सायं एवं प्रातः) अग्निहोत्र करे ॥ २५ ॥

ततोऽभिवादयेद्वृद्धानसावहमिति ब्रुवन् ।

तदनन्तरं वृद्धान् गुरुप्रभृतीनभिवादयेत् । कथम् ? असौ देवदत्तशर्माऽहमिति स्वं नाम कीर्तयन् ॥—

गुरुं चैवाप्युपासीत स्वाध्यायार्थं समाहितः ॥ २६ ॥
आहूतश्चाप्यधीयीत लब्धं[1] चास्मै निवेदयेत् ।
हितं तस्याचरेन्नित्यं मनोवाक्कायकर्मभिः ॥ २७ ॥

तथा गुरुं वक्ष्यमाणलक्षणमुपासीत तत्परिचर्यापरस्तदधीनस्तिष्ठेत् । स्वाध्यायार्थमध्ययनसिद्धये समाहितोऽविक्षिप्तचित्तो भवेत् । आहूतश्चाप्यधीयीत गुर्वाहूत एवाधीयीत, न स्वयं गुरुं प्रेरयेत् । यच्च लब्धं तत्सर्वं गुरवे निवेदयेत् । तथा तस्य गुरोर्हितमाचरेत् । नित्यं सदा । मनोवाक्कायकर्मभिः न प्रतिकूलं कुर्यात् । अपिशब्दाद्गुरुदर्शने गौतमोक्तं कण्ठप्रावृतादि वर्जयेत् ॥ २६–२७ ॥

भाषा—तब 'मैं अमुक हूँ' ऐसा कहते हुए श्रेष्ठ व्यक्तियों को प्रणाम करे । अध्ययन के लिए दत्तचित होकर गुरु की परिचर्या करे । (गुरु द्वारा) बुलाये जाने पर ही अध्ययन करे और जो कुछ प्राप्त हो वह सब गुरु को अर्पित करे । मन, वाणी, शरीर और कार्यों द्वारा उनके अनुकूल कार्य करे ॥ २६–२७ ॥

कृतज्ञाद्रोहिमेधाविशुचिकल्या[2]नसूयकाः ।
अध्याप्या[3] धर्मतः साधुशक्ताप्तज्ञानवित्तदाः ॥ २८ ॥

---

१. लब्धं तस्मै । २. कल्याणसूचकाः । ३. अध्याप्याः साधुशक्ताप्तस्वार्थदा धर्मतस्त्विमे ।

कृतमुपकारं न विस्मरतीति कृतज्ञः। अद्रोही दयावान्। मेधावी ग्रन्थग्रहणधारणशक्तः। शुचिर्बाह्याभ्यन्तरशौचवान्। कल्यः आधिव्याधिरहितः। अनसूयको दोषानाविष्करणेन गुणाविष्करणशीलः। साधुः वृत्तवान्। शक्तः शुश्रूषायाम्। आप्तो बन्धुः। ज्ञानदो विद्याप्रदः। [1]वित्तदोऽर्पणपूर्वकमर्थप्रदाता। एते गुणाः समस्ता व्यस्ताश्च यथासंभवं द्रष्टव्याः। एते च धर्मतः शास्त्रानुसारेण अध्याप्याः॥ २८॥

भाषा—कृतज्ञ, द्रोहहीन, मेधावी, पवित्र आधिव्याधि में मुक्त, परदोषान्वेषण से विरत, सदाचारी, (सेवा में) समर्थ, बन्धु, विद्याप्रद एवं धनदाता—ये ही शास्त्र के अनुसार अध्यापन योग्य होते हैं॥ २८॥

दण्डादिधारणमाह—

दण्डाजिनोपवीतानि मेखलां चैव धारयेत्।

तथा स्मृत्यन्तरप्रसिद्धं पालाशादिदण्डं, अजिनं च [1]कार्ष्णादि, उपवीतं कार्पासादिनिर्मितं, मेखलां च मुञ्जादि, ब्राह्मणादिर्ब्रह्मचारी धारयेत्॥—

भैक्षचर्याप्रकारः—

ब्राह्मणेषु चरेद् भैक्षमनिन्द्येष्वात्मवृत्तये॥ २९॥
आदिमध्यावसानेषु भवच्छब्दोपलक्षिता।
ब्राह्मणक्षत्रियविशां भैक्षचर्या[2] यथाक्रमम्॥ ३०॥

पूर्वोक्तदण्डादियुक्तो ब्रह्मचारी ब्राह्मणेष्वनिन्द्येषु अभिशस्तादिव्यतिरिक्तेषु स्वकर्मनिरतेषु भैक्षं[3] चरेत्। आत्मवृत्तये आत्मनो जीवनाय न परार्थं आचार्यतद्भार्यापुत्रव्यतिरेकेण। निवेद्य गुरवे तदनुज्ञातो भुञ्जीत। 'तदभावे तत्पुत्रादा' इति नियमात्। अत्र च 'ब्राह्मण' ग्रहणं संभवे [4]सति नियमार्थम्। यत्तु 'सार्ववर्णिकं भैक्षचरणम्' इति, तत्त्रैवर्णिक[5]विषयम्। यच्च 'चातुर्वर्ण्यं चरेद्भैक्षम्' इति, तदापद्विषयम्। कथं भैक्षचर्या कार्या? आदिमध्यावसानेषु भवच्छब्दोपलक्षिता 'भवति भिक्षां देहि', 'भिक्षां भवति देहि', भिक्षां देहि भवति इत्येवं वर्णक्रमेण भैक्षचर्या कार्या॥ २९-३०॥

भाषा—पलाश का दण्ड, कृष्णमृगचर्म, यज्ञोपवीत और मूँज की मेखला धारण करे। जीवन निर्वाह के लिए पवित्र (अर्थात् अपने कर्म में रत रहने वाले) ब्राह्मणों के घर भिक्षायाचन करे। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य क्रमशः आरम्भ, मध्य और अन्त में 'भवत्' शब्द का प्रयोग करते हुए भिक्षा की याचना करे॥ २९-३०॥

---

१. अर्पणपूर्वकं। २. कार्ष्णाजिनादि। ३. भैक्ष्य। ४. सति। नियमार्थं। ५. त्रैवर्णिकप्राप्तवर्थम्।

भोजनप्रकारः—

कृताग्निकार्यो भुञ्जीत वाग्यतो गुर्वनुज्ञया।
आपोशानक्रियापूर्वं सत्कृत्यान्नमकुत्सयन् ॥ ३१ ॥

पूर्वोक्तेन विधिना भिक्षामाहृत्य गुरवे निवेद्य तदनुज्ञया कृताग्निकार्यो वाग्यतो मौनी अन्नं सत्कृत्य संपूज्य अकुत्सयन्ननिन्दन् आपोशानक्रियां 'अमृतोपस्तरणमसि' इत्यादिकां पूर्वं कृत्वा भुञ्जीत। अत्र पुनः अग्निकार्यग्रहणं संध्याकाले कथञ्चिदकृताग्निकार्यस्य [1]कालान्तरविधानार्थं न पुनस्तृतीयग्रासवर्थम् ॥ ३१ ॥

भाषा—(हवनादि) अग्निकार्य करके गुरु की आज्ञा पाकर, आचमन करके, अन्न का सत्कार करके और (अन्न की) निन्दा न करते हुए मौन होकर भोजन करे ॥ ३१ ॥

ब्रह्मचर्ये स्थितो नैकमन्नमद्यादनापदि।
ब्राह्मणः काममश्नीयाच्छ्राद्धे व्रतमपीडयन् ॥ ३२ ॥

ब्रह्मचर्ये स्थित [2]एकान्नं नाद्यादनापदि व्याध्याद्यभावे। ब्राह्मणः पुनः श्राद्धेऽभ्यर्थितः सन् [3]काममश्नीयात्। व्रतमपीडयन् मधुमांसपरिहारेण। अत्र 'ब्राह्मण' ग्रहणं क्षत्रियादेः श्राद्धभोजनव्युदासार्थम्। 'राजन्यवैश्ययोश्चैव नैतत्कर्म प्रचक्षते' इति स्मरणात् ॥ ३२ ॥

भाषा—ब्रह्मचर्याश्रम में रहते हुए, रोगादि विपत्ति से मुक्त दशा में किसी एक ही (व्यक्ति के) अन्न का भोजन न करे; श्राद्ध भोजन के अवसर पर ब्राह्मण अपने व्रत का उल्लंघन न करते हुए ऐसा कर सकता है ॥ ३२ ॥

मधुमांसादिवर्ज्यान्याह—

मधुमांसाञ्जनोच्छिष्टशुक्तस्त्रीप्राणिहिंसनम्।
भास्करालोकनाश्लीलपरिवादादि वर्जयेत् ॥ ३३ ॥

मधु क्षौद्रं, न मद्यम्; तस्य 'नित्यं मद्यं ब्राह्मणो वर्जयेत्' इति निषेधात्। मांसं छागादेरपि। अञ्जनं घृतादिना गात्रस्य, कज्जलादिना चाक्ष्णोः। उच्छिष्टमगुरोः। शुक्तं निष्ठुरवाक्यं, [4]नान्नरसः, तस्या भक्ष्यप्रकरणे निषेधात्। स्त्रियमुपभोगे। प्राणिहिंसनं जीववधः। [5]भास्करस्योदयास्तमयावलोकनम्। अश्लीलम[6]सत्यभाषणम्। परिवादः सदसद्रूपस्य परदोषस्य ख्यापनम्। 'आदि' शब्दात् स्मृत्यन्तरोक्तं गन्धमाल्यादि गृह्यते। एतानि ब्रह्मचारी वर्जयेत् ॥ ३३ ॥

---

1. कालान्तरं मध्याह्नादि। 2. एकान्नमेकस्वामिकम्। 3. कामं यथेष्टम्। 4. न रसादि। 5. भास्करस्य चालोकनं। 6. गुह्यभाषणं।

भाषा—मधु, मांस, लेप और अंजन (गुरु के अतिरिक्त अन्य का) जूठा भोजन, कठोर वचन, स्त्री, जीवहिंसा, (उदय और अस्त के समय) सूर्यदर्शन, अश्लील (और असत्य) भाषण तथा दोषान्वेषण इत्यादि से परहेज रखे ॥ ३३ ॥

गुर्वादिलक्षणमाह—

स गुरुर्यः क्रियाः कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति ।
उपनीय दद्द्वेदमाचार्यः स उदाहृतः ॥ ३४ ॥

योऽसौ गर्भाधानाद्या उपनयनपर्यन्ताः क्रिया यथाविधि कृत्वा वेदमस्मै ब्रह्मचारिणे प्रयच्छति स गुरुः। यः पुनरुपनयनमात्रं कृत्वा वेदं [1]प्रयच्छति स आचार्यः ॥ ३४ ॥

भाषा—वह गुरु होता है जो (उपनयन तक की) क्रियाएँ करके इस (ब्रह्मचारी) को वेद का ज्ञान देता है। केवल उपनयन संस्कार करके वेद प्रदान करने वाले को आचार्य कहा गया है ॥ ३४ ॥

उपाध्यायर्त्विग्लक्षणम्—

एकदेशमुपाध्याय ऋत्विग्यज्ञकृदुच्यते ।
एते मान्या यथापूर्वमेभ्यो माता गरीयसी ॥ ३५ ॥

वेदस्यैकदेशं मन्त्रब्राह्मणयोरेकं अङ्गानि वा योऽध्यापयति स उपाध्यायः। यः पुनः पाकयज्ञादिकं वृतः करोति स ऋत्विक्। एते च गुर्वाचार्योपाध्यायर्त्विजो यथापूर्वं यथाक्रमेण मान्याः पूज्याः। एभ्यः सर्वेभ्यो माता गरीयसी पूज्यतमा ॥३५॥

भाषा—(वेद के) एक भाग या अङ्ग की शिक्षा देने वाला उपाध्याय होता है, और यज्ञकर्म कराने वाले को ऋत्विज् कहते हैं। ये (गुरु, आचार्य, उपाध्याय और ऋत्विज्) क्रमानुसार पूज्य होते हैं, और माता इन सबसे अधिक पूजनीय होती है ॥ ३५ ॥

वेदग्रहणार्थं ब्रह्मचर्यावधिमाह—

प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं द्वादशाब्दानि पञ्च वा ।
ग्रहणान्तिकमित्येके केशान्तश्चैव षोडशे ॥ ३६ ॥

यदा विवाहासंभवे 'वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वा' इति प्रवर्तते तदा प्रतिवेदं वेदं वेदं प्रति ब्रह्मचर्यं पूर्वोक्तं द्वादशवर्षाणि कार्यम्। अशक्तौ पञ्च। 'ग्रहणान्तिकं' इत्येके वर्णयन्ति। केशान्तः पुनर्गोदानाख्यं कर्म गर्भादारभ्य षोडशे वर्षे

1. ददाति।

ब्राह्मणस्य कार्यम्। एतच्च द्वादशवार्षिके वेदव्रते बोद्धव्यम्। इतरस्मिन्पक्षे यथासंभवं द्रष्टव्यम्। राजन्य-वैश्ययोस्तूपनयनकालवद् द्वाविंशे चतुर्विंशे वा[1] द्रष्टव्यम् ॥ ३६ ॥

भाषा—प्रत्येक वेद के लिए बारह अथवा पांच वर्षों का ब्रह्मचर्यकाल होता है; किन्तु कुछ लोग विद्याग्रहण के अन्त तक ब्रह्मचर्य बताते हैं। केशान्त या गोदान नाम का कर्म (गर्भकाल से) सोलहवें वर्ष में करना चाहिए ॥ ३६ ॥

उपनयनकालस्य परमावधिमाह—

आ षोडशादा द्वाविंशाच्चतुर्विंशाच्च वत्सरात्।
ब्रह्मक्षत्रविशां काल औपनायनिकः परः ॥ ३७ ॥
अत ऊर्ध्वं पतन्त्येते [2]सर्वधर्मबहिष्कृताः।
सावित्रीपतिता व्रात्या व्रात्यस्तोमादृते क्रतोः ॥ ३८ ॥

आषोडशाद्वर्षात्षोडशवर्षं यावत् आ द्वाविंशादा चतुर्विंशाद्वर्षाद्[3]ब्रह्मक्षत्रविशां औपनायनिकः उपनयनसंबन्धी परः कालः। नातः परमुपनयनकालोऽस्ति, किन्तु अत ऊर्ध्वं पतन्त्येते सर्वधर्मबहिष्कृताः। सर्वधर्मेष्वनधिकारिणो भवन्ति। सावित्रीपतिताः पतितसावित्रीका भवन्ति। सावित्रीदानयोग्या न भवन्ति। व्रात्याः संस्कारहीनाश्च व्रात्यस्तोमात्क्रतोर्विना कृते तु तस्मिन्नुपनयनाधिकारिणो भवन्ति ॥ ३७-३८ ॥

भाषा—सोलह, बाइस और चौबीस वर्ष तक क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य के लिए उपनयन संस्कार की आखिरी अवधि होती है। इस समय के बाद (यज्ञोपवीत न होने पर) ये सभी धर्मों से बहिष्कृत होकर च्युत, सावित्रीदान के अयोग्य और व्रात्यस्तोम यज्ञ के बिना व्रात्य अर्थात् संस्कारहीन हो जाते हैं ॥ ३७–३८ ॥

'आद्यास्त्रयो द्विजाः' (आचार. २०।१) इत्युक्तं, तत्र हेतुमाह—

मातुर्यदग्रे जायन्ते द्वितीयं मौञ्जिबन्धनात्।
ब्राह्मणक्षत्रियविशस्तस्मादेते द्विजाः स्मृताः ॥ ३९ ॥

मातुः सकाशात्प्रथमं जायन्ते, मौञ्जिबन्धनाच्च द्वितीयं जन्म यस्मात्तस्मादेते ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्या द्विजा उच्यन्ते ॥ ३९ ॥

---

१. वा यथासंभवं। २. त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः। ३. ब्राह्मणक्षत्रियविशां।

भाषा—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य पहले माता से जन्म लेते हैं; मौञ्जि-मेखला के बाँधे जाने पर (उपनयन के समय) इन सबका दूसरा जन्म होता है; अतः इन्हें द्विज कहा जाता है ॥ ३९ ॥

वेदग्रहणाध्ययनफलमाह—

यज्ञानां तपसां चैव शुभानां चैव कर्मणाम् ।
वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः ॥ ४० ॥

यज्ञानां श्रौत-स्मार्तानां, तपसां कार्यसन्तापरूपाणां चान्द्रायणादीनां, शुभानां च कर्मणां उपनयनादिसंस्काराणां अवबोधकत्वेन वेद एव द्विजातीनां परो निःश्रेयसकरो[1] नान्यः । 'वेद एव' इति तन्मूलकत्वेन स्मृतेरप्युपलक्षणार्थम् ॥ ४० ॥

भाषा—यज्ञों, तपस्याओं और (उपनयनादि) शुभ कर्मों का अवबोधक होने से वेद ही द्विजातियों के लिए परम उपकारक होता है दूसरा नहीं ॥ ४० ॥

ग्रहणाध्ययनफलमुक्त्वेदानीं[2]काम्यव्रतब्रह्मयज्ञाध्ययनफलमाह—

मधुना पयसा चैव स देवांस्तर्पयेद् द्विजः ।
पितॄन्मधुघृताभ्यां च ऋचोऽधीते च[3] योऽन्वहम् ॥ ४१ ॥
यजूंषि शक्तितोऽधीते योऽन्वहं स घृतामृतैः ।
प्रीणाति देवानाज्येन म[4]धुना च पितॄंस्तथा ॥ ४२ ॥
स तु सोमघृतैर्देवांस्तर्पयेद्योऽन्वहं पठेत् ।
सामानि तृप्तिं कुर्याच्च पितॄणां मधुसर्पिषा ॥ ४३ ॥

योऽन्वहमृचोऽधीते स मधुना पयसा च देवान्पितॄंश्च मधुघृताभ्यां तर्पयति । यः पुनः शक्तितोऽन्वहं यजूंष्यधीते स घृतामृतैर्देवान्पितॄंश्च मधुसर्पिभ्यां त[5]र्पयति । यस्तु सामान्यन्वहमधीते स सोमघृतैर्देवान्पितॄंश्च मधुसर्पिभ्यां प्रीणाति । ऋगादिग्रहणं सामान्येन ऋगादि[6]मात्रप्राप्त्यर्थम् ॥ ४१–४३ ॥

भाषा—जो द्विज प्रतिदिन ऋचाओं का अध्ययन करता है, वह मधु और दूध से देवताओं के लिये तथा मधु और घृत से पितरों के लिये तर्पण करता है । जो (द्विज) प्रतिदिन यथाशक्ति यजुस् मन्त्रों का अध्ययन करता है वह घृत और जल से देवताओं का तथा आज्य एवं मधु से पितरों को प्रसन्न करता है । जो (द्विज) प्रतिदिन सामवेद के मन्त्रों का पाठ करता है वह सोम और घृत से देवताओं के लिए तर्पण करता है, और मधु तथा घृत द्वारा पितरों को तृप्ति प्रदान करता है ॥ ४१–४३ ॥

---

१. परो मोक्षकरो । २. काम्यब्रह्म । ३. हि यो । ४. पितॄंश्च मधुना द्विजः । ५. प्रीणाति । ६. मंत्र ।

मेदसा तर्पयेद्देवानथर्वाङ्गिरसः[1] पठन् ।
पितृंश्च मधुसर्पिभ्यामन्वहं शक्तितो द्विजः ॥ ४४ ॥
वाकोवाक्यं पुराणं च नाराशंसीश्च गाथिकाः ।
इतिहासांस्तथा विद्याः[2] शक्त्याधीते हि योऽन्वहम् ॥ ४५ ॥
मांसक्षीरौदनमधुतर्पणं स दिवौकसाम् ।
करोति तृप्तिं[3] कुर्याच्च पितृणां मधुसर्पिषा ॥ ४६ ॥
ते तृप्तास्तर्पयन्त्येनं सर्वकामफलैः शुभैः ।

यः पुनः शक्तितोऽन्वहं अथर्वाङ्गिरसोऽधीते स देवान्मेदसा पितृंश्च मधुसर्पिर्भ्यां तर्पयति । यस्तु वाकोवाक्यं प्रश्नोत्तररूपवेदवाक्यम् । पुराणं ब्राह्मादि । चकारान्मानवादिधर्मशास्त्रम् । नाराशंसीश्च रुद्रदैवत्यान्मन्त्रान् । गाथा यज्ञगाथेन्द्रगाथाद्याः । इतिहासान् महाभारतादीन् । विद्याश्च वारुणाद्या विद्याः शक्तितोऽन्वहमधीते । स मांसक्षीरौदनमधुसर्पिर्भिर्देवान् पितृंश्च मधुसर्पिर्भ्यां तर्पयति ॥ ते पुनस्तृप्ताः सन्तो देवाः पितरश्च एनं स्वाध्यायकारिणं सर्वकामफलैः शुभैरनन्योपघातलक्षणैस्तर्पयन्ति ॥

भाषा—जो द्विज प्रतिदिन यथाशक्ति अथर्वाङ्गिरस पढ़ता है वह देवों का मेद द्वारा एवं पितरों का मधु और घृत द्वारा तर्पण करता है। जो (द्विज) प्रतिदिन यथाशक्ति वाकोवाक्य पुराण, नाराशसी, गाथा इतिहास तथा (वारुणादि) विद्याओं का अध्ययन करता है वह मांस दूध, ओदन और मधु द्वारा देवताओं के लिए तर्पण करता है और पितरों को मधु तथा घृत द्वारा तृप्त करता है। वे (देवता और पितर) तृप्त होकर इस (स्वाध्याय के अधिकारी) को सभी शुभ अभीष्ट फलों द्वारा सुखी बनाते हैं ॥

प्रशंसार्थमाह—

यं यं क्रतुमधीते[4] च तस्य तस्याप्नुयात्फलम् ॥ ४७ ॥
त्रिर्वित्तपूर्णपृथिवीदानस्य फलमश्नुते ।
तपसश्च[5] परस्येह[6] नित्यं स्वाध्यायवान्द्विजः ॥ ४८ ॥

यस्य यस्य क्रतोः प्रतिपादक वेदैकदेशमन्वहमधीते तस्य तस्य क्रतोः फलमवाप्नोति । तथा वित्तपूर्णायाः पृथिव्याः त्रिः त्रिवारं दानस्य यत्फलं परस्य

---

१. पितृंश्च मधुसर्पिषा । संतर्पयेद्यथाशक्ति योऽथर्वाङ्गिरसीः पठेत् । २. विद्यां योऽधीते शक्तितोऽन्वहम् । ३. च तथा । ४. मधीयीत; मधीतेऽसौ ५. तपसो यत्परस्य । ६. नित्यः

तपसश्चान्द्रायणादेर्यत्फलं तदपि नित्यं स्वाध्यायवानाप्नोति । 'नित्य' ग्रहणं काम्यस्यापि सतो नित्यत्वज्ञापनार्थम् ॥ ४७–४८ ॥

भाषा—वह जिस-जिस यज्ञ का अध्ययन करता है, उस-उस यज्ञ का फलप्राप्त करता है। धनधान्य से पूर्ण पृथिवी का तीन बार दान करने से एवं (चान्द्रायणादि) उत्कृष्ट तपस्याओं से जो फल होता है उसी का भोग नित्य स्वाध्यायरत द्विज करता है ॥ ४७–४८ ॥

एवं सामान्येन ब्रह्मचारिधर्मानभिधायाधुना नैष्ठिकस्य विशेषमाह—

नैष्ठिको ब्रह्मचारी तु वसेदाचार्यसन्निधौ ।
तदभावेऽस्य तनये पत्न्यां वैश्वानरेऽपि वा ॥ ४९ ॥
अनेन विधिना देहं सादयन्विजितेन्द्रियः ।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति न[2] चेहाजायते पुनः ॥ ५० ॥

अ[3]नेनोक्तेन प्रकारेणात्मानं निष्ठां उत्क्रान्तिकालं नयतीति नैष्ठिकः स यावज्जीवमाचार्यसमीपे वसेत् । न [4]वेदग्रहणोत्तरकालं स्वतन्त्रो भवेत् । तदभावे तत्पुत्रसमीपे, तदभावे तद्भार्यासमीपे, तदभावे वैश्वा[5]नरेऽपि । अनेनोक्तविधिना देहं [1]सादयन् क्षपयन् विजितेन्द्रियः इन्द्रियजये विशेषप्रयत्नवान्ब्रह्मचारी ब्रह्मलोकममृतत्वमाप्नोति । न कदाचिदिह पुनराजायते ॥ ४९–५० ॥

भाषा—नैष्ठिक ब्रह्मचारी आचार्य के समीप निवास करे; उनके न होने पर उनके पुत्र के समीप अथवा (पुत्र के अभाव में) उनकी पत्नी के या (गुरु पत्नी के न होने पर) अग्निहोत्र की अग्नि के निकट निवास करे। इस विधि द्वारा शरीर की साधना करते हुए और विशेष प्रयत्नपूर्वक इन्द्रियों पर विजय कर वह ब्रह्मलोक प्राप्त करता है और इस संसार में पुनः जन्म नहीं लेता ॥ ४९–५० ॥

इति ब्रह्मचारिप्रकरणम् ।

विवाहप्रकरणम्

यः पुनर्वैवाह्यस्तस्य विवाहार्थं स्नानमाह—

गुरवे तु वरं दत्त्वा स्ना[6]याद्वा तदनुज्ञया ।
वेदं व्रतानि वा पारं नीत्वा ह्युभयमेव वा ॥ ५१ ॥

१. साधयन् [अस्मिन्पाठे विपरीतलक्षणा बोध्या ।]   २. न चेह जायते ।
३. उक्तप्रकारेण ।   ४. ग्रहणकालोत्तरं ।   ५. स्वोपास्याग्निसंनिधौ ।
६. स्नायीत ।

पूर्वोक्तेन प्रकारेण वेदं मन्त्रब्राह्मणात्मकम्, व्रतानि, ब्रह्मचारिधर्माननुक्रान्तान्। उभयं वा, पारं नीत्वा समाप्य, गुरवे पूर्वोक्ताय वरमभिलषितं यथाशक्ति दत्त्वा स्नायात्। अशक्तौ तदनुज्ञया अदत्तवरोऽपि। एतेषां च पक्षाणां शक्तिकालाद्यपेक्षया व्यवस्था ॥ ५१ ॥

भाषा—वेद (का अध्ययन) या व्रतों को समाप्त कर अथवा वेदाध्ययन एवं व्रत दोनों ही पूरा करके, गुरु को यथाशक्ति दक्षिणा देकर उनकी आज्ञा से (समावर्तन) स्नान करे ॥ ५१ ॥

स्नानानन्तरं किं कुर्यादित्यत आह—

अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्।
अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम् ॥ ५२ ॥

अविप्लुतब्रह्मचर्योऽस्खलितब्रह्मचर्यः। लक्षण्यां बाह्याभ्यन्तरलक्षणैर्युक्ताम्। बाह्यानि 'तनुलोमकेशदशनाम्'[1] इत्यादीनि (३।१०) मनुनोक्तानि। आभ्यन्तराणि 'अष्टौ पिण्डान्कृत्वा' इत्याद्याश्वलायनोक्तविधिना ज्ञातव्यानि। स्त्रियं नपुंसकत्वनिवृत्तये स्त्रीत्वेन परीक्षिताम्। अनन्यपूर्विकां दानेनोपभोगेन वा पुरुषान्तराऽपरिगृहीताम्। कान्तां कमनीयां वोढुर्मनोनयनानन्दकारिणीम्। 'यस्यां मनश्चक्षुषोर्निर्बन्धस्तस्यामृद्धिः' इत्यापस्तम्बस्मरणात्। एतच्च न्यूनाधिकाङ्गादिबाह्यदोषाभावे। असपिण्डां समान एकः पिण्डो देहो यस्याः सा सपिण्डा, न सपिण्डा असपिण्डा ताम्। सपिण्डता च एकशरीरावयवान्वयेन भवति। तथा हि—पुत्रस्य पितृशरीरावयवान्वयेन पित्रा सहैकपिण्डता। एवं पितामहादिभिरपि पितृद्वारेण तच्छरीरावयवान्वयात्। एवं मातृशरीरावयवान्वयेन मात्रा। तथा मातामहादिभिरपि मातृद्वारेण। तथा मातृष्वसृमातुलादिभिरप्येकशरीरावयवान्वयात्। तथा पितृव्य-पितृष्वस्रादिभिरपि। तथा पत्या सह पत्न्या एकशरीरारम्भकतया। एवं भ्रातृभार्याणामपि परस्परमेकशरीरारब्धैः[3] सहैकशरीरारम्भकत्वेन। एवं यत्र यत्र 'सपिण्ड' शब्दस्तत्र तत्र साक्षात्परम्परया वा एकशरीरावयवान्वयो वेदितव्यः। यद्येवं मातामहादीनामपि 'दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते' इत्यविशेषेण प्राप्नोति। स्यादेतत्,—यदि तत्र 'प्रत्तानामितरे कुर्युः' इत्यादिविशेषवचनं न स्यात्। अतश्च सपिण्डेषु यत्र विशेषवचनं नास्ति तत्र 'दशाहं शावमाशौचम्' इत्येतद्वचनमवतिष्ठते। अवश्यं चैकशरीरावयवान्वयेन सापिण्ड्यं वर्णनीयम्। 'आत्मा हि जज्ञ आत्मनः' इत्यादिश्रुतेः। तथा 'प्रजामनु प्रजायसे' इति च। 'स एवायं विरूढः प्रत्यक्षेणो-

---

१. केशादीनि मनुप्रोक्तानि। २. सह सापिण्ड्यं। ३. एकशरीराम्भैः।

पकल्पते, दृश्यते चापि सारूप्यम्। देहत्वमेवान्यत् इत्यापस्तम्बवचनाच्च। तथा गर्भोपनिषदि—'एतत् षाट्कौशिकं शरीरं त्रीणि पितृतस्त्रीणि मातृतः। अस्थिस्नायुमज्जानः पितृतस्त्वङ्मांसरुधिराणि मातृतः' इति तत्र तत्रावयवान्वय-प्रतिपादनात्। [1]निर्वाप्यपिण्डान्वयेन तु सापिण्ड्ये मातृसंताने भ्रातृपितृव्यादिषु च सापिण्ड्यं न स्यात्। समुदायशक्त्यङ्गीकारेण रूढिपरिग्रहेऽवयवशक्तिस्तत्र तत्रावगम्यमाना परित्यक्ता स्यात्। सत्स्ववयवार्थेषु योऽन्यत्रार्थे प्रयुज्यते। तत्रानन्यगतित्वेन समुदायः प्रसिद्ध्यति। एवं परम्परयैकशरीरावयवान्वयेन तु सापिण्ड्ये यथा नातिप्रसङ्गस्तथा वक्ष्यामः। यवीयसीं वयसा प्रमाणतश्च[3] न्यूनां उद्वहेत् परिणयेत् स्वगृह्योक्तेन विधिना ॥ ५२ ॥

भाषा—ब्रह्मचर्य से च्युत न होकर शुभ लक्षणों से युक्त स्त्री से विवाह करे, जो पहले किसी अन्य पुरुष को प्रदत्त या किसी द्वारा भुक्त न हो सुन्दरी हो, असपिण्ड हो तथा (आयु एवं शरीर-प्रमाण में) अपने से छोटी हो ॥ ५२ ॥

विशेषान्तराण्याह—

अरोगिणीं भ्रातृमतीमसमानार्षगोत्रजाम्।

अरोगिणीं अचिकित्सनीयव्याध्यनुपसृष्टाम्। भ्रातृमतीं पुत्रिकाकरणशङ्का-निवृत्तये। अनेनापरिभाषितापि पुत्रिका भवतीति गम्यते। असमानार्षगोत्रजां प्रवरैरिदमार्षं नाम प्रवर इत्यर्थः। गोत्रं वंशपरम्पराप्रसिद्धम्, आर्षं च गोत्रं च आर्षगोत्रे, समाने आर्षगोत्रे यस्यासौ समानार्षगोत्रस्तस्माज्जाता समानार्षगोत्रजा न समानार्षगोत्रजा असमानार्षगोत्रजा ताम्। गोत्रप्रवरौ च पृथक्पृथक्पर्युदासे निमित्तम्। [4]तेनासमानार्षजामसमानगोत्रजामित्य[5]ः। तथा च 'असमानप्रवरै-र्विवाहः' (गौ. स्मृ. ४।१) इति गौतमः। तथा असपिण्डा च या मातुरसपिण्डा च या पितुः। सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥' इति (३।५) मनुः। तथा मातृगोत्रामप्यपरिणेयां केचिदिच्छन्ति[6], 'मातुलस्य सुतामूढ्वा मातृगोत्रां तथैव च। समानप्रवरां चैव गत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति प्रायश्चित्तस्मरणात्। अत्र च 'असपिण्डाम्' इत्यनेन पितृष्वसृ-मातृष्वस्रादिदुहितृनिषेधः। तथा 'असगोत्राम्' इत्यनेनासपिण्डाया अपि भिन्नसन्तानजायाः समानगोत्राया निषेधः। तथा 'असमानप्रवराम्' इत्यनेनाप्यसपिण्डाया असगोत्राया अपि

---

१. पिण्डनिर्वापणयुक्त्या निर्वाप्यसपिण्डा।　२. भ्रातृपुत्रादिषु। भ्रातृव्य-पितृव्या।　३. प्रमाणेन च।　४. असमानगोत्रजां असमानार्षजामित्यर्थः। ५. असगोत्रा च।　६. 'सगोत्रां मातुरप्येके नेच्छन्त्युद्वाहकर्मणि। जन्मनाम्नोर-विज्ञाने उद्वहेदविशङ्कितः ॥' इति व्यासः।　७. त्यक्त्वा।

समानप्रवरा निषेधः। तथा च 'असपिण्डाम्' इत्येतत्सार्ववर्णिकम्; सर्वत्र सापिण्ड्यसद्भावात्। 'असमानार्षगोत्रजाम्' इत्येतत्त्रैवर्णिकविषयम्। यद्यपि राजन्यविशां प्रातिस्विकगोत्राभावात्प्रवराभावस्तथापि पुरोहितगोत्रप्रवरौ वेदितव्यौ। तथा च 'यजमानस्यार्षेयान्प्रवृणीते' इत्युक्त्वा 'पौरोहित्यान्राजन्यविशां प्रवृणीते' इत्याहाश्वलायनः (श्रौ. सू. अ. ६ खं. १५)। सपिण्डासु समानगोत्रासु समानप्रवरासु भार्यात्वमेव नोत्पद्यते। रोगिण्यादिषु तु भार्यात्वे उत्पन्नेऽपि दृष्टविरोध एव॥—

भाषा—असाध्य रोग से अछूती हो, भाई वाली हो, और समान गोत्र एवं प्रवर की न हो।

असपिण्डाम्' इत्यत्रैकशरीरावयवान्वयद्वारेण साक्षात्परम्परया वा सापिण्ड्यमुक्तं, तच्च सर्वत्र सर्वस्य यथाकथंचिदनादौ संसारे संभवतीत्यतिप्रसङ्ग इत्यत आह—

पञ्चमात्सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा॥ ५३॥

मातृतो मातुः संताने पञ्चमादूर्ध्वं पितृतः पितुः संताने सप्तमादूर्ध्वं, 'सापिण्ड्यं निवर्तते' इति शेषः। अतश्चायं 'सपिण्ड' शब्दोऽवयवशक्त्या सर्वत्र प्रवर्तमानोऽपि निर्मन्थ्य-पङ्कजादिशब्दवन्नियतविषय एव। तथा च पित्रादयः षट् सपिण्डाः, पुत्रादयश्च षट्, आत्मा च सप्तमः, संतानभेदेऽपि यतः संतानभेदस्तमादाय गणयेद्यावत्सप्तम इति सर्वत्र योजनीयम्। तथा च मातरमारभ्य तत्पितृपितामहादिगणनायां पञ्चमसंतानवर्तिनी मातृतः पञ्चमीत्युपचर्यते। एवं पितरमारभ्य तत्पित्रादिगणनायां सप्तमपुरुषसंतानवर्तिनी पितृतः सप्तमीति। तथा च 'भगिन्योर्भगिनीभ्रात्रोर्भ्रातृपुत्रीपितृव्ययोः। विवाहे द्व्यादिभूतत्वाच्छाखाभेदोऽवगण्यते॥ यद्यपि वसिष्ठेनोक्तं 'पञ्चमीं सप्तमीं चैव मातृतः पितृतस्तथा' इति, 'त्रीनतीत्य मातृतः पञ्चातीत्य च पितृतः' इति च पैठीनसिना, तदप्यर्वाङ्निषेधार्थं न पुनस्तत्प्राप्त्यर्थमिति सर्वस्मृतीनामविरोधः। एतच्च समानजातीये द्रष्टव्यम् विजातीये तु विशेषः। यथा शङ्खः—'यद्येकजाता बहवः पृथक्क्षेत्राः पृथग्जनाः। एकपिण्डाः पृथक्शौचाः पिण्डस्त्वावर्तते त्रिषु॥' एकस्माद्ब्राह्मणादेर्जाताः एकजाताः। पृथक्क्षेत्राः भिन्नजातीयासु स्त्रीषु जाताः। पृथग्जनाः समानजातीयासु भिन्नासु स्त्रीषु जातास्ते एकपिण्डाः, सपिण्डाः किंतु पृथक्-

---

१. गोत्रप्रवर्तकऋष्यपत्यत्वप्रयुक्तत्वमत्र प्रातिस्विकत्वम्. प्रातिस्विकगोत्राभावस्तथापि। २. दृष्टदोषविरोधः। ३. शब्दो योगेऽवयव। ४. वयवशक्त्या प्रवर्त। ५. पञ्चमपुरुषवर्तिनी। ६. ऽद्यादि। ७. वगम्यते। ८. एकपिण्डाः सपिण्डाः।

शौचाः। पृथक्शौचमाशौचप्रकरणे वक्ष्यामः। 'पिण्डस्त्वावर्तते त्रिषु त्रिपुरुषमेव सापिण्ड्यमिति ॥ ५३ ॥

भाषा—तथा माता के कुल में पाँच पीढी से ऊपर एवं पिता के कुल में सात पीढ़ी से ऊपर हो ॥ ५३ ॥

'दशपूरुषविख्याताच्छ्रोत्रियाणां महाकुलात्।

पुरुषा एव पूरुषाः, दशभिः पुरुषैर्मातृतः पञ्चभिः पितृतः पञ्चभिर्विख्यातं यत्कुलं तस्मात्। श्रोत्रियाणामधीतवेदानाम् अध्ययनमुपलक्षणं श्रुताध्ययनसंपन्नानाम्। महच्च तत्कुलं च महाकुलं पुत्रपौत्रपशुदासीग्रामादिसमृद्धं, तस्मात्कन्यका आहर्तव्येति नियम्यते ॥

भाषा—जिस उच्च कुल के पुरुष दस पीढ़ियों से प्रख्यात वेद पाठी हों उस कुल की कन्या ग्रहण करे;

एवं सर्वतः प्राप्तौ सत्यामपवादमाह—

स्फीतादपि नसंचारिरोगदोषसमन्वितात् ॥ ५४ ॥

स्फीतादिति। संचारिणो रोगाः श्वित्रकुष्ठापस्मारप्रभृतयः शुक्रशोणितद्वारेणानुप्रविशन्तो दोषाः पुनः हीनक्रियनिःपौरुषत्वादयो मनुनोक्ताः। एतैः समन्वितास्स्फीतादपि पूर्वोक्तान्महाकुलादपि नाहर्तव्या ॥ ५४ ॥

भाषा—किन्तु यदि महान् कुल में भी संसर्गज रोग हों तो उससे कन्या न ले ॥ ५४ ॥

एवं कन्याग्रहणनियममुक्त्वा कन्यादाने वरनियममाह—

एतैरेव गुणैर्युक्तः सवर्णः श्रोत्रियो वरः।
यत्नात्परीक्षितः पुंस्त्वे युवा धीमाञ्जनप्रियः ॥ ५५ ॥

एतैरेव पूर्वोक्तैर्गुणैर्युक्तो दोषैश्च वर्जितो वरो भवति। तस्यायमपरो विशेषः-सवर्ण उत्कृष्टो वा, न हीनवर्णः। श्रोत्रियः स्वयं च श्रुताध्ययनसंपन्नः। यत्नात् प्रयत्नेन पुंस्त्वे परीक्षितः। परीक्षोपायश्च नारदेन दर्शितः-'यस्याप्सु प्लवते बीजं ह्रादि मूत्रं च फेनिलम्। पुमान्स्याल्लक्षणैरेतैर्विपरीतैस्तु षण्ढकः ॥ इति। युवा न वृद्धः। धीमान् लौकिकवैदिकव्यवहारेषु निपुणमतिः। जनप्रियः 'स्मितपूर्वमृद्वभिभाषणादिभिरनुरक्तजनः ॥ ५५ ॥

भाषा—वर भी इन्हीं पूर्वोक्त गुणों से युक्त, सवर्ण और विद्वान् होना चाहिए, उसके पुरुषत्व की यत्नपूर्वक परीक्षा की गई हो और वह युवक, विवेकशील और प्रिय होवे ॥ ५५ ॥

---

१. पौरुष। २. स्मितमृदुपूर्वाभिभाषण।

रति-पुत्र-धर्मार्थत्वेन विवाहस्त्रिविधः। तत्र पुत्रार्थो द्विविधः-नित्यः, काम्यश्च। तत्र नित्ये प्रजार्थे 'सवर्णः श्रोत्रियो वरः' (आचार. ५५) इत्यनेन सवर्णा मुख्या दर्शिताः। इदानीं काम्ये नित्यसंयोगे चानुकल्पो वक्तव्य इत्यत आह—

यदुच्यते द्विजातीनां [1]शूद्राद्दारोपसंग्रहः।
नैतन्मम मतं यस्मात्त[2]त्रायं जायते स्वयम् ॥ ५६ ॥

यदुच्यते 'सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि। कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशोऽवराः ॥' इत्युपक्रम्य–ब्राह्मणस्य चतस्रो भार्याः, क्षत्रियस्य तिस्रः, वैश्यस्य द्वे इति द्विजातीनां शूद्रावेदनमिति नैतद्याज्ञवल्क्यस्य मतम्। यस्मादयं द्विजातिस्तत्र स्वयं जायते। 'तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः' इति श्रुतेः। अत्र च 'तत्रायं जायते स्वयम्' इति हेतुं वदता नैत्यकपुत्रोत्पादनाय काम्यपुत्रोत्पादनाय वा प्रवृत्तस्य शूद्रापरिणयननिषेधं कुर्वता नैत्यकपुत्रोत्पादनानुकल्पे काम्ये च पुत्रोत्पादने ब्राह्मणस्य क्षत्रियावैश्ये, क्षत्रियस्य च वैश्या[3] भार्यानुज्ञाता भवति ॥ ५६ ॥

भाषा—द्विजातियों को शूद्रवर्ण से स्त्री ग्रहण करने की जो बात कही गई है वह मुझे मान्य नहीं है; कारण, स्त्री में स्वयं (पुरुष का आत्मा) ही जन्म लेता है ॥ ५६ ॥

इदानीं रतिकामस्योत्पन्नपुत्रस्य वा विनष्टभार्यस्याश्रमान्तरानधिकारिणो गृहस्थाश्रमावस्थामात्रभिकाङ्क्षिणः परिणयनक्रममाह—

तिस्रो वर्णानुपूर्व्येण द्वे तथैका यथाक्रमम्।
ब्राह्मणक्षत्रियविशां भार्या स्वा शूद्रजन्मनः ॥ ५७ ॥

वर्णक्रमेण ब्राह्मणस्य तिस्रो भार्याः। क्षत्रियस्य द्वे। वैश्यस्यैका। शूद्रस्य तु स्वैव भार्या भवति। सवर्णा पुनः सर्वेषां मुख्या स्थितैव। पूर्वस्याः पूर्वस्या अभावे उत्तरोत्तरा भवति। अयमेव च क्रमो नैत्यकानुकल्पे काम्ये च पुत्रोत्पादनविधौ। अतश्च यच्छूद्रापुत्रस्य पुत्रमध्ये परिगणनं विभागसंकीर्तनं च, तथा 'विप्रान्मूर्धावसिक्तो हि' इत्युपक्रम्य 'विन्नास्वेष विधिः स्मृतः' इति च तद् रतिकामस्याश्रममात्राभिकाङ्क्षिणो वा ना[4]न्तरीयकतयोत्पन्नस्य ॥ ५७ ॥

भाषा—वर्ण की अनुलोमता से ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य को क्रमशः

---

१. शूद्राद्दारोप। २ तत्रात्मा जायते। ३. वैश्याभ्यनुज्ञा।
४. अन्योद्देशकव्यापारनिर्वर्त्यत्वं; यमन्तरा नोद्देश्यसिद्धिस्तत्त्वं वा नान्तरीयकत्वम्।

तीन, दो और एक पत्नियाँ होती हैं। शूद्र की अपनी ही (जाति की) एक भार्या होती है ॥ ५७ ॥

विवाहानाह—

ब्राह्मो विवाह आहूय दीयते शक्त्यलंकृतः।
तज्जः पुनात्युभयतः पुरुषानेकविंशतिम् ॥ ५८ ॥

स ब्राह्माभिधानो विवाहः यस्मिन्नुक्तलक्षणाय वरायाहूय यथाशक्त्यलंकृता कन्या दीयते उदकपूर्वकं, तस्यां जातः पुत्र उभयतः पित्रादीन्दश पुत्रादींश्च दश, आत्मानं चैकविंशं पुनाति सद्वृत्तश्चेत् ॥ ५८ ॥

भाषा—ब्राह्मविवाह वह होता है जिसमें (वर को) बुलाकर (उसे) यथाशक्ति आभूषणादि से अलंकृत कन्या प्रदान की जाती है: ऐसे विवाह से उत्पन्न पुत्र (अपने पूर्वकी दस; आगे आने वाली दस तथा अपनी पीढ़ी को मिलाकर) इक्कीस पीढ़ियों को पवित्र करता है ॥ ५८ ॥

दैवार्षविवाहौ—

यज्ञस्थ ऋत्विजे दैव आदायार्षस्तु गोद्वयम्।
चतुर्दश प्रथमजः, पुनात्युत्तरजश्च षट् ॥ ५९ ॥

स दैवो विवाहो यस्मिन्यज्ञानुष्ठाने वितते ऋत्विजे यथाशक्त्यलंकृता कन्या दीयते। यत्र पुनर्गोमिथुनमादाय कन्या दीयते स आर्षः; प्रथमजो दैवविवाहजश्चतुर्दश पुनाति सप्तावरान् सप्त परान्। उत्तरज आर्षविवाहजः षट् पुनाति त्रीन्पूर्वान् त्रीन्परान् ॥ ५९ ॥

भाषा—यज्ञानुष्ठान के समय ऋत्विज को (यथाशक्ति अलंकृत करके) कन्या दी जाय तो वह दैव विवाह होता है; जब दो गायें लेकर कन्या दी जाती है तब वह आर्षविवाह होता है। इनमें दैवविवाह से उत्पन्न पुत्र (सात पहले की और सात बाद की इस प्रकार) चौदह पीढ़ियों को और आर्ष विवाह से उत्पन्न पुत्र (तीन पहले और तीन बाद की) छः पीढ़ियों को पवित्र करता है ॥ ५९ ॥

प्राजापत्यविवाहलक्षणम्—

इत्युक्त्वा चरतां [1]धर्मं सह या दीयतेर्थिने।
स कायः पावयेत्तज्जः षट् [2]षड्वंश्यान्सहात्मना[3] ॥ ६० ॥

सह धर्मं चरताम्' इति परिभाष्य कन्यादानं स प्राजापत्यः। तज्जः षट् पूर्वान्षट् परान् आत्मना सहेत्येवं त्रयोदश पुनाति ॥ ६० ॥

---

१. सहोभौ। २. धर्ममित्युक्त्वा। ३. सह चात्मनः।

भाषा—साथ रहकर धर्म का आचरण करो, ऐसा कहकर जब कन्या विवाहेच्छु पुरुष को प्रदान की जाती है तब कायविवाह होता है; इससे उत्पन्न पुत्र अपनी पीढ़ी को और छः पहले एवं छः बाद की पीढियों को पवित्र करता है ॥ ६० ॥

आसुरगान्धर्वादिविवाहलक्षणानि—

आसुरो द्रविणादानाद्गान्धर्वः समयान्मिथः ।
राक्षसो युद्धहरणात्पैशाचः[1] कन्यकाछलात् ॥ ६१ ॥

आसुरः पुनर्द्रविणादानात् । गान्धर्वस्तु परस्परानुरागेण भवति । राक्षसो युद्धेनापहरणात् । पैशाचस्तु कन्यकाछलात् छलेन छद्मना स्वापाद्यवस्थास्व-[2]पहरणात् ॥ ६१ ॥

भाषा—अधिक धन लेकर कन्या प्रदान की जाय तो वह आसुर विवाह होता है, परस्पर प्रेम होने पर जो विवाह होता है वह गान्धर्व कहलाता है। युद्ध में हरी गई कन्या से विवाह राक्षसविवाह होता है और कन्या को छलपूर्वक फुसलाकर किया गया विवाह पैशाच होता है ॥ ६१ ॥

सवर्णादिपरिणयेन विशेषमाह—

पाणिर्ग्राह्यः सवर्णासु गृह्णीयात्क्षत्रिया शरम् ।
वैश्या प्रतोदमादद्याद्वेदने त्वग्रजन्मनः[3] ॥ ६२ ॥

सवर्णासु विवाहे स्वगृह्योक्तविधिना पाणिरेव ग्राह्यः । क्षत्रियकन्या तु शरं गृह्णीयात् । वैश्या प्रतोदमादद्यात् । उत्कृष्टवेदने शूद्रा पुनर्वसनस्य दशाम् । यथाह मनुः (३।४४)—'वसनस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोत्कृष्टवेदने' इति ॥ ६२ ॥

भाषा—अपनी जाति की कन्या से विवाह करते समय उसका हाथ पकड़ना चाहिए; ब्राह्मण क्षत्रिया से विवाह करे तो क्षत्रया बाण पकड़े, वैश्या प्रतोद या पैना पकडे ॥ ६२ ॥

कन्यादातृक्रममाह—

पिता पितामहो भ्राता सकुल्यो जननी तथा ।
कन्याप्रदः पूर्वनाशे प्रकृतिस्थः परः परः ॥ ६३ ॥
अप्रयच्छन्समाप्नोति भ्रूणहत्यामृतावृतौ ।
गम्यं त्वभावे दातॄणां कन्या कुर्यात्स्वयंवरम् ॥ ६४ ॥

---

[1] कन्यकां छलात् । [2] अवस्थासु हरणात् । [3] स्वग्रजन्मनः ।

एतेषां पित्रादीनां पूर्वस्याभावे परः परः कन्याप्रदः प्रकृतिस्थश्चेत् यद्युन्मादादिदोषवान्न भवति। अतो यस्याधिकारः सोऽप्रयच्छन् भ्रूणहत्यामृतावृतावाप्नोति। एतच्चोक्तलक्षणवरसंभवे वेदितव्यम्। यदा पुनर्दातॄणामभावस्तदा कन्यैव गम्यं नमनार्हमुक्तलक्षणं वरं स्वयमेव वरयेत्॥ ६३–६४॥

भाषा—पिता, पितामह, भाई, कुल का कोई पुरुष और माता—इनमें क्रमशः पहले वाले के अभाव में आगे वाला यदि प्रकृतिस्थ अर्थात् उन्मादादि रोग से मुक्त हो तो कन्यादान दे। (यदि कन्यादान का अधिकारी व्यक्ति) कन्यादान नहीं करता तो कन्या के प्रत्येक ऋतुकाल में उसे भ्रूणहत्या का पाप लगता है। यदि कन्यादान देने वाला कोई भी न हो तो कन्या योग्य वर का स्वयं वरण कर लेना चाहिए ॥ ६३–६४ ॥

कन्याहरणे दण्डः—

सकृत्प्रदीयते कन्या हरंस्तां चोरदण्डभाक्।

सकृदेव कन्या प्रदीयत इति शास्त्रनियमः। अतस्तां दत्वा अपहरन् कन्यां चोरवद्दण्ड्यः॥

भाषा—कन्या एक ही बार (विवाह में) दी जाती है; अतः (उसे देकर पुनः) उसका अपहरण करने वाला चोर के समान दण्ड का भागी होता है।

एवं सर्वत्र प्रतिषेध प्राप्तेऽपवादमाह—

दत्तामपि हरेत्पूर्वाच्छ्रेयांश्चेद्वर आव्रजेत् ॥ ६५ ॥

यदि पूर्वस्माद्वराच्छ्रेयान्विद्याभिजनाद्यतिशययुक्तो वर आगच्छति, पूर्वस्य च पातकयोगो दुर्वृत्तत्वं वा, तदा दत्तामपि हरेत्। एतच्च सप्तमपदात्प्राग्द्रष्टव्यम्॥ ६५॥

भाषा—किन्तु यदि पहले वर से अच्छा कोई दूसरा वर मिल जाय तो दी हुई कन्या का भी हरण कर ले ॥ ६५ ॥

अनाख्याय ददद्दोषं दण्ड्य उत्तमसाहसम्।
अदुष्टां तु[1] त्यजन्दण्ड्यो दूषयंस्तु मृषा शतम् ॥ ६६ ॥

यः पुनश्चक्षुर्ग्राह्यं दोषमनाख्याय कन्यां प्रयच्छति असावुत्तमसाहसं दण्ड्यः। उत्तमसाहसं च (आचा० ३६६) वक्ष्यते। अदुष्टां तु प्रतिगृह्य त्यजन् उत्तम-

1. च त्यजन्।

साहसमेव दण्ड्यः। यः पुनर्विवाहात्प्रागेव द्वेषादिना असद्भिर्दोषैर्दीर्घरोगादिभिः कन्यां दूषयति स पणानां वक्ष्यमाणलक्षणानां शतं दण्ड्यः ॥ ६६ ॥

भाषा—जो व्यक्ति (दिखाई पड़ने वाले) दोषों को विना बताए ही कन्या का दान करता है उसे उत्तमसाहस का दण्ड मिलना चाहिए। निर्दोष कन्या का ग्रहण करके पुनः उसका त्याग करने वाले को भी यही दण्ड मिलना चाहिए और (विवाह के पूर्व) कन्या में मिथ्या दोष बताने वाले को सौ पणों का दण्ड देना चाहिए ॥ ६६ ॥

'अनन्यपूर्विकाम्' (श्लो. ५२) इत्यत्रानन्यपूर्वा परिणेयोक्ता, तत्रान्यपूर्वा कीदृशीत्याह—

अक्षता च क्षता चैव पुनर्भूः, संस्कृता पुनः।
स्वैरिणी या पतिं हित्वा सवर्णं कामतः श्रयेत् ॥ ६७ ॥

अन्यपूर्वा द्विविधा—पुनर्भूः, स्वैरिणी चेति। पुनर्भूरपि द्विविधा—क्षता चाक्षता च। तत्र क्षता संस्कारात्प्रागेव पुरुषसंबन्धदूषिता। अक्षता पुनः संस्कारदूषिता। या पुनः कौमारं पतिं त्यक्त्वा कामतः सवर्णमाश्रयति सा स्वैरिणीति ॥ ६७ ॥

भाषा—कन्या का किसी पुरुष से शरीरसंबन्ध हुआ हो चाहे न हुआ हो दूसरी बार विवाह होने पर वह पुनर्भू कहलाती है। जो स्त्री पति को छोड़ कर अपनी इच्छा से अपनी जाति के किसी दूसरे पुरुष को स्वीकार करती है वह स्वैरिणी होती है ॥ ६७ ॥

एवं सर्वप्रकारेणान्यपूर्वापर्युदासे प्राप्ते विशेषमाह—

अपुत्रां गुर्वनुज्ञातो देवरः पुत्रकाम्यया।
सपिण्डो वा सगोत्रो वा घृताभ्यक्त ऋतावियात् ॥ ६८ ॥
आ गर्भसंभवाद्गच्छेत्पतितस्त्वन्यथा भवेत्।
अनेन विधिना जातः [1]क्षेत्रजोऽस्य भवेत्सुतः ॥ ६९ ॥

अपुत्रामलब्धपुत्रां पित्रादिभिः पुत्रार्थमनुज्ञातो देवरो भर्तुः कनीयान् भ्राता सपिण्डो वा उक्तलक्षणः सगोत्रो वा, एतेषां पूर्वस्याभावे परः परः घृताभ्यक्तसर्वाङ्गः, ऋतावेव वक्ष्यमाणलक्षणे इयाद्गच्छेत् आ गर्भोत्पत्तेः। ऊर्ध्वं पुनर्गच्छन् अन्येन वा प्रकारेण तदा पतितो भवति। अनेन विधिनोत्पन्नः पूर्वपरिणेतुः क्षेत्रजः पुत्रो भवेत्। एतच्च वाग्दत्ताविषयमित्याचार्याः, 'यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः। तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥' इति (९।६९) मनुस्मरणात् ॥ ६८–६९ ॥

---

1. क्षेत्रजः स भवेत्।

भाषा—जिस स्त्री के (अपने पति से) पुत्र न हुआ हो उसके पास पिता इत्यादि गुरुजनों की आज्ञा से ऋतुकाल में सभी अंगों में घृत का लेप करके देवर, सपिण्ड या समान गोत्र का पुरुष पुत्र प्राप्ति की इच्छा से गर्भ स्थिति के समय तक ही जाय, अन्यथा (उसके उपरान्त भी गमन करने पर) वह पतित हो जाता है। इस विधि से उत्पन्न पुत्र क्षेत्रज कहलाता है॥ ६७–६९ ॥

व्यभिचारिणीं प्रत्याह—

हृताधिकारां मलिनां पिण्डमात्रोपजीविनीम्।
परिभूतामधःशय्यां वासयेद्व्यभिचारिणीम् ॥ ७० ॥

व्यभिचरति तां हृताधिकारां भृत्यभरणाद्यधिकाररहिताम् । मलिनां अञ्जनाभ्यञ्जनशुभ्रवस्त्राभरणशून्यां पिण्डमात्रोपजीविनीं प्राणयात्रामात्रभोजनाम् । धिक्कारादिभिः परिभूतां; भूतलशायिनीं स्ववेश्मन्येव वासयेत् वैराग्यजननार्थं, न पुनः शुद्धयर्थम् । 'यत्पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद्व्रतम्' (मनु॰ ११।१७६) इति पृथक्प्रायश्चित्तोपदेशात् ॥ ७० ॥

भाषा—व्यभिचारिणी स्त्री को सभी (भरणपोषण आदि) अधिकारों से वञ्चित करके, (अंजन, शुभ्रवस्त्र न देकर) मलिन बनाकर, केवल जीवन धारण योग्य भोजन देकर, तिरस्कारपूर्वक भूमि पर सुलावे ॥ ७० ॥

तस्या अल्पप्रायश्चित्तार्थमर्थवादमाह—

सोमः शौचं [1]ददावासां गन्धर्वश्च शुभां गिरम् ।
पावकः सर्वमेध्यत्वं मेध्या वै योषितो ह्यतः ॥ ७१ ॥

परिणयनात्पूर्वं सोम-गन्धर्व-वह्नयः [2]स्त्रीर्भुक्त्वा यथाक्रमं तासां शौचमधुरवचनसर्वमेध्यत्वानि दत्तवन्तः । तस्मात् स्त्रियः सर्वत्र स्पर्शालिङ्गनादिषु मेध्याः शुद्धाः स्मृताः ॥ ७१ ॥

भाषा—सोम देवता ने (नारी को) पवित्रता दी, गन्धर्व ने मधुर वाणी दी, अग्नि ने सब प्रकार से पवित्र होने की शक्ति दी; अतएव स्त्रियां (सर्वत्र) पवित्र होती हैं ॥ ७१ ॥

न च तस्यास्तर्हि दोषो नास्तीत्याशङ्कनीयमित्याह—

व्यभिचाराद्दतौ शुद्धिर्गर्भे त्यागो विधीयते ।
गर्भभर्तृवधादौ च तथा महति पातके ॥ ७२ ॥

---

१. ददौ स्त्रीणां । २. स्त्रियो भुक्त्वा ।

अप्रकाशितान्मनोव्यभिचारात्पुरुषान्तरसंभोगसङ्कल्पाद्यदपुण्यं तस्य ऋतौ रजोदर्शने शुद्धिः, शूद्रकृते तु गर्भे त्यागः। मनुः (९।१५५) 'ब्राह्मणक्षत्रियविशां भार्याः शूद्रेण सङ्गताः। अप्रजाता विशुद्ध्यन्ति प्रायश्चित्तेन नेतराः॥' इति स्मरणात्। तथा गर्भवधे भर्तृवधे महापातके च, ब्रह्महत्यादौ आदिग्रहणाच्छिष्यादिगमने च त्यागः। 'चतस्रस्तु परित्याज्याः शिष्यगा गुरुगा च या। पतिघ्नी च विशेषेण जुङ्गितोपगता च या॥' (वसिष्ठ. २१।१०) इति व्यासस्मरणात्। जुङ्गितः प्रतिलोमजश्चर्मकारादिः। त्यागश्चोपभोगधर्मकार्ययोः, न तु निष्कासनं गृहात्तस्याः। 'निरुन्ध्यादेकवेश्मनि' इति नियमात्॥ ७२॥

भाषा—ऋतुकाल होने पर व्यभिचार (अर्थात् पर पुरुषगमन) के दोष की शुद्धि होती है; दूसरे का गर्भ रह जाने पर स्त्री के त्याग का विधान है गर्भ की हत्या, पतिवध आदि में और (ब्रह्महत्यादि) महापातक करने पर स्त्री का त्याग विहित है॥ ७२॥

द्वितीयपरिणयने हेतूनाह—

सुरापी व्याधिता धूर्ता वन्ध्यार्थघ्न्यप्रियंवदा।
स्त्रीप्रसूश्चाधिवेत्तव्या पुरुषद्वेषिणी तथा॥ ७३॥

सुरां पिबतीति सुरापी शूद्राऽपि। 'पतत्यर्धं शरीरस्य यस्य भार्या सुरां पिबेत्' इति सामान्येन प्रतिषेधात्। व्याधिता दीर्घरोगग्रस्ता। धूर्ता विसंवादिनी। वन्ध्या निष्फला। अर्थघ्नी अर्थनाशिनी। अप्रियंवदा निष्ठुरभाषिणी। स्त्रीप्रसूः स्त्रीजननी। पुरुषद्वेषिणी सर्वत्राहितकारिणी। 'अधिवेत्तव्या' इति [1]प्रत्येकमभिसंबध्यते। अधिवेदनं भार्यान्तरपरिग्रहः॥ ७३॥

भाषा—सुरापान करने वाली, दीर्घ रोग से ग्रस्त, धूर्त, बांझ, धन का नाश करने वाली, कठोर वचन बोलने वाली, पुत्रियों को ही जन्म देने वाली और पति का अहित करने वाली पत्नी के रहते हुए भी दूसरा विवाह कर लेना चाहिए॥ ७३॥

अधिविन्ना तु भर्तव्या महदेनोऽन्यथा भवेत्।
यत्रानुकूल्यं दंपत्योस्त्रिवर्गस्तत्र वर्धते॥ ७४॥

किञ्च, सा अधिविन्ना पूर्ववदेव दानमानसत्कारैर्भर्तव्या। अन्यथाऽभरणे महदपुण्यं वक्ष्यमाणो दण्डश्च। न च भरणे सति केवलमपुण्यपरिहारः। यतः यत्र दंपत्योरानुकूल्यं चित्तैक्यं तत्र धर्मार्थकामानां प्रतिदिनमभिवृद्धिश्च॥ ७४॥

---

1. सर्वत्र संबध्यते।

भाषा—किन्तु उक्त दोषों वाली प्रथम विवाहिता पत्नी का भी पालन-पोषण करना चाहिए, अन्यथा घोर पाप होता है। जहां स्त्री पुरुष दोनों परस्पर अनुकूल होते हैं वहां धर्म, अर्थ और काम तीनों की प्रतिदिन वृद्धि होती है ॥ ७४ ॥

स्त्रियं प्रत्याह—

मृते जीवति वा पत्यौ या नान्यमुपगच्छति।
सेह कीर्तिमवाप्नोति मोदते चोमया सह ॥ ७५ ॥

भर्तरि जीवति मृते वा या चापत्यादन्यं पुरुषं [1]नोपगच्छति सेह लोके विपुलां कीर्तिमवाप्नोति। उमया च सह क्रीडते, पुण्यप्रभावात् ॥ ७५ ॥

भाषा—पति के जीवन काल में या मर जाने पर भी जो स्त्री किसी दूसरे पुरुष के समीप नहीं जाती वह इस संसार में कीर्ति तो पाती है और (मृत्यु के बाद पुण्य के प्रभाव से) उमा के साथ सुखपूर्वक निवास करती है ॥ ७५ ॥

अधिवेदनकारणाभावे अधिवेत्तारं प्रत्याह—

आज्ञासंपादिनीं दक्षां वीरसूं प्रियवादिनीम्।
त्यजन्दाप्यस्तृतीयांशमद्रव्यो भरणं स्त्रियाः ॥ ७६ ॥

[2]आज्ञासंपादिनीमदेशकारिणीम्, दक्षां शीघ्रकारिणीम्, वीरसूं पुत्रवतीम्; प्रियवादिनीं मधुरभाषिणीं यस्त्यजति अधिविन्दति, स राज्ञा स्वधनस्य तृतीयांशं दाप्यः। निर्धनस्तु भरणं ग्रासाच्छादनानि दाप्यः ॥ ७६ ॥

भाषा—जो आज्ञाकारिणी, कुशल, वीर पुत्रों को जन्म देने वाली और मधुरभाषिणी पत्नी का त्याग करता है (अथवा उसके जीवित रहते दूसरी पत्नी ग्रहण करता है) तो (राजा) उससे धन का तृतीयांश दिलावे और यदि निर्धन हो तो अन्न भोजन वस्त्र दिलवाये ॥ ७६ ॥

स्त्रीधर्मानाह—

स्त्रीभिर्भर्तृवचः कार्यमेष धर्मः परः स्त्रियाः।
आ शुद्धेः संप्रतीक्ष्यो हि महापातकदूषितः ॥ ७७ ॥

स्त्रीभिः सदा भर्तृवचनं कार्यम्। यस्मादयमेव पर उत्कृष्टो धर्मः, स्त्रीणां स्वर्गहेतुत्वात्। यदा तु महापातकदूषितस्तदा आ शुद्धेः संप्रतीक्ष्यः, न तत्पारतन्त्र्यम्। उत्तरकालं तु पूर्ववदेव तत्पारतन्त्र्यम् ॥ ७७ ॥

भाषा—स्त्रियों का यह कर्तव्य है कि पति की आज्ञा का पालन करे,

---

१. नैवोपगच्छति। २. आदेशसंपादिनीं। ३. सर्वथा।

वही स्त्रियों का परम धर्म है। यदि (पति को) महापातक का दोष लगा हो तो (स्त्री को) उसकी शुद्धि तक प्रतीक्षा करनी चाहिए ॥ ७७ ॥

शास्त्रीयदारसंग्रहस्य फलमाह—

लोकानन्त्यं दिवः प्राप्तिः पुत्रपौत्रप्रपौत्रकैः।
यस्मात्तस्मात्स्त्रियः सेव्याः कर्तव्याश्च सुरक्षिताः ॥ ७८ ॥

लोके आनन्त्यं वंशस्याविच्छेदः लोकानन्त्यं, दिवः प्राप्तिश्च, दारसंग्रहस्य प्रयोजनम्। कथमित्याह—पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रकैर्लोकानन्त्यम्, अग्निहोत्रादिभिश्च स्वर्गप्राप्तिरित्यन्वयः। यस्मात् स्त्रीभ्य एतद्द्वयं भवति तस्मात् स्त्रियः सेव्या उपभोग्याः प्रजार्थम्। रक्षितव्याश्च धर्मार्थम्। तथा चापस्तम्बेन 'धर्मप्रजासपत्तिः प्रयोजनं दारसंग्रहस्योक्तं धर्मप्रजासंपन्नेषु दारेषु नान्यां कुर्वीत' इति वदता। रतिफलं तु लौकिकमेव ॥ ७८ ॥

भाषा—पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र से इस लोक में वंश अविच्छिन्न बना रहता है और स्वर्ग की प्राप्ति होती है। चूँकि ये दोनों कार्य स्त्रियों से सिद्ध होते हैं अतः वे उपभोग्य होती हैं और (धर्म के लिये) उनकी रक्षा करनी चाहिए ॥ ७८ ॥

'पुत्रोत्पत्त्यर्थं स्त्रियः सेव्याः' (श्लो० ७८) इत्युक्तं, तत्र विशेषमाह—

षोडशर्तुनिशाः स्त्रीणां तस्मिन्युग्मासु संविशेत्।
ब्रह्मचार्येव पर्वाण्याद्याश्चतस्रस्तु[1] वर्जयेत् ॥ ७९ ॥

स्त्रीणां गर्भधारणयोग्यावस्थोपलक्षितः काल ऋतुः। स च रजोदर्शनदिवसादारभ्य षोडशाहोरात्रस्तस्मिन् ऋतौ युग्मासु समासु रात्रिषु। 'रात्रि'ग्रहणाद्दिवसप्रतिषेधः। संविशेत् गच्छेत्पुत्रार्थम्। 'युग्मासु' इति बहुवचनं समुच्चयार्थम्। अतश्चैकस्मिन्नपि ऋतौ अप्रतिषिद्धासु युग्मासु सर्वासु रात्रिषु गच्छेत्। एवं गच्छन् ब्रह्मचार्येव भवति। अतो यत्र ब्रह्मचर्यं श्राद्धादौ[2] चोदितं तत्र गच्छतोऽपि न ब्रह्मचर्यस्खलनदोषोऽस्ति। किंच पर्वाण्याद्याश्चतस्रस्तु वर्जयेत्। 'पर्वाणि' इति बहुवचनादाद्यर्थावगमादष्टमीचतुर्दश्योर्ग्रहणम्। यथाह मनुः (४।१५५)—'अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम्। ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः ॥' इति। अतोऽमावास्यादीनि रजोदर्शनादारभ्य चतस्रो रात्रीश्च वर्जयेत् ॥ ७९ ॥

---

१. चतस्रश्च। २. श्राद्धादिषु.

भाषा—स्त्रियों के (गर्भधारण योग्य) ऋतुकाल को सोलह रात्रियां होती हैं; इनमें से (पुत्र के लिये) युग्म रात्रियों में संभोग करना चाहिए। इस प्रकार स्त्रीगमन करने वाला ब्रह्मचारी ही होता है, किन्तु (अमावस्या, अष्टमी, पौर्णमासी और चतुर्दशी) चार रात्रियों में गमन न करे ॥ ७९ ॥

एवं गच्छन् स्त्रियं क्षामां मघां मूलं च वर्जयेत्।
सुस्थ इन्दौ सकृत्पुत्रं लक्षण्यं जनयेत्पुमान् ॥ ८० ॥

किंच, एवमुक्तेन प्रकारेण स्त्रियं गच्छन् क्षामां गच्छेत्। क्षामता च तस्मिन्काले रजस्वलाव्रतेनैव भवति। अथ चेन्न भवति तदा कर्तव्या क्षामता पुत्रोत्पत्त्यर्थमल्पाऽस्निग्धभोजनादिना। 'पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियः' इति वचनात्। यदा युग्मायामपि रात्रौ शोणिताधिक्यं तदा स्त्र्येव भवति पुरुषाकृतिः। अयुग्मायामपि शुक्राधिक्ये पुमानेव भवति स्त्र्याकृतिः; कालस्य निमित्तत्वात्। शुक्रशोणितयोश्चोपादानकारणत्वेन प्राबल्यात्। तस्मात्क्षामा कर्तव्या। माघा-मूलनक्षत्रे वर्जयेत्। चन्द्रे चैकादशादिशुभस्थानगते चकारात्पुंनक्षत्रे शुभयोगलग्नादिसंपत्तौ सकृदेकस्यां रात्रौ न द्विस्त्रिर्वा। ततो लक्षणैर्युक्तं पुत्रं जनयति। पुमानप्रतिहतपुंस्त्वः ॥ ८० ॥

भाषा—मघा और मूल नक्षत्र को छोड़कर चन्द्रमा (ग्यारहवें आदि) शुभ स्थान में स्थित होने पर जो दुबली स्त्री के निकट एकबार गमन करता है वह पुरुष शुभ लक्षणों से युक्त पुत्र उत्पन्न करता है ॥ ८० ॥

एवमृतौ नियममुक्त्वा इदानीमनृतौ नियममाह—

यथाकामी भवेद्वापि स्त्रीणां वरमनुस्मरन्।
स्वदारनिरतश्चैव स्त्रियो रक्ष्या यत स्मृताः ॥ ८१ ॥

भार्याया इच्छानतिक्रमेण प्रवृत्तिरस्यास्तीति यथाकामी भवेत्। 'वा' शब्दो नियमान्तरपरिग्रहार्थः, न पूर्वनियमनिवृत्त्यर्थः। स्त्रीणांवरमिन्द्रदत्तमनुस्मरन् 'भवतीनां कामविहन्ता पातकी स्यात्' इति। यथा 'ता अब्रुवन् वरं वृणीमहा ऋत्वियात्प्रजां विन्दामहै काममा विजनितोः संभवामेति तस्मादृत्वियात् स्त्रियः प्रजां विन्दन्ते काममा विजनतोः संभवन्ति वारे वृत ह्यासाम्' इति। अपि च स्वदारेष्वेव निरतः नितरां रतस्तन्मनस्कः, 'भवेत्' इत्यनुषज्यते। एवकारेण स्त्र्यन्तरगमनं निवर्तयति; प्रायश्चित्तस्मरणात्। उभयत्रापि दृष्टप्रयोजनमाह—स्त्रियो रक्ष्या यतः स्मृता इति। यस्मात्स्त्रियो रक्ष्याः स्मृता उक्ताः

१. पौष्णं च। २. कालस्यानियतत्वात्। ३. वृणीमहै। ४. वरं वृतं तासां। ५. उक्ताः पूर्वं १८ श्लोके.।

'कर्तव्याश्च सुरक्षिताः'—(आचार. ७८) इति । तच्च सुरक्षणं यथाकामित्वेन स्त्र्यन्तरागमनेन च भवतीति । अत्राह—तस्मिन्युग्मासु संविशेत्' (आचार. ७९) इति, किमयं विधिर्नियमः परिसंख्या वा ? उच्यते,—न तावद्विधिः प्राप्तार्थत्वात् । नापि परिसंख्या, दोषत्रयसमासक्तेः । अतो नियमं प्रतिपेदिरे न्यायविदः । कः पुनरेषां भेदः ? अत्यन्ताप्राप्तप्रापणं विधिः, यथा 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' 'अष्टकाः कर्तव्याः' इति । पक्षे प्राप्तस्याप्राप्तपक्षान्तरप्रापणं नियमः, यथा 'समे देशे यजेत' 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' इति यागः कर्तव्यतया विहितः । स च देशमन्तरेण कर्तुमशक्य इत्यर्थाद्देशः प्राप्तः । स च समो विषमश्चेति द्विविधः । यदा यजमानः समे यियक्षते तदा 'समे यजेते'ति वचनमुदास्ते, स्वार्थस्य प्राप्तत्वात्[3] । यदा तु विषमे देशे यियक्षते तदा 'समे यजेते'ति स्वार्थं विधत्ते, स्वार्थस्य तदानीमप्राप्तत्वात् विषमदेशनिवृत्तिस्त्वार्थिकी[4] । चोदितदेशेनैव यागनिष्पत्तेरचोदितदेशोपादानेन यथाशास्त्रं यागो नानुष्ठितः स्यादिति । तथा 'प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जीत' इति । इदमपि स्मार्तमुदाहरणं पूर्वेण व्याख्यातम् ॥ एकस्यानेकत्र प्राप्तस्यान्यतो निवृत्त्यर्थमेकत्र पुनर्वचनं परिसंख्या । तद्यथा—'इमामगृभ्णन्रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते' इत्ययं मन्त्रः स्वसामर्थ्यादश्वाभिधान्याः गर्दभाभिधान्याश्च रशनाया ग्रहणे विनियुक्तः, पुनरश्वाभिधानीमादत्त इत्यनेनाश्वाभिधान्यां विनियुज्यमानो गर्दभाभिधान्या निवर्तते । यथा 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इत्यत्र हि यदृच्छया शशादिषु श्वादिषु च भक्षणं प्राप्तं पुनः शशादिषु श्रूयमाणं निवर्तते[5] इति ॥ किं पुनरत्र युक्तम् ? परिसंख्येह । तथा हि—कृतदारसंग्रहस्य स्वेच्छयैवर्तौ गमनं प्राप्तमिति न विधेरयं विषयः । नापि नियमस्य, गृह्यस्मृतिविरोधात् । एवं हि स्मरन्ति गृह्यकाराः—'दारसंग्रहानन्तरं त्रिरात्रं द्वादशरात्रं संवत्सरं वा ब्रह्मचारी स्यात्' इति तत्र द्वादशरात्रात्संवत्सराद्वा पूर्वमेवर्तुसंभवे ऋतौ गच्छेदेवेति नियमाद्ब्रह्मचर्यस्मरणं बाध्येत । अपि च प्राप्ते भावार्थे वचनं विशेषणपरं युक्तं, प्राप्तं चर्तौ भार्यागमनमिच्छयैव[6], अतो यदि गच्छेदृतावेवेति वचनव्यक्तिर्युक्ता । किं च नैयमिकात्पुत्रोत्पत्तिविधेरेव ऋतौ गमनं नित्यप्राप्तमेवेति ऋतौ गच्छेदेवेति नियमोऽनर्थकः स्यात् । नियमे चादृष्टं कल्पनीयम् । किं च ऋतौ गन्तव्यमेवेति नियमे असन्निहितस्य व्याध्याधिना असमर्थस्यानिच्छोश्चाशक्योऽर्थ उपदिष्टः स्यात् । विध्यनुवादविरोधश्च नियमे । तथा हि—एकः शब्दः सकृदुच्चरितस्तमेवार्थं

---

१. विध्यादयश्च—'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति । तत्र चान्यत्र वा प्राप्तौ परिसंख्या निगद्यते' इति । २. दोषत्रयासक्तेः । ३. प्राप्तार्थत्वात् । ४. त्वर्थात्सिद्धा । ५. निवर्तयति । ६. भार्येच्छयैव ।

पक्षेऽनुवदति पक्षे तु विधत्ते चेति। तस्मादृतावेव गच्छेन्नान्यत्रेति परिसंख्यैव युक्ता। तदिदं [1]भारुचिविश्वरूपादयो नानुमन्यन्ते। अतो नियम एव युक्तः, पक्षे स्वार्थविधिसंभवात्, आगमने दोषश्रवणाच्च। ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति। घोरायां भ्रूणहत्यायां युज्यते नात्र संशयः॥' (पराशरः) इति। न च विध्यनुवादविरोधः, अनुवादाभावाद्विध्यर्थत्वाच्च वचनस्य। तत्र हि विध्यनुवादविरोधो यत्र विधेयावधितया तदेवानुवदितव्यं, अप्राप्ततया[2]न्योद्देशेन विधातव्यं च। यथा वाजपेयाधिकरणपूर्वपक्षे 'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत' इति वाजपेयलक्षणगुणविधानावधित्वेन यागोऽनुवदितव्यः, स एव स्वाराज्यलक्षणफलोद्देशेन विधातव्यश्चेति। न चानुवादेनेह कृत्यमस्ति। यत्तु—नियमेऽदृष्टं कल्प्यमित्युक्तं, तत्परिसंख्यायामपि समानम्; अनृतौ गच्छतो दोषकल्पनात्। यत्तु नैयमिकपुत्रोत्पादनविध्याक्षेपेणैव ऋतौ नित्यगमनप्राप्तेर्न नियम इति,–[3]तदसत्; स एवायं नैयमिकपुत्रोत्पादनविधिः स्यान्मतम्। 'एवं गच्छन् स्त्रियं क्षामां लक्षण्यं पुत्रं जनयेत्' इति स्त्र्यभिगमनातिरिक्तः पुत्रोत्पादनविधिरिति,–तन्न; [4]गमनकरणिकाया भावनाया लव पुत्रोत्पत्तिकर्मता प्रदश्यते। एवं गच्छन् लक्षण्यं पुत्रं जनयेदित्यनेन यथाग्निहोत्रं जुह्वन् स्वर्गं भावयेदिति। न चासंनिहितादेरशक्यार्थविधिप्रसङ्गः। सन्निहितशक्तयोरेवोपदेशात् 'ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति'। 'यः स्वदारानृतुस्नातां स्वस्थः सन्नोपगच्छति' (देवल.) इति विशेषोपादानात्। अनिच्छानिवृत्तिस्तु नियमविधानादेव। न च विशेषणपरतापि। पक्षे भावार्थविधिसंभवात्। नापि गृह्यस्मृतिविरोधः। संवत्सरात्पूर्वमेवर्तुदर्शने संविशतो न ब्रह्मचर्यस्खलनदोषो यथा श्राद्धादिषु। तस्मात्स्वार्थहानिपरार्थकल्पना-प्राप्तबाधलक्षणदोषत्रयवती परिसंख्या न युक्ता। एवं 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या' इत्यत्र यद्यपि शशादिषु भक्षणस्य पक्षे प्राप्तेर्नियमः शशादिषु, श्वादिषु च प्राप्तेः परिसंख्येत्युभयसंभवः, तथापि नियमपक्षे शशाद्यभक्षणे दोषप्रसङ्गः, श्वादिभक्षणे चादोषप्रसङ्गेन [5]प्रायश्चित्तस्मृतिविरोध इति परिसंख्यैवाश्रिता। एतेन 'सायंप्रातर्द्विजातीनामशनं [6]स्मृतिनोदितम्' इत्यत्रापि नियमो व्याख्यातः। 'नान्तरा भोजनं कुर्यात्' इति च पुनरुक्तं स्यात्परिसंख्या[7]याम्। एवं च नियमे सति ऋतावृताविति वीप्सा लभ्यते, 'निमित्तावृत्तौ नैमित्तिकमप्यावर्तते' इति न्यायात्। 'यथाकामी भवेत्' इत्ययमपि नियम एव। अनृतावपि स्त्रीकामनायां सत्यां स्त्रियमभिरमयेदेवेति। 'ऋतावुपेयात्सर्वत्र वा प्रतिषिद्धवर्जम्' इत्येतदपि गौतमीय (५। १–२) सूत्रद्वयं नियमपरमेव। ऋता-

---

१. भागुरि। २. तया फलोद्देशेन। ३. तदसदिति। नास्ति।
४. यतस्तत्र्च गमनं। ५. प्रायश्चित्तविरोधः। ६. श्रुतिचोदितं।
७. परिसंख्यायां तस्मान्नियमपरमेवेति।

त्रुपेयादेव[1]। अनृतावपि स्त्रीकामनायां सत्यां प्रतिषिद्धवर्जमुपेयादेवेत्यलमतिप्रसङ्गेनेति ॥ ८१ ॥

भाषा—स्त्रियों के (इन्द्र द्वारा दिये 'तुम्हारे काम को तृप्त न करने वाला पातकी होवे' इस) वर का स्मरण करते हुए उसकी इच्छा देख कर संभोग करे और अपनी ही स्त्री में रत रहे; क्योंकि स्त्रियों की रक्षा का विधान किया गया है ॥ ८१ ॥

भर्तृभ्रातृपितृज्ञातिश्वश्रूश्वशुरदेवरैः।
बन्धुभिश्च स्त्रियः पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ॥ ८२ ॥

किञ्च, भर्तृप्रभृतिभिः पूर्वोक्ताः साध्व्यः स्त्रियो यथाशक्त्यलङ्कारवसनभोजनपुष्पादिभिः संमाननीयाः। यस्मात्ताः पूजिता धर्मार्थकामान्संवर्धयन्ति ॥

भाषा—पति, भाई, पिता, जाति के लोग, सास, श्वसुर, देवर और बन्धुवर्ग द्वारा स्त्रियां आभुषण, वस्त्र एवं भोजनादि से सम्मान करने योग्य होती हैं ॥ ८२ ॥

तथा पुनः समर्पितगृहव्यापारया किंभूतया भवितव्यमित्यत आह—

संयतोपस्करा दक्षा हृष्टा व्ययपराङ्मुखी।
कुर्याच्छ्वशुरयोः पादवन्दनं भर्तृतत्परा ॥ ८३ ॥

संयतः स्वस्थाननिवेशित, उपस्करो गृहोपकरणवर्गो यया सा तथोक्ता। यथोलूखलमुसलशूर्पादेः कण्डनस्थाने, दृषदुपलयोरवियोगेन पेषणस्थान इत्यादि। दक्षा गृहव्यापारकुशला, हृष्टा सदैव प्रहसितानना, व्ययपराङ्मुखी न व्ययशीला, 'स्यात्' इति सर्वत्र शेषः। किञ्च, श्वश्रूश्च श्वशुरश्च श्वशुरौ। 'श्वशुरः श्वश्र्वा' (पा० १।२।७१) इत्येकशेषः, तयोः पादवन्दनं नित्यं कुर्यात्। 'श्वशुर' ग्रहणं मान्यान्तरोपलक्षणार्थम्। भर्तृतत्परा भर्तृवशवर्तिनी सती पूर्वोक्तं कुर्यात् ॥ ८३ ॥

भाषा—घर की वस्तुओं को यथास्थान सँभाल कर रखने (गृहकार्य में) कुशल हो, सदैव प्रसन्न रहे, अधिक व्यय न करे, सास-श्वसुर को चरण छूकर प्रणाम करे एवं पति के वश में रहे ॥ ८३ ॥

भर्तृसन्निधावुक्तम्, प्रोषितभर्तरि तया किं कर्तव्यमित्यत आह—

क्रीडां शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदर्शनम्।
हास्यं परगृहे यानं त्यजेत् प्रोषितभर्तृका ॥ ८४ ॥

देशान्तरगतभर्तृका क्रीडां कन्दुकादिभिः शरीरसंस्कारमुद्वर्तनादिभिः,

---

१. त्रुपेयादेवानृतावपि।

समाजो जनसमूहः। उत्सवो विवाहादिः। तयोर्दर्शनं, हास्यं विजृम्भणं परगृहे गमनम्। 'त्यजेत्' इति प्रत्येकं संबध्यते ॥ ८४ ॥

भाषा—जिस स्त्री का पति विदेश गया हो वह खेलना, शृङ्गार करना, जनसमूह (मेले आदि) में और उत्सव में जाना, हँसी-मजाक और दूसरे के घर जाना–इन सब से परहेज रखे ॥ ८४ ॥

रक्षेत्कन्यां पिता विन्नां[1] पतिः पुत्रास्तु वार्धके।
अभावे ज्ञातयस्तेषां न स्वातन्त्र्यं क्वचित्स्त्रियाः ॥ ८५ ॥

किञ्च, पाणिग्रहणात्प्राक् पिता कन्यामकार्यकरणाद्रक्षेत्। तत ऊर्ध्वं भर्ता। तदभावे पुत्राः वृद्धभावे च तेषामुक्तानामभावे ज्ञातयः, ज्ञातीनामभावे राजा; 'पक्षद्वयावसाने तु राजा भर्ता [2]प्रभुः स्त्रियाः' इति वचनात्। अतः क्वचिदपि स्त्रीणां नैव स्वातन्त्र्यम् ॥ ८५ ॥

भाषा—कुमारी की रक्षा पिता करे विवाहिता होने पर पति और वृद्धावस्था में (पति के न होने पर) पुत्र रक्षा करें। इन सबके न होने पर जाति के लोग उसकी रक्षा करें। स्त्रियों को कभी भी स्वतन्त्र नहीं रहने देना चाहिए ॥ ८५ ॥

पि[illegible]सुतभ्रातृश्वश्रूश्वशुरमातुलैः।
हीना न स्याद्विना भर्त्रा गर्हणीयाऽन्यथा भवेत् ॥ ८६ ॥

किञ्च भर्त्रा विना भर्तृरहिता पित्रादिरहिता वा न स्यात्। यस्मात्तद्रहिता[3] गर्हणीया निन्द्या भवेत्। एतच्च ब्रह्मचर्यपक्षे।—'भर्तरि प्रेते ब्रह्मचर्यं तदन्वारोहणं वा' (२५।१४) इति विष्णुस्मरणात्। अन्वारोहणे महानभ्युदयः। तथा च व्यासः कपोतिकाख्यानव्याजेन दर्शितवान्—'पतिव्रता संप्रदीप्तं प्रविवेश हुताशनम्। तत्र चित्राङ्गदधरं भर्तारं सान्वपद्यत ॥ ततः स्वर्गं गतः पक्षी भार्यया सह सङ्गतः। कर्मणा पूजितस्तत्र रेमे च सह भार्यया ॥' इति। तथा च शङ्खाङ्गिरसौ–तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि लोमानि मानुषे। तावत्कालं वसेत्स्वर्गे भर्तारं यानुगच्छति ॥' इति प्रतिपाद्य तयोरवियोगं दर्शयतः—'व्यालग्राही यथा सर्पं बलादुद्धरते बिलात्। तद्वदुद्धृत्य सा नारी सह तेनैव मोदते ॥ तत्र सा भर्तृपरमा स्तूयमानाऽप्सरोगणैः। क्रीडते पतिना सार्धं यावदिन्द्राश्चतुर्दश ॥' इति। तथा–'ब्रह्मघ्नो वा[4] कृतघ्नो वा मित्रघ्नो वा भवेत्पतिः। पुनात्यविधवा नारी तमादाय मृता तु या ॥ मृते भर्तरि या नारी समारोहेद्धुता-

---

१. विन्नां = परिणीताम्। २. पतिः स्त्रियाः। ३. तद्रहिता पित्रादिरहिता।
४. पाठ मित्रघ्नः कृतघ्नो वा ब्रह्मघ्नो वा सुरापो वा।

शनम्। सारुन्धतीसमाचारा स्वर्गलोके महीयते। यावच्चाग्नौ मृते पत्यौ स्त्री नात्मानं प्रदाहयेत्। तावन्न मुच्यते सा हि स्त्रीशरीरात्कथञ्चन ॥' इति हारीतोऽपि–'मातृकं पैतृकं चापि यत्र चैव प्रदीयते। कलत्रयं पुनात्येषा भर्तारं यानुगच्छति ॥' इति, तथा–'आर्तार्ते मुदिते हृष्टा प्रोषिते मलिना कृशा। मृते म्रियेत या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता ॥ इति। अयं च सकल एव सर्वासां स्त्रीणामगर्भिणीनामबालापत्यानामाचण्डालं साधारणो धर्मः; 'भर्तारं याऽनुगच्छति' इत्यविशेषोपादानात्। यानि च ब्राह्मण्यनुगमननिषेधपराणि वाक्यानि—'मृतानुगमनं नास्ति ब्राह्मण्या ब्रह्मशासनात्। इतरेषु तु वर्णेषु तपः परममुच्यते ॥ जीवन्ती तद्धितं कुर्यान्मरणादात्मघातिनी। या स्त्री ब्राह्मणजातीया मृतं पतिमनुव्रजेत् ॥ सा स्वर्गमात्मघातेन नात्मानं न पतिं नयेत् ॥ इत्येवमादीनि, तानि पृथक्चित्यधिरोहणविषयाणि, 'पृथक्चितिं समारुह्य न विप्रा गन्तुमर्हति' इति विशेषस्मरणात्। अनेन क्षत्रियादिस्त्रीणां पृथक्चित्यभ्यनुज्ञा गम्यते। यत्तु कैश्चिदुक्तं–पुरुषाणामिव स्त्रीणामप्यात्महननस्य प्रतिषिद्धत्वादतिप्रवृद्धस्वर्गाभिलाषायाः प्रतिषेधशास्त्रमतिक्रामन्त्या अयमनुगमनोपदेशः श्येनवत्। यथा 'श्येनेनाभिचरन्यजेत' इति तीव्रक्रोधाक्रान्तस्वान्तस्य प्रतिषेधशास्त्रमतिक्रामतः श्येनोपदेश इति,–तदयुक्तम्। ये तावत् श्येनकरणिकायां भावनायां भाव्यभूतहिंसायां विधिसंस्पर्शाभावेन प्रतिषेधसंस्पर्शात्फलद्वारेण श्येनस्यानर्थतां वर्णयन्ति, तेषां मते हिंसाया एव स्वर्गार्थतया अनुगमनशास्त्रेण विधीयमानत्वात्प्रतिषेधसंस्पर्शाभावादग्नीषोमीयवत्स्पष्टमेवानुगमनस्य श्येनवैषम्यम्। यत्तु मतं–हिंसा नाम मरणानुकूलो व्यापारः, श्येनश्च परमरणानुकूलव्यापाररूपत्वाद्धिंसैव, कामाधिकारे च करणांशे रागतः प्रवृत्तिसंभवेन विधेरप्रवर्तकत्वात्। रागप्रयुक्तहिंसारूपत्वात् श्येनः प्रतिषिद्धः स्वरूपेणैवानर्थकर इति, तत्राप्यनुगमनशास्त्रेण मरणस्यैव स्वर्गसाधनतया विधानान्मरणे यद्यपि रागतः प्रवृत्तिस्तथापि मरणानुकूले व्यापारेऽग्निप्रवेशादावितिकर्तव्यतारूपे विधित एव प्रवृत्तिरिति न निषेधस्यावकाशः 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' इतिवत्; तस्मात्स्पष्टमेवानुगमनस्य श्येनवैषम्यम्। यत्तु–'तस्मादुह न पुरायुषः स्वःकामी प्रेयात्' इति श्रुतिविरोधादनुगमनमयुक्तमिति, यत्र 'तदुह न स्वःकाम आयुषः प्राङ् न प्रेयात्' इति स्वर्गफलोद्देशेनायुषः प्रागायुर्व्ययो न कर्तव्यो मोक्षार्थिना, यस्मादायुषः

---

१. अयं सर्वासां। २. माचाण्डालानां। ३. चित्यन्वारोहण। ४. विशेषोपादानात्। ५. प्रतिषिद्धशास्त्र। ६. कर्तव्यतानुरूपे। ७. स्वर्गकामः। ८. प्रेयादिति।

क्षये सति नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानक्षपितान्तःकरणकलङ्कस्य श्रवणमनननिदिध्यासनसंपत्तौ सत्यमात्मज्ञानेन नित्यनिरतिशयानन्दब्रह्मप्राप्तिलक्षणमोक्षप्राप्तिलक्षणमोक्षसंभवः। तस्मादनित्याल्पसुखरूपस्वर्गार्थमायुर्व्ययो न कर्तव्य इत्यर्थः। अतश्च मोक्षमनिच्छन्त्या अनित्याल्पसुखरूपस्वर्गार्थिन्या अनुगमनं युक्तम्, इतरकाम्यानुष्ठानवदिति सर्वमनवद्यम् ॥ ८६ ॥

भाषा—पति न हो तो पिता, माता, पुत्र, भाई, सास, ससुर से दूर न रहे अन्यथा वह (स्त्री) निन्दनीय होती है ॥ ८६ ॥

पतिप्रियहिते युक्ता स्वाचारा विजितेन्द्रिया।
सेह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमां गतिम् ॥ ८७ ॥

किञ्च, प्रियमनवद्यत्वेन मनसोऽनुकूलम्, आयत्यां यच्छ्रेयस्करं तद्धितम्, प्रियं च तद्धितं च प्रियहितम्। पत्युः प्रियहितं पतिप्रियहितं तस्मिन् युक्ता निरता। स्वाचारा शोभन आचारो यस्याः सा तथोक्ता। शोभनश्चाचारो दर्शितः शङ्खेन—'नानुक्त्वा गृहान्निर्गच्छेन्नानुत्तरीया न त्वरितं व्रजेन्न परपुरुषमभिभाषेतान्यत्र वणिक्प्रव्रजितवृद्धवैद्येभ्यः, न नाभिं दर्शयेत्, आगुल्फाद्वासः परिदध्यात्, न स्तनौ विवृतौ कुर्यात्, न हसेदप्रावृता भर्तारं तद्बन्धून्वा न द्विष्यान्न गणिकाधूर्ताभिसारिणीप्रव्रजिताप्रेक्षणिकामायामूलकुहककारिकादुःशीलादिभिः सहैकत्र तिष्ठेत्, संसर्गेण हि कुलस्त्रीणां चारित्रं[2] दुष्यति' इति। विजितेन्द्रिया विजितानि संयमितानि इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि वागादीनि च मनःसहितानि यया सा[3] इह लोके कीर्तिम् प्रख्यातिं परलोके चोत्तमां गतिं प्राप्नोति। अयं च सकल एव स्त्रीधर्मो विवाहादूर्ध्वं वेदितव्यः। 'प्रागुपनयनात्कामचारकामवादकामभक्षाः' इति स्मरणात्। 'वैवाहिको विधिः स्त्रीणामौपनायनिकः स्मृतः' इति च ॥ ८७ ॥

भाषा—पति के अनुकूल एवं श्रेयस्कर कार्य में तत्पर, सुन्दर आचरण करने वाली तथा यत्नपूर्वक इन्द्रियों को वश में रखने वाली स्त्री इस संसार में कीर्ति पाती है और परलोक में उत्तम गति ॥ ८७ ॥

अनेकभार्यं प्रत्याह—

सत्यामन्यां सवर्णायां धर्मकार्यं न कारयेत्।
सवर्णासु विधौ धर्म्ये ज्येष्ठया न विनेतरा ॥ ८८ ॥

सवर्णायां सत्यामन्यामसवर्णां नैव धर्मकार्यं कारयेत्। सवर्णास्वपि

---

१. क्षालितान्तःकरणं। २. हि चरित्रं। ३. सा तथोक्ता इह।

बह्वीषु धर्म्ये विधौ धर्मानुष्ठाने ज्येष्ठया विना ज्येष्ठां मुक्त्वा इतरा मध्यमा कनिष्ठा वा न नियोक्तव्या ॥ ८८ ॥

भाषा—सवर्णा (अपनी जाति की) पत्नी के जीवित रहते दूसरी पत्नी से धर्मकार्य न करावे। यदि सवर्णा पत्नियाँ अनेक हों तो ज्येष्ठा पत्नी को छोड़ दूसरी से (धर्मकार्य) न करावे ॥ ८८ ॥

प्रमीतपतिकाया विधिमुक्त्वा इदानीं प्रमीतभार्यं प्रत्याह—

दाहयित्वाग्निहोत्रेण स्त्रियं वृत्तवतीं पतिः।
आहरेद्विधिवद्दारानग्नींश्चैवाविलम्बयन् ॥ ८९ ॥

पूर्वोक्तवृत्तवतीं आचारवतीं विपन्नां स्त्रियमग्निहोत्रेण श्रौतेनाग्निना तदभावे स्मार्तेन दाहयित्वा पतिः भर्ता अनुत्पादितपुत्रोऽनिष्टयज्ञो वा आश्रमान्तरेष्वनधिकृतो वा स्त्र्यन्तराभावे पुनर्दारान् अग्नींश्च विधिवदाहरेत्। अविलम्बयन् शीघ्रमेव।—'अनाश्रमी न तिष्ठेत दिनमेकमपि द्विजः' इति दक्षस्मरणात्। एतच्चाधानेन सहाधिकृताया एव, नान्यस्याः। यत्तु—'द्वितीयां चैव यो भार्यां दहेद्वैतानिकाग्निभिः। जीवन्त्यां प्रथमायां हि सुरापानसमं हि तत्॥' इति, तथा—'मृतायां तु द्वितीयायां योऽग्निहोत्रं समुत्सृजेत्। ब्रह्मघ्नं तं विजानीयाद्यश्च कामात्समुत्सृजेत्॥' इत्येवमादि, तदाधानेन सहानधिकृताया अग्निदाने वेदितव्यम् ॥ ८९ ॥

भाषा—यदि उत्तम आचार वाली पत्नी की मृत्यु हो जाय तो पति अग्निहोत्र की अग्नि से उसका दाहसंस्कार करके यथाशीघ्र विधि-पूर्वक दूसरी पत्नी ग्रहण करे और पुनः अग्निहोत्राग्नि का आधान करे ॥ ८९ ॥

इति विवाहप्रकरणम्।

अथ वर्णजातिविवेकप्रकरणम्

ब्राह्मणस्य चतस्रो भार्या भवन्ति, क्षत्रियस्य तिस्रः, वैश्यस्य द्वे, शूद्रस्यैका, इत्युक्त्वा, तासु च पुत्रा उत्पादयितव्या इत्युक्तम्। इदानीं कस्यां कस्मात् कः पुत्रो भवतीति विवेकमाह—[1]

सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः।
अनिन्द्येषु विवाहेषु पुत्राः संतानवर्धनाः ॥ ९० ॥

सवर्णेभ्यो ब्राह्मणादिभ्यः सवर्णासु ब्राह्मण्यादिषु सजातयो मातृपितृसमानजातीयाः पुत्रा भवन्ति। 'विन्नास्वेष विधिः स्मृतः' (२९) इति सर्वशेषत्वे

1. विवेक्तुमाह।

नोपसंहारात् विप्रासु, 'सवर्णासु' इति संबध्यते । 'विप्र'शब्दस्य संबन्धिशब्दत्वाद्वोढृभ्यः[1] सवर्णेभ्य इति लभ्यते । एकः 'सवर्ण'शब्दः स्पष्टार्थः । अतश्चायमर्थः संवृत्तः—उक्तेन विधिनोढायां सवर्णायां वोढुः सवर्णादुत्पन्नास्तस्मात्समानजातीया भवन्ति । अतश्च कुण्डगोलककानीनसहोढ[2]जादीनामसवर्णत्वमुक्तं भवति । ते च सवर्णेभ्योऽनुलोमप्रतिलोमेभ्यश्च भिद्यमानाः साधारणधर्मैर्हिंसादिभिरधिक्रियन्ते ।—'शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः' इति स्मरणात् । अपध्वंसजा व्यभिचारजाताः शूद्रधर्मैरपि द्विजशुश्रूषादिभिरधिक्रियन्ते । ननु कुण्डगोलकयोर्[3]ब्राह्मणत्वात् श्राद्धे प्रतिषेधोऽनुपपन्नः न्यायविरोधश्च । यो यज्जातीयाद्यज्जातीयायामुत्पन्नः स तज्जातीय एव भवति,—यथा गोर्गवि गौः, अश्वाद्वडवायामश्वः । तस्माद्ब्राह्मणाद्ब्राह्मण्यामुत्पन्नो ब्राह्मण इति न विरुद्धम् । तथा कानीनपौनर्भवादीननुक्रम्य—'सजातीयेष्वयं प्रोक्तस्तनयेषु मया विधिः' (व्य. १३३) [4]इति वदत्स्वागवचनविरोधश्च । नैतत्सारम् । ब्राह्मणेन ब्राह्मण्यामुत्पन्नो ब्राह्मण इति भ्रमनिवृत्त्यर्थः श्राद्धे प्रतिषेधः । यथाऽत्यन्तमप्राप्तस्य पतितस्य श्राद्धे प्रतिषेधः । न च न्यायविरोधः । यत्र प्रत्यक्षगम्या जातिर्भवति तत्र तथा । ब्राह्मणादिजातिस्तु स्मृतिलक्षणा यथास्मरणं भवति । यथा समानेऽपि ब्राह्मण्ये कुण्डिनो [5]वसिष्ठोऽत्रिर्गौतम इति स्मरणलक्षणं गोत्रम्, तथा मनुष्यत्वे समानेऽपि ब्राह्मण्यादिजातिः स्मरणलक्षणा । मातापित्रोश्चैतदेव जातिलक्षणम् । न चानवस्था । अनादित्वात्संसारस्य शब्दार्थव्यवहारवत् । 'सजातीयेष्वयं प्रोक्तस्तनयेषु मया विधिः (व्य. १३३) इति चोक्तानुवादत्वाद्यथासंभव व्याख्यास्यते । क्षेत्रजस्तु मातृसमानजातीयः, नियोगस्मरणात्, शिष्टसमाचाराच्च । यथा धृतराष्ट्रपाण्डुविदुराः क्षेत्रजाः सन्तो मातृसमानजातीया इत्यलमतिप्रसङ्गेन । किञ्च अनिन्द्येषु ब्राह्मादिविवाहेषु पुत्राः सन्तानवर्धना अरोगिणो दीर्घायुषो धर्मप्रजासंपन्ना भवन्ति ॥ ९० ॥

भाषा—शुद्ध वर्ण के पुरुषों द्वारा सवर्णा स्त्रियों से उत्तम विवाह के उपरान्त उत्पन्न पुत्र सवर्ण अर्थात् माता पिता की शुद्ध जाति के होते हैं । और वे सन्तान की वृद्धि करते हैं ॥ ९० ॥

सवर्णानुक्त्वा इदानीमनुलोमानाह—

> विप्रान्मूर्धावसिक्तो हि क्षत्रियायां विशः स्त्रियाम् ।
> अम्बष्ठः शूद्र्यां निषादो जातः पारशवोऽपि वा ॥ ९१ ॥

---

१. वोढृभ्यः । २. सहोढादीनां । ३. अब्राह्मणत्वे । ४. इति वचन । ५. वसिष्ठो गोतम ।

ब्राह्मणात्क्षत्रियायां विन्नायामुत्पन्नो मूर्धावसिक्तो नाम पुत्रो भवति। वैश्यकन्यकायां [1]विन्नायामुत्पन्नोऽम्बष्ठो नाम भवति। [2]शूद्रायां विन्नायां निषादो नाम पुत्रो भवति। निषादो नाम कश्चिन्मत्स्यघातोपजीवी प्रतिलोमजः, स मा भूदिति पारशवोऽयं निषाद इति संज्ञाविकल्पः। 'विप्रात्' इति सर्वत्रानुवर्तते। यत्तु—'ब्राह्मणेन क्षत्रियायामुत्पादितः क्षत्रिय एव भवति, क्षत्रियेण वैश्यायामुत्पादितो वैश्य एव भवति। वैश्येन शूद्रायामुत्पादितः [3]शूद्र एव भवति' इति शङ्खस्मरणं तत्क्षत्रियादिधर्मप्राप्त्यर्थम्, न पुनर्मूर्धावसिक्तादिजातिनिराकरणार्थं, क्षत्रियादिजातिप्राप्त्यर्थं वा। अतश्च मूर्धावसिक्तादीनां क्षत्रियादेरुक्तैरेव दण्डाजिनोपवीतादिभिरुपनयनादिकं कार्यम्। प्रागुपनयनात्कामचारादि पूर्ववदेव वेदितव्यम् ॥ ९१ ॥

भाषा—ब्राह्मण द्वारा विवाहिता क्षत्रिया पत्नी से उत्पन्न पुत्र मूर्धावसिक्त कहलाता है और वैश्य जाति की पत्नी से उत्पन्न पुत्र अम्बष्ठ। शूद्रा पत्नी से (ब्राह्मण द्वारा) उत्पन्न पुत्र निषाद या पारशव कहलाता है ॥ ९१ ॥

वैश्याशूद्र्योस्तु राजन्यान्माहिष्योग्रौ सुतौ स्मृतौ।
वैश्यात्तु करणः शूद्र्यां विन्नास्वेष विधिः स्मृतः ॥ ९२ ॥

वैश्यायां शूद्रायां च विन्नायां राजन्यान्माहिष्योग्रौ यथाक्रमं पुत्रौ भवतः। वैश्येन शूद्रायां विन्नायां करणो नाम पुत्रो भवति। एष सवर्णमूर्धावसिक्तादिसंज्ञाविधिः विन्नासूढासु स्मृत उक्तो वेदितव्यः। एते च मूर्धावसिक्ताम्बष्ठनिषाद-माहिष्योग्र-करणाः षडनुलोमजाः पुत्रा वेदितव्याः ॥ ९२ ॥

भाषा—क्षत्रिय पुरुष द्वारा विवाहिता वैश्या और शूद्रा पत्नियों से उत्पन्न पुत्र क्रमशः माहिष्य और उग्र कहे जाते हैं। वैश्य शूद्रा पत्नी उत्पन्न पुत्र करण कहलाता है। विवाहित पत्नियों के संबन्ध में यही कहा गया है। (ये छः अनुलोमज पुत्र हैं) ॥ ९२ ॥

प्रतिलोमजानाह—

ब्राह्मण्यां क्षत्रियात्सूतो वैश्याद्वैदेहकस्तथा।
शूद्राज्जातस्तु चण्डालः सर्वधर्मबहिष्कृतः ॥ ९३ ॥

ब्राह्मण्यां क्षत्रियवैश्यशूद्रैरुत्पादिता यथाक्रमं सूत-वैदेहक[4]-चण्डालाख्याः पुत्रा भवन्ति। तत्र चण्डालः सर्वधर्मबहिष्कृतः ॥ ९३ ॥

---

१. विन्नायामम्बष्ठो। २. शूद्रायां निषादो। ३. शूद्र इति। ४. वैदेहिक।

भाषा—ब्राह्मणी स्त्री से क्षत्रिय द्वारा उत्पन्न पुत्र सूत, वैश्य द्वारा उत्पन्न पुत्र वैदेहक तथा शूद्र द्वारा उत्पन्न पुत्र चण्डाल कहलाता है, जो सभी धर्मों से बहिष्कृत होता है ॥ ९३ ॥

क्षत्रिया मागधं वैश्याच्छूद्रात्क्षत्तारमेव च।
शूद्रादायोगवं वैश्या जनयामास वै सुतम् ॥ ९४ ॥

किञ्च, क्षत्रिया योषित् वैश्यान्मागधं नाम पुत्रं जनयति। सैव शूद्रात्क्षत्तारं पुत्रं जनयति। वैश्ययोषिच्छूद्रादायोगवं पुत्रं जनयति। एते च सूत-वैदेहक-चण्डाल-मागध-क्षत्त्राऽयोगवाः षट् प्रतिलोमजाः। एतेषां च वृत्तय औशनसे मानवे च द्रष्टव्याः ॥ ९४ ॥

भाषा—क्षत्रिया स्त्री से वैश्य द्वारा उत्पन्न पुत्र मागध और शूद्र द्वारा उत्पन्न पुत्र क्षत्तार होता है। वैश्य जाति की स्त्री शूद्र से आयोगव नाम के पुत्र को जन्म देती है ॥ ९४ ॥

सङ्कीर्णसङ्करे जात्यन्तरमाह—

माहिष्येण करण्यां तु रथकारः प्रजायते।
असत्सन्तस्तु विज्ञेयाः प्रतिलोमानुलोमजाः ॥ ९५ ॥

क्षत्रियेण वैश्यायामुत्पादितो माहिष्यः। वैश्येन शूद्रायामुत्पादिता करणी तस्यां माहिष्येणोत्पादितो रथकारो नाम जात्या भवति। तस्य चोपनयनादि सर्वं कार्यम्, वचनात्। यथाह शङ्खः—'क्षत्रियवैश्यानुलोमान्तरोत्पन्नो[1] यो रथकारस्तस्येज्यादानोपनयनसंस्कारक्रिया अश्वप्रतिष्ठारथसूत्रवास्तुविद्याध्ययन-वृत्तिता च' इति। एवं ब्राह्मणक्षत्रियोत्पन्नमूर्धावसिक्तमाहिष्यादनुलोमसङ्करे जात्यन्तरता उपनयनादिप्राप्तिश्च वेदितव्या, तयोर्द्विजातित्वात्[2]। संज्ञास्तु स्मृत्यन्तरोक्ता द्रष्टव्याः। एतच्च प्रदर्शनमात्रमुक्तम्, सङ्कीर्णसङ्करजातानामानन्त्या-द्वक्तुमशक्यत्वात्। अत एतावदत्र विवक्षितं—असन्तः प्रतिलोमजाः, सन्तश्चानु-लोमजा ज्ञातव्या इति ॥ ९५ ॥

भाषा—(क्षत्रिय द्वारा वैश्या से उत्पन्न) माहिष्य पुरुष द्वारा (वैश्य पुरुष एवं विवाहिता शूद्रा पत्नी से उत्पन्न) करणी स्त्री से रथकार जन्म लेता है। इनमें अनुलोमज (श्रेष्ठ जाति के पुरुष द्वारा निम्न वर्ण की स्त्री से उत्पन्न) पुत्रों को उत्तम और प्रतिलोमज (श्रेष्ठ जाति की स्त्री और निम्न वर्ण के पुरुष से उत्पन्न) पुत्रों को निन्दित समझना चाहिए ॥ ९५ ॥

---

१. रोत्पन्नजो। २. द्विजत्वात्। ३. जातानां।

'सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्त' (९०) इत्यादिना वर्णप्राप्तौ कारणमुक्तम्, इदानीं कारणान्तरमाह—

जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः [1]सप्तमे पञ्चमेऽपि वा।
व्यत्यये कर्मणां साम्यं पूर्ववच्चाधरोत्तरम्॥ ९६॥

जातयो मूर्धावसिक्ताद्यास्तासामुत्कर्षो ब्राह्मणत्वादिजातिप्राप्तिर्जात्युत्कर्षो युगे जन्मनि सप्तमे पञ्चमे, 'अपि'शब्दात्षष्ठे वा बोद्धव्यः। व्यवस्थितश्चायं विकल्पः। व्यवस्था च—ब्राह्मणेन शूद्रायामुत्पादिता निषादी, सा ब्राह्मणेनोढा दुहितरं काञ्चिज्जनयति, सापि ब्राह्मणेनोढाऽन्यां जनयतीत्यनेन प्रकारेण षष्ठी सप्तमं ब्राह्मणं जनयति। ब्राह्मणेन वैश्यायामुत्पादिता अम्बष्ठा। साप्यनेन प्रकारेण पञ्चमी षष्ठं ब्राह्मणं जनयति। मूर्धावसिक्ताप्यनेन प्रकारेण चतुर्थी पञ्चमं ब्राह्मणमेव जनयति। एवमुग्रा क्षत्रियेणोढा माहिष्या च यथाक्रमं क्षत्रियं षष्ठं पञ्चमं जनयति। तथा करणी वैश्योढा पञ्चमं वैश्यमिति, एवमन्यत्राप्यूहनीयम्। किञ्च, कर्मणां व्यत्यये वृत्त्यर्थानां कर्मणां व्यत्यये विपर्यासे यथा ब्राह्मणो मुख्यया वृत्त्या अजीवन् क्षात्रेण कर्मणा जीवेदित्यनुकल्पः। तेनाप्यजीवन् वैश्यवृत्त्या तथाप्यजीवन् शूद्रवृत्त्या। क्षत्रियोऽपि स्वकर्मणा जीवनार्थेनाजीवन् वैश्यवृत्त्या शूद्रवृत्त्या वा। वैश्योऽपि स्ववृत्त्या अजीवन् शूद्रवृत्त्येति कर्मणां व्यत्ययः। तस्मिन्व्यत्यये सति यद्यापद्विमोक्षेऽपि तां वृत्तिं न परित्यजति तदा [4]सप्तमे षष्ठे पञ्चमे वा जन्मनि साम्यं, यस्य हीनवर्णस्य कर्मणा जीवति तत्समानजातित्वं भवति। तद्यथा ब्राह्मणः शूद्रवृत्त्या जीवंस्तामपरित्यजन् यदि पुत्रमुत्पादयति सोऽपि तयैव वृत्त्या जीवन्पु[5]त्रान्तरमित्येवं पुत्रपरम्परया सप्तमे जन्मनि शूद्रमेव जनयति। वैश्यवृत्त्या जीवन् षष्ठं वैश्यम्। क्षत्रियवृत्त्या जीवन् पञ्चमे क्षत्रियम्। क्षत्रियोऽपि शूद्रवृत्त्या जीवन् षष्ठे शूद्रम्। वैश्यवृत्त्या जीवन् पञ्चमे वैश्यम्। वैश्योऽपि शूद्रवृत्त्या जीवंस्तामपरित्यजन्पुत्रपरम्परया पञ्चमे जन्मनि शूद्रं जनयतीति। पूर्ववच्चाधरोत्तरम्। अस्यार्थः—वर्णसङ्करे अनुलोमजाः प्रतिलोमजाश्च दर्शिताः। सङ्कीर्णसङ्करजाताश्च रथकारनिदर्शनेन दर्शिताः। इदानीं व[6]र्णसङ्कीर्णसङ्करजाताः प्रदर्श्यन्ते—अधरे च उत्तरे च अधरोत्तरम्, यथा मूर्धावसिक्तायां क्षत्रियवैश्यशूद्रैरुत्पादितस्तथाम्बष्ठायां वैश्यशूद्राभ्यां निषाद्यां शूद्रेणोत्पादिता अधराः प्रतिलोमजास्तथा मूर्धावसिक्ताम्बष्ठानिषादीषु ब्राह्मणेनोत्पादिताः, माहिष्योग्रयोर्ब्राह्म-

---

१. पञ्चमे सप्तमेऽपि। २. सप्तमं। ३. ब्राह्मणवृत्त्या। ४. पञ्चमे षष्ठे सप्तमे। ५. पुनरप्येवं। ६. वर्णसङ्करजाता।

णेन क्षत्रियेण चोत्पादिताः, करण्यां ब्राह्मणेन क्षत्रियेण वैश्येन चोत्पादिताः उत्तरे अनुलोमजाः। एवमन्यत्राप्यूहनीयम्। एतदधरोत्तरं पूर्ववदसत्सदिति बोद्धव्यम् ॥ ९६ ॥

भाषा—मूर्धावसिक्त आदि जातियों का सातवें या पाँचवें जन्म में (अर्थात् किसी जाति की कन्या अपनी से बड़ी जाति के पुरुष के साथ ब्याही जाय, उससे उत्पन्न कन्या भी उससे बड़ी जाति में ब्याही जाय, इस प्रकार सातवीं पीढ़ी में) जाति का उत्कर्ष होता है। आपत्काल में दूसरी निम्न जाति का कर्म स्वीकार करने पर, आपत्काल समाप्त होने पर भी जो उस वृत्ति को नहीं छोड़ता उसकी जाति पाँचवीं या सातवीं पीढ़ी में वही हो जाती है (जिसका वह कर्म करता वहीं होता है) इन वर्ण संकरों में निम्न प्रतिलोमज होते हैं और उत्तम अनुलोमज ॥ ९६ ॥

इति वर्णजातिविवेकप्रकरणम्।

गृहस्थधर्मप्रकरणम्

श्रौतस्मार्तानि कर्माणि अग्निसाध्यानि दर्शयिष्यन् कस्मिन्नग्नौ किं कर्तव्यमित्याह—

कर्म स्मार्तं विवाहाग्नौ कुर्वीतप्रत्यहं गृही।
दायकालाहृते वापि श्रौतं वैतानिकाग्निषु ॥ ९७ ॥

स्मृत्युक्तं वैश्वदेवादिकं कर्म, लौकिकं च यत्प्रतिदिनं पाकलक्षणं तदपि, गृहस्थो विवाहाग्नौ विवाहसंस्कृते कुर्वीत। दायकाले विभागकाल आहृते[1] वा 'वैश्यकुलादग्निमानीय' इत्यादिनोक्तसंस्कारसंस्कृते। 'अपि' शब्दात्प्रेते वा गृहपतावाहृते संस्कृते एव। ततश्च कालत्रयातिक्रमे[2] प्रायश्चित्तीयते। श्रुत्युक्तमग्निहोत्रादिकं कर्म वैतानिकाग्निषु आहवनीयादिषु कुर्वीत ॥ ९७ ॥

भाषा—गृहस्थ प्रतिदिन (बलिवैश्वदेव आदि) स्मार्त कर्म विवाहाग्नि में या विभाजन के समय आहित अग्नि में करे तथा (अग्निहोत्र आदि) श्रौत कर्म आहवनीय आदि अग्नि में करे ॥ ९७ ॥

गृहस्थधर्मानाह—

शरीरचिन्तां निर्वर्त्य कृतशौचविधिर्द्विजः।
प्रातःसंध्यामुपासीत दन्तधावनपूर्वकम् ॥ ९८ ॥

---

१. अहृत आहितः। २. तिक्रमेण प्राय।

शरीरचिन्तामावश्यकादिकां[1] 'दिवासन्ध्यास्तु कर्णस्थब्रह्मसूत्र उदङ्मुखः' इत्याद्युक्तविधिना निर्वर्त्य 'गन्धलेपक्षयकरम्' (आचार. २।१७) इत्यादिनोक्तेन विधिना कृतशौचविधिर्द्विजः दन्तधावनपूर्वकं प्रातःसन्ध्यामुपासीत। दन्तधावनविधिश्च—'कण्टकिक्षीरवृक्षोत्थं द्वादशाङ्गुलसम्मितम्। कनिष्ठिकाग्रवत्स्थूलं पर्वार्धकृतकूर्चकम्॥ दन्तधावनमुद्दिष्टं जिह्वोल्लेखनिका तथा॥' (आचार. १६) इति। अत्र 'वृक्षोत्थम्' इत्यनेन तृणलोष्टाङ्गुल्यादिनिषेधः। पलाशाश्वत्थादिनिषेधश्च स्मृत्यन्तरोक्तो द्रष्टव्यः। दन्तधावनमन्त्रश्च—'आयुर्बलं यशो वर्चः प्रजाः पशुवसूनि च। ब्रह्म प्रज्ञां च मेधां च त्वं नो धेहि[2] वनस्पते॥' इति। ब्रह्मचारिप्रकरणोक्तस्यापि सन्ध्यावन्दनस्य पुनर्वचनं दन्तधावनपूर्वकत्वप्रतिपादनार्थम्, 'दन्तधावननृत्यगीतादि ब्रह्मचारी वर्जयेत्' इति तन्निषेधात्॥ ९८॥

भाषा—द्विज मलमूत्रोत्सर्ग से निवृत्त होकर, शौच करके एवं दातौन करने के बाद प्रातःसन्ध्या की उपासना करे॥ ९८॥

हुत्वाग्नीन्सूर्यदैवत्यान्जपेन्मन्त्रान्समाहितः।
वेदार्थानधिगच्छेच्च शास्त्राणि विविधानि च॥ ९९॥

प्रातःसन्ध्यावन्दनानन्तरं अग्नीनाहवनीयादीन् यथोक्तेन विधिना हुत्वा औपासनाग्निं वा। तदनन्तरं सूर्यदैवत्यान् 'उदुत्यं जातवेदसम्' (ऋ. १।४।७।८) इत्यादीन्मन्त्रान्जपेत्। समाहितोऽविक्षिप्तचित्तः। तदनन्तरं वेदार्थान्निरुक्तव्याकरणा[3]दिश्रवणेनाधिगच्छेज्जानीयात्। चकारादधीतं चाभ्यसेत्। विविधानि च शास्त्राणि मीमांसाप्रभृतीनि धर्मार्थारोग्यप्रतिपादकान्यधिगच्छेत्॥ ९९॥

भाषा—इसके अनन्तर (आहवनीय आदि अग्नियों में) अग्निहोत्र कर्म करके ध्यान लगाकर सूर्य देवता के ('उदुत्यं जातवेदसम्' आदि) मन्त्र का जप करे। इसके बाद वेद के अर्थ को तथा विविध शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करे॥ ९९॥

उपेयादीश्वरं चैव योगक्षेमार्थसिद्धये।
स्नात्वा देवान्पितॄंश्चैव तर्पयेदर्चयेत्तथा॥ १००॥

तदनन्तरमीश्वरमभिषेकादिगुणयुक्तमन्यं वा श्रीमन्तमकुत्सितं योगक्षेमार्थसिद्धये। अलब्धलाभो योगः, लब्धपरिपालनं क्षेमः,[4] तदर्थमुपेयादुपासीत। 'उपेयात्' इत्यनेन सेवां प्रतिषेधति। 'वेतन'ग्रहणेनाज्ञाकरणं सेवा; तस्याः

---

१. आवश्यकां दिवा। २. नो देहि। ३. करणादींश्च श्रवणेनाधि। ४. क्षेमस्तदर्थं।

श्ववृत्तित्वेन निषेधात्, (सेवा[1] श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत्' इति मनुस्मरणात्)। ततो मध्याह्ने शास्त्रोक्तविधिना नद्यादिषु स्नात्वा देवान् स्वगृह्योक्तान् पितॄंश्च, चकारादृषींश्च, देवादितीर्थेन तर्पयेत्। तदनन्तरं गन्धपुष्पाक्षतैः हरिहरहिरण्यगर्भप्रभृतीनामन्यतमं यथावासनमृग्यजुःसाममन्त्रैस्तत्प्रकाशकैः स्वनामभिर्वा चतुर्थ्यन्तैर्नमस्कारयुक्तैराराधयेद्यथोक्तविधिना ॥ १०० ॥

भाषा—योग (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति) एवं क्षेम (उपलब्ध वस्तु की रक्षा) के लिये राजा या स्वामी के पास जावे। (मध्याह्न को) स्नान करके देवताओं एवं पितरों का तर्पण करे और उनकी पूजा करे ॥ १०० ॥

वेदाथर्वपुराणानि सेतिहासानि शक्तितः।
जपयज्ञप्रसिद्ध्यर्थं विद्यां चाध्यात्मिकीं जपेत् ॥ १०१ ॥

तदनन्तरं वेदाथर्वेतिहासपुराणानि समस्तानि व्यस्तानि वा आध्यात्मिकीं च विद्यां जपयज्ञसिद्ध्यर्थं यथोक्तेन विधिना यथाशक्ति जपेत् ॥ १०१ ॥

भाषा—जपयज्ञ की सिद्धि के लिए वेद, अथर्व मन्त्रों, पुराणों एवं इतिहासों का यथाशक्ति जप करे ॥ १०१ ॥

बलिकर्मस्वधाहोमस्वाध्यायातिथिसत्क्रियाः।
भूतपित्रमरब्रह्ममनुष्याणां महामखाः ॥ १०२ ॥

बलिकर्म भूतयज्ञः, स्वधा पितृयज्ञः, होमो देवयज्ञः, स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञः, अतिथिसत्क्रिया मनुष्ययज्ञः। एते पञ्च महायज्ञा अहरहः कर्तव्याः, नित्यत्वात्। यत्पुनरेषां फलश्रवणं तदेषां पावनत्वख्यापनार्थं, न काम्यत्वप्रतिपादनाय ॥ १०२ ॥

भाषा—बलिवैश्वदेव आदि भूत यज्ञ, स्वधा (तर्पण एवं श्राद्ध) पितृयज्ञ होम देवयज्ञ, धर्मग्रंथों का अध्ययन ब्रह्मयज्ञ और अतिथियों का सत्कार मनुष्ययज्ञ होता है ये ही महायज्ञ हैं ॥ १०२ ॥

देवेभ्यश्च हुतादन्नाच्छेषाद्भूतबलिं हरेत्।
अन्नं भूमौ श्वचाण्डालवायसेभ्यश्च निक्षिपेत् ॥ १०३ ॥

स्वगृह्योक्तविधिना वैश्वदेव[3] होमं कृत्वा तदवशिष्टेनान्नेन भूतेभ्यो बलिं हरेत्। 'अन्न' ग्रहणमपक्वव्युदासार्थम्। तदनन्तरं यथाशक्ति भूमावन्नं श्वचाण्डालवायसेभ्यो निक्षिपेत्। च शब्दात्कृमिपापरोगिपतितेभ्यः। यथाह मनुः (३।९२)—'शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्। वायसानां कृमीणां

१. सेवेत्याद्यधिकं। २. थर्वपुराणेतिहासादीनि कृत्वा। ३. वैश्वदेवं कृत्वा।

च शनकैर्निक्षिपेद्भुवि ॥' इति। एतच्च सायंप्रातः कर्तव्यम्। 'अथ सायंप्रातः सिद्धस्य हविष्यस्य जुहुयात्' (१।२।१) इत्याश्वलायनस्मरणात्। इह केचिद्वैश्वदेवाख्यस्य कर्मणः पुरुषार्थत्वमन्नसंस्कारकर्मत्वं चेच्छन्ति—'अथ सायंप्रातः सिद्धस्य हविष्यस्य जुहुयात्' इत्यन्नसंस्कारकर्मकता प्रतीयते। 'अथातः पञ्च यज्ञाः' (गृ. सू. ३।१।१) इत्युपराक्रम्य 'तानेतान्यज्ञानहरहः कुर्वीत' (३।१।४) इति नित्यत्वाभिधानात्पुरुषार्थत्वं चावगम्यते' इति,—तदयुक्तम्, पुरुषार्थत्वेऽन्नसंस्कारकर्मत्वानुपपत्तेः। तथा हि—द्रव्यसंस्कारकर्मत्वपक्षेऽन्नार्थता वैश्वदेवकर्मणः, पुरुषार्थत्वे वैश्वदेवकर्मार्थता द्रव्यस्येति परस्परविरोधात्पुरुषार्थत्वमेव युक्तम्।—'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः' इति। तथा—'वैश्वदेवे तु निवृत्ते यद्यन्योऽतिथिराव्रजेत्। तस्मा अन्नं यथाशक्ति प्रदद्यान्न बलिं हरेत्॥' इति (३।१०८) मनुस्मरणात्। पुरुषार्थत्वे वैश्वदेवाख्यं कर्म न प्रतिपाकमावर्तनीयम्। तस्मात् 'अथ सायंप्रातः' इत्यादिनोत्पत्तिप्रयोगौ दर्शितौ, 'तानेतान्यज्ञानहरहः कुर्वीत' (गृ. सू. अ. ३ खं. १) इत्यधिकारविधिरिति सर्वमानवद्यम् ॥ १०३ ॥

भाषा—देवताओं के लिए (वैश्वदेव) होम करने के उपरान्त अवशिष्ट अन्न से भूतों के लिये बलि दे। कुत्ता, चाण्डाल और कौओं के लिये (यथाशक्ति) पृथ्वी पर अन्न फेंकना चाहिए ॥ १०३ ॥

अन्नं पितृमनुष्येभ्यो देयमप्यन्वहं जलम्।
स्वाध्यायं सततं कुर्यान्न पचेदन्नमात्मने ॥ १०४ ॥

प्रत्यहमन्नं पितृभ्यो मनुष्येभ्यश्च यथाशक्ति देयम्। अन्नाभावे कन्दमूलफलादि, तस्याप्यभावे जलं देयम्, 'अपि' शब्दात्। स्वाध्यायं सततं कुर्यादविस्मरणार्थम्। न पचेदन्नमात्मने इति 'अन्न' ग्रहणं सकलादनीयद्रव्यप्रदेशनार्थम्। कथं तर्हि ? देवताद्युद्देशेनैव ॥ १०४ ॥

भाषा—प्रतिदिन पितरों और मनुष्यों को भी अन्न दे (अन्न के अभाव में) जल दे। सतत स्वाध्याय करे। केवल अपने लिए ही भोजन न बनावे ॥ १०४ ॥

बालस्ववासिनीवृद्धगर्भिण्यातुरकन्यकाः।
संभोज्यातिथिभृत्यांश्च दम्पत्योः शेषभोजनम् ॥ १०५ ॥

परिणीता पितृगृहे स्थिता स्ववासिनी। शेषाः प्रसिद्धाः। बालादीनतिथिभृत्यांश्च संभोज्य भोजयित्वा दम्पत्योः शेषभोजनं कर्तव्यम्। [3]प्राणाग्निहोत्रविधि-

---

१. एतेन काम्यत्वमपि प्रतिपादितं भवति। २. चान्वहं कुर्यात्।
३. प्राणेत्याद्यधिकं।

नाश्नीयाद्ब्राह्मणोऽन्नमनापदि । मतं विपक्वं विहितं भक्षणं प्रीतिपूर्वकम्' ॥ १०५ ॥

भाषा—बालक, (पिता के घर में रहने वाली) विवाहिता स्त्री, वृद्ध, गर्भवती, रोगी, कन्या, अतिथि और सेवकों के भोजन कराने के बाद शेष भोजन पति-पत्नी ग्रहण करें ॥ १०५ ॥

आपोशनेनोपरिष्टादधस्तादश्नता तथा ।
अनग्नममृतं चैव कार्यमन्नं द्विजन्मना ॥ १०६ ॥

भुञ्जानेन द्विजन्मना उपरिष्टादधस्ताच्चापोशनाख्येन कर्मणान्नमनग्नममृतं च कार्यम् । 'द्विजन्म' ग्रहणमुपनयनप्रभृतिसर्वाश्रमसाधारण्यार्थम् ॥ १०६ ॥

भाषा—भोजन करते समय द्विज को ऊपर और नीचे आपोशन (मन्त्र पढ़कर आचमन) करके अन्न को अनग्न और अमृत करना चाहिए ॥ १०६ ॥

अतिथित्वेन वर्णानां देयं शक्त्यानुपूर्वशः ।
अप्रणोद्योऽतिथिः सायमपि वाग्भूतृणोदकैः ॥ १०७ ॥

वैश्वदेवानन्तरं वर्णानां ब्राह्मणादीनामतिथित्वेन युगपत्प्राप्तानां ब्राह्मणाद्यानुपूर्व्येण यथाशक्ति देयम् । सायंकालेऽपि यद्यतिथिरागच्छति तदाऽसावप्रणोद्योऽप्रत्याख्येय एव । यद्यप्यदनीयं किमपि नास्ति, तथापि वाग्भूतृणोदकैरपि सत्कारं कुर्यात् । यथाह[1] मनुः (४।१०१)—'तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता । एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥' इति १०७ ॥

भाषा—यदि ब्राह्मणादि कई वर्णों के अतिथि हों तो वर्ण क्रम से यथा शक्ति भोजन देना चाहिए । यदि सायंकाल भी अतिथि आ जाय तो उसे निराश नहीं करना चाहिए अपितु मधुर वचन, भूमि, तृण और जल से उसका सत्कार करना चाहिए ॥ १०७ ॥

सत्कृत्य भिक्षवे भिक्षा दातव्या सुव्रताय[2] च ।
भोजयेच्चागतान्काले सखिसंबन्धिबान्धवान् ॥ १०८ ॥

भिक्षवे सामान्ये भिक्षा दातव्या । सुव्रताय ब्रह्मचारिणे यतये च सत्कृत्य स्वस्तिवाच्य 'भिक्षादानमप्पूर्वम् (गौतम.)' इत्यनेन विधिना भिक्षा दातव्या । भिक्षा च ग्राससंमिता । ग्रासश्च मयूराण्डपरिमाणः, 'ग्रासमात्रा भवेद्भिक्षा पुष्कलं तच्चतुर्गुणम् । हंतस्तु तैश्चतुर्भिः स्यादग्रं तत्त्रिगुणं भवेत् ॥' इति शातातपस्मरणात् । भोजनकाले चागतान्सखिसंबन्धिबान्धवान् भोजयेत् । सखायो

---

१. यथाहेत्यादि मनुवचनं, नैवास्ति । २. सुव्रताय ।

मित्राणि, सम्बन्धिनो येभ्यः कन्या गृहीता दत्ता वा, मातृपितृसम्बन्धिनो[1] बान्धवाः ॥ १०८ ॥

भाषा—भिखारी को और ब्रह्मचारी को सत्कारपूर्वक भिक्षा देनी चाहिए। (भोजन के) समय पर आये हुए मित्र, संबन्धी और बान्धव को भोजन करावे ॥ १०८ ॥

महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्।
सत्क्रियाऽन्वासनं स्वादु भोजनं सूनृतं वचः ॥ १०९ ॥

महान्तमुक्षाणं धौरेयं महाजं वा श्रोत्रियायोक्तलक्षणायोपकल्पयेत् 'भवदर्थमयमस्माभिः परिकल्पितः' इति। तत्प्रीत्यर्थं, नतु दानाय व्यापादनाय वा, यथा सर्वमेतद्भवदीयमिति, प्रतिश्रोत्रियमुक्षासम्भवात्, अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्म्यमप्याचरेन्नतु' (आ. १५६) इति निषेधाच्च। तस्मात्सत्क्रियैव[2] कर्तव्यम्। सत्क्रिया स्वागतवचनासनपाद्यार्घ्याचमनादिदानम्। तस्मिन्नुपविष्टे पश्चादुपवेशनमन्वासनम्, स्वादु भोजनं मिष्टमन्नम्, सूनृत वचः 'धन्या वयमद्य भवदागमनात्' इत्येवमादि। अश्रोत्रिये पुनः 'अश्रोत्रियस्योदकासने' (५।३१) इति गौतमोक्तं वेदितव्यम् ॥ १०९ ॥

भाषा—श्रोत्रिय (वेदपाठी) अतिथि के लिए बड़ा बैल या बड़ा बकरा उसके सम्मुख प्रस्तुत करे। (उसके उपरान्त) उसका (पाद्यार्घ्य, आचमन आसन आदि से) स्वागत करे; (उसके बैठने पर) निकट बैठे, मधुर भोजन करावे और प्रिय वचन बोले ॥ १०९ ॥

प्रतिसंवत्सरं त्वर्घ्याः स्नातकाचार्यपार्थिवाः।
प्रियो विवाह्यश्च तथा यज्ञं प्रत्यृत्विजः पुनः ॥ ११० ॥

स्नातको विद्यास्नातकः, व्रतस्नातकः, विद्याव्रतस्नातकः इति। समाप्य वेदमसमाप्य व्रतं यः समावर्तते स विद्यास्नातकः, समाप्य व्रतमसमाप्य वेदं यः समावर्तते स व्रतस्नातकः, उभयं समाप्य यः समावर्तते स विद्याव्रतस्नातकः। आचार्य उक्तलक्षणः, पार्थिवो वक्ष्यमाणलक्षणः, प्रियो मित्रम्, विवाह्यो जामाता। चकाराच्छ्वशुरपितृव्यमातुलानां ग्रहणम्। 'ऋत्विजो वृत्वा मधुपर्कमाहरेत्स्नातकायोपस्थिताय राज्ञे चाचार्यश्वशुरपितृव्यमातुलादीनां च' इत्याश्वलायन (गृ. सू. अ. १. खं. ४) स्मरणात्। एते स्नातकादयः प्रतिसंवत्सरं गृहमागता अर्घ्याः मधुपर्केण पूज्या वन्दितव्याः। 'अर्घ' शब्दो मधुपर्कं लक्षयति। ऋत्विजश्चोक्तलक्षणाः संवत्सरादर्वागपि प्रतियज्ञं मधुपर्केण संपूज्याः ॥ ११० ॥

---

१. संबद्धा बान्धवाः। २. यथैव कर्तव्यं।

भाषा—स्नातक, आचार्य, राजा, प्रिय मित्र और दामाद का प्रतिवर्ष (अपने घर बुलाकर) अर्घ्य (मधुपर्क) द्वारा सत्कार करे तथा ऋत्विज की प्रत्येक यज्ञ के समय मधुपर्क से पूजा करे ॥ ११० ॥

अध्वनीनोऽतिथिर्ज्ञेयः श्रोत्रियो वेदपारगः ।
मान्यावेतौ गृहस्थस्य ब्रह्मलोकमभीप्सतः ॥ १११ ॥

अध्वनि वर्तमानोऽतिथिर्वेदितव्यः । श्रोत्रियवेदपारगावध्वनि वर्तमानौ ब्रह्मलोकमभीप्सतो गृहस्थस्य मान्यावतिथी वेदितव्यौ । यद्यप्यध्ययनमात्रेण श्रोत्रियस्तथापि श्रुताध्ययनसम्पन्नोऽत्र श्रोत्रियोऽभिधीयते । एकशाखाध्यापनक्षमो[1] वेदपारगः ॥ १११ ॥

भाषा—पथिक को अतिथि समझना चाहिए । श्रोत्रिय (अर्थात् वेदपाठी) और वेद का पंडित (यदि पथिक हों तो) ब्रह्मलोक प्राप्ति की कामना रखने वाले गृहस्थ के लिये ये दोनों मान्य अतिथि होते हैं ॥ १११ ॥

परपाकरुचिर्न स्यादनिन्द्यामन्त्रणादृते ।
वाक्पाणिपादचापल्यं वर्जयेच्चातिभोजनम् ॥ ११२ ॥

परपाके रुचिर्यस्यासौ स परपाकरुचिः, नैव परपाकरुचिः स्यात् । अनिन्द्येनामन्त्रणं विना; 'अनिन्द्येनामन्त्रितो नापक्रामेत्' (कात्यायन) इति स्मरणात् । वाक्पाणिपादचापल्यं—वाक्च पाणी च पादौ च वाक्पाणिपादं तस्य चापल्यं, वर्जयेत् । वाक्चापल्यमसभ्यानृतादिभाषणम्, पाणिचापल्यं वेल्गनास्फोटनादि[2], पादचापल्यं लङ्घनोत्प्लवनादि । चकारान्नेत्रादिचापल्यं च वर्जयेत्, 'न शिश्नोदरपाणिपादचक्षुर्वाक्चापलानि कुर्यात्' (९।५०) इति गौतमस्मरणात् तथा अतिभोजनं च वर्जयेत् ; अनारोग्यादिहेतुत्वात् ॥ ११२ ॥

भाषा—श्रेष्ठ व्यक्ति के निमन्त्रण के बिना दूसरे के भोजन की इच्छा न करे । (भोजन के समय) वाणी, हाथ और पैर की चपलता न करे और आवश्यकता से अधिक भोजन न करे ॥ ११२ ॥

अतिथिं श्रोत्रियं तृप्तमासीमान्तमनुव्रजेत् ।
अहःशेषं सहासीत शिष्टैरिष्टैश्च बन्धुभिः ॥ ११३ ॥

पूर्वोक्तं श्रोत्रियातिथिं वेदपारगातिथिं च भोजनादिना तृप्तं सीमान्तं यावदनुव्रजेत् । ततो भोजनानन्तरमहःशेषं शिष्टैरितिहासपुराणादिवेदिभिः, इष्टैः काव्यकथाप्रपञ्चचतुरैः बन्धुभिश्चानुकूलालापकुशलैः सहासीत ॥ ११३ ॥

---

1. अध्ययनक्षमो । 2. कल्याण ।

भाषा—श्रोत्रिय (वेदपाठी एवं वेद के पण्डित) अतिथि को (भोजन द्वारा) तृप्त करके (गांव की) सीमा तक पहुँचावे। (भोजन के बाद) दिन का शेष समय सभ्य जनों एवं इष्ट (काव्यकथा में चतुर) बन्धुओं के साथ बैठकर बितावे ॥ ११३ ॥

उपास्य पश्चिमां संध्यां हुत्वाग्नींस्तानुपास्य च।
भृत्यैः परिवृतो भुक्त्वा नातितृप्तथाथ संविशेत् ॥ ११४ ॥

ततः पूर्वोक्तेन विधिना पश्चिमां सन्ध्यामुपास्य, आहवनीयादीनग्नीनग्निं वा हुत्वा तानुपास्योपस्थाय भृत्यैः पूर्वोक्तैः स्ववासिन्यादिभिः परिवृतो नातितृप्त्या भुक्त्वा, चकारात् आय-व्ययादिगृहचिन्तां निर्वर्त्यानन्तरं संविशेत्स्वप्यात् ॥ ११४ ॥

भाषा—(तब पूर्वोक्त विधि से) सायंकालीन संध्योपासना करके (आहवनीय आदि) अग्नियों में हवन करके उन अग्नियों की उपासना करे; तब भृत्यों के साथ भोजन करे किन्तु तृप्ति से अधिक भोजन न करे और तदुपरान्त शयन करे ॥ ११४ ॥

ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय चिन्तयेदात्मनो हितम्।
धर्मार्थकामान्स्वे काले यथाशक्ति न हापयेत् ॥ ११५ ॥

ततो ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय पश्चिमेऽर्धप्रहरे प्रबुद्ध्यात्मनो हितं कृतं करिष्यमाणं च, वेदार्थसंशयांश्च चिन्तयेत् तदानीं चित्तस्याव्याकुलत्वेन तत्त्वप्रतिभान-योग्यत्वात्। ततो धर्मार्थकामान्स्वोचितकाले यथाशक्ति न परित्यजेत्। यथासम्भवं सेवेतेत्यर्थः, पुरुषार्थत्वात्। यथाह गौतमः (९।४६-४७)—'न पूर्वाह्णमध्याह्नापराह्णानफलान्कुर्यात् धर्मार्थकामेभ्यः', 'तेषु धर्मोत्तरः स्यात् इति। अत्र यद्यप्येतेषां सामान्येन सेवनमुक्तं, तथापि कामार्थयोर्धर्माविरोधेनानुष्ठानं तयोर्धर्ममूलत्वात्। एवं प्रतिदिनमनुष्ठेयम् ॥ ११५ ॥

भाषा—ब्राह्म मुहूर्त में उठकर अपने (किए गए एवं किये जाने वाले) हित का विचार करे। धर्म, अर्थ और काम को उनके उचित समय पर यथाशक्ति परित्याग न करे (अपितु उनका सेवन करे) ॥ ११५ ॥

विद्याकर्मवयोबन्धुवित्तैर्मान्या यथाक्रमम्।
एतैः प्रभूतैः शूद्रोऽपि वार्धके मानमर्हति ॥ ११६ ॥

विद्या पूर्वोक्ता, कर्म श्रौतं स्मार्तं च, वयः आत्मनोऽतिरिक्तं सहस्या वा ऊर्ध्वं, [४]बन्धुः स्वजनसम्पत्तिः, वित्तं ग्रामरत्नादिकम्, एतैर्युक्ताः क्रमेण मान्याः

---

१. नातितृप्त्याथ। २. अग्निसमिन्द्वा। ३. प्रतिभासन।
४. बन्धुर्बहुस्वजन। ५. पक्वशरीरः।

पूजनीयाः । एतैर्विद्याकर्मबन्धुवित्तैः प्रभूतैः प्रवृद्धैः समस्तैर्व्यस्तैर्वा युक्तः शूद्रोऽपि वार्धके अशीतेरूर्ध्वं मानमर्हति, 'शूद्रोऽप्यशीतिको वरः' (६।७) इति गौतमस्मरणात् ॥ ११६ ॥

भाषा—विद्या, कर्म, आयु, बन्धुओं और धन से युक्त मनुष्य क्रमानुसार माननीय होते हैं। इन सबसे (या किसी एक से) बड़ा होने पर वृद्धावस्था में शूद्र भी आदरणीय होता है ॥ ११६ ॥

वृद्धभारिनृपस्नातस्त्रीरोगिवरचक्रिणाम् ।
पन्था देयो नृपस्तेषां मान्यः [1]स्नातश्च भूपतेः ॥ ११७ ॥

वृद्धः पक्वकेशः प्रसिद्धः, भारी भाराक्रान्तः, नृपो [2]भूपतिः न क्षत्रियमात्रम्, स्नातो विद्याव्रतोभयस्नातकः, स्त्री प्रसिद्धा, रोगी व्याधितः, वरो विवाहोद्यतः, चक्री शाकटिकः। चकारान्मत्तोन्मत्तादीनां ग्रहणम्, 'बालवृद्धमत्तोन्मत्तोपहतदेहभाराक्रान्तस्त्रीस्नातकप्रव्रजितेभ्यः' इति शङ्खस्मरणात्। एभ्यः पन्था देयः। एतेष्व[3]भिमुखायातेषु स्वयं पथोऽपक्रामेत्। वृद्धादीनां राज्ञा सह पथि समवाये राजा मान्य इति तस्मै पन्था देयः। भूपतेरपि स्नातको मान्यः, 'स्नातक'ग्रहणं स्नातकमात्रप्राप्त्यर्थं, न ब्राह्मणाभिप्रायेण; तस्य सदैव गुरुत्वात्। यथाह शङ्खः— 'अथ ब्राह्मणायाग्रे पन्था देयो राज्ञ इत्येके। तच्चानिष्टं गुरुर्ज्येष्ठश्च ब्राह्मणो राजानमतिशेते तस्मै पन्था' इति। वृद्धादीनां परस्परं पथि समवाये वृद्धेतराद्यपेक्षया विद्यादिभिर्वा विशेषो द्रष्टव्यः ॥ ११७ ॥

भाषा—वृद्ध, बोझा ढोने वाले, राजा, स्नातक (ब्रह्मचारी), स्त्री, रोगी, वर और चक्री (कुम्हार) के लिये मार्ग छोड़ देना चाहिए। इन सब में राजा सर्वाधिक मान्य होता है और स्नातक राजा के लिये भी पूज्य होता है ॥ ११७ ॥

इज्याध्ययनदानानि वैश्यस्य क्षत्रियस्य च ।
प्रतिग्रहोऽधिको विप्रे याजनाध्यापने तथा ॥ ११८ ॥

वैश्यस्य क्षत्रियस्य च; चकाराद् ब्राह्मणस्य द्विजानुलोमानां च, यागाध्ययनदानानि साधारणानि कर्माणि, ब्राह्मणस्याधिकानि प्रतिग्र[4]हयाजनाध्यापनानि। तथेति । स्मृत्यन्तरोक्तवृत्त्युपसंग्रहः । यथाह गौतमः (१०।५–६)— 'कृषिवाणिज्ये वा स्वयं कृते' 'कुसीदं च' इति। अध्यापनं तु क्षत्रियवैश्ययोर्ब्राह्मणप्रेरितयोर्भवति, न स्वेच्छया; 'आपत्काले ब्राह्मणस्याब्राह्मणाद्विद्योपयोगः,

1. स्नातस्तु । 2. नृपो राजा न । 3. ष्वाभिमुख्यागतेषु
4. याजनप्रतिग्रहाः ।

अनुगमनं शुश्रूषा, समासे ब्राह्मणो गुरुः' (७।१, २।३) इति गौतमस्मरणात्। एतान्यनापदि ब्राह्मणस्य षट् कर्माणि। तत्र त्रीणीज्यादीनि धर्मार्थानि, त्रीणि प्रतिग्रहादीनि वृत्त्यर्थानि, 'षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका। याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः॥' इति (१०।७६) मनुस्मरणात्। अत इज्यादीन्यवश्यं कर्तव्यानि न प्रतिग्रहादीनि, 'द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानं, 'ब्राह्मणस्याधिकाः प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाः', 'पूर्वेषु नियमः' (१०।१-३) इति गौतमस्मरणात्॥ ११८॥

भाषा—यज्ञ करना, (वेदादि का) अध्ययन और दान—ये कर्म क्षत्रिय और वैश्य को करने होते हैं। ब्राह्मण के लिये दान लेना, यज्ञ कराना और अध्यापन ये कर्म (क्षत्रिय और वैश्य से) अधिक होते हैं॥ ११८॥

प्रधानं क्षत्रिये कर्म प्रजानां परिपालनम्।
कुसीदकृषिवाणिज्यपाशुपाल्यं विशः स्मृतम्॥ ११९॥

क्षत्रियस्य प्रजापालनं प्रधानं कर्म धर्मार्थं वृत्त्यर्थं च। वैश्यस्य कुसीदकृषिवाणिज्यपशुपालनानि वृत्त्यर्थानि कर्माणि। कुसीदं वृद्ध्यर्थं द्रव्यप्रयोगः, लाभार्थं क्रयविक्रयौ वाणिज्यम्। शेषं प्रसिद्धम्; 'शस्त्रास्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्य वणिक्पशुकृषी विशः। आजीवनार्थं धर्मस्तु दानमध्ययनं यजिः॥' इति (१०।७९) मनुस्मरणात्॥ ११९॥

भाषा—प्रजा का पालन करना क्षत्रिय का प्रधान कर्म है। वैश्य के लिये ब्याज लेना, कृषि, वाणिज्य और पशु-पालन (वृत्यर्थक) कर्म बताए गये हैं॥ ११९॥

शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा तयाऽजीवन्वणिग्भवेत्।
शिल्पैर्वा विविधैर्जीवेद् द्विजातिहितमाचरन्[1]॥ १२०॥

शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा प्रधानं कर्म धर्मार्थं वृत्त्यर्थं च। तत्र ब्राह्मणशुश्रूषा परमो धर्मः, 'विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यते' (१०।१२३) इति मनुस्मरणात्। यदा पुनर्द्विजशुश्रूषया जीवितुं न शक्नोति तदा वणिग्वृत्त्या जीवेत्। नानाविधैर्वा शिल्पैर्द्विजातीनां हितं कुर्वन्। यादृशैः कर्मभिर्द्विजातिशुश्रूषाक्षमयोग्यो न भवति तादृशानि कर्माणि कुर्वन्नित्यर्थः। तानि च देवलोक्तानि—शूद्रधर्मो द्विजातिशुश्रूषा पापवर्जनं कलत्रादिपोषणकर्षणपशुपालनभारोद्वहनपण्यव्यवहारचित्रकर्मनृत्यगीतवेणुवीणामुरजमृदङ्गवादनादीनि'॥ १२०॥

---

1. हितमाचरेत्।

भाषा—शूद्र के लिये द्विजातियों की सेवा प्रधान कर्म है; उससे जीविका न चलने पर वणिग्वृत्ति का आश्रय ले अथवा द्विजातियों के अनुकूल आचरण करते हुए अनेक प्रकार के शिल्पों द्वारा जीवन निर्वाह करे ॥ १२० ॥

भार्यारतिः शुचिर्भृत्यभर्ता श्राद्धक्रियारतः[1] ।
नमस्कारेण मन्त्रेण पञ्चयज्ञान्न हापयेत् ॥ १२१ ॥

किञ्च, भार्यायामेव न साधारणस्त्रीषु परस्त्रीषु वा रतिरभिगमनं यस्य स तथोक्तः। शुचिः बाह्याभ्यन्तरशौचयुक्तः द्विजवत्, भृत्यादेर्भर्ता, श्राद्धक्रियारतः, श्राद्धानि नित्यनैमित्तिककाम्यानि, क्रियाः स्नातकव्रतान्यविरुद्धानि, तेषु रतः। 'नम' इत्यनेन मन्त्रेण पूर्वोक्तान्पञ्चमहायज्ञानहरहर्न हापयेदनुतिष्ठेत्। नमस्कार-मन्त्रं च केचित्—'देवताभ्यः पितृभ्यश्च महायोगिभ्य एव च। नमः स्वाहायै स्वधायै नित्यमेव नमो नमः ॥' इति वर्णयन्ति। 'नमः' इत्यन्ये। तत्र वैश्वदेवं लौकिकेऽग्नौ कर्तव्यं, न वैवाहिकेऽग्नावित्याचार्याः ॥ १२१ ॥

भाषा—अपनी पत्नी में ही रत रहे, (द्विजों के समान ही) पवित्र रहे, भृत्यों का पालन पोषण करे, श्राद्ध कर्म करे तथा नमस्कार के मन्त्र के साथ पञ्च महायज्ञों को न छोड़े ॥ १२१ ॥

इदानीं साधारणधर्मानाह—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम् ॥ १२२ ॥

हिंसा प्राणिपीडा, तस्या अकरणमहिंसा। सत्यमप्राणिपीडाकरं यथार्थवचनम्, अस्तेयमदत्तानुपादानम्, शौचं बाह्यमाभ्यन्तरं च, बुद्धिकर्मेन्द्रियाणां नियतविषयवृत्तितेन्द्रियनिग्रहः। यथाशक्ति प्राणिनामन्नोदकादिदानेनार्तिपरिहारो दानम्। अन्तःकरणसंयमो दमः। आपन्नरक्षणं दया। अपकारेऽपि चित्तस्याविकारः क्षान्तिः। इत्येते सर्वेषां पुरुषाणां ब्राह्मणाद्याचण्डालान्तं[2] धर्मसाधनम् ॥ १२२ ॥

भाषा—अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रियों का संयम, दान देना, (अन्तःकरण का) संयम, (दुःखियों पर) दया और धैर्य धारण करना—ये सभी व्यक्तियों के लिये धर्म के साधन हैं ॥ १२२ ॥

वयोबुद्ध्यर्थवाग्वेषश्रुताभिजनकर्मणाम् ।
आचरेत्सदृशीं वृत्तिमजिह्मामशठां तथा ॥ १२३ ॥

---

१. क्रियापरः। २. आचाण्डालान्तं।

वयो बाल्ययौवनादि, बुद्धिर्नैसर्गिकी लौकिकवैदिकव्यवहारेषु,[1] अर्थो वित्तं गृहक्षेत्रादि, वाक् कथनम्,[2] वेषो वस्त्रमाल्यादिविन्यासः, श्रुतं पुरुषार्थशास्त्रश्रवणम्, अभिजनः कुलम्, कर्म वृत्त्यर्थं प्रतिग्रहादि, एतेषां वयःप्रभृतीनां सदृशीमुचितां वृत्तिमाचरणं आचरेत्स्वीकुर्यात्। यथा वृद्धः स्वोचितां न यौवनोचिताम्। एवं बुद्ध्यादिष्वपि योज्यम्। अजिह्मामवक्राम्, अशठाममत्सराम् ॥ १२३ ॥

भाषा—आयु, बुद्धि, धन, वाणी, वेष, शास्त्रज्ञान एवं कर्म के उपयुक्त ऐसी जीवन-वृत्ति स्वीकार करनी चाहिए, जो टेढ़ी और मत्सर-युक्त न होवे ॥ १२३ ॥

एवं स्मार्तानि कर्माण्यनुक्रम्येदानीं श्रौतानि कर्माण्यनुक्रामति—

त्रैवार्षिकाधिकान्नो यः स हि सोमं पिबेद् द्विजः।
प्राक्सौमिकीः क्रियाः कुर्याद्यस्यान्नं वार्षिकं भवेत् ॥ १२४ ॥

त्रिवर्षजीवनपर्याप्तं त्रैवार्षिकं अधिकं वा अन्नं यस्य स एव सोमपानं[3] कुर्यान्नातोऽल्पधनः, (मनु. ११।८)—'अतः स्वल्पीयसि द्रव्ये यः सोमं पिबति एतच्च काम्याभिप्रायेण नित्यस्य त्वावश्यकर्तव्यत्वात् नियमः। यस्य वर्षजीवनपर्याप्तमन्नं भवति स प्राक्सौमिकीः सोमात्प्राक् प्राक्सोमं, प्राक्सोमंभावः प्राक्सौमिक्यः। कास्ताः? अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासाग्रयणपशुचातुर्मास्यानि[4] काम्यानि कर्माणि तद्विकाराश्च। ताः क्रियाः कुर्यात् ॥ १२४ ॥

भाषा—तीन वर्ष तक खाने से अधिक अन्न रखने वाला द्विज सोमपान करे। जिसके यहाँ केवल एक वर्ष के लिये अन्न हो वह (अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रयण, पशु चातुर्मास्य आदि) सोम यज्ञ से पहले की जाने वाली क्रियाएँ करे ॥ १२४ ॥

एवं काम्यानि श्रौतानि कर्माण्यभिधायेदानीं नित्यान्याह—

प्रतिसंवत्सरं सोमः पशुः प्रत्ययनं तथा।
कर्तव्याग्रयणेष्टिश्च चातुर्मास्यानि चैव हि ॥ १२५ ॥

संवत्सरे संवत्सरे सोमयागः कार्यः। पशुः प्रत्ययनं अयने अयने दक्षिणोत्तरसंज्ञिते निरूढः पशुयागः कार्यः। तथा प्रतिसंवत्सरं वा; 'पशुना संवत्सरे संवत्सरे यजेत, षट्सु षट्सु वा मासेष्वित्येके' इति बौधायनस्मरणात्। आग्रयणेष्टिश्च सस्योत्पत्तौ कर्तव्या। चातुर्मास्यानि च प्रतिसंवत्सरं कर्तव्यानि ॥ १२५ ॥

---

१. व्यवहारेषु ज्ञानं। २. वचनम्। ३. सोमयागं। ४. पूर्णमासपशु। पूर्णमासचातुर्मास्यानि। ५. मास्यानि कर्मानि।

भाषा—प्रतिवर्ष सोमयज्ञ करे, अयन-अयन (दक्षिणायन और उत्तरायण) में निरूढपशुयाग करे। (नये अन्न की उत्पत्ति पर) आग्रयणेष्टि करे और चातुर्मास्ययज्ञ प्रतिवर्ष करना चाहिए ॥ १२५ ॥

एषामसंभवे कुर्यादिष्टिं वैश्वानरीं द्विजः।
हीनकल्पं न कुर्वीत सति द्रव्ये फलप्रदम् ॥ १२६ ॥

एषां सोमप्रभृतीनां पूर्वोक्तानां नित्यानां कथञ्चिदसम्भवे तत्काले वैश्वानरीमिष्टिं कुर्यात्। किञ्च योऽयं हीनकल्प उक्तः, सति द्रव्येऽसौ न कर्तव्यः। यच्च फलप्रदं काम्यं तद्धीनकल्पं न कुर्वीत न कर्तव्यमिति ॥ १२६ ॥

भाषा—यदि ये (सोमयाग आदि) संभव न हो सकें तो द्विज को वैश्वानरी इष्टि करनी चाहिए। धन रहने पर यह हीनकल्प नहीं करना चाहिए तथा काम्य हीनकल्प तो करना ही नहीं चाहिए ॥ १२६ ॥

चाण्डालो जायते यज्ञकरणाच्छूद्रभिक्षितात्।
यज्ञार्थं लब्धमददद् भासः काकोऽपि वा भवेत् ॥ १२७ ॥

यज्ञार्थं शूद्रधनयाचनेन स जन्मान्तरे चाण्डालो जायते। यः पुनर्यज्ञार्थं याचितं न[1] सर्वं प्रयच्छति न त्यजति, स भासः काकोऽपि वा वर्षशतं भवेत्। यथाह मनुः (११।२५)—'यज्ञार्थमर्थं भिक्षित्वा यः सर्वं न प्रयच्छति। स याति भासतां विप्रः काकतां वा शतं समाः ॥' इति। भासः शकुन्तः। काकः प्रसिद्धः ॥ १२७ ॥

भाषा—यज्ञ के लिए शूद्र से धन माँगने पर (द्विज) दूसरे जन्म में चण्डाल होकर जन्म लेता है। यज्ञ के लिये प्राप्त सम्पूर्ण धन को न दे देने वाला भास (पक्षी) या कौआ होता है ॥ १२७ ॥

कुशूलकुम्भीधान्यो वा त्र्याहिकोऽश्वस्तनोऽपि वा।

कुशूलं कोष्ठकं, कुम्भी उष्ट्रिका, कुशूलं च कुम्भी च कुशूलकुम्भ्यौ, ताभ्यां परिमितं धान्यं यस्य स तथोक्तः कुशूलधान्यः स्यात्, कुम्भीधान्यो वा। तत्र स्वकुटुम्बपोषणे द्वादशाहमात्रपर्याप्तं धान्यं यस्यास्ति स कुशूलधान्यः। कुम्भीधान्यस्तु स्वकुटुम्बपोषणे षडहमात्रपर्याप्तधान्यः। त्र्यहः पर्याप्तं धान्यमस्यास्तीति त्र्याहिकः। श्वोभवं धान्यादिकं श्वस्तनम्, न विद्यते श्वस्तनं यस्य सोऽश्वस्तनः ॥

कुशूलधान्यादिसञ्चयोपायमाह—

जीवेद्वापि शिलोञ्छेन श्रेयानेषां परः परः ॥ १२८ ॥

---

१. न परित्यजति।

[1]शाल्यादिनिपतितपरित्यक्तवल्लरीग्रहणं शिलम्, एकैकस्य परित्यक्तस्य कणस्योपादानमुञ्छः, शिलं चोञ्छश्च शिलोञ्छम्, तेन शिलेनोञ्छेन वा। कुशूलधान्यादिश्चतुर्विधो गृहस्थो जीवेत्। एषां कुशूलधान्यादीनां [2]ब्राह्मणानां गृहस्थानां चतुर्णां परः परः पश्चात्पश्चात्पठितः [3]श्रेयान् प्रशस्यतमः। एतच्च यद्यपि द्विजः [4]प्रकृतस्तथापि ब्राह्मणस्यैव भवितुमर्हति, विद्योपशमादियोगात्। तथा च मनुना (४।२)—'अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः। या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि॥' इति विप्रमेव [5]प्रस्तुत्य मनुः (४।७)—कुशूलधान्यको वा स्यात्कुम्भीधान्यक एव वा' इत्याद्यभिहितम्। एतच्चा[6]तिसंयतं यायावरं प्रत्युच्यते, न विप्रमात्राभिप्रायेण। तथा सति—'त्रैवार्षिकाधिकान्नो यः स हि सोमं पिबेद् द्विजः' (आ. १२६) इत्यनेन विरोधः। तथा च गृहस्थानां द्वैविध्यं तत्र तत्रोक्तम्। यथाह देवलः—'द्विविधो गृहस्थो यायावरः शालीनश्च। तयोर्यायावरः प्रवरो याजनाध्यापनप्रतिग्रहरिक्थसञ्चयवर्जनात्। षट्कर्माधिष्ठितः प्रेष्यचतुष्पदगृहग्रामधनधान्ययुक्तो लोकानुवर्ती शालीनः' इति। शालीनोऽपि चतुर्विधः—याजनाध्यापनप्रतिग्रहकृषिवाणिज्यपाशुपाल्यैः षड्भिर्जीवत्येकः, याजनादिभिस्त्रिभिरन्यः, याजनाध्यापनाभ्यामपरः, चतुर्थस्त्वध्यापनेनैव। तथाह मनुः (४।९)—'षट्कर्मैको भवत्येषां त्रिभिरन्यः प्रवर्तते। द्वाभ्यामेकश्चतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रेण जीवति॥' इति। अत्र च 'प्रतिग्रहोऽधिको विप्रे' (आ. ११८) इत्यादिना शालीनस्य वृत्तयो दर्शिताः। यायावरस्य 'जीवेद्वापि शिलोञ्छेन' इति॥ १२८॥

भाषा—कोठिली भर (बारह दिन के खर्चे भर) अन्न वाले, घड़े भर (छः दिन के खर्चे भर) अन्न वाले, तीन दिन के खर्चे भर अन्न वाले, दिन भर के भोजन योग्य अन्न वाले और खेतों में गिरे हुए अन्न को बीन कर जीवन निर्वाह करने वाले व्यक्तियों में पहले वाले से बाद वाले उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होते हैं॥

इति गृहस्थधर्मप्रकरणम्।

अथ स्नातकधर्मप्रकरणम्

एवं श्रौत-स्मार्तानि कर्माण्यभिधायेदानीं गृहस्थस्य स्नानादारभ्य ब्राह्मणस्यावश्यकर्तव्यानि विधि-प्रतिषेधात्मकानि मानससङ्कल्परूपाणि स्नातकव्रतान्याह—

न स्वाध्यायविरोध्यर्थमीहेत न यतस्ततः।
न विरुद्धप्रसङ्गेन संतोषी च भवेत्सदा॥ १२९॥

---

१. शाल्यादेर्निपतित। २. ब्राह्मणानां चतुर्णां। ३. श्रेयानुत्कृष्टतमः। ४. प्रकृतः प्रकरणप्राप्तः प्राकृतः। ५. पुरस्कृत्य। ६. नातिसम्पन्नसंयतं।

ब्राह्मणस्य प्रतिग्रहादयोऽर्थप्राप्त्युपाया दर्शिताः तत्र विशेष उच्यते—स्वाध्यायविरोधिनमर्थमप्रतिषिद्धमपि नेहेत नान्विच्छेत्। न यतस्ततः न यतः कुतश्चिदविदिताचारात्। विरुद्धप्रसङ्गेन विरुद्धमयाज्ययाजनादिप्रसङ्गो नृत्य-गीतादिः। विरुद्धं च प्रसङ्गश्च विरुद्धप्रसङ्गं तेन। नार्थमीहेतेति सम्बद्ध्यते। नञ आवृत्तिः प्रत्येकं पर्युदासार्था। सर्वत्राप्यस्मिन्स्नातकप्रकरणे नञ्शब्दः प्रत्येकं पर्युदासार्थ एव। किञ्चिदर्थालाभेऽपि सन्तोषी परितृप्तो भवेत्। चकारात्संयतश्च 'सतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्' (४।१२) इति मनुस्मरणात्॥

भाषा—अपने स्वाध्याय के विरोधियों से धन अर्जित करने की इच्छा न करे, इधर-उधर अविचारित स्थान से या (अपने कर्म के) विरुद्ध कार्य (जैसे नृत्य-गीत आदि) द्वारा धन कमाने की अभिलाषा न रखे। सदैव सन्तोष रखे ॥ १२९ ॥

कुतस्तर्हि धनमन्विच्छेदित आह—

राजान्तेवासियाज्येभ्यः सीदन्निच्छेद्धनं क्षुधा।
दम्भिहैतुकपाखण्डिबकवृत्तींश्च वर्जयेत् ॥ १३० ॥

क्षुधा सीदन् पीड्यमानः स्नातकः राज्ञो विदितवृत्तान्तात्, अन्तेवासिनो वक्ष्यमाणलक्षणात्, याज्यात् याजनार्हाच्च, धनमाददीत। 'क्षुधा सीदन्' इत्यनेन विभागादिप्राप्तकुटुम्बपोषणपर्याप्तधनो न [1]कुतश्चिदर्थमन्विच्छेदिति गम्यते। किञ्च दम्भिहैतुकादीन् सर्वकार्येषु वर्जयेत्। चकाराद्विकर्मस्थबैडालव्रतिकान्शठान्। यथाह मनुः (४।३०)—'पाखण्डिनो विकर्मस्थान्बैडालव्रतिकान्शठान्। हैतुकान्बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥' इति। लोकरञ्जनार्थमेव कर्मानुष्ठायी दम्भी, युक्तिबलेन सर्वत्र संशयकारी हैतुकः, त्रैविद्यविरुद्धपरिगृहीताश्रमिणः पाखण्डिनः। बकवदस्य वर्तनमिति बकवृत्तिः। यथाह मनुः (४।१९६)—'अधोदृष्टिर्नैकृतिकः[3] स्वार्थसाधनतत्परः। शठो मिथ्याविनीतश्च बकवृत्ति-रुदाहृतः ॥' इति। प्रतिषिद्धसेविनो विकर्मस्थाः। बिडालो मार्जारस्तस्य व्रतं स्वभावो यस्यासौ बैडालव्रतिकः। तस्य लक्षणमाह मनुः (४।१९५)—'धर्मध्वजी सदा लुब्धश्छाद्मिको लोकदम्भकः। बैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसन्धकः ॥' इति। शठः=सर्वत्र वक्रः। एतैः संसर्गनिषेधादेव स्वयमेवम्भूतो न भवेदिति गम्यते ॥ १३० ॥

भाषा – भूख से व्याकुल होने पर राजा, अन्तेवासी और यज्ञ कराने योग्य व्यक्ति से धन-प्राप्ति की इच्छा करे, परन्तु अहंकारी, संशय की दृष्टि

---

१. कुतश्चिद्धनमन्वि। २. वृत्तिकशठान्। ३. नैष्कृतिकः।

रखने वाले, पाखंडी, और बगुलाभगत के निकट (धन की इच्छा से) न जावे ॥ १३० ॥

शुक्लाम्बरधरो नीचकेशश्मश्रुनखः शुचिः।
न भार्यादर्शनेऽश्नीयान्नैकवासा न संस्थितः ॥ १३१ ॥

किञ्च, शुक्ले धौते अम्बरे वाससी धरतीति शुक्लाम्बरधरः। केशाश्च श्मश्रूणि च नखाश्च केशश्मश्रुनखम्, नीचं निकृत्तं केशश्मश्रुनखं यस्यासौ तथोक्तः। शुचिरन्तर्बहिश्च स्नानानुलेपनधूपस्रगादिभिः सुगन्धी च भवेत्। यथाह गौतमः (९।२)—'स्नातको नित्यं शुचिः सुगन्धिः स्नानशीलः' इति। सुगन्धित्व-विधानादेव निर्गन्धमाल्यस्य निषेधः। तथा च गोभिलः—'नागन्धां स्रजं धारयेदन्यत्र हिरण्यरत्नस्रजः' इति। सदा स्नातक एवम्भूतो भवेत्। एतच्च सति सम्भवे; 'न जीर्णमलवद्वासा भवेच्च विभवे सति' (मनु. ४।३४) इति स्मरणात्। न च भार्यादर्शने तस्यां पुरतोऽवस्थितायामश्नीयात्, अवीर्यवदपत्योत्पत्तिभयात्। तथा च श्रुतिः—'जायाया अन्ते नाश्नीयादवीर्यवदपत्यं भवति' इति। अतस्तया सह भोजनं दूरादेव निरस्तम्। न चैकवासाः, न [1]संस्थितः 'अश्नीयात्' इति सम्बध्यते ॥ १३१ ॥

भाषा—स्वच्छ वस्त्र धारण करे, केश, दाढ़ी-मूँछ और नखों को काट कर छोटा रखे, (स्नान एवं सुगन्धिलेप द्वारा) पवित्र रहे। पत्नी के सामने, एक वस्त्र पहन कर और खड़ा होकर भोजन न करे ॥ १३१ ॥

न संशयं प्रपद्येत नाकस्मादप्रियं वदेत्।
नाहितं नानृतं चैव न स्तेनः स्यान्न वार्धुषी ॥ १३२ ॥

किञ्च, कदाचिदपि संशयं प्राणविपत्तिसंशयावहं कर्म न प्रपद्येत न कुर्यात्। यथा व्याघ्रचौराद्युपहतदेशाक्रमणादि। अकस्मान्निष्कारणं [2]किञ्चिदपि परुषं अप्रियं उद्वेगकरं वाक्यं न वदेत्। न चाहितं, नानृतं वा प्रियमपि, चकारात् अश्लीलं बीभत्सकरं च, अकस्माच्च वदेदिति सम्बध्यते। एतच्च परिहासादि-व्यतिरेकेण, 'गुरुणापि समं हास्यं कर्तव्यं कुटिलं विना' इति स्मरणात्। न च स्तेनः अन्यदीयस्यादत्तस्य ग्रहीता न स्यात्। न वार्धुषी स्यात्। प्रतिषिद्धवृद्ध्युप-जीवी वार्धुषी ॥ १३२ ॥

भाषा—जिस कार्य में प्राणों का संशय हो उस कर्म में प्रवृत न होवे; अकस्मात् (विना कारण के) अप्रिय वचन वचन न बोले; अहितकारी और

---

१. संस्थित उत्थितः। २. कश्चिदपि पुरुषं स्त्रियमप्रियं।

असत्य (तथा अश्लील) वचन भी न बोले; चोर न बने एवं (निषिद्ध) व्याज से वृत्ति न चलावे ॥ १३२ ॥

दाक्षायणी ब्रह्मसूत्री वेणुमान्सकमण्डलुः ।
कुर्यात्प्रदक्षिणं देवमृद्गोविप्रवनस्पतीन् ॥ १३३ ॥

किञ्च, दाक्षायणं सुवर्णम्, [१]तदस्यास्तीति दाक्षायणी। ब्रह्मसूत्रं यज्ञोपवीतं तदस्यास्तीति ब्रह्मसूत्री, वैणवयष्टिमान्, कमण्डलुमान्, 'स्यात्' इति सर्वत्र सम्बन्धनीयम्। अत्र च ब्रह्मचारिप्रकरणोक्तस्यापि यज्ञोपवीतस्य पुनर्वचनं द्वितीयप्राप्त्यर्थम्। यथाह वसिष्ठः—'स्नातकानां तु नित्यं स्यादन्तर्वासस्तथोत्तरम्। यज्ञोपवीते द्वे यष्टिः सोदकश्च कमण्डलुः॥' इति। अत्र च दाक्षायणीति सामान्याभिधानेऽपि कुण्डलधारणमेव कार्यम्, 'वैष्णवीं धारयेद्यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम्। यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले॥' (४।३६) इति मनुस्मरणात्। [२]तदा देवं देवप्रतिमाम्, मृदं तीर्थादुद्धृतां, गां, ब्राह्मणं, वनस्पतिं अश्वत्थादिकं प्रदक्षिणं कुर्यात्। एतान्[३]दक्षिणतः कृत्वा प्रव्रजेदित्यर्थः। एवं चतुष्पथादीनपि 'मृदं गां देवतां विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम्। प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन्॥' (४।३९) इति मनुस्मरणात्॥ १३३॥

भाषा—सदैव दाक्षायण (सोने का कुण्डल), यज्ञोपवीत, डंडा और कमण्डलु लिये रहे। देवमूर्ति, (तीर्थ की) मिट्टी, गाय, ब्राह्मण और (पीपल आदि) वृक्षों की परिक्रमा करे ॥ १३३ ॥

न तु मेहेन्नदीछायावर्त्मगोष्ठाम्बुभस्मसु ।
न प्रत्यग्न्यर्कगोसोमसंध्याम्बुस्त्रीद्विजन्मनः ॥ १३४ ॥

नद्यादिषु न मेहेत् न मूत्रपुरीषोत्सर्गं कुर्यात्, एवं श्मशानादावपि। यथाह शङ्खः—'न गोमयकृष्टोप्तशाड्वलचितिश्मशानवल्मीकवर्त्मखलगोष्ठबिलपर्वतपुलिनेषु मेहेत्, भूताधारत्वात्' इति। तथाग्न्यादीन्प्रति अग्न्यादीनामभिमुखं न मेहेत्, नाप्येतान्पश्यन्। यथाह गौतमः (९।१२)—'न वाय्वग्निविप्रादित्यापोदेवतागाश्च प्रतिपश्यन्वा मूत्रपुरीषामेध्यान्युदस्येत्, न देवताः प्रति पादौ प्रसारयेत्' इति। एतद्देशव्यतिरेकेण भूमिमयज्ञियैस्तृणैरन्तर्धाय मूत्रपुरीषे कुर्यादिति। यथाह वसिष्ठः—'परिवेष्टितशिरा भूमिमयज्ञियैस्तृणैरन्तर्धाय मूत्रपुरीषे कुर्यात्' इति ॥ १३४ ॥

---

१. तद्वान्, तद्धारणात्। २. एवं देवं देवतार्चा। ३. प्रदक्षिणतः। ४. प्रत्यर्काग्निनो। ५. श्मशानवल्मीक। ६. नैतान् प्रति। ७. मेहनं कार्यं।

भाषा—नदी, छाया, मार्ग, गोशाला, जल और भस्म में मूत्र एवं मल का त्याग न करे। अग्नि, सूर्य, गाय, चन्द्रमा, संध्या, जल, स्त्री और द्विज की ओर मुँह कर भी (मूत्र एवं पुरीष) न करे ॥ १३४ ॥

नेक्षेतार्कं न नग्नां स्त्रीं न च संसृष्टमैथुनाम्।
न च मूत्रं पुरीषं वा नाशुची राहुतारकाः ॥ १३५ ॥

नैवार्कमीक्षेतेति यद्यप्यत्र सामान्येनोक्तं, तथाप्युदयास्तमयराहुग्रस्तोदकप्रतिबिम्बमध्याह्नवर्तिन एवादित्यस्यावेक्षणं निषिध्यते, न सर्वदा। यथोक्तं मनुना (४।३७)—'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यन्तं कदाचन। नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम् ॥' इति। उपभोगादन्यत्र नग्नां स्त्रियं नेक्षेत। न नग्नां स्त्रियमीक्षेतान्यत्र मैथुनात्' इत्याश्वलायनः। संसृष्टमैथुनां कृतोपभोगाम्। उपभोगान्ते नग्नामपि नेक्षेत। चकराद्भोजनादिकमाचरन्तीम्। तथा च मनुः (४।४३)—'नाश्नीयाद्भार्यया सार्धं नैनामीक्षेत चाश्नतीम्। क्षुवतीं जृम्भमाणां च न चासीनां यथासुखम् ॥ नाञ्जयन्तीं स्वके नेत्रे न चाभ्यक्तामनावृताम्। न पश्येत्प्रसवन्तीं च श्रेयस्कामो द्विजोत्तमः ॥' इति। मूत्रपुरीषे च न पश्येत्। तथा अशुचिः सन् राहुतारकाश्च न पश्येत्। चकारादुदके स्वप्रतिबिम्बं न पश्येत्; 'न चोदके निरीक्षेत स्वं रूपमिति धारणा (मनु. ४।३८) इति वचनात् ॥ १३५ ॥

भाषा—(उदय, अस्त, राहुग्रस्त, जल में प्रतिबिम्बित एवं मध्याह्नकालीन) सूर्य को, (संभोग के अतिरिक्त अन्यत्र) नंगी स्त्री को, जिसके साथ सद्यः मैथुन किया गया हो ऐसी (अनग्ना) स्त्री को, मूत्र तथा पुरीष को और अपवित्र रहते राहु एवं तारों को न देखे ॥ १२५ ॥

अयं मे वज्र इत्येवं सर्वं मन्त्रमुदीरयेत्।
वर्षत्यप्रावृतो गच्छेत्स्वपेत्प्रत्यक्शिरा न च ॥ १३६ ॥

वर्षति सति 'अयं मे वज्रः पाप्मानमपहन्तु' इति मन्त्रमुच्चारयेत्। वर्षति अप्रावृतोऽनाच्छादितो न गच्छेन्न धावेत्। 'न प्रधावेच्च वर्षति' इति प्रतिषेधात्; न च प्रत्यक्शिराः स्वप्यात्। चकारान्नग्नो न शयीत। एकश्च शून्यगृहे न च नग्नः शयीतेति। 'नैकः सुप्याच्छून्यगेहे' (४।५७) मनुस्मरणात् ॥ १३६ ॥

भाषा—वर्षा होने पर 'अयं मे वज्रः पाप्मानमपहन्तु' मन्त्र का उच्चारण करे। (वर्षा में) छाता आदि से आच्छादित हुए विना कहीं न जावे। पश्चिम की ओर शिर करके (और नंगा) न सोवे ॥ १३६ ॥

---

१. अपहनत्। २. च्छादितो न द्रुयात्।

ष्ठीवनासृक्शकृन्मूत्ररेतांस्यप्सु न निक्षिपेत्।
पादौ प्रतापयेन्नाग्नौ न चैनमभिलङ्घयेत् ॥ १३७ ॥

ष्ठीवनमुद्गिरणम्, असृक् रक्तं, शकृत् पुरीषं प्रसिद्धम्, एतान्यप्सु न निक्षिपेत्। एवं तुषादीनपि। यथाह शङ्खः—'तुषकेशपुरीषभस्मास्थिश्लेष्मनखलोमान्यप्सु न निक्षिपेन्न पादेन पाणिना वा जलमभिहन्यात्' इति। अग्नौ च पादौ न प्रतापयेत्। नाप्यग्निं लङ्घयेत्। चकारात् ष्ठीवनादीन्यग्नौ न निक्षिपेत्। मुखोपधमनादि चाग्नेर्न कुर्यात्। तथा च मनुः (४।५३)—'नाग्निं मुखेनोपधमेन्नग्नां नेक्षेत च स्त्रियम्। नामेध्यं प्रक्षिपेदग्नौ न च पादौ प्रतापयेत् ॥ अधस्तान्नोपदध्याच्च न चैनमभिलङ्घयेत्। न चैनं पादतः कुर्यान्न प्राणिवधमाचरेत् ॥' इति ॥ १३७ ॥

भाषा—थूक, रक्त, पुरीष, मूत्र, एवं वीर्य जल में न फेंके। अग्नि में पैरों को न सेंके और न उसे लाँघे ॥ १३७ ॥

जलं पिबेन्नाञ्जलिना न शयानं प्रबोधयेत्।
नाक्षैः क्रीडेन्न धर्मघ्नैर्व्याधितैर्वा न संविशेत् ॥ १३८ ॥

जलमञ्जलिना संहताभ्यां हस्ताभ्यां न पिबेत्। 'जल' ग्रहणं पेयमात्रोपलक्षणम्। विद्यादिभिरात्मनोऽधिकं शयानं न प्रबोधयेन्नोत्थापयेत्। 'श्रेयांसं न प्रबोधयेत्' इति विशेषस्मरणात्। अक्षादिभिर्न क्रीडेत्। धर्मघ्नैः पशुलम्भनादिभिर्न क्रीडेत्। व्याधितैर्ज्वराद्यभिभूतैः सहैकत्र न संविशेन्न शयीत ॥

भाषा—अंजलि से जल न पिए और न सोये हुए व्यक्ति को जगावे। जुआ न खेले, (पशु हिंसक आदि) धर्मभ्रष्ट व्यक्तियों के साथ न खेले और न रोगी व्यक्ति के पास सोवे ॥ १३८ ॥

विरुद्धं वर्जयेत्कर्म प्रेतधूमं नदीतरम्।
केशभस्मतुषाङ्गारकपालेषु च संस्थितिम् ॥ १३९ ॥

जनपदग्रामकुलाचारविरुद्धं कर्म वर्जयेत्। प्रेतधूमं, बाहुभ्यां नदीतरणं च, वर्जयेदिति सम्बद्ध्यते। केशादिषु च संस्थितिं वर्जयेत्। चकारादस्थिकार्पासामेध्येषु च ॥ १३९ ॥

भाषा—(जनपद, गाँव और कुल के) विरुद्ध कर्म न करे। प्रेतधूमस्पर्श और तैर कर नदी पार करना कार्य न करे। केश, भस्म, भूसी, अंगार और कपाल पर न बैठे ॥ १३९ ॥

---

१. मनुलङ्घयेत्। २. मतिलङ्घयेत्। ३. प्राणाबाध।

नाचक्षीत धयन्तीं गां नाद्वारेण विशेत्क्वचित् ।
न राज्ञः प्रतिगृह्णीयाल्लुब्धस्योच्छास्त्रवर्तिनः ॥ १४० ॥

परस्य क्षीरादि[1] पिबन्तीं गां परस्मै नाचक्षीत नच निवर्तयेत्। अद्वारेण कापथेन क्वचिदपि नगरे ग्रामे मन्दिरे वा न प्रविशेत्। नच कृपणस्य शास्त्रातिक्रमकारिणो राज्ञः सकाशात्प्रतिगृह्णीयात् ॥ १४० ॥

भाषा—पीती हुई या (बछड़े को) पिलाती हुई गाय को अलग न करे और न उसके विषय में कहे। कहीं (गांव या मन्दिर में) उचितमार्ग को छोड़कर किसी और मार्ग से प्रवेश न करे। लोभी, शास्त्र के विपरीत आचरण करने वाले राजा का दान न ग्रहण करे ॥ १४० ॥

प्रतिग्रहे सूनिचक्रिध्वजिवेश्यानराधिपाः ।
दुष्टा दशगुणं पूर्वात्पूर्वादेते यथाक्रमम् ॥ १४१ ॥

प्रतिग्रहे[2] साध्ये सून्यादयः पञ्च पूर्वस्मात्पूर्वस्मात्परः परो दशगुणं दुष्टः। सूना प्राणिहिंसा साऽस्यास्तीति सूनी प्राणिहिंसापरः। चक्री तैलिकः। ध्वजी सुराविक्रयी। वेश्या पण्यस्त्री। नराधिपोऽनन्तरोक्तः ॥ १४१ ॥

भाषा—दान लेने में वधिक, तेली, कुलाल, वेश्या और राजा-ये यथाक्रम अपने पहले वाले से दस-दस गुना अधिक दोषी होते हैं ॥ १४१ ॥

अथाध्ययनधर्मानाह—

अध्यायानामुपाकर्म श्रावण्यां श्रवणेन वा ।
हस्तेनौषधिभावे वा पञ्चम्यां श्रावणस्य तु ॥ १४२ ॥

अधीयन्त इत्यध्याया वेदाः, तेषामुपाकर्म उपक्रममोषधीनां प्रादुर्भावे सति श्रावणमासस्य पौर्णमास्यां, श्रवणनक्षत्रयुते वा दिने, हस्तेन युतायां पञ्चम्यां वा, स्वगृह्योक्तविधिना कुर्यात्। यदा तु श्रावणे मासि ओषधयो न प्रादुर्भवन्ति, तदा भाद्रपदे मासि श्रवणनक्षत्रे कुर्यात्। तत ऊर्ध्वं सार्धं चतुरो मासान्वेदानधीयीत। तथा च मनुः (४।९५)—'श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाऽप्युपाकृत्य यथाविधि। युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान्विप्रोऽर्धपञ्चमान् ॥' इति ॥ १४२ ॥

भाषा—(वेदों के) अध्ययन का उपाकर्म (आरम्भ) वनस्पतियों के उग आने पर श्रावण महीने की पूर्णमासी को या श्रवणनक्षत्र से युक्त दिन को अथवा हस्तनक्षत्र से युक्त श्रावण की पंचमी को करे ॥ १४२ ॥

---

१. क्षीरादि धयन्तीं गां। २. प्रतिग्रहेषु साध्येषु।

उत्सर्जनकालः—

पौषमासस्य रोहिण्यामष्टकायामथापि वा ।
जलान्ते छन्दसां कुर्यादुत्सर्गं विधिवद्बहिः ॥ १४३ ॥

पौषमासस्य रोहिण्यामष्टकायां वा ग्रामाद्बहिर्जलसमीपे छन्दसां वेदानां स्वगृह्योक्तविधिनोत्सर्गं कुर्यात् । यदा पुनर्भाद्रपदे मासि उपकर्म तदा माघशुक्लप्रथमदिवसे उत्सर्गं कुर्यात् । यथोक्तं मनुना (४।९६)—'पुष्ये तु छन्दसां कुर्याद्बहिरुत्सर्जनं द्विजः । माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्णे प्रथमेऽहनि ॥' इति । तदनन्तरं पक्षिणीमहोरात्रं वा विरम्य शुक्लपक्षेषु वेदान् कृष्णपक्षेष्वङ्गान्यधीयीत । यथाह मनुः (४।९७)—'यथाशास्त्रं तु कृत्वैवमुत्सर्गं छन्दसां बहिः । विरमेत्पक्षिणीं रात्रिं यद्वाऽप्येकमहर्निशम् ॥ अत ऊर्ध्वं तु छन्दांसि शुक्लेषु नियतः पठेत् । वेदाङ्गानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु संपठेत् ॥ इति ॥ १४३ ॥

भाषा—पौष मास की रोहिणी या अष्टमी को (गाँव से) बाहर जाकर जलाशय के निकट वेदों का (अपने गृह्यसूत्र में उक्त) विधि के अनुसार उत्सर्ग करे ॥ १४३ ॥

अनध्यायानाह—

त्र्यहं प्रेतेष्वनध्यायः शिष्यर्त्विग्गुरुबन्धुषु ।
उपाकर्मणि चोत्सर्गे स्वशाखाश्रोत्रिये तथा ॥ १४४ ॥

उक्तेन मार्गेणाधीयानस्य द्विजस्य शिष्यर्त्विग्गुरुबन्धुषु प्रेतेषु मृतेषु त्र्यहमनध्यायस्त्रीनहोरात्रानध्ययनं वर्जयेत् । उपाकर्मणि उत्सर्गाख्ये च कर्मणि कृते त्र्यहमनध्यायः । उत्सर्गे तु मनूक्तपक्षिण्यहोरात्राभ्यां सहास्य विकल्पः । स्वशाखाश्रोत्रिये स्वशाखाध्यायिनि च प्रेते त्र्यहमनध्यायः ॥ १४४ ॥

भाषा—शिष्य, ऋत्विज, गुरु और बन्धु (सजाति) के मरने पर, उपाकर्म (एवं वेदोत्सर्ग कर्म) के उपरान्त तथा अपनी शाखा का अध्ययन करने वाले किसी व्यक्ति की मृत्यु पर तीन दिनों तक अनध्याय होता है ॥ १४४ ॥

संध्यागर्जितनिर्घातभूकम्पोल्कानिपातने ।
समाप्य वेदं द्युनिशमारण्यकमधीत्य च ॥ १४५ ॥

संध्यायां मेघध्वनौ, निर्घाते आकाशे उत्पातध्वनौ, भूमिचलने, उल्कापतने, मन्त्रस्य ब्राह्मणस्य वा समाप्तौ, आरण्यकाध्ययने च द्युनिशमहोरात्रमनध्यायः ॥ १४५ ॥

भाषा—सन्ध्या समय मेघ का गर्जन होने पर, आकाश में उत्पात की ध्वनि होने पर, भूकम्प, उल्कापात (तारा टूटकर गिरने पर), वेद के मन्त्र या ब्राह्मण भाग की समाप्ति पर और आरण्यक का अध्ययन पूरा कर लेने पर एक दिन और रात का 'अनध्याय होता है ॥ १४५ ॥

पञ्चदश्यां चतुर्दश्यामष्टम्यां राहुसूतके।
ऋतुसंधिषु भुक्त्वा वा श्राद्धिकं प्रतिगृह्य च ॥ १४६ ॥

पञ्चदश्याममावास्यायां पौर्णमास्यां चतुर्दश्यामष्टम्यां राहुसूतके चन्द्रसूर्योपरागे च द्युनिशमनध्यायः। यत्तु—'त्र्यहं न कीर्तयेद्ब्रह्म राज्ञो राहोश्च सूतके' (मनु. ४।११०) इति तद्ग्रस्तास्तविषयम्। ऋतुसंधिगतासु च प्रतिपत्सु श्राद्धिकभोजने तत्प्रतिग्रहे च द्युनिशमनध्यायः। एतच्चैकोद्दिष्टव्यतिरिक्तविषयम्; तत्र तु त्रिरात्रम् मनुः (४।११०)—'प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेकोद्दिष्टस्य केतनम्। त्र्यहं न कीर्तयेद्ब्रह्म' इति स्मरणात् ॥ १४६ ॥

भाषा—अमावस्या, पौर्णमासी, चतुर्दशी, अष्टमी को चन्द्रग्रहण एवं सूर्यग्रहण के समय ऋतुओं के आरम्भ की प्रतिपदा को, श्राद्ध का भोजन करने पर तथा दान लेने पर (एक दिन-रात का अनध्याय होता है) ॥ १४६ ॥

पशुमण्डूकनकुलश्वाहिमार्जारमूषकैः।
कृतेऽन्तरे त्वहोरात्रं शक्रपाते तथोच्छ्रये ॥ १४७ ॥

अध्येतॄणां पश्वादिभिरन्तरागमने कृते शक्रध्वजस्यावरोपणदिवसे, [1]उच्छ्रायदिवसे चाहोरात्रमनध्यायः। द्युनिशमिति प्रकृते पुनः 'अहोरात्र' ग्रहणं संध्यागर्जितनिर्घातभूकम्पोल्कानिपातेष्वाकालिकत्वज्ञापनार्थम् , 'आकालिकनिर्घातभूकम्पराहुदर्शनोल्काः' (१३।२२) इति गौतमवचनात्। निमित्तकालादारभ्यापरेद्युर्यावत्स एव कालस्तावत्काल अकालः, तत्र भव आकालिकोऽनध्यायः। एतच्च प्रातःसंध्यास्तनिते। सायंसंध्यास्तनिते तु रात्रिमेव; 'सायंसंध्यास्तनिते तु रात्रिः, प्रातःसंध्[2]यास्तनितेऽहोरात्रम्' इति हारीतस्मरणात्। यत्पुनर्गौतमेनोक्तं (१।७९) 'श्वनकुलसर्पमण्डूकमार्जारा[3]णामन्तरागमने त्र्यहमुपवासो विप्रवासश्च' इति तत्प्रथमाध्ययनविषयमेव[4] ॥ १४७ ॥

भाषा—अध्ययन करने वालों के बीच किसी पशु, मेढक, नेवला, साही, बिल्ली या चूहा के आजाने पर, इन्द्रधनुष उठने पर तथा उत्सव के समय एक दिन-रात (अनध्याय होता है) ॥ १४७ ॥

---

१. उत्सवदिवसे। २. संध्यामहोरात्रं। ३. मार्जाराणां त्र्यहं।
४. त्ययनविषय एव।

श्वक्रोष्टृगर्दभोलूकसामबाणार्तनिःस्वने ।
अमेध्यशवशूद्रान्त्यश्मशानपतितान्तिके ॥ १४८ ॥

श्वा कुक्कुरः, क्रोष्टा शृगालः, गर्दभो रासभः, उलूको घूकः साम सामानि, बाणो वंशः, आर्तो दुःखितः, एषां श्वादीनां निःस्वने तावत्कालमनध्यायः। एवं वीणादिनिःस्वनेऽपि ।—'वेणुवीणाभेरीमृदङ्गगन्त्र्यार्तशब्देषु' (१६।७) इति गौतमवचनात्। गन्त्री शकटम्। अमेध्यादीनां सन्निधाने तावत्कालिकोऽनध्यायः ॥ १४८ ॥

भाषा—कुत्ता, सियार, गदहा, उल्लू, सामगान, बांस और दुःखित व्यक्ति का स्वर सुनाई पड़ने पर तथा अपवित्र वस्तु शव, शूद्र, अन्त्यज, श्मशान या पतित व्यक्ति के निकट होने पर (उस स्थिति की अवधि तक अनध्याय होता है) ॥ १४८ ॥

देशेऽशुचावात्मनि च विद्युत्स्तनितसंप्लवे ।
भुक्त्वार्द्रपाणिरम्भोन्तरर्धरात्रेऽतिमारुते ॥ १४९ ॥

अशुचौ देशेऽशुचावात्मनि च। तथा विद्युत्स्तनितसंप्लवे पुनः पुनर्विद्योतमानायां विद्युति, स्तनितसंप्लवे प्रहरद्वयं पुनः पुनर्मेघघोषे तावत्कालिकोऽनध्यायः। भुक्त्वार्द्रपाणिर्नाधीयीत। जलमध्ये च। अर्धरात्रे महानिशाख्ये मध्यमप्रहरद्वये, अतिमारुतेऽह्न्यपि तावत्कालं नाधीयीत ॥ १४९ ॥

भाषा—अपवित्र स्थान पर, स्वयं अशुद्ध होने पर, बार-बार बिजली की चमक होने, मेघ के बार-बार गर्जन के समय, भोजन के उपरान्त, गीले हाथ रहने पर, जल के भीतर, आधी रात को और तीव्र वायु चलने पर उतने समय तक (अध्ययन नहीं करना चाहिए) ॥ १४९ ॥

[1]पांसुप्रवर्षे दिग्दाहे संध्यानीहारभीतिषु ।
धावतः पूतिगन्धे च शिष्टे च गृहमागते ॥ १५० ॥

औत्पातिके रजोवर्षे, दिग्दाहे यत्र ज्वलिता इव दिशो दृश्यन्ते। संध्ययोः, नीहारे धूमिकायां, भीतिषु चौरराजादिकृतासु तावत्कालमनध्यायः। धावतस्त्वरितं गच्छतोऽनध्यायः। पूतिगन्धे कुत्सितगन्धे अमेध्यमद्यादिगन्धे। शिष्टे च श्रोत्रियादौ गृहं प्राप्ते तदनुज्ञावध्यनध्यायः ॥ १५० ॥

भाषा—धूल भरी आँधी उठने पर, दिशाओं के जलती हुई सी दिखाई पड़ने पर, दोनों सन्ध्याओं के समय धुंधले में और (चोरया राजा से) भय होने पर (तत्काल अनध्याय होता है)। दौड़ते समय, अपवित्र वस्तु की

---

१. पांसुवर्षे दिशां दाहे पांसुवर्षे च दिग्दाहे। २. गृहमागते।

गन्ध आने पर (श्रोत्रियादि) शिष्ट व्यक्ति के घर पर (अनध्याय होता है)॥ १५० ॥

खरोष्ट्रयानहस्त्यश्वनौवृक्षेरिणरोहणे ।
सप्तत्रिंशदनध्यायानेतांस्तात्कालिकान्विदुः ॥ १५१ ॥

यानं रथादि, इरिण[1] मूषरं मरुभूमिर्वा, खरादीनामारोहणे तावत्कालमनध्यायः । एवं 'श्वक्रोष्टृगर्दभ-'इत्यस्मादारभ्य सप्तत्रिंशदनध्यायानेतांस्तात्कालिकान्निमित्तसमकालान्विदुरन[2]ध्यायविधिज्ञाः । 'विदुः' इत्यनेन' स्मृत्यन्तरोक्तानन्यानपि संगृह्णाति । यथाह मनुः (४।११२)—'शयानः प्रौढपादश्च कृत्वा चैवावसक्थि[3]काम् । नाधीयीतामिषं जग्ध्वा सूतकानाद्यमेव च ॥' इत्यादि ॥ १५१ ॥

भाषा—गदहा, ऊँट, रथ, हाथी, घोड़ा, नौका वृक्ष पर चढ़ने और ऊसर भूमि या मरुस्थल में चलने पर अनध्याय होता है । इन सैंतीस अनध्यायों का समय इनके निमित्त की सत्ता रहने तक समझना चाहिए ॥ १५१ ॥

एवमनध्यायानुक्त्वा प्रकृतानि स्नातकव्रतान्याह—

देवर्त्विक्स्नातकाचार्यराज्ञां छायां परस्त्रियाः ।
नाक्रामेद्रक्तविण्मूत्रष्ठीवनोद्वर्तनादि च ॥ १५२ ॥

देवानां देवार्चानामृत्विक्स्नातकाचार्यराज्ञां परस्त्रियाश्च छायां नाक्रामेन्नाधितिष्ठेन्न लङ्घयेद्बुद्धिपूर्वम् । यथाह मनुः (४।१३०)—'देवतानां गुरो राज्ञः स्नातकाचार्ययोस्तथा । नाक्रामेत्कामतश्छायां बभ्रुणो दीक्षितस्य च ॥' इति । बभ्रुणो नकुलवर्णस्य यस्य कस्यचिद्गोरन्यस्य वा श्यामादेः,[4] 'बभ्रुण'इति नपुंसकलिङ्गनिर्देशात् । रक्तादीनि च नाधितिष्ठेत् । 'आदि' ग्रहणात्स्नानोदकादेर्ग्रहणम् । (मनु. ४।१३२)—'उद्वर्तनमपस्नानं विण्मूत्रे रक्तमेव च । श्लेष्मनिष्ठ्यूतवान्तानि नाधितिष्ठेत कामतः ॥' इति ॥ १५२ ॥

भाषा—देवता, ऋत्विज्, स्नातक, आचार्य, राजा और पर स्त्री की छाया न लाँघे । रुधिर, विष्ठा, मूत्र, खखार, उद्वर्तन (उबटन की झीली) (तथा स्नान करने पर गिरे हुए जल) को भी न लाँघे ॥ १५२ ॥

विप्राहिक्षत्रियात्मानो नावज्ञेयाः कदाचन ।
आ मृत्योः श्रियमाकाङ्क्षेन्न कञ्चिन्मर्माणि स्पृशेत् ॥ १५३ ॥

विप्रो बहुश्रुतो ब्राह्मणः, अहिः सर्पः, क्षत्रियो नृपतिः, एते कदाचिदपि नावमन्तव्याः । आत्मा च स्वयं नावमन्तव्यः । आमृत्योर्यावज्जीवं श्रिय-

---

१. ऊखरं । २. रध्ययन रध्यापन । ३. कृतावसक्थिक ऊरुभ्यासमर्पितः । ४. सोमादेः ।

मिच्छेत्। न कथंचित् पुरुषं मर्मणि स्पृशेत् कस्यचिदपि मर्म दुश्चरितं न प्रकाशयेत् ॥ १५३ ॥

भाषा—(वेदज्ञ) ब्राह्मण, साँप, क्षत्रिय (या राजा) तथा अपने आत्मा का कभी भी अपमान नहीं करना चाहिए। किसी व्यक्ति का हृदय न दुखाते हुए जीवनपर्यन्त सुख सम्पत्ति की आकांक्षा रखे ॥ १५३ ॥

दूरादुच्छिष्टविण्मूत्रपादाम्भांसि समुत्सृजेत्।
श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ्नित्यमाचारमाचरेत् ॥ १५४ ॥

भोजनादुच्छिष्टं विण्मूत्रे पादप्रक्षालनोदकं च गृहाद्दूरात्समुत्सृजेत्। श्रौतं स्मार्तं चाचारं नित्यं सम्यगनुतिष्ठेत् ॥ १५४ ॥

भाषा—(भोजन का) उच्छिष्टांश, मल-मूत्र तथा पैर धोने से दूषित जल को घर से दूर फेंकना चाहिए। श्रुति एवं स्मृति में बताए गये नियमों का प्रतिदिन भलीभाँति पालन करे ॥ १५४ ॥

गोब्राह्मणानलान्नानि नोच्छिष्टो न पदा स्पृशेत्।
न निन्दाताडने कुर्यात्पुत्रं शिष्यं च ताडयेत् ॥ १५५ ॥

गां ब्राह्मणमग्निं अन्नमदनीयं, विशेषतः पक्वमशुचिर्न स्पृशेत्। पादेन त्वनुच्छिष्टोऽपि। यदा पुनः प्रमादात्स्पृशति तदा आचमनोत्तरकालम्—'स्पृष्ट्वैतानशुचिर्नित्यमद्भिः प्राणानुपस्पृशेत्। गात्राणि चैव सर्वाणि नाभिं पाणितलेन तु ॥' इति (४।१४३) मनूक्तं कार्यम्। एवं प्राणादीनुपस्पृशेत्। कस्यचिदपि निन्दाताडने न कुर्यात्। एतच्चानपकारिणि। मनुः (४।१६७)-'अयुध्यमानस्योत्पाद्य ब्राह्मणस्यासृगङ्गतः। दुःखं सुमहदाप्नोति प्रेत्याप्राज्ञतया नरः ॥' इति। पुत्रशिष्यौ शिक्षार्थमेव ताडयेत्। चकाराद्दासादीनपि। ताडनं च रज्ज्वादिनोत्तमाङ्गव्यतिरेकेण कार्यम्; 'शिष्यशिष्टिरवधेनाशक्तौ[1] रज्जुवेणुविदलाभ्यां तनुभ्यामन्येन घ्नन् राज्ञा शास्यते' (२।४२,४४) इति गौतमवचनात्। '—पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमाङ्गे कथंचन' इति (८।३००) मनुवचनात् ॥ १५५ ॥

भाषा—गाय, ब्राह्मण, अग्नि और अन्न को अशुद्ध रहने पर न छूए और न इन्हें पैर से छूए। किसी की निन्दा नहीं करनी चाहिए और न किसी को मारना-पीटना चाहिए, किन्तु पुत्र और शिष्य को (पढ़ाते समय) मारना चाहिए ॥ १५५ ॥

कर्मणा मनसा वाचा यत्नाद्धर्मं समाचरेत्।
अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्म्यमप्याचरेन्न तु ॥ १५६ ॥

---

1. रवधेन बाधनाशक्तौ।

कर्मणा कायेन यथाशक्ति धर्ममनुतिष्ठेत् तमेव मनसा ध्यायेत् वाचा च वदेत्। [1]धर्मं विहितमपि लोकविद्विष्टं लोकाभिशस्तिजननं मधुपर्के गोवधादिकं नाचरेत्। यस्मादस्वर्ग्यम[2]ग्नीषोमीयवत्स्वर्गसाधनं न भवति ॥ १५६ ॥

भाषा—कर्म, मन और वचन से यत्नपूर्वक धर्म का आचरण करे, धर्म-विहित होने पर भी लोकविरुद्ध कर्म हो और उससे स्वर्ग की प्राप्ति न हो तो उसे नहीं करना चाहिए ॥ १५६ ॥

मातृपित्रतिथिभ्रातृजामिसम्बन्धिमातुलैः ।
वृद्धबालातुराचार्यवैद्यसंश्रितबान्धवैः ॥ १५७ ॥
ऋत्विक्पुरोहितापत्यभार्यादाससनाभिभिः ।
विवादं वर्जयित्वा तु सर्वाल्लोकाञ्जयेद् गृही ॥ १५८ ॥

माता जननी, पिता जनकः, अतिथिरध्वनीनः, भ्रातरो भिन्नोदरा अपि। जामयो विद्यमानभर्तृकाः स्त्रियः, संबन्धिनो वैवाह्याः मातुलो मातुर्भ्राता, वृद्धः सप्तत्युत्तरवयस्कः, बाल आ षोडशाद्वर्षात् , आतुरो रोगी, आचार्य उपनेता, वैद्यो विद्वान् भिषग्वा, संश्रितः उपजीवी, बान्धवाः पितृपक्ष्या मातृपक्ष्याश्च, मातुलस्य पृथगुपादानमादरार्थम् । ऋत्विग्याजकः, पुरोहितः शान्त्यादेः कर्ता, अपत्यं पुत्रादि, भार्या सहधर्मचारिणी, दासः कर्मकरः, सनाभयः सोदराः, भ्रातृभ्यः पृथगुपादानमजाभिभगिनीप्राप्त्यर्थम् । एतैर्मात्रादिभिः सह वाक्कलहं परित्यज्य सर्वान्प्राजापत्यादीन् लोकान्प्राप्नोति ॥ १५७–१५८ ॥

भाषा—माता, पिता, अतिथि, भाई, सुहागिन स्त्री, सम्बन्धी, मामा, वृद्ध, बालक, रोगी, आचार्य, वैद्य, आश्रितजन, (पिता एवं माता पक्ष के) बान्धव, ऋत्विज, पुरोहित, पुत्र पत्नी, दास और सोदर भाइयों के साथ विवाद न करके गृहस्थ सभी लोकों को प्राप्त करता है १५७–१५८ ॥

पञ्च पिण्डाननुद्धृत्य न स्नायात्परवारिषु ।
स्नायान्नदीदेवखातह्रदप्रस्रवणेषु च ॥ १५९ ॥

परवारिषु परसंबन्धिषु सर्वतस्त्वोद्देशेनात्यक्तेषु तडागादिषु पञ्च पिण्डाननुद्धृत्य न स्नायात्। अनेनात्मीयोत्सृष्टाभ्यनुज्ञातेषु पिण्डोद्धारम[3]न्तरापि स्नानमभ्यनुज्ञातम्। नद्यादिषु कथं तर्हीत्याह—स्नायान्नदीति। साक्षात्परम्परया वा समुद्रगाः स्रवन्त्यो नद्यः, देवखातं देवनिर्मितं पुष्करादि, उदकप्रवाहाभिपातकृत्सजलो महानिम्नप्रदेशो ह्रदः, पर्वताद्युच्चप्रदेशात्प्रसृतमुदकं प्रस्रवणम्, एतेषु पञ्चपिण्डानुद्धरणेनैव स्नायात्। एतच्च नित्यस्नानविषयं सति संभवे मनुः

---

१. धर्म्यम्। २. मग्निष्टोमीयवत्। ३. मन्तरेणापि।

(४।२०३)—'नदीषु देवखातेषु तडागेषु सरःसु च। स्नानं समाचरेन्नित्यं गर्तप्रस्रवणेषु च ॥' इति 'नित्य'ग्रहणात्। शौचाद्यर्थं तु यथासंभवं परवारिषु पिण्डानुद्धरणे सर्वस्य निषेधः ॥ १५९ ॥

भाषा—दूसरे के पोखरे में पांच मुट्ठी मिट्टी निकाले बिना स्नान न करे। नदी, प्राकृतिक जलाशय (पुष्कर आदि), जलकुण्ड और झरने में (बिना मिट्टी निकाले ही) स्नान करे ॥ १५९ ॥

परशय्यासनोद्यानगृहयानानि वर्जयेत्।
अदत्तान्यग्निहीनस्य नान्नमद्यादनापदि ॥ १६० ॥

शय्या कशिपुः; आसनं पीठादि; उद्यानमाम्रादिवनम्। गृहं प्रसिद्धम्, यानं रथादि, परसंबन्धीन्येतान्यदत्तान्यननुज्ञातानि वर्जयेत् नोपभुञ्जीत। अभोज्यान्नान्याह—अग्निहीनस्येति। अग्निहीनस्य श्रौतस्मार्ताग्न्याधिकाररहितस्य शूद्रस्य प्रतिलोमजस्य च अधिकारवतोऽप्यग्निरहितस्यान्नमनापदि न भुञ्जीत, न प्रतिगृह्णीयाच्च। तस्मात्प्रशस्तानां स्वकर्मशुद्धजातीनां ब्राह्मणो भुञ्जीत प्रतिगृह्णीयाच्च' (१७ : १,२ इति गौतमवचनात्) ॥ १६० ॥

भाषा—दूसरे की शय्या, आसन, उद्यान, घर और सवारी का उसकी अनुमति के बिना उपयोग न करे। आपत्तिकाल न हो तो (श्रौतस्मार्त अग्नि के अधिकार से वञ्चित (शूद्र एवं प्रतिलोमज) अग्नि का आधान न करने वाले व्यक्ति का अन्न न ग्रहण करे ॥ १६० ॥

कदर्यबद्धचौराणां क्लीबरङ्गावतारिणाम्।
वैणाभिशस्तवार्धुष्यगणिकागणदीक्षिणाम् ॥ १६१ ॥

कदर्यो लुब्धः, 'आत्मानं धर्मकृत्यं च पुत्रदारांश्च पीडयेत्। लोभाद्यः पितरौ भृत्यान्स कदर्य इति स्मृतः ॥' (देवल) इत्युक्तः। बद्धो निगडादिना वाचा संनिरुद्धश्च, चौरो ब्राह्मणसुवर्णव्यतिरिक्तपरस्वापहारी, क्लीबो नपुंसकः, रङ्गावतारी नटचारणमल्लादिः, वेणुच्छेदजीवी, वैणः अभिशस्तः पतनीयैः कर्मभिर्युक्तः, वार्धुष्यो निषिद्धवृद्ध्युपजीवी,[1] गणिका पण्यस्त्री, गणदीक्षी बहुयाजकः। एतेषामन्नं नाश्नीयादित्यनुवर्तते ॥ १६१ ॥

भाषा—लोभी, (बेड़ी आदि से) बद्ध, चोर, नपुंसक, नट, चारण, मल्ल आदि रङ्गावतारी, वैण, पातक कर्मों से युक्त मनुष्य का, (अनुचित) ब्याज लेनेवाले, वेश्या और बहुयाजक का (अन्न नहीं खाना चाहिए) ॥ १६१ ॥

---

1. वृद्ध्युपजीवी।

चिकित्सकातुरक्रुद्धपुंश्चलीमत्तविद्विषाम् ।
क्रूरोग्रपतितव्रात्यदाम्भिकोच्छिष्टभोजिनाम् ॥ १६२ ॥

चिकित्सको भिषग्वृत्त्युपजीवी, आतुरो महारोगोपसृष्टः, 'वातव्याध्यश्मरीकुष्ठमेहोदरभगन्दराः । अर्शांसि ग्रहणीत्यष्टौ महारोगाः प्रकीर्तिताः' इति । क्रुद्धः कुपितः, पुंश्चली व्यभिचारिणी, मत्तो विद्यादिना गर्वितः विद्विट् शत्रुः, क्रूरो ह्लाभ्यन्तरकोपः, वाक्कायव्यापारेणोद्वेजक उग्रः, पतितो ब्रह्महादिः, व्रात्यः पतितसावित्रीकः, दाम्भिको वञ्चकः, उच्छिष्टभोजी परभुक्तोज्झिताशी, एतेषां चिकित्सकादीनामन्नं नाश्नीयात् ॥ १६२ ॥

भाषा—चिकित्सक, रोगी, क्रोधी, व्यभिचारिणी, (विद्या आदि के) अभिमानी, शत्रु, क्रूर, उद्धत, पतित, (सावित्रीदान से च्युत) व्रात्य, धोखेबाज और जूठा भोजन करने वाले व्यक्ति का (अन्न नहीं खाना चाहिए) ॥ १६२ ॥

अवीरास्त्रीस्वर्णकारस्त्रीजितग्रामयाजिनाम् ।
शस्त्रविक्रयिकर्मारतन्तुवायश्ववृत्तिनाम् ॥ १६३ ॥

अवीरा स्त्री स्वतन्त्रा-व्यभिचारमन्तरेणापि । पतिपुत्ररहितेत्यर्थः । स्वर्णकारः सुवर्णस्य विकारान्तरकृत्, स्त्रीजितः सर्वत्र स्त्रीवशवर्ती, ग्रामयाजी ग्रामस्य शान्त्यादिकर्ता, बहूनामुपनेता वा । शस्त्रविक्रयी शस्त्रविक्रयोपजीवी, कर्मारो लोहकारः तक्षादिश्च, तन्तुवायः सूचिशिल्पोपजीवी । श्वभिर्वृत्तिर्वर्तनं जीवनमस्यास्तीति श्ववृत्ती, एतेषामन्नं नाश्नीयात् ॥ १६३ ॥

भाषा—कुलटा (स्वतन्त्र रहने वाली स्त्री), स्वर्णकार, (सर्वत्र) स्त्री के वश में रहने वाले, गांव भर के लिए यज्ञ करने वाले (या अनेक व्यक्तियों का उपनयन करने वाले), शस्त्र बेचनेवाले, लोहार, तन्तुवाय (जुलाहा तथा दर्जी) और कुत्तों के सहारे वृत्ति चलाने वाले का (अन्न नहीं खाना चाहिए) ॥ १६३ ॥

नृशंसराजरजककृतघ्नवधजीविनाम् ।
चैलधावसुराजीवसहोपपतिवेश्मनाम् ॥ १६४ ॥
पिशुनानृतिनोश्चैव तथा चाक्रिकबन्दिनाम् ।
एषामन्नं न भोक्तव्यं सोमविक्रयिणस्तथा ॥ १६५ ॥

नृशंसो निर्दयः, राजा भूपतिः, तत्साहचर्यात्पुरोहितश्च । यथाह शङ्खः—'भीतावगीतरुदिताक्रन्दितावघुष्टक्षुधितपरिभुक्तविस्मितोन्मत्तावधूतराजपुरोहितान्नानि वर्जयेत्' इति । रजको वस्त्रादीनां नीलादिरागकारकः[1], कृतघ्न उपकृतस्य हन्ता वधजीवी प्राणिनां वधेन वर्तकः, चैलधावो वस्त्रनिर्णेजनकृत्, सुराजीवी मद्यविक्रयजीवी, उपपतिर्जारः । सहोपपतिना वेश्म यस्यासौ सहोपपतिवेश्मा ।

1. नील्यादिरागकरः ।

पिशुनः परदोषस्य ख्यापकः, अनृती मिथ्यावादी, चाक्रिकस्तैलिकः, शाकटिकश्चेत्येके। 'अभिशस्तः पतितश्चाक्रिकस्तैलिक' इति भेदेनाभिधानात्। बन्दिनः स्तावकाः, सोमविक्रयी सोमलताया विक्रेता, एतेषामन्नं न भोक्तव्यम्। सर्वे चैते कदर्यादयो द्विजा एव कदर्यत्वादिदोषदुष्टा अभोज्यान्नाः। इतरेषां प्राप्त्यभावात् प्राप्तिपूर्वकत्वाच्च निषेधस्य॥ १६४–१६५॥

भाषा—निर्दयी, राजा, रंगरेज, कृतघ्न, वधिक, धोबी, मद्य बेचने वाले कुलाल, जिसके घर में जार निवास कर रहा हो उस पुरुष का, दूसरे का दोष फैलाने वाले, झूठ बोलने वाले, तेली या गाड़ीवान, बन्दीजन एवं सोमलता के विक्रेता का अन्न नहीं खाना चाहिए॥ १६४–१६५॥

'अग्निहीनस्य नान्नमद्यादनापदि' (आचार. १६०) इत्यत्र शूद्रस्याभोज्यान्नत्वमुक्तं, तत्र प्रतिप्रसवमाह—

> शूद्रेषु दासगोपालकुलमित्रार्धसीरिणः।
> भोज्यान्ना नापितश्चैव यश्चात्मानं निवेदयेत्॥ १६६॥

दासा गर्भदासादयः। गोपालो गवां पालनेन यो जीवति। कुलमित्रं पतृपितामहादिक्रमायातः। अर्धसीरी हलपर्यायसीरोपलक्षितकृषिफलभागग्राही। नापितो गृहव्यापारकारयिता, नापितश्च। यश्च वाङ्मनः कायकर्मभिरात्मानं निवेदयति तवाहमिति। एते दासादयः शूद्राणां मध्ये भोज्यान्नाः। चकारात्कुम्भकारश्च; 'गोपनापितकुम्भकारकुलमित्रार्धिकनिवेदितात्मानोभोज्यान्नाः' इति वचनात्॥ १६६॥

भाषा—शूद्रों में दास, अहीर या ग्वाला, कुल के मित्र (जिनसे पिता, पितामह के समय से मित्रता का व्यवहार हो), साझे पर खेती करने वाले का, नाई का तथा (वाणी, मन, शरीर एवं कर्म से) आत्मनिवेदन करनेवाले व्यक्ति का (तथा कुम्भकार का) अन्न खाने योग्य होता है॥ १६६॥

इति स्नातकधर्मप्रकरणम्।

भक्ष्याभक्ष्यप्रकरणम्

'न स्वाध्याय विरोध्यर्थम्' (आचार. १२९) इत्यत आरभ्य ब्राह्मणस्य स्नातकव्रतान्यभिधायेदानीं द्विजातिधर्मानाह—

> अनर्चितं वृथामांसं केशकीटसमन्वितम्।
> शुक्तं पर्युषितोच्छिष्टं श्वस्पृष्टं पतितेक्षितम्॥ १६७॥

---

१. प्रतिषेधस्य। २. गवां पालकः गवां पालनेन। ३. कर्मस्थायी।

उदक्यास्पृष्टसंघुष्टं पर्यायान्नं च वर्जयेत्।
गोघ्रातं शकुनोच्छिष्टं पदा स्पृष्टं च कामतः ॥ १६८ ॥

अनर्चितं अर्चार्हाय यदवज्ञया दीयते। वृथामांसं वक्ष्यमाणप्राणात्ययादिव्यतिरेकेण देवाद्यर्चनावशिष्टं च यन्न भवति आत्मार्थमेव यत्साधितम्। केशकीटादिभिश्च समन्वितं संयुक्तम्। यत्स्वयमनम्लं केवलं कालपरिवासेन द्रव्यान्तरसंसर्गकालपरिवासाभ्यां वाम्लीभवति तच्छुक्तं दध्यातिव्यतिरेकेण 'न पापीयसोऽन्नमश्नीयान्न द्विःपक्वं, न शुक्तं, न पर्युषितं, अन्यत रागखाण्डवचुक्रदधिगुडगोधूमयवपिष्टविकारेभ्यः' इति शङ्खस्मरणात्। पर्युषितं राज्यन्तरितम्। उच्छिष्टं भुक्तोज्झितम्. श्वस्पृष्टं शुना स्पृष्टम्, पतितेक्षितं पतितादिभिरीक्षितम्, उदक्या रजस्वला तया स्पृष्टम्, 'उदक्या'ग्रहणं चण्डालाद्युपलक्षणार्थम्; 'अमेध्यपतितचण्डालपुल्कसरजस्वलाकुनखिकुष्ठिसंस्पृष्टान्नं वर्जयेत्' इति शङ्खस्मरणात्। 'को भुङ्क्ते'? इति यदाघुष्य दीयते तत्संघुष्टान्नम्। अन्यसम्बन्ध्यन्यव्यपदेशेन यद्दीयते तत्पर्यायान्नम्, यथा—'ब्राह्मणान्नं ददच्छूद्रः शूद्रान्नं ब्राह्मणो ददत्। उभावेतावभोज्यान्नौ भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति। 'पर्याचान्तम्' इति पाठे परिगतमाचान्तं गण्डूषग्रहणं यस्मिन् तत्पर्याचान्तं, तन्न भोक्तव्यम्। एतदुक्तं भवति—गण्डूषग्रहणादूर्ध्वं आचमनात्प्राक् न भोक्तव्यमिति। 'पार्श्वाचान्तम्' इति पाठे एकस्यां पङ्क्तौ पार्श्वस्थे आचान्ते न भोक्तव्यं भस्मोदकादिविच्छेदेन विना। 'वर्जयेत्' इति प्रत्येकं संबध्यते। तथा गोघ्रातं गवा घ्रातम्। शकुनोच्छिष्टं शकुनेन काकादिना भुक्तमास्वादितम्। पदा स्पृष्टं बुद्धिपूर्वं पादेन स्पृष्टं वर्जयेत् ॥ १६७–१६८ ॥

भाषा—अवज्ञा के साथ दिया गया अन्न, (देवता के लिए नहीं, अपितु अपने लिए पकाया गया) बेकार मांस, जिस अन्न में बाल या कीड़े पड़े हों, खट्टा हो गया हो, बासी, जूठा, कुत्ते द्वारा छुआ गया, पतित व्यक्ति द्वारा देखा गया, रजस्वला स्त्री द्वारा छुआ गया, 'कौन खायगा ?' ऐसा पुकार करके दिया गया, दूसरे के लिए बनाकर किसी और को दिया गया; गाय द्वारा सूँघा गया, किसी पक्षी द्वारा जूठा किया गया और जानबूझ कर पैर से छुआ गया अन्न नहीं खाना चाहिए ॥ १६७–१६८ ॥

पर्युषितस्य प्रतिप्रसवमाह—

अन्नं पर्युषितं भोज्यं स्नेहाक्तं चिरसंस्थितम्।
अस्नेहा अपि गोधूमयवगोरसविक्रियाः ॥ १६९ ॥

---

१. सक्तुपायकतैल।

अन्नमदनीयं पर्युषितं घृतादिस्नेहसंयुक्तं चिरकालसंस्थितमपि भोज्यम्। गोधूमयवगोरसविक्रियाः मण्डकसक्तुकिलाटकूर्चिकादयः अस्नेहा अपि चिरकालसंस्थिता भोज्याः, यदि विकारान्तरमनापन्नाः, 'अपूपधानाकरम्भसक्तुयोवकतैलपायसशाकानि शुक्तानि वर्जयेत्' (१४।३७) इति वसिष्ठस्मरणात् ॥

भाषा—घृत आदि चिकनाई से युक्त देर से भी रखा हुआ भोजन खाना चाहिए। गेहूँ, जौ और दूध से बनाया गया भोजन यदि चिकनाई से युक्त न भी हो तो भी (चिरकालोपरान्त भी) ग्रहण किया जा सकता है ॥ १६९ ॥

संधिन्यनिर्दशावत्सागोपयः परिवर्जयेत्।
औष्ट्रमैकशफं स्त्रैणमारण्यकमथाविकम् ॥ १७० ॥

गौः या वृषेण संधीयते सा संधिनी। 'वशां वन्ध्यां विजानीयाद्वृषाक्रान्तां च संधिनीम्' इति त्रिकाण्डीस्मरणात्। या चैकां वेलामतिक्रम्य दुह्यते, या च वत्सान्तरेण संधीयते सा संधिनी। प्रसूता सत्यनतिक्रान्तदशाहा अनिर्दशा, मृतवत्सा अवत्सा, संधिनी च अनिर्दशा च अवत्सा च संधिन्यनिर्दशावत्सास्ताश्च गावश्च तासां पयः क्षीरं परिवर्जयेत्। 'संधिनी' ग्रहणं संधिनीयमलसुवोरुपलक्षणार्थम्। यथाह गौतमः (१७।२५)—'स्यन्दिनीयमसूसंधिनीनां च' इति। स्रवत्पयःस्तनी स्यन्दिनी, यमलसूर्यमलप्रसविनी, एवमजामहिष्योश्चानिर्दशयोः पयो वर्जयेत्, 'गोमहिष्यजानामनिर्दशानाम्' (१४।३५) इति वसिष्ठस्मरणात्। पयोग्रहणात्तद्विकाराणामपि दध्यादीनां निषेधः। नहि मांसनिषेधे तद्विकाराणामनिषेधो[1] युक्तः। विकारनिषेधे तु प्रकृतेरनिषेधो युक्तः। पयोनिषेधाच्छकृन्मूत्रादेरनिषेधः। उष्ट्राजातमौष्ट्रं पयोमूत्रादि। एकशफा वडवादयः, तत्प्रभवं ऐकशफम्। स्त्रीभवं स्त्रैणम्। 'स्त्री'ग्रहणमजाव्यतिरिक्तसकलद्विस्तनीनामुपलक्षणार्थम्।—'सर्वासां द्विस्तनीनां क्षीरमभोज्यमजावर्ज्यम्' इति शङ्खस्मरणात्। अरण्ये भवा आरण्यकास्तदीयमारण्यकं क्षीरं महिषव्यतिरेकेण[2]। 'आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां माहिषं विना' (मनु. ५।९) इति वचनात्। अवेर्जातमाविकम्। 'वर्जयेत्' इति प्रत्येकमभिसंबध्यते। औष्ट्रमित्यादिविकारप्रत्ययनिर्देशात्तद्विकारमात्रस्य पयोमूत्रादेः सर्वदा निषेधः, 'नित्यमाविकमपेयमौष्ट्रमैकशफं च' (१७।२४) इति गौतमस्मरणात् ॥ १७० ॥

भाषा—संधिनी (बरदाई हुई, एक जून दूध देने वाली, दूसरी गाय के बछड़े से दुही जाने वाली), दस दिन से कम पहले की ब्याई हुई गाय का तथा जिसका बच्चा मर गया हो ऐसी गाय का दूध नहीं पीना चाहिए। ऊँटनी एक

१. रनिषेधो युक्तः। २. व्यतिरिक्तम्।

खुरवाली पशुमादा (घोड़ी आदि), जंगली पशु और भेड़ का भी दूध न पीवे ॥ १७० ॥

देयतार्थं हविः शिग्रुं लोहितान्व्रश्चनांस्तथा ।
अनुपाकृतमांसानि विड्जानि कवकानि च ॥ १७१ ॥

देवतार्थं बल्युपहारनिमित्तं साधितम् । हविः हवनार्थं सिद्धं प्राक् होमात् । शिग्रुः सोभाञ्जनः,[1] लोहितान् वृक्षनिर्यासान् । व्रश्चनप्रभवान् वृक्षच्छेदनजातान-लोहितानपि । यथाह मनुः—(५।६) । 'लोहितान्वृक्षनिर्यासान्व्रश्चनप्रभवांस्तथा' इति । 'लोहित'ग्रहणात् हिङ्गुकर्पूरादीनामनिषेधः । अनुपाकृतमांसानि यज्ञेऽहुतस्य पशोर्मांसानि, विड्जानि मनुष्यादिजग्धबीजपुरीषोत्पन्नानि[2] तण्डु-लीयकप्रभृतीनि च, कवकानि छत्राकाणि, 'वर्जयेत्' इति प्रत्येकमभि-संबध्यते ॥ १७१ ॥

भाषा—देवता के लिए साधित बलि, हवन सामग्री, सोभाजन, गोंद, वृक्ष के काटने पर निकले हुए द्रव, यज्ञ में अनाहूत पशु का मांस, विष्ठा के स्थान पर उत्पन्न अन्न और कुकुरमुत्ता आदि का भोजन न करे ॥ १७१ ॥

क्रव्यादपक्षिदात्यूहशुकप्रतुदटिट्टिभान् ।
सारसैकशफान्हंसान्सर्वांश्च ग्रामवासिनः ॥ १७२ ॥

क्रव्यादा आममांसादनशीलाः, पक्षिणो गृध्रादयः, दात्यहश्चातकः, शुकः कीरः । चञ्च्वा प्रतुद्य भक्षयन्तीति प्रतुदाः श्येनादयः, टिट्टिभस्तच्छब्दानुकारी, सारसो लक्ष्मणः, एकशफा अश्वादयः, हंसाः प्रसिद्धाः, ग्रामवासिनः पारावत-प्रभृतयः, एतान्क्रव्यादादीन्वर्जयेत् ॥ १७२ ॥

भाषा—शव का मांस खाने वाले गृध्र आदि पक्षी, चातक, तोता, चोंच से नोचकर खाने वाले बाज आदि पक्षी, सारस, एक खुर वाले पशु (घोड़े आदि), हंस और ग्राम में रहने वाले सभी पक्षियों का (भक्षण न करे) ॥ १७२ ॥

कोयष्टिप्लवचक्राह्वबलाकाबकविष्किरान् ।
वृथाकृसरसंयावपायसाऽपूपशष्कुलीः ॥ १७३ ॥

कोयष्टिः क्रौञ्चः, प्लवो जलकुक्कुटः, चक्राह्वश्चक्रवाकः, बलाकाबकौ प्रसिद्धौ, नखैर्विकीर्य भक्षयन्तीति विष्किराश्चकोरादय एव गृह्यन्ते; लावक-मयूरादीनां भक्ष्यत्वात् , ग्रामकुक्कुटस्य ग्रामवासित्वादेव निषेधाच्च । एतान्को-यष्ट्यादीन्वर्जयेत् । वृथा देवताद्युद्देशमन्तरेण साधिताः कृसरसंयावपायसाऽ-

---

1. शोभाञ्जनः । 2. पुरीषस्थाने उत्पन्नानि ।

पूपशष्कुलीर्वर्जयेत्। कृसरं तिलमुद्गसिद्ध ओदनः। संयावः क्षीरगुडघृतादिकृत[1] उत्करिकाख्यः पाकविशेषः। पायसं पयसा श्रृतमन्नम्। अपूपोऽस्नेहपक्वो गोधूमविकारः। शष्कुली स्नेहपक्वो गोधूमविकारः। 'न पचेदन्नमात्मने' इति कृसरादीनां निषेधे सिद्धे पुनरभिधानं प्रायश्चित्तगौरवार्थम्॥ १७३॥

भाषा—क्रौंच, जल कुक्कुट, चक्रवाक, बलाका, बगुला, नख से छील कर खाने वाले चकोर आदि पक्षी, देवता के लिये न बनाये गये (तिल और मूंगे का) कृसर (दूध, घृत और गुड़ से बनाये गये) संयाव, खीर, पूए और पूरी को भोजन के लिये नहीं ग्रहण करना चाहिए॥ १७३॥

कलविङ्कं सकाकोलं कुररं रज्जुदालकम्।
जालपादान्खञ्जरीटानज्ञातांश्च मृगद्विजान्॥ १७४॥

कलविङ्को ग्रामचटकः, ग्रामनिवासित्वेन प्रतिषेधे सिद्धे सत्युभयचारित्वा-[2]त्पुनर्वचनम्। काकोलो द्रोणकाकः, कुरर उत्क्रोशः, राज्जुदालको वृक्षकुट्टकः, जालपादो जालाकारपादाः, अजालपादा अपि हंसाः सन्तीति हंसानां पुनर्वचनम्। खञ्जरीटः खञ्जनः, जातितो ये अज्ञाता मृगाः पक्षिणश्च, एतान्कलविङ्कादीन्वर्जयेत्॥ १७४॥

भाषा—कलविङ्क (ग्रामचटक), काकोल (द्रोणकाक), कुरर, रज्जुदालक (कठफोड़वा), जालीदार पैरों वाले पक्षी, खंजन और अज्ञात जाति वाले पशु पक्षियों के भक्षण से परहेज न रखे॥ १७४॥

चाषांश्च रक्तपादांश्च सौनं वल्लूरमेव च।
मत्स्यांश्च कामतो जग्ध्वा सोपवासस्त्र्यहं वसेत्॥ १७५॥

चाषाः किकीदिवयः रक्तपादाः कादम्बप्रभृतयः, सूनिना त्यक्तं सौनं घातस्थानभवं मांसं भक्ष्याणामपि, वल्लूरं शुष्कमांसम्, मत्स्या मीनाः, एतांश्चाषादीन्वर्जयेत्। चकाराज्ञालिकाशणछत्राककुसुम्भादीन्, 'नालिकाशणछत्राककुसुम्भालाबुविड्भवान्। कुम्भीकन्दुकवृन्ताककोविदारांश्च[3] वर्जयेत्॥' इति तथाऽकालप्ररूढानि पुष्पाणि च फलानि च। विकारवच्च यत्किंचित्प्रयत्नेन विवर्जयेत्॥' 'तथा वटप्लक्षाश्वत्थकपित्थनीपमातुलिङ्गफलानि वर्जयेत्' इति स्मरणात्। एतान्संधिनीक्षीरप्रभृतीननुक्रान्तान्कामतो भक्षयित्वा त्रिरात्रमुपवसेत्। अकामतस्त्वहोरात्रम्। 'शेषेपूपवसेदहः' (५।२०) इति मनुस्मरणात्। यत्पुनः शङ्खेनोक्तम्–'बलबलाकाहंसप्लवचक्रवाककारण्डवगृहचटककपोतपारावतपाण्डुशुकसारिकासारसटिट्टिभोलूककङ्करक्तपादचाषभासवायसकोकिलशाङ्र्वलिकुक्कुटहारीत-

1. तिलमुद्गमिश्र ओदनः। 2. उभयपरत्वात्। 3. कम्बुक।

भक्षणे द्वादशरात्रमनाहारः, पिबेद्गोमूत्रयावकम्' इति तद्बहुकालाभ्यासे मतिपूर्वं समस्तभक्षणे वा वेदितव्यम् ॥ १७५ ॥

भाषा—चाष, रक्तपाद (कादम्ब आदि), वधिक द्वारा मारे गये पशु का मांस, सूखा मांस और मछली का भक्षण न करे। इन सबका जानबूझ कर भक्षण करने पर तीन दिन तक उपवास करे ॥ १७५ ॥

पलाण्डुं विड्वराहं च छत्राकं ग्रामकुक्कुटम् ।
लशुनं गृञ्जनं चैव जग्ध्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥ १७६ ॥

पलाण्डुः स्थूलकन्दनालो लशुनानुकारी, विड्वराहो ग्रामसूकरः, छत्राकं सर्पछत्रम्, ग्रामकुक्कुटः प्रसिद्धः, लशुनं रसोनं सूक्ष्मश्वेतकन्दनालम्। गृञ्जनं लशुनानुकारिलोहितसूक्ष्मकन्दम्, एतानि षट् सकृत्कामतो जग्ध्वा भक्षयित्वा चान्द्रायणं वक्ष्यमाणलक्षणं चरेत्। ग्रामकुक्कुट-छत्राकयोः पूर्वप्रतिषेधितयोरिहाभिधानं पलाण्ड्वादिसमानप्रायश्चित्तार्थम्। मतिपूर्वं चिरतराभ्यासे तु 'छत्राकं विड्वराहं च लशुनं ग्रामकुक्कुटम्। पलाण्डुं गृञ्जनं चैव मत्या जग्ध्वा पतेद्द्विजः' इति (५।१९) मनूक्तम्। अमतिपूर्वाभ्यासे—'अमत्यैतानि षड् जग्ध्वा कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत्' (५।१९) तृतीयाध्याये, वक्ष्यमाणं 'यतिचान्द्रायणं वापि' इति द्रष्टव्यम्। अमतिपूर्वाभ्यासे तु शङ्खोक्तं—'लशुनपलाण्डुगृञ्जनविड्वराहग्रामकुक्कुटकुम्भीकभक्षणे द्वादशरात्रं पयः पिबेत्' इति ॥ १७६ ॥

भाषा—प्याज, ग्रामसूकर, छत्राक (कुकुरमुत्ता), ग्रामकुक्कुट, लहसुन, और गृञ्जन (गाजर या शलजम) का (जानबूझ कर) भक्षण करने पर चान्द्रायण व्रत करे ॥ १७६ ॥

भक्ष्याः पञ्चनखाः सेधागोधाकच्छपशल्लकाः ।
शशश्च मत्स्येष्वपि हि सिंहतुण्डकरोहिताः ॥ १७७ ॥
तथा पाठीनराजीवसशल्काश्च द्विजातिभिः ।

सेधा श्वावित्, गोधा कृकलासानुकारिणी महती, कच्छपः, कूर्मः, शल्लकः[४] शल्लकी, शशः प्रसिद्धः, पञ्चनखादीनां श्वमार्जारवानरादीनां मध्ये एते सेधादयो भक्ष्याः। चकारात्खड्गोऽपि। यथाह गौतमः (१७।२७)—'पञ्चनखाः शशशल्लकश्वाविद्गोधाखड्गकच्छपाः' इति। यथाह मनुरपि (५।१८)—'श्वाविधं शल्लकं[५] गोधां खड्गकूर्मशशांस्तथा। भक्ष्यान्पञ्चनखेष्वाहुरनुष्ट्रांश्चैकतोदतः॥' इति। यत्पुनर्वसिष्ठेन 'खड्गे तु विवदन्ति' (१४।४७) इत्यभक्ष्यत्वमुक्तं, तच्छ्राद्धादन्यत्र, 'खड्गमांसैर्भवेदत्तमक्षय्यं पितृकर्मणि' इति श्राद्धे फलश्रुति-

१. दधित्थ। २. प्रतिषिद्धयो। ३. शल्यकाः। ४. शालुकः शाली। ५. शल्यकं।

दर्शनात्। तथा मत्स्यानां मध्ये सिंहतुण्डादयो भक्ष्याः। सिंहतुण्डः सिंहमुखः, रोहितो लोहितवर्णः, पाठीनश्चन्द्रकाख्यः, राजीवः पद्मवर्णः, सह शल्कैः शुक्त्याकारैर्वर्तत इति सशल्कः। एते च सिंहतुण्डादयो [1]नियुक्ता एव भक्ष्याः। 'पाठीनरोहितावाद्यौ तियुक्तौ हव्यकव्ययोः। राजीवाः सिंहतुण्डीश्च सशल्काश्चैव सर्वशः॥' इति (५।१६) मनुस्मरणात्। 'द्विजाति'ग्रहणं शूद्रव्युदासार्थम् ॥१७७॥

भाषा—सेधा (सेंधुआर), गोधा (गोह), कछुआ शल्लक (साही) और खरगोश ये पञ्चनख (पंजे वाले) जीव भक्षण करने योग्य होते हैं। मछलियों में भी सिंही, रोहित (रोहू) पाठीन, राजीव (पद्म के समान रंग वाली) और सशल्क (शुक्ति के आकार वाली) द्विजातियों के लिये भक्ष्य होती है ॥ १७७ ॥

'अनर्चितं वृथामांसम्' (आ. १६७) इत्यारभ्य द्विजातिधर्मानुक्त्वेदानीं [2]चातुर्वर्ण्यधर्मानाह—

अतः शृणुध्वं मांसस्य विधिं भक्षणवर्जने ॥ १७८ ॥

मांसस्य प्रोक्षितादेर्भक्षणे तद्व्यतिरिक्तस्य वा निषिद्धस्य वर्जने प्रोक्षितादिव्यतिरेकेण मांसं न भक्षयामीत्येवं सङ्कल्परूपेण विधिं सामश्रवः प्रभृतयः हे मुनयः! शृणुध्वम् ॥ १७८ ॥

भाषा—अब मांस के भक्षण एवं त्याग का नियम सुनें ॥ १७८ ॥

तत्र भक्षणे विधिं दर्शयति—

प्राणात्यये तथा श्राद्धे प्रोक्षिते द्विजकाम्यया।
देवान्पितॄन्समभ्यर्च्य खादन्मांसं न दोषभाक् ॥ १७९ ॥

अन्नाभावेन व्याध्यभिभवेन वा मांसभक्षणमन्तरेण यदा प्राणबाधा भवति, तदा मांसं नियमेन भक्षयेत्। 'सर्वत एवात्मानं गोपायेत्' इत्यात्मरक्षाविधानात्। '[3]तस्मादुह न पुरायुषः स्वः कामी प्रेयात्' इति मरणनिषेधाच्च। तथा श्राद्धे मांसं निमन्त्रितो नियमेन भक्षयेत्, अभक्षणे दोषश्रवणात्, 'यथाविधि नियुक्तस्तु यो मांसं नात्ति मानवः। स प्रेत्य पशुतां याति संभवानेकविंशति ॥' (५।३५) इति मनुस्मरणात्। प्रोक्षणाख्यश्रौतसंस्कारसंस्कृतस्य पशोर्यागार्थस्याग्नीषोमीयादेर्हुतावशिष्टं मांसं प्रोक्षितं तद्भक्षयेत्; अभक्षणे[4] यागानिष्पत्तेः। द्विजकाम्यया ब्राह्मणभोजनार्थं देवपित्रर्थं च यत्साधितं तेन तानभ्यर्च्यावशिष्टं भक्षयन्न दोषभाग्भवति। एवं भृत्यभरणावशिष्टमपि; 'यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्ता मृगपक्षिणः। भृत्यानां चैव वृत्त्यर्थमगस्त्यो ह्याचरत्[5]पुरा ॥'

---

१. नियुक्तस्यैव। २. चातुर्वर्ण्यं प्रत्याह। ३. तस्मादिह। ४. अभक्षणाद्यागा। ५. ह्याचरत्तथा।

इति (५।२२) मनुस्मरणात्। 'न दोषभाक्' इति दोषाभावमात्रं वदता अतिथ्यार्चनावशिष्टस्याभ्यनुज्ञामात्रं न प्रोक्षितादिवन्नियम इति दर्शितम्। एवमप्रतिषिद्धानामपि शशादीनां प्राणात्ययव्यतिरेकेणाभक्ष्यत्वावगमात् शूद्रस्यापि मांसप्रतिबद्धः सर्वविधिनिषेधाधिकरोऽवगम्यते ॥ १७९ ॥

भाषा—जब (अन्न के अभाव में या रोग में) मांस के बिना प्राण बचना कठिन हो, श्राद्ध में, प्रोक्षण नाम के (श्रौत संस्कार) में देवताओं की आहुति से अवशिष्ट, ब्राह्मण के भोजन या देवता या पितर के लिये बनाये गये मांस को देवता और पितरों की अर्चना करके खाने वाला दोष का भागी नहीं होता है ॥ १७९ ॥

इदानीं प्रोक्षिताव्यतिरिक्तस्य वृथामांसमित्यनेन प्रतिषिद्धस्य भक्षणे निन्दार्थवादमाह—

वसेत्स नरके घोरे दिनानि पशुरोमभिः।
संमितानि दुराचारो यो हन्त्यविधिना पशून् ॥ १८० ॥

अविधिना देवताद्युद्देशमन्तरेण यः पशून्हन्ति स तस्य पशोर्यावन्ति रोमाणि तावन्ति दिनानि घोरे नरके वसेत्। 'हन्ति' इत्यष्टविधोऽपि घातको गृह्यते। यथाह मनुः (५।५१) 'अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी। संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥' इति ॥ १८० ॥

भाषा—जो दुराचारी व्यक्ति बिना विधि के (देवता या यज्ञ के लिये नहीं अपितु स्वयं अपने लिये) पशु का वध करता है, वह उतने दिन तक घोर नरक में वास करता है जितने रोएँ उस पशु के शरीर में रहे हों ॥ १८० ॥

इदानीं वर्जने विधिमाह—

सर्वान्कामानवाप्नोति हयमेधफलं तथा।
गृहेऽपि निवसन्विप्रो मुनिर्मांसविवर्जनात् ॥ १८१ ॥

यः प्रोक्षितादिव्यतिरेकेण मया मांसं न भक्षितव्यमिति सत्यसंकल्पो भवति स सर्वान्कामान् तत्साधने प्रवृत्तो निर्विघ्नं प्राप्नोति; विशुद्धाशयत्वात्। यथाह मनुः (५।४७)—'यद्ध्यायते यत्कुरुते रतिं बध्नाति यत्र च। तदवाप्नोत्यविघ्नेन यो हिनस्ति न किंचन ॥' इति। एतच्चानुषङ्गिकं फलम्। मुख्यं फलमाह—हयमेधफलं तथेति। एतच्च सांवत्सरिकसंकल्पस्य; 'वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः। मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥' इति (५।५३) मनुस्मरणात्। तथा गृहेऽपि निवसन् ब्राह्मणादिश्चातुर्वर्णिको

मुनिवन्माननीयो भवति; मांसत्यागात्। एतच्च न प्रतिषिद्धमांसविषयम्, नापि प्रोक्षितादिविषयम्, किंतु पारिशेष्यादतिथ्याद्यर्चनावशिष्टाभ्यनुज्ञातविषयमिति ॥ १८१ ॥

भाषा—(जो यज्ञ के अतिरिक्त अन्य) मांस का भक्षण न करने का सत्य-संकल्प करता है वह सभी अभिलाषाओं एवं अश्वमेध यज्ञ के फल को प्राप्त करता है। मांस का त्याग कर देने पर ब्राह्मण अपने घर में रहता हुआ भी मुनितुल्य होता है ॥ १८१ ॥

इति भक्ष्याभक्ष्यप्रकरणम्।

अथ द्रव्यशुद्धिप्रकरणम्

इदानीं द्रव्यशुद्धिमाह—

सौवर्णराजताब्जानामूर्ध्वपात्रग्रहाश्मनाम्।
शाकरज्जुमूलफलवासोविदलचर्मणाम् ॥ १८२ ॥
पात्राणां चमसानां च वारिणा शुद्धिरिष्यते।
चरुस्रुक्स्रुवसस्नेहपात्राण्युष्णेन वारिणा ॥ १८३ ॥

सौवर्णं सुवर्णकृतम्, राजतं रजतकृतम्, अब्जं मुक्ताफलशङ्खशुक्त्यादि, ऊर्ध्वपात्रं यज्ञियोलूखलादि, ग्रहादिसाहचर्यात्। ग्रहाः षोडशिप्रभृतयः, अश्मा दृषदादिः, शाकं वास्तुकादि, रज्जुः बल्वजादिनिर्मिता, मूलमार्द्रकादि, फलमाम्रादि, वासो वस्त्रम्, विदलं वैणवादि, चर्म अजादीनाम्, विदल-चर्मणो'र्ग्रहणं तद्विकाराणां छत्रवस्त्रादीनामुपलक्षणार्थम्। पात्राणि प्रोक्षणीपात्रप्रभृतीनि, चमसा होतृचमसादयः, एतेषां सौवर्णादीनां लेपरहितानामुच्छिष्टस्पर्शमात्रे वारिणा प्रक्षालनेन शुद्धिः, चरुश्चरुस्थाली, स्रुक्स्रुवौ प्रसिद्धौ, सस्नेहानि पात्राणि प्राशित्रहरणाचीनि, एतानि च लेपरहितान्युष्णेन वारिणा शुद्ध्यन्ति; 'निर्लेपं काञ्चनं भाण्डमद्भिरेव विशुद्ध्यति। अब्जमश्ममयं चैव राजतं चानुपस्कृतम् ॥' इति (५।११२) मनुस्मरणात्। अनुपस्कृतमखातपूरितम्। सलेपानां तु—'तैजसानां मणीनां च सर्वस्याश्ममयस्य च। भस्मनाऽद्भिर्मृदा चैव शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः ॥' इति (५।१११) मनूक्तं द्रष्टव्यम्। मृद्भस्मनोरेककार्यत्वाद्विकल्पः। आपस्तु समुच्चीयन्ते। काकादिमुखोपघाते तु—'कृष्णशकुनिमु[1]खावमृष्टं पात्रं निर्लिखेत्, श्वापदमुखावमृष्टं पात्रं न प्रयुञ्जीत' (गौ. सू. १७।४) इति द्रष्टव्यम्। एतच्च मार्जारादन्यत्र, 'मार्जारश्चैव दर्वी च मारुतश्च सदा शुचिः।' इति मनुस्मरणात् ॥ १८२–१८३ ॥

---

१. परिशेषात्। २. मुखावघृष्टं।

भाषा—सोने, चाँदी और अब्ज (मुक्ताफल, शंख और शुक्ति) के पात्र, (उलूखल आदि) यज्ञिय पात्र, ग्रह (यज्ञिय पात्र), पत्थर, शाक, रस्सी, मूल, (आम्र आदि) फल, वस्त्र, बाँस, (बकरी आदि का) चमड़ा, (यज्ञ का) प्रोक्षणीपात्र, (होता आदि के) चमस की शुद्धि जल से धो देने से होती है। चरुस्थाली, स्रुवा, घी आदि चिकने पदार्थ से युक्त पात्र उष्ण जल से शुद्ध होते हैं ॥ १८२–१८३ ॥

यज्ञपात्रादीनां प्रोक्षणेन शुद्धिः—

स्फ्यशूर्पाऽजिनधान्यानां मुसलोलूखलाऽनसाम्।
प्रोक्षणं संहतानां च बहूनां धान्यवाससाम् ॥ १८४ ॥

स्फ्यो वज्रो यज्ञाङ्गम्, अनः शकटम् शेषं प्रसिद्धम्, एतेषामुष्णेन वारिणा शुद्धिः। पुनः 'अजिन'ग्रहणं यज्ञाङ्गाजिनप्राप्त्यर्थम्। संहतानामुक्तशुद्धिद्रव्या[1]रब्धावयविनां बहूनां धान्यानां वाससां च। 'वासो'ग्रहणमुक्तशुद्धीनामुपलक्षणार्थम्। उक्तशुद्धीनां धान्यवासःप्रभृतीनां बहूनां च राशीकृतानां प्रोक्षणेनैव शुद्धिः। बहुत्वं च स्पृष्टापेक्षया। एतदुक्तं भवति—यदा धान्यानि वस्त्रादीनि वा राशीकृतानि तत्र चण्डालादिस्पृष्टान्यल्पानि बहूनि चास्पृष्टानि तत्र स्पृष्टानामुक्तैव शुद्धिरितरेषां प्रोक्षणमिति। तथा च स्मृत्यन्तरम्—'वस्त्रधान्यादिराशीनामेकदेशस्य दूषणे। तावन्मात्रं समुद्धृत्य शेषं प्रोक्षणमर्हति ॥' इति। यदा पुनः स्पृष्टानां बहुत्वं अस्पृष्टानां चाल्पत्वं तदा सर्वेषामेव क्षालनम्। यथाह मनुः (५।११८)—'अद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धान्यवाससाम्। प्रक्षालनेन त्वल्पानामद्भिः शौचं विधीयते ॥' इति। स्पृष्टानामस्पृष्टानां च समत्वेऽपि प्रोक्षणमेव। बहूनां प्रोक्षणविधानेनाल्पानां क्षालने सिद्धे पुनरल्पानां क्षालनवचनस्य समेषु क्षालननिवृत्त्यर्थत्वात्[2]। इयत्स्पृष्टमियदस्पृष्टमित्यविवेके तु क्षालनमेव। पाक्षिकस्यापि दोषस्य परिहर्तव्यत्वात् अनेकपुरुषोद्धार्यमाणानां तु धान्यवासःप्रभृतीनां स्पृष्टानामस्पृष्टानां च प्रोक्षणमेवेति निबन्धकृतः ॥ १८४ ॥

भाषा—स्फ्य (यज्ञवज्र), सूप, कृष्णमृगचर्म, धान्य, मूसल, उखल और शकट की भी (शुद्धि उष्ण जल से धोने पर होती है) धान्य की राशि और कई वस्त्र हों तो जल के छींटें से ही शुद्ध होती है ॥ १८४ ॥

निर्लेपानां स्पर्शमात्रदुष्टानां शुद्धिमुक्त्वेदानीं सलेपानां शुद्धिमाह—

तक्षणं दारुशृङ्गास्थ्नां गोवालैः फलसंभुवाम्।
मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिना यज्ञकर्मणि ॥ १८५ ॥

---

१. द्रव्याणां बहूनां। २. क्षालनवचननिवृ। ३. [illegible]।

दारूणां मेषमहिषादिशृङ्गाणां करिवाराहशङ्खाद्यस्थ्नाम्। 'अस्थि'ग्रहणेन दन्तानामपि ग्रहणम्। उच्छिष्टस्नेहादिभिर्लिप्तानां मृद्भस्मोदकादिभिरनपगतलेपानाम्। मनुः (५।१२६)—'यावन्नापैत्यमेध्याक्ताद्गन्धो लेपश्च तत्कृतः। तावन्मृद्वारि चादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु॥' इति सामान्यतः शुद्धिविधानात्। तक्षणं तावन्मात्रावयवापनयनं शुद्धिः। फलसंभुवां बिल्वालाबुनारिकेलादिफलसंभूतानां पात्राणां गोबालैर्घर्षणाच्छुद्धिः। यज्ञपात्राणां स्रुक्स्रुवादीनां यज्ञकर्मणि प्रयुज्यमानानां दक्षिणेन हस्तेन दर्भैर्दशापवित्रेण वा यथाशास्त्रं कर्माङ्गतया मार्जनं कर्तव्यम्। एतच्च श्रौतमुदाहरणमन्येषामपि सौवर्णादीनां पात्राणां स्मार्तलौकिकर्मसु कृतशौचानामेवाङ्गत्वमिति दर्शयितुम्। यज्ञाङ्गानां पुनः कृतशौचानामिदं दशापवित्रादिभिर्मार्जनं संस्कारार्थमिति शेषः॥ १८५॥

भाषा—भेड़ या भैंस आदि के सींग और हाथी, सूकर की अस्थियों (एवं शङ्ख) से बने हुए पात्र की शुद्धि उसे खुरचने से होती है। फल से बनाया हुआ पात्र गोबाल से रगड़ने पर शुद्ध होता है। यज्ञ के समय (स्रुक् स्रुवा आदि) यज्ञ पात्र हाथ से पोंछने पर ही शुद्ध हो जाते हैं॥ १८५॥

इदानीं सलेपानामेव केषांचिल्लेपापकर्षणे विशेषहेतूनाह—[1]

[2]सोषरोदकगोमूत्रैः शुध्यत्याविककौशिकम्।
सश्रीफलैरंशुपट्टं सारिष्टैः कुतपं तथा॥ १८६॥

ऊषरमृत्तिकासहितेन गोमूत्रेणोदकेन वा लेपापेक्षया। आविकमूर्णामयम्, कौशिकं कोशप्रभवं तसरीपट्टादि प्रक्षालितं शुद्धयति। 'उदगोमूत्रैः' इति बहुवचनं पश्चादप्युदकप्राप्त्यर्थम्। अंशुपट्टं वल्कलतन्तुकृतम्, सश्रीफलैर्बिल्वफलसहितैः, कुतपः पार्वतीयछागरोमनिर्मितकम्बलः, अरिष्टसहितै[3]रुदकगोमूत्रैः, शुध्यतीत्यनुवर्तते। एतच्चोच्छिष्टस्नेहादियोगे सति वेदितव्यम्। अल्पोपघाते तु प्रोक्षणादि, क्षालनासहत्वात्, सर्वत्र द्रव्याविनाशेनैव शुद्धेरिष्टत्वात्। तथा च देवलः—'ऊर्णाकौशेयकुतपपट्टक्षौमदुकूलजाः। अल्पशौचा भवन्त्येते शोषणप्रोक्षणादिभिः॥' इत्यभिधायाह—'तान्येवामेध्ययुक्तानि क्षालयेच्छोधनैः स्वकैः। धान्यकल्कैस्तु फलजै रसैः क्षारानुगैरपि॥' इति क्षौमवदेव शाणस्य समानयोनित्वा[4]त्। ऊर्णादिग्रहणं तदारब्धतूलिकादिप्राप्त्यर्थम्। अतस्तस्याल्पोपघातेनैव क्षालनं कार्यम्। अमेध्यलेपादन्यत्र—'तूलिकामुपधानं च पुष्परक्ताम्बरं तथा शोषयित्वातपे किंचित्करैः समार्जयेन्मुहुः॥ पश्चाच्च वारिणा

---

१. हेतुलक्षणेनाह। २. सोषैरुदक (=ऊषमृत्तिकासहितैः)। ३. अरिष्टफलसहितैः। अरिष्टसहितैः फेनकसहितैः। ४. योगत्वात्।

प्रोषय विनियुञ्जीत कर्मणि। तान्यप्यतिमलिष्ठानि यथावत्परिशोधयेत ॥' इति देवलस्मरणात्। पुष्परक्तानि कुङ्कुमकुसुम्भादिरक्तानि। 'पुष्परक्त'ग्रहणमन्यस्यापि हरिद्रादिरक्तस्य क्षालनासहस्य प्राप्त्यर्थम्, न मञ्जिष्ठादेः; तस्य क्षालनसहत्वात्। शङ्खेनाप्युक्तम्—'रागद्रव्याणि प्रोषितानि शुचीनि' इति ॥ १८६ ॥

भाषा—ऊन की वस्तुएँ कंबल आदि और तसरी पट्ट आदि ऊसर स्थान की मिट्टी (रेह) और जल या गोमूत्र से धोने पर शुद्ध होती हैं। वल्कल से बना हुआ वस्त्र इनके साथ श्रीफल मिलाकर साफ करने से स्वच्छ होते हैं और (पहाड़ी भेड़ों के रोएँ से बना हुआ) कुतप, दुशाला आदि रीठी, गोमूत्र और जल से धोये जाते हैं ॥ १८६ ॥

सगौरसर्षपैः क्षौमं पुनःपाकान्महीमयम्।
कारुहस्तः शुचिः पण्यं भैक्षं योषिन्मुखं तथा ॥ १८७ ॥

गौरसर्षपसहितैरुदकगोमूत्रैः क्षौमं क्षुमा अतसी तत्सूत्रनिर्मितं क्षौमं शुद्ध्यति। पुनः पाकेन च मृन्मयं घटादि। एतच्चोच्छिष्टस्नेहलेपे वेदितव्यम्। मनुः (५।१२३)—'मद्यैर्मूत्रैः पुरीषैश्च श्लेष्मपूयाश्रुशोणितैः। संस्पृष्टं नैव शुद्ध्येत पुनः पाकेन मृन्मयम् ॥' इति स्मरणात्। चण्डालाद्युपघाते तु त्याग एव। यथाह पराशरः—'चण्डालाद्यैस्तु संस्पृष्टं धान्यं वस्त्रमथापि वा। प्रक्षालनेन शुद्ध्येत परित्यागान्महीमयम् ॥' इति। कारवो रजकचैलधावकसूपकाराद्यास्तेषां हस्तः सदा शुचिः। शुचित्वं तत्साध्ये कर्मणि। वस्त्रधावनादौ सूतकादिसंभवेऽपि। तथा च स्मृत्यन्तरम्—'कारवः शिल्पिनो वैद्या दासीदासास्तथैव च। राजानो राजभृत्याश्च सद्यःशौचाः प्रकीर्तिताः ॥' इति। पण्यं पणार्हं विक्रेयं यवव्रीह्यादि। अनेकक्रेतृजनकरपरिघट्टितमप्यप्रयतं न भवति। सूतकादिनिमित्तेन च वणिजाम्। भिक्षाणां समूहो भैक्षं तद्ब्रह्मचार्यादिहस्तगतं अनाचान्तस्त्रीप्रदानादिनाऽशुचिरथ्याक्रमणादिना निमित्तेनापि न दुष्यति। तथा योषिन्मुखं संभोगकाले शुचि। 'स्त्रियश्च रतिसंसर्गे' इति स्मरणात् ॥ १८७ ॥

भाषा—अतसी के सूत से बना हुआ वस्त्र पीले सरसों और गोमूत्र एवं जल से स्वच्छ होता है। मिट्टी के पात्र घड़ा इत्यादि पुनः पकाने से शुद्ध होते हैं। रंगरेज, धोबी, सूपकार आदि शिल्पियों के हाथ, (जौ, धान आदि) विक्रय की वस्तु, भिक्षा का समूह और (संभोगकाल) में स्त्री का मुख सदैव पवित्र रहते हैं ॥ १८७ ॥

---

१. पुनः पाकेन। २. मद्यमूत्रपुरीषर्वा ष्ठीवनैः पूयशोणितः।

इदानीं भूशुद्धिमाह—

भूशुद्धिर्मार्जनाद्दाहात्कालाद्गोक्रमणात्तथा ।
सेकादुल्लेखनाल्लेपाद्गृहं मार्जनलेपनात् ॥ १८८ ॥

मार्जन्या पांसुतृणादीनां प्रोत्सारणं मार्जनम् । दाहस्तृणकाष्ठाद्यैः । कालो यावता कालेन लेपादिक्षयो भवति तावान् । गोक्रमणं गवां पादपरिघट्टनम्, सेकः क्षीरगोमूत्रगोमयवारिभिः प्रवर्षणं वा, उल्लेखनं तक्षणं खननं वा, लेपो गोमयादिभिः, एतैः समस्तैर्व्यस्तैर्वा मार्जनादिभिरमेध्या दुष्टा मलिना च भूमिः शुद्ध्यति । तथा च देवलः—'यत्र प्रसूयते नारी म्रियते दह्यतेऽपि वा । चण्डालाध्युषितं यत्र यत्र विष्ठादि[1]संहतिः ॥ एवं कश्मलभूयिष्ठा भूरमेध्या प्रकीर्तिता । श्वसूकरखरोष्ट्रादिसंस्पृष्टा दुष्टतां व्रजेत् । अङ्गारतुषकेशास्थिभस्माद्यैर्मलिना भवेत् ॥' इत्यमेध्या दुष्टा मलिनेति शोध्यभूमेस्त्रैविध्यमभिधाय शुद्धिविभागं दर्शयति—'पञ्चधा वा चतुर्धा वा भूरमेध्यापि शुद्ध्यति । दुष्टापि वा त्रिधा द्वेधा शुद्ध्यते मलिनैकधा ॥' इति । यत्र मनुष्या दह्यन्ते यत्र चाण्डालैरध्युषितं तत्र[3] पञ्चभिर्दहनकालगोक्रमणसेकोल्लेखनैः शुद्धिः । यत्र मनुष्या जायन्ते यत्र च म्रियन्ते यत्र चात्यन्तं विष्ठादिसंहतिः तासां दाहवर्जितैस्तैरेव चतुर्भिः । श्वसूकरखरैश्चिरकालमध्युषितायाः गोक्रमणसेकोल्लेखनैस्त्रिभिः । उष्ट्रग्रामकुक्कुटादिभिश्चिरकालमधिवासितायाः सेकोल्लेखनाभ्यां शुद्धिः । अङ्गारतुषकेशादिभिश्चिरकालमधिवासिताया उल्लेखनेन शुद्धिः । मार्जनानुलेपने तु सर्वत्र समुच्चीयेते । एवं गृहं मार्जनलेपनाभ्यां शुद्ध्यति । गृहस्य पृथगुपादानं संमार्जनलेपनयोः प्रतिदिवसं प्राप्त्यर्थम् ॥[2] १८८ ॥

भाषा—पृथ्वी की शुद्धि (झाड़ू आदि से) झाड़ने, जलाने, समय बीतने, गाय के पैर पड़ने, (दूध, गोमूत्र, और जल) छिड़कने, खोदने, गोबर आदि से) लीपने से होती है । इसी प्रकार घर झाड़ने और लीपने से शुद्ध होता है ॥ १८८ ॥

गोघ्रातेऽन्ने तथा केशमक्षिकाकीटदूषिते ।
सलिलं भस्म मृद्वाऽपि प्रक्षेप्तव्यं विशुद्धये ॥ १८९ ॥

गोघ्राते गोनिःश्वासोपहतेऽन्ने अदनीयमात्रे । तथा केशमक्षिकाकीटदूषिते । 'केश' ग्रहणं लोमादिप्राप्त्यर्थम् । कीटाः पिपीलिकादयः । उदकं भस्म मृद्वा यथासंभवं प्रक्षेप्तव्यं शुद्ध्यर्थम् । यत्तु गौतमेनोक्तम् (१७।८-९)—'नित्यमभोज्यं केशकीटावपन्नम्' इति तत्केशकीटादिभिः सह यत्पक्वं तद्विषयम् ॥ १८९ ॥

---

१. संगतिः । २. विशुद्ध्यति । ३. तस्याः पञ्चका, तयोः पञ्च ।

भाषा—अन्न के गौ द्वारा सूंघ लिये जाने पर, उसमें केश, मक्खी या चींटी आदि कीड़ा होने पर उसे शुद्ध करने के लिये उसमें जल, राख या मिट्टी डालनी चाहिए ॥ १८९ ॥

त्रपुसीसकताम्राणां क्षाराम्लोदकवारिभिः।
भस्माद्भिः कांस्यलोहानां शुद्धिः प्लावो द्रवस्य च[1] ॥ १९० ॥

त्रपुप्रभृतीनि प्रसिद्धानि, तेषां क्षारोदकेनाम्लोदकेन वारिणा चोपघातापेक्षया समस्तैर्व्यस्तैर्वा शुद्धिः कार्या। कांस्यलोहानां भस्मोदकेन[2]। 'ताम्र'-ग्रहणाद्रीतिकावृत्तिलोहयोर्ग्रहणम्, एकयोनित्वात्। एतच्च ताम्रादीनामम्लोदकादिभिः शुद्ध्यभिधानं न नियमार्थम्। 'मलसंयोगजं तज्जं यस्य येनोपहन्यते। तस्य तच्छोधनं प्रोक्तं सामान्यं द्रव्यशुद्धिकृत् ॥' इत्यविशेषेण स्मरणात्। अतो न ताम्रादेरुच्छिष्टोदकादिलेपस्यान्येनापगमसंभवे नियमेनाम्लोदकादिना शुद्धिः[3] कार्या। अत एव मनुना सामान्येनोक्तम्—(५।११४) 'ताम्रायःकांस्यरैत्यानां त्रपुणः सीसकस्य च। शौचं यथार्हं कर्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभिः ॥' इति। यत्तु—भस्मना शुद्ध्यते कांस्यं ताम्रमाम्लेन शुद्ध्यति' इति, तत्ताम्रादेः शौचस्य परां काष्ठां प्रतिपादयितुं नान्यस्य निषेधाय। यदा तूपघातातिशयस्तदाम्लोदकादीनामावृत्तिः, 'गवाघ्रातानि कांस्यानि शूद्रोच्छिष्टानि यानि च। शुद्ध्यन्ति दशभिः क्षारैः श्वकाकोपहतानि च ॥' (आपस्तंब) इति स्मरणात्। ([4]दशक्षारानाह—'तिलमुष्ककशिग्रूणां कोकिलाक्षपलाशयोः। काकजङ्घा तथावज्ञश्चिञ्चाश्वत्थवटस्य च ॥ एभिस्तु दशभिः क्षारैः शुद्धिर्भवति कांस्यके ॥') शुद्धिः प्लावो द्रवस्य त्विति। द्रवस्य द्रवद्रव्यस्य घृतादेः प्रस्थप्रमाणाधिकस्य श्वकाकाद्युपहतस्य [5]अमेध्यसंस्पृष्टस्य च प्लावः प्लावनं समानजातीयेन द्रवद्रव्येण भाण्डस्याभिपूरणं यावन्निःसरणं शुद्धिरित्यनुवर्तते। ततोऽल्पस्य त्यागः। महत्त्वं च देशकालाद्यपेक्षयापि वेदितव्यम्। यथाह—बौधायनः—'देशं कालं तथा[6] आत्मानं द्रव्यं द्रव्यप्रयोजनम्। उपपत्तिमवस्थां च ज्ञात्वा शौचं प्रकल्पयेत् ॥' इति। कीटाद्युपहतस्य तूत्पवनम्। यथाह मनुः (५।११५)—'द्रवाणां चैव सर्वेषां शुद्धिरुत्पवनं स्मृतम्' इति। उत्पवनं चात्र वस्त्रान्तरिते पात्रे प्रक्षेपः। अन्यथा कीटाद्यपगमस्यासंभवात्। शूद्रभाण्डस्थितस्य तु मधूदकादेः पात्रान्तरायनाच्छुद्धिः।—'मधूदके पयस्तद्विकाराश्च पात्रात्पात्रान्तरानयने शुद्धाः' इति बौधायनस्मरणात्। मधुघृतादेर्वर्णापसदहस्तात्प्राप्तस्य[7] पात्रान्तरानयनं पुनः पचनं[8] च कार्यम्। यथाह

---

१. तु। २. दकवारिणा। ३. दकादिभिः। ४. इदं पुस्तकेऽधिकम्। ५. अमेध्यद्रव्य। ६. तथात्मानं। ७. घृतादेर्हीनवर्णा। ८. पवनं कार्यं।

शङ्खः—'अभ्यवहार्याणां घृतेनाभिवारितानां पुनः [1]पवनमेवं स्नेहानां स्नेहवद्ग्रासानां' इति ॥ १९० ॥

भाषा—पीतल, सीसा, ताँबा, खारे या अम्लजल से शुद्ध होता है। काँसे और लोहे की शुद्धि भस्म और जल से होती है। (घी या तेल जैसे) द्रव पदार्थ की शुद्धि उसके पात्र में वही द्रव इतना डालने पर होती है जितने से पात्र भरकर ऊपर गिरने लगे ॥ १९० ॥

एवं सौवर्णराजतादीनामेतत्प्रकरणप्रतिपादितानां सर्वेषामशुचिस्पर्शस्नेहाद्युपघाते शुद्धिमुक्त्वेदानीं तेषामेवामेध्योपहतानां शुद्धिमाह—

अमेध्याक्तस्य मृत्तोयैः शुद्धिर्गन्धादिकर्षणात् ।
वाक्शस्तमम्बुनिर्णिक्तमज्ञातं च सदा शुचि ॥ १९१ ॥

अमेध्याः शरीरजा मला वसाशुक्रादयः, 'वसा शुक्रमसृङ्मज्जामूत्रविट्कर्णविण्नखाः। श्लेष्माश्रु दूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः ॥' (५।१३६) तथा— 'मानुषास्थि शवं विष्ठा रेतो मूत्रार्तवं वसा। स्वेदाश्रुदोऽश्रु दूषिका श्लेष्म मद्यं चामेध्यमुच्यते ॥' इति अमेध्यादयो मला मनुदेवलादिभिः प्रतिपादिताः तैर्वसादिभिरक्तलिप्तममेध्याक्तं तस्य मृदा तोयेन च शुद्धिः कर्तव्या [2]गन्धापकर्षणात्। आदिग्रहणाल्लेपस्यापि ग्रहणम्। यथाह गौतमः (१।४२)—'लेपगन्धापकर्षणैः शौचममेध्यलिप्तस्य' इति। सर्वशुद्धिषु च प्रथमं मृत्तोयैरेव लेपगन्धापकर्षणं कार्यम्। यदि गन्धादिमृत्तोयैर्न गच्छति तदान्येन, 'अशक्तावन्येन मृदद्भिः पूर्वं मृदा च' (१।४३) इति गौतमस्मरणात्। वसादिग्रहणं च सर्वेषाममेध्यत्वं प्रतिपादयितुं न समानोपघाताय—'मद्यैर्मूत्रपुरीषैश्च श्लेष्मपूयाश्रुशोणितैः। संस्पृष्टं नैव शुद्ध्येत पुनःपाकेन मृन्मयम् ॥' (मनु० ५।१२३) इत्युपघाते विशेषाभिधानात्—'अमेध्यत्वं चैवमेषां देहाच्चैव मलाच्युताः' इति वचनाद्देहच्युतानामेव न स्वस्थानावस्थितानाम्। पुरुषस्य नाभेरूर्ध्वं करव्यतिरिक्ताङ्गा[3]नामन्यामेध्यस्पर्शे स्नानम्। यथाह देवलः— 'मानुषास्थि वसां विष्ठामार्तवं मूत्ररेतसी। मज्जानं शोणितं स्पृष्ट्वा परस्य स्नानमाचरेत् ॥' इति—'तान्येव स्वानि संस्पृश्य प्रक्षाल्याचम्य शुद्ध्यति' इति। तथा— 'ऊर्ध्वं नाभेः करौ मुक्त्वा यदङ्गमुपहन्यते। तत्र स्नानमधस्तात्तु प्रक्षाल्याचम्य शुद्ध्यति ॥' इति। कृतेऽपि यथोक्तशौचे मनसोऽपरितोषाद्यत्र शुद्धिसंदेहो भवति तद्वाक्शस्तं शुचि। शुद्धमेतदस्त्विति ब्राह्मणवचनेन शुद्धं भवतीत्यर्थः। अम्बुनिर्णिक्तं यत्र प्रतिपादिता शुद्धिर्नास्ति तस्य प्रक्षालनेन शुद्धिः। प्रक्षालनासहस्य

१. पवनं। २. गन्धापकर्षणेन। ३. ङ्गानां मध्या।

प्रोक्षणेन । अज्ञातं च सदा यत्काकाद्युपहतमुपयुक्तं[1] न कदाचिदपि ज्ञायते तच्छुचि । तदुपयोगाददृष्टदोषो नास्तीत्यर्थः । न[2]न्वेतद्विरुद्ध्यते, 'संवत्सरस्यैकमपि चरेत्कृच्छ्रं द्विजोत्तमः । अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं ज्ञातस्य तु विशेषतः ॥' इत्यदृष्टदोषेऽपि प्रायश्चित्तप्रतिपादनात् । नैतत्, प्रायश्चित्तस्य अभिघविषयत्वात्, दोषाभाव[3]स्य चान्योपयोगिविषयत्वात् ॥ १९१ ॥

भाषा—(मलमूत्र, वसा आदि) दूषित शरीर की गंदगी से अशुद्ध वस्तु मिट्टी और जल से उतना साफ करने पर शुद्ध होती है जितने से उसकी गन्ध (और लेप) द्वारा हो जाय । (शुद्धि करने पर भी मन में सन्देह होने पर) ब्राह्मण के कह देने पर शुद्ध समझना चाहिए; जल के छींटे से शुद्धि होती है । जिस वस्तु के शुद्ध या अशुद्ध होने का ज्ञान न हो वह सदैव शुद्ध रहती है ॥ १९१ ॥

शुचि गोतृप्तिकृत्तोयं प्रकृतिस्थं महीगतम् ।
[4]तथा मांसं श्वचण्डालक्रव्यादादिनिपातितम् ॥ १९२ ॥

महीगतं भूमिस्थमुदकं एकगवीतृप्तिजननसमर्थं चण्डालादिभिरस्पृष्टं प्रकृतिस्थं रूपरसगन्धस्पर्शान्तरमनापन्नं शुचि आचमनादियोग्यं भवति । 'महीगतम्' इत्यशुचिभूगतस्य शुचित्वनिषेधार्थं नत्वान्तरिक्षोदकस्य शुद्धत्वव्यावृत्त्यर्थम् । नाप्युद्धृतस्य—'उद्धृताश्चापि शुद्ध्यन्ति शुद्धैः पात्रैः समुद्धृताः । एकरात्रोषिता आपस्त्याज्याः शुद्धा अपि स्वयम् ॥' इति देवलवचनात् । तथा चण्डालादिकृते तडागादौ न दोषः, 'अन्त्यैरपि कृते कूपे सेतौ वाप्यादिके तथा । तत्र स्नात्वा च पीत्वा च प्रायश्चितं न विद्यते ॥' इति शातातपस्मरणात् । तथा मांसं श्वचण्डाल-क्रव्यादादिभिर्निपातितं शुचि । आदिग्रहणात्पुल्कसादेरपि ग्रहणम् । निपातितग्रहणं भक्षितस्य निराकरणार्थम् ॥ १९२ ॥

भाषा—पृथ्वी पर शुद्ध प्राकृतिक रूप में पड़ा हुआ (चाण्डाल आदि द्वारा न छुआ गया) एक गौ के पीने भर जल शुद्ध (आचमनादि के योग्य) होता है । कुत्ता, चाण्डल, मांसाभक्षी पक्षी द्वारा काटा गया या गिराया गया मांस शुद्ध होता है ॥ १९२ ॥

रश्मिरग्नी रजश्छाया गौर[5]श्वो वसुधानिलः ।
विप्रुषो मक्षिकाः स्पर्शे वत्सः प्र[6]स्रवणे शुचिः ॥ १९३ ॥

---

१. उपभुक्तं । २. ननु तद्धि । ३. भावस्य चान्यप्रयोग ।
४. मार्गं मांसं (=मृगादेर्मांसं) । ५. रथवसुधानिलाः । ६. प्रस्रवणे ।

रश्मयः सूर्यादेः प्रकाशकद्रव्यस्य। अग्निः प्रसिद्धः। रजः अजादिसम्बन्धव्यतिरेकेण। तत्र—'श्वकाकोष्ट्रखरोलूकसूकरग्राम्यपक्षिणाम्। अजाविरेणुसंस्पर्शादायुर्लक्ष्मीश्च हीयते॥' इति दोषश्रवणात्तत्स्पर्शे संमार्जनादि कार्यम्। छाया वृक्षादेः, गौः, अश्वः, वसुधा भूमिः, अनिलो वायुः, विप्रुषोऽवश्यायबिन्दवः, मुखजानां वक्ष्यमाणत्वात्। मक्षिकाश्च, एते चण्डालादिस्पृष्टा अपि स्पर्शे शुचयः। वत्सः प्रस्रवने ऊधोगतदुग्धापकर्षणे शुचिः। 'वत्स'ग्रहणं बालस्योपलक्षणार्थम्. 'बालैरनुपरिक्रान्तं स्त्रीभिराचरितं च यत्। अविज्ञातं च यत्किञ्चिन्नित्यं मेध्यमिति स्थितिः॥' इति वचनात्॥ १९३॥

भाषा—(सूर्य आदि की) किरणें, अग्नि, (अजादी से अछूती) धूल, छाया, गाय, अश्व, पृथ्वी, वायु बाष्प और मक्खी (चण्डाल आदि से स्पृष्ट होने पर भी) शुद्ध होते हैं, तथा दूध दुहते समय बछड़ा पवित्र होता है॥ १९३॥

अजाश्वयोर्मुखं[1] मेध्यं न गोर्न नरजा मलाः।
पन्थानश्च[2] विशुद्ध्यन्ति सोमसूर्यांशुमारुतैः॥ १९४॥

अजाश्वयोर्मुखं मेध्यम्। न गोः, न नरजा मलाः, 'नर'शब्दो लक्षणया देहमभिधत्ते। तज्जा मला वसादयो मेध्या न भवन्ति। पन्थानो मार्गाः चण्डालादिभिः स्पृष्टा अपि रात्रौ सोमांशुभिर्मारुतेन च शुद्ध्यन्ति। दिवा तु सूर्यांशुभिर्मारुतेन च॥ १९४॥

भाषा—बकरे तथा घोड़े का मुख शुद्ध होता है, गौ का मुख नहीं। मनुष्य शरीर से निकले हुए मल अशुद्ध होते हैं। (कुत्ता, चाण्डाल आदि के संसर्ग पर) मार्ग चन्द्रमा या सूर्य की किरणों और वायु के सम्पर्क से शुद्ध होता है॥ १९४॥

मुखजा विप्रुषो मेध्यास्तथाऽऽचमनबिन्दवः।
श्मश्रु चास्यगतं दन्तसक्तं त्यक्त्वा ततः शुचिः॥ १९५॥

मुखे जाता मुखजाः श्लेष्मविप्रुषो मेध्याः नोच्छिष्टं कुर्वन्ति अनिपतिताश्चेदङ्गे। 'न मुखविप्रुष उच्छिष्टं कुर्वन्ति न चेदङ्गे निपतन्ति' इति गौतमवचनात्। तथा च ये आचमनतोयबिन्दवः पादौ स्पृशन्ति ते मेध्याः। श्मश्रु चास्यगतं मुखप्रविष्टमुच्छिष्टं न करोति। दन्तसक्तं चान्नादिकं स्वयमेव च्युतं त्यक्त्वा शुचिर्भवति। अच्युतं दन्तसमम्[3]। तथा च गौतमः—'दन्तश्लिष्टं तु

---

१. अजाश्वं मुखतो मेध्यं। २. पन्थानस्तु। ३. दन्तेभ्यः पतितं त्यजति गिलति वा एतावता शुद्ध्यति विना आचमनं इति।

दन्तवदन्यत्र जिह्वाभिमर्शनात्प्राक् च्युतेरित्येके च्युतेष्वास्त्रावविद्यान्तिगिरन्नेव[1] तच्छुचि' इति। निगिरणं पुनरनेन याज्ञवल्क्योक्तेन त्यागेन विकल्प्यते। निगिरन्नेवेत्येवकारः 'चर्वणे स्वाचमेन्नित्यं मुक्त्वा ताम्बूलचर्वणम्। ओष्ठौ विलोमकौ स्पृष्ट्वा वासो विपरिधाय च॥' इति विष्णूक्ताचमननिषेधार्थः। 'ताम्बूल'-ग्रहणं फलाद्युपलक्षणार्थम्। यथाह शातातपः—'ताम्बूले च फले चैव भुक्ते स्नेहावशिष्टके। दन्तलग्नस्य संस्पर्शे नोच्छिष्टो भवति द्विजः॥' इति॥ १९५॥

भाषा—मुख से निकले हुए थूक के बिन्दु तथा आचमन के जल के बिन्दु शुद्ध होते हैं (शरीर पर गिरने पर दूषित नहीं करते)। दाढ़ी मूछ पर सटे हुए मुँह में तथा दाँत में लगे हुए जूठे भोजन को साफ कर देने पर शुद्धि होती है॥ १९५॥

स्नात्वा पीत्वा क्षुते सुप्ते भुक्त्वा[2] रथ्योपसर्पणे।
आचान्तः पुनराचामेद्वासो विपरिधाय च॥ १९६॥

स्नानपानक्षुतस्वप्नभोजनरथ्योपसर्पणवासोविपरिधानेषु कृतेष्वाचान्तः पुनराचामेत्। द्विराचामेदित्यर्थः। चकाराद्रोदनाध्ययनारम्भ चापल्यानृतोक्त्या-[3]दिषु। तथा च वसिष्ठः—'सुप्त्वा भुक्त्वा क्षुत्वा स्नात्वा पीत्वा रुदित्वा चाचान्तः पुनराचामेत्' इति। मनुरपि (५।१४५)—'सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च ष्ठीवित्वोक्त्वानृतं वचः। पीत्वापोऽध्येष्यमाणश्च आचामेत्प्रयतोऽपि सन्॥' इति। भोजने स्वादावपि स्वादावपि द्विराचमनम्—'भोक्ष्यमाणस्तु प्रयतोऽपि द्विराचामेत्' इत्यापस्तम्बस्मरणात्। स्नानपानयोरादौ सकृत्। अध्ययने त्वारम्भे द्विः। शेषेष्वन्ते एव यथोक्तं द्विराचमनम्॥ १९६॥

भाषा—स्नान करके, पानी पीकर, क्षुत, शयन, भोजन करके तथा रथ पर चलने के बाद (विशेष रूप से) वस्त्र धारण करके पुनः (अर्थात् दो बार) आचमन करे॥ १९६॥

रथ्याकर्दमतोयानि स्पृष्टान्यन्त्यश्ववायसैः।
मारुतेनैव शुद्ध्यन्ति पक्वेष्टकचितानि[4] च॥ १९७॥

रथ्या मार्गमात्रम्, कर्दमः पङ्कः तोयमुदकम्, रथ्यास्थितानि कर्दम-तोयानि अन्त्यैश्चण्डालादिभिः श्वभिर्वायसैश्च स्पृष्टानि मारुतेनैव शुद्ध्यन्ति शुद्धिमुपयान्ति। बहुवचनं तद्गतगोमयशर्करादिप्राप्त्यर्थम्। पक्वेष्टकादि-भिश्चितानि प्रासादधवलगृहादीनि चण्डालादिस्पृष्टानि मारुतेनैव शुद्ध्यन्ति

---

1. निगिरन्नेव निगरन्नेव। 2. भुक्ते। 3. चाल्यानृतो। 4. पक्वेष्टिक-चितानि।

एतच्च 'प्रोक्षणं संहतानाम्' (मनु० ५।१५५) इत्युक्तप्रोक्षणनिषेधार्थम् । तृणकाष्ठपर्णादिमयानां तु प्रोक्षणमेवेति ॥ १९७ ॥

भाषा—मार्ग का कीचड़ तथा जल चाण्डाल, कुत्ता और कौए द्वारा छुए जाने पर वायु से ही शुद्ध होते हैं। पक्की ईंटों से बना हुआ घर आदि भी (वायु से शुद्ध होते हैं) ॥ १९७ ॥

इति द्रव्यशुद्धिप्रकरणम् ।

अथ दानप्रकरणम्

इदानीं दानधर्मं प्रतिपादयिष्यंस्तदङ्गभूतपात्रप्रतिपादनार्थं तत्प्रशंसामाह—

तपस्तप्त्वाऽसृजद्ब्रह्मा ब्राह्मणान्वेदगुप्तये ।
तृप्त्यर्थं पितृदेवानां धर्मसंरक्षणाय च ॥ १९८ ॥

ब्रह्मा हिरण्यगर्भः कल्पादौ तपस्तप्त्वा ध्यानं कृत्वा [1]कान्सृजामीति पूर्वं ब्राह्मणान्सृष्टवान् । किमर्थम् ? वेदगुप्तये वेदरक्षणार्थम् । पितॄणां देवतानां च तृप्त्यर्थम् । अनुष्ठानोपदेशद्वारेण धर्मसंरक्षणार्थं च । अतस्तेभ्यो दत्तमक्षयफलं भवतीत्यभिप्रायः ॥ १९८ ॥

भाषा—ब्रह्मा ने (कल्प के आरम्भ में) तपस्या करके (ध्यान करके) वेद की रक्षा के लिये, पितरों और देवताओं की तृप्ति के लिए तथा (अनुष्ठान एवं उपदेश द्वारा) धर्म की रक्षा के लिये ब्राह्मणों की सृष्टि की ॥ १९८ ॥

सर्वस्य प्रभवो विप्राः श्रुताध्ययनशीलिनः ।
तेभ्यः क्रियापराः श्रेष्ठास्तेभ्योऽप्यध्यात्मवित्तमाः ॥ १९९ ॥

सर्वस्य क्षत्रियादेर्विप्राः प्रभवः श्रेष्ठा जात्या कर्मणा च । ब्राह्मणेभ्योऽपि श्रुताध्ययनशीलिनः श्रुताध्ययनसंपन्ना उत्कृष्टाः । तेभ्योऽपि क्रियापरा विहितानुष्ठानशीलाः । तेभ्योऽप्यध्यात्मवित्तमाः वक्ष्यमाणमार्गेण शमदमादियोगेनात्मतत्त्वज्ञाननिरताः, 'श्रेष्ठा' इत्यनुषज्यते ॥ १९९ ॥

भाषा—(क्षत्रिय आदि) सबों में ब्राह्मण (जाति एवं) कर्म से श्रेष्ठ हैं; उनमें भी वेदादि का अध्ययन करने वाले उत्कृष्ट होते हैं: उनसे भी उत्तम विहित क्रियाओं का अनुष्ठान करने वाले होते हैं और इन सबसे श्रेष्ठ अध्यात्मतत्त्व को पूर्णरूप से जानने वाले ब्राह्मण होते हैं ॥ १९९ ॥

---

१. कृत्वा मुख्यान्सृजामीति ।

एवं जातिविद्यानुष्ठानतपसां प्रशंसामुखेनैकैकयोगेन[1] पात्रतामभिधायाधुना तेषां समुच्चये संपूर्णं पात्रतामाह—

न विद्यया केवलया तपसा वापि पात्रता।
यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्रं प्रकीर्तितम् ॥ २०० ॥

केवलया विद्यया श्रुताध्ययनसंपत्त्या नैव संपूर्णपात्रत्वम्। नापि केवलेन तपसा शमदमादिना। 'अपि' शब्दात्केवलेनानुष्ठानेन केवलया[2] जात्या वा नैव सम्पूर्णपात्रता। कथं तर्हि? यत्र पुरुषे वृत्तमनुष्ठानं इमे चोभे विद्यातपसी स्तः च शब्दाद्ब्राह्मणजातिश्च तदेवं मन्वादिभिः सम्पूर्णपात्रं प्रकीर्तितम्। हि यस्मादतः परमुत्कृष्टं पात्रं नास्ति। अत्र जातिविद्यानुष्ठानतपःसमुच्चयानामुत्तरोत्तरप्राशस्त्येन फलतारतम्यं द्रष्टव्यम् ॥ २०० ॥

भाषा—केवल (श्रुताध्ययन आदि) विद्या से अथवा केवल (शमदमादि) तपस्या से ही कोई सुपात्र नहीं होता। जिस पुरुष के आचरण में विद्या और तपस्या दोनों ही हों वही श्रेष्ठ पात्र होता है ॥ २०० ॥

सत्पात्रे गवादिदानं देयम्—

गोभूतिलहिरण्यादि पात्रे दातव्यमर्चितम्।
नापात्रे विदुषा किञ्चिदात्मनः श्रेय इच्छता ॥ २०१ ॥

पूर्वोक्ते पात्रे गवादिकमर्चितं शास्त्रोक्तोदकदानादीतिकर्तव्यतासहितं[3] देयम्। अपात्रे क्षत्रियादौ ब्राह्मणे च पतितादौ विदुषा पात्रविशेषेण फलविशेषं जानता श्रेयः सम्पूर्णफलमिच्छता किञ्चिदल्पमपि न दातव्यम्। श्रेयोग्रहणादपात्रदानेऽपि किमपि[4] तामसं फलमस्तीति सूचितम्। यथाह कृष्णद्वैपायनः (गी० १७।२२)— 'अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते। असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥' इति। अपात्रे न दातव्यमिति वदता विशिष्टदेशकालद्रव्यसन्निधौ पात्रस्यासन्निधाने द्रव्यस्य वा तदुद्देशेन त्यागं तस्मै प्रतिश्रवणं वा कृत्वा समर्पयेत्, नत्वपात्रे दातव्यमिति सूचितम्। तथा प्रतिश्रुतमपि पश्चात्पातकादिसंयोगे ज्ञाते न देयम्, 'प्रतिश्रुत्याप्यधर्मसंयुक्ताय न दद्यात्' इति निषेधात् ॥ २०१ ॥

भाषा—गाय, भूमि, तिल, सोना आदि पात्र व्यक्ति को ही विधिपूर्वक अर्चना के साथ (दान स्वरूप) देना चाहिए अपने सम्पूर्ण फल की इच्छा करने वाले, (पात्र अपात्र का ज्ञान रखने वाले) विद्वान को अपात्र (क्षत्रियादि एवं पतित ब्राह्मण) को अल्प (दान) भी नहीं देना चाहिए ॥ २०१ ॥

---

१. योगे पात्रतां। २. केवलजात्या। ३. दकपाद्यादीति। ४. किञ्चित्तामसं।

अपात्रे दातुर्निषेधमुक्त्वा प्रतिग्रहीतारं प्रत्याह—

विद्यातपोभ्यां हीनेन न[1] तु ग्राह्यः प्रतिग्रहः।
गृह्णन्प्रदातारमधो नयत्यात्मानमेव च ॥ २०२ ॥

विद्यातपोभ्यां हीनेन प्रतिग्रहः सुवर्णादिर्न ग्राह्यः। यस्माद्विद्यादिहीनः प्रतिगृह्णन् दातारमात्मानं चाधो नरकं नयति प्रापयतीति ॥ २०२ ॥

भाषा—जो व्यक्ति विद्यासम्पन्न और तपस्वी न हो उसे दान नहीं लेना चाहिए। यदि ऐसा (विद्या और तपस्या से हीन) व्यक्ति दान लेता है तो वह अपने को और दाता को भी नरक में डालता है ॥ २०२ ॥

गवादि पात्रे दातव्यमित्युक्तं तत्र विशेषमाह—

दातव्यं प्रत्यहं पात्रे निमित्तेषु विशेषतः।
याचितेनापि दातव्यं श्रद्धापूतं स्वशक्तितः[2] ॥ २०३ ॥

प्रतिदिवसं शक्त्यनुसारेण यथोक्तविधिना पात्रे गवादिकं स्वकुटुम्बाविरोधेन दातव्यम्। निमित्तेषु चन्द्रोपरागादिषु विशेषतोऽधिकं यत्नेन दातव्यम्। याचितेनापि श्रद्धापूतमनसूयापवित्रीकृतं शक्त्या दातव्यम्। 'याचितेनापि दातव्यम्' इति वदता यथोक्तं पात्रं स्वयमेव गत्वा आहूय वा यद्दानं तन्महाफलमुक्तम्। तथा च स्मरणम्—'गत्वा यद्दीयते दानं तदनन्तफलं स्मृतम्। सहस्रगुणमाहूय याचिते तु तदर्धकम्' इति ॥ २०३ ॥

भाषा—(शक्ति के अनुसार) प्रतिदिन (गौ आदि) पात्र को दान देना चाहिए। (चन्द्रग्रहण या सूर्यग्रहण जैसे) अवसर पर विशेष रूप से दान देना चाहिए। माँगने पर भी (सत्पात्र को) श्रद्धा के साथ यथाशक्ति दान देना चाहिए ॥ २०३ ॥

गवादिकं देयमित्युक्तं तत्र गोदाने विशेषमाह—

हेमशृङ्गी शफैः [3]रौप्यैः सुशीला वस्त्रसंयुता।
सकांस्यपात्रा दातव्या क्षीरिणी गौः सदक्षिणा ॥ २०४ ॥

हेममये शृङ्गे यस्याः सा हेमशृङ्गी। शफैः खुरैः रौप्यैः राजतैः संयुता वस्त्रेण च संयुता कांस्यपात्रसहिता बहुक्षीरा[4] सुशीला गौर्यथाशक्तिदक्षिणासहिता दातव्या ॥ २०४ ॥

भाषा—सोने से सींग और चांदी से खुर मढ़ाकर, वस्त्र ओढ़ाकर दूध देने वाली सीधी गाय, कांसे के दुग्धपात्र एवं दक्षिणा के साथ दान देना चाहिए ॥ २०४ ॥

---

१. नैव। २. पूतं च शक्तितः। ३. खुरै रूप्यैः। ४. बहुक्षीरा गौर्यथा।

गोदानफलमाह—

दाताऽस्याः स्वर्गमाप्नोति वत्सरान्रोमसंमितान् ।
कपिला चेत्तारयति भूयश्चासप्तमं कुलम् ॥ २०५ ॥

अस्या गोः रोमसंमितान् रोमसंख्याकान्वत्सरान्स्वर्गमाप्नोति दाता । सा यदि कपिला तदा न केवलं दातारं तारयति किंतु कुलमपि आसप्तमं सप्तममभिव्याप्य पित्रादीन्षट् आत्मानं च सप्तमम् । अप्यर्थे 'भूयः' शब्दः ॥ २९५ ॥

भाषा—जितने रोएँ (गौ के शरीर में) होते हैं उतने वर्ष तक उस गौ का दाता स्वर्ग प्राप्त करता है । और यदि वह गाय कपिला हो तो वह न केवल दाता को अपितु उसकी सातवीं पीढ़ी तक को तार देती है ॥ २०५ ॥

उभयतोमुखीदानफलम्—

सवत्सारोमतुल्यानि युगान्युभयतोमुखीम्[2] ।
दाताऽस्याः स्वर्गमाप्नोति पूर्वेण विधिना ददत् ॥ २०६ ॥

सवत्सारोमतुल्यानि वत्सेन सह वर्तत इति सवत्सा तस्या रोमतुल्यानि वत्सस्य गोश्च यावन्ति रोमाणि तावत्संख्याकानि युगानि कृतत्रेतादीनि उभयतोमुखीं ददत्स्वर्गमाप्नोत्यनुभवति पूर्वेण विधिना दाता चेत् ॥ २०६ ॥

भाषा—पूर्वोक्त विधि से उभयतोमुखो गाय का दान देने वाला व्यक्ति उतने युग तक स्वर्ग प्राप्त करता है जितने रोएँ गौ और बछड़े के शरीर में मिलाकर होते हैं ॥ २०६ ॥

का पुनरुभयतोमुखी कथं तावत्तद्दानं महाफलमित्यत आह—

यावद्वत्सस्य पादौ[3] द्वौ मुखं योन्यां च[4] दृश्यते ।
तावद्गौः पृथिवी ज्ञेया यावद्गर्भं न मुञ्चति ॥ २०७ ॥

गर्भान्निर्गच्छतो वत्सस्य द्वौ पादौ मुखं च यावत्कालं योन्यां दृश्यते तावत्कालं उभयतोमुखमस्या अस्तीत्युभयतोमुखी । यावत्कालं गर्भं न मुञ्चति तावत्सा गौः पृथिवीसमा ज्ञेया । अतः फलातिशयो युक्तः ॥ २०७ ॥

भाषा—(गर्भ से निकलते हुए) बछड़े के दो पैर और मुख जब तक योनि में दिखाई पड़ते हैं (तब तक वह उभयतोमुखी होती है) जब तक गौ बछड़े का प्रसव नहीं करती तब तक (इस स्थिति में) उसे पृथिवी के समान समझना चाहिए ॥ २०७ ॥

---

१. भूय आ । २. मुखी । ३. द्वौ पादौ । ४. प्रदृश्यते ।

सामान्यगोदाने फलम्—

यथाकथञ्चिद्दत्त्वा गां धेनुं वाऽधेनुमेव वा ।
अरोगामपरिक्लिष्टां दाता स्वर्गे महीयते ॥ २०८ ॥

यथाकथंचित् हेमश्रृङ्गाद्यभावेऽपि यथासंभवं पूर्वोक्तेन विधिना धेनुं दोग्ध्रीं अधेनुं वा अनन्ध्यां अरोगां रोगरहितां अपरिक्लिष्टां अत्यन्तादुर्बलां गां दत्त्वा दाता स्वर्गे महीयते पूज्यते ॥ २०८ ॥

भाषा—जिस किसी प्रकार हो (सोने से सींग और चाँदी से खुर मढ़ाये बिना भी) दूध देने वाली या अवन्ध्या, रोगहीन, और दुर्बल गाय का दान करने वाला व्यक्ति स्वर्ग में पूजा जाता है ॥ २०८ ॥

गोदानसमान्याह—

श्रान्तसंवाहनं रोगिपरिचर्या सुरार्चनम् ।
पादशौचं द्विजोच्छिष्टमार्जनं गोप्रदानवत् ॥ २०९ ॥

श्रान्तस्यासनशयनादिदानेन श्रमापनयनं श्रान्तसंवाहनम् । रोगिणां परिचर्या यथाशक्त्यौषधादिदानेन । सुरार्चनं हरिहरहिरण्यगर्भादीनां गन्धमाल्यादिभिराराधनम् । पादशौचं द्विजानां समानानामधिकानां च । तेषामेवोच्छिष्टस्य संमार्जनम् । एतान्यन्तरोक्तेन गोदानेन समानि ॥ २०९ ॥

भाषा—थके हुए के खेद को (आसन, बिस्तर आदि देकर) दूर करना, रोगी की सेवा, देवताओं की (माला पुष्प आदि से) पूजा, द्विजों का पैर धोना और उनका जूठा साफ करना ये सभी कर्म गोदान के तुल्य होते हैं ॥ २०९ ॥

भूदीपांश्चान्नवस्त्राम्भस्तिलसर्पिः प्रतिश्रयान्[1] ।
नैवेशिकं[2] स्वर्णधुर्यं दत्त्वा स्वर्गे महीयते ॥ २१० ॥

भूः फल[3]प्रदा । दीपा देवायतनादिषु । प्रतिश्रयः प्रवासिनामाश्रयः । निवेशनार्थं गार्हस्थ्यार्थं यत्कन्या दीयते तन्नैवेशिकम् । स्वर्णं सुवर्णम् । धुर्यो [4]भारसहो बलीवर्दः, शेषं प्रसिद्धम्, एतान्भूदीपादीन्दत्त्वा स्वर्गलोके महीयते पूज्यते । स्वर्गफलं च भूमिदानादीनां न फलान्तरव्युदासार्थम् । 'यत्किंचित्कुरुते पापं ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा । अपि गोचर्ममात्रेण भूमिदानेन शुद्ध्यति ॥' तथा मनुः (४।२२९)—'वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षय्यमन्नदः । तिलप्रदः प्रजामिष्टां दीपदश्चक्षुरुत्तमम् ॥ वासोदश्चन्द्रसालोक्यमश्विसालोक्यमश्वदः । अन-

---

१. भूदीपान्नाश्ववस्त्रा । २. नैवेशिकस्वर्णधुर्यान् । ३. भूः-कृषिफलप्रदा । ४. भारवाहो ।

क्षुदः श्रियं पुष्टां मोदो ब्रध्नस्य विष्टपम् ॥' इत्यादिफलान्तरश्रवणात्। गोचर्मलक्षणं च बृहस्पतिना दर्शितम्—'सप्तहस्तेन दण्डेन त्रिंशद्दण्डं निवर्तनम्। दश तान्येव गोचर्म दत्त्वा स्वर्गे महीयते ॥' इति ॥ २१० ॥

भाषा—(उर्वर) भूमि, दीपक, अन्न; वस्त्र, जल, तिल, घी, परदेशी को आश्रयस्थान (गृहस्थाश्रम के लिये) कन्या, सोना और भार ढोने वाले बैल का दान देकर दाता स्वर्ग में सम्माननीय स्थान पाता है ॥ २१० ॥

गृहधान्याभयोपानच्छत्रमाल्यानुलेपनम्।
यानं वृक्षं प्रियं शय्यां दत्त्वाऽत्यन्तं सुखी भवेत् ॥ २११ ॥

गृहं प्रसिद्धम्, धान्यानि च शालीगोधूमादीनि, अभयं भीतत्राणम्, उपानहौ, छत्रम्, माल्यं मल्लिकादेः, अनुलेपनं कुङ्कुमचन्दनानि, यानं रथादि, वृक्षं उपजीव्यमाम्रादिकम्, प्रियं यद्यस्य प्रियं धर्मादिकम्, शय्यां च दत्त्वा, अत्यन्तमतिशयेन सुखी भवति। न च हिरण्यादिवद्धस्ते दातुमशक्यत्वाद्धर्मस्य दानासंभवः[1]। भूमिदानादावपि समानत्वात्। स्मृत्यन्तरेऽपि धर्मदानश्रवणात्—'देवतानां गुरूणां च मातापित्रोस्तथैव च। पुण्यं देयं प्रयत्नेन नापुण्यं चोदितं क्वचित् ॥' अपुण्यदाने[2] तदेव वर्धते प्रतिग्रहीतुरपि लोभादिना प्रवृत्तस्य, 'यः पापमबलं ज्ञात्वा[3] प्रतिगृह्णाति दुर्मतिः। गर्हिताचरणात्तस्य पापं तावत्समाश्रयेत् ॥ समद्विगुणसाहस्रमानन्त्यं च प्रदातृषु ॥' इति स्मरणात्। इह च सर्वत्र देशकालपात्रविशेषाद्देयविशेषात्—'दाने फलं मया प्रोक्तं हिंसायां तद्वदेव हि' इति प्रतिग्रहीतृवृत्तिविशेषाच्च दातृप्रतिगृहीत्रोः फलतारतम्यं द्रष्टव्यम् ॥ २११ ॥

भाषा—घर, और धान्य का दान, (डरे हुए को) अभयदान, जूता, छाता कुङ्कुमचन्दन आदि लेपन, रथ इत्यादि सवारी, (आम्रादि फल वाले) वृक्ष, अभीष्ट वस्तु तथा शय्या का दान देकर दाता अत्यन्त सुखी होता है ॥ २११ ॥

दानात्फलमुक्तमिदानीं दानफलावाप्तिहेतूनाह—

सर्वधर्ममयं ब्रह्म प्रदानेभ्योऽधिकं यतः।
तद्ददत्समवाप्नोति ब्रह्मलोकमविच्युतम्[4] ॥ २१२ ॥

यस्मात्सर्वधर्ममयं ब्रह्म अवबोधकत्वेन तस्मात्तद्दानं सर्वदानेभ्योऽप्यधिकं अतस्तद्ददध्यापन द्वारेण ब्रह्मलोकमवाप्नोति। अविच्युतं च्युतिर्यथा न भवति। आभूतसंप्लवं ब्रह्मलोकेऽवतिष्ठत इत्यर्थः। अत्र च ब्रह्मदाने परस्वत्वापादनमात्रं दानम्; स्वत्वनिवृत्तेः कर्तुमशक्यत्वात् ॥ २१२ ॥

---

[1] धर्मादीनामसंभवः। [2] दानेन। [3] प्रबलं ज्ञात्वा। [4] मविच्युतः।

भाषा—सब धर्मों के ज्ञान से युक्त होने के कारण वेद का दान सभी दानों से बढ़कर होता है। इसका दान करने वाला ब्रह्मलोक में अचल होकर सतत निवास करता है ॥ २१२ ॥

[1]दाने फलमुक्तम्, इदानीं दानव्यतिरेकेणापि दानफलावाप्तेर्हेतुमाह—

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि नादत्ते यः प्रतिग्रहम्।
ये लोका दानशीलानां स तानाप्नोति पुष्कलान् ॥ २१३ ॥

यः पात्रभूतोऽपि प्राप्तं प्रतिग्रहं सुवर्णादिकं नादत्ते न स्वीकरोति, असौ यद्यत्प्राप्तं नोपादत्ते तत्तद्दानशीलानां ये लोकास्तान्तान्समग्रानाप्नोति ॥ २१३ ॥

भाषा—जो व्यक्ति दान लेने का पात्र होते हुए भी दान नहीं लेता वह उन सभी लोकों को प्राप्त कर लेता है जो लोक दान देने वाले को मिलते हैं ॥ २१३ ॥

इदानीं सर्वप्रतिग्रहनिवृत्तिप्रसङ्गेऽपवादमाह—

कुशाः शाकं पयो मत्स्याः गन्धाः पुष्पं दधि क्षितिः।
मांसं शय्यासनं धानाः प्रत्याख्येयं न वारि च ॥ २१४ ॥

धानाः भृष्टा[2] यवाः, क्षितिर्मृत्तिका, शेषं प्रसिद्धम्। एतत् कुशादिकं स्वयमुपानीतं न प्रत्याख्येयम्। चकाराद्गृहादि (मनुः ४।२५०)—'शय्यां गृहान्कुशान्गन्धानपः पुष्पं मणीन्दधि। धाना मत्स्यान्पयो मांसं शाकं चैव न निर्णुदेत् ॥' तथा—'एधोदकं मूलफलमन्नमभ्युद्यतं च यत्। सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्मध्वथाभयदक्षिणाम्[4] ॥' (४।२४७) इति मनुस्मरणात् ॥ २१३ ॥

भाषा—कुश, शाक, दूध, मछली, सुगन्धि, फूल, दही, भूमि, मांस, शय्या, आसन, भूने हुए धान, और जल ये सब बिना माँगे ही मिले तो अस्वीकार न करना चाहिए ॥ २१४ ॥

किमिति न प्रत्याख्येयमित्याह—

अयाचिताहृतं ग्राह्यमपि दुष्कृतकर्मणः।
अन्यत्र कुलटाषण्ढ[4]पतितेभ्यस्तथा द्विषः ॥ २१५ ॥

यस्मादयाचितमेतत्कुशाद्याहृतं दुष्कृतकारिणोऽपि संबन्धि ग्राह्यं, किमुत यथोक्तकारिणः। तस्मान्न प्रत्याख्येयम्। अन्यत्र कुलटाषण्ढपतितेभ्यः शत्रोश्च। कुलात्कुलमटन्तीति कुलटाः स्वैरिण्यादिकाः, षण्ढस्तृतीयाप्रकृतिः ॥ २१५ ॥

---

१. दातुः फलमुक्त्वेदानीं। २. भ्रष्टतन्दुलाः। ३. मध्वाज्याभय। ४. षण्ड।

भाषा—बिना माँगे ही दुराचारी व्यक्ति द्वारा भी लाई हुई (कुशादि) वस्तुएँ ग्रहण करने योग्य होती हैं; किन्तु कुलटास्त्री, नपुंसक एवं पतित व्यक्ति द्वारा स्वयं लाई गई (ये वस्तुएँ भी) द्विज न ग्रहण करे ॥ २१५ ॥

प्रतिग्रहनिवृत्तेरपवादान्तरमाह—

देवातिथ्यर्चनकृते गुरुभृत्यार्थमेव वा ।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयादात्मवृत्त्यर्थमेव च ॥ २१६ ॥

देवातिथ्यर्चनादेरावश्यकत्वात्तदर्थं नात्मकारणात्[1] । पतितात्यन्तकुत्सित-वर्जं सर्वतः प्रतिगृह्णीयात् । गुरवो मातापित्रादयः, भृत्याः भरणीयाः भार्यापुत्रादयः ॥ २१६ ॥

भाषा—देवता और अतिथि की पूजा एवं सत्कार के लिये अथवा माता पिता आदि गुरुजनों एवं स्त्री पुत्रादि आश्रित जनों के लिए तथा अपनी वृत्ति के लिए सभी स्थानों से दान लेना विहित है ॥ ११६ ॥

इति दानप्रकरणम् ।

अथ श्राद्धप्रकरणम्

इदानीं श्राद्धप्रकरणमारभ्यते । श्राद्धं नामादनीयस्य तत्स्थानीयस्य वा द्रव्यस्य प्रेतोद्देशेन श्रद्धया त्यागः । तच्च द्विविधं—पार्वणमेकोद्दिष्टं चेति । तत्र त्रिपुरुषोद्देशेन यत्क्रियते तत्पार्वणम् । एकपुरुषोद्देशेन क्रियमाणमेकोद्दिष्टम् । पुनश्च त्रिविधं–नित्यं नैमित्तिकं काम्यं चेति । तत्र नित्यं नियतनिमित्तोपाधौ चोदि-तमहरहरमावस्याष्टकादिषु । अनियतनिमित्तोपाधौ चोदितं नैमित्तिकं यथा पुत्र-जन्मादिषु । फलकामनोपाधौ विहितं[2] काम्यं यथा स्वर्गादिकामानां कृत्तिकादि-नक्षत्रेषु, तिथिषु च । पुनश्च पञ्चविधम्—'अहरहः श्राद्धं पार्वणं वृद्धिश्राद्धमे-कोद्दिष्टं सपिण्डीकरणं चे'ति । तत्राहरःश्राद्धं—'अन्नं पितृमनुष्येभ्यः' इत्यादि-नोक्तम् । तथा च मनुः (३।८२)—'कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा । पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥' इति ॥

अधुना पार्वणं वृद्धिश्राद्धं च दर्शयिष्यंस्तयोः कालानाह—

अमावास्याऽष्टका वृद्धिः कृष्णपक्षोऽयनद्वयम् ।
द्रव्यं ब्राह्मणसंपत्तिर्विषुवत्[3]सूर्यसंक्रमः ॥ २१७ ॥
व्यतीपातो गजच्छाया ग्रहणं चन्द्रसूर्ययोः ।
श्राद्धं प्रति रुचिश्चैते श्राद्धकालाः प्रकीर्तिताः ॥ २१८ ॥

---

१. मानापत्कारणात् । २. चोदितं । ३. विषुवः ।

यत्र दिने चन्द्रमा न दृश्यते सा अमावस्या, तस्यामहर्द्वयव्यापिन्याम-पराह्णव्यापिनी ग्राह्या; 'अपराह्णः पितॄणाम्' इति वचनात् । अपराह्णश्च पञ्चधा विभक्ते दिने चतुर्थो भागस्त्रिमुहूर्तः । अष्टकाश्चतस्रः 'हेमन्तशिशिर-योश्चतुर्णामपरपक्षाणामष्टमीष्वष्टकाः' (गृ. सू. २।४।१) इत्याश्वलायनोक्ताः, वृद्धिः पुत्रजन्मादिः, कृष्णपक्षोऽपरपक्षः, अयनद्वयं दक्षिणोत्तरसंज्ञकम्, द्रव्यं [1]कृसर-माषादिकम्, ब्राह्मणसंपत्तिर्वक्ष्यमाणा, विषुवद्द्वयं मेषतुलयोः सूर्यगमनम्, सूर्यसंक्रमः आदित्यस्य राशेः राश्यन्तरगमनम्, अयनविषुवतोः संक्रान्तित्वे सिद्धेऽपि पृथगुपादानं फलातिशयप्रतिपादनार्थम् । व्यतीपातो योगविशेषः। गजच्छाया—'यदेन्दुः पितृदैवत्ये हंसश्चैव करे स्थितः । [2]यस्यां तिथिर्भवेत्सा हि गजच्छाया प्रकीर्तिता ॥' इति परिभाषिता । हस्तिच्छायेति केचित्, सेह न गृह्यते; कालप्रक्रमात् । ग्रहणं सोमसूर्ययोरुपरागः। यदा च कर्तुः श्राद्धं प्रति रुचिर्भवति तदापि। चशब्दाद्युगादिप्रभृतयः। एते श्राद्धकालाः। यद्यपि—'चन्द्रसूर्यग्रहे नाद्यात्' इति ग्रहणे भोजननिषेधस्तथापि भोक्तुर्दोषः, दातुरभ्युदयः ॥ २१७–१८ ॥

भाषा—अमावस्या अष्टका (हेमन्त और शिशिर ऋतु के कृष्णपक्षों की चारों अष्टमी तिथियों) को, पुत्र जन्म के अवसर पर, कृष्णपक्ष में, दोनों (उत्तर एवं दक्षिण) अयनों में, द्रव्य (कृषरमाष) ब्राह्मणसम्पत्ति, मेष और तुला राशि पर सूर्यसंक्रमण, सूर्य की दूसरी राशि पर गमन, व्यतीपात (एक विशेष योग), गजच्छाया, चन्द्रमा और सूर्य ग्रहण के समय और जब करने की इच्छा हो तब श्राद्ध का काल होता है ॥ २१७-२१८ ॥

अहरहः श्राद्धव्यतिरिक्तवक्ष्यमाणचतुर्विधश्राद्धेषु ब्राह्मणसंपत्तिमाह—

अग्र्यः सर्वेषु वेदेषु श्रोत्रियो ब्रह्मविद्युवा ।
वेदार्थविज्ज्येष्ठसामा त्रिमधुस्त्रिसुपर्णकः ॥ २१९ ॥

सर्वेषु वेदेषु ऋग्वेदादिषु अनन्यमनस्कतयाप्यजस्रास्खलिताध्ययनत्त्म अग्र्यः। श्रोत्रियः श्रुताध्ययनसंपन्नः। वक्ष्यमाणं ब्रह्म यो वेत्ति असौ ब्रह्म-वित् । युवा मध्यमवयस्कः। सर्वस्येदं विशेषणम् । मन्त्रब्राह्मणयोरर्थं वेत्तीति वेदार्थवित्। ज्येष्ठसाम सामविशेषः, तदध्ययनाङ्गव्रतं च तद्व्रताचरणेन यस्तद-धीते स ज्येष्ठसामा। त्रिमधुः ऋग्वेदैकदेशः, तद्व्रतं च तद्व्रताचरणेन [3]तदधीते इति त्रिमधुः। त्रिसुपर्णं ऋग्यजुषोरेकदेशः, तद्व्रतं च तद्व्रताचरणेन यस्तदधीते स त्रिसुपर्णकः। 'एते ब्राह्मणाः श्राद्धसंपद' इति [4]वक्ष्यमाणेन संबन्धः ॥ २१९ ॥

---

१. कृष्णसारमांसादि । २. याम्या तिथि तिथिर्वैश्रवणीया (=त्रयोदशी)।
३. तदभ्यासी । ४. वक्ष्यमाणक्रियासंबन्धः ।

भाषा—सभी वेदों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने वाले, श्रुताध्ययनसंपन्न, ब्रह्मज्ञानी, युवक, वेद का अर्थ जानने वाले, ज्येष्ठसाम नाम के साममंत्रों का आचरणपूर्वक अध्ययन करने वाले, (ऋग्वेद के) त्रिमधु मन्त्रों को व्रताचरण सहित पढ़ने वाले (ऋग्यजुस् के) त्रिसुपर्ण मन्त्रों का नियम के साथ पारायण करने वाले ब्राह्मण—॥ २१९ ॥

स्वस्रीयऋत्विग्जामातृयाज्यश्वशुरमातुलाः ।
त्रिणाचिकेतदौहित्रशिष्यसंबन्धिबान्धवाः ॥ २२० ॥

स्वस्रीयो भागिनेयः, ऋत्विगुक्तलक्षणः, जामाता दुहितुर्भर्ता, त्रिणाचिकेतं यजुर्वेदैकदेशः, तद्व्रतं च तद्व्रताचरणेन यस्तदध्यायी स त्रिणाचिकेतः । अन्यत्प्रसिद्धम् । एते च पूर्वोक्ताग्र्यश्रोत्रियाद्यभावे वेदितव्याः; 'एष वै प्रथमः कल्पः प्रदाने हव्यकव्योः । अनुकल्पस्त्वयं प्रोक्तः सदा सद्भिरगर्हितः ॥' (मनु, ३।१४७) इत्यभिधाय मनुना स्वस्रीयादीनामभिहितत्वात् ॥ २२० ॥

भाषा—भागिनेय, ऋत्विज्, दामाद, यजमान, श्वशुर मामा, (यजुर्वेद के) त्रिणाचिकेत का व्रत एवं अध्ययन करने वाले, दौहित्र (कन्या का पुत्र, नाती) शिष्य, सम्बन्धी, बान्धव— ॥ २२० ॥

कर्मनिष्ठास्तपोनिष्ठाः पञ्चाग्निर्ब्रह्मचारिणः ।
पितृमातृपराश्चैव ब्राह्मणाः श्राद्धसंपदः ॥ २२१ ॥

कर्मनिष्ठा विहितानुष्ठानतत्पराः, तपोनिष्ठास्तपःशीलाः, सभ्यावसथ्यौ त्रेताग्नयश्च यस्य सन्ति स पञ्चाग्निः, पञ्चाग्निविद्याध्यायी च, ब्रह्मचारी उपकुर्वाणको नैष्ठिकश्च, पितृमातृपरास्तत्पूजापराः, चकारात् ज्ञाननिष्ठादयः[1] । ब्राह्मणाः न क्षत्रियादयः । श्राद्धसंपदः श्राद्धेष्वक्षय्यफलसंपत्तिहेतवः[2] ॥ २२१ ॥

भाषा—कर्मनिष्ठ (विहित अनुष्ठान में तत्पर रहने वाले), तपस्वी, पञ्चाग्नि का आधान करने वाले, ब्रह्मचारी, पिता-माता की सेवा करने वाले ब्राह्मण श्राद्ध में अक्षय फल के हेतु होते हैं (क्षत्रिय आदि नहीं) ॥ २२१ ॥

वर्ज्यानाह—

रोगी हीनातिरिक्ताङ्गः काणः पौनर्भवस्तथा ।
अवकीर्णी कुण्डगोलौ कुनखी श्यावदन्तकः ॥ २२२ ॥

रोगी महारोगोपसृष्टः, हीनमतिरिक्तं वाऽङ्गं यस्यासौ हीनातिरिक्ताङ्गः, एकेनाक्ष्णा यो न पश्यति स काणः, एतस्मादेवान्धबधिरविद्ध[3]प्रजनन[4]खलतिदुश्चर्म-

1. ज्ञान । 2. श्राद्धसंपदे (=श्राद्धस्य संपदे समृद्धये) । 3. वृद्धप्रजनन ।
4. खलतिर्निष्केशशिराः खल्वाटः ।

प्रभृतयो निरस्ताः । पुनर्भूरुक्तलक्षणा, तस्यां जातः पौनर्भवः, अवकीर्णी ब्रह्मचर्य एव स्खलितब्रह्मचर्यः, कुण्डगोलौ—'परदारेषु जायेते द्वौ सुतौ कुण्डगोलकौ। पत्यौ जीवति कुण्डः स्यान्मृते भर्तरि गोलकः॥' (मनुः ३।१७४) इत्येवमुक्तलक्षणकौ, कुनखी [1]कुत्सितनखः, श्यावदन्तकः स्वभावात्कृष्णदशनः। 'एते श्राद्धे निन्दिताः' इति वक्ष्यमाणेन संबन्धः॥ २२२ ॥

भाषा—रोगी, अङ्गहीन या बढ़े हुए अंग वाला, काना, पुनर्भू (दुबारा व्याही गई स्त्री) का पुत्र, स्खलितब्रह्मचर्य, कुण्ड (पति के जीवित रहते दूसरे पुरुष के सम्बन्ध से उत्पन्न) पुत्र, गोलक (पति के मरने पर दूसरे पुरुष से उत्पन्न) पुत्र, भद्दे नाखूनों वाला, काले दाँतों वाला, ॥ २२२ ॥

भृतकाध्यापकः क्लीबः कन्यादूष्यभिशस्तकः ।
मित्रध्रुक् पिशुनः सोमविक्रयी परिविन्दकः ॥ २२३ ॥

वेतनग्रहणेन योऽध्यापयति स भृतकाध्यापकः, वेतनदानेन च योऽधीते सोऽपि, क्लीबो नपुंसकः, असद्भिः सद्भिर्वा दोषैर्यः कन्यां दूषयति स कन्यादूषी, सताऽसता वा ब्रह्महत्यादिनाभियुक्तोऽभिशस्तः । मित्रध्रुक् मित्रद्रोही, परदोषसंकीर्तनशीलः पिशुनः, सोमविक्रयी यज्ञे सोमस्य विक्रेता, परिविन्दकः परिवेत्ता, ज्येष्ठेऽकृतदारेऽकृताग्निपरिग्रहे वा यः कनीयान्दारपरिग्रहमग्निपरिग्रहं वा कुर्यात्स परिवेत्तः। ज्येष्ठस्तु परिवित्तिः । यथाह मनुः (३।१७१)— 'दाराग्निहोत्रसंयोगं य[2]ः करोत्यग्रजे स्थिते । परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्वजः ॥' इति। एवं दातृ-याजकावपि—'परिवित्तिः परिवेत्ता यया च परिविद्यते । सर्वे ते नरकं यान्ति दातृयाजकपञ्चमाः ॥' इति (३।१७२) म[3]नुवचनात् ॥ २२३ ॥

भाषा—वेतन लेकर पढ़ाने वाला, नपुंसक, कन्या पर झूठे या सही दोष लगाने वाला, ब्रह्महत्यादि के पाप से अभिशस्त, मित्रद्रोही, चुगलखोर, सोमलता का विक्रय करने वाला, बड़े भाई के अविवाहित रहते विवाह करने वाला ॥ २२३ ॥

[4]मातापितृगुरुत्यागी कुण्डाशी वृषलात्मजः ।
परपूर्वापतिः स्तेनः कर्मदुष्टाश्च निन्दिताः ॥ २२४ ॥

विना कारणेन मातापितृगुरून् यस्त्यजति स मातापितृगुरुत्यागी । एवं भार्यासुतत्याग्यपि, 'वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या सुतः शिशुः । अप्य-

---

१. संकुचितनखः । २. कुरुते योऽग्रजे स्थिते । ३. इति समानदोषश्रवणात् । ४. मातृपितृ, मातापित्रोर्गुरोः ।

कार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत् ॥' (मनुः ११।१०) इति समाननिर्देशात् कुण्डस्यान्नं योऽश्नात्यसौ कुण्डाशी, एवं गोलकस्यापि; 'यस्तयोरन्नमश्नाति स कुण्डाशी प्रकीर्तितः' इति वचनात्। वृषलो निर्धर्मस्तत्सुतो वृषलात्मजः, परपूर्वा पुनर्भूः, तस्याः पतिः. अदत्तादायी स्तेनः, कर्मदुष्टाः शास्त्रविरुद्धकारिणः। चकारात्कितवदेवलकप्रभृतयः। एते श्राद्धे निन्दिताः प्रतिषिद्धाः। 'अग्र्याः सर्वेषु वेदेषु' (आ. २१७) इत्यादिना श्राद्धयोग्यब्राह्मणप्रतिपादनेनैव तद्व्यतिरिक्तानामयोग्यत्वे सिद्धेऽपि पुनः केषांचिद्रोग्यादीनां प्रतिषेधवचनमुक्तलक्षणब्राह्मणासंभवे प्रतिषेधरहितानां प्राप्त्यर्थम् ॥ २२४ ॥

भाषा—अकारण माता, पिता और गुरु का त्याग करने वाला, कुण्डे भर अन्न खाने वाला, अधर्मी का पुत्र, पुनर्भू का पति, न दी हुई वस्तु को ग्रहण करने वाला चोर, और शास्त्रविरुद्ध कार्य करने वाला—ये सभी श्राद्धकर्म में निषिद्ध होते हैं ॥ २२४ ॥

एवं श्राद्धकालान्ब्राह्मणांश्चोक्त्वाऽधुना पार्वणप्रयोगमाह—

निमन्त्रयेत पूर्वेद्युर्ब्राह्मणानात्मवाञ्शुचिः ।
तैश्चापि संयतैर्भाव्यं मनोवाक्कायकर्मभिः ॥ २२५ ॥

पूर्वोक्तान्ब्राह्मणान् 'श्राद्धे [1]क्षणः क्रियताम्' इति पूर्वेद्युर्निमन्त्रयेत प्रार्थनया क्षणमभ्युपगमयेत्। अपरेद्युर्वा; 'पूर्वेद्युरपरेद्युर्वा श्राद्धकर्मण्युपस्थिते। निमन्त्रयेत त्र्यवरान्सम्यग्विप्रान् यथोदितान् ॥' इति (३।१८७) मनुस्मरणात्। आत्मवान् शोकोन्मादादिरहितश्चेत् दोषवान्न भवति। यद्वा,—आत्मवान्नियतेन्द्रियो भवेत्। शुचिः प्रयतश्च। तैरपि निमन्त्रितैर्ब्राह्मणैः। मनोवाक्कायव्यापारैः संयतैर्नियतैर्भवितव्यम् ॥ २२५ ॥

भाषा—(श्राद्ध के) पहले दिन स्वस्थ मन एवं पवित्र होकर (पूर्वोक्त प्रकार के) ब्राह्मणों को निमन्त्रित करे। उन निमन्त्रित ब्राह्मणों को भी मन, वाणी, शरीर एवं कर्म से पवित्रता रखनी चाहिये ॥ २२५ ॥

अपराह्णे समभ्यर्च्य स्वागतेनागतांस्तु तान् ।
पवित्रपाणिराचान्तानासनेषूपवेशयेत् ॥ २२६ ॥

अपराह्णे उक्तलक्षणे समभ्यर्च्य तान्निमन्त्रितान्ब्राह्मणानाहूय स्वागतवचनेन पूजयित्वा कृतपादधावनाचान्तान् क्लृप्तेष्वासनेषु पवित्रपाणिः पवित्रपाणीनुपवेशयेत्। यद्यप्यत्र सामान्येन 'अपराह्णे' इत्युक्तं, तथापि कुतपे प्रारभ्य तदादि पञ्चमुहूर्तेषु परिसमापनं श्रेयस्करम्, 'अह्नो मुहूर्ता विख्याता [3] दश पञ्च च

---

1. अवसर उत्सवो वा क्षणः। 2. नागतान्द्विजान्। 3. विज्ञेया।

सर्वदा। तत्राष्टमो मुहूर्तो यः स कालः कुतपः स्मृतः॥ मध्याह्ने सर्वदा यस्मान्मन्दीभवति भास्करः। तस्मादनन्तफलदस्तत्रारम्भो विशिष्यते॥ ऊर्ध्वं मुहूर्तात्कुतपाद्यन्मुहूर्तचतुष्टयम। मुहूर्तपञ्चकं ह्येतत्स्वधाभवनमिष्यते॥' (मात्स्य श्राद्ध. २२।८४-८५,८८) इति वचानात्। तथान्यदपि श्राद्धोपयोगि कुतपसंज्ञकमुक्तम्, 'मध्याह्नः खड्गपात्रं च तथा नेपालकम्बलः। रौप्यं दर्भास्तिला गावो दौहित्रश्चाष्टमः स्मृतः॥ पापं कुत्सितमित्याहुस्तस्य संतापकारिणः। अष्टावेते यतस्तस्मात्कुतपा इति विश्रुताः॥' (मात्स्य. २२।८६-८७) इति॥ २२६॥

भाषा—उन आये हुए ब्राह्मणों की अपराह्न के समय स्वागत वचन द्वारा अर्चना करके (अपने) हाथों को शुद्ध करके उन्हें आचमन कराकर आसनों पर बैठावे॥ २२६॥

> युग्मान्दैवे यथाशक्ति [1]पित्र्येऽयुग्मांस्तथैव च।
> [2]परिस्तृते शुचौ देशे दक्षिणाप्रवणे तथा॥ २२७॥

दैवे आभ्युदयिके श्राद्धे युग्मान् समान्ब्राह्मणानुपवेशयेत्। कथम्? यथाशक्ति शक्तिमनतिक्रम्य। तत्र वैश्वदेवे द्वौ द्वौ, मात्रादीनां तिसृणामेकैकस्या द्वौ द्वौ, तिसृणां वा द्वौ। एवं पित्रादीनामेकैकस्य द्वौ द्वौ, त्रयाणां वा द्वौ। एवं मातामहादीनां च वर्गत्रयेऽपि वैश्वदेवं पृथक्, तन्त्रं वा। पित्र्ये पार्वणश्राद्धे अयुग्मान् विषमानुपवेशयेदिति संबद्ध्यते। एतच्च परिस्तृते सर्वतः प्रच्छादिते शुचौ गोमयादिनोपलिप्ते दक्षिणाप्रवणे दक्षिणतोऽवनते देशे कार्यम्॥ २२७॥

भाषा—दैव (आभ्युदयिक) श्राद्ध में अपनी शक्ति के अनुसार सम संख्यावाले और पित्र्य अर्थात् पार्वण श्राद्ध में विषम संख्या में ब्राह्मणों को चारों ओर से आसनों द्वारा ढके हुए (गोबर आदि से लीप कर) पवित्र किए गये, और दक्षिण की ओर झुके हुए स्थान पर बैठावे॥ २२७॥

'अयुग्मान्पित्र्ये' (श्लो. २२७) इति पार्वणश्राद्धाङ्गभूते वैश्वदेवेऽप्ययुग्मप्रसङ्गे इदमारभ्यते—

> द्वौ दैवे [3]प्राक् त्रयः पित्र्य उदगेकैकमेव वा।
> मातामहानामप्येवं तन्त्रं वा वैश्वदेविकम्॥ २२८॥

द्वौ दैव इति। दैवे वैश्वदेवे द्वौ ब्राह्मणौ प्राङ्मुखावुपवेश्यौ। पित्र्ये अयुग्मानित्यविशेषप्रसङ्गे विशेष उच्यते—त्रयः पित्र्ये इति। पित्र्ये पित्रादिस्थाने त्रय उदङ्मुखा उपवेश्याः। पक्षान्तरमाह—एकैकमेव वा। वैश्वदेवे पित्र्ये च एकमे-

---

१. पित्र्ये युग्मान्। २. परिश्रिते (=काण्डपटादिना परिवृते)।
३. प्राक्तु पित्र्ये त्रीन्।

कमुपवेशयेत्। संभवतो विकल्पः। मातामहानामप्येवं श्राद्धे निमन्त्रणादि। द्वौ दैवे प्राक् त्रयः पित्र्ये उदगेकैकमेव वेत्येव मतं पितृश्राद्धवत्कर्तव्यम्। पितृश्राद्धे मातामहश्राद्धे च वैश्वदेविकं पृथक् तन्त्रेण वा कर्तव्यम्। 'तन्त्र'शब्दः समुदायवाचकः। यदा तु द्वावेव ब्राह्मणौ लब्धौ तदा तु वैश्वदेवे पात्रं प्रकल्प्य उभयत्रैकैकं ब्राह्मणं नियुञ्ज्यात्। यथाह वसिष्ठः (११।३०,३१)—'यद्येकं भोजयेच्छ्राद्धे दैवं तत्र कथं भवेत्। अन्नं पात्रे समुद्धृत्य सर्वस्य प्रकृतस्य च॥ देवतायतने कृत्वा ततः श्राद्धं प्रवर्तयेत। प्रास्येदन्नं तदग्नौ तु दद्याद्वा ब्रह्मचारिणे॥' इति॥ २२८॥

भाषा—दो ब्राह्मणों को विश्वदेवों की ओर पूर्वदिशा में मुख कराके, पित्रादिस्थान में विषम संख्या वाले ब्राह्मणों को उत्तर की ओर मुख कराके अथवा वैश्वदेव एवं पित्र्यस्थान में एक-एक ब्राह्मण को बैठावे। मातामह के श्राद्ध में भी ऐसा ही करे अथवा वैश्वदेविक पृथक् तन्त्र से करे॥ २२८॥

पाणिप्रक्षालनं दत्त्वा विष्टरार्थं[1] कुशानपि।
आवाहयेदनुज्ञातो विश्वे दैवास इत्यृचा॥ २२९॥

तदनन्तरं वैश्वदेवार्थं ब्राह्मणहस्ते जलं दत्त्वा विष्टरार्थं कुशांश्च युग्मान् द्विगुणितानासने दक्षिणतो दत्त्वा 'विश्वान्देवानावाहयिष्ये' इति ब्राह्मणान् पृष्ट्वा तैः 'आवाहत' इत्यनुज्ञातो 'विश्वे देवास आगत' (ऋ. ४।८।१५) इत्यनयर्चा 'आगच्छन्तु महाभागाः' इत्यनेन च स्मार्तेन मन्त्रेण तानावाहयेत्। एतच्च यज्ञोपवीतिना[2] प्रदक्षिणं च कार्यम्, 'अपसव्यं ततः कृत्वा पितॄणामप्रदक्षिणम्' (आ. २३२) इति पित्र्ये विशेषस्मरणात्॥ २२९॥

भाषा—तब (विश्वदेव के लिये) ब्राह्मण को हाथ धोने के लिये जल देकर) बैठने के लिये (जोड़ा) कुश देकर, उनकी आज्ञा से 'विश्वेदेवास आगत' इत्यादि ऋचा द्वारा (और आगच्छन्तु महाभागाः' स्मार्त मन्त्र से) उनका आवाहन करे॥ २२९॥

यवैरन्ववकीर्याथ भाजने सपवित्रके।
शं नो देव्या पयः क्षिप्त्वा यवोऽसीति यवांस्तथा॥ २३०॥
या दिव्या इति मन्त्रेण हस्तेष्वर्घ्यं विनिक्षिपेत्।

ततो[3] वैश्वदेवार्थब्राह्मसमीपे भूमिं प्रादक्षिण्येन यवैरन्ववकीर्य अनन्तरं तैजसादिभाजने सपवित्रके कुशयुग्मान्तर्हिते 'शं नो देवीरभिष्टय' (ऋ. ७।६।५।४) इत्यनयर्चापः क्षिप्त्वा 'यवोऽसि धान्यराजोऽसि' इत्यादिना मन्त्रेण

---

१. विष्टरार्थान्। २. वीतिना सव्येन च। ३. विश्वेदेवार्थं।

यवान् ततो गन्धपुष्पाणि च क्षिप्त्वाऽनन्तरं अर्घ्यपात्रपवित्रान्तर्हिते ब्राह्मण-हस्ते 'या दिव्या आपः पयसा' इत्यादिना मन्त्रेण विश्वेदेवा इदं वोऽर्घ्यं' इत्य-र्घ्योदकं विनिक्षिपेत् ॥ २३० ॥

भाषा—तब (वैश्वदेव के लिये) ब्राह्मणों के निकट भूमि पर जौ बिखेर कर पवित्र (दो कुश) से युक्त दो पात्रों में 'शंनो देवीरभिष्टये' इत्यादि मंत्र के साथ जल डालकर 'यवोऽसि धान्यराजो वा' इत्यादि मन्त्र से यव डाले (तब उसमें गन्ध, पुष्प डालकर) ॥ २३० ॥

दत्त्वोदकं गन्धमाल्यं धूपदानं सदीपकम् ॥ २३१ ॥
तथाच्छादनदानं च करशौचार्थमम्बु च ।

अथ करशौचार्थमुदकं दत्त्वा यथाक्रमं गन्धपुष्पधूपदीपदानं कुर्यात्, तथाच्छादनदानं च । गन्धादीनां स्मृत्यन्तरोक्तो विशेषो द्रष्टव्यः—'चन्दन-कुङ्कुमकर्पूरागरुपद्मकान्युपलेपनार्थम्' इति विष्णुनोक्तम् । पुष्पाणि च—'श्राद्धे जात्यः प्रशस्ताः स्युर्मल्लिका श्वेतयूथिका । जलोद्भवानि सर्वाणि कुसुमानि च चम्पकम् ॥' इत्युक्तानि । वर्ज्यानि च—'उग्रगन्धीन्यगन्धीनि चैत्यवृक्षोद्भवानि च । पुष्पाणि वर्जनीयानि रक्तवर्णानि यानि च ॥', 'न कण्टकिजम् । [1]कण्टकिज-मपि शुक्लं सुगन्धि यत्तद्दद्यात्, न रक्तं दद्यात्, रक्तमपि कुङ्कुमजं जलजं च दद्यात्' (विष्णु. अ. ६६) इत्यादीनि द्रष्टव्यानि । धूपे च विशेषो विष्णुनोक्तः—'प्राण्यङ्गं सर्वं धूपार्थे न दद्यात् । घृतमधुसंयुक्तंगुग्गुलुं श्रीखण्डागरुदेवदारुसरलादि दद्यात्' इति । दीपे च विशेषः शङ्खेनोक्तः—'घृतेन दीपो दातव्यस्तिलतैलेन वा पुनः । वसामेदोद्भवं दीपं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥' इति । आच्छादनं च शुभ्रं नव-महतं सदशं दद्यादिति । एतच्च सर्वं वैश्वदेवानुष्ठानकाण्डमुदङ्मुखः कुर्यात् । पित्र्यं काण्डं दक्षिणामुखः । यथाह वृद्धशातातपः—'उदङ्मुखस्तु देवानां पितॄणां दक्षिणामुखः । प्रदद्यात्पार्वणे सर्वं देवपूर्वं विधानतः ॥' इति ॥ २३१ ॥

भाषा—'या दिव्या आपः पयसा' इत्यादि मंत्र को कहते हुए ब्राह्मणों के हाथों पर अर्घ्य गिरावे । तदुपरान्त (हाथ धोने के लिए) जल देकर क्रमशः गन्ध, पुष्प, धूप, दीप दे ॥ २३१ ॥

अपसव्यं ततः कृत्वा पितॄणामप्रदक्षिणम् ॥ २३२ ॥
द्विगुणांस्तु [2]कुशान्दत्त्वा [3]ह्युशन्तस्त्वेत्यृचा पितॄन् ।
आवाह्य तदनुज्ञातो जपेदायन्तु नस्ततः ॥ २३३ ॥

ततो वैश्वदेवकाण्डानन्तरम् । अपसव्यं यज्ञोपवीतं प्राचीनावीतं कृत्वा । अत्र तत इति वदता काण्डानुसमयो दर्शितः । पित्रादीनां त्रयाणामयुग्मान्कु-

---

१. अकण्टकिजं । २. कुशान्कृत्वा । ३. उशन्त ।

णाग्द्विगुणभुग्नान् अप्रदक्षिणं वामतो विष्टरार्थमासनेषूदकपूर्वकं दत्त्वा पुनरुदकं दद्यात्; 'अपः प्रदाय [1]दर्भान्द्विगुणभुग्नासनं प्रदायापः प्रदाय' (गृ. सू. ४।७, ५, ६, ७) इत्याश्वलायनस्मरणात्। एतच्चाद्यन्तयोरुदकदानं वैश्वदेवे पित्र्ये च प्रतिवदार्थं प्रतिपादनार्थं द्रष्टव्यम्। अथ 'पितॄन् पितामहान् प्रपितामहानावाहयिष्ये' इति ब्राह्मणान्पृष्ट्वा 'आवाहय' इति तैरनुज्ञातः 'उशन्तस्त्वा निधीमहि' (ऋ. ७।६।२२।२) इत्यनयर्चा पित्रादीनावाह्य 'आयन्तु नः पितरः' इत्यादिना मन्त्रेणोपतिष्ठेत ॥ २३२–२३३ ॥

भाषा—इसके बाद आच्छादन के लिये वस्त्र और फिर हाथ धोने के लिये जल देना चाहिए। (वैश्वदेव के बाद) यज्ञोपवीत को दाहिने कंधे पर करके, पितरों को बाईं ओर से दोहरे कुश देकर 'उशन्तस्त्वा निधीमहि' ऋचा से पितरों का आवाहन करके ब्राह्मणों की आज्ञा पाकर 'आयन्तु नः पितरः' इत्यादि मन्त्र का जप करे ॥ २३२–२३३ ॥

(अपहता इति तिलान्विकीर्य च समन्ततः)
यवार्थास्तु तिलैः कार्याः कुर्यादर्घ्यादि पूर्ववत् ॥ २३४ ॥
दत्त्वार्घ्यं संस्रवांस्तेषां पात्रे कृत्वा विधानतः।
पितृभ्यः स्थानमसीति न्युब्जं पात्रं करोत्यधः ॥ २३५ ॥

यवार्था यवसाध्यानि कार्याण्यवकिरणादीनि तिलैः कर्तव्यानि। ततोऽर्घ्यपात्रासादनाच्छादनान्तं पूर्ववत्कुर्यात्। तत्रायं विशेषः—'तिलान् 'अपहता असुरा रक्षांसि' इत्यादिना मन्त्रेण ब्राह्मणान्परितोऽप्रदक्षिणमन्ववकीर्य राजतादिषु पात्रेषु त्रिष्वयुग्मकुशनिर्मितकूर्चान्तेषु 'शं नो देवीः' इति मन्त्रेणापः क्षिप्त्वा 'तिलोऽसि सोमदैवत्य' इत्यादिमन्त्रेण तिलान् गन्धपुष्पाणि च क्षिप्त्वा 'स्वधार्घ्याः' इति ब्राह्मणानां पुरतोऽर्घ्यपात्राणि स्थापयित्वा 'या दिव्या' इति मन्त्रान्ते 'पितरिदं तेऽर्घ्यं पितामहेदं तेऽर्घ्यं प्रपितामहेदं तेऽर्घ्यम्' इति ब्राह्मणानां हस्तेष्वर्घ्यं दद्यात्। 'एकैकमुभयत्र वा' इत्यस्मिन्नपि पक्षे पात्रत्रयं कार्यम्। एवमर्घ्यं दत्त्वा तेषामर्घ्याणां संस्रवान्ब्राह्मणहस्तगलितार्घोदकानि [3]पितृपात्रे गृहीत्वा दक्षिणाग्रं कुशस्तम्बं भूमौ निधाय तस्योपरि 'पितृभ्यः स्थानमसि' इत्यनेन मन्त्रेण तत्पात्रं न्युब्जमधोमुखं कुर्यात्। तस्योपरि अर्घ्यपात्रपवित्राणि निदध्यात्। अनन्तरं गन्धपुष्पधूपदीपाच्छादनानि 'पितरयं ते गन्धः, पितरिदं ते पुष्पम्' इत्यादिना प्रयोगेण दद्यात् ॥ २३४–२३५ ॥

---

१. द्विरुग्णभुग्नान्कुशान्दत्त्वापः। २. यवार्थस्तु तिलैः कार्यः।
३. पात्रे प्रथमे गृहीत्वा।

भाषा—'अपहता असुरा रक्षांसि' इत्यादि मन्त्र को पढ़ते हुए चारों ओर तिल बिखेरे। इस समय (पहले) यव से किये जाने वाले सभी कर्म तिल द्वारा करने चाहिये और अर्घ्य इत्यादि पूर्वोक्त विधि से ही करना चाहिए (ब्राह्मणों के हाथ में) अर्घ्य देकर (उनके हाथ से) गिरते हुए जल को विधिपूर्वक पितृ पात्र में रोप कर उस पात्र को पितृभ्यः स्थानमसि' इत्यादि मन्त्र से उलटाकर दे (और उसके ऊपर अर्घ्यपात्र एवं कुशाका पवित्र रखें॥ २३४-२३५ ॥

अग्नौकरणमाह द्वाभ्याम्—

अग्नौ करिष्यन्नादाय पृच्छत्यन्नं घृतप्लुतम्।
कुरुष्वेत्यभ्यनुज्ञातो हुत्वाग्नौ पितृयज्ञवत्॥ २३६ ॥
हुतशेषं प्रदद्यात्तु भाजनेषु समाहितः।
यथालाभोपपन्नेषु रौप्येषु च विशेषतः॥ २३७ ॥

अनन्तरमग्नौ करिष्यन्घृतप्लुतं घृताक्तमन्नमादाय ब्राह्मणान् पृच्छेत् 'अग्नौ करिष्ये' इति। 'घृत' ग्रहणं सूपशाकादिनिवृत्त्यर्थम्। ततस्तैः कुरुष्वेत्यभ्यनुज्ञातः प्राचीनावीती[3] शुद्धमन्नमुपसमाधाय मेक्षणेनादायावदाकसंपदा जुहुयात् 'सोमाय पितृमते स्वधा नमः, अग्नये कव्यवाहनाय स्वधा नमः' इति पिण्डपितृयज्ञकल्पेन अग्नौ हुत्वा मेक्षणमनुप्रहृत्य हुतशेषं मृन्मयवर्जं यथालाभोपपन्नेषु विशेषतो रौप्येषु पित्रादिभाजनेषु दद्यात्, न वैश्वदेवभाजनेषु। समाहितोऽनन्यमनस्कः। अत्र यद्यप्यग्नावित्यविशेषेणोक्तं तथाप्याहिताग्नेः सर्वाधानपक्षे औपासनाग्नेरभावात् पिण्डपितृयज्ञानन्तरभाविनि पार्वणश्राद्धे विहृत[4]दक्षिणाग्नेः संविधानाद्दक्षिणाग्नौ होमः 'कर्म स्मार्तं विवाहाग्नौ' इत्यस्यापवाददर्शनात्। यथाह मार्कण्डेयः—'आहिताग्निस्तु जुहुयाद्दक्षिणाग्नौ समाहितः। अनाहिताग्नि-[5]स्त्वौपसथेऽग्न्यभावे द्विजेऽप्सु वा॥' इति। अर्धाधानपक्षे त्वौपासनाग्निसद्भावादाहिताग्नेनाहिता[6]ग्नेरिवौपासनाग्नौकरणहोमः। एवमन्वष्टकादिषु त्रिष्वपि पिण्डपितृयज्ञकल्पा[7]तिदेशात्। काम्यादिषु चतुर्षु ब्राह्मणपाणावेव होम। यथाहुर्गृह्यकाराः—'अन्वष्टक्यं च पूर्वेद्युर्मासि मास्यथ पार्वणम्। काम्यमभ्युदयेऽष्टम्यामेकोद्दिष्टमथाष्टमम्॥ चतुर्ष्वाद्येषु साग्नीनां वह्नौ होमो विधीयते। पित्र्यब्राह्मणहस्ते स्यादुत्तरेषु चतुर्ष्वपि॥' अस्यार्थः—हेमन्तशिशिरयोश्चतुर्णामपरपक्षाणामष्टमीष्वष्टकाः' (आश्व. गृ. सू. २।४।१) इत्यष्टका विहिताः। तत्र नवम्यां यत्क्रियते

१. करिष्य आदाय। २. तु। ३. वीतीष्मसुप-। वीत्यग्निमुप-। ४. विहित। ५. स्त्वौपासनेऽन्यभावे। ६. ग्नेरप्यौपासना। ७. कल्पेनेति निदेशात्।

तदन्वष्टक्यम्। सप्तम्यां तु क्रियमाणं पूर्वेद्युः। मासि मासि कृष्णपक्षे पञ्चमीप्रभृतिषु यस्यां कस्यांचित्तिथावन्वष्टक्यातिदेशेन यद्विहितम्। अमावास्यायां पिण्डपितृयज्ञानन्तरं यद्विहितं तत्पार्वणम्। स्वर्गादिकामानां कृत्तिकादिनक्षत्रेषु यद्विहितं तत्काम्यम्। अभ्युदयेषु पुत्रोत्पत्त्यादिषु तडागारामदेवताप्रतिष्ठादिषु च यद्विहितं तदाभ्युदयिकम्। अष्टम्यां अष्टका विहिताः। एकोद्दिष्टम्। अत्रैकोद्दिष्टशब्देन सपिण्डीकरणं लक्ष्यते[1], तत्रैकोद्दिष्टस्यापि सद्भावात्, साक्षादेकोद्दिष्टे तदभावात्। अथवा,–गृह्यभाष्यकारमते साक्षादेकोद्दिष्टेऽपि पाणिहोमस्य सद्भावात्साक्षादेकोद्दिष्टमेव[2]। एतेषामष्टानामाद्येषु चतुर्षु साग्निकस्याग्नौ होमः। उत्तरेषु चतुर्षु पित्र्यब्राह्मणहस्ते एव। निरग्निकस्यापि प्रमीतपितृकस्य द्विजस्य पार्वणं नित्यमिति तस्यापि पाणावेव होमः, 'न निर्वपति यः श्राद्धं प्रमीतपितृको द्विजः। इन्दुक्षये मासि मासि प्रायश्चित्तीयते तु सः॥' इति वचनात्। एवं काम्याभ्युदयिकाष्टकैकोद्दिष्टेषु पाणावेव होमः—'अग्न्यभावे तु विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत्' इति (४।५१२) मनुस्मरणात्। पाणिदत्तस्य पृथग्ग्रासप्रतिषेध[3] उच्यते। यथाहुर्गृह्यकाराः—'अन्नं पाणितले दत्तं [4]पृथगश्नन्त्यबुद्धयः। पितरस्तेन तृप्यन्ति शेषान्नं न लभन्ति ते॥ यच्च पाणितले दत्तं यच्चान्यदुपकल्पितम्। एकीभावेन भोक्तव्यं पृथग्भावो न विद्यते' इति॥ २३६–२३७॥

भाषा—अग्नौकरण के लिये घी से सना हुआ अन्न लेकर (ब्राह्मणों से अग्नौकरण के लिए) आज्ञा माँगे, 'करो' ऐसा (ब्राह्मणों द्वारा) आदेश पाकर पितृयज्ञ के समान (उसका) अग्नि में हवन करे। हवन से अवशिष्ट (घृतार्द्र अन्न) को एकाग्रचित्त होकर पितृपात्रों में रखें (वैश्वदेव पात्र में नहीं) जो अपनी सामर्थ्य के अनुसार चाँदी के बनवाये गये हो (मिट्टी के नहीं)॥ २३६–२३७॥

उन्ननिवेदनम्—

दत्त्वान्नं पृथिवीपात्रमिति [5]पात्राभिमन्त्रणम्।
कृत्वेदं विष्णुरित्यन्ने द्विजाङ्गुष्ठं निवेशयेत्॥ २३८॥

अन्नमोदनसूपपायसघृतादिकं भाजनेषु दत्त्वा[6] 'पृथिवी ते पात्रं' इत्यादिना मन्त्रेण पात्राभिमन्त्रणं कृत्वा 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' (ऋ. १।२।७।२) इत्यनयर्चा अन्ने द्विजाङ्गुष्ठं निवेशयेत्। तत्र च वैश्वदेवे यज्ञोपवीती 'विष्णो हव्यं रक्ष' इति। पित्र्ये प्राचीनावीती 'विष्णो कव्यं रक्ष' इति, 'विष्णो हव्यं च कव्यं च ब्रूयाच्चेति वै क्रमात्' इति मनुस्मरणात्॥ २३८॥

---

१. लक्षयति। २. सद्भावादेको। ३. प्रतिषेधश्च दृश्यते। ४. पूर्वमश्नन्त्यबु। ५. पात्रानुमन्त्रणम्। ६. कृत्वा।

भाषा—(चावल, सूप, खीर, घी आदि) अन्न पात्रों में रख कर 'पृथिवी ते पात्रं' इत्यादि मंत्र से पात्रों को अभिमन्त्रित करे और 'इदं विष्णुर्विक्रमे' आदि मन्त्र पढ़ता हुआ (उस अन्न में) ब्राह्मण का अंगूठा डलवावे ॥ २३८ ॥

सव्याहृतिकां गायत्रीं मधु वाता इति त्र्यृचम् ।
जप्त्वा यथासुखं वाच्यं भुञ्जीरंस्तेऽपि वाग्यताः ॥ २३९ ॥

अनन्तरं 'विश्वेभ्यो देवेभ्य इदमन्नं परिविष्टं परिवेदयमाणं चातृप्तेः' इति यवोदकेन दैवे निवेद्य, तथा पित्रे 'अमुकगोत्रायामुकशर्मणे इदमन्नं परिविष्टं परिवेदयमाणं चातृप्तेः' इति तिलोदकप्रदानेन पित्रे निवेद्य, एवं पितामहाय प्रपितामहाय च निवेद्यानन्तरमापोशनं दत्त्वा पूर्वोक्ताभिर्व्याहृतिभिः सहितां गायत्रीं 'मधु वाता' (ऋ. १।९०।६) इति तृचं मधु मधु मध्विति त्रिवारं जप्त्वा 'यथासुखं जुषध्वम्' इति ब्रूयात्, 'संकल्प्य पितृदेवेभ्यः सावित्रीं मधुमज्जपः। श्राद्धं निवेद्यापोशानं जुषध्वैषोऽथ भोजनम् ॥' तथा—'गायत्रीं त्रिः सकृद्वापि जपेद्व्याहृतिपूर्विकाम्। मधु वाता इति तृचं मध्वित्येतत्त्रिकं तथा ॥' इति पारस्करादिवचनात्। भुञ्जीरंस्तेऽपि वाग्यताः। तेऽपि ब्राह्मणा वाग्यता मौनिनो भुञ्जीरन् ॥ २३९ ॥

भाषा—व्याहृतियों के साथ गायत्री का और मधुवाता' आदि तृच का जप करके आप लोग आनन्दपूर्वक भोजन करे ऐसा कहे और वे (ब्राह्मण) भी मौन होकर (भोजन करे) ॥ २३९ ॥

अन्नमिष्टं हविष्यं च दद्यादक्रोधनोऽत्वरः।
आ तृप्तेस्तु पवित्राणि जप्त्वा पूर्वजपं तथा ॥ २४० ॥

अन्नं भक्ष्य-भोज्य-लेह्य-चोष्य-पेयात्मकं पञ्चविधं इष्टं यद्ब्राह्मणाय प्रेताय कर्त्रे वा रोचते। हविष्यं श्राद्धहविर्योग्यं व्रीहिशालियवगोधूममुद्गमाषमुन्यन्नकालशाकमहाशाकैलाशुण्ठीमरीचहिङ्गुगुडशर्कराकर्पूरसैन्धवसांभरपनसनालिकेरकदलीबदर-गव्यपयोदधिघृतपायसमधुमांसप्रभृति स्मृत्यन्तरप्रसिद्धं वेदितव्यम्। 'हविष्यं' इत्यनेनैवायोग्यस्य स्मृत्यन्तरप्रतिषिद्धस्य कोद्रवमसूरचणककुलित्थपुलाकनिष्पावराजमाषकूष्माण्डवार्ताक[1]बृहतीद्वयोपोदकीवंशाङ्कुरपिप्पलीवचाशतपुष्पोषधबिड[2]-लवणमाहिषचामरक्षीरदधिघृतपायसादीनां निवृत्तिः। सक्रोधनः क्रोधहेतुसंभवेऽपि। अत्वरोऽव्यग्रश्च। आ तृप्तेर्दद्यादिति संबन्धः। 'तु' शब्दाद्यथा किंचिदुच्छिष्यते तथा दद्यात्, उच्छेषणस्य दासवर्गभागधेयत्वात्, 'उच्छेषणं भूमिगतमजिह्मस्याशठस्य च। दासवर्गस्य तत्पित्र्ये भागधेयं प्रचक्षते ॥' इति (३।२४६)

१. वृन्ताकबृहती। २. पुष्पोषधिबिड—क, पुष्पोषरबिड—।

मनुस्मरणात् । तथा आ तृप्तेः पवित्राणि पुरुषसूक्तपावमानीप्रभृतीनि जप्त्वा तृप्तान् ज्ञात्वा पूर्वोक्तं जपं च सव्याहृतिकामित्युक्तं जपेत् ॥ २४० ॥

भाषा—जो अन्न (भोजन) और हविष्य ब्राह्मणों को रुचे उसे (क्रोध का अवसर आने पर भी) क्रोधरहित एवं धैर्ययुक्त होकर देना चाहिए। जब तक वे तृप्त न हो जाय तब तक (पुरुष सूक्त पावमानी इत्यादि का) जप करे और (वे तृप्तिपूर्वक भोजन कर ले तो) व्याहृतियों सहित पूर्वोक्त जप करे ॥ २४० ॥

अन्नमादाय तृप्ताः स्थ शेषं चैवानुमान्य च ।
तदन्नं [1]विकिरेद्भूमौ दद्याच्चापः सकृत्सकृत् ॥ २४१ ॥

अनन्तरं सर्व[2]मन्नमादाय 'तृप्ताः स्थ' इति तान्पृष्ट्वा 'तृप्ताः स्म' इति तैरुक्तः 'शेषमप्यस्ति किं क्रियताम्' इति पृष्ट्वा 'इष्टैः सतोपभुज्यताम्' इत्यभ्युपगम्य तदन्नं पितृस्थानब्राह्मणस्य पुरस्तादुच्छिष्टसंनिधौ दक्षिणाग्रदर्भान्तरितायां भूमौ तिलोदकप्रक्षेपपूर्वकं—'ये अग्निदग्धा' इत्यनयर्चा निक्षिप्य पुनस्तिलोदकं प्रक्षिपेत्। तदनन्तरं ब्राह्मणहस्तेषु पिण्डप्रदानम्-गण्डूषार्थं सकृत्सकृदपो दद्यात् ॥ २४१ ॥

भाषा—तब सभी अन्न लेकर (उन ब्राह्मणों से) 'आप लोग तृप्त हुए' ऐसा पूछकर ('हम तृप्त हैं, ऐसा उत्तर पाने पर), शेष के विषय में भी इसी प्रकार आज्ञा लेकर ('जो शेष बचा है उसे क्या करें' ऐसा पूछने पर 'प्रियजनों के साथ ग्रहण करो' ऐसी आज्ञा लेकर) उस अन्न को पृथ्वी पर गिरा दे और (ब्राह्मणों के हाथों पर) थोड़ा थोड़ा जल गिरावे ॥ २४१ ॥

सर्वमन्नमुपादाय सतिलं दक्षिणामुखः ।
उच्छिष्टसंनिधौ पिण्डान्द[3]द्याद्वै पितृयज्ञवत् ॥ २४२ ॥

पिण्डपितृयज्ञकल्पातिदेशेन चरुश्रपणसद्भावे अग्नौकरणशिष्टचरुशेषेण सह सर्वमन्नमुपादायाग्निसंनिधौ पिण्डान्दद्यात् । तदभावे ब्राह्मणार्थं [4]कृतमन्नं सर्वमुपादाय सतिलं तिलमिश्रं दक्षिणामुख उच्छिष्टसंनिधौ पिण्डपितृयज्ञकल्पेन पिण्डान्दद्यात् ॥ २४२ ॥

भाषा—तब तिल के साथ सभी अन्न लेकर दक्षिण की ओर मुख करके उच्छिष्ट के निकट पिण्डपितृयज्ञ के समान ही पिण्डा देवे ॥ २४२ ॥

---

१. प्रकिरेत्। २. सार्ववर्णिकमन्न। ३. दद्याद्वि। ४. सार्ववर्णिकमन्नमुपादाय।

अक्षय्योदकदानम्—

मातामहानामप्येवं दद्यादाचमनं ततः।
स्वस्तिवाच्यं ततः कुर्यादक्षय्योदकमेव च॥ २४३॥

मातामहानामपि विश्वेदेवावाहनादिपिण्डप्रदानपर्यन्तं कर्मैवमेव[1] कर्तव्यम् अनन्तरं ब्राह्मणानामाचमनं दद्यात्। स्वस्तिवाच्यं ततः कुर्यात् 'स्वस्ति ब्रूत' इति ब्राह्मणान्स्वस्ति वाचयेत्। तैश्च 'स्वस्ति' इत्युक्ते 'अक्षय्यमस्तु इति ब्रूत' इति ब्राह्मणहस्तेषूदकदानं कुर्यात् तैश्चाक्षय्यमस्त्विति वक्तव्यम्॥ २४३॥

भाषा—मातामह आदि के लिये भी (विश्वेदेव का आवाहन से लेकर पिण्डदान तक के कर्म) इसी प्रकार होता है; इसके बाद ब्राह्मणों को आचमन करावे, तदुपरान्त स्वस्तिवाचन करे और ब्राह्मणों के हाथों पर जल देवे और वे तुम्हारा अक्षय्य (सब प्रकार से कल्याण) हो ऐसा आशीर्वाद देवें॥ २४३॥

स्वधावाचनम्—

दत्त्वा तु दक्षिणां शक्त्या स्वधाकारमुदाहरेत्।
वाच्यतामित्यनुज्ञातः प्रकृतेभ्यः स्वधोच्यताम्॥ २४४॥

अनन्तरं यथाशक्ति हिरण्यरजतादिदक्षिणां दत्त्वा 'स्वधां वाचयिष्ये' इत्युक्त्वा तैर्ब्राह्मणैः 'वाच्यताम्'इत्युनुज्ञातः प्रकृतेभ्यः पित्रादिभ्यो मातामहादिभ्यश्च 'स्वधोच्यताम्' इति स्वधाकारमुदाहरेत्॥ २४४॥

भाषा—इसके अनन्तर अपनी शक्ति के अनुसार (ब्राह्मणों को) दक्षिणा देकर उनसे स्वधावाचन की आज्ञा माँगे। 'स्वधावाचन करो' इस प्रकार की उनसे आज्ञा पाकर पिता आदि या मातामह आदि के लिये स्वधा का उच्चारण करे॥ २४४॥

ब्रूयुरस्तु स्वधेत्युक्ते भूमौ सिञ्चेत्ततो जलम्।
विश्वे देवाश्च प्रीयन्तां विप्रैश्चोक्त इदं जपेत्॥ २४५॥

ते च ब्राह्मणाः 'अस्तु स्वधा' इति ब्रूयुः। तैरेवमुक्ते अनन्तरं कमण्डलुना उदकं भूमौ सिञ्चेत्। ततो 'विश्वे देवाः प्रीयन्ताम्' इति ब्रूयात्, ब्राह्मणैश्च 'प्रीयन्तां विश्वे देवा' इत्युक्ते इदमनन्तरोच्यमानं जपेत्॥ २४५॥

भाषा—वे ब्राह्मण भी 'स्वधा हो' ऐसा कहें, उनके ऐसा कहने पर (कमण्डलु से) भूमि पर जल छिड़के। तब 'विश्वेदेव प्रसन्न होवें, ऐसा कहे और ब्राह्मणों द्वारा भी ऐसा ही कहने पर आगे कही जाने वाली प्रार्थना का जप करे॥ २४५॥

---

१. कर्मैवं कर्तव्यं।

ब्राह्मणप्रार्थना—

दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः संततिरेव च।
श्रद्धा च नो मा व्यगमद्बहु देयं च नोऽस्त्विति ॥ २४६ ॥

दातारो हिरण्यादेः नोऽस्माकं कुलेऽभिवर्धन्तां बहवो भवन्तु। वेदाश्च वर्धन्तां अध्ययनाध्यापनतदर्थज्ञानानुष्ठानद्वारेण। संततिश्च पुत्रपौत्रादिपरम्परया। श्रद्धा च पित्र्ये कर्मण्यास्था नोऽस्माकं मा व्यगमत् मा गच्छतु। 'न माङ्योगे' (पा. ६।४।७४) इत्यडभावः। देयं च हिरण्यादि बहु अपर्यन्तं अस्माकं भवत्विति जपेदित्यर्थः ॥ २४६ ॥

भाषा—हमारे कुल में (हिरण्य आदि) के दाता (दानशील पुरुष) अनेक होवें, (अध्ययन-अध्यापन द्वारा) वेद की और सन्तान (पुत्र, पौत्र) की वृद्धि होवे। पितृकर्म (पितरों की पूजा) आदि में हमारी श्रद्धा कम न होवें, (सोना आदि) दान देने योग्य वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में बनी रहें ॥ २४६ ॥

[1]इत्युक्त्वोक्त्वा प्रिया वाचः प्रणिपत्य विसर्जयेत्।
वाजे वाज इति प्रीतः पितृपूर्वं [3]विसर्जनम् ॥ २४७ ॥

एवं पूर्वोक्तं प्रार्थनामन्त्रं जप्त्वा, उक्त्वा च प्रिया वाचः 'धन्या वयं भवच्चरणयुगलरजःपवित्रीकृतमस्मन्मन्दिरं शाकाद्यशनक्लेशमविगणय्य भवद्भिरनुगृहीता वयम्' इत्येवंरूपाः। प्रणिपत्य प्रदक्षिणापूर्वं नमस्कृत्य विसर्जयेत्। कथं विसर्जयेदित्याह—'वाजे वाजेवत वाजिनो नः' (ऋ. ५।४।५।८ इत्यनयर्चा पितृपूर्वं प्रपितामहादि विश्वेदेवान्तं दर्भान्वारम्भेण 'उत्तिष्ठत पितरः' इति प्रीतः सुप्रीतमना विसर्जनं कुर्यात् ॥ २४७ ॥

भाषा—इस मन्त्र का जप करके, प्रियवचन कह कर (पितरों को) प्रणाम करके विसर्जित करे। 'वाजे वाजेवत वाजिनो नः' इस मन्त्र के साथ प्रसन्नचित्त होकर पितरों से आरम्भ करके (विश्वेदेव तक का) विसर्जन करना चाहिए ॥ २४७ ॥

[4]यस्मिंस्तु संस्रवाः पूर्वमर्घ्यपात्रे[5] निवेशिताः।
पितृपात्रं तदुत्तानं कृत्वा विप्रान्विसर्जयेत् ॥ २४८ ॥

यस्मिन्नर्घ्यपात्रे पूर्वमर्घ्यं [6]दानान्ते संस्रवा ब्राह्मणहस्तगलितार्घ्योदकानि निवेशिताः स्थापितास्तदर्घ्यपात्रं न्युब्जं तदुत्तानमूर्ध्वमुखं कृत्वा विप्रान्विसर्ज-

---

१. रेव नः। २. इत्युक्त्वा तु। ३. विसर्जयेत्। ४. यस्मिंस्ते संस्रवाः पूर्वं। ५. पितृपात्रे। ६. दानानन्तरं ते संस्रवा।

येत्। एतच्चाशीर्मन्त्रजपादूर्ध्वं 'वाजे' इत्यतः प्राग्द्रष्टव्यम् ; 'कृत्वा विसर्जयेत्' इति क्त्वाप्रत्ययश्रवणात् ॥ २४८ ॥

भाषा—पहले जिस अर्घ्यपात्र में (ब्राह्मणों के हाथों से) गिरा हुआ जल रोपा गया था उस औंधे किये गये) पितृपात्र का मुँह ऊपर करे और ब्राह्मणों को विदा करे ॥ २४८ ॥

प्रदक्षिणमनुव्रज्य भुञ्जीत पितृसेवितम्।
ब्रह्मचारी भवेत्तां तु रजनीं ब्राह्मणैः सह ॥ २४९ ॥

अनन्तरमासीमान्तं ब्राह्मणाननुव्रज्य तैः 'गम्यताम्' इत्यनुज्ञातस्तान्प्रदक्षिणीकृत्य प्रतिनिवृत्तः पितृसेवितं श्राद्धशिष्टमिष्टैः सह भुञ्जीत। नियम एवार्थ, न परिसंख्या। 'मांसे तु यथारुचि' इति 'द्विजकाम्यया' (आ० १७९) इत्यत्रोक्तम्। यस्मिन्दिने श्राद्धं कृतं तत्संबन्धिनीं रात्रिं भोक्तृभिर्ब्राह्मणैः सह कर्ता ब्रह्मचारी भवेत्। तुशब्दात् पुनर्भोजनादिरहितोऽपि भवेत्; 'दन्तधावनताम्बूलं स्निग्धस्नानमभोजनम्। रत्यौषधपरान्नानि श्राद्धकृत् सप्त वर्जयेत् ॥ पुनर्भोजनमध्वानं भाराध्ययनमैथुनम्। दानं प्रतिग्रहं होमं श्राद्धभुक्त्वष्ट वर्जयेत् ॥' इति वचनात् ॥ २४९ ॥

भाषा—तब ब्राह्मणों को अपने गांव की सीमा तक पहुँचा कर उनकी आज्ञा मिलने पर प्रदक्षिणा करके लौटे और इष्ट जनों के साथ अवशिष्ट अन्न का भोजन करे। उस रात्रि ब्राह्मणों के साथ श्राद्धकर्ता ब्रह्मचारी होकर रहे ॥ २४९ ॥

एवं पार्वणश्राद्धमुक्त्वेदानीं वृद्धिश्राद्धमाह—

एवं [1]प्रदक्षिणावृत्को वृद्धौ नान्दीमुखान्पितॄन्।
यजेत [2]दधिकर्कन्धुमिश्रान्पिण्डान्यवैः क्रियाः ॥ २५० ॥

वृद्धौ पुत्रजन्मादिनिमित्ते श्राद्धे एवमुक्तेन प्रकारेण पितॄन्यजेत् पूजयेत्। तत्र विशेषमाह—प्रदक्षिणावृत्क इति। प्रदक्षिणा आवृत् अनुष्ठानपद्धतिर्यस्यासौ प्रदक्षिणावृत्कः, प्रदक्षिणप्रचार इति यावत्। 'नान्दीमुखान्' इति पितॄणां विशेषणम्। अतश्चावाहनादौ 'नान्दीमुखान्पितॄनावाहयिष्ये नान्दीमुखान्पितामहान्' इत्यादिप्रयोगो द्रष्टव्यः। कथं यजेतेत्याह—दधिकर्कन्धुमिश्रान्।
मिश्रान्पिण्डान्दत्वा, 'यजेत'इति संबध्यते। तिलसाध्याः सर्वाः क्रिया यवैः कर्तव्याः। अत्र च ब्राह्मणसंख्या दर्शितैव 'युग्मान्दैवे यथाशक्ति' (आ० २२७) इत्यत्र। प्रदक्षिणावृत्कादिपरि-

---

१. प्रदक्षिणं कृत्वा। २. कर्कन्धुमिश्राः पिण्डा यवैः।

गणनमन्येषामपि स्मृत्यन्तरोक्तानां विशेषधर्माणां प्रदर्शनार्थम्। यथाहाश्वलायनः—'अथाऽभ्युदयिके युग्मा ब्राह्मणा अमूला दर्भाः प्राङ्मुखो यज्ञोपवीती स्यात्प्रदक्षिणमुपचारो यवस्तिलार्थो गन्धादिदानं द्विर्द्विः ऋजुदर्भानासने दद्यात्। 'यवोऽसि सोमदेवत्यो गोसवे देवनिर्मितः। प्रत्नवद्भिः प्रत्तः पुष्ट्या नान्दीमुखान्पितॄनिमाँल्लोकान्प्रीणयाहि नः स्वाहा' इति यवावपनम्। 'विश्वेदेवा इदं वोऽर्घ्यं, नान्दीमुखाः पितर इदं वोऽर्घ्यम्' इति यथालिङ्गमर्घ्यदानम्। पाणौ होमोऽग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा, सोमाय पितृमते स्वाहेति। 'मधु वाता ऋतायते' (ऋ. स. १।६।१८) इति त्र्यृचःस्थाने 'उपास्मै गायत' (ऋ. सं. ६।७।२६) इति पञ्च मधुमतीः श्रावयेत्। 'अक्षन्नमीमदन्त' (ऋ. सं० १।६।३) इति षष्ठीम्। आचान्तेषु भुक्ताशयान्गोमयेनोपलिप्य प्राचीनाग्रान्दर्भान्संस्तीर्य तेषु पृषदाज्यमिश्रेण भुक्तशेषेणैककैस्य द्वौ द्वौ पिण्डौ दद्यादित्यादि। यद्यपि 'पितॄन्यजेत' इति सामान्येनोक्तं, तथापि श्राद्धत्रयं क्रमश्च स्मृत्यन्तरादवगन्तव्यः। यथाह शातातपः—'मातुः श्राद्धं तु पूर्वं स्यात्पितॄणां तदनन्तरम्। ततो मातामहानां च वृद्धौ श्राद्धत्रयं स्मृतम् ॥' इति ॥ २५० ॥

भाषा—पुत्रजन्म आदि प्रसन्नता के अवसर पर भी इसी प्रकार नान्दी मुख पितरों के लिये दाहिनी ओर से आरम्भ करके पूजन करना चाहिए। दही, बदरीफल मिश्रित पिण्ड देना चाहिए और (तिल से की जाने वाली) क्रियाएँ यव से की जानी चाहिए ॥ २५० ॥

एकोद्दिष्टमाह—

एकोद्दिष्टं देवहीनमेकार्घ्यैकपवित्रकम्।
आवाहनाग्नौकरणरहितं ह्यपसव्यवत् ॥ २५१ ॥

एकोद्दिष्टं एक उद्दिष्टो यस्मिन् श्राद्धे तदेकोद्दिष्टमिति कर्मनामधेयम्। 'शेषं पूर्ववदाचरेत्' (आ० २५४) इत्युपसंहारात्। पार्वणसकलधर्मप्राप्तौ विशेषोऽभिधीयते। देवहीनं देवरहितं वैश्वदेवरहितं एकार्घ्यपात्रमेकदर्भपवित्रकं च आवाहनाग्नौकरणहोमेन च रहितम्। अपसव्यवत् प्राचीनावीतब्रह्मसूत्रवत्। अनेनानन्तरश्लोकाभ्युदयिके यज्ञोपवीतित्वं सूचयति ॥ २५१ ॥

भाषा—एकोदिष्ट नाम का कर्म बिना विश्वेदेव के एक अर्घ्यपात्र से एक कुशपवित्र से किया जाता है; इसमें आवाहन और अग्नौकरण नहीं होता एवं प्राचीनावीत (होके दाहिने कंधे पर यज्ञोपवीत करके) किया जाता है ॥ २५१ ॥

---

१. दैवहीनं।

उपतिष्ठतामक्षय्यस्थाने विप्रविसर्जने ।
अभिरम्यतामिति वदेद्ब्रूयुस्तेऽभिरताः स्म ह ॥ २५२ ॥

किंच, यदुक्तं (आ० २४३)—'स्वस्तिवाच्यं ततः कुर्यादक्षय्योदकमेव च' इति तत्राक्षय्यस्थान उपतिष्ठतामिति वदेत्। विप्रविसर्जने कर्तव्ये 'वाजे वाजे' इति जपानन्तरं 'दर्भान्वारम्भेण अभिरम्यताम्' इति ब्रूयात् । ते च 'अभिरताः स्मः' इति ब्रूयुः। ह इति प्रसिद्धौ। शेषं पूर्ववदिति यावत्। एतच्च मध्याह्ने कर्तव्यम्, यथाह देवलः—'पूर्वाह्णे दैविकं कर्म अपराह्णे तु पैतृकम्। एकोद्दिष्टं तु मध्याह्ने प्रातर्वृद्धिनिमित्तकम् ॥' इति। 'भुञ्जीत पितृसेवितम्' (आ० २४९) इत्येकोद्दिष्टविशेषे निषेधो दृश्यते—'नवश्राद्धेषु यच्छिष्टं गृहे पर्युषितं च यत्। दंपत्योर्भुक्तशिष्टं च न भुञ्जीत कदाचन ॥' इति[2]। नवश्राद्धं च दर्शितम्—'प्रथमेऽह्नि तृतीयेऽह्नि पञ्चमे सप्तमे तथा। नवमैकादशे चैव तन्नवश्राद्धमुच्यते ॥' इति ॥ २५२॥

भाषा—अक्षय्योदक के समय उपतिष्ठताम्' ('आप लोग बैठें') ऐसा कहें। ब्राह्मणों के विसर्जन के समय 'अभिरम्यताम्' ('आप लोग आनन्दित हों) कहे। वे (ब्राह्मण) भी हम आनन्दित हुए' (अभिरताः') कहें ॥ २५२ ॥

सपिण्डीकरणमाह—

गन्धोदकतिलैर्युक्तं कुर्यात्पात्रचतुष्टयम् ।
अर्घ्यार्थं पितृपात्रेषु प्रेतपात्रं प्रसेचयेत्[2] ॥ २५३ ॥
ये समाना इति द्वाभ्यां शेषं पूर्ववदाचरेत् ।
एतत्सपिण्डीकरणमेकोद्दिष्टं स्त्रिया अपि ॥ २५४ ॥

गन्धोदकतिलैर्युक्तं पात्रचतुष्टयं अर्घ्यसिद्ध्यर्थं पूर्वोक्तविधिना कुर्यात्। तिलैर्युक्तं पात्रचतुष्टयमिति वदता पितृवर्गे चत्वारो ब्राह्मणा दर्शिताः। वैश्वदेवे द्वौ स्थितावेव। अत्र प्रेतपात्रोदकं किंचिदवशेषं त्रिधा विभज्य पितृपात्रेषु सेचयेत् 'ये समानाः समनसः' इति द्वाभ्यां मन्त्राभ्याम्। शेषं विश्वेदेवावाहनादिविसर्जनान्तं पूर्ववत्पार्वणवदाचरेत् । प्रेतार्घ्यपात्रावशिष्टोदकेन प्रेतस्थानब्राह्मणहस्तेऽर्घ्यं दत्वा शेषमेकोद्दिष्टवत्समापयेत्। पित्र्येषु त्रिषु पार्वणवदेव। एतत्सपिण्डीकरणमनन्तरोक्तमेकोद्दिष्टं च ततः प्रागुक्तं स्त्रिया अपि मातुरपि कर्तव्यम्। एवं वदता पार्वणे मातृश्राद्धं पृथक्कर्तव्यमित्युक्तं भवति। अत्र 'प्रेतःखण्डं पितुः प्रपितामहविषयं केचिद्वर्णयन्ति, तस्य त्रिष्वन्तर्भावेन सपिण्डीकरणोत्तरकालं पिण्डदानादिनिवृत्त्युपपत्तेः। समनन्तर[3]मृतस्य तूत्तरत्र पिण्डोद-

१. तिष्ठतामित्यक्षय्य। २. प्रसिञ्चयेत्। ३. मृतस्य पिण्डोदक।

ऋदानानुवृत्तेरन्तर्भावो न युक्तः। अत एवाह यमः—'यः सपिण्डीकृतं प्रेतं पृथक्पिण्डे नियोजयेत्। विधिघ्नस्तेन भवति पितृहा चोपजायते ॥' इति प्रकर्षेण इतः गतो प्रेत इति चतुर्थेऽपि 'प्रेत' शब्दोपपत्तेः। प्रेतेभ्य एव निपृणीयात्' इति च प्रयोगदर्शनात्। अपि च—'सपिण्डीकरणं श्राद्धं देवपूर्वं नियोजयेत्। पितॄनेवाशयेत्तत्र पुनः प्रेतं न निर्दिशेत् ॥' इति सपिण्डीकरणोत्तरकालं प्रेतस्य, श्राद्धादिप्रतिषेधो दृश्यते, स चानन्तरमृतस्य न संभवति; अमावास्यादौ श्राद्धविधानात्। 'सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते' (मनुः ५।६०) इत्येतदपि वचनं चतुर्थस्य त्रिष्वन्तर्भाव एव घटते, 'चतुर्थस्य पिण्डत्रयव्यापित्वं, पञ्चमस्य पिण्डद्वयव्यापित्वं, षष्ठस्यैकपिण्डव्यापित्वं सप्तमे निवृत्तिः' इति। पितृपात्रेष्वित्येतदपि पितृमुखस्यत्वादस्मिन्नेव पक्षे घटते, नान्यथा, प्रपितामहप्रमुखत्वात्। तस्मात्पितृपात्रेषु तत्प्रेतपात्रं प्रसेचयेदिति पितुः प्रपितामहपात्रं पित्रादिपात्रेषु प्रसेचयेदिति,—तदयुक्तम्। नह्यत्र पिण्डसंयोजनमुत्तरत्र पिण्डदानादिनिवृत्तिप्रयोजकम्, अपि तु पितुः प्रेतत्वनिवृत्त्या पितृत्वप्राप्त्यर्थम्। प्रेतत्वं च क्षुत्तृष्णोपजनितात्यन्तदुःखानुभवावस्था। यथाह मार्कण्डेयः—'प्रेतलोके तु वसतिर्नृणां वर्षं प्रकीर्तिता। क्षुत्तृष्णे प्रत्यहं तत्र भवेतां भृगुनन्दन ॥' इति। पितृत्वप्राप्तिश्च वस्वादिश्राद्धदेवतासंबन्धः। प्राक्तनैकोद्दिष्टसहितेन सपिण्डीकरणेन प्रेतत्वनिवृत्त्या पितृत्वं प्राप्नोतीत्यवगम्यते—'यस्यैतानि न दत्तानि प्रेतश्राद्धानि षोडशः। प्रेतत्वं सुस्थिरं तस्य दत्तः श्राद्धशतैरपि ॥' इति। तथा—'चतुरो निर्वपेत्पिण्डान्पूर्वं तेषु समापयेत्[1]। ततःप्रभृति वै प्रेतः पितृसामान्यमश्नुते ॥' इत्यादिवचनात्। 'यः सपिण्डीकृते प्रेतम्' इत्यनेनापि पूर्वैकोद्दिष्टविधानेन पिण्डदाननिषेधात्पार्वणविधानेन सह पिण्डदानमवगम्यते। तच्च[2] सांवत्सरिकपाक्षिकैकोद्दिष्टविधानेनापोद्यते[3]। यदपि 'पुनः प्रेतं न निर्दिशेत्' इति, तदपि प्रेतशब्दं नोच्चारयेत्, अपि तु पितृशब्दमेवेत्येवमर्थम्। नच प्रकर्षगमनात्तत्रैव 'प्रेत'शब्दः। यतो विशिष्टदुःखानुभवावस्था 'प्रेत'शब्देन रूढ्याभिधीयत इत्युक्तम्। योऽपि प्रमीतमात्रे प्रेतशब्दप्रयोगः सोऽपि भूतपूर्वगत्या। 'सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते' इति च प्रथमस्य पिण्डस्य चतुर्थव्यापित्वात्, द्वितीयस्य पञ्चमव्यापित्वात्, तृतीयस्य षष्ठव्यापित्वात्; 'सप्तमे विनिवर्तते' इत्येवमपि घटते। अपि च निर्वाप्यपिण्डान्वयेन न सापिण्ड्यं; अव्यापकत्वात्, अपि त्वेकशरीरावयवान्वयेनेत्युक्तम्। पितृशब्दश्च प्रेतत्वनिवृत्त्या श्राद्धदेवताभूयंगतेषु[5] वर्तत इति पितृपात्रेष्वित्यविरुद्धम्। तस्मादनन्तरातीत

---

१. समानयेत् समापयेत्। २. एतच्च। ३. विधानेनोपपद्यते विधानायोपपाद्यते। ४. अव्यापित्वादपि तु। ५. देवतात्वमुपगतेषु।

पूर्वपक्षद्वारेण परमतं दर्शितमित्यर्थः। मृतपात्रोदकस्य तत्पिण्डस्य च पितृपात्रेषु तत्पिण्डेषु च संसर्जनमिति स्थितम्। आचार्यस्तु परमतमेवोपन्यस्तवान्। एतच्च पितुः सपिण्डीकरणं पितामहादिषु त्रिषु प्रमीतेषु वेदितव्यम्। पितरि प्रेते पितामहे प्रपितामहे वा जीवति सपिण्डीकरणं नास्त्येव; 'व्युत्क्रमाच्च प्रमीतानां नैव कार्या सपिण्डता' इति वचनात्। यत्तु मनुवचनं (३।२२१) 'पिता यस्य निवृत्तः स्याज्जीवेद्वापि पितामहः पितुः स नाम संकीर्त्य कीर्तयेत्प्रपितामहम् ॥' इति, तदपि [1]शब्दप्रयोगनियमाय न पिण्डद्वयदानार्थम्। कथम्? 'ध्रियमाणे तु पितरि पूर्वेषामेव निर्वपेत्। पिता यस्य तु वृत्तः स्याज्जीवेच्चापि पितामहः ॥' सोऽपि पूर्वेषामेव निर्वपेदित्यन्वयः। पक्षद्वयेऽपि कथं निर्वपेदित्याह—'पितुः स नाम संकीर्त्य कीर्तयेत्प्रपितामहम्' (मनुः ३।२२०-२१) इत्याद्यन्तग्रहणेन सर्वत्र पितृभ्यः, पितामहेभ्यः, प्रपितामहेभ्यः इत्येवं प्रयोगः, न पुनः कदाचिदपि पितामहस्य प्रपितामहस्य वाऽऽदित्वं वृद्धप्रपितामहस्य तत्पितुर्वाऽन्तत्वम्। अतश्च पितादिशब्दानां संबन्धिवचनत्वात् ध्रियमाणेऽपि पितरि पितुः पितृभ्यः पितामहेभ्यः प्रपितामहेभ्य इति, पितामहे ध्रियमाणे पितामहस्य पितृभ्यः पितामहेभ्यः प्रपितामहेभ्य इति। अतश्च पिण्डपितृयज्ञे 'शुन्धन्तां पितरः' इत्यादिमन्त्राणामूहो न भविष्यति। यदपि विष्णुवचनं 'यस्य पिता प्रेतः स्यात्स पितृपिण्डं निधाय पितामहात्पराभ्यां द्वाभ्यां दद्यात्' इति, तस्यायमर्थः—पितामहे ध्रियमाणे प्रेते च पितरि पितुरेकं पिण्डमेकोद्दिष्टविधानेन निधाय पितुर्यः पितामहस्ततः पराभ्यां द्वाभ्यां दद्यात्। पितामहस्त्वात्मनः प्रपितामहः संप्रदानभूतः स्थित एवेति। प्रपितामहाय ततः पराभ्यां द्वाभ्यां च दद्यादिति। शब्दप्रयोगनियमस्तु पूर्वोक्त एव। एवं गोब्राह्मणादिहतस्यापि सपिण्डीकरणाभावो वेदितव्यः। यथाह कात्यायनः—'ब्राह्मणादिहते ताते पतिते संगवर्जिते। व्युत्क्रमाच्च मृते देयं येभ्य एव ददात्यसौ ॥' इति। गोब्राह्मणहतस्य पितुः सपिण्डीकरणसंभवे तमुल्लंघ्य पितामहादिभ्यः पार्वणविधानमनुपपन्नमिति सपिण्डीकरणाभावोऽवगम्यते। स्मृत्यन्तरेऽपि—'ये नराः संततिच्छिन्ना नास्ति तेषां सपिण्डता। न चैतैः सह कर्तव्यान्येकोद्दिष्टानि षोडश ॥' इति। मातुः सपिण्डनादौ [2]गोत्रे विप्रतिपत्तिः; भर्तृगोत्रेण पितृगोत्रेण वा दातव्यमिति, उभयत्र वचनदर्शनात्। 'स्वगोत्राद्भ्रश्यते नारी विवाहात्सप्तमे पदे। स्वामिगोत्रेण कर्तव्या तस्याः पिण्डोदकक्रिया ॥' इत्यादिभर्तृगोत्रविषयं वचनम्, 'पितृगोत्रं समुत्सृज्य न कुर्याद्भर्तृगोत्रतः। जन्मन्येव विपत्तौ च नारीणां पैतृकं कुलम् ॥' इत्यादिपितृगोत्रविषयम्। एवं विप्रतिपत्ता-

---

१. पितृशब्द। १. पिण्डदानादौ।

वासुरादिविवाहेषु पुत्रिकाकरणे च पितृगोत्रमेव, तत्र तत्र विशेषवचनात् दानस्यानिवृत्तेश्च। ब्राह्मादिविवाहेषु व्रीहियववत् बृहद्रथन्तरसामवत् विकल्प एव। तत्र च—'येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः। तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न दुष्यति॥' इति (मनुः ४।१७८) वचनात् वंशपरम्परायातसमाचरणेन व्यवस्था। एवंविधविषयव्यतिरेकेणास्य वचनस्य विषयान्तराभावात्। यत्र पुनः शास्त्रतो न व्यवस्था, नाप्याचारस्तत्र 'आत्मनस्तुष्टिरेव वा' इति वचनादात्मनस्तुष्टिरेव व्यवस्थापिका, यथा—'गर्भाष्टमेऽष्टमे वाब्दे' (आ० १४) इति। (यत्र) मातुः सपिण्डीकरणेऽपि [1]विरुद्धानि वाक्यानि दृश्यन्ते, तत्र पितामह्यादिभिः सार्धं सपिण्डीकरणं स्मृतम्'। तथा भर्त्रापि भार्यायाः स्वमात्रादिभिः सह सपिण्डीकरणं कर्तव्यमिति पैठीनसिराह—'अपुत्रायां मृतायां तु पतिः कुर्यात्सपिण्डताम्। श्वश्र्वादिभिः सहैवास्याः सपिण्डीकरणं भवेत्॥' इति। पत्न्या सह सपिण्डीकरणं यम आह—'पत्न्या चैकेन कर्तव्यं सपिण्डीकरणं स्त्रियाः। सा [2]मृतापि हि तेनैक्यं गता मन्त्राहुतिव्रतैः॥' इति। उशनसा तु मातामहेन सह सपिण्डीकरणमुक्तम्—पितुः पितामहे यद्वत्पूर्णे संवत्सरे सुतैः। मातुर्मातामहे तद्वदेषा कार्या सपिण्डता॥' तथा—'पिता पितामहे योज्यः पूर्णे संवत्सरे सुतैः। माता मातामहे तद्वदित्याह भगवाञ्छिवः॥' इत्येवंविधेषु वचनेषु सत्सु अपुत्रायां भार्यायां प्रमीतायां भर्ता स्वमात्रैव सापिण्ड्यं कुर्यात्। अन्वारोहणे तु पुत्रः स्वपित्रैव मातुः सापिण्ड्यं कुर्यात्। आसुरादिविवाहोत्पन्नः पुत्रिकासुतश्च मातामहेनैव ब्राह्मादिविवाहोत्पन्नः पित्रा मातामहेन पितामह्या वा विकल्पेन कुर्यात्। अत्रापि यदि नियतो वंशसमाचारस्तदानीं तथैव कुर्यात्। वंशसमाचारोऽप्यनियतश्चेत्तदा 'आत्मनस्तुष्टिरेव च' इति यथारुचि कुर्यात्। तत्र च येन केनापि मातुः सापिण्ड्येऽपि यत्रान्वष्टकादिषु मातृश्राद्धं पृथग्विहितम्,—'अन्वष्टकासु वृद्धौ च गयायां च क्षयेऽहनि। मातुः श्राद्धं पृथक्कुर्यादन्यत्र पतिना सह॥' इति, तत्र पितामह्यादिभिरेव पार्वणश्राद्धं कर्तव्यम्; 'अन्यत्र पतिना सह' इति पतिसापिण्ड्ये तदंशभागित्वात्। मातामहसापिण्ड्ये तदंशभागित्वात्तेनैव सह। यथाह शातातपः—एकमूर्तित्वमायाति सपिण्डीकरणे कृते। पत्नी पतिपितॄणां च तस्मादंशेन भागिनी॥' इति। एवं सति मातामहेन मातुः सापिण्ड्ये मातामहश्राद्धं पितृश्राद्धवन्नित्यमेव। पत्या पितामह्या वा मातुः सापिण्ड्ये मातामहश्राद्धं न नित्यम्। कृते अभ्युदयः, अकृते न प्रत्यवाय इति निर्णयः॥ २५३–२५४॥

भाषा—गन्ध, जल और तिल से युक्त चार पात्र अर्घ्य के लिए बनाना चाहिए। 'ये समानाः समनसः' इत्यादि दो मन्त्रों से प्रेत पात्र का जल पितृ-

---

1. विरुद्धानीव। 2. मृता यदि तेनैक्यं।

पात्रों में (तीन भाग करके) छोड़े। शेष कर्म पहले के समान ही करे। इस कर्म को सपिण्डीकरण कहते हैं। एकोद्दिष्ट कर्म स्त्री के लिए भी किया जाता है ॥ २५३–२५४ ॥

अर्वाक्सपिण्डीकरणं यस्य संवत्सराद्भवेत्।
तस्याप्यन्नं सोदकुम्भं दद्यात्संवत्सरं द्विजे ॥ २५६ ॥

संवत्सरादर्वाक् सपिण्डीकरणं यस्य कृतं तस्य तदुद्देशेन प्रतिदिवसं प्रतिमासं वा यावत्संवत्सरं शक्त्यनुसारेणान्नमुदकुम्भसहितं ब्राह्मणाय दद्यात्। 'अर्वाक्संवत्सरात्' इति वदता सपिण्डीकरणं संवत्सरे पूर्णे प्रागपीति दर्शितम्। यथाश्वलायनः (४।३।११)—'अथ सपिण्डीकरणं संवत्सरान्ते द्वादशाहे वा' इति। कात्यायनोऽप्याह (३।३।११)—'ततः संवत्सरे पूर्णे सपिण्डीकरणं त्रिपक्षे वा यदहर्वा वृद्धिरापद्यते' इति। द्वादशाहे, त्रिपक्षे, वृद्धिप्राप्तौ, संवत्सरे वेति चत्वारः पक्षा दर्शिताः। तत्र द्वादशाहे पितुः सपिण्डीकरणं साग्निकेन कार्यम्; सपिण्डीकरणं विना पिण्डपितृयज्ञासिद्धेः, 'साग्निकस्तु यदा कर्ता प्रेतो वाऽप्यग्निमान्भवेत्। द्वादशाहे तदा कार्यं सपिण्डीकरणं पितुः ॥' इति वचनात्। निरग्निकस्तु त्रिपक्षे वृद्धिप्राप्तौ संवत्सरे वा कुर्यात्। यदा प्राक्संवत्सरात्सपिण्डीकरणं तदा षोडशश्राद्धानि कृत्वा सपिण्डीकरणं कार्यम्, उत सपिण्डीकरणं कृत्वा स्वस्वकाले तानि कर्तव्यानीति संशयः; उभयथा वचनदर्शनात्, 'श्राद्धानि षोडशादत्त्वा नैव कुर्यात्सपिण्डताम्। श्राद्धानि षोडशापाद्य विदधीत सपिण्डताम् ॥' इति। षोडशश्राद्धानि च—'द्वादशाहे त्रिपक्षे च षण्मासे मासि चाब्दिके। श्राद्धानि षोडशैतानि संस्मृतानि मनीषिभिः ॥' इति दर्शितानि। तथा—'यस्यापि वत्सरादर्वाक्सपिण्डीकरणं भवेत्। मासिकं चोदकुम्भं च देयं तस्यापि वत्सरम् ॥' इति। तत्र सपिण्डीकरणं कृत्वा स्वकाल एवैतानि कर्तव्यानीति प्रथमः कल्पः, अप्राप्तकालत्वेन प्रागनधिकारात्। यद्यपि वचनं—'षोडशश्राद्धानि कृत्वैव सपिण्डीकरणं संवत्सरात्प्रागपि कर्तव्यम्' इति, सोऽयमापत्कल्पः यदा त्वापत्कल्पत्वेन प्राक्सपिण्डीकरणात् प्रेतश्राद्धानि करोति, तदेकोद्दिष्टविधानेन कुर्यात्। यदा तु मुख्यकल्पेन स्वकाल एव करोति तदाब्दिकं श्राद्धं यो यथा करोति पार्वणमेकोद्दिष्टं वा तथा मासिकानि कुर्यात्; 'सपिण्डीकरणादर्वाक्कुर्वन् श्राद्धानि षोडश। एकोद्दिष्टविधानेन कुर्यात्सर्वाणि तानि तु ॥ सपिण्डीकरणादूर्ध्वं यदा कुर्यात्तदा पुनः। प्रत्यब्दं यो यथा कुर्यात्तथा कुर्यात्स तान्यपि ॥' इति स्मरणात्। एतच्च प्रेतश्राद्धसहितं सपिण्डीकरणं संविभक्तधनेषु बहुषु भ्रातृषु सत्स्वप्येकेनैव कृतेनालं, न सर्वैः कर्तव्यम्; 'नवश्राद्धं सपिण्डत्वं श्राद्धान्यपि च षोडश। एकेनैव तु

१. दद्याद्वर्षं द्विजन्मने। २. करणं भवेत्। ३. यते तदेति।

कार्याणि संविभक्तधनेष्वपि ॥' इति स्मरणात्। इदं च प्रेतश्राद्धसहितं सपिण्डीकरणं असन्यासिनां पुत्रादिभिर्नियमेन कर्तव्यम, प्रेतत्वविमोचनार्थत्वात् संन्यासिनां तु न कर्तव्यम्। यथाहोशनाः[1]—'एकोद्दिष्टं न कुर्वीत यतीनां चैव सर्वदा। अहन्येकादशे प्राप्ते पार्वणं तु विधीयते ॥ सपिण्डीकरणं तेषां न कर्तव्यं सुतादिभिः। त्रिदण्डग्रहणादेव प्रेतत्वं नैव जायते ॥' इति पुत्रासंनिधाने येन सगोत्रादिना दाहसंस्कारः कृतस्तेनैवादशाहान्तं तत्प्रेतकर्म कर्तव्यम्—'असगोत्रः सगोत्रो वा स्त्री दद्याद्यदि वा पुमान्। प्रथमेऽहनि यो दद्यात्स दशाहं समापयेत् ॥' इति स्मरणात्। शूद्राणामप्येतत्कर्तव्यममन्त्रकं द्वादशेऽह्नि—'एवं सपिण्डीकरणं मन्त्रवर्ज्यं शूद्राणां द्वादशेऽह्नि' इति विष्णुस्मरणात्। सपिण्डीकरणादूर्ध्वं सांवत्सरिकपार्वणादीनि पुत्रस्य नियमेनैव कार्याणि, अन्येषामनियतानि ॥ २५५ ॥

भाषा—जिस (द्विज का) सपिण्डीकरण एक वर्ष की अवधि के पूर्व ही हुआ हो तो उसके लिए प्रत्येक दिन और प्रत्येक मास में एक वर्ष तक शक्ति के अनुसार एक घडे जल के साथ अन्न ब्राह्मण को देना चाहिए ॥ २५५ ॥

एकोद्दिष्टकालानाह—

मृतेऽहनि [2]प्रकर्तव्यं प्रतिमासं तु वत्सरम्।
प्रतिसंवत्सरं चैवमाद्यमेकादशेऽहनि ॥ २५६ ॥

मृतेऽहनि प्रतिमासं संवत्सरं यावदेकोद्दिष्टं कार्यम्। सपिण्डीकरणादूर्ध्वं प्रतिसंवत्सरमेकोद्दिष्टमेव कर्तव्यम्। आद्यं सर्वैकोद्दिष्टप्रकृतिभूतमेको[illegible]मेकादशेऽहनि। मृतदिवसापरिज्ञाने तच्छ्रवणदिवसे अमावास्यायां वा कार्यम्। 'अपरिज्ञाते मृतेऽहनि अमावास्यायां श्रवणदिवसे वा' इति स्मरणात्। अमावास्यायामिति गमन-माससंबन्धिन्यमावास्यायाम्—'प्रवासदिवसे देयं तन्मासेन्दुक्षयेऽपि वा' इति स्मरणात्। 'मृतेऽहनि' इत्यत्राहिताग्नेर्विशेषो जातूकर्ण्येनोक्तः—'ऊर्ध्वं त्रिपक्षाद्यच्छ्राद्धं मृतेऽहन्येव तद्भवेत्। अधस्तु कारयेद्दाहादाहिताग्नेर्द्विजन्मनः ॥' इति। तत्र त्रिपक्षादर्वाग्यत्प्रेतकर्म तद्दाहदिवसादारभ्याहिताग्नेः कार्यम्, त्रिपक्षादूर्ध्वं यच्छ्राद्धं तन्मरणदिवस एवेत्यर्थः। अनाहिताग्नेस्तु सर्वं मृताह एव। 'आद्यमेकादशेऽहनि' इत्या[3]शौचोपलक्षणमिति केचित्; 'शुचिना कर्म कर्तव्यं' इति श्रुतेरङ्गत्वात्, 'अथा शौचापगमे' (२१।१) इति सामान्येन सर्वेषां वर्णानामुपक्रम्यैकोद्दिष्टस्य विष्णुना विहितत्वाच्च। तदयुक्तम्,—एकादशेऽह्नि यच्छ्राद्धं तत्सामान्यमुदाहृतम्। चतुर्णामपि वर्णानां सूतकं च पृथक्पृथक् ॥' इति पैठीनसिस्मरणविरोधात्, 'आद्यं श्राद्धमशुद्धोऽपि कुर्यादेकादशेऽहनि। कर्तुस्तात्कालिकी शुद्धि-

१. यथाह शङ्खः। २. तु कर्तव्यं मृताहनि तु। ३. हनीति स्वाशौचोप।

रशुद्धः पुनरेव सः ॥' इति शङ्खवचनविरोधाच्च। सामान्योपक्रमं विष्णुवचनं दशाहाशौचविषयमपि घटते। 'प्रतिसंवत्सरं चैवम्' इति प्रतिसंवत्सरं मृतेऽहन्येकोद्दिष्टमुपदिष्टं योगीश्वरेण। तथा च स्मृत्यन्तरम्—'वर्षे वर्षे तु कर्तव्या मातापित्रोस्तु सत्क्रिया। अदैवं भोजयेच्छ्राद्धं पिण्डमेकं च निर्वपेत् ॥' इति। यमोऽप्याह—'सपिण्डीकरणादूर्ध्वं प्रतिसंवत्सरं सुतैः। मातापित्रोः पृथक्कार्यमेकोद्दिष्टं मृतेऽहनि ॥' इति व्यासस्तु पार्वणं प्रतिषेधति—'एकोद्दिष्टं परित्यज्य पार्वणं कुरुते नरः। अकृतं तद्विजानीयात्स भवेत्पितृघातकः ॥' इति। जमदग्निस्तु पार्वणमाह—'आपाद्य च सपिण्डत्वमौरसो विधिवत्सुतः। कुर्वीत दर्शवच्छ्राद्धं मातापित्रोः क्षयेऽहनि ॥' इति। शातातपोऽप्याह—'सपिण्डीकरणं कृत्वा कुर्यात्पार्वणवत्सदा। प्रतिसंवत्सरं विद्वांश्छागलेयोदितो विधिः ॥' इति। एवं वचनविप्रतिपत्तौ दाक्षिणात्या ह्येवं व्यवस्थामाहुः—'औरसक्षेत्रजाभ्यां मातापित्रोः क्षयाहे पार्वणमेव कर्तव्यं, दत्तकादिभिरेकोद्दिष्टम्' इति; जातूकर्ण्यवचनात् 'प्रत्यब्दं पार्वणेनैव विधिना क्षेत्रजौरसौ। कुर्यातामितरे कुर्युरेकोद्दिष्टं सुता दश ॥' इति,—तदसत्; नह्यत्र क्षयाहवचनमस्ति, अपि तु प्रत्यब्दमिति। सन्ति च क्षयाहव्यतिरिक्तानि प्रत्यब्दश्राद्धान्यक्षय्यतृतीयामाघीवैशाखीप्रभृतिषु। अतो न क्षयाहविषयपार्वणैकोद्दिष्टव्यवस्थापनयाऽलम्। यत्तु पराशरवचनम्—'पितुर्गतस्य देवत्वमौरसस्य त्रिपौरुषम्। सर्वत्रानेकगोत्राणामेकस्यैव मृतेऽहनि ॥ इति,—तदपि न व्यवस्थापकम्। यस्मादयमर्थः—देवत्वं गतस्य सपिण्डीकृतस्य पितुः सर्वत्रौरसेन त्रिपौरुषं पार्वणं कार्यम्, अनेकगोत्राणां भिन्नगोत्राणां मातुलादीनां क्षयेऽहनि यच्छ्राद्धं तदेकस्यैवैकोद्दिष्टमेवेति। किंच, 'सपिण्डीकरणादूर्ध्वमप्येकोद्दिष्टमेव कर्तव्यमौरसेनापि इत्युक्तं पैठीनसिना—'एकोद्दिष्टं हि कर्तव्यमौरसेन मृतेऽहनि। सपिण्डीकरणादूर्ध्वं मातापित्रोर्न पार्वणम् ॥' इति। उदीच्याः पुनरेवं व्यवस्थापयन्ति—अमावास्यायां भाद्रपदकृष्णपक्षे स्वामृताहे पार्वणम्, अन्यत्र मृताहे एकोद्दिष्टमेवेति; 'अमावास्याक्षयो यस्य प्रेतपक्षेऽथवा पुनः। पार्वणं तत्र कर्तव्यं मकोद्दिष्टं कदाचन ॥' इति स्मरणात्। तदपि नाद्रियन्ते वृद्धाः। अनिश्चितमूलेनानेन वचनेन निश्चितमूलानां बहूनां क्षयाहमात्रपार्वणविषयाणां वचनानाममावास्याप्रेतपक्षमृताहविषयत्वेनातिसंकोचस्यायुक्तत्वात्[३], सामान्यवचनानर्थक्याच्च। तत्र हि सामान्यवचनस्य विशेषवचनेनोपसंहारः, यत्र सामान्यविशेषसंबन्धज्ञानेन वचनद्वयमर्थवत्। यथा 'सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयात्' इत्यनारभ्याधीतस्य विकृतिमात्रविषयस्य सप्तदशवाक्यस्य[४] सामिधेनीलक्षणद्वारा संबन्धेनार्थवतो मित्र-

१. पृथक्कुर्यात्। २. जानीयान्नवेच्च। ३. संकोचः स्यादित्युक्तत्वात्। ४. सप्तदशपदस्य।

विन्दादिप्रकरणपठितेन सादृश्यवाक्येन मित्रविन्दाद्यधिकारापूर्वसंबन्धबोधनार्थवता मित्रविन्दादिप्रकरणं उपसंहारः। इह तु द्वयोर्मृताहमात्रविषयत्वान्नार्थवत्तेति। अतोऽत्र पाक्षिकैकोद्दिष्टनिवृत्तिफलकतया पार्वणनियमविधानं युक्तम्। नचैकोद्दिष्टवचनानां मातापितृक्षयाहविषयत्वेन पार्वणवचनानां च तदन्यक्षयाहविषयत्वेन व्यवस्था युक्ताः; उभयत्रापि मातापितृसुतग्रहणस्य विद्यमानत्वात्—'सपिण्डीकरणादूर्ध्वं प्रतिसंवत्सरं सुतैः। मातापित्रोः पृथक्कार्यमेकोद्दिष्टं मृतेऽहनि ॥' इति, तथा—'आपाद्य सहपिण्डत्वमौरसो विधिवत्सुतः। कुर्वीत दर्शवच्छ्राद्धं मातापित्रोः क्षयेऽहनि ॥' इति। यद्यपि कैश्चिदुच्यते—मातापित्रोः क्षयाहे साग्निः पार्वणं कुर्यान्निरग्निरेकोद्दिष्ट'मिति,—'वर्षे वर्षे सुतः कुर्यात्पार्वणं योऽग्निमान्द्विजः। पित्रोरनभिमान्धीर एकोद्दिष्टं मृतेऽहनि ॥' इति सुमन्तुस्मरणादिति,—तदपि सत्प्रतिपक्षत्वादुपेक्षणीयम्; बह्वग्नयस्तु ये विप्रा ये चैकाग्नय एव च। तेषां सपिण्डनादूर्ध्वमेकोद्दिष्टं न पार्वणम् ॥' इति स्मरणात्। तत्रैवं निर्णयः—सन्यासिनां क्षयाहे सुतेन पार्वणमेव कर्तव्यम्; 'एकोद्दिष्टं यतेर्नास्ति त्रिदण्डग्रहणादिह। सपिण्डीकरणाभावात्पार्वणं तस्य सर्वदा ॥' इति प्रचेतःस्मरणात्। अमावास्याक्षयाहे प्रेतपक्षक्षयाहे च पार्वणमेव; 'अमावास्याक्षयो यस्य प्रेतपक्षेऽथवा पुनः' (लघुशंख. १७) इत्यादिवचनस्योक्तरीत्या नियमपरत्वात्। अन्यत्र क्षयाहे पार्वणैकोद्दिष्टयोर्व्रीहियववद्विकल्प एव। तथापि वंशसमाचारव्यवस्थायां सत्यां व्यवस्थिते, असत्यामैच्छिक इत्यलमतिप्रसंगेन ॥

भाषा—(एकोद्दिष्ट कर्म) एक वर्ष तक प्रत्येक महीने में मृत्यु की तिथि को करना चाहिए तथा प्रत्येक वर्ष में करना चाहिए। प्रथम एकोद्दिष्ट कर्म मृत्यु के ग्यारहवें दिन होता है ॥ २५६ ॥

नित्यश्राद्धव्यतिरिक्तसर्वश्राद्धशेषमिदमभिधीयते—

पिण्डांस्तु गोऽजविप्रेभ्यो दद्यादग्नौ जलेऽपि वा।
प्रक्षिपेत्सत्सु विप्रेषु द्विजोच्छिष्टं न मार्जयेत् ॥ २५७ ॥

पूर्वदत्तानां पिण्डानां पिण्डस्य वा प्रतिपत्तिरियम्—गवे, अजाय, ब्राह्मणाय वा तदर्थिने पिण्डान्दद्यात्। अग्नावगाधे जलेऽपि वा प्रक्षिपेत्। किंच सत्सु विप्रेषु, भोजनदेशावस्थितेषु द्विजोच्छिष्टं न मार्जयेन्नोद्वासयेत् ॥ २५७ ॥

भाषा—पिण्ड गाय, बकरा, ब्राह्मण के लिये अथवा अग्नि या जल में देना चाहिए। ब्राह्मणों के (भोजन स्थान पर) होने पर उनके उच्छिष्ट को नहीं झाड़ना चाहिए ॥ २५७ ॥

भोज्यविशेषेण फलविशेषमाह—

हविष्यान्नेन वै मासं पायसेन तु वत्सरम्।
मात्स्यहारिणकौरभ्रशाकुनच्छागपार्षतैः ॥ २५८ ॥

ऐणरौरववाराहशाशैर्मांसैर्यथाक्रमम् ।
मासवृद्ध्याभितृप्यन्ति दत्तैरिह पितामहाः ॥ २५९ ॥

हविष्यं हविर्योग्यं तिलव्रीह्यादि । यथाह मनुः (३।२६७)—'तिलैर्व्रीहि-यवैर्माषैरद्भिर्मूलफलेन[1] वा । दत्तेन मासं तृप्यन्ति[2] विधिवत्पितरो नृणाम् ॥' इति । तदन्नं हविष्यान्नं तेन मासं पितरस्तृप्यन्तीत्यना[3]गतेनान्वयः । पायसेन गव्यपयःसिद्धेन संवत्सरम्; सवत्सरं तु गव्येन पयसा पायसेन च' इति (मनुः ३।२७१) स्मरणात् मत्स्यो भक्षयः पाठीनादिस्तस्येदं मात्स्यम । हरि-णस्ताम्रमृगः । एणः कृष्णः, 'एणः कृष्णमृगो ज्ञेयस्ताम्रो हरिण उच्यते' इत्या-युर्वेदस्मरणाद् । तस्येदं हारिणकम् । अविरुरभ्रस्तत्संबन्धि औरभ्रम् । शकुनि-स्तित्तिरिस्तत्संबन्धि शाकुनम्, छागोऽजस्तदीयं छागम्, पृषच्चित्रमृगस्त-न्मांसं[4] पार्षतम् । एणः कृष्णमृगस्तत्पिशितमैणम्, रुरुः शंबरस्तत्प्रभवं रौरवम्, वराह आरण्यसूकरस्तज्जं वाराहम् । शशस्येदं शाशम्, एभिर्मांसैः पितृभ्यो-'दत्तैर्हविष्यान्नेन वै मासम्' इत्युक्तत्वात्तत ऊर्ध्वं यथाक्रममेकैकमासवृद्ध्या पितरस्तृप्यन्ति ॥ १५८–२५९ ॥

भाषा—पितामह (अर्थात् पितरगण) हविष्य अन्न से एक मास तक, और खीर से एक वर्ष तक तृप्त रहते हैं; पाठीन आदि मछली, ताम्रमृग, उरभ्र (भेंड़ा) तित्तिर, बकरा, चित्रमृग, कृष्मृग, रुरु, जंगली सुअर और खरगोस के मांस श्राद्ध में देने पर क्रमशः एक-एक महीने अधिक समय तक तृप्त रहते हैं ॥ २५८–२५९ ॥

खड्गामिषं महाशल्कं मधु मुन्यन्नमेव[5] वा ।
लौहामिषं महा[6]शाकं मांसं वा[7]र्ध्रीणसस्य च ॥ २६० ॥
यद्ददाति गयास्थश्च सर्वमानन्त्यमश्नुते ।
त[8]था वर्षात्रयोदश्यां मघासु च विशेषतः ॥ २६१ ॥

किंच, खड्गो गण्डकस्तस्य मांसम्, महाशल्को मत्स्यभेदः, मधु माक्षि-कम् । मुन्यन्नं सर्वमारण्यं नीवारादि, लोहो रक्तश्छागस्तदामिषं लौहामि-षम् । महाशाकं कालशाकम् । वार्ध्रीणसो वृद्धः श्वेतच्छागः—'त्रिपिबं त्विन्द्रि-यक्षीणं वृद्धं श्वेत[9]मजापतिम् । वार्ध्रीणसं तु तं प्राहुर्याज्ञिकाः श्राद्धकर्मणि ॥' इति याज्ञिकप्रसिद्धः । त्रिपिबः पिबतः कर्णौ जिह्वा च यस्य जलं स्पृशति सः,

---

१. फलैस्तथा । २. मासं प्रीयन्ते । ३. अनागतत्वेना । ४. शाकुनं भक्ष्यपक्षिसंबन्धि । ५. च । ६. कालशाकं । ७. वाध्रीणसस्य । ८. वर्षास्वेवं त्रयोदश्याम् । ९. श्वेतं वृद्धमजापतिं ।

त्रिभिः पिबतीति त्रिपिबः, तस्य वार्ध्रीणसस्य मांसम्। यद्ददाति गयास्थश्च यत्किंचिच्छाकादिकमपि गयास्थो ददाति। चशब्दाद्गङ्गाद्वारादिषु च—'गङ्गाद्वारे प्रयागे च नैमिषे पुष्करेऽर्बुदे। संनिहत्यां गयायां च श्राद्धमक्षय्यतां व्रजेत्॥', 'आनन्त्यमश्नुते' इति [1]अनन्तफलहेतुत्वं प्राप्नोति। 'आनन्त्यमश्नुते' इति प्रत्येकमभिसंबद्ध्यते। तथा वर्षात्रयोदश्यां भाद्रपदकृष्णत्रयोदश्यां विशेषतो मघायुक्तायां यत्किंचिद्दीयते तत्सर्वमानन्त्यमश्नुत इति गतेन संबन्धः॥ अत्र यद्यपि मुन्यन्नमांसमध्वादीनि सर्ववर्णानां सामान्येन श्राद्धे योग्यानि दर्शितानि, तथापि पुलस्त्योक्ता व्यवस्थादरणीया।—'मुन्यन्नं ब्राह्मणस्योक्तं मांसं क्षत्रियवैश्ययोः। मधुप्रदानं शूद्रस्य सर्वेषां चाविरोधि यत्॥' इति। अस्यार्थः—मुन्यन्नं नीवारादि यच्छ्राद्धयोग्यमुक्तं तद्ब्राह्मणस्य प्रधानं समग्रफलदम्, यच्च मांसमुक्तं तत्क्षत्रियवैश्ययोः प्रधानम्। यत्क्षौद्रमुक्तं तच्छूद्रस्य। एतत्त्रितयव्यतिरिक्तं यदविरोधि यदप्रतिषिद्धं वास्तुकादि, यच्च विहितं हविष्यं कालशाकादि, तत्सर्वेषां समग्रफलदमिति॥ २६०–२६१॥

भाषा—जो खड्ग (गैंडा) का मांस, महाशल्क मछली, मधु, या तीनी का चावल, लाल बकरे का मांस, महाशाक, (कालशाक), श्वेतवर्ण के वृद्ध बकरे का मांस देता है और गया में (श्राद्ध करते समय) ये पदार्थ देता है, भाद्रपद मास की कृष्ण त्रयोदशी और विशेषतः महानक्षत्र होने पर इनका पिण्ड देता है वह सम्पूर्ण अनन्तफल का भोग करता है॥ २६०-२६१॥

तिथिविशेषात्फलविशेषमाह—

कन्यां कन्यावेदिनश्च प[2]शूंश्वै सत्सुतानपि।
द्यूतं कृ[3]षिं वणिज्यां च द्विशफैकशफांस्तथा॥ २६२॥
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रान्स्वर्णरूप्ये सकुप्यके।
ज्ञातिश्रैष्ठ्यं सर्वकामानाप्नोति श्राद्धदः सदा॥ २६३॥
प्रतिपत्प्रभृतिष्वेकां वर्जयित्वा चतुर्दशीम्।
शस्त्रेण तु हता ये वै तेभ्यस्तत्र प्रदीयते॥ २६४॥

कन्यां रूपलक्षणशीलवतीम्, कन्यावेदिनो जामातरो बुद्धिरूपलक्षणसंपन्नाः। पशवः क्षुद्रा अजादयः, सत्सुता सन्मा[4]र्गवर्तिनः, द्यूतं द्यूतविजयः, कृषिः कृषिफलम्, वणिज्या वाणिज्यलाभः, द्विशफा गवादयः, एकशफा अश्वादयः, ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्राः वेदाध्ययनतदर्थानुष्ठानजनितं तेजो ब्रह्मवर्चसं

---

1. आनन्त्यफलं। 2. पशून्मुख्यान्सुतानपि। 3. कृषिं च वाणिज्यं द्विशफैकशफांस्तथा। 4. सन्मार्गगाः।

तद्वन्तः, स्वर्णरूप्ये हेमरजते, तद्व्यतिरिक्तं त्रपुसीसकादि कुप्यकम्, ज्ञातिश्रैष्ठ्यं जातिषूत्कृष्टत्वम्, सर्वकामाः काम्यन्त इति कामाः स्वर्गपुत्रपश्वादयः, एतानि कन्यादीनि चतुर्दशफलानि कृष्णपक्षप्रतिपत्प्रभृतिष्वमावास्यापर्यन्तासु चतुर्दशीवर्जितासु चतुर्दशसु तिथिषु श्राद्धदो यथाक्रममाप्नोति। ये केचन शस्त्रहतास्तेभ्यः कृष्णचतुर्दश्यामेकोद्दिष्टविधिना श्राद्धं दद्यात्, यदि ब्राह्मणादिहता न भवन्ति; 'समत्वमागतस्यापि पितुः शस्त्रहतस्य वै। एकोद्दिष्टं सुतैः कार्यं चतुर्दश्यां महालये ॥' इति स्मरणात्। समत्वमागतस्य सपिण्डीकृतस्य पितुर्महालये भाद्रपदकृष्णचतुर्दश्यां शस्त्रहतस्यैव श्राद्धं नान्यस्येति नियम्यते, न पुनः शस्त्रहतस्य चतुर्दश्यामेवेति। अतश्च क्षयाहादौ शस्त्रहतस्यापि यथ प्राप्तमेव श्राद्धम्। नच भाद्रपदकृष्णपक्ष एवायं विधिरिति मन्तव्यम्; 'प्रौष्ठपद्यामपरपक्षे मासि मासि चैवम्' इति शौनकस्मरणात्॥ २६२-२६४ ॥

भाषा—(रूपलक्षणशीलवती) कन्या; योग्य जामाता, पशु, सदाचारी पुत्र, जुए में विजय, उत्तम फसल, वाणिज्य में लाभ, दो खुर वाले गाय आदि और एक खुर वाले अश्वादि पशु, वेदाध्ययन से तेजस्वी पुत्र, सोना, चांदी, तांबा, सीसा, जाति में प्रतिष्ठ और सभी इच्छाओं को श्राद्ध देने वाला व्यक्ति सदैव प्राप्त करता है। केवल एक चतुर्दशी को छोड़कर प्रतिपद आदि सभी तिथियों को श्राद्ध कर सकता है। जो लोग शस्त्र से मारे गये होते हैं उन्हीं के लिए इस दिन (चतुर्दशी को) श्राद्ध किया जाता है ॥ २६२-२६४ ॥

नक्षत्रविशेषात्फलविशेषमाह—

स्वर्गं ह्यपत्यमोजश्च शौर्यं क्षेत्रं बलं तथा।
पुत्रं श्रैष्ठ्यं च सौभाग्यं समृद्धिं मुख्यतां[1] शुभम् ॥२६५॥
प्रवृत्तचक्रतां चैव वाणिज्यप्रभृतीनपि।
अरोगित्वं यशो वीतशोकतां परमां गतिम् ॥ २६६ ॥
धनं [2]वेदान्भिषक्सिद्धिं कुप्यं गा अप्यजाविकम्।
अश्वानायुश्च विधिवद्यः श्राद्धं संप्रयच्छति ॥ २६७ ॥
कृत्तिकादिभरण्यन्तं स कामानाप्नुयादिमान्।
आस्तिकः[4] श्रद्दधानश्च व्यपेतमदमत्सरः ॥ २६८ ॥

कृत्तिकामादिं कृत्वा भरण्यन्तं प्रतिनक्षत्रं यः श्राद्धं ददाति स यथाक्रमं स्वर्गादीनायुःपर्यन्तान्कामानवाप्नोति, यद्यास्तिकः श्रद्दधानश्चेत् व्यपेतमदमत्सरो भवति। आस्तिको विश्वासवान्, श्रद्दधान आदरातिशययुक्तः, व्यपेत-

१. ससौभाग्यं सुसौभाग्यं। २. सुतान्। ३. विद्यां। ४. श्रद्दधानश्चेत् श्चाप्यपेतमदमत्सरः।

मदमत्सरः मदो गर्वः, मत्सर ईर्ष्या, ताभ्यां रहितः। स्वर्गं[1] निरतिशयसुखम्। अपत्यमविशेषेण। ओज आत्मशक्त्यतिशयः। शौर्यं निर्भयत्वम्। क्षेत्रं फलवत्। बलं शारीरम्, पुत्रो गुणवान्, श्रैष्ठ्यं जातिषु, सौभाग्यं जनप्रियता। समृद्धिर्धनादेः, मुख्यता अग्रयता, शुभं सामान्येन, प्रवृत्तचक्रता अप्रतिहताज्ञता, वाणिज्यप्रभृतयो वाणिज्यकुसीदकृषिगोरक्षाः, अरोगित्वं अनामययोगित्वम्[2], यशः प्रख्यातिः, वीतशोकता इष्टवियोगादिजनितदुःखाभावः, परमा गतिर्ब्रह्मलोकप्राप्तिः, धनं सुवर्णादि, वेदा ऋग्वेदादयः, भिषक्सिद्धिरौषधफलावाप्तिः, कुप्यं सुवर्णरजतव्यतिरिक्तं ताम्रादि, गावः प्रसिद्धाः, अजाश्च अवयश्च अश्वाश्च, आयुर्दीर्घजीवनम् ॥ २६५–२६८ ॥

भाषा—स्वर्ग, सन्तान (पुत्र), शक्ति, निर्भयत्व, उर्वर खेत, शारीरिक बल, गुणवान् पुत्र, जाति में प्रधानता, जनप्रियता, धनादि समृद्धि, नेतृत्व, सामान्य सुख, अजेयता, यश, शोकनाश, ब्रह्मलोक में परमपद, धन, वेदज्ञान, औषधि की सिद्धि ताम्रादि द्रव्य, गौवें, बकरे, भेंड़े, अश्व और दीर्घजीवन, इन सभी फलों को कृत्तिका से आरम्भ करके भरणी तक प्रत्येक नक्षत्र में श्रद्धापूर्वक एवं मानमत्सर छोड़कर विधिपूर्वक श्राद्ध देने वाला व्यक्ति प्राप्त कर लेता है ॥ २६५–२६८ ॥

'मासवृद्धयाभितृप्यन्ति दत्तैरिह पितामहाः' (आ० २५९) इत्यनेन पितॄणां श्राद्धेन तृप्तिर्भवतीत्युक्त,-तदनुपपन्नम्; प्रातिस्विकशुभाशुभकर्मवशेन[3] स्वर्गनरकादिगतानां मनुष्याणां पुत्रादिभिर्दत्तैरन्नपानादिभिस्तृप्त्यसंभवात्। संभवेऽपि स्वयमात्मनाप्यनीशाः कथं स्वर्गादिफलं प्रयच्छन्तीत्यत आह—

> वसुरुद्रादितिसुता पितरः श्राद्धदेवताः।
> प्रीणयन्ति मनुष्याणां पितॄश्राद्धेन[4] तर्पिताः ॥ २६९ ॥
> आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च।
> प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां[5] पितामहाः ॥ २७० ॥

नह्यत्र देवदत्तादय एव श्राद्धकर्मणि संप्रदानभूताः पित्रादिशब्दैरुच्यन्ते किंत्वधिष्ठातृवस्वादिदेवतासहिता एव। यथा देवदत्तादिशब्दैर्न शरीरमात्रं, नाप्यात्ममात्रं, किंतु शरीरविशिष्टा आत्मान उच्यन्ते, एवमधिष्ठातृदेवतासहिता एव देवदत्तादयः पित्रादिशब्दैरुच्यन्ते। अतश्चाधिष्ठातृदेवता वस्वादयः पुत्रादिभिर्दत्तेनान्नपानादिना तृप्ताः सन्तस्तानपि देवदत्तादींस्तर्पयन्ति कर्तॄंश्च पुत्रादीन्फनले

---

१. स्वर्गोऽतिशयसुखं। २. अनामयित्वं। ३. शुभाशुभफलकर्मविशेषेण। ४. श्राद्धेषु। ५. नृणां प्रीताः।

संयोजयन्ति। यथा माता गर्भपोषणायान्यदत्तेन दोहदान्नपानादिना स्वयमुप भुक्तेन तृप्ता सती स्वजठरगतमप्यपत्यं तर्पयति, दोहदान्नादिप्रदायिनश्च प्रत्युप- कारफलेन संयोजयति तद्वद्वसवो रुद्रा अदितिसुताः आदित्या एव ये पितरः पितृ-पितामहप्रपितामहशब्दवाच्याः न केवलं देवदत्तादय एव श्राद्धदेवताः श्राद्धकर्मणि संप्रदानभूताः किन्तु मनुष्याणां पितॄन्देवदत्तादीन्स्वयं श्राद्धेन तर्पितास्तर्पयन्ति ज्ञानशक्त्यतिशययोगेन। किञ्च न केवलं पितॄंस्तर्पयन्ति अपि तु श्राद्धकारिभ्यः आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि राज्यं च। चकारात्तत्र तत्र शास्त्रोक्तमन्यदपि फलं स्वयं प्रीताः पितामहा वस्वादयः प्रयच्छन्तीति ॥ २६९-२७० ॥

भाषा—वसुदेवता, रुद्र और आदित्यादि एवं पितर ये श्राद्ध के देवता श्राद्ध से तृप्त होकर मनुष्यों के पितरों को तृप्त (आनन्दित) करते हैं। और मनुष्यों के पितामह अर्थात् पितर लोग प्रसन्न होकर दीर्घ जीवन, सन्तान, धन, विद्या, मोक्ष, सुख और राज्य प्रदान करते हैं ॥ २६९-२७० ॥

इति श्राद्धप्रकरणम्।

गणपतिकल्पप्रकरणम्

दृष्टादृष्टफलसाधनानि कर्माण्यभिहितान्यप्यभिधास्यन्ते च तेषां स्वरूपनि- ष्पत्तिः फलसाधनत्वं चाविघ्नेन भवतीत्यविघ्नार्थं कर्म विधास्यन् विघ्नस्य कार- कज्ञापकहेतूनाह—

विनायकः कर्मविघ्नसिद्ध्यर्थं विनियोजितः।
गणानामाधिपत्ये च रुद्रेण ब्रह्मण तथा ॥ २७१ ॥

विनायकः कर्मविघ्नसिद्ध्यर्थमित्यादिनोभयविघ्नहेतुपरिज्ञानाद्विघ्नस्य प्रागभाव परिपालनायोपस्थितस्य प्रध्वंसाय वा प्रेक्षापूर्वकारिणः प्रवर्तन्ते; रोगस्येवोभय- विधहेतुपरिज्ञानात। विनायको विघ्नेश्वरः पुरुषार्थसाधनानां कर्मणां विघ्नसिद्ध्यर्थं स्वरूपफलसाधनत्वविघातसिद्धये[2] विनियोजितः नियुक्तः रुद्रेण ब्रह्मणा चकारा- द्विष्णुना च गणानां पुष्पदन्तप्रभृतीनामाधिपत्ये स्वाम्ये ॥ २७१ ॥

भाषा—कर्म में विघ्न और उसकी सिद्धि के लिये रुद्र और ब्राह्मण ने विनायक (गणपति) को पुष्पदन्त आदि गणों का अधिपति बनाकर नियुक्त किया है ॥ २७१ ॥

---

१. गर्भधारणपोषणाय। २. विधानसिद्धये।

एवं विघ्नस्य कारकहेतुमुक्त्वा ज्ञापकहेतुप्रदर्शनार्थमाह—

तेनोपसृष्टो यस्तस्य लक्षणानि निबोधत।
स्वप्नेऽवगाहतेऽत्यर्थं जलं मुण्डांश्च पश्यति ॥ २७२ ॥
काषायवाससश्चैव क्रव्यादांश्चाधिरोहति।
अन्त्यजैर्गर्दभैरुष्ट्रैः सहैकत्रावतिष्ठते ॥ २७३ ॥
[1]व्रजन्नपि तथात्मानं मन्यतेऽनुगतं परैः।

तेन विनायकेनोपसृष्टो गृहीतो यस्तस्य लक्षणानि ज्ञापकानि निबोधत जानीध्वं हे मुनयः! पुनर्मुनीनां प्रत्यवमर्शः शान्तिकरणप्रारम्भार्थः। स्वप्ने स्वप्नावस्थायां जलमत्यर्थमवगाहते स्रोतसा ह्रियते निमज्जति वा। मुण्डित-शिरसः पुरुषान्पश्यति। काषायवाससो रक्तनीलादिवस्त्रप्रावरणांश्च। क्रव्यादा नाम मांसाशिनः पक्षिणः गृध्रादीन्मृगांश्च व्याघ्रादीनधिरोहति। तथाऽन्त्यजै-श्चण्डालादिभिः गर्दभैः खरैरुष्ट्रैः क्रमेलकैः सह परिवृतस्तिष्ठति। व्रजन्गच्छ-न्नात्मानं परैः शत्रुभिः पृष्ठतो धावद्भिरनुगतमभिभूयमानं मन्यते [2] ॥ २७२–२७३ ॥

भाषा—उस (विघ्नकारक) विनायक से जो ग्रस्त होते हैं उनके लक्षण सुनिये। स्वप्न में जल में बहुत स्नान करता है (ऐसा स्वप्न देखता है), सिर मुँडाए हुए पुरुषों को देखता है, गेरुआ वस्त्र धारण किये हुए पुरुषों को देखता है; मांसभक्षी (गृध्र आदि पक्षी, व्याघ्र आदि पशु) की सवारी करने का स्वप्न देखता है; चाण्डाल, गदहे और ऊँटों के साथ एकत्र निवास और स्वयं चलते समय शत्रुओं द्वारा पीछा किये जाने का स्वप्न देखता है। (विना यक द्वारा ग्रस्त व्यक्ति के प्रत्यक्ष चिह्न इस प्रकार होते हैं) वह खिन्न रहता है अपना इच्छित फल नहीं पाता और विना कारण ही दुःखी रहता है ॥ २७२–२७४ ॥

एवं स्वप्नदर्शनान्युक्त्वा प्रत्यक्षलिङ्गान्याह—

विमना विफलारम्भः संसीदत्यनिमित्ततः ॥ २७४ ॥
तेनोपसृष्टो लभते न [3]राज्यं राजनन्दनः।
कुमारी च न भर्तारमपत्यं गर्भमङ्गना ॥ २७५ ॥
आचार्यत्वं श्रोत्रियश्च न शिष्योऽध्ययनं तथा।
वणिग्लाभं न चाप्नोति कृषिं चापि[4] कृषीवलः ॥ २७६ ॥

विमना विक्षिप्तचित्तः, विफलारम्भः विफला आरम्भा यस्य स तथोक्तः न क्वचित्फलमाप्नोति। संसदीत्यनिमित्ततः विना कारणेन दीनमनस्को भवति।

---

१. व्रजन्तं च तथा। २. अनुमन्यते। ३. राज्यं। ४. चैव।

राजनन्दनो राजकुले जातः श्रुतशौर्यधैर्यादिगुणयुक्तोऽपि राज्यं न लभते। कुमारी रूपलक्षणाभिजनादिसंपन्नापीप्सितं भर्तारम्, अङ्गना गर्भिण्यपत्यम्, ऋतुमती गर्भम्, अध्ययनतदर्थज्ञाने सत्यपि आचार्यत्वं श्रोत्रियः, विनयाचारादियुक्तोऽपि शिष्योऽध्ययनं श्रवणं वा, 'न लभते' इति सर्वत्र संबध्यते। वणिक् वाणिज्योपजीवी तत्र कुशलोऽपि धान्यादिक्रयविक्रयादिषु लाभम्। कृषीवलः कर्षकस्तत्राभियुक्तोऽपि कृषिफलं नाप्नोति। एवं यो यया वृत्त्या जीवति स तत्र निष्फलारम्भश्चेत्तेनोपसृष्टो वेदितव्यः ॥ २७४–२७६ ॥

भाषा—विनायक द्वारा अभिभूत होने पर राजा का पुत्र राज्य नहीं पाता, कुमारी कन्या (अभीष्ट एवं योग्य) वर नहीं पाती, स्त्री को गर्भ नहीं ठहरता, श्रोत्रिय (वेदपाठी) को आचार्य का पद नहीं मिलता, शिष्य अध्ययन से वञ्चित रहता है; वणिक् वाणिज्य में लाभ नहीं पाता और न कृषक अच्छी फसल पाता है ॥ २७४–२७६ ॥

एवं कारकज्ञापकहेतूनभिधाय विघ्नोपशान्त्यर्थं कर्मविधानमाह—

[1]स्नापनं तस्य कर्तव्यं पुण्येऽह्नि विधिपूर्वकम् ।

तस्य विनायकोपसृष्टस्याऽनागतविनायकोपसर्गपरिहारार्थिनो वा स्नपनमभिषेचनं कर्तव्यम्। पुण्ये स्वानुकूलनक्षत्रादियुक्ते। अह्नि दिवसे न रात्रौ। वधिपूर्वकं शास्त्रोक्तेतिकर्तव्यतासहितम् ॥

स्नपनविधिमाह—

गौरसर्षपकल्केन साज्येनोत्सादितस्य च ॥ २७७ ॥
सर्वौषधैः सर्वगन्धैर्विलिप्तशिरसस्तथा ।
भद्रासनोपविष्टस्य स्वस्ति वाच्या द्विजाः शुभाः ॥ २७८ ॥

गौरसर्षपकल्पेन सिद्धार्थपिष्टेन साज्येन घृतलोलीकृकेनोत्सादितस्योद्वर्तिताङ्गस्य तथा सर्वौषधैः प्रियङ्गुनागकेसरादिभिः सर्वगन्धैश्चन्दनागुरुकस्तूरिकादिभिर्विलिप्तशिरसो वक्ष्यमाणभद्रासनोपविष्टस्य पुरुषस्य द्विजा ब्राह्मणाः शुभा श्रुताध्ययनवृद्धसंपन्नाः शोभनाकृतयश्चत्वारः 'अस्य स्वस्ति भवन्तो ब्रुवन्तु' इति वाच्याः। अस्मिन्समये गृह्योक्तमार्गेण पुण्याहवाचनं कुर्या दित्यर्थः ॥

भाषा—विनायक से अभिभूत इस प्रकार के व्यक्ति का शुभतिथि में पीले सरसों के उबटन घी मिलाकर उस से स्नपन करे (शरीर में लगावे) उसे भद्र आसान पर बैठा के सभी औषधियों एवं सभी गन्धों का उसके शरीर पर लेप लगावे (श्रुताध्ययनसंपन्न) श्रेष्ट ब्राह्मणों उसके लिये स्वस्तिवाचन करें। (इस अवसर पर गृह्य में उक्त विधि से पुण्याहवाचन भी करे)॥ २७७–२७८ ॥

---

१. स्नापनं। २. घृतमिश्रेण।

अश्वस्थानाद् गजस्थानाद्वल्मीकात्संगमाद्ध्रदात् ।
मृत्तिकां रोचनां गन्धान्गुग्गुलं चाऽप्सु निक्षिपेत् ॥ २७९ ॥
या आहृता ह्येकवर्णैश्चतुर्भिः कलशैर्ह्रदात् ।
चर्मण्यानडुहे रक्ते स्थाप्यं भद्रासनं ततः ॥ २८० ॥

किंच, अश्वस्थानगजस्थानवल्मीकसरित्संगमाशोष्यह्रदेभ्य आहृतां पञ्चविधां मृदं गोरोचनं गन्धान् चन्दनकुङ्कुमागुरुप्रभृतीन् गुग्गुलं च तास्वप्सु विनिक्षिपेत्[1] । या आप आहृता एकवर्णैः समानवर्णैश्चतुर्भिः [2]कुम्भैरव्रणास्फुटिताकाळकैः, ह्रदाद्‌-शोष्यात् संगमाद्वा । ततश्चानडुहे चर्मणि रक्ते लोहितवर्णे उत्तरलोमनि प्राचीन-ग्रीवे भद्रं मनोरममासनं श्रीपर्णीनिर्मितं स्थाप्यम् । तत उक्तोदकमृत्तिकागन्धा-दिसहितांश्चूतादिपल्लवोप[3]शोभितान नानास्रग्दामवेष्टितकण्ठांश्चन्दनचर्चितां[4]श्चाहतव-स्त्रविभूषितांश्चतसृषु पूर्वादिदिक्षु स्थापयित्वा शुचौ सुलिप्ते स्थण्डिले रचितप-ञ्चवर्णस्वस्तिके लोहितमानडुहं चर्मोत्तरलोम प्राचीनग्रीवमास्तीर्य तस्योपरि श्वेतवस्त्रप्रच्छादितमासनं स्थापयेदित्येतद्भद्रासनम् । तस्मिन्नुपविष्टस्य स्वस्ति-वाच्या द्विजाः ॥ २७९–२८० ॥

भाषा—घोड़शाल, गजशाल, वल्मीक (चींटी की बाँबी), नदी के संगम, और पोखरे की मिट्टी, गोरोचन, चन्दन आदि गन्ध, और गुग्गुल उस जल में छोड़े । यह जल एक ही वर्ण के चार घड़ों में गहरे जलाशय (कुण्ड) से लाया गया हो । इसके बाद लाल रंग के बैल के चमड़े पर श्रीपर्णी आदि का बना हुआ भद्रासन (उत्तम आसन) रखना चाहिए ॥ २७९–२८० ॥

सहस्राक्षं शतधारमृषिभिः पावनं कृतम् ।
तेन त्वामभिषिञ्चामि पावमान्यः पुनन्तु ते ॥ २८१ ॥

किंच, स्वस्तिवाचनान्तरं जीवत्पतिपुत्राभिः रूपगुणशालिनीभिः सुवेषाभिः कृतमङ्गलं पूर्वदिग्देशावस्थितं कलशमादायानेन मन्त्रेणाभिषिञ्चेद्गुरुः । सहस्रा-क्षमनेकशक्तिकं शतधारं बहुप्रवाहमृषिभिर्मन्वादिभिर्यदुदकं पावनं पवित्रं कृतं उत्पादितं तेनोदकेन त्वां विनायकोपसृष्टं विनायकोपसर्गशान्तये अभिषिञ्चामि । पावमान्यश्चैता आपस्त्वां पुनन्तु ॥ २८१ ॥

भाषा—(पूर्वदिशा में रखे हुए पहले कलश को लेकर उसके जल से निम्नलिखित मन्त्र पढ़ता हुआ अभिषिञ्चन करे) अनेक शक्ति एवं अनेक

---

1. च विनिक्षपेत् । 2. कुम्भैः शुभैरव्रणा । 3. शोभितान् नानास्रग्दाम । 4.ताननाहत ।

प्रवाह वाले मनु आदि ऋषियों ने जिसे पवित्र बनाया है उस जल से (विनायक गृहीत) तुम्हारा अभिषिञ्चन करता हूँ। ये जल तुम्हें पवित्र करें ॥ २८१ ॥

भगं ते वरुणो राजा भगं सूर्यो बृहस्पतिः ।
भगमिन्द्रश्च वायुश्च भगं सप्तर्षयो ददुः ॥ २८२ ॥

तदनन्तरं दक्षिणदेशावस्थितं द्वितीयं कलशमादायानेन मन्त्रेणाभिषिञ्चेत् । भगं कल्याणं ते तुभ्यं वरुणो राजा भगं सूर्यो भगं बृहस्पतिः भगमिन्द्रश्च वायुश्च भगं सप्तर्षयश्च ददुरिति ॥ २८२ ॥

भाषा—(तब दक्षिण की ओर रखे हुए दूसरे कलश को लेकर उसे अभिषिञ्चित करे) राजा वरुण ने तुझे कल्याण दिया है, सूर्य और बृहस्पति ने कल्याण (प्रदान किया), इन्द्र और वायु ने कल्याण दिया है और सप्तर्षियों ने तुम्हें कल्याण दिया है ॥ २८२ ॥

यत्ते केशेषु दौर्भाग्यं सीमन्ते यच्च मूर्धनि ।
ललाटे कर्णयोरक्ष्णोरापस्तद् घ्नन्तु सर्वदा ॥ २८३ ॥

ततस्तृतीयं कलशमादायानेन मन्त्रेणाभिषिञ्चेत् । ते तव केशेषु यद्दौर्भाग्य-मकल्याणं सीमन्ते मूर्धनि च ललाटे कर्णयोरक्ष्णोश्च तत्सर्वमापो देव्यो घ्नन्तु उपशमयन्तु सर्वदा इति ॥ २८३ ॥

भाषा—(तब तीसरे कलश को लेकर इस मन्त्र से अभिषिञ्चन करे) तुम्हारे केशों में, सीमन्त में, शिर, ललाट, कानों और आँखों में जो कुछ भी दौर्भाग्य या अकल्याण हो उसे आप (जल) देवता सदैव नष्ट करें ॥ २८३ ॥

स्नातस्य सार्षपं तैलं स्रुवेणौदुम्बरेण तु ।
जुहुयान्मूर्धनि कुशान्सव्येन परिगृह्य च ॥ २८४ ॥

ततश्चतुर्थं कलशमादाय पूर्वोक्तैस्त्रिभिर्मन्त्रैरभिषिञ्चेत् । 'सर्वमन्त्रैश्चतुर्थम्' इति मन्त्रलिङ्गात्[2] । उक्तेन प्रकारेण कृताभिषेकस्य मूर्धनि सव्यपाणिगृहीत-कुशान्तर्हिते सार्षपं तैलं उदुम्बरवृक्षोद्भवेन स्रुवेण वक्ष्यमाणैर्मन्त्रैर्जुहुयादा-चार्यः ॥ २८४ ॥

भाषा—(तब चौथा कलश लेकर तीनों मन्त्रों से उसको स्नान करावे) उसके स्नान कर लेने पर उसके सिर पर बायें हाथ से कुश फेर कर उदुम्बर वृक्ष की स्रुवा से सरसों के तेल का (आचार्य) हवन करे ॥ २८४ ॥

---

१. ते सदा ।　　　२. स्मृतिलिङ्गात् ।

मितश्च संमितश्चैव तथा शालकटङ्कटौ[1]।
कू[2]श्माण्डो राजपुत्रश्चेत्यन्ते स्वाहासमन्वितैः ॥ २८५ ॥
नामभिर्बलिमन्त्रैश्च नमस्कारसमन्वितैः।

मितसंमितादिभिर्विनायकस्य नामभिः स्वाहाकारान्तैः प्रणवादिभिः 'जुहुयात्' इति गतेन संबन्धः। स्वाहाकारयोगाच्चतुर्थी विभक्तिः। अतश्च ॐमिताय स्वाहा, ॐ संमिताय स्वाहा, ॐ शालाय स्वाहा, ॐ कटङ्कटाय स्वाहा, ॐकूश्माण्डाय स्वाहा, ॐ राजपुत्राय स्वाहेति षण्मन्त्रा भवन्ति। अनन्तरं लौकिकेऽग्नौ स्थालीपाकविधिना चरुं श्रपयित्वा एतैरेव षड्भिर्मन्त्रैस्तस्मिन्नेवाग्नौ हुत्वा तच्छेषं बलिमन्त्रैरिन्द्राग्नियमनिर्ऋतिवरुणवायुसोमेशानब्रह्मानन्तानां नामभिश्चतुर्थ्यन्तैर्नमोन्वितैस्तेभ्यो बलिं दद्यात् ॥ २८५ ॥

अनन्तरं किं कुर्यादित्याह[3]—

दद्याच्चतुष्पथे शूर्पे कुशानास्तीर्य सर्वतः ॥ २८६ ॥
कृताकृतांस्तण्डुलांश्च पललौदनमेव च।
मत्स्यान्पक्कांस्त[4]थैवाम्मांसमेतावदेव तु ॥ २८७ ॥
पुष्पं चित्रं सुगन्धं च सुरां च[5] त्रिविधामपि।
मूलकं पूरि[6]कापूपांस्तथैवोण्डेरकस्रजः ॥ २८८ ॥
दध्यन्नं पायसं चैव [7]गुडपिष्टं समोदकम्।
[8]एतान्सर्वान्समाहृत्य भूमौ कृत्वा ततः शिरः ॥ २८९ ॥
विनायकस्य जननीमुपतिष्ठेत्त[9]तोऽम्बिकाम्।

कृताकृताद्युपहारद्रव्यजातं विनायकस्योपाहृत्य संनिधानात्तज्जनन्याश्च शिरसा भूमिं गत्वा—'तत्पुरुषाय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि। तन्नो दन्ती प्रचोदयात्' इत्यनेन मन्त्रेण विनायकं,—'सुभगायै विद्महे काममालिन्यै धीमहि। तन्नो गौरी प्रचोदयात्' इत्यनेनाम्बिकां च नमस्कुर्यात्। तत उपहारशेषमास्तीर्णकुशे शूर्पे निधाय चतुष्पथे निदध्यात्—'बलिं गृह्णन्त्विमे देवा आदित्या वसवस्तथा। मरुतश्चाश्विनौ रुद्राः सुपर्णाः पन्नगा ग्रहाः ॥ असुरा यातुधानाश्च [10]पिशाचोरगमातरः। शाकिन्यो यक्षवेताला योगिन्यः पूतनाः शिवाः ॥ जृम्भकाः

१. शालकटंकटः। २. कुष्मा (श्मा ?)ण्डराज। ३. दित्याह दद्यादित्यादिचतुर्भिः। ४. स्तथा चामान्। ५. विविधा। ६. पुष्पं तथैव। तथैवोण्डेरकस्रजम्। ७. गुडमिश्रं। ८. अपरार्कासंमतमिदमर्धम्। ९. स्तदाऽम्बिकाम्। १०. पिशाचा मातरोरगाः।

सिद्धगन्धर्वा [1]मायाविद्याधरा नराः। दिक्पाला लोकपालाश्च ये च विघ्नविनायकाः॥ जगतां शान्तिकर्तारो ब्रह्माद्याश्च महर्षयः। मा विघ्नो मा च मे पापं मा सन्तु परिपन्थिनः॥ सौम्या भवन्तु तृप्ताश्च भूतप्रेताः सुखावहाः॥ इत्येतैर्मन्त्रैः॥ कृताकृताः सकृदवहतास्तण्डुलाः, [2]पललं तिलपिष्टं तन्मिश्र ओदनः पललौदनः, मत्स्याः पक्वा अपक्वाश्च, मांसमेतावदेव पक्वमपक्वं च, पुष्पं चित्रं रक्तपीतादिनानावर्णम्। चन्दनादि सुगन्धिद्रव्यम्, सुरा त्रिविधा गौडी माध्वी पैष्टी च मूलकं कन्दाकारो भक्ष्यविशेषः, पूरिका प्रसिद्धा, अपूपोऽस्नेहपक्वो गोधूमविकारः। उण्डेरकस्रजः उण्डेरकाः पिष्टादिमय्यस्ताः प्रोताः स्रजः, दध्यन्नं दधिमिश्रमन्नं। पायसं पयः [3]पयः श्रृतम्। गुडपिष्टं गुडमिश्रं शाल्यादिपिष्टम्। मोदकाः लड्डुकाः। अनन्तरं विनायकं तज्जननीमम्बामम्बिकां वक्ष्यमाणमन्त्रेणोपतिष्ठेत्॥ २८६–२८९॥

किं कृत्वेत्याह—

दूर्वासर्षपपुष्पाणां दत्त्वार्घ्यं पूर्णमञ्जलिम्॥ २९०॥

सकुसुमोदकेनार्घ्यं दत्वा दूर्वासर्षपपुष्पाणां पूर्णमञ्जलिं दत्वा, 'उपतिष्ठेत्' इति गतेन संबन्धः॥ २९०॥

भाषा—मित, संमित, शाल, कटङ्कट, कूष्माण्ड और राजपुत्र के अन्त में स्वाहा जोड़कर हवन के मन्त्र होते हैं (यथा-ओं मिताय स्वाहा आदि) इन्हीं मन्त्रों से इन्द्र से लेकर ब्रह्मा तक अनन्त देवताओं के नाम से नमस्कार पूर्वक बलि देवे। (तब बचे हुए अंश को) सूप में कुश बिछाकर चौराहे पर रखे। बनाये गये और न बनाये गये चावल, पीसे हुए तिल से युक्त चावल, पकी-अधपकी मछली, पका और न पका हुआ मांस, अनेक वर्ण के फूल, चन्दन आदि सुगन्धि द्रव्य, (गौडी, माध्वी, पैष्टी) तीन प्रकार की सुरा, कन्द के समान मूल फल, पूरी, पूआ, उण्डेरक (छोटे-छोटे रोट) की माला, दही मिला हुआ अन्न, खीर, गुड से बनाये गये लड्डू-इन सब को लेकर भूमि में शिर लगाकर विनायक की माता अम्बिका को नमस्कार करे। इसके पहले दूब, सरसों और फूल अञ्जलि में लेकर अर्घ्य देवे॥ २८५–२९०॥

उपस्थानमन्त्रमाह—

रूपं देहि [4]यशो देहि भगं [5]भवति देहि मे।
पुत्रान्देहि धनं देहि सर्वकामांश्च देहि मे॥ २९१॥

---

१. माला विद्या; नागा विद्याधरा। २. पललं पिष्टं। ३. पैरेयी।
४. जयं देहि। ५. भगवन्।

ततः शुक्लाम्बरधरः शुक्लमाल्यानुलेपनः ।
ब्राह्मणान्भोजयेद्दद्याद्वस्त्रयुग्मं गुरोरपि ॥ २९२ ॥

विनायकोपस्थाने 'भगवन्' इत्यूहः[1]। ततोऽभिषेकानन्तरं यजमानः शुक्लाम्बरधरः शुक्लमाल्यानुलेपनो ब्राह्मणान्भोजयेत्। यथाशक्ति गुरवे श्रुताध्ययनवृत्तसंपन्नाय विनायकस्नपनविधिज्ञाय वस्त्रयुग्मं दद्यात्। 'अपि' शब्दाद्यथाशक्ति दक्षिणां विनायकोद्देशेन ब्राह्मणेभ्यश्च। तत्रायं प्रयोगक्रमः—चतुर्भिर्ब्राह्मणैः सार्धंसुफलक्षणो गुरुर्मन्त्रज्ञो भद्रासनरचनानन्तरं तत्संनिधौ विनायकं तज्जननीं चोक्तमन्त्राभ्यां गन्धपुष्पादिभिः समभ्यर्च्य चरुं श्रपयित्वा भद्रासनोपविष्टस्य यजमानस्य पुण्याहवाचनं कृत्वा, चतुर्भिः कलशैरभिषिच्य, सार्षपं तैलं शिरसि हुत्वा, चरुहोमं विधायाभिषेकशालायां चतुर्दिक्षु इन्द्रादिलोकपालेभ्यो बलिं दद्यात्। यजमानस्तु स्नानानन्तरं शुक्लमाल्याम्बरधरो गुरुणा सहितो विनायकाम्बिकाभ्यामुपहारं दत्त्वा शिरसा भूमिं नत्वा कुसुमोदकेनार्घ्यं दत्त्वा दूर्वासर्षपपुष्पाञ्जलिं च दत्त्वा विनायकमम्बिकां चोपतिष्ठेत्। गुरुरुपहारशेषं शूर्पे कृत्वा चत्वरे निदध्यात्। अनन्तरं वस्त्रयुग्मं दक्षिणां ब्राह्मणेभ्यो भोजनं दद्यादिति ॥ २९१–२९२ ॥

भाषा—(नमस्कार का मन्त्र यह है) देवि ! मुझे रूप दो, यश दो, कल्याण दो, पुत्र दो, धन दो और सभी अभिलाषाएँ पूरी करो। इसके बाद श्वेत वस्त्र धारण करके, श्वेत पुष्पों की माला पहन कर, चन्दन आदि का लेप करके, ब्राह्मणों को भोजन करावे और गुरु के लिये भी जोड़ा वस्त्र देवे ॥ २९१–२९२ ॥

इति विनायकस्नपनविधिः।

अस्यैव विनायकस्नपनस्योक्तोपसंहारेण संयोगान्तरं दर्शयितुमाह—

एवं विनायकं पूज्यं ग्रहांश्चैव विधानतः ।
कर्मणां फलमाप्नोति [2]श्रियं चाप्नोत्यनुत्तमाम् ॥ २९३ ॥

एवमुक्तेन प्रकारेण विनायकं संपूज्य कर्मणां फलमविघ्नेनाप्नोतीत्युक्तोपसंहारः। संयोगान्तरमाह—श्रियं चोत्कृष्टतमामाप्नोतीति। श्रीकामश्चानेनैव विधानेन विनायकं पूजयेदित्यर्थः। आदित्यादिग्रहपीडाशान्तिकामस्य लक्ष्म्यादिकामस्य च ग्रहपूजादिकल्पं विधास्यन् ग्रहपूजामुपक्षिपति[3]—ग्रहांश्चैव

१. अम्बिकोपस्थाने भवतीत्यूहः। २. श्रियमाप्नोत्यनुत्तमाम्। ३. ग्रहपूजां लक्षयति।

विधानत इति । ग्रहानादित्यादीन्वक्ष्यमाणेन विधिना संपूज्य कर्मणां सिद्धिमाप्नोति श्रियं चाप्नोति इति ॥ २९३ ॥

भाषा—इस प्रकार विनायक की पूजा करके और सभी ग्रहों की विधिपूर्वक पूजा करके सभी कर्मों का फल प्राप्त करता है और उत्कृष्ट समृद्धि का लाभ करता है ॥ २९३ ॥

नित्यकाम्यसंयोगानाह—

आदित्यस्य सदा पूजां तिलकं स्वामिनस्तथा ।
महागणपतेश्चैव कुर्वन्सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ २९४ ॥

आदित्यस्य भगवतः सदा प्रतिदिवसं रक्तचन्दनकुङ्कुमकुसुमादिभिः पूजां कुर्वन् स्कन्दस्य महागणपतेश्च नित्यं पूजां कुर्वन् सिद्धिं मोक्षमात्मज्ञानद्वारेण प्राप्नोतीति नित्यसंयोगः । आदित्यस्कन्दगणपतीनामन्यतमस्य सर्वेषां वा तिलकं स्वर्णनिर्मितं रूप्यनिर्मितं वा कुर्वन् सिद्धिमभिलषितामाप्नोति । तथा चतुर्थी चेति काम्यसंयोगः ॥ २९४ ॥

भाषा—प्रतिदिन सूर्य भगवान् की (लाल चन्दन, कुङ्कुम और पुष्प आदि से) तथा महागणपति की पूजा करने और इनके लिये (सोने या चाँदी का) तिलक बनवाने वाला अभिलषित फल प्राप्त करता है (सिद्धि प्राप्त करता है) ॥ २९४ ॥

इति महागणपतिकल्पः ।

ग्रहशान्तिप्रकरणम्

'एवं विनायकं पूज्य ग्रहांश्चैव विधानतः । कर्मणां फलमाप्नोति श्रियं चाप्नोत्यनुत्तमाम्' (आ० २९३) इत्यनेन ग्रहपूजायाः कर्मणामविघ्नेन फलसिद्धिः श्रीश्च फलमित्युक्तम् । इदानीं फलान्तराण्याह—

श्रीकामः शान्तिकामो वा ग्रहयज्ञं समाचरेत् ।
वृष्ट्यायुःपुष्टिकामो वा तथैवाऽभिचरन्नपि ॥ २९५ ॥

श्रीकाम इति पूर्वोक्तस्यानुवादः, शान्तिकाम आपदुपशान्तिकामः, सस्यादिवृद्ध्यर्थं प्रवर्षणं वृष्टिः, आयुरपमृत्युजयेन दीर्घकालजीवनम् । पुष्टिरनवद्यशरीरत्वं, एताः कामयत इति वृष्ट्यायुःपुष्टिकामः । एते श्रीकामादयो ग्रहयज्ञं ग्रहपूजां समाचरेयुः । तथाऽभिचरन्नपि अदृष्टोपायेन परपीडा अभिचारस्तत्कामश्च ग्रहयज्ञं समाचरेत् ॥ २९५ ॥

भाषा—समृद्धि की इच्छा रखने वाला, आपत्ति से शान्ति चाहने वाला, (खेती के लिये) वृष्टि, दीर्घजीवन, पुष्टि की कामना करने वाला तथा अदृष्ट उपाय से दूसरे (शत्रु आदि) को पीडित करने की इच्छा वाला ग्रह यज्ञ करे ॥ २९५ ॥

ग्रहानाह—

सूर्यः सोमो महीपुत्रः सोमपुत्रो बृहस्पतिः ।
शुक्रः शनैश्चरो राहुः केतुश्चेति ग्रहाः स्मृताः ॥ २९६ ॥

एते सूर्यादयो नव ग्रहाः ॥ २९६ ॥

भाषा—सूर्य, चन्द्रमा, मंगल, बुध (चन्द्रमा का पुत्र), बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु—ये नवग्रह कहे गये हैं ॥ २९६ ॥

'ग्रहाः पूज्याः' इत्युक्तं, किं कृत्वेत्याह—

ताम्रकात्स्फटिकाद्रक्तचन्दनात्स्वर्णकादुभौ ।
राजतादयसः सीसात्कांस्यात्कार्या ग्रहाः क्रमात् ॥ २९७ ॥
स्ववर्णैर्वा पटे लेख्या [1]गन्धैर्मण्डलकेषु वा ।

सूर्यादीनां मूर्तयस्ताम्रादिभिर्यथाक्रमं कार्याः । तदलाभे स्ववर्णैर्वर्णकैः पटे लेख्याः, मण्डलकेषु वा । गन्धैः रक्तचन्दनादिभिर्यथावर्णं लेख्या इत्यन्वयः । द्विभुजत्वादिविशेषस्तु मत्स्यपुराणोक्तो द्रष्टव्यः । यथा—'पद्मासनः पद्मकरः पद्मगर्भसमद्युतिः । [2]सप्ताश्वः सप्तरज्जुश्च द्विभुजः स्यात्सदा रविः ॥ श्वेतः श्वेताम्बरधरो दशाश्वः श्वेतभूषणः । गदापाणिर्द्विबाहुश्च कर्तव्यो वरदः शशी ॥ रक्तमाल्याम्बरधरः शक्तिशूलगदाधरः । चतुर्भुजो मेषगमो वरदः स्याद्धरासुतः ॥ पीतमाल्याम्बरधरः कर्णिकारसमद्युतिः । खड्गचर्मगदापाणिः सिंहस्थो वरदो बुधः ॥ देवदैत्यगुरू तद्वत्पीतश्वेतौ चतुर्भुजौ । दण्डिनौ वरदौ कार्यौ साक्षसूत्रकमण्डलू ॥ इन्द्रनीलद्युतिः शूली वरदो गृध्रवाहनः । बाणबाणासनधरः कर्तव्योऽर्कसुतः सदा ॥ करालवदनः खड्गचर्मशूली वरप्रदः । [3]नीलैः सिंहासनस्थश्च राहुरत्र प्रशस्यते ॥ धूम्रा द्विबाहवः सर्वे गदिनो विकृताननाः । गृध्रासनगता नित्यं केतवः स्युर्वरप्रदाः ॥ सर्वे किरीटिनः कार्या ग्रहा लोकहितावहाः । स्वाङ्गुलेनोच्छ्रिताः सर्वे शतमष्टोत्तरं सदा'इति ॥ एतेषां स्थापनदेशश्च तत्रैवोक्तः—'मध्ये तु भास्करं विद्याल्लोहितं दक्षिणेन तु । उत्तरेण गुरुं विद्याद् बुधं पूर्वोत्तरेण तु ॥ पूर्वेण भार्गवं विद्यात्सोमं दक्षिणपूर्वके । पश्चिमेन शनिं विद्याद्राहुं पश्चिमदक्षिणे ॥ पश्चिमोत्तरतः केतुं स्थाप्या वै शुक्लतण्डुलैः ॥' इति ॥ २९७ ॥

---

1. गन्धमण्डलकेषु वा । 2. सप्ताश्वरथसंस्थश्च । 3. नीलसिंहासनः ।

पूजाविधिमाह—

यथावर्णं प्रदेयानि वासांसि कुसुमानि च ॥ २९८ ॥
गन्धाश्च बलयश्चैव धूपो देयश्च गुग्गुलुः ।
कर्तव्या मन्त्रवन्तश्च चरवः प्रतिदैवतम् ॥ २९९ ॥

यथावर्णं यस्य ग्रहस्य यो वर्णस्तद्वर्णानि वस्त्रगन्धपुष्पाणि देयानि । बलयश्च धूपश्च सर्वेभ्यो गुग्गुलुर्देयः । चरवश्च प्रतिदैवतमग्निप्रतिष्ठापनान्वाधानादिपूर्वकं 'चतुरश्चतुरो मुष्टीन्निर्वपति', 'अमुष्मै त्वा जुष्टं निर्वपामी'त्यादिविधिना कार्याः । अनन्तरं सुसमिद्धेऽग्नाविध्माधानाद्याघारान्तं कर्म कृत्वा[1] आदित्याद्युद्देशेन यथाक्रमं वक्ष्यमाणमन्त्रैर्वक्ष्यमाणाः समिधो वक्ष्यमाणप्रकारेण हुत्वा चरवो होतव्याः ॥ २९८–२९९ ॥

भाषा—(सूर्य आदि ग्रहों की मूर्तियाँ) क्रमशः तांबे, स्फटिक, लाल-चन्दन, सोने की दो, चाँदी, लोहा, सीसा की क्रमशः बनवानी चाहिए । अथवा (इनकी आकृतियाँ) तत्तत् रंगों से वस्त्र पर अथवा मण्डल में चन्दनादि गन्धों से बनावे । ग्रह के वर्ण के अनुसार (उस-उस वर्ण का) वस्त्र और फूल दे । गन्ध, बलि, धूप और गुग्गुल देना चाहिए और प्रत्येक देवता के लिए मन्त्र के साथ चरु बनाकर (उसका हवन करना चाहिए) ॥ २९७–२९९ ॥

मन्त्रानाह—

आकृष्णेन इमं देवा अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत् ।
उद्बुध्यस्वेति च ऋचो यथासंख्यं प्रकीर्तिताः ॥ ३०० ॥
बृहस्पते अतियदर्यस्तथैवान्नात्परिस्रुतः ।
शं नो देवीस्तथा काण्डात्केतुं कृण्वन्निमांस्तथा ॥ ३०१ ॥

'आकृष्णेन रजसा वर्तमान' (ऋ. १।३।६।२) इत्यादयो नव मन्त्राः यथाक्रमादित्यादीनां वेदितव्याः ॥ ३००–३०१ ॥

भाषा—'आकृष्णेन', 'इमं देवा', 'अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्' 'उद्बुध्यस्व', 'बृहस्पते अतियदर्यः', 'अन्नात्परिस्रुतः', 'शं नो देवी', और 'काण्डात्' 'केतुं कृण्वन्' ये यथाक्रम नौ देवताओं के मन्त्र हैं ॥ ३००–३०१ ॥

इदानीं समिध आह—

अर्कः पलाशः खदिर अपामार्गोऽथ पिप्पलः ।
उदुम्बरः शमी दूर्वा कुशाश्च समिधः क्रमात् ॥ ३०२ ॥

१. ऽग्नावन्वाधानादनन्तरं कर्म कृत्वा । २. खिमा अपि । ३. औदुम्बर ।

अर्कपलाशादयो यथाक्रमं सूर्यादीनां समिधो भवन्ति। तश्चार्द्रा अभग्नाः सत्वचः प्रादेशमात्राः कर्तव्याः ॥ ३०२ ॥

भाषा—अर्क, पलाश, खदिर, अपामार्ग, पीपल, उदुम्बर, शमी, दूर्वा और कुश—ये क्रमशः (इन नौ ग्रहों के लिए) समिध् होते हैं ॥ ३०२ ॥

एकैकस्य[1] त्वष्टशतमष्टाविंशतिरेव वा।
होतव्या मधुसर्पिर्भ्यां दध्ना क्षीरेण वा[2] युताः ॥ ३०३ ॥

किंच, आदित्यादीनामेकैकस्याष्टशतसंख्या अष्टाविंशतिसंख्या वा यथासंभवं मधुना सर्पिषा दध्ना क्षीरेण वा युता युक्ता अर्कादिसमिधो होतव्याः ॥ ३०३ ॥

भाषा—(आदित्यादि में) प्रत्येक ग्रह के लिए आठ-आठ सौ या अठाइस-अठाइस समिधाएँ मधु और घी दही या दूध में भिगोकर हवन करे ॥ ३०३ ॥

इदानीं भोजनान्याह—

गुडौदनं पायसं च हविष्यं क्षीरषाष्टिकम्।
दध्योदनं [3]हविश्चूर्णं मांसं चित्रान्नमेव च ॥ ३०४ ॥
दद्याद् ग्रहक्रमादेवं द्विजेभ्यो भोजनं [4]बुधः।
शक्तितो वा यथालाभं सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥ ३०५ ॥

गुडमिश्र ओदनो गुडौदनः, पायसं पायसान्नम्, हविष्यं मुन्यन्नादि, क्षीरषाष्टिकं क्षीरमिश्रः षाष्टिकौदनः, दध्ना मिश्र ओदनो दध्योदनः, हविर्घृतौदनः। चूर्णं तिलचूर्णमिश्रं ओदनः, मांसं भक्ष्यमांसमिश्र ओदनः, चित्रौदनो नानावर्णौदनः, एतानि गुडौदनादीनि यथाक्रममादित्याद्युद्देशेन भोजनार्थं द्विजेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दद्यात्। ब्राह्मणसंख्या यथाविभवं द्रष्टव्या। गुडौदनाद्यभावे तु यथालाभमोदनादि पादप्रक्षालनादिविधिपूर्वकं सत्कृत्य संमान-पुरःसरं दद्यात् ॥ ३०४–३०५ ॥

भाषा—गुड़ मिला हुआ भात, खीर, हविष्य (तीनी का भात), दूध के साथ साठी का भात, दही-भात, घी—भात, भक्ष्यमांस युक्त भात, तिल युक्त भात, अनेक वर्ण के चावल आदि का भात, ये क्रमशः इन ग्रहों के लिये ब्राह्मणों को विद्वान् पुरुष अपनी शक्ति के अनुसार या अपने लाभ के अनुसार उनका सत्कार करके, विधिपूर्वक भोजन देवे ॥ ३०४–३०५ ॥

---

१. कस्यात्राष्टशतं। एकैकस्याष्टशतक। २. संयुताः। ३. घृतान्नं च कृसरामिषचित्रकम्। ४. द्विजः।

दक्षिणामाह—

धेनुः शङ्खस्तथानड्वान् हेम वासो हयः क्रमात् ।
कृष्णा गौरायसं छाग एता वै दक्षिणाः स्मृताः ॥ ३०६ ॥

धेनुर्दोग्ध्री, शङ्खः प्रसिद्धः, अनड्वान् भारसहो[1] बलीवर्दः, हेम सुवर्णम्, वासः पीतम्, हयः पाण्डुरः, कृष्णा गौः, [2]आयसं शस्त्रादि, छागप्रसिद्धः, एता धेन्वादयो यथाक्रममादित्याद्युद्देशेन ब्राह्मणानां दक्षिणाः स्मृताः उक्ता मन्वादिभिः । एतच्च संभवे सति, असंभवे तु यथालाभं शक्तितोऽन्यदेव यत्किंचिद्देयम् ॥ ३०६ ॥

भाषा—(दूध देने वाली) गाय, शंख, (भार ढोने वाला) बैल, सोना, पीला वस्त्र, पाण्डुवर्ण का घोड़ा, काली गाय, लोहे के शस्त्र आदि और बकरा—ये क्रमशः इन ग्रहों के लिये (ब्राह्मण को) दक्षिणा होते हैं ॥

'शान्तिकामेनाविशेषेण सर्वे ग्रहाः पूजयितव्याः' (आ० २९५) इत्युक्तं, तत्र विशेषमाह—

यश्च यस्य यदा [3]दुःस्थ स तं यत्नेन पूजयेत् ।
ब्रह्मणैषां वरो दत्तः पूजिताः पूजयिष्यथ ॥ ३०७ ॥

यस्य पुरुषस्य यो ग्रहो यदा दुःस्थोऽष्टमादिदुष्टस्थानस्थितः स तं ग्रहं तदा यत्नेन विशेषेण पूजयेत् । यस्मादेषां ग्रहाणां ब्रह्मणा पूर्वं वरो दत्तः 'पूजिताः सन्तो यूयमिष्टप्रापणेनानिरसनेन च पूजयितारं पूजयिष्यथ' इति ॥ ३०७ ॥

भाषा—जिस पुरुष के लिए जो प्रतिकूल (अष्टम आदि स्थान में स्थित) हो वह उस-उस ग्रह की विधिपूर्वक पूजा करे । ब्रह्मा ने इन्हें वर दिया है कि तुम्हारी पूजा किये जाने पर तुम लोग पूजा करने वाले को सुखी और प्रसन्न करोगे ॥ ३०७ ॥

अविशेषेण द्विजानधिकृत्य शान्तिकपौष्टिकादीनि कर्माण्यनुक्रान्तानि, तत्राभिषेक[4]गुणयुक्तस्य राज्ञो विशेषेणाधिकार इति दर्शयति—

ग्रहाधीना नरेन्द्राणामुच्छ्रायाः पतनानि च ।
भावाभावौ च जगतस्तस्मात्पूज्यतमा ग्रहाः ॥ ३०८ ॥
[ग्रहाणामिदमातिथ्यं कुर्यात्संवत्सरादपि ।
आरोग्यबलसंपन्नो जीवेत्स शरदः शतम् ॥]

---

१. भारवाही । २. आयसमस्त्रादि, आयसं ताम्रादि । ३. दुष्टो । ४. भिषेकयुक्तस्य ।

नरेन्द्राणामभिषिक्तक्षत्रियाणां ग्रहाः पूज्यतमाः, इत्यनेनान्येषामपि[1] पूज्या इति गम्यते। उभयत्र कारणमाह—प्राणिनामभ्युदयविनिपाता ग्रहाधीनाः यस्मात्तस्मादधिकारिभिः पूज्याः। किंच जगतः स्थावरजङ्गमात्मकस्य भावाभावावुत्पत्तिनिरोधौ ग्रहाधीनौ। तत्र यद्येते पूजितास्तदा स्वकाल[2] एवोत्पत्तिनिरोधौ भवतः, अन्यथा उत्पत्तिसमये [3]नोत्पादः, न काले निरोधश्च। जगदीश्वरत्वाच्च नरेन्द्राणां तद्योगक्षेमकारिणां पूज्यतमा ग्रहा इति तेषां विशेषेण शान्तिकादिष्वधिकारः। तथा च गौतमेन (११।१) '—राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्ज्यम्' इति राजानमधिकृत्य 'वर्णानाश्रमांश्च न्यायतोऽभिरक्षेत्' (गौ. ११।९) 'चलतश्चैतान्स्वधर्मे स्थापयेत्' इत्यादीन्कांश्चिद्धर्मानुक्त्वा—'यानि च दैवोत्पातचिन्तकाः प्रब्रूयुस्तान्याद्रियेत (गौ. ११।१०) तदधीनमपि ह्येके योगक्षेमं प्रतिजानते' इति। शान्तिकपौष्टिकाद्यनुष्ठानहेतुमभिधाय 'शान्तिकपुण्याहस्वस्त्ययनायुष्यमङ्गलसंयुक्तान्याभ्युदयिकानि विद्वेषण[4]स्तम्भनाभिचारद्विषद्वृद्धियुक्तानि च शालाग्नौ कुर्यात्' (गौ. ११।११।१५-१७) इति शान्तिकादीनि दर्शितानि ॥ ३०८ ॥

भाषा—राजाओं का अभ्युदय और पतन, तथा संसार का अस्तित्व एवं विनाश ग्रहों के अधीन होते हैं; इसलिये ये ग्रह सबसे अधिक पूज्य होते हैं।

[जो व्यक्ति वर्ष में एक बार भी इन ग्रहों की पूर्वोक्त विधि से पूजा करता है वह स्वास्थ्य और बल से युक्त होकर सौ वर्ष तक जीवित रहता है।] ॥ ३०८ ॥

इति ग्रहशान्तिप्रकरणम्।

राजधर्मप्रकरणम्

साधारणान्गृहस्थधर्मानुक्त्वेदानीं राज्याभिषेकादिगुणयुक्तस्य गृहस्थस्य विशेषधर्मानाह—

महोत्साहः स्थूललक्षः कृतज्ञो वृद्धसेवकः।
विनीतः सत्त्वसंपन्नः कुलीनः सत्यवाक्शुचिः ॥ ३०९ ॥
[5]अदीर्घसूत्रः स्मृतिमानक्षुद्रोऽपरुषस्तथा।
धार्मिकोऽव्यसनश्चैव प्राज्ञः शूरो रहस्यवित् ॥ ३१० ॥
स्वरन्ध्रगोप्ताऽऽन्वीक्षिक्यां दण्डनीत्यां तथैव च।
विनीतस्त्वथ वार्तायां त्रय्यां चैव नराधिपः ॥ ३११ ॥

---

१. अथ चान्येषामपि। २. स्वकाकावुत्पत्ति। ३. तस्य नोत्पादो न काले। ४. संघननाभिचार। ५. अदीर्घसूत्री।

पुरुषार्थसाधनकर्मारम्भाध्यवसाय उत्साहः, महानुत्साहो यस्यासौ महोत्साहः, बहुदेयार्थदर्शी स्थूललक्षः, परकृतोपकारापकारौ न विस्मरतीति कृतज्ञः, तपोज्ञानादिवृद्धानां सेवकः, वृद्धसेवकः, विनयेन युक्तो विनीतः, 'विनय' शब्देनाविरुद्धः पूर्वोक्तस्नातकधर्मकलाप उच्यते—'न संशयं प्रपद्येत नाकस्मादप्रियं वदेत्' (आ. १३२) इत्यादिनोक्तः। सत्त्वसंपन्नः संपदापदोहर्षविषादरहितः, मातृतः पितृतश्चाभिजनवान् कुलीनः, सत्यवाक् सत्यवचनशीलः[1]। शुचिर्बाह्याभ्यन्तरशौचयुक्तः अवश्यकार्याणां कर्मणामारम्भे प्रारब्धानां च समापने यो न विलम्बतेऽसावदीर्घसूत्रः, अधिगतार्थाऽविस्मरणशीलः स्मृतिमान् , अक्षुद्रोऽसद्गुणद्वेषी, अपरुषः परदोषाकीर्तनशीलः, धार्मिको वर्णाश्रमधर्मान्वितः, न विद्यन्ते व्यसनानि यस्यासावव्यसनः। व्यसनानि चाष्टादश, यथाह मनुः (७।४७–४८)—'मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः। तौर्यत्रिकं वृथाटया च कामजो दशको गणः॥ पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम्। वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः॥' एति तत्र च सप्त कष्टतमानि। यथाह मनुः (७।५०–५१)—'पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम्। एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे॥ दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे। क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा॥' इति प्राज्ञो गम्भीरार्थावधारणक्षमः, शूरो निर्भयः, रहस्यवित् गोपनीयार्थगोपनचतुरः, स्वरन्ध्रगोप्ता स्वस्य सप्तसु राज्याङ्गेषु यत्परप्रवेशद्वारशैथिल्यं तत्स्वरन्ध्रं तस्य गोप्ता प्रच्छादयिता। आन्वीक्षिक्यामात्मविद्यायां, दण्डनीत्यामर्थयोगक्षेमोपयोगिन्यां, वार्तायां कृषिवाणिज्यपशुपालनरूपायां धनोपचयहेतुभूतायां, त्रय्यां ऋग्यजुः[2]सामाख्यायां च विनीतस्तत्तद्भिज्ञैः प्रावीण्यं नीतः। यथाह मनुः (७।४३)—'त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं[3] शाश्वतीम्। आन्वीक्षिकीं चात्मविद्भ्यो वार्तारम्भांश्च लोकतः॥ इति। नराधिपो 'राज्याभिषिक्तः स्यात्' इति सर्वत्र संबन्धः॥ ३०९–३११॥

भाषा—राजा को महान् उत्साही, अत्यन्त धन देने वाला, कृतज्ञ, (तप एवं ज्ञान में बढ़े हुए) वृद्धों की सेवा करने वाला, विनीत, सत्त्वसंपन्न (सम्पत्ति और विपत्ति में एक सा आचरण करने वाला), कुलीन, सत्य वचन बोलने वाला, पवित्र, आलस्यरहित, (जाने हुए कार्यों को), स्मरण रखने वाला, सद्गुणी, दूसरे का दोष न कहने वाला, धार्मिक, (मृगया आदि) व्यसन न करने वाला, बुद्धिमान्, वीर, रहस्य को छिपाने में चतुर, अपने राज्य के प्रवेशद्वारों को गुप्त रखने वाला, आन्वीक्षिकी (आत्म-विद्या)

---

१. सत्यवादन। २. साममय्यां। ३. च तद्विदः।

एवं दण्डनीति (योग क्षेमोपयोगी) विद्या एवं वार्ता (कृषिवाणिज्य) तीनों में प्रवीण होना चाहिए ॥ ३०९–३११ ॥

एवमभिषेकयुक्तस्यान्तरङ्गान्धर्मानभिधायेदानीं बहिरङ्गानाह—

स मन्त्रिणः प्रकुर्वीत प्राज्ञान्मौलान्स्थिराञ्छुचीन् ।
तैः सार्धं चिन्तयेद्राज्यं विप्रेणाथ[1] ततः स्वयम् ॥ ३१२ ॥

महोत्साहादिगुणैर्युक्तो राजा मन्त्रिणः कुर्वीत । कथंभूतान् ? प्राज्ञान् हिताहितविवेककुशलान्, मौलान् स्ववंशपरम्परायातान्, स्थिरान् महत्यपि [2]हर्षविषादस्थाने विकाररहितान् । शुचीन् धर्मार्थकामभयोपधाशुद्धान्, ते च सप्ताष्टौ वा कार्याः । यथाह मनुः (७।५४)—'मौलाञ्शास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान्कुलोद्भवान् । सचिवान्सप्त चाष्टौ वा कुर्वीत सुपरीक्षितान् ॥' इति । एवं मन्त्रिणः पूर्वं कृत्वा तैः सार्धं राज्यं संधिविग्रहादिलक्षणं कार्यं चिन्तयेत् समस्तैर्व्यस्तैश्च । अनन्तरं तेषामभिप्रायं ज्ञात्वा सकलशास्त्रार्थविचारकुशलेन ब्राह्मणेन पुरोहितेन सह कार्यं विचिन्त्य ततः स्वयं बुद्ध्या कार्यं चिन्तयेत् ॥ ३१२ ॥

भाषा—वह ज्ञानी (विवेकी), वंशपरम्परा से चले आने वाले, धैर्यवान् एवं पवित्र पुरुषों को मन्त्री बनावे; उनके साथ राज्य के (संधि, विग्रह आदि) कार्यों पर विचार करे, फिर ब्राह्मण (पुरोहित) से परामर्श ले और तब स्वयं (अपनी बुद्धि से) कर्तव्य का चिन्तन करे ॥ ३१२ ॥

कीदृशं पुरोहितं कुर्यादित्याह—

पुरोहितं [3]प्रकुर्वीत दैवज्ञमुदितोदितम् ।
दण्डनीत्यां च कुशलमथर्वाङ्गिरसे तथा ॥ ३१३ ॥

पुरोहितं च सर्वेषु दृष्टार्थेषु क[4]र्मसु पुरतो निहितं दानमानसत्कारैरात्मसंबद्धं कुर्यात् । कथंभूतम् ? दैवज्ञं ग्रहोत्पाततच्छमनादेर्वेदितारम्, उदितोदितं विद्याभिजनानुष्ठानादिभिरुदितैः शास्त्रोक्तैरुदितं समृद्धम्, दण्डनीत्यामर्थशास्त्रे कुशलम्, अथर्वाङ्गिरसे च शान्त्यादिकर्मणि ॥ ३१३ ॥

भाषा—दैवज्ञ (ग्रहों के उत्पात एवं शमन का ज्ञान रखने वाले) सभी शास्त्रों के ज्ञान एवं अनुष्ठान से समृद्ध, दण्ड और नीति में कुशल तथा अथर्वाङ्गिरस (शान्त और घोर कर्म) में प्रविष्ट ब्राह्मण को पुरोहित बनावे ॥

श्रौतस्मार्तक्रियाहेतोर्वृणुयादेव चर्त्विजः ।
यज्ञांश्चैव प्रकुर्वीत विधिवद्भूरिदक्षिणान् ॥ ३१४ ॥

---

१. ततः परम् । २. हर्षविकारस्थाने विषादरहितान् । ३. च कुर्वीत । ४. कर्मसु पुरो निहितं ।

श्रौताग्निहोत्रादि-स्मार्तोपासनादिक्रियानुष्ठानसिद्ध्यर्थं ऋत्विजो वृणुयात्। यज्ञांश्च राजसूयादीन् विधिवत् यथाविधानं भूरिदक्षिणान् बहुदक्षिणानेव कुर्यात् ॥ ३१४ ॥

भाषा—(अग्निहोत्रादि) श्रौत एवं (उपासनादि) स्मार्त कर्मों का अनुष्ठान कराने के लिए ऋत्विजों का वरण करे। विधिपूर्वक प्रचुर दक्षिणा के साथ राजसूय आदि यज्ञ करे ॥ ३१४ ॥

भोगांश्च [1]दद्याद्विप्रेभ्यो वसूनि विविधानि च ।
अक्षयोऽयं निधी राज्ञां यद्विप्रेषूपपादितम् ॥ ३१५ ॥

किंच, ब्राह्मणेभ्यो भोगान् सुखानि तत्साधनदानद्वारेण दद्यात। वसूनि च सुवर्णरूप्यभूप्रभृतीनि विविधानि नानाप्रकाराणि देयानि। यस्मादेष राज्ञामक्षयो निधिः शेवधिर्यद् ब्राह्मणेभ्यो दीयते। साधारणधर्मत्वेन दानप्राप्तौ सत्यां राज्ञां दानप्राधान्यप्रतिपादनार्थं पुनर्वचनम् ॥ ३१५ ॥

भाषा—ब्राह्मणों को भोग अर्थात सुख और (सोना, चाँदी आदि) अनेक प्रकार का धन प्रदान करे; क्योंकि राजा जो कुछ भी ब्राह्मणों को देते हैं वह उनकी अक्षय सम्पत्ति हो जाता है ॥ ३१५ ॥

अस्कन्नमव्ययं चैव प्रायश्चित्तैरदूषितम् ।
अग्नेः सकाशाद्विप्राग्नौ हुतं श्रेष्ठमिहोच्यते ॥ ३१६ ॥

किंच, अग्नेः सकाशादग्निसाध्याद्भूरिदक्षिणाद्राजसूयादेरपि विप्राग्नौ हुतं श्रेष्ठमिहोच्यते। यदेतदस्कन्नं क्षरणरहितं [2]अव्ययं पशुहिंसारहितं, प्रायश्चित्तैरदूषितं [3]प्रायश्चित्तरहितम् ॥ ३१६ ॥

भाषा—अग्नि में हवन करने की अपेक्षा ब्राह्मण रूपी अग्नि में हवन करना श्रेयस्कर है, क्योंकि वह (ब्राह्मण रूपी अग्नि में हवन दोषादि की शङ्का से शून्य, पशुहिंसादि कष्ट से हीन और प्रायश्चित्त से अदूषित होता है ॥ ३१६ ॥

'वसूनि विप्रेभ्यो दद्यात्' (आ० ३१५) इत्युक्तम्, कया परिपाट्या दद्यादित्याह—

अलब्धमीहेद्धर्मेण लब्धं यत्नेन पालयेत् ।
पालितं वर्धयेन्नीत्या वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत् ॥ ३१७ ॥

---

१. दत्त्वा विप्रेभ्यो। २. अव्ययं। ३. प्रायश्चित्तायासरहितं।

अलब्धलाभाय धर्मशास्त्रानुसारेण यतेत। यत्नेन लब्धं तत् परिपालयेत् स्वयमवेक्षया रक्षेत्। पालितं [1]तत्परतया रक्षितं नीत्य [2]वणिक्पथादिकया वृद्धिं नयेत्। वृद्धं च पात्रेषु त्रिविधेषु धर्मार्थकामयुक्तेषु निक्षिपेद्दद्यात् ॥ ३१७ ॥

भाषा— अप्राप्त लाभ की प्राप्ति के लिये (धर्मानुसार) प्रयत्न करना चाहिए यत्न से प्राप्त वस्तु की रक्षा करना चाहिए। रक्षित वस्तु की नीतिपूर्वक (वाणिज्यादि से) वृद्धि करनी चाहिए और बढ़े हुए धनादि को (धर्म अर्थ और काम) पात्रों में लगाना चाहिए ॥ ३१७ ॥

पात्रे निक्षिप्य किं कुर्यादित्याह—

दत्त्वा भूमिं निबन्धं वा कृत्वा लेख्यं तु[3] कारयेत्।
आगामिभद्रनृपतिपरिज्ञानाय पार्थिवः ॥ ३१८ ॥

यथोक्तविधिना भूमिं दत्त्वा स्वत्वनिवृत्तिं कृत्वा निबन्धं वा एकस्य भाण्ड-भरकस्येयन्तो रूपकाः, एकस्य पर्णभरकस्येयन्ति पर्णानीति वा निबन्धं कृत्वा लेख्यं कारयेत्। किमर्थम्? आगामिनः एष्यन्तो ये भद्राः साधवो नृपतयो भूपास्तेषां 'अनेन दत्तम्, अनेन प्रतिगृहीतम्' इति परिज्ञानाय। पार्थिवो भूपतिः। अनेन भूपतेरेव भूमिदाने निबन्धदाने वाऽधिकारो न भोगपतेरिति दर्शितम् ॥ ३१८ ॥

भाषा—राजा भूमि देकर या उसका निर्धारण करके भविष्य के साधु-वृत्ति वाले राजाओं के ज्ञान के लिये लिखवा दे ॥ ३१८ ॥

'लेख्यं कारयेत्' (आ० ३१८) इत्युक्तं, कथं कारयेदित्याह—

पटे वा ताम्रपट्टे वा स्वमुद्रोपरिचिह्नितम्।
अभिलेख्यात्मनो वंश्यानात्मानं च महीपतिः ॥ ३१९ ॥
प्रतिग्रहपरीमाणं दानच्छेदोपवर्णनम्।
स्वहस्तकालसंपन्नं शासनं कारयेत्स्थिरम् ॥ ३२० ॥

कार्पासिके पटे ताम्रपट्टे[4] ताम्रफलके वा आत्मनो वंश्यान् प्रपितामहपितामहपितॄन् बहुवचनस्यार्थवत्त्वात् वंशवीर्यश्रुतादिगुणोपवर्णनपूर्वकमभिलेख्य आत्मानं च शब्दात् प्रतिग्रहीतारं, प्रतिग्रहपरिमाणं दानच्छेदोपवर्णनं चाभिलेख्य। प्रतिगृह्यत इति प्रतिग्रहो निबन्धस्तस्य रूपकादिपरिमाणम्। दीयत इति दानं क्षेत्रादि तस्य छेदः छिद्यतेऽनेनेति छेदः [5]नद्याघाटौ [6]निवर्तनं तत्प-

---

१. तत्परतया रक्षेत्। २. वाणिज्यादिकया। ३. च। ४. पट्टे फलके वा। ५. नद्याघाटौ। ६. निवर्तनपरिमाणं च।

रिमाणं च तस्योपवर्णनं, 'अमुकनद्या दक्षिणतोऽयं ग्रामः क्षेत्रं वा, पूर्वतोऽमुकग्रामस्य' एतावन्निवर्तनमित्यादिनिवर्तनपरिमाणं च लेख्यम् । एवं आघाटस्य नदीनगरवर्त्मादेः संचारित्वेन भूमेर्न्यूनाधिकभावसंभवात्तन्निवृत्त्यर्थम् , स्वहस्तेन स्वहस्तलिखितेन मतं मे अमुकनाम्नः अमुकपुत्रस्य यदत्रोपरि लेखितमित्यनेन संपन्नं संयुक्तं, कालेन च द्विविधेन शकनृपातीतरूपेण संवत्सररूपेण च दानकालेन चन्द्रसूर्योपरागादिना संपन्नं स्वमुद्रया गरुडवाराहादिरूपयोपरि बहिश्चिह्नितमङ्कितं स्थिरं दृढं शासनं [1]शिष्यन्ते भविष्यन्तो नृपतयोऽनेन 'दानाच्छ्रेयोऽनुपालनम्' इति शासनं कारयेत् , महीपतिर्न भोगपतिः। संधिविग्रहादिकारिणा [2]येन केनचिल्लेख्यम् ; 'संधिविग्रहकारी तु भवेद्यस्तस्य लेखकः। स्वयं राज्ञा समादिष्टः स लिखेद्राजशासनम् ॥' इति स्मरणात्। दानमात्रेणैव दानफले सिद्धे शासनकरणं भोगाभिवृद्धया फलातिशयार्थम् ॥ ३१९-३२० ॥

भाषा—(कपास आदि के) वस्त्र पर या ताम्रपट्ट पर अपनी मुद्रा (मुहर) अङ्कित करके राजा अपने वंश के पूर्वपुरुषों के नाम तथा अपना नाम दान के वस्तु की मात्रा और (खेत आदि हो तो) चौहद्दी का विवरण लिखावे और तब अपने हाथ से पितृनाम सहित अपना नाम एवं तिथि लिखकर उस राजाज्ञा को पुष्ट (प्रामाणिक) बनावे ॥ ३१९-३२० ॥

इदानीं राज्ञो निवासस्थानमाह—

रम्यं पशव्यमाजीव्यं जाङ्गलं देशमावसेत् ।
तत्र दुर्गाणि कुर्वीत जनकोशात्मगुप्तये ॥ ३२१ ॥

रम्यं रमणीयं अशोकचम्पकादिभिः। पशव्यं पशुभ्यो हितं पशुवृद्धिकरम्। आजीव्यमुपजीव्यं कन्दमूलपुष्पफलादिभिः। जाङ्गलं यद्यप्यल्पोदकतरुपर्वतो देशो जाङ्गलस्तथाप्यत्र [3]सजलतरुपर्वतो देशो 'जाङ्गल' शब्देनाभिधीयते । तं देशमावसेदधिवसेत् । तत्रैवंविधे देशे जनानां कोशस्य सुवर्णादेरात्मनश्च रक्षणार्थं दुर्गं कुर्वीत। तच्च षड्विधम्। यथाह मनुः (७।७०)—'धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा। नृदुर्गं गिरिदुर्गं च समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥' इति ॥ ३२१ ॥

भाषा—रमणीक, पशुओं की (चारे आदि से) वृद्धि के योग्य जीवन-निर्वाह में (कन्दमूल, पुष्प और फल से) सहायता देने वाले एवं वनप्राय देश में निवास करें। उस स्थान पर परिजनों, कोश एवं अपनी रक्षा के लिये दुर्ग बनवावे ॥ ३२१ ॥

---

१. शास्यन्ते । २. नान्येन ग; 'न येन केनचित्' । ३. समजल ।

तत्र तत्र च निष्णातानध्यक्षान्कुशलाञ्शुचीन् ।
प्रकुर्यादायकर्मान्तव्ययकर्मसु चोद्यतान् ॥ ३२२ ॥

किंच, तत्र तत्र [1]धर्मार्थकामादिषु अध्यक्षान् योग्यानधिकारिणः प्रकुर्यान्नियुञ्जीत। यथाहुः—'धर्मकृत्येषु धर्मज्ञानर्थकृत्येषु पण्डितान्। स्त्रीषु क्लीबान्नियुञ्जीत नीचान्नीचेषु कर्मसु ॥' इति। कीदृशान्? निष्णातानन्यव्यापारान्। कुशलान् तत्तद्व्यापारचतुरान्। शुचीन् चतुर्विधोपधाशुद्धान्। आयकर्मसु सुवर्णाद्युत्पत्तिस्थानेषु व्ययकर्मसु सुवर्णादिदानस्थानेषु च उद्यताननलसान्। चशब्दात्प्राज्ञत्वादिगुणयुक्तान्। उक्तं च—'प्राज्ञत्वमुपधाशुद्धिरप्रमादोऽभियुक्तता। कार्येषु व्यसनाभावः स्वामिभक्तिश्च योग्यता ॥' इति ॥ ३२२ ॥

भाषा—तत्तत् (धर्म, अर्थ, काम आदि) कर्मों में, आयकर्म और व्यय कर्म में योग्य, कार्यकुशल, पवित्र एवं कर्त्तव्यनिष्ठ अध्यक्षों को नियुक्त करे ॥ ३२२ ॥

'भोगांश्च दद्याद्विप्रेभ्यो वसूनि विविधानि च' (आ० ३१५) इति सामान्येन स्वस्वदानमुक्तम्, इदानीं नृपाणां विक्रमार्जितस्य दाने फलातिशयमाह—

नातः परतरो धर्मो नृपाणां यद्रणार्जितम्।
विप्रेभ्यो दीयते द्रव्यं प्रजाभ्यश्चाभयं सदा ॥ ३२३ ॥

अस्मादुत्कृष्टतमो धर्मो नृपाणां न विद्यते यद्रणार्जितं द्रव्यं विप्रेभ्यो दीयते। यच्च प्रजाभ्योऽभयदानम् ॥ ३२३ ॥

भाषा—राजाओं के लिए इससे बढ़कर कोई धर्म नहीं है कि युद्ध में अपहृत धन ब्राह्मणों को दान करें और अपनी प्रजाओं को अभयदान दें ॥३२३॥

'रणार्जितं देयम्' इत्युक्तं, द्रव्यार्जनाय रणे प्रवृत्तस्य विपत्तिरपि संभवतीति न धर्मो नाप्यर्थ इति ततो निवृत्तिरेव [2]श्रेयसीत्यत आह—

य आहवेषु वध्यन्ते भूम्यर्थमपराङ्मुखाः।
अकूटैरायुधैर्यान्ति ते स्वर्गं योगिनो यथा ॥ ३२४ ॥

ये भूम्याद्यर्थमाहवेषु प्रवृत्ता अपराङ्मुखा अभिमुखा वध्यन्ते मार्यन्ते ते स्वर्गं यान्ति। योगाभ्यासरता यथा। यद्यकूटैरविषदिग्धादिभिरायुधैर्योद्धारो भवन्ति ॥ ३२४ ॥

भाषा—जो भूमि के लिये युद्ध में सन्मुख लड़ते हुए अकूट (विष से न बुझे हुए) हथियारों से मारे जाते हैं वे योगियों के समान (मृत्यु के उपरान्त) स्वर्ग को जाते हैं ॥ ३२४ ॥

---

१. धर्मादिस्थ्यादिषु। २. ज्यायसी।

पदानि क्रतुतुल्यानि भग्नेष्वविनिवर्तिनाम्।
राजा सुकृतमादत्ते हतानां विपलायिनाम्॥ ३२५॥

किंच, स्वबलेषु करितुरगरथपदातिषु भग्नेष्वविनिवर्तिनां परबलाभिमुखयायिनां पदानि क्रतुतुल्यान्यश्वमेधतुल्यानि विपर्यये दोषमाह—विपलायिनां पराङ्मुखानां हतानां राजा सुकृतमादत्ते॥ ३२५॥

भाषा—अपनी (हाथी, घोड़े, रथ, पैदल आदि) सेना के नष्ट हो जाने पर भी शत्रु की सेना की ओर लड़ते हुए राजा के प्रत्येकपग यज्ञों के तुल्य होते हैं (अर्थात् जितने पग जाता है उतने यज्ञों का फल पाता है) और वह चोट खाकर पलायन करने वालों के शुभ कर्मों के पुण्य प्राप्त करता है॥ ३२५॥

तवाहंवादिनं क्लीबं निर्हेतिं परसंगतम्।
न हन्याद्विनिवृत्तं च युद्धप्रेक्षणकादिकम्॥ ३२६॥

अपि च, तवाहमिति यो वदति तं क्लीबं नपुंसकं निर्हेतिं निरायुधं परसंगतमन्येन सह युद्ध्यमानं विनिवृत्तं युद्धाद्विनिवृत्तं युद्धप्रेक्षणकं युद्धदर्शिनं। 'न हन्यात्' इति सर्वत्र संबन्धः। 'आदि' ग्रहणादश्वसारथ्यादीनां ग्रहणम्। यथाह गौतमः (१०।१७-१८)—'न दोषो हिंसायामाहवेऽन्यत्र व्यश्वसारथ्यानायुधकृताञ्जलिप्रकीर्णकेशपराङ्मुखोपविष्टस्थलवृक्षारूढोन्मत्तदूतगोब्राह्मणादिभ्यः' इति। शङ्खोऽप्याह—'न पानीयं पिबन्तं न भुञ्जानं नोपानहौ मुञ्चन्तं नावर्माणं सवर्मा न स्त्रियं न करेणुं न वाजिनं न सारथिनं न सुतं न दूतं न ब्राह्मणं न राजानमराजा हन्यात्' इति॥ ३२६॥

भाषा—'मैं तुम्हारा ही हूँ' ऐसा कहनेवाले, नपुंसक, शस्त्रहीन, दूसरे के साथ युद्ध में संलग्न, (युद्ध से) निवृत्त और युद्ध देखने के लिये आये हुए व्यक्ति को नहीं मारना चाहिए॥ ३२६॥

कृतरक्षः समुत्थाय पश्येदायव्ययौ स्वयम्।
व्यवहारांस्ततो दृष्ट्वा स्नात्वा भुञ्जीत कामतः॥ ३२७॥

कृतरक्षः पुरस्यात्मनश्च रक्षां विधाय प्रतिदिनं प्रातः काल उत्थाय स्वयमेवायव्ययौ पश्येत्। ततो व्यवहारान् दृष्ट्वा मध्याह्नकाले स्नात्वा कामतो यथाकालं भुञ्जीत॥ ३२७॥

भाषा—(पुर की और अपनी) रक्षा करके वह स्वयं आय और व्यय का लेखा देखे, इसके बाद व्यवहार (वाद-मुकदमे) देखे और तब स्नान करके समय से भोजन करे॥ ३२७॥

[1]हिरण्यं व्यापृतानीतं भाण्डागारेषु[2] निक्षिपेत् ।
पश्येच्चारांस्ततो दूतान्प्रेषयेन्मन्त्रिसंगतः ॥ ३२८ ॥

तदनन्तरं हिरण्यं व्यापृतैर्हिरण्याद्यानयननियुक्तैरानीतं स्वयमेव निरीक्ष्य भाण्डागारेषु निक्षिपेत् । ततश्चा[3]रान्स्पशान्प्रत्यागतान् पश्येत् । ये परराज्ये वृत्तान्तपरिज्ञानाय परिव्राजकतापसादिरूपेण गूढचारिणः प्रेषितास्ताँश्चारान्दृष्ट्वा क्वचिन्निवेशयेत् । तदनन्तरं दूतांश्च पश्येत् । दूताश्च ये प्रकटमेव [4]राज्यान्तरं-प्रति गतागतमाचरन्ति । ते च त्रिविधाः—निसृष्टार्थाः, संदिष्टार्थाः, [5]शासनहराश्चेति । तत्र निसृष्टार्था राजकार्याणि देशकालोचितानि स्वयमेव कथयितुं समाः, उक्तमात्रं ये परस्मै निवेदयन्ति ते संदिष्टार्थाः, शासनहरास्तु राजलेख-हारिणः, तान्पूर्वप्रेषितानागतान्मन्त्रिसङ्गतः पश्येत् । दृष्ट्वा तद्वार्तामाकलय्य पुनः पुनः प्रेषयेत् ॥ ३२८ ॥

भाषा—(स्वर्ण आदि लाने के लिए) नियुक्त व्यक्तियों द्वारा लाये गये स्वर्ण को (देखकर) भण्डार में रखे; तब गुप्तचरों से बातें करे और फिर मन्त्री के साथ बैठकर दूतों को निर्दिष्ट कार्य करने के लिये भेजे ॥ ३२८ ॥

ततः स्वैरविहारी स्यान्मन्त्रिभिर्वा समागतः ।
बलानां दर्शनं कृत्वा सेनान्या सह चिन्तयेत् ॥ ३२९ ॥

तदनन्तरमपराह्णे स्वैरं यथेष्टमेकोऽन्तःपुरविहारी स्यात् । मन्त्रिभिर्वा विश्वासिभिः कलाकुशलैः परिहासवेदिभिः परिवृतः स्त्रीभिश्च रूपयौवनवैदग्ध्य-शालिनीभिः—'भुक्तवान्विहरेच्चैव स्त्रीभिरन्तःपुरे सह । विहृत्य तु यथाकालं पुनः कार्याणि चिन्तयेत् ॥' इति (७।२२१) मनुस्मरणात् । ततो विशिष्टै-र्वस्त्रकुसुमविलेपनालंकृतः हस्त्यश्वरथपदातिबलानि दृष्ट्वा सेनान्या सेना-पतिना सह तद्रक्षणादि देशकालोचितं चिन्तयेत् ॥ ३२९ ॥

भाषा—तब (अपराह्ण में) इच्छानुसार (अन्तः पुर में) विहार करे अथवा मन्त्रियों के साथ बैठे । पुनः अपनी सेनाओं का निरीक्षण करके सेना-पतियों के साथ (देशकालोचित) विचार विमर्श करे ॥ ३२९ ॥

संध्यामुपास्य शृणुयाच्चाराणां गूढभाषितम् ।
गीतनृ[6]त्यैश्च भुञ्जीत पठेत्स्वाध्यायमेव च ॥ ३३० ॥

ततः सायंकाले संध्यामुपास्य, सामान्येन प्राप्तस्यापि पुनर्वचनं कार्याकुल-त्वादविस्मरणार्थम् । अनन्तरं ये पूर्वदृष्टाः क्वचित्स्थाने निवेशितास्तेषां चाराणां

---

१. हिरण्यादिकं । २. गारे न्यसेत्ततः । ३. श्चारान्विश्वस्तान् ।
४. राज्यान्तं । ५. शासनहस्ताश्चेति । ६. नृत्तैश्च ।

गूढभाषितमन्तर्वेश्मनि शस्त्रपाणिः शृणुयात् । उक्तं च मनुना (७।२२३)— 'संध्यां चोपास्य शृणुयादन्तर्वेश्मनि शस्त्रभृत्। रहस्याख्यायिनां चैव प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥' इति । ततो नृत्यगीतादिभिः कंचित्कालं क्रीडित्वा कक्षान्तरं प्रविश्य भुञ्जीत, 'गत्वा कक्षान्तरं त्वन्यत्समनुज्ञाप्य तं जनम् । प्रविशेद्भोजनार्थं च स्त्रीभिरन्तःपुरं सह ॥' इति (मनुः ७।२२४) स्मरणात्। ततोऽविस्मरणार्थं यथाशक्ति स्वाध्यायं पठेत् ॥ ३३० ॥

भाषा—(सायंकाल) सन्ध्योपासना करके गुप्तचरों के रहस्यमय वचनों को (अकेले बैठकर) सुने। तब गीत और नृत्य का आनन्द ले, भोजन करे और स्वाध्याय का अध्ययन करे ॥ ३३० ॥

संविशेत्तूर्यघोषेण प्रतिबुद्ध्येत्तथैव च ।
शास्त्राणि चिन्तयेद् बुद्ध्या सर्वकर्तव्यतास्तथा ॥ ३३१ ॥

तदनन्तरं तूर्यशङ्खघोषेण संविशेत्स्वप्यात् । तथैव तूर्यादिघोषेण प्रतिबुद्ध्येत। प्रतिबुद्ध्य च शास्त्रविद्भिर्विश्वासिभिः सह एकाकी वा पश्चिमे यामे शास्त्राणि चिन्तयेत् सर्वकर्तव्यताश्च सर्वकार्याणि च । एतच्च स्वस्थं प्रत्युच्यते । अस्वस्थः पुनः सर्वकार्येष्वन्यं नियोजयेत्। यथाह मनुः (७।२२५) —'एतद्वृत्तं समातिष्ठेदरोगः पृथिवीपतिः। अस्वस्थः सर्वमेवैतन्मन्त्रिमुख्ये निवेशयेत् ॥' इति ॥ ३३१ ॥

भाषा—तदनन्तर तूर्य और शंख ध्वनि के साथ सोवे और इसी प्रकार जागे। अपनी बुद्धि से शास्त्रों का और किये जाने वाले सभी कार्यों का चिन्तन करे ॥ ३३१ ॥

प्रेषयेच्च ततश्चारान् स्वेष्वन्येषु च सादरान्।
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैराशीर्भिरभिनन्दितः ॥ ३३२ ॥
दृष्ट्वा ज्योतिर्विदो वैद्यान् दद्याद् गां काञ्चनं महीम् ।
नैवेशिकानि च ततः श्रोत्रियेभ्यो गृहाणि च ॥ ३३३ ॥

अनन्तरं तत्रस्थ एव विश्वस्तान्स्वान् चारान् दानमानसत्कारैः पूजितान् स्वेषु सामन्ताद्यधिकारिषु अन्येषु च महीपतिषु प्रेषयेत्तच्चिकीर्षितपरिज्ञानाय । ततः प्रातः संध्यामुपास्याऽग्निहोत्रं हुत्वा पुरोहितर्त्विगाचार्यादिभिराशीर्भिरभिनन्दितो ज्योतिर्विदो दृष्ट्वा तेभ्यश्च ग्रहादिस्थितिं विदित्वा शान्तिकादीनि च

१. स्त्रीवृतोऽन्तःपुरं पुनः। २. एतद्विधान। ३. सर्वमेतत्तु भृत्येषु विनियोजयेत ४. सादरम्। ५. न्दयाज्ञाः। ६. तथा श्रोत्रियाणां।

पुरोहितायादिश्य वैद्यांश्च दृष्ट्वा तेभ्यश्च स्वशरीरस्थितिं निवेद्य प्रतिविधानं चादिश्य गां दोग्ध्रीं काञ्चनं महीं च नैवेशिकानि विवाहोपयोगीनि कन्यालंकारादीनि गृहाणि च सुधावलितादीनि श्रोत्रियेभ्योऽधीतवेदेभ्यो ब्राह्मणेभ्यः । 'दद्यात्' इति प्रत्येकं संबध्यते ॥ ३३२-३३३ ॥

भाषा—तब गुप्तचरों को आदर के साथ अपने मन्त्रियों आदि के निकट अथवा दूसरे राजाओं के समीप भेजे। (प्रातः सन्ध्या और अग्निहोत्र के उपरान्त) ऋत्विज्, पुरोहित और आचार्य से आशीर्वाद ग्रहण करे। ज्योतिषी और वैद्य से मिले (उनसे क्रमशः ग्रहस्थिति और शारीरिक स्वास्थ्य की जानकारी प्राप्त करे), इसके बाद श्रोत्रिय (वेदज्ञ) ब्राह्मणों को दुधार गाय, सोना, भूमि, विवाह योग्य अलंकारादि उपकरण और वासभवन का दान करे ॥ ३३२-३३३ ॥

ब्राह्मणेषु क्षमी स्निग्धेष्वजिह्मः क्रोधनोऽरिषु ।
स्याद्राजा भृत्यवर्गेषु[1] प्रजासु च यथा पिता ॥ ३३४ ॥

किंच, ब्राह्मणेष्वधिक्षिपत्स्वपि क्षमी क्षमावान्। स्निग्धेषु स्नेहवत्सु मित्रादिष्वजिह्मः अवक्रः। अरिषु क्रोधनः। भृत्यवर्गेषु प्रजासु च हिताचरणेनाहितनिवर्तनेन च पितेव दयावान्। 'स्यात्' इति प्रत्येकं संबध्यते ॥ ३३४ ॥

भाषा—राजा को ब्राह्मणों के प्रति क्षमाशील होना चाहि (मित्रादि) अनुराग रखने वालों के प्रति सरल, शत्रुओं के प्रति क्रोधी तथा सेवकों एवं प्रजा के प्रति पिता के समान (दयावान् एवं हितकारी) होना चाहिए ॥ ३३४ ॥

प्रजापालनफलमाह—

पुण्यात्षड्भागमादत्ते[2] न्यायेन परिपालयन् ।
सर्वदानाधिकं यस्मात्प्रजानां परिपालनम् ॥ ३३५ ॥

यस्मान्न्यायेन [3]शास्त्रोक्तमार्गेण प्रजाः परिपालयन् परिपालितप्रजोपहितपुण्यात् षड्भागं षष्ठं भागमादत्ते। यस्माच्च सर्वेभ्यो भूम्यादिदानेभ्यः प्रजानां परिपालनमधिकफलम् । तस्मात् 'प्रजासु यथा पिता तथैव स्यात्' इति गतेन संबन्धः ॥ ३३५ ॥

भाषा—न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करने पर राजा प्रजाओं के पुण्य का छठवा भाग प्राप्त करता है। अतएव भूमि आदि सभी प्रकार के दान से उत्पन्न पुण्यफल से प्रजापालन का फल अधिक होता है ॥ ३३५ ॥

---

१. भृत्यवर्गे च। २. पुण्यषड्भाग। ३. धर्मशास्त्रोक्तेन।

चाटतस्करदुर्वृत्तमहासाहसिकादिभिः ।
पीड्यमानाः प्रजा रक्षेत्कायस्थैश्च विशेषतः ॥ ३३६ ॥

चाटाः प्रतारकाः विश्वास्य ये परधनमपहरन्ति, प्रच्छन्नापहारिणस्तस्कराः, दुर्वृत्ता [1]इन्द्रजालिककितवादयः, सहो बलं सहसा बलेन कृतं साहसं महच्च तत्साहसं च महासाहसं तेन वर्तन्त इति महासाहसिकाः प्रसह्यो[2]पहारिणः, 'आदि'शब्दान्मौलिककुहकदुर्वृत्तयः। एतैः पीड्यमाना बाध्यमानाः प्रजा रक्षेत्। कायस्था लेखका गणकाश्च तैः पीड्यमाना विशेषतो रक्षेत्, तेषां राजवल्लभतयातिमायावितया च दुर्निवारत्वात् ॥ ३३६ ॥

भाषा—लुटेरों, चोरों, ऐन्द्रजालिक आदि धूर्तों एवं दुस्साहसी डाकुओं आदि से पीडित प्रजा की रक्षा करे और विशेषतया कायस्थों (लेखकों एवं गणकों) से पीडित व्यक्तियों की रक्षा करे ॥ ३३६ ॥

अरक्ष्यमाणाः कुर्वन्ति यत्किञ्चित्किल्बिषं प्रजाः ।
तस्मात्तु नृपतेरर्धं यस्माद् गृह्णात्यसौ करान् ॥ ३३७ ॥

अरक्ष्यमाणाः प्रजाः यत्किंचित्किल्बिषं चौर्यपरदारगमनादि कुर्वन्ति तस्मात्पापादर्धं नृपतेर्भवति । यस्मादसौ राजा रक्षणार्थं प्रजाभ्यः करान् गृह्णाति ॥ ३३७ ॥

भाषा—राजा द्वारा अरक्षित प्रजा जो कुछ (चोरी आदि) पाप करती है, उसमें से आधा पाप उसका हो जाता है; क्योंकि वह रक्षा करने के लिये ही प्रजाओं से कर लेता है ॥ ३३७ ॥

ये राष्ट्राधिकृतास्तेषां चारैर्ज्ञात्वा विचेष्टितम् ।
साधून्संमानयेद्राजा विपरीतांश्च[3] घातयेत् ॥ ३३८ ॥
उत्कोचजीविनो द्रव्यहीनान्कृत्वा विवासयेत् ।
स[4]द्दानमानसत्काराञ्छ्रोत्रियान्वासयेत्सदा ॥ ३३९ ॥

राष्ट्रे राष्ट्राधिकारेषु ये नियुक्तास्तेषां विचेष्टितं चरितं चारैरुक्तलक्षणैः सम्यक् ज्ञात्वा साधून्सुचरितान् संमानयेत् दानमानसत्कारैः पूजयेत्। विपरीतान्दुष्टचरितान्सम्यग्विदित्वा घातयेत् अपराधानुसारेण । ये पुनरुत्कोचजीविनस्तान्द्रव्यरहितान्कृत्वा स्वराष्ट्रात्प्रवासयेत् । श्रोत्रियान्सद्दानमानसत्कारैः सहितान्कृत्वा स्वराष्ट्रे स्वदेशे सदैव वासयेत् ॥ ३३८–३३९ ॥

भाषा—जो राज्यकार्य में अधिकारयुक्त पदों पर नियुक्त हों उनका आचरण भलीभाँति गुप्तचरों द्वारा जानकर राजा उत्तमचरित्रवालों का

1. ऐन्द्रजालिक। 2. अपकारिणः। 3. स्तु। 4. सदानमान।

(दान आदि से) सम्मान करे और विपरीत आचरण वालों को (अपराध के अनुसार) दण्ड देवे। जो घूस लेकर जीविका चलाते हैं उनका धन छीन कर उन्हें कंगाल) बनाकर) देश से निकाल देना चाहिए। श्रोत्रिय (वेदाध्ययनरत ब्राह्मणों) को दान, सम्मान और सत्कार के साथ सदा ही (अपने राज्य में) बसाना चाहिए ॥ ३३८–३३९ ॥

अन्यायेन नृपो राष्ट्रात्स्वकोशं [1]योऽभिवर्धयेत् ।
सोऽचिराद्विगतश्रीको नाशमेति सबान्धवः ॥ ३४० ॥

योऽसौ राजा स्वराष्ट्रादन्यायेन द्रव्यमादाय स्वकोशं अभिवर्धयेत् सोऽचिराच्छीघ्रमेव विगतश्रीको विनष्टलक्ष्मीको बन्धुभिः सह नाशं प्राप्नोति ॥ ३४० ॥

भाषा—जो राजा अन्यायपूर्वक अपनी प्रजा से (धन लेकर) अपने कोश की वृद्धि करता है वह शीघ्र ही श्रीहीन होकर बान्धवों सहित नष्ट हो जाता है ॥ ३४० ॥

प्रजापीडनसंतापात्समुद्भूतो हुताशनः ।
राज्ञः कुलं श्रियं [2]प्राणांश्चाऽदग्ध्वा न निवर्तते ॥ ३४१ ॥

प्रजानां तस्करादिकृतपीडनेन यः सन्तापस्तस्मादुद्भूतो हुताशन इव सन्तापकारित्वादपुण्यराशिः 'हुताशन'शब्देनोच्यते । स राज्ञः कुलं श्रियं प्राणांश्चादग्ध्वा नाशमनीत्वा न निवर्तते नोपशाम्यति ॥ ३४१ ॥

भाषा—प्रजापीडन के संताप की अग्नि राजा के कुल, शोभा और प्राणों को नष्ट किये विना शान्त नहीं होती ॥ ३४१ ॥

य एव नृपतेर्धर्मः स्वराष्ट्रपरिपालने ।
तमेव [3]कृत्स्नमाप्नोति परराष्ट्रं वशं नयन् ॥ ३४२ ॥

न्यायतः स्वराष्ट्रपरिपालने राज्ञो यो धर्मस्तं सकलं वक्ष्यमाणन्यायेन परराष्ट्रं वशं नयन् आत्मसात्कुर्वन्नाप्नोति धर्मषड्भागं च ॥ ३४२ ॥

भाषा—न्यायपूर्वक अपने राज्य का पालन करने में राजा का जो धर्म होता है वही धर्म वह दूसरे राष्ट्र को वश में करने पर पाता है ॥ ३४२ ॥

[4]यस्मिन्देशे य आचारो व्यवहारः कुलस्थितिः ।
तथैव परिपाल्योऽसौ यदा वशमुपागतः ॥ ३४३ ॥

---

१. योऽभिरक्षयेत् । २. प्राणानदग्ध्वा, प्राणान्नादग्ध्वा । ३. कृच्छ्र । ४. किं तु यस्मिन्य ।

किंच, यदा परदेशो वशमुपागतस्तदा न स्वदेशाचारादिसङ्करः कार्यः, किं तु यस्मिन्देशे य आचारः कुलस्थितिर्व्यवहारो वा यथैव प्रागासीत्तथैवासौ परिपालनीयो यदि शास्त्रविरुद्धो न भवति। 'यदा वशमुपागतः' इत्यनेन वशोपगमनात्प्रागनियम इति दर्शितम्। यथोक्तम् (मनुः ७।१९५)—'उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत्। दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम् ॥' इति ॥ ३४३ ॥

भाषा—अपने वश में आ जावे तो जिस देश में जो आचार, व्यवहार और कुल की मर्यादा हो उसका उसी रूप में वह पालन करे ॥ ३४३ ॥

मन्त्रमूलं यतो राज्यं तस्मान्मन्त्रं सुरक्षितम्।
कुर्याद्यथाऽस्य न विदुः कर्मणामा फलोदयात् ॥ ३४४ ॥

यस्मात् 'तैः सार्धं चिन्तयेद्राज्यम्' (आ० ३१२) इत्याद्युक्तं मन्त्रमूलं राज्यं तस्मान्मन्त्रं यत्नेन तथा सुरक्षितं कुर्यात्, यथाऽस्य राज्ञः कर्मणां संधिविग्रहादीनामाफलोदयात् फलनिष्पत्तेः प्रागन्ये मन्त्रं न जानन्ति ॥ ३४४ ॥

भाषा—राज्यकार्य का मुख्य आधार मन्त्र (मन्त्रणा, गुप्त परामर्श) है; अतएव मन्त्र को इस प्रकार गुप्त रखे कि राजा के कर्मों (सन्धि-विग्रह आदि) के फलीभूत होने के पूर्व उसकी जानकारी किसी को न मिल सके ॥ ३४४ ॥

अरिर्मित्रमुदासीनोऽनन्तरस्तत्परः परः।
क्रमशो मण्डलं चिन्त्यं सामादिभिरुपक्रमैः ॥ ३४५ ॥

किंच, अरिः शत्रुः, मित्रं सुहृत्, उभयविलक्षण उदासीनश्च। ते च त्रयस्त्रिविधाः सहजाः कृत्रिमाः प्राकृताश्चेति। तत्र सहजोऽरिः सापत्नपितृव्यतत्पुत्रादिः। कृत्रिमोऽरिः यस्यापकृतं येन चापकृतम्। प्राकृतस्त्वनन्तरदेशाधिपतिः। सहजं मित्रं भागिनेयपैतृष्वस्रीयमातृष्वस्रीयादि। कृत्रिमं मित्रं येनोपकृतं यस्य चोपकृतम्। प्राकृतमित्रमेकान्तरितदेशाधिपतिः। सहजकृत्रिममित्रशत्रुलक्षणरहितौ सहजकृत्रिमोदासीनौ। प्राकृतोदासीनो [3]द्व्यन्तरितदेशाधिपतिः। अरिः पुनश्चतुर्विधः—[4]घातव्योच्छेत्तव्यपीडनीयकर्शनीयभेदेन। तत्र घातव्योऽनन्तरभूमिपतिर्व्यसनी हीनबलो विरक्तप्रकृतिः। विदुर्गो मित्रहीनो दुर्बलश्चोच्छेत्तव्यः। पीडनीयो मन्त्रबलहीनः। प्रबलमन्त्रबलयुक्तः कर्शनीयः, 'निर्मूलनात्समुच्छेदं पीडनं बलनिग्रहम्। कर्शनं तु पुनः प्राहुः

१. राज्यमतो मन्त्रं। २. प्राग्यावद्दन्वे। ३. अनन्तरदेशा। मध्यन्तरदेशा। ४. घातव्योच्छेदनीय।

कोशदण्डापकर्शनात्[1] ॥' इति । मित्रं द्विविधं-बृंहणीयं, कर्शनीयमिति । कोशबलहीनं बृंहणीयम् । कोशबलाधिकं कर्शनीयम् । 'अनन्तरस्तत्परः परः' इति प्राकृतारिमित्रोदासीनानाह-अनन्तरः प्राकृतोऽरिः, तत्परः प्राकृतं मित्रं, तस्मात्परः प्राकृत उदीनः, शेषाः पुनः प्रसिद्धत्वान्नोक्ताः। एतद्राजमण्डलं क्रमशः पूर्वादिदिक्क्रमेण चिन्त्यं तेषां चेष्टितं ज्ञातव्यम् । ज्ञात्वा च सामादिभिरुपायैर्वक्ष्यमाणैरनुसंधेयम्[2] । एवं पुरतः पृष्ठतः पार्श्वतश्च त्रयस्त्रय आत्मा चैक इति त्रयोदशराजकमिदं राजमण्डलं पद्माकारम् । पार्ष्णिग्राहाक्रन्दासारादयस्त्वरिमित्रोदासीनेष्वेवान्तर्भवन्ति, संज्ञाभेदमात्रं ग्रन्थान्तरे दर्शितमिति योगीश्वरेण न [3]पृथगुक्ताः ॥ ३४५ ॥

भाषा—(सीमा से) सटे हुए राज्य, उसके बाद के राज्य और उसके भी बाद के राज्य पर शासन करने वाले राजा क्रमशः शत्रु, मित्र और उदासीन होते हैं। इन राजमण्डलों पर क्रमशः (पूर्वादि दिशा से लेकर) ध्यान रखना चाहिए; और इनके साथ साम आदि उपायों का प्रयोग करना चाहिए ॥ ३४५ ॥

'सामादिभिरुपक्रमैः' (आ० ३४५) इत्युक्तम् , इदानीं तानुपायानाह—

उपायाः साम दानं च भेदो दण्डस्तथैव च ।
सम्यक्प्रयुक्ताः सिद्ध्येयुर्दण्डस्त्वगतिका गतिः ॥ ३४६ ॥

साम प्रियभाषणम् , दानं सुवर्णादेः भेदो भेदकरणं तत्सामन्तादीनां परस्परतो वैरस्योत्पादनेन, दण्ड उपांशु-प्रकाशाभ्यां धनापहारादिर्वधपर्यन्तोऽपकारः। एते सामादयः परिपन्थ्यादिसाधनोपायाः। एते च देशकालाद्यनुसारेण सम्यक्प्रयुक्ताः सिद्ध्येयुः। तेषां च मध्ये दण्डस्त्वगतिका गतिः, उपायान्तरसंभवे सति न प्रयोक्तव्यः। एतच्च पीडनीयकर्शनीयाभिप्रायेण। यातव्योच्छेत्तव्ययोस्तु दण्ड एव मुख्यः। एते सामादयो न केवलं राज्यव्यवहारविषयाः अपि तु सकललोकव्यवहारविषयाः यथा—'अधीष्व पुत्रकाधीष्व दास्यामि तव मोदकान् । यद्वाऽन्यस्मै प्रदास्यामि कर्णमुत्पाटयामि ते ॥' इति ॥ ३४६ ॥

भाषा—साम (प्रियभाषण), दान (सुवर्णादि उपहार देना,), भेद (फूट डालना), और दण्ड (धनापहरण और वध आदि कर्म) ये चार उपाय हैं; इनका उचित रूप से (देश, काल आदि के अनुसार) प्रयोग

१. पकर्षणात् । २. रभिसन्धेयं । ३. न पृथगुक्तम् । ४. स्योत्पादनम् ।

करने पर सफलता मिलती है। और कोई उपाय न चलने पर ही दण्ड का आश्रय लिया जाता है ।। ३४६ ।।

संधिं च [1]विग्रहं यानमासनं संश्रयं तथा।
द्वैधीभावं गुणानेतान् यथावत्परिकल्पयेत् ॥ ३४७ ॥

किंच, सन्धिर्व्यवस्थाकरणम्, विग्रहोऽपकारः, यानं परं प्रति यात्रा, आसनमुपेक्षा, संश्रयो बलवदाश्रयणम्, द्वैधीभावः स्वबलस्य द्विधाकरणम्। एतान्सन्धिप्रभृतीन्गुणान् यथावद्देशकालशक्तिमित्रादिवशेन कल्पयेत् ॥ ३४७ ॥

भाषा—सन्धि, विग्रह (अपकार), यान (चढ़ाई), उपेक्षाभाव, बलवान का आश्रय तथा अपनी सेना का द्विधा विभाजन—इन गुणों का यथोचित (देश, काल, शक्ति, मित्र आदि का विचार करके) अवलम्बन करे ।। ३४७ ।।

यानकालानाह—

यदा सस्यगुणोपेतं परराष्ट्रं तदा व्रजेत्।
परश्च हीन आत्मा च हृष्टवाहनपूरुषः ॥ ३४८ ॥

यदा परराष्ट्रं सस्यैर्व्रीह्यादिभिर्गुणैश्च समजलेन्धनतृणादिभिरुपेतं सम्पन्नं शत्रुश्च हीनो बलादिभिः, आत्मा च हृष्टवाहनपूरुषः वाहनानि हस्त्यश्वादीनि तानि च पूरुषाश्च वाहनपूरुषाः हृष्टा वाहनपूरुषा यस्य स तथोक्तः। तदा परराष्ट्रमात्मसात्कर्तुं व्रजेत् ॥ ३४८ ॥

भाषा—जब शत्रु का राज्य अन्न आदि से भरा पूरा हो, शत्रु की सेना दुर्बल हो अपनी सेना के अश्वादि वाहन एवं सैनिक प्रसन्न (एवं उत्साहपूर्ण) हों तब आक्रमण करे ।। ३४८ ।।

प्राणिनामभ्युदयविनिपातानां दैवायत्तत्वाद्यदि दैवमस्ति तदा स्वयमेव परराष्ट्रादि वशीभविष्यति, अथ नास्ति कृतेऽपि पौरुषे न भविष्यति, अतो व्यर्थ एवायं यात्राप्रयास इत्यत आह—

दैवे पुरुषकारे[2] च कर्मसिद्धिर्व्यवस्थिता।
तत्र दैवमभिव्यक्तं पौरुषं पौर्वदेहिकम् ॥ ३४९ ॥

कर्मसिद्धिः फलप्राप्तिरिष्टानिष्टलक्षणा। सा न केवलं दैवे व्यवस्थिता। अपि तु पुरुषकारेऽपि, लोके तथा दर्शनात्, चिकित्सकादिशास्त्रवैयर्थ्याच्च। अपि च पुरुषकाराभावे दैवमेव नास्तीत्याह—तत्र दैवमिति। यतः पूर्वदेहार्जितं पौरुषमेव दैवमुच्यते। अल्पपुरुषकारानन्तरं महाफलोदयाभिव्यक्तं पौरुषं

---

१. विग्रहं चैव यामनासनसंश्रयौ। २. कारेऽपि।

पौर्वदेहिकं कर्म। तस्मात्पुरुषकाराभावे न दैवमस्तीति पुरुषकारे यत्नो विधातव्यः ॥ ३४९ ॥

भाषा—(इष्ट या अनिष्ट) फल की प्राप्ति दैव (भाग्य) और पुरुष (अपने कर्म) से होती है। इसमें दैव (भाग्य) [इस जन्म में अल्प प्रयत्न से अधिक फल के रूप में] अभिव्यक्त पूर्व शरीर द्वारा किया गया कर्म ही होता है ॥ ३४९ ॥

इदानीं मतान्तराण्याह—

केचिद्[1] दैवात्स्वभावाद्वा कालात्पुरुषकारतः।
संयोगे[2] केचिदिच्छन्ति फलं कुशलबुद्धयः ॥ ३५० ॥

केचिदिष्टानिष्टलक्षणं फलं दैवादेवेच्छन्ति। केचित्स्वभावात्स्वयमेव भवति, न कारणमपेक्षत इति। केचित्कालात्। केचित्पुरुषकारत एवेति। इदानीं स्वमतमाह—दैवादीनां संयोगे समुच्चये फलं भवतीति कुशलबुद्धयो मन्वादयो मन्यन्ते ॥ ३५० ॥

भाषा—कुछ लोग (इष्ट या अनिष्ट) फल को भाग्य या स्वभाव से उत्पन्न मानते हैं; कुछ लोग समय को और कुछ लोग पौरुष या कर्म को फल का कारण मानते हैं। कुछ बुद्धिमानों ने इन सबके संयोग (मिलने) से फल की उत्पत्ति मानी है ॥ ३५० ॥

एकैकस्मात्फलं न भवतीत्यत्र दृष्टान्तमाह—

यथा ह्येकेन चक्रेण रथस्य न गतिर्भवेत्।
एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिद्ध्यति ॥ ३५१ ॥

नात्र तिरोहितमस्ति ॥ ३५१ ॥

भाषा—जिस प्रकार एक पहिए से रथ चल सकता, उसी प्रकार पौरुष के विना भी भाग्य या दैव की सिद्धि नहीं होती है ॥ ३५१ ॥

लाभाय परराष्ट्रं गन्तव्यमित्युक्तम्। लाभश्च त्रिविधः हिरण्यलाभो मूललाभो मित्रलाभश्चेति, तेषु मित्रलाभो ज्यायान्। ततस्तत्प्राप्त्युपाये यत्नो विधातव्यः। तत्प्राप्त्युपायश्च सत्यवचनमित्याह—

हिरण्यभूमिलाभेभ्यो[3] मित्रलब्धिर्वरा यतः।
अतो यतेत[4] तत्प्राप्त्यै रक्षेत्सत्यं समाहितः ॥ ३५२ ॥

---

१. केचिद्दैवाद्धटात्केचित्केचित्। २. सिद्ध्यन्त्यर्था मनुष्याणां तेषां योनिस्तु पौरुषम्। ३. लाभेषु (=हिरण्य-भू-मित्रलाभानां मध्ये)। ४. तत्प्राप्तौ।

यस्मात् हिरण्यभूमित्रलाभेभ्यो मित्रलब्धिर्वरा उत्कृष्टा तस्मात्तत्प्राप्त्यै यतेत यत्नं कुर्यात् सामादिभिः। सत्यं च रक्षेत्। समाहितः सावधानः। सत्यमूलत्वान्मित्रलाभस्य ॥ ३५२ ॥

भाषा—सुवर्ण भूमि के लाभ से मित्र की प्राप्ति उत्कृष्ट है। अत एव मित्र की प्राप्ति के लिए यत्न करना चाहिए और सावधान होकर सत्यता की रक्षा करनी चाहिए ॥ ३५२ ॥

इदानीं राज्याङ्गान्याह—

[1]स्वाम्यमात्या जनो दुर्गं कोशो दण्डस्तथैव च।
मित्राण्येताः प्रकृतयो राज्यं सप्ताङ्गमुच्यते ॥ ३५३ ॥

'महोत्साह' (आ० ३०९) इत्याद्युक्तलक्षणो महीपतिः स्वामी, अमात्या मन्त्रिपुरोहितादयः, जनो ब्राह्मणादिप्रजाः, दुर्गं धन्वदुर्गादि, कोशः सुवर्णादिधनराशिः, दण्डो हस्त्यश्वरथपत्तिलक्षणं चतुरङ्गबलम्। मित्राणि सहजकृत्रिमप्राकृतानि, एताः स्वाम्याद्याः राज्यस्य प्रकृतयो मूलकारणानि। एवं राज्यं सप्ताङ्गमुच्यते ॥ ३५३ ॥

भाषा—राजा, अमात्य (मन्त्री, पुरोहित आदि), प्रजा, दुर्ग, कोश, दण्ड (सेना) और मित्र—ये राज्य के मूल कारण हैं; अतः राज्य को सप्ताङ्ग कहा जाता है ॥ ३५३ ॥

तदवाप्य नृपो दण्डं दुर्वृत्तेषु निपातयेत्।
धर्मो हि दण्डरूपेण ब्रह्मणा निर्मितः पुरा ॥ ३५४ ॥

तदेवंविधं राज्यं प्राप्य दुर्वृत्तेषु वञ्चकशठधूर्तपरदारपरद्रव्यापहारिहिंसकादिषु नृपो दण्डं पातयेत् प्रयोजयेत् हि यस्माद्धर्म एव दण्डरूपेण पूर्वं ब्रह्मणा निर्मितः। तस्य च दण्ड इति यौगिकी संज्ञा—'दण्डो दमनादित्याहुस्तेनादान्तान्दमयेत्' (११।१२८) इत्यादिगौतमस्मरणात् ॥ ३५४ ॥

भाषा—इस प्रकार का राज्य प्राप्त करके राजा दुराचारियों अर्थात् अपराधियों को दण्ड देवे; क्योंकि आदि काल में ब्रह्मा ने दण्ड के रूप में धर्म की ही सृष्टि की है ॥ ३५४ ॥

स [2]नेतुं न्यायतोऽशक्यो [3]लुब्धेनाकृतबुद्धिना।
सत्यसंधेन शुचिना सुसहायेन धीमता ॥ ३५५ ॥

---

१. स्वाम्यमात्यौ। २. न्यायतः शक्यो (=न्यायतो यथाशास्त्रं नेतुं प्रणेतुं शक्यः)। ३. ऽलुब्धेन कृतबुद्धिना (=अलुब्धेन न्यायधनव्ययकारिणा कृतबुद्धिना लब्धप्रज्ञेन)।

स पूर्वोक्तो दण्डो लुब्धेन कृपणेनाकृतबुद्धिना चञ्चलबुद्धिना न्यायतो न्यायानुसारेण नेतुं प्रयोक्तुं शक्यो न भवति। कीदृशेन तर्हि शक्य इत्याह—सत्यसन्धेनाप्रतारकेण। शुचिना जितारिषड्वर्गेण। सुसहायेन पूर्वोक्तसहायसहितेन। धीमता नयानयकुशलेन स दण्डो न्यायतो धर्मानुसारेण नेतुं शक्यः॥ ३५५॥

भाषा—दण्ड को लोभी और चंचल बुद्धि वाला व्यक्ति न्यायपूर्वक नहीं चला सकता; सत्यशील, पवित्र, उत्तम सहायकों से युक्त एवं नीतिशास्त्र का विद्वान् ही उसे (न्याय से) चला सकता है ॥ ३५५ ॥

यथाशास्त्रं प्रयुक्तः सन् सदेवासुरमानवम्[1]।
जनदानन्दयेत्सर्वमन्यथा [2]तत्प्रकोपयेत् ॥ ३५६ ॥

स दण्डः शास्त्रोक्तमार्गेण प्रयुज्यमानः सन् देवासुरमानवैः सहितं इदं सर्वं जगदानन्दयेत् हर्षयेत्। अन्यथा शास्त्रातिक्रमेण प्रयुक्तश्चेज्जगत्प्रकोपयेत् ॥ ३५६ ॥

भाषा—शास्त्र के अनुसार प्रयोग में लाये जाने पर दण्ड देवता, राक्षस और मनुष्यों सहित इस सम्पूर्ण संसार को आनान्दित करता है अन्यथा (शास्त्र के विपरीत प्रयुक्त होने पर) वह उसे कुपित ही करता है ॥ ३५६ ॥

न केवलमधर्मदण्डेन [3]जगत्प्रकोपः, अपि तु प्रयोक्तुर्दृष्टादृष्टहानिरपीत्याह—

अधर्मदण्डनं [4]स्वर्गकीर्तिलोकविनाशनम्।
सम्यक्तु दण्डनं राज्ञः स्वर्गकीर्तिजयावहम् ॥ ३५७ ॥

यः पुनः शास्त्रातिक्रमेण लोभादिना दण्डः कृतः स पापहेतुत्वात्स्वर्गं कीर्तिं लोकांश्च विनाशयति। शास्त्रोक्तमार्गेण तु [5]कृतो धर्महेतुत्वात्स्वर्गकीर्तिजयानां हेतुर्भवति ॥ ३५७ ॥

भाषा—(लोभ आदि के वशीभूत होकर) शास्त्र के विपरीत दण्ड देने से राजा के स्वर्ग, कीर्ति और (उत्तम) लोक का नाश हो जाता है। सम्यक् (शास्त्रानुसार) दण्ड देना राजा के स्वर्ग, यश और विजय का कारण होता है ॥ ३५७ ॥

अपि भ्राता सुतोऽर्घ्यो वा श्वशुरो मातुलोऽपि वा।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति धर्माद्विचलितः स्वकात् ॥ ३५८ ॥

---

१. ऽसुरमानुषम्। २. तु प्रकोपयेत्। ३. प्रकोपनमपि तु। ४. स्वर्गं कीर्ति लोकांश्च नाशयेत्। ५. कृतः सोऽपापहेतुत्वात्।

अर्घ्योऽर्घार्हः आचार्यादिः। शेषः प्रसिद्धः। एते भ्रातृसुतादयोऽपि स्वधर्माच्चलिता दण्ड्याः, किमुतान्ये। यतः स्वधर्माच्चलितः अदण्ड्यो नाम राज्ञः कोऽपि नास्ति। एतच्च मातापित्रादिव्यतिरेकेण। तथा च स्मृत्यन्तरम्—'अदण्ड्यौ मातापितरौ स्नातक[1]पुरोहितपरिव्राजकवानप्रस्थाः श्रुतशीलशौचाचारवन्तस्ते हि धर्माधिकारिणः' इति ॥ ३५८ ॥

भाषा—भाई, पुत्र आचार्य आदि व्यक्ति, श्वशुर या मामा—कोई भी अपने धर्म से विचलित हो तो राजा के लिये अदण्ड्य नहीं होता (अर्थात् राजा को उसे अवश्य दण्ड देना चाहिए) ॥ ३५८ ॥

यो दण्ड्यान्दण्डयेद्राजा सम्यग्वध्यांश्च घातयेत्।
इष्टं स्यात्क्रतुभिस्तेन समाप्तवरदक्षिणैः ॥ ३५९ ॥

किंच, यस्तु राजा दण्ड्यान् स्वधर्मचलनादिना दण्डयोग्यान् सम्यक् शास्त्रदृष्टेन मार्गेण धिग्धनदण्डादिना दण्डयति, वध्यान्वधार्हान् घातयति तेन राज्ञा भूरिदक्षिणैः क्रतुभिरिष्टं भवति। बहुदक्षिणक्रतुफलं प्राप्नोतीत्यर्थः। न च फलश्रवणाद्दण्डप्रणयनं काम्यमिति मन्तव्यम्, अकरणे प्रायश्चित्तस्मरणात्। यथाह वसिष्ठः (१९।४०-४४)—'दण्ड्योत्सर्गे राजैकरात्रमुपवसेत्', 'त्रिरात्रं पुरोहितः', 'कृच्छ्रमदण्ड्यदण्डने पुरोहितः', 'त्रिरात्रं राजा' इति ॥ ३५९ ॥

भाषा—जो राजा दण्डनीय व्यक्तियों को सम्यक् (शास्त्रानुसार) दण्ड देता है और वधयोग्य व्यक्तियों को मारता है, वह अधिक दक्षिणा वाले यज्ञों का फल प्राप्त करता है ॥ ३५९ ॥

'दुष्टे सम्यग्दण्डः प्रयोक्तव्यः' (आ० ३५४) इत्युक्तं, दुष्टपरिज्ञानं च व्यवहारदर्शनमन्तरेण न भवतीति तत्परिज्ञानाय व्यवहारदर्शनमहरहः स्वयं कर्तव्यमित्याह—

इति सञ्चिन्त्य नृपतिः क्रतुतुल्यफलं पृथक्।
व्यवहारान्स्वयं पश्येत्सभ्यैः परिवृतोऽन्वहम् ॥ ३६० ॥

इत्येवमुक्तप्रकारेण क्रतुतुल्यं फलं दण्ड्यदण्डने, स्वर्गादिनाशं चादण्ड्यदण्डने सम्यग्विचिन्त्य पृथक्पृथग्वर्णादिक्रमेण, सभ्यैर्वक्ष्यमाणलक्षणैः परिवृतः, प्रतिदिनं व्यवहारान्वक्ष्यमाणमार्गेण[2] दुष्टादुष्टपरिज्ञानार्थं राजा स्वयं पश्येत् ॥ ३६० ॥

---

१. परिव्राजकपुरोहित। २. वक्ष्यमाणधर्मेण।

भाषा—इस प्रकार यज्ञ के समान फल का विचार करके राजा प्रतिदिन सभ्य अर्थात् श्रेष्ठ जनों के साथ स्वयं पृथक्-पृथक् (वर्ण आदि के क्रम से) व्यवहारों (वादों या मुकदमों) को देखे ॥ ३६० ॥

कुलानि जातीः श्रेणीश्च गणाञ्जानपदानपि ।
स्वधर्माच्चलितान्राजा विनीय स्थापयेत्पथि ॥ ३६१ ॥

कुलानि ब्राह्मणादीनाम्, जातयो मूर्धावसिक्तप्रभृतयः, श्रेणयस्ताम्बूलिकादीनाम्, गणा हेलाबुकादीनाम्, जानपदाः, कारुकादयः, एतान्स्वधर्माच्चलितान्प्रच्युतान् राजा यथापराधं विनीय दण्डयित्वा पथि स्वधर्मे स्थापयेत् । 'दण्डं दुर्वृत्तेषु निपातयेत्' (आ ३५४) इत्युक्तं, स च दण्डो द्विविधः—शारीरोऽर्थदण्डश्चेति । यथाह नारदः—'शारीरश्चार्थदण्डश्च दण्डो हि द्विविधः स्मृतः । शारीरस्ताडनादिस्तु मरणान्तः प्रकीर्तितः ॥ काकिण्यादिस्त्वर्थदण्डः सर्वस्वान्तस्तथैव च ॥' इति । द्विविधोऽप्ययमपराधानुसारेणानेकधा भवति । आह स्म—'शारीरो दशधा प्रोक्तो ह्यर्थदण्डस्त्वनेकधा' इति ॥ ३६१ ॥

भाषा—ब्राह्मण आदि कुलों, मूर्धावसिक्त आदि जातियों, ताम्बूलिक आदि श्रेणियों गणों और जनपदों को अपने धर्म से भ्रष्ट होने पर राजा दण्ड देकर पुनः धर्मसंमत मार्ग में प्रतिष्ठित करे ॥ ३६१ ॥

तत्र कृष्णलमाषसुवर्णपलादिशब्दैरर्थदण्डा वक्तव्याः, ते च प्रतिदेशं भिन्नपरिमाणार्था इत्येकरूपापराधेऽपि देशभेदेन न्यूनाधिकदण्डो मा भूदिति कृष्णलादिशब्दानां नियतपरिमाणविषयत्वं दण्डव्यवहारे दर्शयितुमाह—

जालसूर्यमरीचिस्थं त्रसरेणू रजः स्मृतम् ।
तेऽष्टौ लिक्षा तु तास्तिस्रो राजसर्षप उच्यते ॥ ३६२ ॥
गौरस्तु ते त्रयः षट् ते यवो मध्यस्तु ते त्रयः[2] ।
कृष्णलः पञ्च ते माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश ॥ ३६३ ॥
पलं सुवर्णाश्चत्वारः पञ्च वापि प्रकीर्तितम् ।

जालकान्तरप्रविष्टादित्यरश्मिस्थितं यद्रजस्तत् त्रसरेणुरित्युक्तं योगीश्वरादिभिस्तत्त्वदर्शिभिः । ते च त्रसरेणवोऽष्टौ लिक्षा स्वेदजयूकाण्डम् । ता लिक्षास्तिस्रो राजसर्षपो राजिका । ते राजसर्षपास्त्रयो गौरसर्षपः सिद्धार्थः । गौरसर्षपाः षड् यवो मध्यः मध्यमः, न स्थूलो न सूक्ष्मः । एतेन गौरसर्षपा अपि मध्यमा इति गम्यते । तथा राजसर्षपा अपि 'मध्यम' शब्दादेव । सर्षपादि-

१. काठिन्यादि । २. मध्यस्त्रयस्तु ते ।

शब्दाः न केवलमुन्मानवचनाः किंतु तदुन्मितद्रव्यवचना इति गम्यते, तथा प्रस्थपरिमिता यवाः प्रस्थ उच्यते। एवं सर्षपाद्युन्मितं द्रव्यं सर्षपादिशब्दैः। सर्षपादिशब्दानां च केवलोन्मानवचनत्वे त्रसरेणू[1]नुपसंहृत्योन्मातुमशक्यत्वात्तद्द्वारेण कृष्णलादिव्यवहारो न स्यात्। तत्र स्थूल-स्थूलतर-स्थूलतम-सूक्ष्म-सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतम-मध्यसर्षपाद्युन्मानभेदेन प्रतिदेशं व्यवहारभेदे स्थिते दण्ड-व्यवहारे मध्य इति नियम्यते। ते मध्यमा यवास्त्रय एकः कृष्णलः। ते कृष्णलाः पञ्चैको माषः। ते माषाः षोडशैकः सुवर्णः। ते सुवर्णाश्चत्वारः पलमिति संज्ञाः कथिता इति। पञ्च वापि पलं प्रकीर्तितं नारदादिभिः। तत्र स्थूलैस्त्रिभिर्यवैः कृष्णलपरिकल्पनायां व्यावहारिकनिष्कस्य षोडशांशः कृष्णलो भवति। तैः पञ्चभिर्माषः। माषैः षोडशभिः सुवर्णः। स च व्यावहारिकैः पञ्चभिर्निष्कैरेकः सुवर्णो भवति। ते चत्वारः पलमिति। निष्काणां विंशतिः पलम्। यदा तु सूक्ष्मैस्त्रिभिर्यवैः कृष्णलः परिकल्प्यते तदा व्यावहारिकनिष्कस्य द्वात्रिंशत्तमो भागः कृष्णलो भवति। तस्मिन्पक्षे सुवर्णः सार्धं निष्कद्वयं भवति। पलं च दशनिष्कम्। यदा तु मध्यमयवैः कृष्णलपरिकल्पना तदा निष्कस्य विंशतितमो भागः कृष्णलः, सुवर्णश्चतुर्निष्कः, षोडशनिष्कं पलम्। एवं पञ्चसुवर्णं पलमिति। पक्षे विंशतिनिष्कं पलम्। एवमन्यदपि निष्कस्य चत्वारिंशो भागः कृष्णलः, द्विनिष्कः सुवर्णोऽष्टनिष्कं पलमित्यादिलोकव्यवहारानुसारेणास्मादेव सूत्रादूहनीयम् ॥ ३६२-३६३ ॥

भाषा—जाली (खिड़की) से भीतर प्रवेश करने वाली सूर्य-किरण में दिखलाई पड़ने वाले धूलिकण त्रसरेणु कहलाते हैं। आठ त्रसरेणु मिल कर एक लिक्षा होती हैं और तीन लिक्षा का एक राजसर्षप कहा जाता है। तीन राजसर्षप का एक गौरसर्षप होता है, छः गौरसर्षप का एक मध्यमयव और तीन मध्यमयव का एक कृष्णल होता है। पाँच कृष्णल का एक माष और सोलह माष का एक सुवर्ण होता है चार या पाँच सुवर्ण का एक पल कहा गया है ॥ ३६२-३६३ ॥

एवं सुवर्णस्योन्मानं प्रतिपाद्येदानीं रजतस्याह—

द्वे कृष्णले [2]रूप्यमाषो धरणं षोडशैव ते ॥ ३६४ ॥
शतमानं तु दशभिर्धरणैः पलमेव तु।
निष्कं सुवर्णाश्चत्वारः—

द्वे कृष्णले पूर्वोक्ते, रूप्यमाषो रूप्यसंबन्धी माषः। ते रूप्यमाषाः षोडश धरणम्। 'पुराण' इत्यस्यैव संज्ञान्तरम्, 'ते षोडश स्याद्धरणं पुरा-

---

१. रेणूनामुपसंहृत्य। २. रौप्य।

श्चैव राजतः इति (८।१३६) मनुस्मरणात् । दशभिर्धरणैः शतमानं पलमिति चाभिधीयते । पूर्वोक्ताश्चत्वारः सुवर्णा एको राजतो निष्को भवति ॥३६४॥

इदानीं ताम्रस्योन्मानमाह—

कार्षिकस्ताम्रिकः पणः ॥ ३६५ ॥

पलस्य चतुर्थोऽशः कर्ष इति लोकप्रसिद्धः । कर्षेणोन्मितः कार्षिकः । ताम्रस्य विकारस्ताम्रिकः । कर्षसंमितस्ताम्रविकारः पणसंज्ञो भवति, कार्षापणसंज्ञकश्च; 'कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः' इति । (८।१३६) मनुवचनात् । पञ्चसुवर्णपलपक्षे विंशतिमाषः पणो भवति । तथा सति—'माषो विंशतिमो भागः पणस्य परिकीर्तितः' इत्यादिव्यवहारः सिद्धो भवति । चतुःसुवर्णपलपक्षे तु षोडशमाषः पणो भवति । अस्मिश्च पक्षे सुवर्ण-कार्षापण-पणशब्दानां समानार्थत्वेऽपि पण-कार्षापणशब्दौ ताम्रविषयावेव । एवं तावद्धेमरूप्यताम्राणामुन्मानमुक्तम् ; दण्डव्यवहारोपयोगित्वात् । कांस्यरीतिकादीनामपि लोकव्यवहाराङ्गभूतानामेवोन्मानं द्रष्टव्यम् ॥ ३६५ ॥

भाषा—दो कृष्णल का एक रूप्यमाष होता है । सोलह रूप्यमाष का एक धरण होता है । दश धरणों का एक सौ मान वाला पल होता है । (पूर्वोक्त) चार सुवर्ण का एक निष्क कहलाता है । एक कर्ष (पल के चतुर्थांश) के बराबर तांबे के सिक्के या तोल को पण कहा जाता है ॥ ३६४–३६५ ॥

स्वशास्त्रपरिभाषामाह—

साशीतिपणसाहस्रो दण्ड उत्तमसाहसः ।
तदर्धं मध्यमः प्रोक्तस्तदर्धमधमः स्मृतः ॥ ३६६ ॥

पणानां सहस्रं पणसहस्रम्; तत्परिमाणमस्येति पणसाहस्रः । अशीत्या सह वर्तत इति साशीतिः । अशीत्यधिकपणसहस्रपरिमितो यो दण्डः स 'उत्तमसाहस'संज्ञो वेदितव्यः । तदर्धं मध्यमः तस्य साशीतिपणसहस्रस्यार्धं-चत्वारिंशदधिकपणपञ्चशतपरिमितो दण्डो 'मध्यमसाहस' संज्ञः । तदर्धमधमः तस्य चत्वारिंशदधिकपञ्चशतपणस्यार्धं सप्तत्यधिकपणशतद्वयपरिमितो दण्डः 'अधमसाहस' संज्ञः स्मृत उक्तो मन्वादिभिः । यत्तु—'पणानां द्वे शते सार्धे प्रथमः साहसः स्मृतः । मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्रं चैव चोत्तमः' इति (८।१३८) मनुनोक्तं तत्पक्षान्तरमपतिपूर्वापराधविषयं द्रष्टव्यम् ॥ ३६६ ॥

भाषा—एक हजार अस्सी पण का दण्ड उत्तम साहस में होता है, उससे भी आधा मध्यम साहस में दण्ड होता है । मध्यम साहस के आधा दण्ड अधम या प्रथम साहस के लिये होता है ॥ ३६६ ॥

दण्डभेदानाह—

धिग्दण्डस्त्वथ वाग्दण्डो धनदण्डो वधस्तथा ।
योज्या व्यस्ताः समस्ता वा ह्यपराधवशादिमे ॥ ३६७ ॥

धिग्दण्डो धिग्धिगिति कुत्सनम्, वाग्दण्डस्तु परुषशापवचनात्मकः, धनदण्डो धनापहारात्मकः, वधदण्डः शरीरोऽवरोधादिजीवितान्तः, एते चतुर्विधा दण्डाः व्यस्ता एकैकशः समस्ताः द्वित्राः त्रिचतुरो वाऽपराधानुसारेण प्रयोक्तव्याः । उक्तक्रमेण पूर्वपूर्वासाध्ये उत्तर उत्तरः प्रयोक्तव्यः । यथाह मनुः (८।१२९) 'धिग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्वाग्दण्डं तदनन्तरम् । तृतीये धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम् ॥' इति ॥ ३६७ ॥

भाषा—धिग्दण्ड (धिक्कार के वचन), वाग्दण्ड (कठोर वचनों द्वारा फटकारना), धन दण्ड, और वध (शारीरिक दण्ड)—इन दण्डों में सबका या एक एक का अपराध के अनुसार प्रयोग करना चाहिए ॥ ३६७ ॥

दण्डव्यवस्थानिमित्तान्याह—

ज्ञात्वाऽपराधं देशं च कालं बलमथापि वा ।
वयः कर्म च वित्तं च दण्डं दण्ड्येषु पातयेत् ॥ ३६८ ॥

यथापराधं ज्ञात्वा तदनुसारेण दण्डप्रणयनं कुर्वीत । एवं देशकालवयःकर्मवित्तानि ज्ञात्वा तदनुसारेण दण्ड्येषु दण्डार्हेषु दण्डप्रणयनं कुर्यात् । तथा बुद्धिपूर्वाबुद्धिपूर्वमकृदावृत्त्यनुसारेण च । यद्यपि राजानमधिकृत्यायं राजधर्मकलाप उक्तस्तथापि वर्णान्तरस्यापि विषयमण्डलादिपरिपालनाधिकृतस्यायं धर्मो वेदितव्यः । 'राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः' (मनु. ७।१) इत्यत्र पृथङ्नृपग्रहणात्करग्रहणस्य रक्षार्थत्वात्, रक्षणस्य च दण्डप्रणयनायत्तत्वादिति ॥ ३६८ ॥

भाषा—अपराध, देश, समय, शक्ति, आयु, कार्य और धन का पता लग करके ही दण्डनीय व्यक्तियों को (अपराधियों को) दण्ड देना चाहिए ॥ ३६८ ॥

इति श्रीपद्मनाभभट्टोपाध्यायात्मजस्य श्रीमत्परहंसपरिव्राजकविज्ञानेश्वर-
भट्टारकस्य कृतौ ऋजुमिताक्षरायां याज्ञवल्क्यधर्मशास्त्रविवृतौ
सदाचारः प्रथमाध्यायः ॥

उत्तमोपपदस्येयं शिष्यस्य कृतिरात्मनः ।
धर्मशास्त्रस्य विवृतिर्विज्ञानेश्वरयोगिनः ।

व्यवहाराध्यायः

साधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम्

अभिषेकादिगुणयुक्तस्य राज्ञः प्रजापालनं परमो धर्मः। तच्च दुष्टनिग्रह-मन्तरेण न संभवति। दुष्टपरिज्ञानं च न व्यवहारदर्शनमन्तरेण संभवति। तद्व्यवहारदर्शनमहरहः कर्तव्यमित्युक्तं (आ० ३६०)—'व्यवहारान्स्वयं पश्येत्सभ्यैः परिवृतोऽन्वहम्' इति। स च व्यवहारः कीदृशः, कतिविधः, कथं चेतीतिकर्तव्यताकलापो नाभिहितः, तदभिधानाय द्वितीयोऽध्यायः प्रारभ्यते—

> व्यवहारान्नृपः पश्येद्विद्वद्भिर्ब्राह्मणैः सह।
> धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः॥ १॥

व्यवहारानिति। अन्यविरोधेन स्वात्मसंबन्धितया कथनं व्यवहारः। यथा कश्चिदिदं क्षेत्रादि मदीयमिति कथयति, अन्योऽपि तद्विरोधेन मदीयमिति। तस्यानेकविधत्वं दर्शयति बहुवचनेन। नृप इति न क्षत्रियमात्रस्यायं धर्मः किंतु प्रजापालनाधिकृतस्यान्यस्यापीति दर्शयति। पश्येदिति पूर्वोक्तस्यानुवादो धर्म-विशेषविधानार्थः। विद्वद्भिर्वेदव्याकरणादिधर्मशास्त्राभिज्ञैः। ब्राह्मणैर्न क्षत्रिया-दिभिः। 'ब्राह्मणैः सह' इति तृतीयानिर्देशादेषामप्राधान्यम्। 'सहयुक्तेऽप्रधाने' (पा. २।३।१९) इति स्मरणात्। अतश्चादर्शनेऽन्यथादर्शने वा राज्ञो दोषो न ब्राह्मणानाम्। यथाह मनुः (८।१२८)—'अदण्ड्यान्दण्डयन्राजा दण्ड्यांश्चैवा-प्यदण्डयन्। अयशो महदाप्नोति नरकं चैव[2] गच्छति॥' इति। कथम्? धर्मशा-स्त्रानुसारेण, नार्थशास्त्रानुसारेण। देशादिसमयधर्मस्यापि धर्मशास्त्राविरुद्धस्य धर्मशास्त्रविषयत्वान्न पृथगुपादानम्। तथा च वक्ष्यति (व्य० १८६)—'निजधर्मा-विरोधेन यस्तु सामयिको भवेत्। सोऽपि यत्नेन संरक्ष्यो धर्मो राजकृतश्च यः॥' इति क्रोधलोभविवर्जित इति। 'धर्मशास्त्रानुसारेण' इति सिद्धे 'क्रोधलोभवि-वर्जितः' इति वचनमादरार्थम्। क्रोधोऽमर्षः, लोभो लिप्सातिशयः॥ १॥

भाषा—राजा क्रोध और लोभ त्यागकर (नीति के) विद्वान् ब्राह्मणों के साथ धर्मशास्त्र के अनुसार व्यवहारों (वादों, मुकदमों) पर विचार करे॥ १॥

---

१. दर्शनेन विनेति व्यवहारदर्शनं। २. चाधिगच्छति।

सभ्यांश्चाह—

श्रुताध्ययनसंपन्ना धर्मज्ञाः सत्यवादिनः ।
राज्ञा सभासदः कार्या रिपौ मित्रे च ये समाः ॥ २ ॥

किंच, श्रुताध्ययनसंपन्नाः श्रुतेन मीमांसाव्याकरणादिश्रवणेन अध्ययनेन च वेदाध्ययनेन संपन्नाः, धर्मज्ञाः, धर्मशास्त्रज्ञाः, सत्यवादिनः सत्यवचनशीलाः, रिपौ मित्रे च ये समाः रागद्वेषादिरहिताः, एवंभूताः सभासदः सभायां संसदि यथा सीदन्त्युपविशन्ति तथा दानमानसत्कारैः राज्ञा कर्तव्याः । यद्यपि 'श्रुताध्ययनसंपन्नाः' इत्यविशेषेणोक्तं, तथापि ब्राह्मणा एव । यथाह कात्यायनः—'स तु सभ्यैः स्थिरैर्युक्तः प्राज्ञैर्मौलैर्द्विजोत्तमैः । धर्मशास्त्रार्थकुशलैरर्थशास्त्रविशारदैः ॥' इति । ते च त्रयः कर्तव्याः; बहुवचनस्यार्थवत्त्वात् 'यस्मिन्देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः' इति (८।११) मनुस्मरणाच्च । बृहस्पतिस्तु सप्त पञ्च त्रयो वा सभासदो भवन्तीत्याह—'लोकवेदज्ञधर्मज्ञाः सप्त पञ्च त्रयोऽपि वा । यत्रोपविष्टा विप्राः स्युः सा यज्ञसदृशी सभा ॥' (१।११) इति । नच 'ब्राह्मणैः सह' इति पूर्वश्लोकोक्तानां ब्राह्मणानां 'श्रुताध्ययनसंपन्नाः' इत्यादि विशेषणमिति मन्तव्यम् ; तृतीयाप्रथमान्तनिर्दिष्टानां विशेषणविशेष्यभावासंभवात्, 'विद्वद्भिः' इत्यनेन पुनरुक्तिप्रसङ्गाच्च । तथा च कात्यायनेन ब्राह्मणानां सभासदां च स्पष्टं[1] भेदो दर्शितः—'सप्राड्विवाकः सामात्यः सब्राह्मणपुरोहितः । ससभ्यः प्रेक्षको राजा स्वर्गे तिष्ठति धर्मतः ॥' इति । तत्र ब्राह्मणा अनियुक्ताः, सभासदस्तु नियुक्ता इति भेदः । अत एवोक्तम्—'नियुक्तो वाऽनियुक्तो वा धर्मज्ञो वक्तुमर्हति' इति । तत्र नियुक्तानां यथावस्थितार्थकथनेऽपि यदि राजाऽन्यथा करोति तदाऽसौ निवारणीयः, अन्यथा दोषः । उक्तं च कात्यायनेन—'अन्यायेनापि तं यान्तं येऽनुयान्ति सभासदः । तेऽपि तद्भागिनस्तस्माद्बोधनीयः स तैर्नृपः ॥' इति । अनियुक्तानां पुनरन्यथाभिधानेऽनभिधाने वा दोषो नतु राज्ञोऽनिवारणे—'सभा[2] वा न प्रवेष्टव्या वक्तव्यं वा समञ्जसम् । अब्रुवन्विब्रुवन्वापि नरो भवति किल्बिषी ॥' इति (८।१३) मनुस्मरणात् 'रिपौ मित्रे च' इति चकाराल्लोकरञ्जनार्थं कतिपयैर्वणिग्भिरप्यधिष्ठितं सदः कर्तव्यम् । यथाह कात्यायनः—'कुलशीलवयोवृत्तवित्तवद्भिरमत्सरैः । वणिग्भिः स्यात्कतिपयैः कुलभूतैरधिष्ठितम् ॥' इति ॥ २ ॥

भाषा—राजा वेदादि के अध्ययन से युक्त, धर्मशास्त्र के ज्ञाता, सत्यवादी तथा शत्रु एवं मित्र के प्रति समान भाव वाले (रागद्वेषरहित) पुरुषों को सभासद् बनावे ॥ २ ॥

---

१. च भेदः स्पष्टो । २. सभां वा न प्रवेष्टव्यं ।

'व्यवहारान्नृपः पश्येत्' (व्य० १) इत्युक्तं, तत्रानुकल्पमाह—

अपश्यता कार्यवशाद्व्यवहारान्नृपेण तु ।
सभ्यैः सह नियोक्तव्यो ब्राह्मणः सर्वधर्मवित् ॥ ३ ॥

कार्यान्तर[1]व्याकुलतया व्यवहारानपश्यता नृपेण पूर्वोक्तैः सभ्यैः सह सर्वधर्मवित् स[2]र्वान्धर्मशास्त्रोक्तान्सामयिकांश्च धर्मान्वेत्ति विचारयतीति सर्वधर्मवित् ब्राह्मणो न क्षत्रियादिर्नियोक्तव्यो व्यवहारदर्शने । तं च कात्यायनोक्तगुणविशिष्टं कुर्यात् । यथाह—'दान्तं कुलीनं मध्यस्थमनुद्वेगकरं स्थिरम् । परत्र भीरुं धर्मिष्ठमुद्युक्तं क्रोधवर्जितम् ॥' इति । एवंभूतब्राह्मणासंभवे क्षत्रियं वैश्यं वा नियुञ्जीत, न शूद्रम् । यथाह कात्यायनः—'ब्राह्मणो यत्र न स्यात्तु क्षत्रियं तत्र योजयेत् । वैश्यं वा धर्मशास्त्रज्ञं शूद्रं यत्नेन वर्जयेत् ॥' इति । नारदेन स्वयमे[3]व मुख्यो दर्शितः—'धर्मशास्त्रं पुरस्कृत्य प्राड्विवाकमते स्थितः । समाहितमतिः पश्येद्व्यवहाराननुक्रमात् ॥' इति । प्राड्विवाकमते स्थितो न स्वमते स्थितः, राजा चारचक्षुषा परसैन्यं पश्यतीतिवत् । तस्य चेयं यौगिकी संज्ञा । अर्थिप्रत्यर्थिनौ पृच्छतीति प्राट्, तयोर्वचनं विरुद्धमविरुद्धं च सभ्यैः सह विविनक्ति विवे[4]चयति वेति विवाकः, प्राट् चासौ विवाकश्च प्राड्विवाकः । उक्तं च— 'विवादानुगतं पृष्ट्वा ससभ्यस्तत्प्रयत्नतः । विचारयति येनासौ प्राड्विवाकस्ततः स्मृतः ॥' इति ॥ ३ ॥

भाषा—किसी कार्यवश (या अस्वस्थता आदि से) व्यवहार न देख सकने पर राजा को सभासदों के साथ सभी धर्मों को जानने वाला ब्राह्मण इस कार्य के लिए नियुक्त करना चाहिए ॥ ३ ॥

प्राड्विवाकादयः सभ्या यदि रागादिना स्मृत्यपेतं व्यवहारं विचारयन्ति तदा राज्ञा किं कर्तव्यमित्यत आह—

रागाल्लोभाद्भयाद्वाऽपि स्मृत्यपेतादिकारिणः ।
सभ्याः पृथक्पृथग्दण्ड्या विवादाद्द्विगुणं दमम् ॥ ४ ॥

अपि च, पूर्वोक्ताः सभ्या रजसो निरङ्कुशत्वेन तदभिभूता रागात्स्नेहातिशयाल्लोभाल्लिप्सातिशयाद्भयात्संत्रासात्स्मृत्यपेतं स्मृतिविरुद्धं, 'आदि' शब्दादाचारापेतं कुर्वन्तः पृथक्पृथगेकैकशो विवादाद्विवादपराजयनिमित्ताद्दमाद्द्विगुणं दमं दण्ड्याः, न पुनर्विवादास्पदीभूताद् द्रव्यात् । तथा सति स्त्रीसंग्रहणादिषु दण्डाभावप्रसङ्गः । रागलोभभयानामुपादानं रागादिष्वेव द्विगुणो दमो नाज्ञान-

---

१. व्यग्रतया । २. धर्मान् शास्त्रोक्तान् । ३. ब्राह्मण एव । ४. विवक्ति विवेचयति वा ।

मोहादिष्विति नियमार्थम्। नच 'राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जम्' (११।१) इति गौतमवचनान्न[1] ब्राह्मणा दण्ड्या इति मन्तव्यम्; तस्य प्रशंसार्थत्वात्॥ यत्तु 'षड्भिः परिहार्यो राज्ञाऽवध्यश्चाबन्ध्यश्चादण्ड्यश्चाबहिष्कार्यश्चापरिवाद्यश्चापरिहार्यश्च'[2] (गौ. ८,१२-१३) इति, तदपि 'स एष बहुश्रुतो भवति लोकवेदवेदाङ्गविद्वाकोवाक्येतिहासपुराणकुशलस्तदपेक्षस्तद्वृत्तिश्चाष्टचत्वारिंशत्संस्कारैः संस्कृतस्त्रिषु कर्मस्वभिरतः षट्सु वा सामयाचारिकेष्वभिविनीत' (गौ. ८।४-११) इति, प्रतिपादितबहुश्रुतविषयं; न ब्राह्मणमात्रविषयम्॥ ४॥

भाषा—(किसी के प्रति) स्नेह, लोभ या भय के वशीभूत होकर व्यवहार में धर्म के विरुद्ध आचरण करने वाले सभासदों से उस विवाद के पराजय के निमित्त जितना द्रव्य हो उसके दुगुना द्रव्य पृथक् पृथक् दण्डस्वरूप लेना चाहिए॥ ४॥

व्यवहारविषयमाह—

स्मृत्याचारव्यपेतेन मार्गेणाऽऽधर्षितः परैः।
आवेदयति चेद्राज्ञे व्यवहारपदं हि तत्॥ ५॥

धर्मशास्त्रसमाचारविरुद्धेन मार्गेण परैराधर्षितोऽभिभूतो यद्राज्ञे प्राड्विवाकाय वा आवेदयति विज्ञापयति चेद्यदि, तदावेद्यमानं व्यवहारपदं प्रतिज्ञोत्तरसंशयहेतुपरामर्शप्रमाणनिर्णयप्रयोजनात्मको व्यवहारस्तस्य पदं विषयः। तस्य चेदं सामान्यलक्षणम्। स च द्विविधः—शङ्काभियोगस्तत्त्वाभियोगश्चेति। यथाह नारदः (१।२७)—'अभियोगस्तु विज्ञेयः शङ्कातत्त्वाभियोगतः। शङ्काऽसतां तु संसर्गात्तत्त्वं होढाभिदर्शनात्॥' इति। होढा लोप्त्रं, लिङ्गमिति यावत्। तेन दर्शनं, साक्षाद्वा दर्शनं होढाभिदर्शनं तस्मात्। तत्त्वाभियोगोऽपि द्विविधः—प्रतिषेधात्मको विध्यात्मकश्चेति। यथा—'मत्तो हिरण्यादिकं गृहीत्वा न प्रयच्छति', 'क्षेत्रादिकं ममायमपहरति' इति च। उक्तं च कात्यायनेन—'न्याय्यं स्वं नेच्छते कर्तुमन्याय्यं वा करोति यः' इति। स पुनश्चाष्टादशधा भिद्यते। यथाह मनुः (८।४-७)—'तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः। संभूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च॥ वेतनस्यैव चाऽऽदानं संविदश्च व्यतिक्रमः। क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः॥ सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके। स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च॥ स्त्रीपुंधर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च। पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह॥' इति॥

---

1. न ब्राह्मणो दण्ड्य इति। 2. राज्ञा वध्यश्चावध्यश्च। 3. वेदाङ्गविद्वाक्येतिहास। 4. समयाचार।

एतान्यपि साध्यभेदेन पुनर्बहुत्वं गतानि । यथाह नारदः (१।२०)—'एषामेव प्रभेदोऽन्यः शतमष्टोत्तरं भवेत्[1] । क्रियाभेदान्मनुष्याणां शतशाखो निगद्यते ॥' इति ॥ 'आवेदयति चेद्राज्ञे' इत्यनेन स्वयमेवागत्यावेदयति, न राजप्रेरितस्तत्पुरुषप्रेरितो वेति दर्शयति । यथाह मनुः (८।४३)—'नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा वाप्यस्य पूरुषः । नच प्रापितमन्येन ग्रसेतार्थं कथंचन ॥' इति ॥ परैरिति परेण पराभ्यां परैरित्येकस्यैकेन द्वाभ्यां बहुभिर्वा व्यवहारो भवतीति दर्शयति ॥ यत्पुनः—'एकस्य बहुभिः सार्धं स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च । अनादेयो भवेद्वादो धर्मविद्भिरुदाहृतः ॥' इति नारद (कात्यायन ?) वचनं, तन्निरवसाध्यद्रव्यविषयम् । 'आवेदयति चेद्राज्ञे' इत्यनेनैव राज्ञा पृष्टो विनीतवेष आवेदयेत् । आवेदितं च युक्तं चेन्मुद्रादिना प्रत्यर्थ्याह्वानमकल्पादीनां चानाह्वानमित्याद्यर्थसिद्धमिति नोक्तम् । स्मृत्यन्तरे तु स्पष्टार्थमुक्तम् । यथा 'काले कार्यार्थिनं पृच्छेद्[2] गृणन्तं पुरतः स्थितम् । किं कार्यं का च ते पीडा मा भैषीर्ब्रूहि मानव ॥ केन कस्मिन्कदा कस्मात्पृच्छेदेवं सभागतम् । एवं पृष्टः स यद्ब्रूयात्तत्सभ्यैर्ब्राह्मणैः सह ॥ विमृश्य कार्यं न्याय्यं चेदाह्वानार्थमतः परम् । मुद्रां वा निक्षिपेत्तस्मिन्पुरुषं वा समादिशेत् ॥ अकल्पबालस्थविरविषमस्थक्रियाकुलान् । कार्यातिपातिव्यसनिनृपकार्योत्सवाकुलान् । मत्तोन्मत्तप्रमत्तार्तान्भृत्यान्नाह्वानयेन्नृपः ॥ न हीनपक्षां युवतिं कुले जातां प्रसूतिकाम् । सर्ववर्णोत्तमां कन्यां वा ज्ञातिप्रभुकाः स्मृताः ॥ तदधीनकुटुम्बिन्यः स्वैरिण्यो गणिकाश्च याः । निष्कुला याश्च पतितास्तासामाह्वानमिष्यते ॥ कालं देशं च विज्ञाय कार्याणां च बलाबले । अकल्पादीनपि शनैर्यानैराह्वानयेन्नृपः ॥ ज्ञात्वाभियोगं येऽपि स्युर्वने प्रव्रजितादयः । तानप्याह्वानयेद्राजा गुरुकार्येष्वकोपयन् ॥' इति । आसेधव्यवस्थाप्यर्थसिद्धैव नारदेनोक्ता (१।४७-५३)—'वक्तव्येऽर्थे ह्यतिष्ठन्तमुत्क्रामन्तं च तद्वचः । आसेधयेद्विवादार्थी यावदाह्वानदर्शनम् ॥ स्थानासेधः कालकृतः प्रवासात्कर्मणस्तथा । चतुर्विधः स्यादासेधो नासिद्धस्तं विलङ्घयेत् ॥ आसेधकाल आसिद्ध आसेधं योऽतिवर्तते । स विनेयोऽन्यथाकुर्वन्नासेद्धा दण्डभाग्भवेत् ॥ नदीसन्तारकान्तारदुर्देशोपप्लवादिषु । आसिद्धस्तं परासेधमुत्क्रामन्नापराध्नुयात् ॥ निर्वेष्टुकामो रोगार्तो यियक्षुर्व्यसने स्थितः । अभियुक्तस्तथाऽन्येन राजकार्योद्यतस्तथा ॥ गवां प्रचारे गोपालाः सस्यावापे कृषीवलाः । शिल्पिनश्चापि तत्कालमायुधीयाश्च विग्रहे ॥' इति । आसेधो राजाज्ञयाऽवरोधः । अकल्पादयः पुत्रादिकमन्यं वा सुहृदं [3]प्रेषयेयुः, नच ते परार्थवादिनः; 'यो न भ्राता न च पिता न पुत्रो न

---

१. स्मृतम् । २. पृच्छेत्प्रणतं । ३. प्रेषयन्ति, प्रेषयिष्यन्ति ।

नियोगकृत् । परार्थवादी दण्ड्यः स्याद्व्यवहारेषु विब्रुवन् ॥' (२।२३) इति नारदवचनात् ॥ ५ ॥

भाषा—यदि धर्मशास्त्र और समय के आचार के विरुद्ध ढंग से दूसरों द्वारा पीडित होकर राजा निवेदन करे तो वह व्यवहार का विषय होता है ॥ ५ ॥

प्रत्यर्थिनि मुद्रालेख्यपुरुषाणामन्यतमेनानीते किं कुर्यादित्यत आह—

प्रत्यर्थिनोऽग्रतो लेख्यं यथावेदितमर्थिना ।
समामासतदर्धाहर्नामजात्यादिचिह्नितम् ॥ ६ ॥

अर्थ्यते इत्यर्थः साध्यः, सोऽस्यास्तीत्यर्थी; तत्प्रतिपक्षः प्रत्यर्थी, तस्याग्रतः पुरतो लेख्यं लेखनीयम् । यथा येन प्रकारेण पूर्वमावेदनकाले आवेदितं तथा, न पुनरन्यथा; अन्यथावादित्वेन व्यवहारस्य भङ्गप्रसङ्गात् ।—'अन्यवादी क्रियाद्वेषी नोपस्थाता निरुत्तरः । [1]आहूतः प्रपलापी च हीनः पञ्चविधः स्मृतः ॥' (नारदः २।३३) इति । आवेदनकाल एवार्तिवचनस्य लिखितत्वात्पुनर्लेखनमनर्थकमित्यत आह—समामासेत्यादि । संवत्सरमासपक्षतिथिवारादिना-र्थिप्रत्यर्थिनामब्राह्मणजात्यादिचिह्नितम् । 'आदि' शब्देन द्रव्यतत्संख्यास्थान-वेलाक्षमालिङ्गादीनि गृह्यन्ते ॥ यथोक्तम्—'अर्थवद्धर्मसंयुक्तं परिपूर्णमनाकुलम् । साध्यवद्वाचकपदं प्रकृतार्थानुबन्धि च ॥ प्रसिद्धमविरुद्धं च निश्चितं साधने[2]-क्षमम् । संक्षिप्तं निखिलार्थं[3] च देशकालाविरोधि च । वर्षर्तुमासपक्षाहोवेलादेश-प्रदेशवत् । स्थानावसथसाध्याख्याजात्याकारवयोयुतम् ॥ साध्यप्रमाणसंख्यावदा-त्मप्रत्यर्थिनामवत् । परात्मपूर्वजानेकराजनामभिरङ्कितम् ॥ क्षमालिङ्गात्मपीडाव-त्कथिताहर्तृदायकम् । यदावेद्यते राज्ञे तद्भाषेत्यभिधीयते ॥' इति । भाषा 'प्रतिज्ञा' 'पक्ष' इति नार्थान्तरम् । आवेदनसमये कार्यमात्रं लिखितं प्रत्यर्थिनोऽग्रतः समा-मासादिविशिष्टं लिख्यत इति विशेषः । संवत्सरविशेषणं यद्यपि सर्वव्यवहारेषु नोपयुज्यते, तथाप्याधिप्रतिग्रहक्रयेषु निर्णयार्थमुपयुज्यते; आधौ प्रतिग्रहे क्रीते पूर्वा तु बलवत्तरा' इति वचनात् । अर्थव्यवहारोऽपि एकस्मिन्संवत्सरे यत्संख्याकं यद्द्रव्यं यतो येन गृहीतं प्रत्यर्पितं च पुनरन्यस्मिन्वसरे तद्द्रव्यं तत्संख्याकं तत-स्तेन गृहीतं, याच्यमानो यदि ब्रूयात्सत्यं गृहीतं प्रत्यर्पितं चेति । वत्सरान्तरे गृहीतं प्रत्यर्पितं नास्मिन्वत्सरे इत्युपयुज्यते । एवं मासाद्यपि योज्यम् । देश-स्थानादयः पुनः स्थावरेष्वेवोपयुज्यन्ते—'देशश्चैव तथा स्थानं संनिवेशस्तथैव च ।

---

१. आहुतव्यपलापी । २. साधने क्षमम् । ३. नियतार्थं ।

जातिः संज्ञाऽधिवासश्च प्रमाणं क्षेत्रनाम च ॥ पितृपैतामहं चैव पूर्वराजानुकीर्तनम् । स्थावरेषु विवादेषु दशैतानि निवेशयेत् ॥ इति स्मरणात् । देशो मध्यदेशादिः । स्थानं वाराणस्यादि । संनिवेशः तत्रैव पूर्वापरदिग्विभागपरिच्छिन्नः सम्यङ्निविष्टो गृहक्षेत्रादिः । जातिः अर्थिप्रत्यर्थिनोर्ब्राह्मणत्वादिः । संज्ञा च देवदत्तादिः । अधिवासः समीपदेशनिवासी जनः । प्रमाणं निवर्तनादि भूपरिमाणम् । क्षेत्रनाम शालिक्षेत्रं क्रमुकक्षेत्रं कृष्णभूमः पाण्डुभूमः इति । पितुः पितामहस्य च नामार्थिप्रत्यर्थिनोः पूर्वेषां त्रयाणाम् । राज्ञां नामकीर्तनं चेति । समामासादीनां यस्मिन् व्यवहारे यावदुपयुज्यते तत्र तावल्लेखनीयमिति तात्पर्यार्थः । एवं पक्षलक्षणे स्थिते पक्षलक्षणरहितानां पक्षवदवभासमानानां पक्षाभासत्वं सिद्धमेवेति योगीश्वरेण न पृथक्पक्षाभासा उक्ताः । अन्यैस्तु विस्पष्टार्थमुक्ताः ।—'अप्रसिद्धं निराबाधं निरर्थं निष्प्रयोजनम् । असाध्यं वा विरुद्धं वा पक्षाभासं विवर्जयेत् ॥' इति । अप्रसिद्धं 'मदीयं शशविषाणं गृहीत्वा न प्रयच्छति' इत्यादि । निराबाधं अस्मद्गृहदीपप्रकाशेनायं स्वगृहे व्यवहरतीत्यादि । निरर्थं अभिधेयरहितं कचटतपगजडदबेत्यादि । निष्प्रयोजनं यथा–अयं देवदत्तोऽस्मद्गृहसंनिधौ सुस्वरमधीत इत्यादि । असाध्यं यथा–अहं देवदत्तेन सभ्रूभङ्गमुपहसित इत्यादि । एतत्साधनासंभवादसाध्यम् । अल्पकालत्वाच्च साक्षिसंभवो लिखितं दूरतोऽल्पत्वाच्च दिव्यमिति । विरुद्धं यथाहं मूकेन शप्त इत्यादि । पुरराष्ट्रादिविरुद्धं वा—'राज्ञा विवर्जितो यश्च यश्च पौरविरोधकृत् । राष्ट्रस्य वा समस्तस्य प्रकृतीनां तथैव च ॥ अन्ये वा ये पुरग्राममहाजनविरोधकाः । अनादेयास्तु ते सर्वे व्यवहाराः प्रकीर्तिताः ॥' इति ॥ यत्तु—'अनेकपदसंकीर्णः पूर्वपक्षो न सिद्ध्यति' इति, तत्र यद्यनेकवस्तुसंकीर्ण इत्युच्यते, तदा न दोषः; मदीयमनेन हिरण्यं वासो रूपकादि वाऽपहृतमित्येवंविधस्यादुष्टत्वात् । ऋणादानादिपदसंकरे पक्षाभास इति चेत्तदपि न । मदीया रूपका अनेन वृद्ध्या गृहीताः सुवर्णं चास्य हस्ते निक्षिप्तम् , मदीयं क्षेत्रमयमपहरतीत्यादीनां पक्षत्वमिष्यत एव । किंतु क्रियाभेदात्क्रमेण व्यवहारो न युगपदित्येतावत् ॥ यथाह कात्यायनः—'बहुप्रतिज्ञं यत्कार्यं व्यवहारे सुनिश्चितम् । कामं तदपि गृह्णीयाद्राजा तत्त्वबुभुत्सया ॥' इति तस्मादनेकपदसंकीर्णः पूर्वपक्षो युगपन्न सिद्ध्यतीति तस्यार्थः । अर्थिग्रहणात्पुत्र[1]पित्रादिग्रहणं तेषामेकार्थत्वात् । नियुक्तस्यापि नियोगेनैव तदेकार्थत्वाक्षेपात् ॥ —'अर्थिना संनियुक्तो वा प्रत्यर्थिप्रहितोऽपि वा । यो यस्यार्थे विवदते तयोर्जयपराजयौ ॥' इति स्मरणात् नियुक्तजयपराजयौ मूलस्वामिनोरेव । एतच्च भूमौ फलके वा पाण्डुलेखेन लिखित्वा आवापोद्धारेण विशोधितं पश्चात्पत्रे निवेशयेत् ।

---

1. पुत्रपौत्रादीनां ।

पूर्वपक्षं स्वभावोक्तं प्राड्विवाकोऽभिलेखयेत् । पाण्डुलेखेन फलके ततः पत्रे विशोधितम् ॥' इति कात्यायनस्मरणात् । शोधनं च यावदुत्तरदर्शनं कर्तव्यं नातः परम् । अनवस्थाप्रसङ्गात् । अतएव नारदेनोक्तम्—'शोधयेत्पूर्ववादं तु यावन्नोत्तरदर्शनम् । अवष्टब्धस्योत्तरेण निवृत्तं शोधनं भवत् ॥' इति । पूर्वपक्षमशोधयित्वैव यदोत्तरं दापयन्ति सभ्यास्तदा 'रागाल्लोभात्' इत्युक्तदण्डेन सभ्यान्दण्डयित्वा पुनः प्रतिज्ञापूर्वकं व्यवहारः प्रवर्तनीयो राज्ञेति ॥ ६ ॥

भाषा—पहले प्रत्यर्थी, (प्रतिपक्षी, प्रतिवादी या मुद्दई) के विषय में अर्थी (वादी, मुद्दालेह) द्वारा पहले बताया गया (अभियोग) लिखे, और उसके आगे वर्ष, मास, पक्ष, दिन, नाम और जाति आदि अङ्कित करे ॥ ६ ॥

एवं शोधितपत्रारूढे पूर्वपक्षे किं कर्तव्यमित्यत आह—

श्रुतार्थस्योत्तरं लेख्यं पूर्वावेदकसंनिधौ ।

श्रुतो भाषार्थो येन प्रत्यर्थिनाऽसौ श्रुतार्थः, तस्योत्तरं पूर्वपक्षादुत्तरत्र भवतीत्युत्तरं लेख्यं लेखनीयम् । पूर्वावेदकस्यार्थिनः संनिधौ समीपे उत्तरं च यत्पूर्वोक्तस्य निराकरणं तदुच्यते । यथाह—'पक्षस्य व्यापकं सारमसंदिग्धमनाकुलम् । अव्याख्यागम्यमित्येतदुत्तरं तद्विदो विदुः ॥' इति पक्षस्य व्यापकं निराकरणसमर्थम् । सारं न्याय्यं न्यायादनपेतम् । असंदिग्धं संदेहरहितम् । अनाकुलं पूर्वापराविरुद्धम् । अव्याख्यागम्यं अप्रसिद्धपदप्रयोगेण दुःश्लिष्टविभक्तिसमासाध्याहाराभिधानेन वा अन्यदेशभाषाभिधानेन वा यद् व्याख्येयार्थं न भवति तत्सदुत्तरम् ॥ तच्च चतुर्विधम्—संप्रतिपत्तिः, मिथ्या, प्रत्यवस्कन्दनं पूर्वन्यायश्चेति । यथाह कात्यायनः—'सत्यं मिथ्योत्तरं चैव प्रत्यवस्कन्दनं तथा । पूर्वन्यायविधिश्चैवमुत्तरं स्याच्चतुर्विधम् ॥' इति । तत्र सत्योत्तरं यथा—'रूपकशतं मह्यं धारयति' इत्युक्ते 'सत्यं धारयामि' इति । यथाह—'साध्यस्य सत्यवचनं प्रतिपत्तिरुदाहृता' इति । मिथ्योत्तरं तु नाहं धारयामीति । तथा च कात्यायनः—'अभियुक्तोऽभियोगस्य[1] यदि कुर्यादपह्नवम् । मिथ्या तत्तु विजानीयादुत्तरं व्यवहारतः ॥' इति ॥ तच्च मिथ्योत्तरं चतुर्विधम्—'मिथ्यैतन्नाभिजानामि तदा तत्र न संनिधिः । अजातश्चास्मि तत्काल इति मिथ्या चतुर्विधम् ॥' इति । प्रत्यवस्कन्दनं नाम 'सत्यं गृहीतं प्रतिदत्तं प्रतिग्रहेण लब्धम्' इति वा । यथाह नारदः—'अर्थिना लिखितो योऽर्थः प्रत्यर्थी यदि तं तथा । प्रपद्य कारणं ब्रूयात्-प्रत्यवस्कन्दनं स्मृतम् ॥' इति । प्राङ्न्यायोत्तरं तु यत्राभियुक्त एवं ब्रूयात् 'अस्मिन्नर्थेऽनेनाहमभियुक्तस्तत्र चायं व्यवहारमार्गेण पराजितः' इति । उक्तं

---

1. अभियुक्तस्य ।

च कात्यायनेन—'आचारेणावसन्नोऽपि पुनर्लेखयते यदि । सोऽभिधेयो जितः पूर्वं प्राङ्न्यायस्तु स उच्यते ॥' इति । एवमुत्तरलक्षणे स्थिते उत्तरलक्षणरहितानामुत्तरवदवभासमानानामुत्तराभासत्वमर्थसिद्धम् । स्पष्टीकृतं च स्मृत्यन्तरे—'संदिग्धमन्यत्प्रकृतादत्यल्पमतिभूरि च । पक्षैकदेशव्याप्यन्यत्तथा नैवोत्तरं भवेत् ॥ यद्व्यस्तपदमव्यापि निगूढार्थं तथाकुलम् । व्याख्यागम्यमसारं च नोत्तरं स्वार्थसिद्धये ॥ इति । तत्र संदिग्धं—'सुवर्णशतमनेन गृहीत'मित्युक्ते 'सत्यं गृहीतं सुवर्णशतं माषशतं वे'ति । प्रकृतादन्यद्यथा—'सुवर्णशताभियोगे पणशतं धारयामी'ति । अत्यल्पं—'सुवर्णशताभियोगे पणशतं धारयामी'ति । अतिभूरि—'सुवर्णशताभियोगे द्विशतं धारयामी'ति । पक्षैकदेशव्यापि—'हिरण्यवस्त्राद्यभियोगे हिरण्यं गृहीतं नान्यदि'ति । व्यस्तपदं—ऋणादानाभियोगे पदान्तरेणोत्तरम्, यथा 'सुवर्णशताभियोगे अनेनाहं ताडितः' इति । अव्यापि—देशस्थानादिविशेषणाव्यापि यथा—'मध्यदेशे वाराणस्यां पूर्वस्यां दिशि क्षेत्रमनेनापहृत'मिति पूर्वपक्षे लिखिते, 'क्षेत्रमपहृतमि'ति । निगूढार्थं यथा—'सुवर्णशताभियोगे किमहमेवास्मै धारयामी'त्यत्र ध्वनिना प्राड्विवाकः सभ्यो वा अर्थी वा अन्यस्मै धारयतीति सूचयतीति निगूढार्थम् । आकुलं पूर्वापरविरुद्धं यथा—'सुवर्णशताभियोगे कृते, सत्यं गृहीतं न धारयामी'ति । व्याख्यागम्यं—दुःश्लिष्टविभक्तिसमाससाध्याहाराभिधानेन व्याख्यागम्यम्. अदेशभाषाभिधानेन वा । यथा—'सुवर्णशतविषये पितृऋणाभियोगे, 'गृहीतशतवचनात् सुवर्णानां पितुर्न जानामी'ति । अत्र गृहीतशतस्य पितुर्वचनात् 'सुवर्णानां शतं गृहीतमि'ति न जानामीति । असारं—न्यायविरुद्धं, यथा 'सुवर्णशतमनेन वृद्ध्या गृहीतं वृद्धिरेव दत्ता न मूल'मित्यभियोगे, 'सत्यं वृद्धिर्दत्ता न मूलं गृहीत'मिति । उत्तरमित्येकवचननिर्देशादुत्तराणां संकरो निरस्तः । यथाह कात्यायनः—'पक्षैकदेशे यत्सत्यमेकदेशे च कारणम् । मिथ्या चैवैकदेशे च संकरात्तदनुत्तरम् ॥' इति । अनुत्तरत्वे च कारणं तेनैवोक्तम्—'न चैकस्मिन्विवादे तु क्रिया स्याद्वादिनोर्द्वयोः । न चार्थसिद्धिरुभयोर्न चैकत्र क्रियाद्वयम् ॥' इति । मिथ्याकारणोत्तरयोः संकरे अर्थिप्रत्यर्थिनोर्द्वयोरपि क्रिया प्राप्नोति—'मिथ्या क्रिया पूर्ववादे कारणे प्रतिवादिनि' इति स्मरणात् । तदुभयमेकस्मिन्व्यवहारे विरुद्धम् । यथा—'सुवर्णं रूपकशतं चानेन गृहीत'मित्यभियोगे, 'सुवर्णं न गृहीतं, रूपकशतं गृहीतं प्रतिदत्तं चे'ति । कारणप्राङ्न्यायसंकरे तु प्रत्यर्थिन एव क्रियाद्वयम्—'प्राङ्न्यायकारणोक्तौ तु प्रत्यर्थी निर्दिशेत्क्रियाम्' इति । तथा सुवर्णं गृहीतं प्रतिदत्तं,—रूपके व्यवहारमार्गेण पराजितः' इति । अत्र च प्राङ्-

---

1. रूपकशते ।

न्याये जयपत्रेण वा प्राङ्न्यायदर्शिभिर्वा भावीयतव्यम्, कारणोक्तौ[1] तु साक्षिलेख्यादिभिर्भावयितव्यमिति विशेषः। एवमुत्तरत्रयसंकरेऽपि द्रष्टव्यम्। यथा—'अनेन सुवर्णं रूपकशतं वस्त्राणि च गृहीतानी'त्यभियोगे, 'सत्यं सुवर्णं गृहीतं प्रतिदत्तं[2] रूपकशतं न गृहीतं, वस्त्रविषये तु पूर्वन्यायेन पराजितः' इति। एवं चतुःसंकरेऽपि। एतेषां चानुत्तरत्वं यौगपद्येन तस्य तस्यांशस्य तेन तेन विनाऽसिद्धेः क्रमेणोत्तरत्वमेव। क्रमश्चार्थिनः प्रत्यर्थिनः सभ्यानां चेच्छया भवति। यत्र पुनरुभयोः संकरे तत्र यस्य प्रभूतार्थविषयत्वं तत्क्रियोपादानेन पूर्वं व्यवहारः प्रवर्तयितव्यः, पश्चादल्पविषयोत्तरोपादानेन च व्यवहारो द्रष्टव्यः। यत्र तु संप्रतिपत्तेरुत्तरान्तरस्य च संकरस्तत्रोत्तरान्तरोपादानेन व्यवहारो द्रष्टव्यः। संप्रतिपत्तौ क्रियाभावात्॥ यथा हारीतेन—'मिथ्योत्तरं कारणं च स्यातामेकत्र चेदुभे। सत्यं चापि सहान्येन तत्र ग्राह्यं किमुत्तरम्॥' इत्युक्त्वोक्तम्—'यत्प्रभूतार्थविषयं यत्र वा स्यात्क्रियाफलम्। उत्तरं तत्र तज्ज्ञेयमसंकीर्णमतोऽन्यथा॥' संकीर्णं भवतीति शेषः। शेषा[3]पेक्षया ऐच्छिक[4]क्रमं भवतीत्यर्थः। तत्र प्रभूतार्थं यथा—'अनेन सुवर्णं रूपकशतं वस्त्राणि च गृहीतानी'त्यभियोगे; 'सत्यम्, सुवर्णं रूपकशतं च न गृहीतं, वस्त्राणि तु गृहीतानि प्रतिदत्तानि चे'ति। अत्र मिथ्योत्तरस्य प्रभूतविषयत्वादर्थिनः क्रियामादाय प्रथमं व्यवहारः प्रवर्तयितव्यः पश्चाद्वस्त्रविषयो व्यवहारः। एवं मिथ्याप्राङ्न्यायसंकरे कारणप्राङ्न्यायसंकरे च योजनीयम्। तथा तस्मिन्नेवाभियोगे, 'सत्यं सुवर्णं रूपकशतं च गृहीतं प्रतिदास्यामि, वस्त्राणि तु न गृहीतानि, गृहीतानि प्रतिदत्तानी'ति वा वस्त्रविषये पूर्वं पराजित इति चोत्तरे संप्रतिपत्तेर्भूरिविषयत्वेऽपि तत्र क्रियाभावान्मिथ्याद्युत्तरक्रियामादाय व्यवहारः प्रवर्तयितव्यः। यत्र तु मिथ्याकारणोत्तरयोः कृत्स्नपक्षव्यापित्वं यथा—शृङ्गग्राहिकतया कश्चिद्वदति 'इयं गौर्मदीया अमुकस्मिन्काले नष्टा, अद्यास्य गृहे दृष्टे'ति। अन्यस्तु 'मिथ्यैतत्, प्रदर्शित[5]कालात्पूर्वमेवास्मद्गृहे स्थिता मम गृहे जाता वे'ति वदति। इदं तावत्पक्षनिराकरणसमर्थत्वान्नानुत्तरम्। नापि मिथ्यैव; कारणोपन्यासात्। नापि कारणम्; एकदेशस्याप्यभ्युपगमाभावात्। तस्मात्सकारणं मिथ्योत्तरमिदम्—अत्र च प्रतिवादिनः क्रिया, 'कारणे प्रतिवादिनि' इति वचनात्॥ ननु 'मिथ्या क्रिया पूर्ववादे' इति पूर्ववादिनः कस्मात्क्रिया न भवति? तस्य शुद्धमिथ्याविषयत्वात्। 'कारणे प्रतिवादिनी'त्येतदपि कस्माच्छुद्धकारणविषयं न भवति। नैतत्; सर्वस्यापि कारणोत्तरस्य मिथ्यासहचरितरूपत्वाच्छुद्धकारणोत्तरस्याभावात्॥ प्रसिद्धकारणोत्तरे

---

१. कारणोत्तरे तु। २. प्रतिदास्यामि। ३. ऐच्छिकक्रममपेक्षाक्रमं भवतीत्यर्थः। ४. ऐच्छिकः क्रमो भवतीत्यर्थः। ५. एतत्प्रदर्शित।

प्रतिज्ञातार्थैकदेशस्याप्यभ्युपगमेनैकदेशस्य मिथ्यात्वम्—यथा 'सत्यं रूपकशतं गृहीतं न धारयामि, प्रतिदत्तत्वादि'ति। प्रकृतोदाहरणे तु प्रतिज्ञातार्थैकदेशस्याप्यभ्युपगमो नास्तीति विशेषः॥ एतच्च हारीतेन स्पष्टमुक्तम्—'मिथ्याकारणयोर्वापि ग्राह्यं कारणमुत्तरम्' इति। यत्र मिथ्याप्राङ्न्याययोः पक्षव्यापित्वं यथा—'रूपकशतं धारयती'त्यभियोगे, 'मिथ्यैतदस्मिन्नर्थे पूर्वमयं पराजितः' इति। अत्रापि प्रतिवादिन एव क्रिया; 'प्राङ्न्यायकारणोक्तौ तु प्रत्यर्थी निर्दिशेत्क्रियाम्' इति वचनात्, शुद्धस्य प्राङ्न्यायस्याभावादनुत्तरत्वप्रसङ्गात्, संप्रतिपत्तेरपि साध्यत्वेनोपदिष्टस्य पक्षस्य सिद्धत्वोपन्यासेन साध्यत्वनिराकरणादेवोत्तरत्वम्। यदा तु कारणप्राङ्न्यायसंकरः यथा—'शतमनेन गृहीत'मित्यभियुक्तः प्रतिवदति 'सत्यं गृहीतं प्रतिदत्तं चेत्यस्मिन्नेवार्थे प्राङ्न्यायेनायं पराजितः' इति। तत्र प्रतिवादिनो यथारुचीति न क्वचिद्वादिप्रतिवादिनोरेकस्मिन्व्यवहारे क्रियाद्वयप्रसङ्ग इति निर्णयः॥

एवमुत्तरे पत्रे निवेशिते साध्यसिद्धेः साधनायत्तत्वात्साधननिर्देशं कः कुर्यादित्यपेक्षित आह—

ततोऽर्थी लेखयेत् सद्यः प्रतिज्ञातार्थसाधनम्॥ ७॥

तत उत्तरानन्तरम्, अर्थी साध्यवान् सद्य एवानन्तरमेव प्रतिज्ञातार्थसाधनं लेखयेत्। प्रतिज्ञातः साध्यः स चासावर्थश्चेति प्रतिज्ञातार्थः तस्य साधनं साध्यतेऽनेनेति साधनं प्रमाणम्। अत्र 'सद्यो लेखयेत्' इति वदतोत्तराभिधाने कालविलम्बनमप्यङ्गीकृतमिति गम्यते। तच्चोत्तरत्र विवेचयिष्यते। अर्थी प्रतिज्ञातार्थसाधनं लेखयेदिति वदता यस्य साध्यमस्ति स प्रतिज्ञातार्थसाधनं लेखयेदित्युक्तं, अतश्च प्राङ्न्यायोत्तरे प्राङ्न्यायस्यैव साध्यत्वात्प्रत्यर्थ्येवार्थी जात इति स एव साधनं लेखयेत्। कारणोत्तरेऽपि कारणस्यैव साध्यत्वात्कारणवाद्येवार्थीति स एव लेखयेत्। मिथ्योत्तरे तु पूर्ववाद्येवार्थी स एव साधनं निर्दिशेत्। ततोऽर्थी लेखयेदिति वदता अर्थ्येव लेखयेन्नान्य इत्युक्तम्। अतश्च संप्रतिपत्त्युत्तरे साध्याभावेन भाषोत्तरवादिनोर्द्वयोरप्यर्थित्वाभावात्साधननिर्देश एव नास्तीति तावतैव व्यवहारः परिसमाप्यत इति गम्यते। एतदेव हारीतेन स्पष्टमुक्तम्—'प्राङ्न्यायकारणोक्तौ तु प्रत्यर्थी निर्दिशेत्क्रियाम्। मिथ्योक्तौ पूर्ववादी तु प्रतिपत्तौ न सा भवेत्॥' इति॥ ७॥

भाषा—प्रत्यर्थी द्वारा सुनी हुई बात और उसका उत्तर अर्थी की उपस्थिति में लिखावे। (उत्तर के बाद) अर्थी अभियोग को सिद्ध करने वाला प्रमाण तत्काल लिखावे॥ ७॥

ततः किमित्यत आह—

तत्सिद्धौ सिद्धिमाप्नोति विपरीतमतोऽन्यथा ।

तस्य साधनस्य प्रमाणस्य वक्ष्यमाणलिखितसाक्ष्यादिलक्षणस्य सिद्धौ निर्वृत्तौ सिद्धिं साध्यस्य जयलक्षणां प्राप्नोति । अतोऽस्मात्प्रकारादन्यथा प्रकारान्तरेण साधनासिद्धौ विपरीतं साध्यस्यासिद्धिं पराजयलक्षणमाप्नोतीति संबन्धः ॥

एवं व्यवहाररूपमभिधायोपसंहरति—

चतुष्पाद्व्यवहारोऽयं विवादेषूपदर्शितः ॥ ८ ॥

'व्यवहारान्नृपः पश्येत्' (व्य० १) इत्युक्तो व्यवहारः सोऽयमित्थं चतुष्पाच्चतुरंशकल्पनया विवादेषु ऋणादानादिषूपदर्शितो वर्णितः । तत्र 'प्रत्यर्थिनोऽग्रतो लेख्यं' इति भाषापादः प्रथमः । 'श्रुतार्थस्योत्तरं लेख्यम्' इत्युत्तरपादो द्वितीयः । ततः 'अर्थी लेखयेत्सद्यः' इति क्रियापादस्तृतीयः । 'तत्सिद्धौ सिद्धिमाप्नोति' इति साध्यसिद्धिपादश्चतुर्थः । यथोक्तम्—'परस्परं मनुष्याणां स्वार्थविप्रतिपत्तिषु । वाक्यन्यायाद्व्यवस्थानं व्यवहार उदाहृतः ॥ भाषोत्तरक्रियासाध्यसिद्धिभिः क्रमवृत्तिभिः । आक्षिप्तचतुरंशस्तु चतुष्पादभिधीयते ॥' इति । संप्रतिपत्युत्तरे तु साधनानिर्देशाद्भाषार्थस्यासाध्यत्वाच्च न साध्यसिद्धिलक्षणः पादोऽस्तीति द्विपात्त्वमेव । उत्तराभिधानानन्तरं सभ्यानामर्थिप्रत्यर्थिनोः कस्य क्रिया स्यादिति परामर्शलक्षणस्य प्रत्याकलितस्य योगीश्वरेण व्यवहारपादत्वेनानभिधानाद् व्यवहर्तृसंबन्धाभावाच्च न व्यवहारपादत्वमिति स्थितम् ॥ ८ ॥

भाषा—उस साधन या प्रमाण की सिद्धि होने पर वह विजयी होता है, अन्यथा हार जाता है । यह व्यवहार चतुष्पद (पूर्वोक्त चार स्तर वाला) होता है जो ऋणदान आदि के विवादों में प्रदर्शित किया गया है ॥८॥

इति साधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् ।[1]

असाधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम्[2]

एवं सर्वव्यवहारोपयोगिनीं व्यवहारमातृकामभिधायाधुना क्वचिद्व्यवहारविशेषे कंचिद्विशेषं दर्शयितुमाह—

अभियोगमनिस्तीर्य नैनं प्रत्यभियोजयेत् ।

---

१. इति व्यवहारमातृकप्राकरणम् ।   २. साधारणासाधारणव्यवहार ।

अभियुज्यत इति अभियोगोऽपराधः तमभियोगमनिस्तीर्यापरिहृत्य एनमभियोक्तारं न प्रत्यभियोजयेत् अपराधेन न संयोजयेत्। यद्यपि प्रत्यवस्कन्दनं प्रत्यभियोगरूपं तथापि स्वापराधपरिहारात्मकत्वान्नास्य प्रतिषेधविषयत्वम्। अतः स्वाभियोगानुपमर्दनरूपस्य प्रत्यभियोगस्यायं निषेधः। इदं प्रत्यर्थिनमधिकृत्योक्तम् ॥—

अथ अर्थिनं प्रत्याह—

अभियुक्तं च नान्येन नोक्तं विप्रकृतिं नयेत् ॥ ९ ॥

अभियुक्तं च नान्येनेति। अन्येनाभियुक्तमनिस्तीर्णाभियोगमन्योऽर्थी नाभियोजयेत्। किं च, उक्तमावेदनसमये यदुक्तं तद्विप्रकृतिं विरुद्धभावं न नयेत् न प्रापयेत्। एतदुक्तं भवति—यद्वस्तु येन रूपेणावेदनसमये निवेदितं तद्वस्तु तथैव भाषाकालेऽपि लेखनीयं, नान्यथेति ॥ ननु 'प्रत्यर्थिनोऽग्रतो लेख्यं यथावेदितमर्थिना' (व्य० ६) इत्यत्रैवेदमुक्तं, किमर्थं पुनरुच्यते 'नोक्तं विप्रकृतिं नयेत्' इति ? उच्यते,—'यथावेदितमर्थिना' (व्य० ६) इत्यनेनाऽऽवेदनसमये यद्वस्तु निवेदितं तदेव भाषासमयेऽपि तथैव लेखनीयम्। एकस्मिन्नपि पदे न वस्त्वन्तरमित्युक्तम्। यथा—'अनेन रूपकशतं वृद्ध्या गृहीतम्' इत्यावेदनसमये प्रतिपाद्य प्रत्यर्थिसंनिधौ भाषासमये 'वस्त्रशतं वृद्ध्या गृहीतम्' इति न वक्तव्यम्। तथा सति पदान्तरागमनेऽपि वस्त्वन्तरगमनाद्धीनवादी दण्ड्यः स्यादिति 'नोक्तं विप्रकृतिं नयेत्' इत्यनेनैकवस्तुत्वेऽपि पदान्तरगमनं निषिद्ध्यते। यथा 'रूपकशतं वृद्ध्या गृहीत्वाऽयं न प्रयच्छति' इत्यावेदनकालेऽभिधाय भाषाकाले 'रूपकशतं बलादपहृतवान्' इति वदतीति। तत्र वस्त्वन्तरगमनं निषिद्धम्, इह तु पदान्तरगमनं निषिद्ध्यत इति न पौनरुक्त्यम्। एतदेव स्पष्टीकृतं नारदेन—'पूर्वपादं परित्यज्य योऽन्यमालम्बते पुनः। पदसंक्रमणाज्ज्ञेयो हीनवादी स वै नरः ॥' इति। हीनवादी दण्ड्यो भवति, न प्रकृतादर्थाद्धीयते। अतः प्रत्यर्थिनोऽर्थिनश्च प्रमादपरिहारार्थमेवायम् 'अभियोगमनिस्तीर्य' इत्याद्युपदेशो न प्रकृतार्थसिद्ध्यसिद्धिविषयः। अत एव वक्ष्यति (व्य० १९) 'छलं निरस्य भूतेन व्यवहारान्नयेन्नृपः' इति। एतच्चार्थव्यवहारे द्रष्टव्यम्। मन्युकृते तु व्यवहारे प्रमादाभिधाने प्रकृतादपि व्यवहाराद्धीयत एव। यथाह नारदः—'सर्वेष्वर्थविवादेषु वाक्छले नावसीदति। परस्त्रीभूम्यृणादाने शास्योऽप्यर्थाच्च हीयते ॥' इति। अस्यार्थः—सर्वेष्वर्थविवादेषु न मन्युकृतेषु वाक्छले प्रमादाभिधानेऽपि नावसीदति न पराजीयते। न प्रकृतादर्थाद्धीयत इत्यर्थः। अत्रोदाहरणं परस्त्रीत्यादि। परस्त्रीभूम्यृणादाने प्रमादाभिधानेन दण्ड्योऽपि यथा प्रकृता-

दर्थाच्च हीयते, एवं सर्वेष्वर्थविवादेष्विति । अर्थविवादग्रहणान्मन्युकृतविवादेषु प्रमादाभिधाने प्रकृतादप्यर्थाद्धीयत इति गम्यते । यथा—'अहमनेन शिरसि पादेन ताडित' इत्यावेदनसमयेऽभिधाय भाषाकाले 'पादेन हस्ते ताडित' इति वदन्[1] केवलं दण्डयः । पराजीयते च ॥ ९ ॥

भाषा—अभियोग (अपराध) का उत्तर दिये विना अभियोग करने वाले पर उलटा अभियोग न करे । जिस पर किसी दूसरे ने अभियोग किया हो उस पर अभियोग न करे और न कही हुई बात को बाद में बदले ॥ ९ ॥

'अभियोगमनिस्तीर्य नैनं प्रत्यभियोजयेत्' (व्य० ९) इत्यस्यापवादमाह—

कुर्यात्प्रत्यभियोगं च कलहे साहसेषु च ।

कलहे वाग्दण्डपारुष्यात्मके साहसेषु विषशस्त्रादिनिमित्तप्राणव्यापादनादिषु प्रत्यभियोगसंभवे स्वाभियोगमनिस्तीर्याप्यभियोक्तारं प्रत्यभियोजयत् । नन्वत्रापि पूर्वपक्षानुपमर्दनरूपत्वेनानुत्तरत्वात्प्रत्यभियोगस्य प्रतिज्ञान्तरत्वे युगपद्व्यवहारासंभवः समानः । सत्यम् । नात्र युगपद्व्यवहाराय प्रत्यभियोगोपदेशः, अपि तु न्यूनदण्डप्राप्तये अधिकदण्डनिवृत्तये वा । तथा हि—'अनेनाहं ताडितः शप्तो वा' इत्यभियोगे, 'पूर्वमहमनेन ताडितः शप्तो वा' इति प्रत्यभियोगे दण्डाल्पत्वम् । यथाह नारदः (१५।९) 'पूर्वमाक्षारयेद्यस्तु नियतं स्यात्स दोषभाक् । पश्चाद्यः सोऽप्यसत्कारी पूर्वे तु विनयो गुरुः ॥' इति । यदा पुनर्द्वयोर्युगपत्ताडनादिप्रवृत्तिस्तत्राधिकदण्डनिवृत्तिः—'पारुष्ये साहसे वापि युगपत्संप्रवृत्तयोः । विशेषश्चेन्न लभ्येत विनयः स्यात्समस्तयोः ॥' इति । एवं युगपद्व्यवहारप्रवृत्त्यसंभवेऽपि कलहादौ प्रत्यभियोगोऽर्थवानृणादानादिषु तु निरर्थक एव ॥

अर्थिप्रत्यर्थिनोर्विधिमुक्त्वा ससभ्यस्य सभापतेः कर्तव्यमाह—

उभयोः प्रतिभूर्ग्राह्यः समर्थः कार्यनिर्णये ॥ १० ॥

उभयोरर्थिप्रत्यर्थिनोः सर्वेषु विवादेषु निर्णयस्य कार्यं कार्यनिर्णयः । आहिताग्न्यादिषु पाठात्कार्यशब्दस्य पूर्वनिपातः । निर्णयस्य[2] च यत्कार्यं साधितधनदानं दण्डदानं च तस्मिन्समर्थः प्रतिभूः प्रतिभवति तत्कार्यं तद्भवतीति प्रतिभूर्ग्राह्यः ससभ्येन सभापतिना । तस्यासंभवेऽर्थिप्रत्यर्थिनो रक्षणे पुरुषा नियोक्तव्याः । तेभ्यश्च ताभ्यां प्रतिदिनं वेतनं देयम् । यथाह कात्यायनः—'अथ चेत्प्रतिभूर्नास्ति कार्ययोग्यस्तु वादिनः । स रक्षितो दिनस्यान्ते दद्याद्भृत्याय वेतनम् ॥' इति ॥ १० ॥

---

१. वदन्केवलं । २. एवं सति । ३. निर्णयस्य कार्यं च ।

भाषा—किन्तु कलह और साहस के अपराध में अभियोग करने वाले पर भी अभियोग चला सकता है। दोनों कार्य के निर्णय (या निर्णय के कार्य) में समर्थ प्रतिभू (जमानतदार) लेना चाहिए ॥ १० ॥

अर्थिप्रत्यर्थिनोर्निर्णयकार्ये ससभ्येन सभापतिना प्रतिभूर्ग्राह्य इत्युक्तम्, किं तन्निर्णयकार्यं यस्मिन्प्रतिभूर्गृह्यत इत्यपेक्षित आह—[1]

निह्नवे भावितो दद्याद्धनं राज्ञे च तत्समम्।
मिथ्याभियोगी द्विगुणमभियोगाद्धनं वहेत् ॥ ११ ॥

अर्थिना निवेदितस्याभियोगस्य प्रत्यर्थिनाऽपह्नवे कृते यदाऽर्थिना साक्ष्यादिभिर्भावितोऽङ्गीकारितः प्रत्यर्थी तदा दद्याद्धनं प्रकृतमर्थिने राज्ञे च तत्सममपलापदण्डम्। अर्थार्थी भावयितुं न शक्नोति तदा स एव मिथ्याभियोगी जात इत्यभियोगादभियुक्तधनाद् द्विगुणं धनं[2] दद्यात् राज्ञे। प्राङ्न्याये प्रत्यवस्कन्दने चेदमेव योजनीयम्। तत्राथ्र्यैवाऽपह्नववादी[3] प्रत्यर्थिना भावितो राज्ञे प्रकृतधनसमं दण्डं दद्यात्। अथ प्रत्यर्थी प्राङ्न्यायं कारणं वा भावयितुं[4] न शक्नोति तदा स एव मिथ्याभियोगीति राज्ञे द्विगुणं धनं दद्यात्। अर्थिने च प्रकृतं धनम्। संप्रतिपत्त्युत्तरे तु दण्डाभाव एव। एतच्च ऋणादानविषयमेव। पदान्तरेषु तत्र तत्र दण्डाभिधानादधनव्यवहारेष्वस्यासंभवाच्च न सर्वविषयत्वम्। 'राज्ञाऽधमर्णिको दाप्यः' (व्य० ४२) इत्यस्य ऋणादानविषयत्वेऽपि तत्रैव विशेषं वक्ष्यामः। यद्वा,—एतदेव सर्वव्यवहारविषयत्वेनापि योजनीयम्। कथम्? अभियोगस्य निह्नवेऽभियुक्तेन कृते यद्यभियोक्त्रा साक्ष्यादिभिर्भावितोऽभियुक्तस्तदा तत्समं तत्र तत्र प्रतिपदोक्तमेव। च-शब्दोऽवधारणे। धनं दण्डं दद्याद्राज्ञ इत्यनुवादः। अथाभियोक्ता अभियोगं भावयितुं न शक्नोति तदा मिथ्याभियोगीति प्रतिपदोक्तं धनं दण्डं द्विगुणं दद्यादिति विधीयते। अत्रापि प्राङ्न्याये प्रत्यवस्कन्दने च पूर्ववदेव योजनीयम् ॥ ११ ॥

भाषा—अर्थी द्वारा लगाये गये अभियोग का निह्नव (छिपाने या अस्वीकार) करने पर प्रत्यर्थी (उस वाद के मूल्य के) समान धन राजा को दण्डस्वरूप देवे। और झूठा अभियोग चलाने वाला अभियोग के मूल्य से दूना धन देवे ॥ ११ ॥

---

१. प्रतिभूर्ग्राह्य इत्यत आह। २. धनं दद्याद्राज्ञे। ३. तत्राप्यर्थेऽपह्नववादी प्रत्य। ४. वक्तुं।

ततः 'अर्थी लेखयेत्सद्यः प्रतिज्ञातार्थसाधनम्' (व्य० ७) इति वदतोत्तरपाद-लेखने कालप्रतीक्षणं दर्शितं तत्रापवादमाह—

साहसस्तेयपारुष्यगोभिशापात्यये स्त्रियाम् ।
विवादयेत्सद्य एव कालोऽन्यत्रेच्छया स्मृतः ॥ १२ ॥

साहसं विषशस्त्रादिनिमित्तं प्राणव्यापादनादि, स्तेयं चौर्यम्, पारुष्यं वाग्दण्डपारुष्यं वक्ष्यमाणलक्षणम्, गौर्दोग्ध्री, अभिशापः पातकाभियोगः, अत्ययः प्राणधनातिपातस्तस्मिन्, द्वन्द्वैकवद्भावादेकवचनम् । स्त्रियां कुलस्त्रियां दास्यां च कुलस्त्रियां चारित्रविवादे, दास्यां स्वत्वविवादे, विवादयेत् उत्तरं दापयेत्, सद्य एव, न कालप्रतीक्षणं कुर्यात् । अन्यत्र विवादान्तरेषु, काल उत्तरदानकालः, इच्छयाऽर्थिप्रत्यर्थिसभ्यसभापतीनां स्मृत उक्तः ॥ १२ ॥

भाषा—साहस (विष, शस्त्र आदि से प्राण लेना), चोरी, कठोर भाषण, दूध वाली गौ के महापातक, प्राण और धन का नाश तथा स्त्रियों के (हरण या चरित्रविषयक) विवादों में तत्काल उत्तर देना चाहिए । अन्य विवादों में इच्छानुसार समय बताया गया है ॥ १२ ॥

दुष्टलक्षणमाह—

देशाद् देशान्तरं याति सृक्किणी परिलेढि च ।
ललाटं स्विद्यते चास्य मुखं वैवर्ण्यमेति च ॥ १३ ॥
परिशुष्यत्स्खलद्वाक्यो विरुद्धं बहु भाषते ।
वाक्चक्षुः पूजयति नो तथोष्ठौ निर्भुजत्यपि ॥ १४ ॥
स्वभावाद्विकृतिं गच्छेन्मनोवाक्कायकर्मभिः ।
अभियोगेऽर्थे[1] साक्ष्ये वा दुष्टः स परिकीर्तितः ॥ १५ ॥

मनोवाक्कायकर्मभिर्यः स्वभावादेव न भयादिनिमित्ताद्विकृतिं विकारं याति गच्छति असावभियोगे साक्ष्ये[2] वा दुष्टः परिकीर्तितः । तां विकृतिं विभज्य दर्शयति—देशाद्देशान्तरं याति न क्वचिदवतिष्ठते । सृक्किणी ओष्ठपर्यन्तौ परिलेढि जिह्वाग्रेण स्पर्शयति घट्टयतीति कर्मणो विकृतिः । अस्य ललाटं स्विद्यते स्वेदबिन्द्वङ्कितं[3] भवति, मुखं च वैवर्ण्यं विवर्णत्वं पाण्डुत्वं कृष्णत्वं वा एति गच्छतीति कायस्य विकृतिः । परिशुष्यत्स्खलद्वाक्यः परिशुष्यत्सगद्गदं स्खलद्व्यत्यस्तं वाक्यं यस्य स तथोक्तः । विरुद्धं पूर्वापरविरुद्धं बहु च भाषत इति वाचोविकृतिः । परोक्तां वाचं प्रतिवचनदानेन न पूजयति, चक्षुर्वा प्रतिवीक्षणेन न पूजयतीति मनसो विकृतेर्लिङ्गम् । तथा

---

१. योगे च. । २. न वा साक्ष्ये । ३. बिन्दुचितं ।

ओष्ठौ निर्भुजति वक्रयतीत्यपि कायस्य विकृतिः। एतच्च दोषसंभावनामात्र-मुच्यते, न दोषनिश्चयाय; स्वाभाविकनैमित्तिकविकारयोर्विवेकस्य [1]दुर्ज्ञेयत्वात्। अथ कश्चिन्निपुणमतिर्विवेकं प्रतिपद्येत, तथापि न पराजयनिमित्तं कार्यं भवति। नहि मरिष्यतो लिङ्गदर्शनेन मृतकार्यं कुर्वन्ति। एवमस्य पराजयो भविष्यतीति लिङ्गादवगतेऽपि न पराजयनिमित्तकार्यप्रसङ्गः॥ १३–१५॥

भाषा—जो इधर-उधर घूमता रहता है (एक स्थान पर स्थिर नहीं रहता) ओठों को जीभ से चाटता है, ललाट से पसीना निकलता है, जिसके मुख का रंग उतरा रहता है। जिसका मुँह बोलते समय सूखने लगता है, रुक-रुक कर वाणी निकलती है, अपने विरुद्ध बहुत सी बातें कहता है (पूर्व काल में कही हुई बात के विरोध में कह ले जाता है) पूछने पर तत्काल उत्तर नहीं देता; देखने पर सामने आँख उठा कर नहीं देखता, ओठों को टेढ़ा करता रहता है (काटा करता है) मन, वाणी, शरीर और कर्म के स्वभाव से परिवर्तित हो गया हो—इस प्रकार के व्यक्ति अभियोग और साक्ष्य में दुष्ट कहे गये हैं॥ १३–१५॥

संदिग्धार्थं स्वतन्त्रो यः साधयेद्यश्च निष्पतेत्।
न चाहूतो वदेत्किंचिद्धीनो दण्ड्यश्च स स्मृतः॥ १६॥

किंच, संदिग्धमर्थमधमर्णेनानङ्गीकृतमेव यः स्वतन्त्रः साधननिरपेक्षः साधयत्यासेधादिना स हीनो दण्ड्यश्च भवति। यश्च स्वयं संप्रतिपन्नं साधनेन वा साधितं याच्यमानो निष्पतेत् पलायेत, यश्चाभियुक्तो राज्ञा चाहूतः सदसि न किंचिद्वदति 'सोऽपि हीनो दण्ड्यश्च स्मृतः' इति संबध्यते। 'अभियोगे च साक्ष्ये वा दुष्टः स परिकीर्तितः' इति प्रस्तुतत्वाद्धीनपरिज्ञानमात्रमेव मा भूदिति 'दण्ड्य'ग्रहणम्। दण्ड्यस्य चापि 'शास्योऽप्यर्थान्न हीयत' इत्यर्थादहीनत्वदर्शनादत्र तन्मा भूदिति 'हीन' ग्रहणम्॥ १६॥

भाषा—जो सन्दिग्ध धन अपनी इच्छा से (विना किसी प्रमाण के) लेना चाहे और जो व्यक्ति स्वयं स्वीकार किये गये या प्रमाणित हुए धन के माँगने पर भाग जाय, जो अभियुक्त राजा द्वारा बुलाये जाने पर कुछ भी उत्तर न दे, वे सभी पराजित होते हैं और दण्ड के भागी कहे गये हैं॥१६॥

अथ यत्र द्वावपि युगपद्धर्माधिकरणं प्राप्तौ भाषावादिनौ। तद्यथा—कश्चित्प्रतिग्रहेण क्षेत्रं लब्ध्वा कंचित्कालमुपभुज्य कार्यवशात्सकुटुम्बो देशान्तरं गतः। अन्योऽपि तदेव क्षेत्रं प्रतिग्रहेण लब्ध्वा कंचित्कालमुपभुज्य देशान्तरं

1. दुर्ज्ञानत्वात्।

गतः। ततो द्वावपि युगपदागत्य 'मदीयमिदं क्षेत्रं मदीयमिदं क्षेत्रम्' इति परस्परं विवदमानौ धर्माधिकरणं प्राप्तौ तत्र कस्य क्रियेत्याकाङ्क्षित आह—

साक्षिषूभयतः सत्सु साक्षिणः पूर्ववादिनः।
पूर्वपक्षेऽधरीभूते भवन्त्युत्तरवादिनः॥ १७॥

उभयतः उभयोरपि वादिनोः साक्षिषु संभवत्सु साक्षिणः पूर्ववादिनः 'पूर्वस्मिन्काले मया प्रतिगृहीतमुपभुक्तं च' इति यो वदत्यसौ पूर्ववादी, न पुनर्यः पूर्वं निवेदयति तस्य साक्षिणः प्रष्टव्याः। यदा त्वन्य एवं वदति 'सत्यमनेन पूर्वं प्रतिगृहीतमुपभुक्तं च किंतु राज्ञेदमेव क्षेत्रमस्मादेव क्रयेण लब्ध्वा मह्यं दत्तम्' इति, 'अनेन वा प्रतिग्रहेण लब्ध्वा मह्यं दत्तम्' इति तत्र पूर्वपक्षोऽसाध्यतयाऽधरीभूतस्तस्मिन्पूर्वपक्षेऽधरीभूते उत्तरकालं प्रतिगृहीतमुपभुक्तं चेति वादिनः साक्षिणः प्रष्टव्या भवन्ति॥ इदमेव व्याख्यानं युक्ततरम्। मिथ्योत्तरे पूर्ववादिनः साक्षिणो भवन्ति॥ प्राङ्न्यायकारणोक्तौ पूर्वपक्षेऽधरीभूते उत्तरवादिनः साक्षिणो भवन्तीति व्याख्यानमयुक्तम्। अस्यार्थस्य 'ततोऽर्थी लेखयेत्सद्यः प्रतिज्ञातार्थसाधनम्' (व्य० ७) इत्यनेनैवोक्तत्वात्पुनरुक्तिप्रसङ्गात्। पूर्वव्याख्यानमेव स्पष्टीकृतं नारदेन—'मिथ्या क्रिया पूर्ववादे कारणे प्रतिवादिनि। प्राङ्न्यायविधिसिद्धौ तु जयपत्रं क्रिया भवेत्॥' इत्युक्त्वा—'द्वयोर्विवदतोरर्थे द्वयोः सत्सु च साक्षिषु। पूर्वपक्षो भवेद्यस्य भवेयुस्तस्य साक्षिणः॥' इति वदता। एतस्य च पूर्वव्यवहारविलक्षणत्वाद् भेदेनोपन्यासः॥ १७॥

भाषा—दोनों ओर के साक्षी आये हों तो पहले अपना पूर्वकाल में अधिकार बताने वाले साक्षी की बात सुने। यदि पूर्वपक्ष कमजोर हो तो बाद के समय में अपना अधिकार बताने वाला साक्षियों से पूछना चाहिए॥ १७॥

सपणश्चेद्विवादः स्यात्तत्र हीनं तु दापयेत्।
दण्डं च स्वपणं चैव धनिने धनमेव च॥ १८॥

अपि च, यदि विवादो व्यवहारः सपणः—पणनं पणः, तेन सह वर्तत इति सपणः, स्यात्तदा तत्र तस्मिन्सपणे व्यवहारे हीनं पराजितं पूर्वोक्तं दण्डं स्वकृतं पणं राज्ञे, अर्थिने च विवादास्पदीभूतं धनं दापयेद्राजा। यत्र पुनरेकः कोपावेशवशात् 'यद्यहमत्र पराजितो भवामि तदा पणशतं दास्यामि' इति प्रतिजानीते, अन्यस्तु न किंचित्प्रतिजानीते तत्रापि व्यवहारः प्रवर्तते। तस्मिंश्च प्रवृत्ते पणप्रतिज्ञावादी यदि हीयते तदा स एव सपणं दण्डं दाप्यः। अन्यस्तु पराजितो दण्डं दाप्यः, न पणम्; 'स्वपणं च' इति विशेषोपादानात्। यत्र त्वेकः

१. कारिणं। २. साक्षिषु सत्सु। ३. स्तस्मिन्पक्षे। ४. सपणं।

शतम्, अन्यस्तु पञ्चाशतं प्रतिजानीते तत्रापि पराजये स्वकृतमेव पणं दाप्यौ। 'सपणश्चेद्विवादः स्यात्' इति वदता पणरहितोऽपि विवादो दर्शित इति ॥ १८ ॥

भाषा—यदि सपण (शर्त लगाकर) विवाद हो रहा हो और पण की प्रतिज्ञा करने वाला हारता है तो उससे प्रतिज्ञात धन (राजा) दिलावे। वे दोनों ही यदि कम और अधिक धन की शर्त लगावें तो पराजय स्वीकार करने वाले से पण दिलवाये और धन के अधिकारी को धन दिलवाये ॥ १८ ॥

छलं निरस्य भूतेन व्यवहारान्नयेन्नृपः।
भूतमप्यनुपन्यस्तं हीयते व्यवहारतः ॥ १९ ॥

किंच, छलं प्रमादाभिहितं निरस्य परित्यज्य भूतेन वस्तुतत्त्वानुसारेण व्यवहारान्नयेदन्तं नृपः। यस्माद् भूतमपि वस्तुतत्त्वमपि अनुपन्यस्तमनभिहितं हीयते हानिमुपगच्छति व्यवहारतो व्यवहारेण साक्ष्यादिभिः। तस्माद् भूतानुसरणं कर्तव्यम्। यथार्थिप्रत्यर्थिनौ सत्यमेव वदतस्तथा सलभ्येन सभापतिना यतितव्यं सामादिभिरुपायैः। तथा सति साक्ष्यादिनैरपेक्ष्येणैव निर्णयो भवति॥ अथ सर्वथापि भूतानुसरणं न शक्यते कर्तुं, तथा सति साक्ष्यादिभिर्निर्णयः कार्य इत्यनुकल्पः। यथोक्तम्—'भूतच्छलानुसारित्वाद्द्विगतिः समुदाहृतः। भूतं तत्त्वार्थसंयुक्तं प्रमादाभिहितं छलम् ॥' इति। तत्र भूतानुसारी व्यवहारो मुख्यः, छलानुसारी त्वनुकल्पः। साक्षिलेख्यादिभिर्व्यवहारनिर्णये कदाचिद्वस्त्वनुसरणं भवति, कदाचिन्न भवति; साक्ष्यादीनां व्यभिचारस्यापि संभवात् ॥१९॥

भाषा—छल (प्रमाद से कही हुई बात) को छोड़कर राजा वस्तुस्थिति के अनुसार व्यवहारों का निर्णय करे। सच्ची बात होने पर भी उसे न कहने पर व्यवहार में पराजित ही होता है ॥ १९ ॥

'भूतमप्यनुपन्यस्तं हीयते व्यवहारतः' (व्य० १९) इत्यत्रोदाहरणमाह—

निह्नुते[3] लिखितं नैकमेकदेशे विभावितः।
दाप्यः सर्वं नृपेणार्थं न ग्राह्यस्त्वनिवेदितः ॥ २० ॥

नैकमनेकं सुवर्णरजतवस्त्रादि लिखितमभियुक्तमर्थिना प्रत्यर्थी यदि सर्वमेव निह्नुतेऽपजानीते तदार्थिनैकदेशे हिरण्ये साक्ष्यादिभिः प्रत्यर्थी भावितोऽङ्गीकारितः सर्वं रजताद्यर्थं पूर्वलिखितं दाप्योऽर्थिने नृपेण। न ग्राह्यस्त्वनिवेदितः 'पूर्वं भाषाकाले अनिवेदितः पश्चादर्थिना पूर्वं मया विस्मृतः' इति निवेद्यमानो

---

१. तस्मात्। २. तत्त्वार्थयुक्तं यत्प्रमादाभि। ३. निह्नवे लिखितेऽनेकमेकदेशविभा।

न ग्राह्यो नादर्तव्यो नृपेण। एतच्च न केवलं वाचनिकम्। एकदेशे प्रत्यर्थिनो मिथ्यावादित्वनिश्चयादेकदेशान्तरेऽपि मिथ्यावादित्वसंभवात्। एवं तर्कापरनामसंभावनाप्रत्ययानुगृहीतादस्मादेव योगीश्वरवचनात्सर्वं दापनीयं नृपेणेति निर्णयः। एवं च तर्कवाक्यानुसारेण निर्णये क्रियमाणे वस्तुनोऽन्यथात्वेऽपि व्यवहारदर्शिनां न दोषः। तथा च गौतमः (११।२३,२४)—'न्यायाधिगमे तर्कोऽभ्युपायस्तेनाभ्युह्य यथास्थानं 'गमयेत्' इत्युक्त्वा,'तस्माद्राजाचार्यावनिन्द्यौ' (११। ३२) इत्युपसंहरति। न चैकदेशभावितोऽनुपादेयवचनः प्रत्यर्थीत्येतावदिह गम्यते। 'एकदेशविभावितो नृपेण सर्वं दाप्यः' इति वचनात्॥ यत्तु कात्यायनेनोक्तम्— 'अनेकार्थाभियोगेऽपि यावत्संसाधयेद्धनी। साक्षिभिस्तावदेवासौ लभते साधितं धनम्॥' इति, तत्पुत्रादिदेयपित्राद्यृणविषयम्। तत्र हि बहूनर्थानभियुक्तः पुत्रादिर्न जानामीति प्रतिवदन्निह्नववादी न भवतीत्येकदेशविभावितोऽपि न क्वचिदसत्यवादीति 'निह्नुते लिखितं नैकम्' (व्य० १९) इति शास्त्रं तत्र न प्रवर्तते। निह्नवाभावादपेक्षिततर्काभावाच्च।—'अनेकार्थाभियोगेऽपि' इति कात्यायनवचनं तु सामान्यविषयं, विशेषशास्त्रस्य विषयं निह्नवोत्तरं परिहृत्याऽज्ञानोत्तरे प्रवर्तते॥ ननु 'ऋणादिषु विवादेषु स्थिरप्रायेषु निश्चितम्। ऊने वाऽप्यधिके वार्थे प्रोक्ते साध्यं न सिद्ध्यति॥' इति वदता कात्यायनेनानेकार्थाभियोगे साक्षिभिरेकदेशे भावितेऽधिके वा भाविते साध्यं सर्वमेव न सिद्ध्यतीत्युक्तम्। तथा सत्येकदेशे भाविते अभावितैकदेशसिद्धिः कुतस्त्या? उच्यते,–लिखितसर्वार्थसाधनतयोपन्यस्तैः साक्षिभिरेकदेशाभिधानेऽधिकाभिधाने वा कृत्स्नमेव साध्यं न सिध्यतीति तस्यार्थः। तत्रापि निश्चितं न सिद्ध्यतीति वचनात्पूर्ववत्संशय एवेति प्रमाणान्तरस्यावसरोऽस्त्येव; 'छलं निरस्य' इति नियमात्। साहसादौ तु सकलसाध्यसाधनतयोद्दिष्टैः साक्षिभिरेकदेशेऽपि साधिते कृत्स्नसाध्यसिद्धिर्भवत्येव; तावतैव साहसादेः सिद्धत्वात्, कात्यायनवचनाच्च—'साध्यार्थांशेऽपि गदिते साक्षिभिः सकलं भवेत्। स्त्रीसंगे साहसे चौर्ये यत्साध्यं परिकीर्तितम्॥' इति॥ २०॥

भाषा—अर्थी द्वारा लिखाई गई (सुवर्ण, रजत आदि) वस्तुओं में यदि प्रत्यर्थी अनेक का लेना अस्वीकार करता है और इसका एक भी वस्तु लेना सिद्ध हो जाता है तो राजा उससे सभी धन या वस्तुएँ दिलवाये। अर्थी को भी वे वस्तुएँ नहीं लेनी चाहिए, जिनके लिये उसने निवेदन न किया हो॥ २०॥

---

१. न दापयितव्यो। २. न्यायज्ञाने तर्क उपायस्तेन तर्केण न्यायमभ्युह्य निश्चित्य नाभ्युपेत्य। ३. तत्पुत्राद्यृण। ४. मीति वदन्। ५. उपदिष्टैः।

ननु 'निह्नुते लिखितं नैकम्' (व्य० २०) इतीयं स्मृतिस्तथा 'अनेकार्थाभियोगेऽपि' इतीयमपि स्मृतिरेव तत्रानयोः स्मृत्योः परस्परविरोधे सतीतरेतरबाधनादप्रामाण्यं कस्मान्न भवति, विषयव्यवस्था किमित्याश्रीयत इत्यत आह—

[1]स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान् व्यवहारतः।

यत्र स्मृत्योः परस्परतो[2] विरोधस्तत्र विरोधपरिहाराय विषयव्यवस्थापनादावुत्सर्गापवादादिलक्षणो न्यायो बलवान् समर्थः। स च न्यायः कुतः प्रत्येतव्य इत्यत आह—व्यवहारत इति। व्यवहाराद् वृद्धव्यवहारादन्वयव्यतिरेकलक्षणादवगम्यते। अतश्च प्रकृतोदाहरणेऽपि विषयव्यवस्थैव युक्ता। एवमन्यत्रापि विषयव्यवस्थाविकल्पादि यथासंभवं योज्यम्॥

एवं सर्वत्र च प्रसङ्गेऽपवादमाह—

अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः॥ २१॥

'धर्मशास्त्रानुसारेण' इत्यनेनैवौशनसाद्यर्थशास्त्रस्य निरस्तत्वात् धर्मशास्त्रान्तर्गतमेव राजनीतिलक्षणमर्थशास्त्रमिह विवक्षितम्। अर्थशास्त्रधर्मशास्त्रस्मृत्योर्विरोधे अर्थशास्त्राद्धर्मशास्त्रं बलवदिति स्थितिर्मर्यादा। यद्यपि समानकर्तृकतया अर्थशास्त्रधर्मशास्त्रयोः स्वरूपगतो विशेषो नास्ति तथापि प्रमेयस्य धर्मस्य प्राधान्यादर्थस्य चाप्राधान्याद्धर्मशास्त्रं बलवदित्यभिप्रायः। धर्मस्य च प्राधान्यं शास्त्रादौ दर्शितम्। तस्माद्धर्मशास्त्रार्थशास्त्रयोर्विरोधेऽर्थशास्त्रस्य बाध एव न विषयव्यवस्था, नापि विकल्पः। किमत्रोदाहरणम्? न तावत्—'गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्। आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥ नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन। प्रच्छन्नं[3] वा प्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति॥' (मनुः ८।३५०-५१) तथा—'आततायिनमायान्तमपि वेदान्तगं[4] रणे। जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत्।' इत्याद्यर्थशास्त्रम्, 'इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याकामतो द्विजम्। कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते॥' (मनुः ११।८९) इत्यादि धर्मशास्त्रं, तयोर्विरोधे धर्मशास्त्रं बलवदिति युक्तम्॥ अनयोरेकविषयत्वासंभवेन विरोधाभावान्न बलाबलचिन्ताऽवतरति। तथा हि—'शास्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते' (मनुः ८।३४८) इत्युपक्रम्य—'आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च संगरे। स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन्धर्मेण न[5] दण्डभाक्॥' (मनुः ८।३४९) इत्यात्मरक्षणे दक्षिणादीनां यज्ञोपकरणानां च रक्षणे युद्धे च स्त्रीब्राह्मणहिंसायां च—'आततायिनमकूट-

---

१. स्मृतेर्विरोधे। २. परस्परविरोध। ३. प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा। ४. वेदान्तपारगम्। ५. न दुष्यति।

शस्त्रेण हनन् दण्डभाक्' इत्युक्त्वा तस्यार्थवादार्थमिदमुच्यते 'गुरुं वा बालवृद्धौ वा' इत्यादि। गुर्वादीनत्यन्तावध्यानप्याततायिनो हन्यात्किमुतान्यानिति। 'वा'शब्दश्रवणात् 'अपि वेदान्तपारगम्' इत्यत्र 'अपि'शब्दश्रवणान्न गुर्वादीनां वध्यत्वप्रतीतिः; 'नाततायिवधे दोषोऽन्यत्र गोब्राह्मणवधात्' इति सुमन्तुवचनाच्च, 'आचार्यं च प्रवक्तारं मातरं पितरं गुरुम्। न हिंस्याद् ब्राह्मणान्गाश्च सर्वांश्चैव तपस्विनः॥' इति (४।१६२) मनुवचनाच्च। आचार्यादीनामाततायिनां हिंसाप्रतिषेधेनेदं वचनमर्थवन्नान्यथा; हिंसामात्रप्रतिषेधस्य सामान्यशास्त्रेणैव सिद्धत्वात्। 'नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन' इत्येतदपि ब्राह्मणादिव्यतिरिक्तविषयमेव। यतः 'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः॥' यथा—'उद्यतासिविषाग्निश्च शापोद्यतकरस्तथा। आथर्वणेन हन्ता च पिशुनश्चापि राजनि॥ भार्यातिक्रमकारी च रन्ध्रान्वेषणतत्परः। एवमाद्यान्विजानीयात्सर्वानेवाततायिनः॥ इति सामान्येनाततायिनो दर्शिताः। अतश्च ब्राह्मणादय आततायिनश्च आत्मादित्राणार्थं हिंसानभिसंधिना निवार्यमाणाः प्रमादाद्यदि विपद्येरंस्तत्र लघु प्रायश्चित्तं राजदण्डाभावश्चेति निश्चयः। तस्मादन्यदिहोदाहरणं वक्तव्यम्। तदुच्यते,—'हिरण्यभूमिलाभेभ्यो मित्रलब्धिर्वरा यतः। अतो यतेत तत्प्राप्तौ' (आ० ३५१) इत्यर्थशास्त्रम्।—'धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः' (व्य० १) इति धर्मशास्त्रम्। तयोः क्वचिद्विषये विरोधो भवति। यथा—'चतुष्पाद्व्यवहारे[1] प्रवर्तमाने एकस्य जयेऽवधार्यमाणे मित्रलब्धिर्भवति, न धर्मशास्त्रमनुसृतं भवति। अन्यस्य जयेऽवधार्यमाणे धर्मशास्त्रमनुसृतं भवति, मित्रलब्धिविपरीता, तत्रार्थशास्त्राद्धर्मशास्त्रं बलवत्। अत एव 'धर्मार्थसंनिपाते अर्थग्राहिण एतदेव' इति प्रायश्चित्तस्य गुरुत्वं दर्शितमापस्तम्बेन। एतदेवेति द्वादशवार्षिकं प्रायश्चित्तं परामृश्यते॥ २१॥

भाषा—जब दो स्मृतियों (धर्मशास्त्र के वचनों) में परस्पर विरोध हो तो व्यवहार से दिया गया न्याय बलवान् होता है। अर्थशास्त्र की अपेक्षा धर्मशास्त्र का प्रमाण अधिक सबल होता है, ऐसी ही व्यवस्था है॥ २१॥

'ततोऽर्थी लेखयेत्सद्यः प्रतिज्ञातार्थसाधनम्' (व्य० ७) इत्युक्तं, किं तत्साधनमित्यपेक्षित आह—

प्रमाणं लिखितं भुक्तिः साक्षिणश्चेति कीर्तितम्।
एषामन्यतमाभावे दिव्यान्यतममुच्यते॥ २२॥

प्रमीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेति प्रमाणम्। तच्च द्विविधं-मानुषं दैविकं चेति। तत्र मानुषं[2] प्रमाणं त्रिविधं-लिखितं भुक्तिः साक्षिणश्चेति। कीर्तितं मह-

---

१. चतुर्पाद्व्य। २. मानवं।

र्भिः। तत्र लिखितं द्विविधं-शासनं चीरकं चेति। शासनमुक्तलक्षणम्। चीरकं तु वक्ष्यमाणलक्षणम्। भुक्तिरुपभोगः। साक्षिणो वक्ष्यमाणस्वरूपप्रकाराः। ननु लिखितस्य साक्षिणां च शब्दाभिव्यक्तिद्वारेण शब्देऽन्तर्भावाद्युक्तं प्रामाण्यम्। भुक्तेस्तु कथं प्रामाण्यम्? उच्यते—भुक्तिरपि कैश्चिद्विशेषैर्युक्ता स्वत्वहेतुभूत-क्रयादिकमव्यभिचारादनुमापयन्त्यनुपपद्यमाना वा कल्पयन्तीत्यनुमानेऽर्थापत्तौ चान्तर्भवतीति प्रमाणमेव। एषां लिखितादीनां त्रयाणामन्यतमस्याप्यभावे दिव्यानां वक्ष्यमाणस्वरूपभेदानामन्यतमं जातिदेशकालद्रव्याद्यपेक्षया प्रमाण-मुच्यते। मानुषाभाव एव दिव्यस्य प्रामाण्यमस्मादेव वचनादवगम्यते; दिव्यस्य स्वरूपप्रामाण्ययोरागमगम्यत्वात्। अतश्च यत्र परस्परविवादेन युगपद्धर्माधि-कारिणं प्राप्तयोरेको मानुषीं क्रियामपरस्तु दैवीमवलम्बते तत्र मानुष्येव ग्राह्या। यथाह कात्यायनः—'यद्येको मानुषीं ब्रूयादन्यो ब्रूयात्तु दैविकीम्। मानुषीं तत्र गृह्णीयान्नतु दैवीं क्रियां नृपः॥' इति। यत्रापि प्रधानैकदेशसाधनं मानुषं संभ-वति तत्रापि न दैवमाश्रयणीयम्। यथा 'रूपकशतमनया वृद्ध्या गृहीत्वाऽयं न प्रयच्छती'त्यभियोगापह्नवे—'ग्रहणे साक्षिणः सन्ति नो संख्यायां वृद्धिविशेषे वा, अतो दिव्येन भावयामी'त्युक्ते तत्रैकदेशविभावितन्यायेनापि संख्यावृद्धि-विशेषसिद्धेर्न दिव्यस्यावकाशः। उक्तं च कात्यायनेन—'यद्येकदेशव्याप्तापि क्रिया विद्येत मानुषी। सा ग्राह्या नतु पूर्णापि[1] दैविकी वदतां[2] नृणाम्॥' इति। यत्तु—'गूढसाहसिकानां तु प्राप्तं दिव्यैः परीक्षणम्' इति, तदपि मानुषासंभव-कृतनियमार्थम्। यदपि नारदेनोक्तम्—'अरण्ये निर्जने रात्रावन्तर्वेश्मनि साहसे। न्यासस्यापह्नवे चैव दिव्या संभवति क्रिया॥' इति; तदपि मानुषासंभव एव। तस्मान्मानुषाभाव एव दिव्येन निर्णय इत्यौत्सर्गिकम्। अस्य चापवादो दृश्यते-'प्रक्रान्ते साहसे वादे पारुष्ये दण्डवाचिके। बलोद्भूतेषु कार्येषु साक्षिणो दिव्य-मेव च॥' इति। तथा लेख्यादीनामपि क्वचिन्नियमो दृश्यते। यथा—'पूगश्रेणी-गणादीनां या स्थितिः परिकीर्तिता। तस्यास्तु साधनं लेख्यं न दिव्यं न च साक्षिणः॥' तथा—'द्वारमार्गक्रियाभोगजलवाहादिषु क्रिया। भुक्तिरेव तु गुर्वी स्यान्न दिव्यं न च साक्षिणः॥' तथा—'दत्तादत्तेऽथ भृत्यानां स्वामिनां निर्णये सति। विक्रयादानसंबन्धे क्रीत्वा धनमनिच्छति॥ द्यूते समाह्वये चैव विवादे समुपस्थिते। साक्षिणः साधनं प्रोक्तं न दिव्यं न च लेख्यकम्॥' इति॥ २२॥

भाषा—लिखित, भुक्ति (उपभोग, कब्जा) और साक्षी-ये प्रमाण होते हैं। इनमें से कोई (प्रमाण) न होये तब दिव्यों (एक प्रकार के शपथ) को प्रमाण विहित किया गया है॥ २२॥

---

१. पूर्वापि। २. वदतां वादिनां, दैवी विवदतां।

उभयत्र प्रमाणसद्भावे प्रमाणगतबलाबलविवेके चासति पूर्वापरयोः कार्ययोः कस्य बलीयस्त्वमित्यत आह—

सर्वेष्वर्थविवादेषु[1] बलवत्युत्तरा क्रिया ।

ऋणादिषु सर्वेष्वर्थविवादेषु उत्तरा क्रिया—क्रियत इति क्रिया कार्यं बलवती । उत्तरकार्ये साधिते तद्वादी विजयी भवति, पूर्वकार्ये सिद्धेऽपि तद्वादी पराजीयते[2] । तद्यथा–कश्चिद् ग्रहणेन धारणं साधयति कश्चित्प्रतिदानेनाधारणम् , तत्र ग्रहणप्रतिपादनयोः प्रमाणसिद्धयोः प्रतिदानं बलवदिति प्रतिदानवादी जयी भवति । तथा पूर्वं द्विकं शतं गृहीत्वा कालान्तरे त्रिकं शतमङ्गीकृतवान् , तत्रोभयत्र प्रमाणसद्भावेऽपि त्रिकशतग्रहणं बलवत् । पश्चाद्भावित्वात्पूर्वाबाधेनानुत्पत्तेः । उक्तं च—'पूर्वाबाधेन नोत्पत्तिरुत्तरस्य हि सेत्स्यति' इति ॥

अस्यापवादमाह—

आधौ प्रतिग्रहे क्रीते पूर्वा तु बलवत्तरा ॥ २३ ॥

आध्यादिषु त्रिषु पूर्वमेव कार्यं बलवत् । तद्यथा—एकमेव क्षेत्रमन्यस्याऽऽधिं कृत्वा किमपि गृहीत्वा पुनरन्यस्याप्याधाय किमपि गृह्णाति; तत्र पूर्वस्यैव तद्भवति, नोत्तरस्य । एवं प्रतिग्रहे क्रये च ॥ नन्वाहितस्य तदानीमस्वत्वात्पुनराधानमेव न संभवति । एवं दत्तस्य क्रीतस्य च दानक्रयौ नोपपद्येते तस्मादिदं वचनमनर्थकम् । उच्यते—अस्वत्वेऽपि यदि मोहात्कश्चिल्लोभाद्वा पुनराधानादिकं करोति तत्र पूर्वं बलवदिति न्यायमूलमेवेदं वचनमित्यचोद्यम् ॥ २३ ॥

भाषा—(ऋण आदि) धन के सभी विवादों में उत्तर कार्य (बाद का प्रमाण) बलवान् होता है; किन्तु आधि (बन्धक, रेहन), दान और क्रय में पूर्व कार्य (अपना अधिकार पहले का बताने वाला पक्ष) ही बलवान होता है ॥ २३ ॥

भुक्तेः कैश्चिद्विशेषणैर्युक्तायाः प्रामाण्यं दर्शयिष्यन् कस्याश्चिद्भुक्तेः कार्यान्तरमाह—

पश्यतोऽब्रुवतो भूमेर्हानिर्विंशतिवार्षिकी ।
परेण भुज्यमानाया धनस्य दशवार्षिकी ॥ २४ ॥

परेणासंबद्धेन[1] भुज्यमानां भुवं धनं वा पश्यतः अब्रुवतः 'मदीयेयं भूः न त्वया भोक्तव्या' इत्यप्रतिषेधयतः तस्या भूमेर्विंशतिवार्षिकी अप्रतिरवं विंशतिवर्षोपभोगनिमित्ता हानिर्भवति । धनस्य तु हस्त्यश्वादेर्दशवार्षिकी हानिः । नन्वेतदनुपपन्नम्, नह्यप्रतिषेधात्स्वत्वमपगच्छति । अप्रतिषिद्धस्य[2] दान-

१. सर्वेष्वेव विवादेषु । २. जयति । १. असंबन्धेन । २. अप्रतिषेद्धस्य ।

विक्रयादिवत्स्वत्वनिवृत्तिहेतुत्वस्य लोकशास्त्रयोरप्रसिद्धत्वात्। नापि विंशतिवर्षोपभोगात्स्वत्वम्; उपभोगस्य स्वत्वे प्रमाणत्वात्, प्रमाणस्य च प्रमेयप्रत्यनुत्पादकत्वात्, रिक्थक्रयादिषु स्वत्वकारकहेतुष्वपाठाच्च। तथा हि—स्वामी रिक्थक्रयसंविभागपरिग्रहाधिगमेषु ब्राह्मणस्याधिकं लब्धं, क्षत्रियस्य वर्जित[1]म्, निर्विष्टं वैश्यशूद्रयोः (गौ. २।१०, ३९-४२) इत्यष्टावेव स्वत्वकारकहेतून् गौतमः पठति न भोगम्। न[2]चेदमेव वचनं विंशतिवर्षोपभोगस्य स्वत्वापत्तिहेतुत्वं प्रतिपादयतीति युक्तम्। स्वत्वस्य स्वत्वहेतूनां च लोकप्रसिद्धत्वेन शास्त्रैकसमधिगम्यत्वाभावात्। एतच्च विभागप्रकरणे निपुणतरमुपपादयिष्यते, गौतमवचनं तु नियमार्थम्॥ अपि च 'अनागमं तु यो भुङ्क्ते बहून्यब्दशतान्यपि। चौरदण्डेन तं पापं दण्डयेत्पृथिवीपतिः॥' इत्येतदनागमोपभोगस्य स्वत्वहेतुत्वे विरुध्यते। नच 'अनागमं तु यो भुङ्क्ते' इत्येतत्परोक्षभोगविषयम्, 'पश्यतोऽब्रुवत' इति प्रत्यक्षभोगविषयमिति युक्तं वक्तुम्। 'अनागमं तु यो भुङ्क्ते' इत्यविशेषाभिधानात्, नोपभोगे बलं कार्यमाहर्त्रा तत्सुतेन वा। पशुस्त्रीपुरुषादीनामिति धर्मो व्यवस्थितः॥' इति कात्यायनवचनाच्च। समक्षभोगे च हानिकारणाभावेन हानेरसंभवात्। न चैतन्मन्तव्यम्—आधिप्रतिग्रहक्रयेषु पूर्वस्याः क्रियायाः प्राबल्यादपवादेन भूविषये विंशतिवर्षोपभोगयुक्तायाः, धनविषये दशवर्षोपभोगयुक्तायाः, उ[3]त्तरस्याः क्रियायाः प्राबल्यमनेनोच्यत इति। यतस्तेषूत्तरैव क्रिया तत्वतो नोपपद्यते, स्व[4]मेव ह्याधेयं देयं विक्रेयं च भवति। न चाहितस्य दत्तस्य विक्रीतस्य वा स्वत्वमस्ति। [5]अस्वत्वदाने प्रतिग्रहे च दण्डः स्मर्यते—'अदेयं यश्च गृह्णाति यश्चादेयं प्रयच्छति। उभौ तौ चौरवच्छास्यौ दाप्यौ चोत्तमसाहसम्॥' इति। तथाऽऽध्यादीनां त्रयाणामपवादत्वेऽस्य श्लोकस्याधिसीमादीनामुत्तरश्लोकेऽपवादो नोपपद्यते। तस्माद्भूम्यादीनां हानिरनुपपन्नैव; नापि व्यवहारहानिः, यतः—'उपेक्षां कुर्वतस्तस्य तूष्णींभूतस्य तिष्ठतः। काले विपन्ने पूर्वोक्ते व्यवहारो न सिद्ध्यति॥' इति नारदेनोपेक्षालिङ्गाभावकृता व्यवहारहानिरुक्ता, नतु वस्त्वभावकृता। तथा मनुनापि (८।१४८)-'अजडश्चेदपौगण्डो विषये[6]श्चास्य भुज्यते। भग्नं तद्व्यवहारेण भोक्ता तद्धनमर्हति॥' इति व्यवहारतो भङ्गो दर्शितो न वस्तुतः। व्यवहारभङ्गश्चैव—भोक्ता किल वदति 'अजडोऽयमपौगण्डोऽबालोऽयमस्य संनिधौ विंशतिवर्षाण्यप्रतिरवं मया भुक्तं, तत्र बहवः साक्षिणः सन्ति; यद्यस्य स्वमन्यायेन मया भुज्यते तदायं किमित्येतावन्तं कालमुदास्ते' इति, तत्र चायं निरुत्तरो भवतीति। एवं निरुत्तर-

---

१. विजितं। विनिर्जितम्। २. नचेदं वचनं। ३. उत्तरविषयक्रियायाः। ४. स्वत्वविशिष्टमेव-स्वयमेव। ५. अस्वत्वस्य। ६. विषये चास्य भुञ्जते। ७. समत्वेनापवादासंभवात्।

स्यापि वास्तवो व्यवहारो भवत्येव। 'छलं निरस्य भूतेन व्यवहारान्नयेन्नृपः' (व्य० १९) इति नियमात् ॥ अथ मतम् । यद्यपि न वस्तुहानिर्नापि व्यवहारहानिस्तथापि पश्यतोऽप्रतिषेधतो व्यवहारहानिशङ्का भवतीति तन्निवृत्तये तूष्णीं न स्थातव्यमित्युपदिश्यत इति । तच्च न-स्मार्तकालाया भुक्तेर्हानिशङ्काकारणत्वाभावात्, तूष्णीं न स्थातव्यमित्येतावन्मात्राभिधित्सायां विंशतिग्रहणमविवक्षितं स्यात् । अथोच्यते-विंशतिग्रहणमूर्ध्वं पत्रदोषोद्भावननिराकरणार्थम् । यथाह कात्यायनः- 'शक्तस्य संनिधावर्थो यस्य लेख्येन भुज्यते। विंशतिवर्षाण्यतिक्रान्तं तत्पत्रं दोषवर्जितम् ॥' इति, तदपि न'-आध्यादिष्वपि विंशतेरूर्ध्वं पत्रदोषोद्भावननिराकरणस्य समत्वेनाधिसीमेत्याद्यपवादासंभवात् । यथाह कात्यायनः—'अथ विंशतिवर्षाणि आधिर्भुक्तः सुनिश्चितः। तेन लेख्येन तत्सिद्धिर्लेख्यदोषविवर्जिता ॥' तथा—सीमाविवादे निर्णीते सीमापत्रं विधीयते। तस्य दोषाः प्रवक्तव्या यावद्वर्षाणि विंशतिः ॥' इति । एतेन 'धनस्य दशवार्षिकी' इत्येतदपि प्रयुक्तम् । तस्मादस्य श्लोकस्य [1]'सत्योऽर्थो वक्तव्यः। उच्यते-भूमेर्धनस्य च फलहानिरिह विवक्षिता, न वस्तुहानिर्नापि व्यवहारहानिः। तथा हि- निराक्रोशं विंशतिवर्षोपभोगादूर्ध्वं यद्यपि स्वामी न्यायतः क्षेत्रं लभते, तथापि फलानुसरणं न लभते; अप्रतिषेधलक्षणात्स्वापराधादस्माच्च वचनात् । परोक्षभोगे तु विंशतेरूर्ध्वमपि फलानुसरणं लभत एव; 'पश्यतः' इति वचनात्। प्रत्यक्षभोगे च साक्रोशे, 'अब्रुवतः' इति वचनात् । विंशतेः प्राक् प्रत्यक्षे निराक्रोशे च लभते; विंशतिग्रहणात् । ननु तदुत्पन्नस्यापि कुलस्य स्वत्वात्तद्धानिरनुपपन्नैव । बाढम्, तस्य स्वरूपाविनाशेन तथैवावस्थाने यथा—तदुत्पन्नपूगपनसवृक्षादीनां यत्पुनस्तदुत्पन्नमुपभोगान्नष्टं तत्र स्वरूपनाशादेव स्वत्वनाशः । 'अनागमं तु यो भुङ्क्ते बहून्यब्दशतान्यपि। चौरदण्डेन तं पापं दण्डयेत्पृथिवीपतिः ॥' इत्यनेन वचनेन निष्क्रयरूपेण गणयित्वा चौरवत्तत्समं द्रव्यदानं प्राप्तं, 'हानिर्विंशतिवार्षिकी' इत्यनेनापोद्यते। राजदण्डः पुनरस्त्येव विंशतेरूर्ध्वमपि, अनागमोपभोगादपवादाभावाच्च । तस्मात्स्वाम्युपेक्षालक्षणस्वापराधादस्माच्च वचनाद्विंशतेरूर्ध्वं फलं नष्टं न लभत इति स्थितम् । एतेन 'धनस्य दशवार्षिकी, इत्येतदपि व्याख्यातम् ॥ २४ ॥

भाषा—स्वामी के देखते रहने और आपत्ति न करने पर भूमि दूसरे व्यक्ति द्वारा जोती जाने पर बीस वर्ष में उसके (स्वामी के) अधिकार से निकल जाती है और इस प्रकार धन का उपभोग दूसरा करे तो दस वर्ष के बाद स्वामी का अधिकार नष्ट हो जाता है ॥ २४ ॥

---

१. सत्योऽर्थो निर्दुष्टोऽर्थः सम्योऽन्योऽर्थो ।

अस्यापवादमाह—

आधिसीमोपनिक्षेपजडबालधनैर्विना ।
[1]तथोपनिधिराजस्त्रीश्रोत्रियाणां धनैरपि ॥ २५ ॥

आधिश्च सीमा च उपनिक्षेपश्च आधिसीमोपनिक्षेपाः । जडश्च बालश्च जडबालौ, तयोर्धने जडबालधने; आधिसीमोपनिक्षेपाश्च जडबालधने च आधिसीमोपनिक्षेपजडबालधनानि तैर्विना । उपनिक्षेपो नाम रूपकसंख्याप्रदर्शनेन रक्षणार्थं परस्य हस्ते निहितं द्रव्यम् । यथाह नारदः—'स्वं द्रव्यं यत्र विस्रम्भान्निक्षिपत्यविशङ्कितः । निक्षेपो नाम तत्प्रोक्तं व्यवहारपदं बुधैः ॥' इति उपनिधानमुपनिधिः । आध्यादिषु पश्यतोऽब्रुवतोऽपि भूमेर्विंशतेरूर्ध्वं धनस्य च दशभ्यो वर्षेभ्य ऊर्ध्वमप्युपचयहानिर्न भवति; पुरुषापराधस्य तथाविधस्याभावात्, उपेक्षाकारणस्य तत्र तत्र संभवात् । तथा हि—आधेरा[2]धित्वोपाधिक एव भोग इत्युपेक्षायामपि न पुरुषापराधः । सीम्नश्चिरकृततुषाङ्गारादिचिह्नैः सुसाध्यत्वादुपेक्षा संभवति; उपनिक्षेपोपनिध्योर्भुक्तेः प्रतिषिद्धत्वात्, प्रतिषेधातिक्रमोपभोगे च सोद[3]यफललाभादुपेक्षोपपत्तिः । जडबालयोर्जडत्वाद्बालत्वादुपेक्षा युक्तैव; राज्ञो बहुकार्यव्याकुलत्वात्, स्त्रीणामज्ञानादप्रागल्भ्याच्च । श्रोत्रियस्याध्ययनाध्यापनतदर्थविचारानुष्ठानव्याकुलत्वादुपेक्षा युक्तैव । तस्मादाध्यादिषु सर्वत्रोपेक्षाकारणसंभवात्समक्षभोगे निराक्रोशे च न कदाचिदपि फलहानिः॥२५॥

भाषा—आधि (बन्धक), सीमा, उपनिक्षेप, जड़ (मन्दबुद्धि), बालक का धन, उपनिधि, राजधन, स्त्रीधन, श्रोत्रिय का धन दूसरे द्वारा दस या बीस वर्ष तक भोगे जाने पर भी अपने स्वामी के अधिकार से हीन नहीं होते हैं ॥ २५ ॥

आध्यादिषु दण्डविशेषप्रतिपादनार्थमाह—

[4]आध्यादीनां विहर्तारं धनिने दापयेद्धनम् ।
दण्डं च तत्समं राज्ञे शक्त्यपेक्षमथापि वा ॥ २६ ॥

य आध्यादीनां श्रोत्रियद्रव्यपर्यन्तानां चिरकालोपभोगबलेनापहर्ता तं विवादास्पदीभूतं धनं स्वामिने दापयेदित्यनुवादः । दण्डं च तत्समं विवादास्पदीभूतद्रव्यसमं राज्ञे दापयेदिति विधिः । यद्यपि गृहक्षेत्रादिषु तत्समो दण्डो न संभवति तथापि—'मर्यादायाः प्रभेदे च सीमातिक्रमणे तथा' (व्य० १५५) इत्यादिर्वक्ष्यमाणो दण्डो द्रष्टव्यः । अथ तत्समदण्डेनापहर्तुर्दमनं न भवति बहु-

---

१. तस्योपनिधि । २. आधित्वनिमित्तकः ३. सोदयफलभावात् । ४. आध्यादीनां निहन्तारं दापयेद्धनिने धनम् ।

धनत्वेन, तदा शक्त्यपेक्षं धनं दापयेत्। यावता तस्य दर्पोपशमो भवति तावद्दापयेत्। 'दण्डो दमनादित्याहुस्तेनादान्तान्दमयेत्' (गौ० ११।२८) इति दण्डग्रहणस्य दमनार्थत्वात्। यस्य तु तत्समपि द्रव्यं नास्ति, सोऽपि यावता पीडयते तावद्दाप्यः। यस्य पुनः किमपि धनं नास्ति असौ धिग्दण्डादिना दमनीयः। तथा च मनुः (८।१२९)—'धिग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्वाग्दण्डं तदनन्तरम्। तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम् ॥' इति। वधदण्डोऽपि शारीरो ब्राह्मणव्यतिरिक्तानां दशधा दर्शितः। तथाह मनुः (८।१२५)—'दश स्थानानि दण्डस्य मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत्। त्रिषु वर्णेषु यानि स्युरक्षतो ब्राह्मणो व्रजेत् ॥ उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम्। चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च ॥' इति। एतेषां यन्निमित्तापराधस्तत्रैवोपस्थादौ निग्रहः कार्य इति द्रष्टव्यम्। कर्म वा कारयितव्यो बन्धनागारं वा प्रवेशयितव्यः। यथोक्तं कात्यायनेन—'धनदानासहं बुद्ध्वा स्वाधीनं कर्म कारयेत्। अशक्तौ बन्धनागारं प्रवेश्यो ब्राह्मणादृते ॥' इति। ब्राह्मणस्य पुनर्द्रव्याभावे कर्मवियोगादीनि प्रयोज्यानि। यथाह गौतमः (१२।४७)—'कर्मवियोगविख्यापननिर्वासनाङ्ककरणान्यवृत्तौ।' इति। नारदेनापि (१४।८)—'वधः सर्वस्वहरणं पुरान्निर्वासनाङ्कने। तदङ्गच्छेद इत्युक्तो दण्ड उत्तमसाहसः ॥ अविशेषेण सर्वेषामेष दण्डविधिः स्मृतः ॥' इत्युक्त्वोक्तम्—'वधादृते ब्राह्मणस्य, न वधं ब्राह्मणोऽर्हति ॥' इति।—शिरसो मुण्डनं दण्डस्तस्य निर्वासनं पुरात्। ललाटे चाभिशस्ताङ्कः प्रयाणं गर्दभेन च ॥' (नारदः १४।९) इति ॥ अङ्कने च व्यवस्था दर्शिता (९।२३७)—'गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः। स्तेये तु श्वपदं कार्यं ब्रह्महण्यशिराः पुमान् ॥' इति। यत्तु—'चक्षुर्निरोधो ब्राह्मणस्य' (२।२७।१७) इत्यापस्तम्बवचनं, ब्राह्मणस्य पुरान्निर्वासनसमये वस्त्रादिना चक्षुर्निरोधः कर्तव्य इति तस्यार्थः, न तु चक्षुरुद्धरणम्; 'अक्षतो ब्राह्मणो व्रजेत्' (मनुः ८।१२३) 'न शारीरो ब्राह्मणे दण्डः' (गौतमः १२।४६) इत्यादिमनुगौतमादिवचनविरोधादित्यलं प्रसङ्गेन ॥ २६ ॥

भाषा—आधि (बन्धक) आदि के हरण करने वाले से धन के अधिकारी को धन दिलवाये; उसके समान ही दण्ड राजा को दिलवाये अथवा उसकी शक्ति देखकर उसके अनुसार दण्ड निर्धारित करे ॥ २६ ॥

स्वत्वाव्यभिचारित्वेन भोगस्य स्वत्वे प्रामाण्यमुक्तम्। भोगमात्रस्य स्वत्वव्यभिचारित्वात्कीदृशो भोगः प्रमाणमित्यत आह—

आगमोऽभ्यधिको भोगाद्विना पूर्वक्रमागतात्।

---

१. आगमोऽत्यधिको।

स्वत्वहेतुः प्रतिग्रहक्रयादिः आगमः। स भोगादभ्यधिको बलीयान्; स्वत्वबोधने भोगस्यागमसापेक्षत्वात्। यथाह नारदः (१।८५)—'आगमेन विशुद्धेन भोगो याति प्रमाणताम्। अविशुद्धागमो भोगः प्रामाण्यं नैव गच्छति॥' इति। नच भोगमात्रात्स्वत्वागमः; परकीयस्याप्यपहारादिनोपभोगसंभवात्। अतएव—'भोगं केवलतो यस्तु कीर्तयेन्नागमं क्वचित्। भोगच्छलापदेशेन विज्ञेयः स तु तस्करः॥' (नारदः १।८६) इति स्मर्यते। अतश्च सागमो दीर्घकालो निरन्तरो निराक्रोशः प्रत्यर्थिप्रत्यक्षश्चेति पञ्चविशेषणयुक्तो भोगः प्रमाणमित्युक्तं भवति। तथा च स्मर्यते–'सागमो दीर्घकालश्चाविच्छेदोऽपरवोज्झितः[1]। प्रत्यर्थिसंनिधानश्च परिभोगोऽपि पञ्चधा॥' इति। क्वचिच्चागमनिरपेक्षस्यापि भोगस्य प्रामाण्यमित्याह—विना पूर्वक्रमागतादिति। पूर्वेषां पित्रादीनां त्रयाणां क्रमः पूर्वक्रमः, तेनागतो यो भोगस्तस्माद्विना। आगमोऽभ्यधिक इति संबन्धः। स पुनरागमादभ्यधिकः आगमनिरपेक्षः। प्रमाणमित्यर्थः। तत्राप्यागमोऽज्ञातनिरपेक्षो न सत्तानिरपेक्षः। सत्ता तु तेनैवावगम्यत इति बोद्धव्यम्। 'विना पूर्वक्रमागतात्' इत्येतच्च स्मार्तकालप्रदर्शनार्थम्। 'आगमोऽभ्यधिको भोगात्' इति च स्मार्तकालविषयम्। अतश्च स्मरणयोग्ये काले योग्यानुपलब्ध्या आगमाभावनिश्चयसंभवादागमज्ञानसापेक्षस्यैव भोगस्य प्रामाण्यम्। अस्मार्ते तु काले योग्यानुपलब्ध्यभावेनागमाभावनिश्चयासंभवादागमज्ञाननिरपेक्ष एव संततो भोगः प्रमाणम्। एतदेव स्पष्टीकृतं कात्यायनेन—'स्मार्तकाले क्रिया भूमेः सागमा भुक्तिरिष्यते। अस्मार्तेऽनुगमाभावात्क्रमात्त्रिपुरुषागता॥' इति। स्मार्तश्च कालो वर्षशतपर्यन्तः; 'शतायुर्वै पुरुषः' इति श्रुतेः। अनुगमाभावादिति योग्यानुपलब्ध्यभावेनागमाभावनिश्चयासंभवादित्यर्थः। अतश्च वर्षशताधिको भोगः संततोऽप्रतिरवः प्रत्यक्षश्चागमाभावे वाऽनिश्चितेऽव्यभिचारादाक्षिप्तागमः स्वत्वं गमयति। अस्मार्तेऽपि कालेऽनागमस्मृतिपरम्परायां सत्यां न भोगः प्रमाणम्। अत एव 'अनागमं तु यो भुङ्क्ते बहून्यब्दशतान्यपि॥ चौरदण्डेन तं पापं दण्डयेत्पृथिवीपतिः॥'इत्युक्तम्। नच 'अनागमं तु यो भुङ्क्ते' इत्येकवचननिर्देशात् 'बहून्यब्दशतान्यपि' इति 'अपि'शब्दप्रयोगात्प्रथमस्यैव[2] पुरुषस्य निरागमे चिरकालोपभोगेऽपि दण्डविधानमिति मन्तव्यम्। द्वितीये वा पुरुषे निरागमस्य भोगस्य प्रामाण्यप्रसङ्गात्। न चैतदिष्यते—'आदौ तु कारणं दानं मध्ये भुक्तिस्तु सागमा' (नारदः २।८७) इति नारदस्मरणात्। तस्मात्सर्वत्र निरागमोपभोगे 'अनागमं तु यो भुङ्क्ते'इत्येतद् द्रष्टव्यम्। यदपि 'अन्यायेनापि यद्भुक्तं पित्रा पूर्वतरैस्त्रिभिः। न तच्छक्यमपाहर्तुं क्रमात्त्रिपुरुषागतम्॥' इति, तदपि पित्रा सह

---

१. अपरिवर्जित। २. प्रथमस्य पुरुषस्य।

पूर्वतरैस्त्रिभिरिति योज्यम्। तत्रापि 'क्रमात्त्रिपुरुषागत'मित्यस्मार्तकालोपभोगलक्षणम्। त्रिपुरुषविवक्षायामेकवर्षाभ्यन्तरेऽपि पुरुषत्रयातिक्रमसंभवात्, द्वितीये वर्षे निरागमस्य भोगस्य प्रामाण्यप्रसंगः। तथा सति 'स्मार्तकाले क्रिया भूमेः सागमा भुक्तिरिष्यते' इति स्मृतिविरोधः, 'अन्यायेनापि यद्भुक्तम्' इत्येतच्चान्यायेनापि भुक्तमपहर्तुं न शक्यं, किं पुनरन्यायानिश्चये इति व्याख्येयम्; 'अपि' शब्दश्रवणात्। यच्चोक्तं हारीतेन—'यद्विनाऽऽगममत्यन्तं [1]भुक्तं पूर्वैस्त्रिभिर्भवेत्। न तच्छक्यमपाहर्तुं क्रमात्त्रिपुरुषागतम्॥' इति, तत्राप्यत्यन्तन्तमागमं विनेति। अत्यन्तमुपलभ्यमानमागमं विनेति व्याख्येयं, न पुनरागमस्वरूपं विनेति। आगमस्वरूपाभावे भोगशतेनापि न स्वत्वं भवतीत्युक्तम्। 'क्रमात्त्रिपुरुषागतमि'त्येतदुक्तार्थम्। ननु स्मरणयोग्ये काले भोगस्यागमसापेक्षस्य प्रामाण्यमनुपपन्नम्। तथा हि—यद्यागमः प्रमाणान्तरेणावगतस्तदा तेनैव स्वत्वावगमान्न भोगस्य स्वत्वं आगमे वा प्रामाण्यम्। अथ प्रमाणान्तरेणागमो नावगतः कथं तद्विशिष्टो भोगः प्रमाणम्? उच्यते,—प्रमाणान्तरेणावगतागमसहित एव निरन्तरो भोगः कालान्तरे स्वत्वं गमयति। अवगतोऽप्यागमो भोगरहितो न कालान्तरे स्वत्वं गमयितुमलम्। मध्ये दानविक्रयादिना स्वत्वापगमसंभवादिति सर्वमनवद्यम्॥

आगमसापेक्षो भोगः प्रमाणमित्युक्तम्, आगमस्तर्हि भोगनिरपेक्ष एव प्रमाणमित्यत आह—

आगमेऽपि बलं नैव भुक्तिः स्तोकापि यत्र नो॥ २७॥

यस्मिन्नागमे स्वल्पापि भुक्तिर्भोगो नास्ति तस्मिन्नागमे बलं संपूर्णं नैवास्ति। अयमभिसंधिः—स्वस्वत्वनिवृत्तिः परस्वत्वापादनं च दानम्; परस्वत्वापादनं च परो यदि स्वीकरोति तदा संपद्यते, नान्यथा। स्वीकारश्च त्रिविधः—मानसः, वाचिकः, कायिकश्चेति। तत्र मानसो ममेदमिति संकल्परूपः। वाचिकस्तु ममेदमित्याद्यभिव्याहारोल्लेखी सविकल्पकः प्रत्ययः। [2]कायिकः पुनरुपादानाभिमर्शनादिरूपोऽनेकविधः। तत्र च नियमः स्मर्यते—'दद्यात्कृष्णाजिनं पृष्ठे गां पुच्छे करिणं करे। केसरेषु तथैवाश्वं दासीं शिरसि दापयेत्॥' इति। आश्वलायनोऽप्याह—'अनुमन्त्रयेत प्राण्यभिमृशेदप्राणि कन्यां च' इति। तत्र हिरण्यवस्त्रादावुदकदानानन्तरमेवोपादानादिसंभवात् त्रिविधोऽपि स्वीकारः संपद्यते। क्षेत्रादौ पुनः फलोपभोगव्यतिरेकेण कायिकस्वीकारासंभवात्स्वल्पेनाप्युपभोगेन भवितव्यम्; अन्यथा दानक्रयादेः संपूर्णता न भवतीति फलोपभोगलक्षणकायिक-

---

१. भुक्तं पूर्वतरैस्त्रिभिः। २. कायिकस्तु।

स्वीकारविकल आगमो दुर्बलो भवति तत्सहितादागमात्। एतच्च द्वयोः पूर्वापरकालापरिज्ञाने। पूर्वापरकालपरिज्ञाने तु विगुणोऽपि पूर्वकालागम एव बलीयानिति। अथवा—'लिखितं साक्षिणो भुक्तिः प्रमाणं त्रिविधम्' इत्युक्तं एतेषां समवाये कुत्र यस्य वा प्राबल्यमित्यत्रेदमुपतिष्ठते—'आगमोऽभ्यधिको भोगाद्विना पूर्वक्रमागतात्। आगमेऽपि बलं नैव भुक्तिः स्तोकापि यत्र नो॥' इति। अयमर्थः—आद्ये पुरुषे साक्षिभिर्भावित आगमो भोगादप्यधिको बलवान्। पूर्वक्रमागताद्भोगाद्विना। स पुनः पूर्वक्रमागतो भोगश्चतुर्थे पुरुषे लिखितेन भावितादागमाद्बलवान्। मध्यमे तु भोगरहितादागमात्स्तोकभोगसहितोऽप्यागमो बलवानिति। एतदेव नारदेन स्पष्टीकृतम्—'आदौ तु कारणं दानं मध्ये भुक्तिस्तु सागमा। कारणं भुक्तिरेवैका संतता या चिरन्तनी॥' इति॥ २७॥

भाषा—तीन पीढ़ी पहले से चले आते हुए भोग (कब्जे) की अपेक्षा आगम (लेख) अधिक प्रामाणिक होता है। (आगम-सापेक्ष भोग ही प्रमाण होता है। किन्तु जहाँ थोड़ा भी भोग नहीं होता वहाँ आगम में वो दम नहीं रह जाता है)॥ २७॥

'पश्यतोऽब्रुवत' (व्य० २४) इत्यत्र विंशतिवर्षोपभोगादूर्ध्वं भूमेर्धनस्यापि दशवर्षोपभोगादूर्ध्वं फलानुसरणं न भवतीत्युक्तम्, तत्र फलानुसरणवद्दण्डानुसरणमपि न भविष्यतीत्याशङ्क्य पुरुषव्यवस्थया च दण्डव्यवस्थां दर्शयितुमाह—

आगमस्तु कृतो येन सोऽभियुक्तस्तमुद्धरेत्।
न तत्सुतस्तत्सुतो वा भुक्तिस्तत्र गरीयसी॥ २८॥

येन पुरुषेण भूम्यादेरागमः स्वीकारः कृतः स पुरुषः 'कुतस्ते क्षेत्रादिकम्' इत्यभियुक्तस्तमागमं प्रतिग्रहादिकं[2] लिखितादिभिरुद्धरेत् भावयेत्। अनेन चाद्यस्य पुरुषस्यागममनुद्धरतो दण्ड इत्युक्तं भवति। तत्सुतो द्वितीयोऽभियुक्तो नागममुद्धरेत्, किन्तु अविच्छिन्नाऽप्रतिरव-समक्ष भोगम्। अनेन चागममनुद्धरतो द्वितीयस्य न दण्डोऽपि तु विशिष्टं भोगमनुद्धरतो इति प्रतिपादितम्। तत्सुतस्तृतीयो नागमं नापि विशिष्टं भोगमुद्धरेत्, अपि तु क्रमागतं भोगमात्रम्। अनेनापि तृतीयस्य क्रमायातभोगानुद्धरणे दण्डो नागमानुद्धरणे न विशिष्टभोगानुद्धरणे चेत्यभिहितम्। तत्र तयोर्द्वितीयतृतीययोर्भुक्तिरेव गरीयसी। तत्रापि द्वितीये गुरुस्तृतीये गरीयसीति विवेक्तव्यम्। त्रिष्वप्यागमानुद्धरणेऽर्थहानिः समानैव, दण्डे तु विशेष इति तात्पर्यार्थः। उक्तं च हारीतेन—'आगमस्तु

1. सहितादागमाभावात्; दनुमन्त्रयेत्। 2. प्रतिग्रहादेरिति।

कृतो येन स दण्ड्यस्तमनुद्धरन् । न तत्सुतस्तत्सुतो वा भोग्यहानिस्तयोरपि ॥'
इति ॥ २८ ॥

भाषा—जिस व्यक्ति ने आगम (लेख) करवाया है वह अभियोग चलाये जाने पर उसे प्रस्तुत करे । उसके पुत्र या पौत्रों को वह आगम प्रस्तुत करने का अधिकार नहीं रहता, उनके संबन्ध में भोग ही प्रमाण होता है ॥२८॥

अस्मार्तकालोपभोगस्यागमज्ञाननिरपेक्षस्य प्रामाण्यमुक्तं 'विना पूर्वक्रमागतात्' (व्य० २७) इत्यत्र, तस्यापवादमाह—

योऽभियुक्तः परेतः स्यात्तस्य रिक्थी तमुद्धरेत् ।
न तत्र कारणं भुक्तिरागमेन विना कृता ॥ २९ ॥

यदा पुनराहर्त्रादिरभियुक्तोऽकृतव्यवहारनिर्णय एव परेतः स्यात् परलोकं गतो भवेत्तदा तस्य रिक्थी पुत्रादिस्तमागममुद्धरेत् । यस्मात्तत्र तस्मिन्व्यवहारे भुक्तिरागमरहिता साक्ष्यादिभिः साधितापि न प्रमाणम् ; पूर्वाभियोगेन भोगस्य सापवादत्वात् । नारदेनाप्युक्तम् (१।९३)—'तथा[1]रूढविवादस्य प्रेतस्य व्यवहारिणः । पुत्रेण सोऽर्थः संशोध्यो न तं भोगो निवर्तयेत्[2] ॥' इति ॥ २९ ॥

भाषा—यदि अभियुक्त (अभियोग चलते समय ही) मर जावे तब उसके उत्तराधिकारी (पुत्र इत्यादि) उस आगम को प्रस्तुत करें । उस स्थिति में विना आगम के भोग प्रमाण नहीं माना जाता ॥ २९ ॥

अनिर्णीतव्यवहारे व्यवहर्तरि प्रेते व्यवहारो न निवर्तत इति स्थितम् । निर्णीतेऽपि व्यवहारे, स्थिते च व्यवहर्तरि व्यवहारः क्वचित्प्रवर्तते क्वचिन्न प्रवर्तत इति व्यवस्थासिद्धये व्यवहारदर्शिनां बलाबलमाह—

नृपेणाधिकृताः पूगाः श्रेणयोऽथ कुलानि च ।
पूर्वं पूर्वं गुरु ज्ञेयं व्यवहारविधौ नृणाम् ॥ ३० ॥

नृपेण राज्ञा अधिकृताः व्यवहारदर्शने नियुक्ताः—'राज्ञा सभासदः कार्याः' (व्य० २) इत्यादिनोक्ताः पूगाः समूहाः, भिन्नजातीनां भिन्नवृत्तीनां एकस्थाननिवासिनां,–यथा ग्रामनगरादयः, श्रेणयो नानाजातीनामेकजातीनामप्येककर्मोपजीविनां संघाताः,–यथा हेडाबुकादीनां ताम्बूलिककुविन्दचर्मकारादीनां च, कुलानि ज्ञातिसंबन्धिबन्धूनां समूहाः, एतेषां नृपाधिकृतादीनां चतुर्णां पूर्वं पूर्वं यद्यत्पूर्वं पठितं तत्तद्गुरु बलवज्ज्ञेयं वेदितव्यम् । नृणां व्यवहर्तॄणां, व्यवहारविधौ व्यवहारदर्शनकार्ये । एतदुक्तं भवति—नृपाधिकृतैर्निर्णीते व्यवहारे पराजितस्य यद्यप्यसंतोषः कुदृष्टिबुद्ध्या भवति, तथापि न पूगादिषु पुनर्व्यवहारो भवति ।

१. नवारूढः । २. निवारयेत् ।

एवं पूगनिर्णीतेऽपि न श्रेण्यादिगमनम्। तथा श्रेणिनिर्णीते कुलगमनं न भवति। कुलनिर्णीते तु श्रेण्यादिगमनं भवति। श्रेणिनिर्णीते पूगादिगमनम्। पूगनिर्णीते नृपाधिकृतगमनं भवतीति। नारदेन पुनर्नृपाधिकृतैर्निर्णीतेऽपि व्यवहारे नृपगमनं भवतीत्युक्तम्—'कुलानि श्रेणयश्चैव गणाश्चाधिकृता [1]नृपाः। प्रतिष्ठा व्यवहाराणां गुर्वेषामुत्तरोत्तरम्' इति। तत्र च नृपगमने सोत्तर[2]सभ्येन राज्ञा पूर्वैः सभ्यैः सपणव्यवहारे निर्णीयमाने यद्यसौ कुदृष्टवादी पराजितस्तदाऽसौ दण्ड्यः। अथासौ जयति तदाऽधिकृताः सभ्या दण्ड्याः॥ ३०॥

भाषा—मनुष्यों का व्यवहार देखने के कार्य में राजा द्वारा नियुक्त व्यक्ति, पूग (समूह), एक कार्य करने वालों की बिरादरी और जाति तथा संबन्धियों का समूह (कुल) को क्रमशः श्रेष्ठ समझना चाहिए॥ ३०॥

दुर्बलैर्व्यवहारदर्शिभिर्दृष्टो व्यवहारः परावर्तते, प्रबलदृष्टस्तु न निवर्तत इत्युक्तम्; इदानीं प्रबलदृष्टोऽपि व्यवहारः कश्चिन्निवर्तत इत्याह—

> ब[3]लोपाधिविनिर्वृत्तान्व्यवहारान्निवर्तयेत्।
> स्त्रीनक्तमन्तरागारबहिःशत्रुकृतांस्तथा॥ ३१॥

बलेन बलात्कारेण [4]उपाधिना भयादिना विनिर्वृत्तान्निष्पन्नान्व्यवहारान्निवर्तयेत्। तथा स्त्रीभिः, नक्तं रात्रावस्त्रीभिरपि, अन्तरागारे गृहाभ्यन्तरे, बहिर्ग्रामादिभ्यः, शत्रुभिश्च कृतान् व्यवहारान् 'निवर्तयेत्' इति संबन्धः॥ ३१॥

भाषा—बलपूर्वक एवं भय आदि द्वारा निष्पन्न व्यवहारों एवं स्त्रियों के साथ, रात्रि को, घर के भीतर, ग्राम आदि के बाहर और शत्रुओं द्वारा किये गये व्यवहारों पर पुनः विचार करे॥ ३१॥

असिद्धव्यवहारिण आह—

> मत्तोन्मत्तार्तव्यसनिबालभीतादियोजितः।
> [5]असंबद्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिद्ध्यति॥ ३२॥

अपि च, मत्तो मदनीयद्रव्येन, उन्मत्त उन्मादेन पञ्चविधेन वातपित्तश्लेष्मसंनिपातग्रहसंभवेनोपसृष्टः, आर्तो व्याध्यादिना, व्यसनमिष्टवियो[6]गोऽनिष्टप्राप्तिजनितं दुःखं, तद्वान्व्यसनी; बालो व्यवहारायोग्यः, भीतोऽरातिभ्यः, 'आदि' ग्रहणात्पुरराष्ट्रादिविरुद्धः।—'पुरराष्ट्रविरुद्धश्च यश्च राज्ञा विसर्जितः। अनादेयो भवेद्वादो धर्मविद्भिरुदाहृतः॥' इति मनुस्मरणात्। एतैर्योजितः कृतो

---

१. नृपैः। २. सोत्तरेति उत्तरश्चासौ सभ्यश्चेति तत्सहितेन-स्वोत्तर। ३. बलोपधि। तत्रोपधिः कैतवं ४. उपधिना भयेन। ५. असंबन्धकृतः। ६. वियोगोऽनिष्टप्राप्तिस्तज्जनितं।

व्यवहारो न सिद्धयति। अनियुक्तासंबद्धकृतोऽपि व्यवहारो न सिद्धयतीति संबन्धः। यत्तु स्मरणम्—'गुरोः शिष्ये पितुः पुत्रे दम्पत्योः स्वामिभृत्ययोः। विरोधे तु मिथस्तेषां व्यवहारो न सिद्धयति ॥' इति, तदपि गुरुशिष्यादीनामात्यन्तिकव्यवहारप्रतिषेधपरं न भवति; तेषामपि कथंचिद्व्यवहारस्येष्टत्वात्। तथा हि—'शिष्यादिशिष्टिरवधेन शक्तौ रज्जुवेणुविदलाभ्यां तनुभ्यां, अन्येन घ्नन् राज्ञा शास्यः' (२।४२।४) इति गौतमस्मरणात्। 'नोत्तमाङ्गे कथंचन' (८।३००) इति मनुस्मरणाच्च। यदि गुरुः कोपावेशवशान्महता दण्डेनोत्तमाङ्गे ताडयति, तदा स्मृतिव्यपेतेन मार्गेणाधर्षितः शिष्यो यदि राज्ञे निवेदयति, तदा भवत्येव व्यवहारपदम् ॥ तथा—'भूर्या पितामहोपात्ता' (व्य० १२१) इत्यादिवचनात्पितामहोपात्ते भूम्यादौ पितापुत्रयोः स्वाम्ये समाने, यदि पिता विक्रयादिना पितामहोपात्तं भूम्यादि नाशयति तदा पुत्रो यदि धर्माधिकरणं[1] प्रवेशयति तदा पितापुत्रयोरपि भवत्येव व्यवहारः ॥ यथा—'दुर्भिक्षे धर्मकार्ये च व्याधौ संप्रतिरोधके। गृहीतं स्त्रीधनं भर्ता नाकामो दातुमर्हति ॥' इति स्मरणात्, दुर्भिक्षादिव्यतिरेकेण यदि स्त्रीधनं भर्ता व्ययीकृत्य विद्यमानधनोऽपि याच्यमानो न ददाति तदा दम्पत्योरपीष्यत एव व्यवहारः। तथा भक्तदासस्य स्वामिना सह व्यवहारं[2] वक्ष्यति। गर्भदासस्यापि, गर्भदासादीनधिकृत्य—'यश्चैषां स्वामिनं कश्चिन्मोचयेत्प्राणसंशयात्। दासत्वात्स विमुच्येत पुत्रभागं लभेत च ॥' इति नारदोक्तत्वात्, तदमोचने पुत्रभागादाने च स्वामिना सह व्यवहारः केन वार्यते? तस्माद्दृष्टादृष्टयोः श्रेयस्करो न भवति गुर्वादिभिर्व्यवहार इति प्रथमं शिष्यादयो निवारणीयाः राज्ञा ससभ्येनेति 'गुरोः शिष्ये' इत्यादिश्लोकस्य तात्पर्यार्थः। अत्यन्तनिर्बन्धे तु शिष्यादीनामप्युक्तरीत्या प्रवर्तनीयो व्यवहारः। यदपि—'एकस्य बहुभिः सार्धं स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च। अनादेयो भवेद्वादो धर्मविद्भिरुदाहृतः ॥' इति नारदवचनम्, तत्रैकस्यापि—'गणद्रव्यं हरेद्यस्तु संविदं लङ्घयेच्च यः'। (व्य० १८७) तथा—'एकं घ्नतां बहूनां च' (व्य० २२१) इत्यादिस्मरणादेकार्थैर्बहुभिः सार्धं व्यवहार इष्यत एवेति भिन्नार्थैर्बहुभिरेकस्य युगपद्व्यवहारो न भवतीति द्रष्टव्यम्। स्त्रीणामित्यपि गोपशौण्डिकादिस्त्रीणां स्वातन्त्र्याद्व्यवहारो भवत्येवेति, तदन्यासां कुलस्त्रीणां पतिषु जीवत्सु[3] तत्पारतन्त्र्यादनादेयो व्यवहार इति व्याख्येयम्। 'प्रेष्यजनस्य स्वामिपारतन्त्र्यात्स्वार्थव्यवहारेऽपि स्वाम्यनुज्ञयैव व्यवहारो नान्यथेति व्याख्येयम्[4] ॥ ३२ ॥

---

१. धिकारिणं प्रविशति। २. व्यवहारान्। व्यवहारपदं। ३. जीवत्सु सत्सु। ४. योजनीयम्।

भाषा—मत्त (नशे में चुत्त), उन्मत्त (पागल), रोगी, प्रियजन की मृत्यु आदि से विपत्तिग्रस्त, बालक, त्रस्त (शत्रु से भयातुर) व्यक्तियों के ऊपर चलाया गया व्यवहार एवं असंबद्ध व्यक्ति द्वारा चलाया गया व्यवहार सिद्ध या विचारणीय नहीं होता ॥ ३२ ॥

परावर्त्यं व्यवहारमुक्त्वा इदानीं परावर्त्यं द्रव्यमाह—

प्रनष्टाधिगतं देयं नृपेण धनिने धनम् ।
विभावयेन्न चेल्लिङ्गैस्तत्समं दण्डमर्हति ॥ ३३ ॥

प्रनष्टं हिरण्यादि शौल्किकस्थानपालादिभिरधिगतं राज्ञे समर्पितं यत्तद्राज्ञा धनिने दातव्यम् । यदि धनी रूपसंख्यादिभिर्लिङ्गैर्भावयति[1] । यदि न भावयति तदा तत्समं दण्ड्यः; असत्यवादित्वात् । अधिगमस्य स्वत्वनिमित्तत्वात्स्वत्वे प्राप्ते तत्परावृत्तिरनेनोक्ता । अत्र च कालावधिं वक्ष्यति (व्य० १७३)—'शौल्किकैः स्थानपालैर्वा नष्टापहृतमाहृतम् । अर्वाक्संवत्सरात्स्वामी हरेत परतो नृपः ॥' इति । मनुना पुनः संवत्सरत्रयमवधित्वेन निर्दिष्टम् (८।३०)—'प्रनष्टस्वामिकं रिक्थं राजा त्र्यब्दं निधापयेत् । अर्वाक् त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परतो नृपतिर्हरेत् ॥' इति । तत्र वर्षत्रयपर्यन्तमवश्यं रक्षणीयम् । तत्र यदि संवत्सरादर्वाक् स्वाम्यागच्छेत्तदा कृत्स्नमेव दद्यात् । यदा पुनः संवत्सरादूर्ध्वमागच्छति, तदा किंचिद्भागं[2] रक्षण-मूल्यं गृहीत्वा शेषं स्वामिने दद्यात् , यथाह—'आददीताथ षड्भागं प्रनष्टाधिगतान्नृपः । दशमं द्वादशं वापि सतां धर्ममनुस्मरन् ॥' (मनु० ८।३०) इति । तत्र प्रथमे वर्षे कृत्स्नमेव दद्यात्, द्वितीये द्वादशं भागं, तृतीये दशमं, चतुर्थादिषु षष्ठं भागं गृहीत्वा शेषं दद्यात् । राजभागस्य चतुर्थोऽंशोऽधिगन्त्रे दातव्यः । स्वाम्यनागमे तु कृत्स्नस्य धनस्य चतुर्थमंशमधिगन्त्रे दत्त्वा शेषं राजा गृह्णीयात् । तथाह गौतमः (१०।३६-३८)—'प्रनष्टस्वामिकमधिगम्य संवत्सरं राज्ञा रक्ष्यम् । ऊर्ध्वमधिगन्तुश्चतुर्थोंऽशो[3] राज्ञः शेषम्' इत्यत्र संवत्सरमित्येक-वचनमविवक्षितम् । 'राजा त्र्यब्दं निधापयेत्' इति स्मरणात् 'हरेत परतो नृपः' इत्येतदपि स्वामिन्यनागते त्र्यब्दादूर्ध्वं व्ययीकरणाभ्यनुज्ञानपरम् । ततः परमागते तु स्वामिनि व्ययीभूतेऽपि द्रव्ये राजा स्वांशमवतार्य तत्समं दद्यात् । एतच्च हिरण्यादिविषयम् । गवादिविषये वक्ष्यति (व्य० १७४)—'पणानेकशफे दद्यात्' इत्यादिना ॥ ३३ ॥

भाषा—किसी की खोई हुई वस्तु पाकर राजा उस धन के अधिकारी को वह वस्तु (धन) देवे और यदि वह चिह्नों द्वारा उसे (अपना) प्रमाणित न कर सके तो उसके समान दण्ड का भागी होता है ॥ ३३ ॥

---

१. रूपकसंख्या । २. षड्भागं । ३. चतुर्थो भागः शेषं राज्ञ इति ।

रथ्याशुल्कशालादिनिपतितस्य सुवर्णादेर्नष्टस्याधिगमे विधिमुक्त्वा अधुना भूमौ चिरनिखातस्य सुवर्णादेर्निधिशब्दवाच्यस्याधिगमे विधिमाह—

राजा लब्ध्वा निधिं दद्याद् द्विजेभ्योऽर्धं द्विजः पुनः।
विद्वानशेषमादद्यात्स सर्वस्य प्रभुर्यतः॥ ३४॥
इतरेण निधौ लब्धे राजा षष्ठांशमाहरेत्।
अनिवेदितविज्ञातो दाप्यस्तं दण्डमेव च॥ ३५॥

उक्तलक्षणं निधिं राजा लब्ध्वा अर्धं ब्राह्मणेभ्यो दत्त्वा शेषं कोशे निवेशयेत्। ब्राह्मणस्तु विद्वान् श्रुताध्ययनसंपन्नः सदाचारो यदि निधिं लभेत तदा सर्वमेव गृह्णीयात्, यस्मादसौ सर्वस्य जगतः प्रभुः। इतरेण तु राजविद्वद्ब्राह्मणव्यतिरिक्तेन अविद्वद्ब्राह्मणक्षत्रियादिना निधौ लब्धे राजा षष्ठांशमधिगन्त्रे दत्त्वा शेषं निधिं स्वयमाहरेत्। यथाह वसिष्ठः—'अप्रज्ञायमानं वित्तं योऽधिगच्छेद्राजा तद्धरेत्, अधिगन्त्रे षष्ठमंशं प्रदद्यात्' इति। गौतमोऽपि (१०।३३।५)—'निध्यधिगमो राजधनं भवति, न ब्राह्मणस्याभिरूपस्य, अब्राह्मणोऽप्याख्याता षष्ठमंशं लभेतेत्येके' इति। अनिवेदित इति कर्तरि निष्ठा। अनिवेदितश्चासौ विज्ञातश्च राज्ञेऽप्यनिवेदितविज्ञातः, यः कश्चिन्निधिं लब्ध्वा राज्ञे न निवेदितवान् विज्ञातश्च राज्ञा स सर्वं निधिं दाप्यो दण्डं च शक्त्यपेक्षया। अथ निधेरपि स्वाम्यागत्य रूपकसंख्यादिभिः स्वत्वं भावयति तदा तस्मै राजा निधिं दत्त्वा षष्ठं द्वादशं वांऽशं स्वयमाहरेत्। यथाह मनुः (८।३५)—'ममायमिति यो ब्रूयान्निधिं सत्येन मानवः। तस्याददीत षड्भागं राजा द्वादशमेव वा॥' इति। अंशविकल्पस्तु वर्णकालाद्यपेक्षया वेदितव्यः॥ ३४–३५॥

भाषा—राजा (इस प्रकार का) धन लेकर उसका आधा ब्राह्मणों को दान कर दे। विद्वान् ब्राह्मण यदि ऐसी निधि पावे तो सम्पूर्ण स्वीकार करे, क्योंकि वह सम्पूर्ण जगत् का स्वामी होता है। (राजा, विद्वान् ब्राह्मण के अतिरिक्त) किसी और से धन लेवे तो उसका छठा अंश लाने वाले को देकर शेष राजा स्वयं ले लेवे। न बताई गई निधि ज्ञात हो जाय तो उसे सम्पूर्ण निधि दण्ड के रूप में दिलवाये॥ ३४-३५॥

चौरहृतं प्रत्याह—

देयं चौरहृतं द्रव्यं राज्ञा जानपदाय तु।
अददद्धि समाप्नोति किल्बिषं यस्य तस्य तत्॥ ३६॥

चौरैर्हृतं द्रव्यं चौरेभ्यो विजित्य जानपदाय स्वदेशनिवासिने यस्य तत् द्रव्यं तस्मै राज्ञा दातव्यम्। हि यस्मात् अददत् अप्रयच्छन् यस्य तदपहृतं

---

१. द्विजातिभ्योऽर्धं। २. राजधनं न ब्राह्मणस्य। ३. रूपकसंख्यादिभिः।

द्रव्यं तस्य किल्बिषमाप्नोति । तस्य चौरस्य च । यथाह मनुः (८।४०)—'दातव्यं सर्ववर्णेभ्यो राज्ञा चौरैर्हृतं धनम् । राजा तदुपयुञ्जानश्चौरस्याप्नोति किल्बिषम् ॥' इति । यदि चौरहस्तादादाय स्वयमुपभुङ्क्ते तदा चौरस्य किल्बिषमाप्नोति । अथ चौरहृतमुपेक्षते तदा जानपदस्य किल्बिषम् । अथ चौरहृताहरणाय यतमानोऽपि न शक्नुयादाहर्तुं तदा तावद्धनं स्वकोशाद्दद्यात् । यथाह गौतमः—(१०।४६) 'चौरहृतमवजित्य यथास्थानं गमयेत्कोशाद्वा दद्यात्' इति । कृष्णद्वैपायनोऽपि—'प्रत्याहर्तुं न शक्तस्तु धनं चौरैर्हृतं यदि । स्वकोशात्तद्धि देयं स्यादशक्तेन महीक्षिता ॥' इति ॥ ३६ ॥

भाषा—चोरों से छीने गये धन को राजा अपने देश के निवासी को (जिसका वह धन हो) देवे । यदि उसका धन नहीं देता तो उस धन के अधिकारी के सभी पाप उसे लग जाते हैं ॥ ३६ ॥

इत्यसाधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् ।

अथ ऋणादानप्रकरणम् ३

साधारणासाधारणरूपां व्यवहारमातृकामभिधायाधुनाष्टादशानां व्यवहारपदानामाद्यमृदणादानपदं दर्शयति—'अशीतिभागो वृद्धिः स्यात्' इत्यादिना, 'मोच्य आधिस्तदुत्पन्ने प्रविष्टे द्विगुणे धने' (व्य० ६४) इत्येवमन्तेन । तच्च ऋणादानं सप्तविधम्—ईदृशमृणं देयं, ईदृशमदेयं, अनेनाधिकारिणादेयं, अस्मिन् समये देयं, अनेन प्रकारेण देयम् , इत्यधमर्णे पञ्चविधम् । उत्तमर्णे दानविधिः, आदानविधिश्चेति द्विविधमिति । एतच्च नारदेन स्पष्टीकृतम् (१।१४)—'ऋणं देयमदेयं च येन यत्र यथा च यत् । दानग्रहणधर्माभ्यामृणादानमिति स्मृतम् ॥' इति । तत्र प्रथममुत्तमर्णस्य दानविधिमाह, तत्पूर्वकत्वादितरेषाम्—

अशीतिभागो वृद्धिः स्यान्मासि मासि सबन्धके ।
वर्णक्रमाच्छतं द्वित्रिचतुष्पञ्चकमन्यथा ॥ ३७ ॥

मासि मासि प्रतिमासं बन्धकं विश्वासार्थं यदाधीयते, आधिरिति यावत् । बन्धकेन सह वर्तत इति सबन्धकः प्रयोगः, तस्मिन्सबन्धके प्रयोगे प्रयुक्तस्य द्रव्यस्य अशीतितमो भागो वृद्धिर्धर्म्या भवति । अन्यथा बन्धकरहिते प्रयोगे वर्णानां ब्राह्मणादीनां क्रमेण द्वित्रिचतुष्पञ्चकं शतं धर्म्यं भवति । ब्राह्मणेऽधमर्णे द्विकं शतं, क्षत्रिये त्रिकं, वैश्ये चतुष्कं, शूद्रे पञ्चकम् । मासि मासीत्येव द्वौ वा त्रयो वा चत्वारो वा पञ्च वा द्वित्रिचतुःपञ्चाः, अस्मिन् शते वृद्धिर्दीयते इति

---

१. तदुपभुञ्जानः । २. व्यवहाराणामाद्य । ३. धर्माभ्यां ऋणादान ।

द्वित्रिचतुःपञ्चकं शतम् । 'संख्याया अतिशदन्तायाः कन्' (पा. ५।१।२२) इत्यनुवृत्तौ 'तदस्मिन्वृद्ध्यायलाभशुल्कोपदा दीयते' (पा. ५।१।४७) इति कन् । (वृद्धेर्वृद्धिश्चक्रवृद्धिः प्रतिमासं तु कालिका । इच्छाकृता कारिता स्यात्कायिका कायकर्मणा) इयं च वृद्धिर्मासि मासि गृह्यत इति कालिका । इयमेव वृद्धिर्दिवसगणनया विभज्य प्रतिदिवसं गृह्यमाणा कायिका भवति । तथा च नारदेन (१।१०२, ४)—'कायिका कालिका चैव कारिता च तथा परा । चक्रवृद्धिश्च शास्त्रेषु तस्य वृद्धिश्चतुर्विधा ॥' इत्युक्त्वोक्तम्—'कायाविरोधिनी शश्वत्पणपादादिकायिका । प्रतिकालं भजन्ती या वृद्धिः सा कालिका मता ॥ वृद्धिः सा कारिता याऽधमर्णेन स्वयं कृता । वृद्धेरपि पुनर्वृद्धिश्चक्रवृद्धिरुदाहृता ॥' (१। १०३-४) इति ॥ ३७ ॥

भाषा—बन्धक रखे हुए धन पर उसका अस्सीवाँ भाग प्रत्येक मास में ब्याज होता है । अन्यथा (बन्धक न होने पर) वर्ण के अनुसार (ब्राह्मण आदि से क्रमशः) दो, तीन, चार और पाँच प्रतिशत ब्याज लेना चाहिए ॥ ३७ ॥

अधमर्णविशेषेण वृद्धेः प्रकारान्तरमाह—

कान्तारगास्तु दशकं सामुद्रा विंशकं शतम् ।

कान्तारमरण्यं तत्र गच्छन्तीति कान्तारगाः । ये वृद्ध्या धनं गृहीत्वाधिकलाभार्थमतिगहनं प्राणधनविनाशशङ्कास्थानं प्रविशन्ति ते दशकं शतं दद्युः । ये च समुद्रगास्ते विंशकं शतम् । मासि मासीत्येव । एतदुक्तं भवति—कान्तारगेभ्यो दशकं शतं, सामुद्रेभ्यश्च विंशकं शतं, उत्तमर्ण आदद्यात्; मूलविनाशस्यापि शङ्कितत्वादिति ॥

इदानीं कारितां वृद्धिमाह—

दद्युर्वा स्वकृतां वृद्धिं सर्वे सर्वासु जातिषु ॥ ३८ ॥

सर्वे वा ब्राह्मणादयोऽधमर्णाः अबन्धके सबन्धके वा स्वकृतां स्वाभ्युपगतां वृद्धिं सर्वासु जातिषु दद्युः । क्वचिदकृतापि वृद्धिर्भवति; यथाह नारदः (१।१०८)—'न वृद्धिः प्रीतिदत्तानां स्यादनाकारिता क्वचित् । अनाकारितमप्यूर्ध्वं वत्सरार्धाद्विवर्धते ॥' इति । यत्तु याचितकं गृहीत्वा; देशान्तरं गतवन्तं प्रति कात्यायनेनोक्तम्—'यो याचितकमादाय तमदत्त्वा दिशं व्रजेत् । ऊर्ध्वं संवत्सरात्तस्य तद्धनं वृद्धिमाप्नुयात् ॥' इति । यस्तु याचितकमादाय याचितोऽप्यदत्त्वा देशान्तरं व्रजति तं प्रति तेनैवोक्तम्—कृतोद्धारमदत्त्वा यो याचितस्तु

१' पुस्तकेऽधिकोऽयम् । ... २. ... ३. यानि ।

दिशं व्रजेत्। ऊर्ध्वं मासत्रयात्तस्य तद्धनं वृद्धिमाप्नुयात्॥' इति। यः पुनः स्वदेशे स्थित एव याचितो याचितकं न ददाति तं याचितकालादारभ्याकारितां[2] वृद्धिं दापयेद्राजा। यथाह—'स्वदेशेऽपि स्थितो यस्तु न दद्याद्याचितः क्वचित्। तं ततोऽकारितां वृद्धिमनिच्छन्तं च दापयेत्॥' इति। अनाकारितवृद्धेरपवादो नारदेनोक्तः—'पण्यमूल्यं भृतिर्न्यासो दण्डो यश्च प्रकल्पितः। वृथादानाक्षिकपणा वर्धन्ते नाविवक्षिताः॥' इति। अविवक्षिता अनाकारिता इति॥ ३८॥

भाषा—(अधिक लाभ के लिये ऋण लेकर) गहन वन में जाने वाले से दश प्रतिशत और समुद्र की यात्रा करने वाले से बीस प्रतिशत वृद्धि (व्याज) लेनी चाहिए। अथवा सभी जातियों के लिये जो जितनी वृद्धि देना स्वीकार करे उतनी देवे॥ ३८॥

अधुना द्रव्यविशेषेण[3] वृद्धिविशेषमाह—

सन्ततिस्तु पशुस्त्रीणां—

पशुस्त्रीणां सन्ततिरेव वृद्धिः। पशूनां स्त्रीणां दोषणासमर्थस्य तत्पुष्टिसन्ततिकामस्य प्रयोगः संभवति। ग्रहणं च क्षीरपरिचर्यार्थिनः॥

अधुना प्रयुक्तस्य द्रव्यस्य वृद्धिग्रहणमन्तरेणापि चिरकालावस्थितस्य कस्य द्रव्यस्य कियती परा वृद्धिरित्यपेक्षित आह—

—रसस्याष्टगुणा परा।
वस्त्रधान्यहिरण्यानां चतुस्त्रिद्विगुणा परा॥ ३९॥

रसस्य तैलघृतादेर्वृद्धिग्रहणमन्तरेण चिरकालावस्थितस्य स्वकृतया वृद्धया वर्धमानस्य अष्टगुणा वृद्धिः परा, नातः परं वर्धते। तथा वस्त्रधान्यहिरण्यानां यथासंख्यं चतुर्गुणा[3]। त्रिगुणा द्विगुणा च वृद्धिः परा। वसिष्ठेन तु रसस्य त्रैगुण्यमुक्तम् (२।४४।७) 'द्विगुणं हिरण्यं त्रिगुणं धान्यं। धान्येनैव रसा व्याख्याताः पुष्पमूलफलानि च। तुलाधृतमष्टगुणम्' इति। मनुना तु धान्यस्य पुष्पमूलफलादीनां च पञ्चगुणत्वमुक्तम्—'धान्ये शदे लवे वाह्ये नातिक्रामति पञ्चताम्' इति। शदः क्षेत्रे फलं पुष्पमूलफलादि, लवो मेषोर्णाचमरीकेशादिः, वाह्यो बलीवर्दतुरगादिः। धान्यशदलववाह्यविषया वृद्धिः पञ्चगुणत्वं नातिक्रामतीति। तत्राधमर्णयोग्यतावशेन दुर्भिक्षादिकालवशेन च व्यवस्था द्रष्टव्या। एतच्च सकृत्प्रयोगे सकृदाहरणे च वेदितव्यम्। पुरुषान्तरसंक्रमणेन प्रयोगान्तरकरणे तस्मिन्नेव

---

१. याचन। २. रभ्य वृद्धिं। ३. विशेषे। ४. तुलघृतं त्रितय। तृतीयमष्ट। ५. वृक्षफलं।

वा पुरुषे अनेकशः रेकसेकाभ्यां प्रयोगान्तरकरणे सुवर्णादिकं द्वैगुण्याद्यतिक्रम्य पूर्ववद्वर्धते । सकृत्प्रयोगेऽपि प्रतिदिनं प्रतिमासं प्रतिसंवत्सरं वा वृद्ध्याहरणेऽधमर्णदेयस्य द्वैगुण्यासंभवात्पूर्वाहृतवृद्ध्या सह द्वैगुण्यमतिक्रम्य वर्धत एव । यथाह मनुः (८।१५१)—'कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहिता ।' इति । सकृदाहृतेत्यपि पाठोऽस्ति । उपचयार्थं प्रयुक्तं द्रव्यं कुसीदं, तस्य वृद्धिः कुसीदवृद्धिः, सा द्वैगुण्यं नात्येति नातिक्रामति । यदि सकृदाहिता सकृत्प्रयुक्ता । पुरुषान्तरसंक्रमणादिना प्रयोगान्तरकरणे द्वैगुण्यमत्येति । सकृदाहृतेति पाठे तु शनैः शनैः प्रतिदिनं प्रतिमासं प्रतिसंवत्सरं वाऽधमर्णादाहृता द्वैगुण्यमत्येतीति व्याख्येयम् । तथा गौतमेनाप्युक्तम् (१२।३१)—'चिरस्थाने द्वैगुण्यं प्रयोगस्य' इति । 'प्रयोगस्य' इत्येकवचननिर्देशात्प्रयोगान्तरकरणे द्वैगुण्यातिक्रमोऽभिप्रेतः । 'चिरस्थान' इति निर्देशात् शनैः शनैर्वृद्धिग्रहणे द्वैगुण्यातिक्रमो दर्शितः ॥ ३९ ॥

भाषा—पशु और स्त्री के लिये उनकी सन्तान ही वृद्धि (व्याज) होती है । रस (तेल, घृत आदि) लेने पर उसकी वृद्धि स्वीकृत वृद्धि से अधिक से अधिक अठगुना हो सकती है । वस्त्र, धान्य और सोने की वृद्धि अधिक से अधिक क्रमशः चौगुनी, तिगुनी या दुगुनी होती है ॥ ३९ ॥

ऋणप्रयोगधर्मा उक्ताः; सांप्रतं प्रयुक्तस्य धनस्य ग्रहणधर्मा उच्यन्ते—

प्रपन्नं साधयन्नर्थं न वाच्यो नृपतेर्भवेत् ।
साध्यमानो नृपं गच्छन्दण्ड्यो दाप्यश्च तद्धनम् ॥ ४० ॥

प्रपन्नमभ्युपगतमधमर्णेन धनं साक्ष्यादिभिर्भावितं वा साधयन् प्रत्याहरन् धर्मादिभिरुपायैरुत्तमर्णो नृपतेर्वाच्यो निवारणीयो न भवति ॥ धर्माद्यश्चोपाया मनुना दर्शिताः (मनुः ८।४९)—'धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च । प्रयुक्तं साधयेदर्थं पञ्चमेन बलेन च ॥' इति । धर्मेण प्रीतियुक्तेन सत्यवचनेन, व्यवहारेण साक्षिलेख्याद्युपायेन, छलेन उत्सवादिव्याजेन भूषणादिग्रहणेन, अचरितेन अभोजनेन, पञ्चमेनोपायेन बलेन निगडबन्धनादिना, उपचयार्थं प्रयुक्तं द्रव्यमेतैरुपायैरात्मसात्कुर्यादिति । 'प्रपन्नं साधयन्नर्थं न वाच्य' इति वदन् अप्रतिपन्नं साधयन् राज्ञा निवारणीय इति दर्शयति । एतदेव स्पष्टीकृतं कात्यायनेन—'पीडयेद्यो धनी कश्चिदृणिकं न्यायवादिनम् । तस्मादर्थात्स हीयेत तत्समं चाप्नुयाद्दमम् ॥' इति । यस्तु धर्मादिभिरुपायैः प्रपन्नमर्थं साध्य-

१. गान्तरीकरणे । २. गच्छेत् । ३. प्रपन्नं साधयन्नर्थं ।
४. लेखाद्युपन्यासेन । ५. प्राप्नुयात् ।

मानो याच्यमानो नृपं गच्छेद्राजानमभिगम्य साधयन्तमभियुङ्क्ते स दण्ड्यो भवति, शक्त्यनुसारेण धनिने तद्धनं दाप्यश्च । राज्ञा दापने च प्रकारा दर्शिताः—'राजा तु स्वामिने विप्रं सान्त्वेनैव प्रदापयेत् । देशाचारेण चान्यांस्तु दुष्टान्संपीड्य दापयेत् ॥ रिक्थिनं सुहृदं वापि छलेनैव प्रदापयेत् ॥' इति । 'साध्यमानो नृपं गच्छन्' इत्येतत् 'स्मृत्याचारव्यपेतेन' इत्यस्य प्रत्युदाहरणं बोद्धव्यम् ॥४०॥

भाषा—दिये गये धन को धर्मपूर्वक लेने का प्रयत्न करने वाले के बीच में राजा दखल न देवे । यदि वह उसके लिये राजा के समीप निवेदन करता है तो दण्ड्य होता है और राजा को धनी के धन दिला देना चाहिए ॥ ४० ॥

बहुषूत्तमर्णिकेषु युगपत्प्राप्तेष्वेकोऽधमर्णिकः केन क्रमेण दाप्यो राज्ञेत्यपेक्षित आह—

गृहीतानुक्रमाद्दाप्यो धनिनामधमर्णिकः ।
दत्त्वा तु ब्राह्मणायैव नृपतेस्तदनन्तरम् ॥ ४१ ॥

समानजातीयेषु धनिषु येनैव क्रमेण धनं गृहीतं तेनैव क्रमेणाधमर्णिको राज्ञा दाप्यः । भिन्नजातीयेषु तु ब्राह्मणादिक्रमेण ॥ ४१ ॥

भाषा—समान जाति के धनियों में जिस क्रम से (जिस-जिस का) धन लिया हो उस-उस को ऋणी से दिलवाये । (यदि भिन्न जाति के ऋणदाता हों तो) पहले ब्राह्मण का धन दिलवा कर तब क्षत्रिय आदि का दिलावे ॥ ४१ ॥

यदा पुनरुत्तमर्णो दुर्बलः प्रतिपन्नमर्थं धर्मादिभिरुपायैः साधयितुमशक्नुवन्राज्ञा साधितार्थो भवति तदाऽधमर्णस्य दण्डमुत्तमर्णस्य च भृतिदानमाह—

राज्ञाऽधमर्णिको दाप्यः साधिताद् दशकं शतम् ।
पञ्चकं च शतं दाप्यः प्राप्तार्थो ह्युत्तमर्णिकः ॥ ४२ ॥

अधमर्णिको राज्ञा प्रतिपन्नार्थात्साधिताद्दशकं शतं दाप्यः । प्रतिपन्नस्य साधितार्थस्य दशममंशं राजाऽधमर्णिकाद्दण्डरूपेण गृह्णीयादित्यर्थः । उत्तमर्णस्तु प्राप्तार्थः पञ्चकं शतं भृतिरूपेण दाप्यः । साधितार्थस्य विंशतितमं भागमुत्तमर्णाद्राजा भृत्यर्थं गृह्णीयादित्यर्थः । अप्रतिपन्नार्थसाधने तु दण्डविभागो दर्शितः—'निह्नवे भावितो दद्यात्' (व्य० ५) इत्यादिना ॥ ४२ ॥

भाषा—यदि राजा ऋणी से वसूल करके ऋणदाता को धन दिलावे तो ऋणी से दस प्रतिशत और धन पाने वाले धनी से पाँच प्रतिशत भृतिरूप में ले ॥ ४२ ॥

सधनमधमर्णिकं प्रत्युक्तम्, अधुना निर्धनमधमर्णिकं प्रत्याह—

हीनजातिं परिक्षीणमृणार्थं कर्म कारयेत्।
ब्राह्मणस्तु परिक्षीणः शनैर्दाप्यो यथोदयम्॥ ४३॥

ब्राह्मणादिजातिरुत्तमर्णो हीनजातिं क्षत्रियादिजातिं परिक्षीणं निर्धनमृणार्थं ऋणनिवृत्त्यर्थं कर्म स्वजात्यनुरूपं कारयेत् तत्कुटुम्बाविरोधेन। ब्राह्मणस्तु पुनः परिक्षीणो निर्धनः शनैःशनैः यथोदयं यथासंभवमृणं दाप्यः। अत्र च 'हीनजाति' ग्रहणं समानजातेरप्युपलक्षणम्। अतश्च समानजातिमपि परिक्षीणं यथोचितं कर्म[1] कारयेत्। 'ब्राह्मण'ग्रहणं च श्रेयोजातेरुपलक्षणम्। अतश्च क्षत्रियादिरपि परिक्षीणो वैश्यादेः शनैःशनैर्दाप्यो यथोदयम्। एतदेव मनुना स्पष्टीकृतम् (८।१७७)—'कर्मणापि समं कुर्याद्धनिकेनाधमर्णिकः[2]। समोऽपकृष्टजातिश्च दद्याच्छ्रेयांस्तु तच्छनैः॥' इति। उत्तमर्णेन समं निवृत्तोत्तमर्णाधमर्णव्यपदेशमात्मानमधमर्णः कर्मणा कुर्यादित्यर्थः॥ ४३॥

भाषा—(धनी से) निम्नजाति के ऋणी से जिसके पास ऋण लौटाने के लिए धन न हो, धनी व्यक्ति के यहाँ उसकी जाति के अनुरूप कार्य करावे। यदि इस प्रकार का असमर्थ ऋणी ब्राह्मण हो तो शनैः-शनैः (थोड़ा-थोड़ा करके) उसकी आय के अनुसार धन वसूल करे॥ ४३॥

मध्यस्थस्थापितं न वर्धते—

दीयमानं न गृह्णाति प्रयुक्तं यः स्वकं धनम्।
मध्यस्थस्थापितं[3] [4]चेत्स्याद्वर्धते न ततः परम्॥ ४४॥

किंच, उपचयार्थं प्रयुक्तं धनं अधमर्णेन दीयमानमुत्तमर्णो वृद्धिलोभाद्यदि न गृह्णाति तदाऽधमर्णेन मध्यमहस्ते स्थापितं यदि स्यात्तदा ततः स्थापनादूर्ध्वं न वर्धते। अथ स्थापितमपि याच्यमानो न ददाति ततः पूर्ववद्वर्धत एव[5]॥४४॥

भाषा—यदि धन देने वाला व्यक्ति ब्याज के लिये ऋण दिये गये धन को ऋणी द्वारा लौटाये जाने पर भी (ब्याज के लोभ से) ग्रहण नहीं करता और उस धन को ऋणी किसी मध्यस्थ के पास जमा कर दे तो उसके बाद उसकी वृद्धि (ब्याज) नहीं लगती॥ ४४॥

इदानीं देयमृणं यदा येन च देयं तदाह—

अविभक्तैः कुटुम्बार्थे यदृणं तु कृतं भवेत्।
दद्युस्तद्रिक्थिनः प्रेते प्रोषिते वा कुटुम्बिनि॥ ४५॥

---

१. मृणार्थं कर्म। २. द्धनिकायाधमर्णिकः। ३. पितं वरस्यात्
४. तत्स्यात्। ५. पूर्वं वर्धत एव।

अविभक्तैर्बहुभिः कुटुम्बार्थमेकैकेन वा यदृणं कृतं तदृणं कुटुम्बी दद्यात्। तस्मिन्प्रेते प्रोषिते वा तद्रिक्थिनः सर्वे दद्युः ॥ ४५ ॥

भाषा—संयुक्त परिवार में (एक साथ रहने वाले) अनेक व्यक्तियों या एक व्यक्ति द्वारा जो ऋण कुटुम्ब के पालन के लिये लिया गया हो, उसे उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके सभी उत्तराधिकारी (सम्पत्ति के भागीदार) लौटावें ॥ ४५ ॥

येन देयमित्यत्र प्रत्युदाहरणमाह—

न योषित्पतिपुत्राभ्यां न पुत्रेण कृतं पिता ।
दद्यादृते कुटुम्बार्थान्न पतिः स्त्रीकृतं तथा ॥ ४६ ॥

पत्या कृतमृणं योषिद्भार्या नैव दद्यात्। पुत्रेण कृतं योषिन्माता न दद्यात्। तथा पुत्रेण कृतं पिता न दद्यात्। तथा भार्याकृतं पतिर्न दद्यात्। 'कुटुम्बार्थादृते' इति सर्वशेषः[1]। अतश्च कुटुम्बार्थं येन केनापि कृतं तत् कुटुम्बिना देयम्। तदभावे तद्दायहरैर्देयमित्युक्तमेव ॥ ४६ ॥

भाषा—जो ऋण कुटुम्ब के भरणपोषण के लिये नहीं लिया गया हो (किसी अन्य प्रयोजन से लिया गया हो) ऐसे पति द्वारा लिये गये ऋण को स्त्री न लौटावे, पुत्र द्वारा लिये गये ऋण को माता न भरे, पिता न भरे, और पत्नी द्वारा लिये गये ऋण को पति लौटाने का अधिकारी नहीं होता ॥४६॥

'पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयम्' (श्लो० ५०) इति वक्ष्यति तस्य पुरस्तादपवादमाह—

सुराकामद्यूतकृतं दण्डशुल्कावशिष्टकम् ।
वृथादानं तथैवेह पुत्रो दद्यान्न पैतृकम् ॥ ४७ ॥

सुरापानेन यत्कृतमृणं कामकृतं स्त्रीव्यसननिमित्तं द्यूते पराजयनिमित्तं[2] दण्डशुल्कयोरवशिष्टं वृथादानं धूर्तबन्दिमल्लादिभ्यो यत्प्रतिज्ञातम्—'धूर्ते बन्दिनि मल्ले च कुवैद्ये कितवे शठे। चाटचारणचौरेषु दत्तं भवति निष्फलम् ॥' इति स्मरणात्। एतदृणं पित्रा कृतं पुत्रादिः शौण्डिकादिभ्यो न दद्यात्। अत्र 'दण्डशुल्कावशिष्टक' मित्यवशिष्टग्रहणात्सर्वं दातव्यमिति न मन्तव्यम्।—'दण्डं वा दण्डशेषं वा शुल्कं तच्छेषमेव वा। न दातव्यं तु पुत्रेण यच्च न व्यावहारिकम् ॥' इत्यौशनसस्मरणात्। गौतमेनाप्युक्तम्—'मद्यशुल्कद्यूतदण्डा न पुत्रानभिभवेयुः'[3] इति। न पुत्रस्योपरि भवन्तीत्यर्थः। अनेनादेयमृणमुक्तम् ॥ ४७ ॥

भाषा—मदिरापान एवं जुआ खेलने के निमित्त लिये गये ऋण, दण्ड और शुल्क की निधि के अवशिष्ट भाग, वृथादान के (धूर्त बन्दी, मल्ल आदि

---

1. सर्वविशेषणं। 2. निर्वृत्तं। 3. पुत्रानध्यावहेयुः।

के लिये प्रतिज्ञात) धन—इन पैतृक (पिता द्वारा लिये गये) ऋणों को चुकाने का अधिकारी पुत्र नहीं होता ॥ ४७ ॥

'न पतिः स्त्रीकृतं तथा' (व्य० ४६) इत्यस्यापवादमाह—

गोपशौण्डिकशैलूषरजकव्याधयोषिताम् ।
ऋणं दद्यात्पतिस्तेषां यस्माद्वृत्तिस्तदाश्रया ॥ ४८ ॥

गोपो गोपालः, शौण्डिकः सुराकारः, शैलूषो नटः, रजको वस्त्राणां रञ्जकः, व्याधो मृगयुः, एतेषां योषिद्भिर्यदृणं कृतं तत्तत्पतिभिर्देयम् । यस्मात्तेषां वृत्तिर्जीवनं तदाश्रया योषिदधीना। 'यस्माद्वृत्तिस्तदाश्रया' इति हेतुव्यपदेशादन्येऽपि ये योषिदधीनजीवनास्तेऽपि योषित्कृतमृणं दद्युरिति गम्यते ॥ ४८ ॥

भाषा—गोप (अहीर, ग्वाले), कलारी (सुराकार), नट, रंगरेज और बहेलिया की स्त्रियों द्वारा लिये गये ऋण उनके पति देवें क्योंकि उनकी जीवनवृत्ति स्त्रियों के ही अधीन होती है ॥ ४८ ॥

'पतिकृतं भार्या न दद्यात्' (व्य० ४६) इत्यस्यापवादमाह—

प्रतिपन्नं स्त्रिया देयं पत्या वा सह यत्कृतम् ।
स्वयंकृतं वा यदृणं नान्यत्स्त्री दातुमर्हति ॥ ४९ ॥

मुमूर्षुणा प्रवत्स्यता वा पत्या नियुक्तया ऋणदाने यत्प्रतिपन्नं तत्पतिकृतमृणं देयम् । यच्च पत्या सह भार्यया ऋणं कृतं तदपि भर्त्रभावे भार्यया अपुत्रया देयम् । यच्च[2] स्वयंकृतं ऋणं तदपि देयम् । ननु 'प्रतिपन्नादि त्रयं स्त्रिया देयम्' इति वक्तव्यम् ; संदेहाभावात् । उच्यते—'भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः । यत्ते समधिगच्छन्ति यस्यैते तस्य तद्धनम् ॥' इति वचनान्निर्धनत्वेन प्रतिपन्नादिष्वदाना[3]शङ्कायामिदमुच्यते—'प्रतिपन्नं स्त्रिया देय'मित्यादि । न चानेन वचनेन स्त्र्यादीनां निर्धनत्वमभिधीयते; पारतन्त्र्यमात्रप्रतिपादनपरत्वात् । एतच्च विभागप्रकरणे स्पष्टीकरिष्यते । 'नान्यत् स्त्री दातुमर्हति' इत्येतत्तर्हि न वक्तव्यम् ; विधानेनैवान्यत्र प्रतिषेधसिद्धेः । उच्यते—'प्रतिपन्नं स्त्रिया देयं पत्या वा सह यत्कृतम्' इत्येतयोरपवादार्थमुच्यते । अन्यत्सुराकामादिवचनोपात्तं प्रतिपन्नमपि पत्या सह कृतमपि न देयमिति ॥ ४९ ॥

भाषा—(मरणासन्न या विदेश जाने वाले) पति द्वारा लिये गये या पति के साथ लिये गये ऋण को अथवा स्वयं लिये गये ऋण को ही स्त्री लौटा सकती है अन्य ऋणों को नहीं ॥ ४९ ॥

---

१. स्त्रासां । २. स्वयमेव । ३. शंकयेदमुच्यते ।

पुनरपि यद्दणं दातव्यं, येन च दातव्यं, यत्र च काले दातव्यं, तत्त्रितयमाह—

पितरि प्रोषिते प्रेते व्यसनाभिप्लुतेऽपि वा ।
पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयं निह्नवे साक्षिभावितम् ॥ ५० ॥

पिता यदि दातव्यमृणमदत्त्वा प्रेतः, दूरदेशं गतः, अचिकित्सनीयव्याध्याद्यभिभूतो वा तदा तत्कृतमृणमाख्यापनेऽवश्यं देयम्, पुत्रेण पौत्रेण वा पितृधनाभावेऽपि पुत्रत्वेन पौत्रत्वेन च, तत्र क्रमोऽप्ययमेव—पित्रभावे पुत्रः, पुत्राभावे पौत्र इति । पुत्रेण पौत्रेण वा निह्नवे कृते अर्थिना साक्ष्यादिभिर्भावितमृणं देयं पुत्रपौत्रैरित्यन्वयः । अत्र 'पितरि प्रोषिते' इत्येतावदुक्तम्, कालविशेषस्तु नारदेनोक्तो द्रष्टव्यः—'नार्वाक्संवत्सराद्विंशात्पितरि प्रोषिते सुतः । ऋणं दद्यात्पितृव्ये वा ज्येष्ठे भ्रातर्यथापि वा ॥' इति । प्रेतेऽप्यप्राप्तव्यवहारकालो न दद्यात्, प्राप्तव्यवहारकालस्तु दद्यात् । स च कालस्तेनैव दर्शितः—'गर्भस्थः सदृशो ज्ञेय आष्टमाद्वत्सराच्छिशुः । बाल आ षोडशाद्वर्षात्पौगण्डश्चेति शब्द्यते ॥ परतो व्यवहारज्ञः स्वतन्त्रः पितरावृते ॥' इति । यद्यपि पितृमरणादूर्ध्वं बालोऽपि स्वतन्त्रो जातस्तथापि नर्णभाग्भवति । यथाह—'अप्राप्तव्यवहारश्चेत्स्वतन्त्रोऽपि हि नर्णभाक् । स्वातन्त्र्यं हि स्मृतं ज्येष्ठे ज्यैष्ठ्यं गुणवयःकृतम् ॥' इति । तथा आसेधाह्वाननिषेधश्च दृश्यते—'अप्राप्तव्यवहारश्च दूतो दानोन्मुखो व्रती । विषमस्थाश्च नासेध्या न चैतानाह्वयेन्नृपः ॥' इति । तस्मात् 'अतः पुत्रेण जातेन स्वार्थमुत्सृज्य यत्नतः । ऋणात्पिता मोचनीयो यथा नो नरकं व्रजेत् ॥' इति । पुत्रेण व्यवहारज्ञतया जातेन निष्पन्नेनेति व्याख्येयम् । श्राद्धे तु बालस्याप्यधिकारः—'ब्रह्माभिव्याहारयेदन्यत्र स्वधानिनयनात्' इति गौतमस्मरणात् । 'पुत्रपौत्रै'रिति बहुवचननिर्देशाद्बहवः पुत्रा यदि विभक्ताः स्वांशानुरूपेण ऋणं दद्युः । अविभक्ताश्चेत्संभूयसमुत्थानेन गुणप्रधानभावेन वर्तमानानां प्रधानभूत एव वा दद्यादिति गम्यते । यथाह नारदः (१।१४)—'अत ऊर्ध्वं पितुः पुत्रा ऋणं दद्युर्यथांशतः । अविभक्ता विभक्ता वा यस्तावद्वहते धुरम् ॥' इति । अत्र च यद्यपि 'पुत्रपौत्रैर्ऋणं देय'मित्यविशेषेणोक्तं, तथापि पुत्रेण यथा पिता सवृद्धिकं ददाति तथैव देयम् । पौत्रेण तु समं मूलमेव दातव्यं, न वृद्धिरिति विशेषोऽवगन्तव्यः । 'ऋणमात्मीयवत्पित्र्यं देयं पुत्रैर्विभावितम् । पैतामहं समं देयमदेयं तत्सुतस्य तु ॥' इति बृहस्पतिवचनात् । अत्र 'विभावित'मित्यविशेषोपादानात्साक्षिविभावितमित्यत्र साक्षिग्रहणं प्रमाणोपलक्षणम् । समं यावद्गृहीतं तावदेव,

---

१. कृतमृणमवश्यं । २. अष्टमात् । १. व्याहरेदन्यत्र । २. यस्तां वोद्वहते । ३. तथैव ऋणं ।

देयं, न वृद्धिः। तत्सुतस्य प्रपौत्रस्यादेयमगृहीतधनस्य। एतच्चोत्तरश्लोके स्पष्टीक्रियते ॥ ५० ॥

भाषा—पिता के परदेश जाने पर, मर जाने पर या व्यसन में (असाध्य रोग से पीड़ित) होने पर पुत्र और पौत्र उसके द्वारा लिया गया ऋण देवें। यदि वे अस्वीकार करें तो साक्षियों द्वारा प्रमाणित होने पर दें ॥ ५० ॥

ऋणापाकरणे ऋणी तत्पुत्रः पौत्र इति त्रयः कर्तारो दर्शितास्तेषां च समवाये क्रमोऽपि दर्शितः। इदानीं कर्त्रन्तरसमवाये च क्रममाह—

रिक्थग्राह ऋणं दाप्यो योषिद्ग्राहस्तथैव च।
पुत्रोऽनन्याश्रितद्रव्यः पुत्रहीनस्य रिक्थिनः ॥ ५१ ॥

अन्यदीयं द्रव्यमन्यस्य क्रयादिव्यतिरेकेण यत्स्वीयं भवति तद्रिक्थम्। विभागात् रिक्थं गृह्णातीति रिक्थग्राहः, स ऋणं दाप्यः। एतदुक्तं भवति—'यो यदीयं द्रव्यं रिक्थरूपेण गृह्णाति स तत्कृतमृणं दाप्यो न चौरादिरिति। योषितं भार्यां गृह्णातीति योषिद्ग्राहः, स तथैवर्णं दाप्यः। यो यदीयां योषितं गृह्णाति स तत्कृतमृणं दाप्यः। योषितोऽविभाज्यद्रव्यत्वेन रिक्थव्यपदेशानर्हत्वाद्भेदेन निर्देशः। पुत्रश्चानन्याश्रितद्रव्य ऋणं दाप्यः, अन्यमाश्रितमन्याश्रितं, अन्याश्रितं मातृपितृसंबन्धि द्रव्यं यस्यासावन्याश्रितद्रव्यः, न अन्याश्रितद्रव्योऽनन्याश्रितद्रव्यः, पुत्रहीनस्य रिक्थिनः ऋणं दाप्य इति संबन्धः। एतेषां समवाये क्रमश्च पाठक्रम एव। 'रिक्थग्राह ऋणं दाप्यः, तदभावे योषिद्ग्राहः, तदभावे पुत्र इति। तन्वेतेषां समवाय एव नोपपद्यते; 'न भ्रातरो न पितरः पुत्रा रिक्थहराः पितुः' इति पुत्रे सत्यन्यस्य रिक्थग्रहणासंभवात्। योषिद्ग्राहोऽपि नोपपद्यते; (मनुः ५।१६२)—'न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्तोपदिश्यते' इति स्मरणात्। तथा तदृणं पुत्रो दाप्य इत्यप्ययुक्तम्; 'पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयम्' (व्य० ५०) इत्युक्तत्वात्। 'अनन्याश्रितद्रव्य' इति विशेषणमप्यनर्थकम्; पुत्रे सति द्रव्यस्यान्याश्रयणासंभवात्, संभवे च रिक्थग्राह इत्यनेनैव गतार्थत्वात्। 'पुत्रहीनस्य रिक्थिनः' इत्येतदपि न वक्तव्यम्। पुत्रे सत्यपि 'रिक्थग्राह ऋणं दाप्यः' इति स्थितम्। असति पुत्रे रिक्थग्राहः सुतरां दाप्य इति सिद्धमेवेति। अत्रोच्यते—पुत्रे सत्यप्यन्यो रिक्थग्राही संभवति; क्लीबान्धबधिरादीनां पुत्रत्वेऽपि रिक्थहरत्वाभावात्[3]। तथा च क्लीबादीननुक्रम्य 'भर्तव्याः[4] स्युर्निरंशकाः' (व्य० १४०) इति वचयति। तथा 'सवर्णापुत्रोऽप्यन्यायवृत्तिर्न लभेतैकेषाम्' इति गौतमस्मरणात्। अतश्च क्लीबादिषु पुत्रेषु सत्सु अन्यायवृत्ते च सवर्णापुत्रे सति रिक्थग्राही पितृव्यतत्पुत्रादिः। योषि-

---

१. स्पष्टयिष्यते। २. ऋक्थिनः। ३. रिक्थग्राहाभावात्। ४. भर्तव्यास्तु। भर्तव्याश्च।

द्ग्राहो यद्यपि शास्त्रविरोधेन न संभवति तथाप्यतिक्रान्तनिषेधः पूर्वपतिकृतर्णापाकरणाधिकारी भवत्येव । योषिद्-ग्राहो यश्चतसृणां स्वैरिणीनामन्तिमां गृह्णाति, यश्च पुनर्भुवां तिसृणां प्रथमाम्, यथाह नारदः—'परपूर्वाः स्त्रियस्त्वन्याः सप्त प्रोक्ता यथाक्रमम् । पुनर्भूस्त्रिविधा तासां स्वैरिणी तु चतुर्विधा ॥ कन्यैवाक्षतयोनिर्या पाणिग्रहणदूषिता । पुनर्भूः प्रथमा[1] प्रोक्ता पुनः संस्कारकर्मणा ॥ देशधर्मानवेक्ष्य स्त्री गुरुभिर्या प्रदीयते । उत्पन्नसाहसाऽन्यस्मै सा द्वितीया प्रकीर्तिता ॥' उत्पन्नसाहसा उत्पन्नव्यभिचारा ।—'असत्सु देवरेषु स्त्री बान्धवैर्या प्रदीयते । सवर्णाय सपिण्डाय सा तृतीया प्रकीर्तिता ॥ स्त्री प्रसूताऽप्रसूता वा पत्यावेव तु जीवति । कामात्समाश्रयेदन्यं प्रथमा स्वैरिणी तु सा ॥ कौमारं पतिमुत्सृज्य या त्वन्यं पुरुषं श्रिता । पुनः पत्युर्गृहं यायात्सा द्वितीया प्रकीर्तिता ॥ मृते भर्तरि तु प्राप्तान्देवरादीनपास्य या । उपगच्छेत्परं कामात्सा तृतीया प्रकीर्तिता ॥ [2]प्राप्ता देशाद्धनक्रीता क्षुत्पिपासातुरा च या । तवाहमित्युपगता सा चतुर्थी प्रकीर्तिता ॥ अन्तिमा स्वैरिणीनां या प्रथमा च पुनर्भुवाम् । ऋणं तयोः पतिकृतं दद्याद्यस्ता उपाश्रितः ॥' इति । तथाऽन्योऽपि योषिद्ग्राह ऋणापाकरणेऽधिकारी तेनैव दर्शितः—'या तु सप्रधनैव स्त्री सापत्या वाऽन्यमाश्रयेत् । सोऽस्या दद्यादृणं भर्तुरुत्सृजेद्वा तथैव ताम् ॥' प्रकृष्टेन धनेन सह वर्तत इति सप्रधना, बहुधनेति यावत् । तथा 'अधनस्य ह्यपुत्रस्य मृतस्योपैति यः स्त्रियम् । ऋणं वोढुः[3] स भजते सैव चास्य धनं स्मृतम् ॥' इति पुत्रस्य पुनर्वचनं क्रमार्थम् । 'अनन्याश्रितद्रव्य' इति बहुषु पुत्रेषु रिक्थाभावेऽप्यंशग्रहणयोग्यस्यैवर्णापाकरणेऽधिकारो नायोग्यस्यान्धादेरित्येवमर्थम् । 'पुत्रहीनस्य रिक्थिन' इत्येतदपि पुत्रपौत्रहीनस्य प्रपौत्रादयो यदि रिक्थं गृह्णन्ति तदा ऋणं दाप्याः, नान्यथेत्येवमर्थम् । पुत्रपौत्रौ च रिक्थग्रहणाभावेऽपि दाप्यावित्युक्तम्, यथाह नारदः (१।४)—'क्रमदभ्याहतं प्राप्तं पुत्रैर्यन्नर्णमुद्धृतम् । दद्युः पैतामहं पौत्रास्तच्चतुर्थान्निवर्तते ॥' इति सर्वं निरवद्यम् ॥ यद्वा,–योषिद्ग्राहाभावे पुत्रो दाप्य इत्युक्तम् । पुत्राभावे योषिद्ग्राहो दाप्य इत्युच्यते । 'पुत्रहीनस्य रिक्थिनः' इति 'रिक्थ'शब्देन योषिदेवोच्यते । 'सैव चास्य धनं स्मृतम्' इति स्मरणात्, 'यो यस्य हरते दारान्स तस्य हरते धनम्' इति च ॥ ननु योषिद्ग्राहाभावे पुत्रो ऋणं दाप्यः, पुत्राभावे योषिद्ग्राह इति परस्परविरुद्धम् । उभयसद्भावे न कश्चिद्दाप्य इति । नैष दोषः; अन्तिमस्वैरिणीग्राहिणः प्रथमपुनर्भूग्राहिणः सप्रधनस्त्रीहारिणश्चाभावे पुत्रो दाप्यः; पुत्राभावे तु निर्धननिरपत्ययोषिद्ग्राही दाप्य इति । एतदेवोक्तं नारदेन (१।२३)—'धनस्त्रीहारिपुत्राणामृणभाग्यो धनं हरेत् । पुत्रोऽसतोः

---

१. प्रथमा नाम । २. प्राप्ता देशाद्धनात्क्रीता । ३. ऋणमोक्तुः ।

स्त्रीधनिनोः स्त्रीहारी धनिपुत्रयोः' ॥ इति। धनस्त्रीहारिपुत्राणां समवाये यो धनं हरेत्स ऋणभाक् पुत्रोऽसतोः स्त्रीधनिनोः, स्त्री च धनं च स्त्रीधने, ते विद्येते ययोस्तौ स्त्रीधनिनौ, तयोः स्त्रीधनिनोरसतोः पुत्र एव ऋणभाक् भवति। धनिपुत्रयोरसतोः स्त्रीहार्येवर्णभाक्। स्त्रीहार्यभावे पुत्र ऋणभाक्, पुत्राभावे स्त्रीहारीति विरोधाभासपरिहारः[1] पूर्ववत्। 'पुत्रहीनस्य रिक्थिनः' इत्यस्यान्या व्याख्या—एते धनस्त्रीहारिपुत्रा ऋणं कस्य दाप्या इत्यपेक्षायां[2] उत्तमर्णस्य दाप्याः; तदभावे तत्पुत्रादेः[3], पुत्राद्यभावे कस्य दाप्या इत्यपेक्षायामिदमुपतिष्ठते- 'पुत्रहीनस्य रिक्थिनः' इति। पुत्राद्यन्वयहीनस्योत्तमर्णस्य यो रिक्थी रिक्थ-ग्रहणयोग्यः सपिण्डादिस्तस्य रिक्थिनो दाप्याः। तथा च नारदेन (१।११२) 'ब्राह्मणस्य तु यद्देयं सान्वयस्य च[4] नास्ति चेत्। निर्वपेत्तत्सकुल्येषु तदभावेऽस्य[5] बन्धुषु ॥' इत्यभिहितम्—'यदा तु न सकुल्याः स्युर्न च संबन्धिबान्धवाः। तदा दद्याद् द्विजेभ्यस्तु तेष्वसत्स्वप्सु निक्षिपेत् ॥' नारदः (१।११३) इति ॥५१॥

भाषा—रिक्थ (सम्पत्ति का भाग) लेने वाले (सम्पत्ति के स्वामी द्वारा लिये गये) ऋण को लौटावें, स्त्री को ग्रहण करने वाला उसके मृत पति का लिया ऋण भी दे। जिसका धन पुत्र के अतिरिक्त अन्य को न मिला हो उसका ऋण पुत्र देवे और पुत्रहीन ऋणी का धन उसकी सम्पत्ति का भाग लेने वाले चुकावें ॥ ५१ ॥

अधुना पुरुषविशेषे ऋणग्रहणं प्रतिषेधयन्प्रसङ्गादन्यदपि प्रतिषेधति—

भ्रातॄणामथ दम्पत्योः पितुः पुत्रस्य चैव हि।
प्रातिभाव्यमृणं साक्ष्यमविभक्ते न तु स्मृतम् ॥ ५२ ॥

प्रतिभुवो भावः प्रातिभाव्यं, भ्रातॄणां दम्पत्योः पितापुत्रयोश्चाविभक्ते द्रव्ये द्रव्यविभागात्प्राक्प्रातिभाव्यमृणं साक्ष्यं च न स्मृतं मन्वादिभिः। अपि तु प्रतिषिद्धं, साधारणधनत्वात्। प्रातिभाव्यसाक्षित्वयोः पक्षे द्रव्यावसानत्वात्[6], ऋणस्य चावश्यप्रतिदेयत्वात्। एतच्च परस्परानुमतिव्यतिरेकेण, परस्परा-नुमत्या त्वविभक्तानामपि प्रातिभाव्यादि भवत्येव। विभागादूर्ध्वं तु परस्परा-नुमतिव्यतिरेकेणापि भवति ॥ ननु दम्पत्योर्विभागात्प्राक्प्रातिभाव्यादिप्रतिषेधो न युज्यते; तयोर्विभागाभावेन विशेषणानर्थक्यात्। विभागाभावश्चापस्तम्बेन दर्शितः (आप० ध० २।१४।१६)—'जायापत्योर्न विभागो विद्यते' इति। सत्यम्; श्रौतस्मार्ताग्निसाध्येषु कर्मसु तत्फलेषु च विभागाभावो न पुनः

---

१. विरोधप्रतिभासः। २. इति विवक्षायां। ३. तत्स्त्रीपुत्रादेः। ४. न चास्ति चेत्। ५. भावे स्वबन्धुषु। ६. द्रव्यव्ययावसानत्वात्।

सर्वकर्मसु द्रव्येषु वा। तथा हि—'जायापत्योर्न विभागो विद्यते' इत्युक्त्वा किमिति न विद्यते इत्यपेक्षायां हेतुमुक्तवान्—'पाणिग्रहणाद्धि सहत्वं कर्मसु', 'तथा पुण्यफलेषु च' (आप० ध० २।१४, १७-१८) इति। हि यस्मात्पाणिग्रहणादारभ्य कर्मसु सहत्वं श्रूयते—'जायापती अग्निमादधीयाताम्' इति, तस्मादाधाने सहाधिकारादाधानसिद्धाग्निसाध्यकर्मसु सहाधिकारः। तथा 'कर्म स्मार्तं विवाहाग्नौ' (आ० ९७) इत्यादिस्मरणाद्विवाहसिद्धाग्निसाध्येषु कर्मसु सहाधिकार एव। अतश्चोभयविधाग्निनिरपेक्षेषु कर्मसु पूर्तेषु जायापत्योः पृथगेवाधिकारः संपद्यते। तथा पुण्यानां फलेषु स्वर्गादिषु जायापत्योः सहत्वं श्रूयते—'दिवि ज्योतिरजरमारभेताम्' इत्यादि। येषु पुण्यकर्मसु सहाधिकारस्तेषां फलेषु सहत्वमिति बोद्धव्यं, न पुनः पूर्तानां भर्त्रनुज्ञयानुष्ठितानां फलेष्वपि॥ ननु द्रव्यस्वामित्वेऽपि सहत्वमुक्तम्; 'द्रव्यपरिग्रहेषु च' 'नहि भर्तुर्विप्रवासे नैमित्तिके दाने स्तेयमुपदिशन्ति' (आप० ध० २।१४।१८-२०) इति। सत्यम्; द्रव्यस्वामित्वं पत्न्या दर्शितमनेन, न पुनर्विभागाभावः। यस्मात् 'द्रव्यपरिग्रहेषु च' इत्युक्त्वा तत्र कारणमुक्तम्—'भर्तुर्विप्रवासे नैमित्तिकेऽवश्यकर्तव्ये दानेऽतिथिभोजनभिक्षाप्रदानादौ हि यस्मान्न स्तेयमुपदिशन्ति मन्वादयस्तस्माद्भार्याया[1] अपि द्रव्यस्वामित्वमस्ति, अन्यथा स्तेयं स्यात्' इति। तस्माद्भर्तुरिच्छया भार्याया अपि द्रव्यविभागो भवत्येव, न स्वेच्छया। यथा वक्ष्यति (व्य० ११५)—'यदि कुर्यात्समानंशान्पत्न्यः कार्याः समांशिकाः' इति॥ ५२॥

भाषा—अविभक्त (संयुक्त) रहने वाले भाइयों, पति-पत्नी, पिता और पुत्र का प्रातिभाव्य (जामिन) एवं ऋण और साक्ष्य का विधान (मनु आदि ने) नहीं किया है॥ ५२॥

अधुना प्रातिभाव्यं निरूपयितुमाह—

> दर्शने प्रत्यये दाने प्रातिभाव्यं विधीयते।
> आद्यौ तु वितथे दाप्याावितरस्य सुता अपि॥ ५३॥

प्रातिभाव्यं नाम विश्वासार्थं पुरुषान्तरेण सह समयः, तच्च विषयभेदात्त्रिधा भिद्यते। यथा दर्शने 'दर्शनापेक्षायां एनं दर्शयिष्यामी'ति। प्रत्यये विश्वासे, 'मम प्रत्ययेनास्य धनं प्रयच्छ, नायं त्वां वञ्चयिष्यते, यतोऽमुकस्य पुत्रोऽयं, उर्वराप्रायभूरस्य ग्रामवरो[2]ऽस्ती'ति। दाने 'यद्ययं न ददाति तदानीमहमेव दास्यामी'ति। 'प्रातिभाव्यं विधीयत' इति प्रत्येकं संबध्यते[3]। आद्यौ तु दर्शनप्रत्यय-

---

१. भार्यायामपि। २. वरोऽस्तीति। ३. संबन्धः।

प्रतिभुवौ वितथे अन्यथाभावे अदर्शने विश्वासव्यभिचारे च दाप्यौ राज्ञा प्रस्तुतं धनमुत्तमर्णस्य। इतरस्य दानप्रतिभुवः सुता अपि दाप्याः॥ वितथ इत्येव शाठ्येन निर्धनत्वेन वाऽधमर्णेऽप्रतिकुर्वति 'इतरस्य सुता अपि' (१।३।१९) इति वदता पूर्वयोः सुता न दाप्या इत्युक्तम्। 'सुता' इति वदता न पौत्रा दाप्या इति दर्शितम्॥ ५३॥

भाषा—दर्शन (दिखा देना), प्रत्यय (विश्वास दिलाना) और दान (स्वयं देने की प्रतिज्ञा) को प्रातिभाव्य (प्रतिभू या जामिन होना) कहते हैं। प्रथम दो प्रकार का प्रातिभाव्य करने वाले झूठा पड़े तो राजा उनमें से धनी व्यक्ति का धन दिलावे, तीसरे प्रकार का प्रातिभाव्य करने वाले के झूठा पड़ने पर उसके पुत्रों से भी वह धन वसूल करे॥ ५३॥

एतदेव स्पष्टीकर्तुमाह—

दर्शनप्रतिभूर्यत्र मृतः प्रात्ययिकोऽपि वा।
न तत्पुत्रा ऋणं दद्युर्दद्युर्दानाय यः स्थितः॥ ५४॥

यदा तु दर्शनप्रतिभूः प्रात्ययिको वा प्रतिभूर्दिवं[1] गतस्तदा तयोः पुत्राः प्रातिभाव्यायातं पैतृकमृणं न दद्युः। यस्तु दानाय स्थितः प्रतिभूर्दिवं[2] गतस्तस्य पुत्रा दद्युः, न पौत्राः। ते च मूलमेव दद्युर्न वृद्धिम्। 'ऋणं पैतामहं पौत्रः प्रातिभाव्यागतं सुतः। समं दद्यात्तत्सुतौ तु न दाप्याविति निश्चयः॥' इति व्यासवचनात्। प्रातिभाव्यव्यतिरिक्तं पैतामहमृणं पौत्रः स[?] यावद्गृहीतं तावदेव दद्यान्न वृद्धिम्। तथा तत्सुतोऽपि प्रातिभाव्यागतं पित्र्यमृणं सममेव दद्यात्। तयोः पौत्रपुत्रयोः सुतौ प्रपौत्रौ[3] पौत्रावप्रातिभाव्यायातं प्रातिभाव्यायातं च ऋणं यथाक्रममगृहीतधनौ न दाप्याविति। यदपि स्मरणम्—'खादको वित्तहीनः स्याल्लग्नको वित्तवान्यदि। मूलं तस्य भवेद् देयं न वृद्धिं दातुमर्हति॥' इति,—तदपि लग्नकः प्रतिभूः, खादकोऽधमर्णः; लग्नको यदि वित्तवान्मृतस्तदा तस्य पुत्रेण मूलमेव दातव्यं न वृद्धिरिति व्याख्येयम्। यत्र दर्शनप्रतिभूः प्रत्ययप्रतिभूर्वा बन्धकं पर्याप्तं गृहीत्वा प्रतिभूर्जातस्तत्र तत्पुत्रा अपि तस्मादेव बन्धकात् प्रातिभाव्यायातमृणं दद्युरेव। यथाह कात्यायनः—'गृहीत्वा बन्धकं यत्र दर्शनेऽस्य स्थितो भवेत्। विना पित्रा धनात्तस्माद्दाप्यः स्यात्तदृणं सुतः॥' इति। 'दर्शन' ग्रहणं प्रत्ययस्योपलक्षणम्। विना पित्रा पितरि प्रेते दूरदेशं गते वेति॥ ५४॥

---

१. ये स्थिताः। २. दिष्टं गतः। ३. पौत्रप्रपौत्रौ।

भाषा—यदि दर्शनप्रतिभू या प्रत्ययप्रतिभू की मृत्यु हो गयी हो तो उसके पुत्रों से ऋण न दिलावे; किन्तु दानप्रतिभू के मरने पर उसके पुत्र से ही धनी को धन दिलावे ॥ ५४ ॥

यस्मिन्ननेकप्रतिभूसंभवस्तत्र कथं दाप्यस्तत्राह[1]—

बहवः स्युर्यदि स्वांशैर्दद्युः प्रतिभुवो धनम् ।
एकच्छायाश्रितेष्वेषु धनिकस्य यथारुचि ॥ ५५ ॥

यद्येकस्मिन्प्रयोगे द्वौ बहवो वा प्रतिभुवः स्युस्तदृणं संविभज्य स्वांशेन दद्युः । एकच्छायाश्रितेषु प्रतिभूषु एकस्याधमर्णस्य छाया सादृश्यं तामाश्रिता एकच्छायाश्रिताः । अधमर्णो यथा कृत्स्नद्रव्यदानाय स्थितस्तथा दानप्रतिभुवो[2]ऽपि प्रत्येकं कृत्स्नद्रव्यदानाय स्थिताः । एवं दर्शने प्रत्यये च । तेष्वेकच्छाया-[3]श्रितेषु प्रतिभूषु सत्सु धनिकस्योत्तमर्णस्य यथारुचि यथाकामम् । अतश्च धनिको वित्ताद्यपेक्षायां[4] स्वार्थं यं[5] प्रार्थयते स एव कृत्स्नं दाप्यः, नांशतः[6] । एक-च्छायाश्रितेषु[7] यदि कश्चिद् देशान्तरं गतस्तत्पुत्रश्च संनिहितस्तदा धनिकेच्छया स सर्वं दाप्यः । मृते तु कस्मिंश्चित्तत्सुतः स्वपित्र्यंशमवृद्धिकं दाप्यः । यथाह कात्यायनः—'एकच्छायाप्रविष्टानां दाप्यो यस्तत्र दृश्यते । प्रोषिते तत्सुतः सर्वं पित्र्यंशं तु मृते[8] समम् ॥' इति ॥ ५५ ॥

भाषा—यदि अनेक प्रतिभू होंवे तो वे ऋण को आपस में बाँटकर अपना-अपना अंश चुकावें और यदि अनेक प्रतिभू (जामिनों) में सभी ऋणी के समान होकर पूरा धन देने को उद्यत हों तो धनी अपनी इच्छा के अनुसार किसी एक से ले लेवे ॥ ५५ ॥

प्रातिभाव्ये ऋणदानविधिमुक्त्वा प्रतिभूदत्तस्य प्रतिक्रियाविधिमाह—

प्रतिभूर्दापितो यत्तु प्रकाशं धनिनो धनम्[9] ।
द्विगुणं[10] प्रतिदातव्यमृणिकैस्तस्य तद्भवेत् ॥ ५६ ॥

यद्द्रव्यं प्रतिभूस्तत्पुत्रो वा धनिकेनोपपीडितः प्रकाशं सर्वजनसमक्षं राज्ञा धनिनो दापितो न पुनर्द्वैगुण्यलोभेन स्वयमुपेत्य दत्तम् । यथाह नारदः (१।१२१) 'यं चार्थं प्रतिभूर्दद्याद्धनिकेनोपपीडितः । [11]ऋणिकस्तं प्रतिभुवे द्विगुणं [12]प्रतिदापयेत् ॥' इति । ऋणिकैरधमर्णैस्तस्य प्रतिभुवस्तद् द्रव्यं द्विगुणं

---

१. दातव्यमित्यत आह । २. दाने प्रतिभुवः । ३. तथैकच्छाया । ४. वित्ताद्यपेक्षया । ५. यः प्रार्थयते । ६. दद्यान्नांशतः । ७. तेष्वे-कच्छाया । ८. मृते सति । ९. धनिनां । धनिने धनम्; १०. तत्र दातव्य । ११. ऋणिकं तं । १२. प्रतिपादयेत् ।

प्रतिदातव्यं स्यात्। तच्च कालविशेषमनपेक्ष्य सद्य एव द्विगुणं दातव्यम्; वचनारम्भसामर्थ्यात्। एतच्च हिरण्यविषयम्। ननु [1]इदं प्रतिभूरिति वचनं द्वैगुण्यमात्रं प्रतिपादयति, तच्च पूर्वोक्तकालकलाक्रमाबाधेनाप्युपपद्यते। यथा जातेष्टिविधानं शुचित्वाबाधेन। अपि च सद्यः सवृद्धिकदानपक्षे पशुस्त्रीणां सद्यः संतत्यभावान्मूलदानमेव प्राप्नोतीति,—तदसत्; [2]'वस्त्रधान्यहिरण्यानां चतुस्त्रिद्विगुणा परा' (व्य० ३९) इत्यनेनैव कालकलाक्रमेण द्वैगुण्यादिसिद्धेः द्वैगुण्यमात्रविधाने चेदं वचनमनर्थकं स्यात्। पशुस्त्रीणां तु कालक्रमपक्षेऽपि संतत्यभावे स्वरूपदानमेव। यदा प्रतिभूरपि द्रव्यदानानन्तरं कियतापि कालेनाधमर्णेन संघटते तदा संततिरपि[3] संभवत्येव। यद्वा पूर्वसिद्धसंतत्या सह पशुस्त्रियो दास्यन्तीति न किंचिदेतत्। अथ प्रातिभाव्यं [4]प्रीतिकृतम्, अतश्च प्रतिभुवा दत्तं प्रीतिदत्तमेव। नच प्रीतिदत्तस्य याचनात्प्राग्वृद्धिरस्ति; यथाह (नारदः १।१०९)—'प्रीतिदत्तं तु यत्किञ्चिद्वर्धते न त्वयाचितम्। याच्यमानमदत्तं चेद्वर्धते पञ्चकं शतम् ॥' इति। अतश्चास्य प्रीतिदत्तस्यायाचितस्यापि दानदिवसादारभ्य यावद् द्विगुणं कालक्रमेण वृद्धिरित्यनेन वचनेनोच्यत इति, तदप्यसत्,—अस्यार्थस्यास्माद्वचनादप्रतीतेः 'द्विगुणं प्रतिदातव्यम्' इत्येतावदिह प्रतीयते। तस्मात्कालक्रममनपेक्ष्यैव द्विगुणं प्रतिदातव्यं वचनारम्भसामर्थ्यादिति सुष्ठूक्तम् ॥ ५६ ॥

भाषा—जिस प्रतिभू (या उसके पुत्र) से राजाने धनी का धन सबके सामने दिलाया हो उसको ऋण लेने वाले दूना देकर चुकावें ॥ ५६ ॥

प्रतिभूदत्तस्य सर्वत्र द्वैगुण्ये प्राप्तेऽपवादमाह—

संततिः स्त्रीपशुष्वेव धान्यं त्रिगुणमेव च।
वस्त्रं चतुर्गुणं प्रोक्तं रसश्चाष्टगुणस्तथा ॥ ५७ ॥

हिरण्यद्वैगुण्यवत्कालानादरेणैव स्त्रीपश्वादयः प्रतिपादितवृद्ध्या दाप्याः। श्लोकस्तु व्याख्यात एव। यस्य द्रव्यस्य यावती वृद्धिः पराकाष्ठोक्ता तद्द्रव्यं प्रतिभूदत्तं खादकेन तया वृद्ध्या सह कालविशेषमनपेक्ष्यैव सद्यो दातव्यमिति तात्पर्यार्थः। यदा तु दर्शनप्रतिभूः संप्रतिपन्ने काले अधमर्णं दर्शयितुमसमर्थस्तदा [5]तदन्वेषणाय तस्य पक्षत्रयं दातव्यम्। तत्र यदि तं दर्शयति तदा मोक्त[6]व्योऽन्यथा प्रस्तुतं धनं दाप्यः; 'नष्टस्यान्वेषणार्थं तु दाप्यं पक्षत्रयं परम्। यद्यसौ दर्शयेत्तत्र मोक्तव्यः प्रतिभूर्भवेत् ॥ काले व्यतीते प्रतिभूर्यदि तं नैव

---

१. इदं वचनं। २. वस्त्रदान। ३. संततिरेवं। ४. प्रीतिकृतं च। ५. तदन्वेषणाय। ६. मोक्तव्यो नान्यथा।

दर्शयेत् । निबन्धं दापयेत्तं तु प्रेते चैष विधिः स्मृतः ॥' इति कात्यायनवचनात् । लग्नके विशेषनिषेधश्च तेनैवोक्तः—'न स्वामी न च वै शत्रुः स्वामिनाऽधिकृतस्तथा । निरुद्धो दण्डितश्चैव संदिग्धश्चैव न क्वचित् ॥ नैव रिक्थी न मित्रं च न चैवात्यन्तवासिनः । राजकार्यनियुक्ताश्च ये च प्रव्रजिता नराः ॥ न शक्तो धनिने दातुं दण्डं राज्ञे च तत्समम् । जीवन्वापि पिता यस्य तथैवेच्छाप्रवर्तकः ॥ नाविज्ञाय ग्रहीतव्यः प्रतिभूः स्वक्रियां प्रति ॥' इति । संदिग्धोऽभिशस्तः । अत्यन्तवासिनो नैष्ठिकब्रह्मचारिणः ॥ इति प्रतिभूविधिः ॥

धनप्रयोगे द्वौ विश्वासहेतू—प्रतिभूराधिश्च । यथाह नारदः (१।११९)—'विस्रम्भहेतू द्वावत्र प्रतिभूराधिरेव च' इति । तत्र प्रतिभूर्निरूपितः, इदानीमाधिर्निरूप्यते। आधिर्नाम गृहीतस्य द्रव्यस्योपरि विश्वासार्थमधमर्णेनोत्तमर्णेऽधिक्रियते, आधीयत इत्याधिः । स च द्विविधः–कृतकालोऽकृतकालश्च । पुनश्चैकैकशो द्विविधः–गोप्यो भोग्यश्च । यथाह नारदः (१।१२४-२५)—'अधिक्रियत इत्याधिः स विज्ञेयो द्विलक्षणः। कृतकालोऽपनेयश्च यावद्देयोद्यतस्तथा ॥ स पुनर्द्विविधः प्रोक्तो गोप्यो भोग्यस्तथैव च ॥'इति। कृते काले आधानकाल एवामुष्मिन्काले दीपोत्सवादौ 'मयायमधमर्णिको मोक्तव्योऽन्यथा तवैवाधिर्भविष्यती'त्येवं निश्चिते काले उपनेय आत्मसमीपं नेतव्यः, मोचनीय इत्यर्थः । देयं दानम् । देयमनतिक्रम्य यावद् देयम् । उद्यतः नियतः, स्थापित इत्यर्थः। यावद् देयमुद्यतो यावद्देयोद्यतः, गृहीतधनप्रत्यर्पणावधिरनिरूपितकाल इत्यर्थः । गोप्यो रक्षणीयः ॥ ५७ ॥

भाषा—यदि प्रतिभू से स्त्री और पशु दिलाया गया हो तो संतति सहित स्त्री और पशु दे । धान्य का तिगुना, वस्त्र हो तो चौगुना और तेल-घृत आदि रस हो तो उसका आठगुना प्रतिभू को शीघ्र देवे ॥ ५७ ॥

एवं चतुर्विधस्याधेर्विशेषमाह—

आधिः प्रणश्येद् द्विगुणे धने यदि न मोक्ष्यते ।
काले कालकृतो नश्येत्फलभोग्यो न नश्यति ॥ ५८ ॥

प्रयुक्ते धने स्वकृतया वृद्धया कालक्रमेण द्विगुणीभूते यद्याधिरधमर्णेन द्रव्यदानेन न मोच्यते तदा नश्यति । अधमर्णस्य धनं प्रयोक्तुः स्वं भवति । कालकृतः कृतकालः, आहिताग्न्यादिषु पाठात् कालशब्दस्य पूर्वनिपातः । स तु काले निरूपिते प्राप्ते नश्येत् द्वैगुण्यात्प्रागूर्ध्वं वा। फलभोग्यः फलं भोग्यं यस्यासौ फलभोग्यः,–क्षेत्रारामादिः, स कदाचिदपि न नश्यति । कृतकालस्य गोप्यस्य

---

१. दापयेत्तु प्रेते चैव । २. प्रयुक्तास्तु । ३. नाविज्ञातो । ४. माधिर्मो । ५. निरूपिते ।

भोग्यस्य च तत्कालातिक्रमे नाश उक्तः—'काले कालकृतो नश्ये'दिति। अकृतकालस्य भोग्यस्य नाशाभाव उक्तः—'फलभोग्यो न नश्यती'ति। पारिशेष्यादाधिः प्रणश्येदित्येतदकृतकालगोप्याधिविषयमवतिष्ठते। द्वैगुण्यातिक्रमेण निरूपितकालातिक्रमेण च विनाशे चतुर्दशदिवसप्रतीक्षणं कर्तव्यं, बृहस्पतिवचनात् (११।२७-२८) 'हिरण्ये द्विगुणीभूते पूर्णे काले कृतावधेः।[1] बन्धकस्य धनी स्वामी द्विसप्ताहं प्रतीक्ष्य च॥ तदन्तरा धनं दत्त्वा ऋणी बन्धकमाप्नुयात्॥' इति॥ नन्वाधिः प्रणश्येदित्यनुपपन्नम्। अधमर्णस्य स्वत्वनिवृत्तिहेतोर्दानविक्रयादेरभावात्। धनिनश्च स्वत्वहेतोः प्रतिग्रहक्रयादेरभावात् मनुवचनविरोधाच्च। (८।१४३)—'न चाधेः कालसंरोधान्निसर्गोऽस्ति न विक्रयः' इति। कालेन संरोधः कालसंरोधश्चिरकालमवस्थानं तस्मात्कालसंरोधाच्चिरकालावस्थानादाधेर्न निसर्गोऽस्ति, नान्यत्राधीकरणमस्ति, न च विक्रयः। एवामाधीकरणविक्रयप्रतिषेधाद्धनिनः स्वत्वाभावोऽवगम्यत इति। उच्यते—आधीकरणमेव लोके सोपाधिकस्वत्वनिवृत्तिहेतुः। आधिस्वीकारश्च सोपाधिकस्वत्वापत्तिहेतुः प्रसिद्धः। तत्र धनद्वैगुण्ये निरूपितकाल[2]प्राप्तौ च द्रव्यदानस्यात्यन्तनिवृत्तेरनेन वचनेनाधमर्णस्यात्यन्तिकी स्वत्वनिवृत्तिः उत्तमर्णस्य चात्यन्तिकं स्वत्वं भवति। नच मनुवचनविरोधः। यतः मनुः (८।१४३)—'नत्वेवाधौ सोपकारे कौसीदीं वृद्धिमाप्नुयात्' इति। भोग्याधिं प्रस्तुत्येदमुच्यते—'न चाधेः कालसंरोधान्निसर्गोऽस्ति न विक्रयः'इति। भोग्यस्याधेश्चिर[3]कालावस्थानेऽप्याधीकरणविक्रयनिषेधेन धनिनः स्वत्वं[4] नास्तीति। इहाप्युक्तं 'फलभोग्यो न नश्यती'ति। गोप्याधौ तु पृथगारब्धं मनुना (८।१४४)—'न भोक्तव्यो बलादाधिर्भुञ्जानो वृद्धिमुत्सृजेत्' इति। इहापि वक्ष्यते—गोप्याधिभोगे नो वृद्धिरिति। आधिः प्रणश्येद् द्विगुणे इति तु गोप्याधिं प्रत्युच्यत इति सर्वमविरुद्धम्॥ ५८॥

भाषा—यदि कालक्रम से ब्याज द्वारा बढ़कर ऋण के दूना हो जाने पर बन्धक रखे हुए द्रव्य को न छुड़ावे तो वह अपने समय से प्रणष्ट हो जाता है (उस पर ऋणी का अधिकार नहीं रह जाता) किन्तु जिस आधि (बन्धक) का फल धनी व्यक्ति को मिलता हो (जैसे खेत आदि) उस पर से बन्धक रखने वाले का अधिकार समाप्त नहीं होता॥ ५८॥

गोप्याधिभोगे नो वृद्धिः सोपकारे च[5] ह्रापिते।
नष्टो देयो विनष्टश्च दैवराजकृतादृते॥ ५९॥

१, कृतावधौ। २. काले प्राप्ते च। ३. श्चिरन्तनकाला। ४. स्वत्वं न भवति। ५. ऽथ ह्रापिते।

किंच, गोप्याधेस्ताम्रकटाहादेरुपभोगेन वृद्धिर्भवति । अल्पेऽप्युपभोगे महत्यपि वृद्धिर्हातव्या; समयातिक्रमात् । तथा सोपकारे उपकारकारिणि बलीवर्दताम्रकटाहादौ भोग्याधौ सवृद्धिके हापिते हानिं व्यवहाराक्षमत्वं गमिते नो वृद्धिः इति संबन्धः । नष्टो विकृतिं गतः ताम्रकटाहादिश्छिद्रभेदनादिना पूर्ववत्कृत्वा देयः। तत्र गोप्याधिर्नष्टश्चेत्पूर्ववत्कृत्वा देयः । उपभुक्तोऽपि चेद्-वृद्धिरपि हातव्या। भोग्याधिर्यदि [1]नष्टस्तदा पूर्ववत्कृत्वा देयः। वृद्धिसद्भावे वृद्धिरपि हातव्या। विनष्ट आत्यन्तिकं नाशं प्राप्तः, सोऽपि देयो मूल्यादिद्वारेण । तद्दाने सवृद्धिकं मूल्यं लभते धनी । यदा न ददाति तदा मूलनाशः; 'विनष्टे मूलनाशः स्याद्दैवराजकृताद्दते' (१।१२६) इति नारदवचनात् । दैवराजकृता-द्दते—दैवमग्न्युदकदेशोपप्लवादि । दैवकृताद्विनाशाद्विना, तथा स्वापराधरहि-ताद्राजकृतात् । दैवराजकृते तु विनाशे सवृद्धिकं मूल्यं दातव्यमधमर्णेनाऽऽध्य-न्तरं वा । यथाह—'स्रोतसापहृते क्षेत्रे राज्ञा चैवापहारिते । आधिरन्योऽथ कर्तव्यो देयं वा धनिने धनम् ॥' इति । तत्र 'स्रोतसापहृत' इति दैवकृतोप-लक्षणम् ॥ ५९ ॥

भाषा—(वृद्धि पर रखी गई) गोप्य आधि के उपभोग किये जाने पर वृद्धि (ब्याज) न देवे, उपकारक आधि (बैल आदि) में हानि होने पर भी वृद्धि न दें । दैव और राजोपद्रव के विना ही बन्धक रखी हुई वस्तु नष्ट हो जाय या खो जाय तो बन्धक रखी हुई वस्तु के समान वस्तु देवे ॥ ५९ ॥

आधेः स्वीकरणात्सिद्धी रक्ष्यमाणोऽप्यसारताम् ।
यातश्चेदन्य आधेयो धनभाग्वा धनी भवेत् ॥ ६० ॥

अपि च, आधेर्भोग्य[3]स्य गोप्यस्य च स्वीकरणादुपभोगादाधिग्रहणसिद्धि-र्भवति, न साक्षिलेख्यमात्रेण नाप्युद्देशमात्रेण । यथाह नारदः (१।१३८)—'आधिस्तु द्विविधः प्रोक्तो जङ्गमः स्थावरस्तथा । सिद्धिरस्योभयस्यापि भोगो यद्यस्ति नान्यथा ॥' इति । अस्य च फलं—'आधौ प्रतिग्रहे क्रीते पूर्वा तु बल-वत्तरा' (व्य० २३) इति । या [4]स्वीकारान्ता क्रिया सा पूर्वा बलवती, स्वी-काररहिता तु पूर्वापि न बलवतीति । स चाधिः प्रयत्नेन रक्ष्यमाणोऽपि काल-वशेन यद्यसारतामविकृत एव सवृद्धिकमूल्यद्रव्यापर्याप्ततां गतस्तदाधिरन्यः कर्तव्यः, धनिने धनं वा देयम् । 'रक्ष्यमाणोऽप्यसारताम्' इति वदता आधिः प्रयत्नेन रक्षणीयो धनिनेति ज्ञापितम् ॥ ६० ॥

---

१. नष्टश्चेत्तदा । २. वृद्धिर्हातव्या । ३. गोप्यस्य भोग्यस्य च ।
४. स्वीकारान्तक्रिया पूर्वा ।

भाषा—भोग्य आधि स्वीकार करने पर उसका भोग करने पर ही उसकी सिद्धि होती है। प्रयत्नपूर्वक रखी जाने पर भी यदि आधि असार (वृद्धि युक्त और मूलद्रव्य मिलाकर अपर्याप्त हो जाय, या नष्ट) हो जाय तो दूसरी आधि रखनी चाहिए, अथवा धन दाता को उसका धन लौटा देना चाहिए ॥६०॥

'आधिः प्रणश्येद् द्विगुणे' (व्य० ५८) इत्यस्यापवादमाह—

चरित्रबन्धककृतं स वृद्ध्या दापयेद्धनम्।
सत्यंकारकृतं द्रव्यं द्विगुणं प्रतिदापयेत्[1] ॥ ६१ ॥

चरित्रं शोभनाचरितं चरित्रेण बन्धकं चरित्रबन्धकं तेन यद् द्रव्यमात्मसात्कृतं पराधीनं वा कृतम्। एतदुक्तं भवति—धनिनः स्वच्छाशयत्वेन बहुमूल्यमपि द्रव्यमाधीकृत्याधमर्णेनाल्पमेव द्रव्यमात्मसात्कृतम्, यदि वाधमर्णस्य स्वच्छाशयत्वेनाल्पमूल्यमाधिं गृहीत्वा बहुद्रव्यमेव धनिनाधमर्णाधीनं कृतमिति। तद्धनं स नृपो वृद्ध्या सह दापयेत्। अयमाशयः—एवं[2] च बन्धके द्विगुणीभूतेऽपि द्रव्ये न नश्यति, किंतु द्रव्यमेव द्विगुणं दातव्यमिति। तथा सत्यंकारकृतं। करणं कारः। भावे घञ्। सत्यस्य कारः सत्यंकारः—'कारे सत्यागदस्य' (पा. ६।३।७०) इति मुम्। सत्यंकारेण कृतं सत्यंकारकृतम्। अयमभिसन्धिः—यदा बन्धकार्पणसमय एवेत्थं परिभाषितं द्विगुणीभूतेऽपि द्रव्ये मया द्विगुणं[3] द्रव्यमेव दातव्यं नाधिनाशः' इति, तदा तद् द्विगुणं दापयेदिति। अन्योऽर्थः। चरित्रमेव बन्धकं चरित्रबन्धकं। 'चरित्र' शब्देन गङ्गास्नानाग्निहोत्रादिजनितमपूर्वमुच्यते। यत्र तदेवाधीकृत्य यद्द्रव्यमात्मसात्कृतं[4] तत्र तदेव द्विगुणीभूतं दातव्यम्, नाधिनाश इति। आधिप्रसङ्गादन्यदुच्यते—सत्यंकारकृतमिति। क्रयविक्रयादिव्यवस्थानिर्वाहाय यदङ्गुलीयकादि परहस्ते कृतं तद्व्यवस्थातिक्रमे द्विगुणं दातव्यम्। तत्रापि येनाङ्गुलीयकाद्यर्पितं स एव चेद् व्यवस्थातिवर्ती तेन तदेव दातव्यम्। [5]इतरश्चेद् व्यवस्थातिवर्ती तदा तदेवाङ्गुलीयकादि द्विगुणं प्रतिदापयेदिति ॥ ६१ ॥

भाषा—चरित्र बन्धक (स्वेच्छा से कम मूल्य की वस्तु बन्धक लेकर अधिक धन देना या अधिक मूल्य की वस्तु बन्धक रखकर कम धन ऋण लेना) होने पर वृद्धि के साथ धन दिलावे। सत्यकार (धन के दूना होने पर बन्धक नष्ट न होकर दूना धन देने की शर्त) किया गया हो तो दूना धन दिलवाये ॥ ६१ ॥

---

१. प्रतिपादयेत्। २. एवंविधं। ३. द्विगुणीभूतमेव द्रव्यं। ४. कृतं तदा तत्र। ५. इतरं चेत्।

उपस्थितस्य मोक्तव्य आधिः स्तेनोऽन्यथा भवेत् ।
प्रयोजकेऽसति धनं कुले न्यस्याधिमाप्नुयात् ॥ ६२ ॥

किंच, धनदानेनाधिमोक्षणायोपस्थितस्याधिर्मोक्तव्यो धनिना, न वृद्धिलोभेन स्थापयितव्यः, अन्यथा अमोक्षणे स्तेनश्चौरवद्दण्ड्यः[1] भवेत्। असंनिहिते पुनः प्रयोक्तरि कुले तदाप्तहस्ते सवृद्धिकं धनं विधायाधमर्णकः स्वीयं बन्धकं गृह्णीयात् ॥ ६२ ॥

भाषा—ऋणी के बन्धक छुड़ाने आने पर उसकी वस्तु दे देनी चाहिए। (ब्याज के लोभ से टालना नहीं चाहिए) अन्यथा चोर के समान दण्ड का भागी होता है। जिसके पास बन्धक रखा हो उसके अनुपस्थित होने पर ब्याज सहित धन उसके कुल के किसी दूसरे व्यक्ति को सौंप कर बन्धक प्राप्त कर ले ॥ ६२ ॥

अथ प्रयोक्ताऽप्यसंनिहितस्तदाप्ताश्च धनस्य ग्रहीतारो न सन्ति, यदि वा असंनिहिते प्रयोक्तर्याधिविक्रयेण धनदित्साऽधमर्णस्य तत्र किं कर्तव्यमित्यपेक्षित आह—

तत्कालकृतमूल्यो वा तत्र तिष्ठेदवृद्धिकः ।

तस्मिन्काले यत्तस्याधेर्मूल्यं तत्परिकल्प्य[2] तत्रैव धनिनि तमाधिं वृद्धिरहितं स्थापयेन्न तत ऊर्ध्वं[3] विवर्धते। यावद्धनी धनं गृहीत्वा तमाधिं मुञ्चति, यावद्वा तन्मूल्यद्रव्यमृणे[4] प्रवेशयति ॥

यदा तु द्विगुणीभूतेऽपि धने द्विगुणं धनमेव ग्रहीतव्यं, न स्वाधिनाश इति विचारितमृणग्रहणकाल एव तदा द्विगुणीभूते द्रव्ये असंनिहिते चाऽधमर्णे धनिना किं कर्तव्यमित्यत आह—

विना धारणकाद्वापि[5] विक्रीणीत ससाक्षिकम् ॥ ६३ ॥

धारणकादधमर्णाद्विना अधमर्णेऽसंनिहिते साक्षिभिस्तदाप्तैश्च सह तमाधिं विक्रीय तद्धनं गृह्णीयाद्धनी। 'वा' शब्दो व्यवस्थितविकल्पार्थः। यदर्णग्रहणकाले द्विगुणीभूतेऽपि धने धनमेव ग्रहीतव्यं, न स्वाधिनाश इति न विचारितं, तदा 'आधिः प्रणश्येद् द्विगुणे' (व्य० ५८) इत्याधिनाशः। विचारिते स्वयं पक्ष इति ॥ ६३ ॥

---

१. दण्ड्यो भवति। २. कल्पते तत्रैव। ३. ऊर्ध्वं धनं वर्धते। ४. ऋणिने। ५. धारणिकात्।

भाषा—अथवा उस बन्धक का उस समय जितना मूल्य लगता हो वह कह कर बिना ब्याज के ही बन्धक को वहीं रहने दे (उसके बाद उसकी वृद्धि नहीं होती)। यदि ऋण धन दूना हो जाय तो बिना ऋणी के भी साक्षियों के समक्ष उस बन्धक की वस्तु को धनी बेच सकता है ॥ ६३ ॥

भोग्याधौ विशेषमाह—

यदा तु द्विगुणीभूतमृणमाधौ तदा खलु ।
मोच्य आधिस्तदुत्पन्ने प्रविष्टे द्विगुणे धने ॥ ६४ ॥

यदा प्रयुक्तं धनं स्वकृतया वृद्ध्या द्विगुणीभूतं तदाधौ कृते तदुत्पन्ने आध्युत्पन्ने द्रव्ये द्विगुणे धनिनः प्रविष्टे धनिनाऽऽधिर्मोक्तव्यः। यदि वादावेवाधौ दत्ते 'द्विगुणीभूते द्रव्ये त्वयाधिर्मोक्तव्यः' इति, परिभाषया कारणान्तरेण वा भोगाभावेन यदा द्विगुणीभूतमृणं तदा, आधौ भोगार्थं धनिनि प्रविष्टे तदुत्पन्ने द्रव्ये द्विगुणे सत्याधिर्मोक्तव्यः। अधिकोपभोगे तदपि देयम्। सर्वथा सवृद्धिकमूलर्णापाकरणार्थाध्युपभोगविषयमिदं वचनम्। तमेनं क्षयाधिमाचक्षते लौकिकाः। यत्र तु वृद्ध्यर्थ एवाध्युपभोग इति परिभाषा, तत्र द्वैगुण्यातिक्रमेऽपि यावन्मूलदानं[2] तावदुपभुङ्क्त एवाधिम्। एतदेव स्पष्टीकृतं बृहस्पतिना (११।३२-४)—'ऋणी बन्धमवाप्नुयात्। फलभोग्यं पूर्णकालं दत्वा द्रव्यं तु सामकम् ॥ यदि प्रकर्षितं तत्स्यात्तदा न धनभाग्धनी। ऋणी च न लभेद्बन्धं परस्परमतं विना ॥' इति। अस्यार्थः—फलं भोग्यं यस्यासौ फलभोग्यः बन्धक[3] आधिः। स च द्विविधः-सवृद्धिकमूलापाकरणार्थो वृद्धिमात्रापाकरणार्थश्च। तत्र च सवृद्धिमूलापाकरणार्थं बन्धं पूर्णकालं पूर्णः कालो यस्यासौ पूर्णकालस्तमाप्नुयादृणी। यदा सवृद्धिकं मूलं फलद्वारेण धनिनः प्रविष्टं तदा बन्धमाप्नुयादित्यर्थः। वृद्धिमात्रापाकरणार्थं तु बन्धकं सामकं दत्त्वाप्नुयादृणी। समं मूलं, सममेव सामकम् ॥ अस्यापवादमाह—यदि प्रकर्षितं तत्स्यात्। तत् बन्धकं प्रकर्षितमतिशयितं वृद्धेरप्यधिकफलं यदि स्यात् 'तदा न धनभाग्धनी' सामकं न लभेत धनी। मूलमदत्त्वैव[4] ऋणी बन्धमवाप्नुयादिति यावत्। अथ त्वप्रकर्षितं तद्बन्धकं वृद्धयेऽप्यपर्याप्तं, तदा सामकं दत्वापि बन्धं न लभेताधमर्णः। वृद्धिशेषमपि[5] दत्त्वैव लभेतेत्यर्थः। पुनरुभयत्रापवादमाह—'परस्परमतं विना' उत्तमर्णाधमर्णयोः परस्परानुमत्यभावे 'यदि प्रकर्षितम्' इत्याद्युक्तम्, परस्परानुमतौ तूत्कृष्टमपि बन्धकं यावन्मूलदानं तावदुपभुङ्क्ते धनी, निकृष्टमपि मूलमात्रदाने नैवाधमर्णो लभत इति ॥ ६४ ॥

---

१. मूल्यापाकरणार्था, मूलर्णापाकरण। २. मूल्यदानं। ३. बन्धः आधिः। ४. मूल्यमदत्त्वैव। ५. वृद्धिशेषमदत्त्वैव।

भाषा—(भोग्य आधि होने पर) ऋण दूना होने पर ऋणी व्यक्ति जब दूना धन प्राप्त कर ले तो बन्धक की वस्तु छोड़ देवे ॥ ६४ ॥

इति ऋणादानप्रकरणम् ।

अथ [1]उपनिधिप्रकरणम् ४

उपनिधिं प्रत्याह—

वासनस्थमनाख्याय हस्तेऽन्यस्य यदर्प्यते ।
द्रव्यं तदौपनिधिकं प्रतिदेयं तथैव तत् ॥ ६५ ॥

निक्षेपद्रव्यस्याधारभूतं द्रव्यान्तरं वासनं करण्डादि, तत्स्थं वासनस्थं यद्द्रव्यं रूपसंख्यादिविशेषमनाख्याय अकथयित्वा मुद्रितमन्यस्य हस्ते रक्षणार्थं विस्रम्भादर्प्यते स्थाप्यते तद्द्रव्यमौपनिधिकमुच्यते । यथाह नारदः—'असंख्यातमविज्ञातं समुद्रं यन्निधीयते । तज्जानीयादुपनिधिं निक्षेपं गणितं विदुः ॥' इति । प्रतिदेयं तथैव तत् । यस्मिन्स्थापितं तेन यथैव पूर्वमुद्रादिचिह्नितमर्पितं तथैव स्थापकाय प्रतिदेयं प्रत्यर्पणीयम् ॥ ६५ ॥

भाषा—जब किसी पात्र में रखकर रूप या संख्या आदि बताये विना कोई वस्तु दूसरे को (निक्षेप के रूप में) दी जाती है तब वह द्रव्य उपनिधि कहलाता है; उसे ज्यों के त्यों लौटाना होता है ॥ ६५ ॥

'प्रतिदेयम्' (व्य० ६५) इत्यस्यापवादमाह—

न दाप्योऽपहृतं तं[2] तु राजदैविकतस्करैः ।

तमुपनिधिं राज्ञा दैवेनोदकादिना तस्करैर्वाऽपहृतं नष्टं न दाप्योऽसौ यस्मिन्नुपनिहितम् । धनिन एव तद्द्रव्यं नष्टं यदि जिह्मकारितं न भवति । यथाह नारदः (१।९)—'ग्रहीतुः सह योऽर्थेन नष्टो नष्टः स दायिनः । दैवराजकृते त[3]द्वच्च चेत्तज्जिह्मकारितम् ॥' इति ॥—

अस्यापवादमाह—

[4]भ्रेषश्चेन्मार्गितेऽदत्ते दाप्यो दण्डं च तत्समम् ॥ ६६ ॥

स्वामिना मार्गिते याचिते यदि न ददाति तदा तदुत्तरकालं यद्यपि राजादिभिर्भ्रेषो नाशः संजातस्तथापि तद्द्रव्यं मूल्यकल्पनया धनिने ग्रहीता दाप्यो राज्ञे च तत्समं दण्डम् ॥ ६६ ॥

---

१. निक्षेप । २. तत्तु । ३. तद्वच्चेत्तजिह्म तद्वच्चेदाजिह्म ।
४. भ्रंशश्चेन्मा ।

भाषा—किन्तु उसके राजा, दैविक उत्पात द्वारा नष्ट या चोरों द्वारा चुरा लिये जाने पर वह (उपनिधि द्रव्य) प्रतिदेय नहीं होता। और यदिउपनिधि रखने वाले के मांगने पर भी वह वस्तु नहीं लौटाई जाती एवं उसके बाद राजा आदि द्वारा नष्ट हो जाती है तो उसे देना होता है और साथ ही उसके बराबर दण्ड भी चुकाना होता है ॥ ६६ ॥

भोक्तारं प्रति दण्डमाह—

आजीवन्स्वेच्छया दण्ड्यो दाप्यस्तं चापि सोदयम् ।

यः स्वेच्छया स्वाम्यननुज्ञयोपनिहितं द्रव्यमाजीवन्[1]नुपभुङ्क्ते व्यवहरति वा प्रयोगादिना लाभार्थमसावुपभोगानुसारेण लाभानुसारेण च दण्ड्यः, तं चोपनिधिं सोदयमुपभोगे सवृद्धिकं व्यवहारे सलाभं धनिने दाप्यः । वृद्धिप्रमाणं च कात्यायनेनोक्तम्—'निक्षेपं वृद्धिशेषं च क्रयं विक्रयमेव च । याच्य[2]मानो न चेद्दद्याद्वर्धते पञ्चकं शतम् ॥' इति । एतच्च भक्षिते द्रष्टव्यम् । उपेक्षाज्ञाननष्टे तु तेनैव विशेषो दर्शितः—'भक्षितं सोदयं दाप्यः समं दाप्य उपेक्षितम् । किंचिन्न्यूनं प्रदाप्यः स्याद् द्रव्यमज्ञाननाशितम् ॥' इति । 'किंचिन्न्यूनम्' इति चतुर्थांशहीनम् ॥

उपनिधेर्धर्मान्याचितादिष्वतिदिशति—

याचितान्वाहितन्याससनिक्षेपादिष्वयं विधिः ॥ ६७ ॥

विवाहाद्युत्सवेषु वस्त्रालंकारादि याचित्वाऽऽनीतं याचितम् । यदेकस्य हस्ते निहितं द्रव्यं तेनाप्यनु पश्चादन्यहस्ते स्वामिने देहीति निहितं तदन्वाहितम् । न्यासो नाम गृहस्वामिनेऽदर्शयित्वा तत्परोक्षमेव गृहजनहस्ते प्रक्षेपो गृहस्वामिने समर्पणीयमिति । समक्षं तु समर्पणं निक्षेपः । 'आदि'शब्देन सुवर्णकारादिहस्ते कटकादिनिर्माणाय न्यस्तस्य सुवर्णादेः, प्रतिन्यासस्य च परस्परप्रयोज[3]नापेक्षया 'त्वयेदं मदीयं रक्षणीयं, मयेदं त्वदीयं रक्ष्यते' इति न्यस्तस्य ग्रहणम् । यदाह नारदः (२।१४)—'एष एव विधिर्दृष्टो याचितान्वाहितादिषु । शिल्पिषूपनिधौ न्यासे प्रतिन्यासे तथैव च ॥' इति । एतेषु याचितान्वाहितादिष्वयं विधिः उपनिधेर्यः प्रतिदानादिविधिः स एव वेदितव्यः ॥ ६७ ॥

भाषा—जो अपनी इच्छा से उपनिधि द्रव्य का भोग करता है उसे उसके लाभ के साथ उपनिधि दिलावे और साथ ही दण्ड भी दे । यही नियम याचित (मगनी), अन्वाहित (मांगने वाले से किसी अन्य व्यक्ति द्वारा स्वामी के पास भिजवाई गई), न्यास (परोक्ष में घर के किसी अन्य व्यक्ति के

---

१. आजीवेत्युप-आजीवन्फलं भुंक्ते । २. याच्यमानं । ३. पेक्षायां त्वयेदं ।

हाथ में सौंपी गई) और निक्षेप (सन्मुख दी हुई) वस्तुओं के विषय में भी लागू होते हैं ॥ ६७ ॥

इति उपनिधिप्रकरणम् ।

अथ साक्षिप्रकरणम् ५

प्रमाणं लिखितं भुक्तिः साक्षिणश्चेति कीर्तितम्' (व्य० २२) इत्युक्तं, तत्र भुक्तिर्निरूपिता; सांप्रतं साक्षिस्वरूपं निरूप्यते । साक्षी च साक्षाद्दर्शनाच्छ्रवणाच्च भवति । यथाह मनुः (८।७४)—'समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिद्ध्यति' इति । स च द्विविधः-कृतोऽकृतश्चेति । साक्षित्वेन निरूपितः कृतः । अनिरूपितोऽकृतः । तत्र कृतः पञ्चविधोऽकृतश्च षड्विध इत्येकादशविधः । यथाह नारदः (१।१७८)—'एकादशविधः साक्षी शास्त्रे दृष्टो मनीषिभिः । कृतः पञ्चविधो ज्ञेयः षड्विधोऽकृत उच्यते ॥' इति । तेषां च भेदस्तेनैव दर्शितः—'लिखितः स्मारितश्चैव यदृच्छाभिज्ञ एव च । गूढश्चोत्तरसाक्षी च साक्षी पञ्चविधः स्मृतः ॥' (नारदः १।१४०) इति । लिखितादीनां च स्वरूपं कात्यायनेनोक्तं—'अर्थिना स्वयमानीतो यो लेख्ये संनिवेश्यते । स साक्षी लिखितो नाम स्मारितः पत्रकादृते ॥' इति । 'स्मारितः पत्रकादृते' इत्यस्य विवरणं तेनैव कृतम्—'यस्तु कार्यप्रसिद्ध्यर्थं दृष्ट्वा कार्यं पुनः पुनः । स्मार्यते ह्यर्थिना साक्षी स स्मारित इहोच्यते ॥' इति । यस्तु यदृच्छयागतः साक्षी क्रियते स यदृच्छाभिज्ञः । अनयोः पत्रानारूढत्वेऽपि भेदस्तेनैव दर्शितः—'प्रयोजनार्थमानीतः प्रसङ्गादागतश्च यः । द्वौ साक्षिणौ त्वलिखितौ पूर्वपक्षस्य साधकौ ॥' इति, तथा—'अर्थिना स्वार्थसिद्ध्यर्थं प्रत्यर्थिवचनं स्फुटम् । यः श्राव्यते स्थितो गूढो गूढसाक्षी स उच्यते ॥' इति, तथा—'साक्षिणामपि यः साक्ष्यमुपर्युपरि भाषते । श्रवणाच्छ्रावणाद्वापि स साक्ष्युत्तरसंज्ञितः ॥' इति । षड्विधस्याप्यकृतस्य भेदो नारदेन दर्शितः (१।१५१)—'ग्रामश्च प्राड्विवाकश्च राजा च व्यवहारिणाम् । कार्येष्वधिकृतो यः स्यादर्थिना प्रहितश्च यः ॥ कुल्याः कुलविवादेषु विज्ञेयास्तेऽपि साक्षिणः ॥' इति । 'प्राड्विवाक'ग्रहणं लेखकसभ्योपलक्षणार्थम्; 'लेखकः प्राड्विवाकश्च सभ्याश्चैवानुपूर्वशः । नृपे पश्यति तत्कार्यं साक्षिणः समुदाहृताः ॥' इति ।

तेऽपि साक्षिणः कीदृशाः, कियन्तश्च भवन्तीत्यत आह—

तपस्विनो दानशीलाः कुलीनाः सत्यवादिनः ।
धर्मप्रधाना ऋजवः पुत्रवन्तो धनान्विताः ॥ ६८ ॥

---

१. निक्षेपप्रकरणम् । २. श्रावितः । ३. सभ्यश्चैव ।

त्र्यवराः साक्षिणो ज्ञेयाः श्रौतस्मार्तक्रियापराः ।
यथाजाति यथावर्णं सर्वे सर्वेषु वा स्मृताः ॥ ६९ ॥

तपस्विनस्तपःशीलाः, दानशीला दाननिरताः, कुलीना महाकुलप्रसूताः, सत्यवादिनः सत्यं[1]वदनशीलाः, धर्मप्रधाना न स्वार्थकामप्रधानाः, ऋजवोऽकुटिलाः, पुत्रवन्तो विद्यमानपुत्राः, धनान्विता बहुसुवर्णादिधनयुक्ताः, श्रौतस्मार्तक्रियापराः नित्यनैमित्तिकानुष्ठान[2]रताः, एवंभूताः पुरुषास्त्र्यवराः साक्षिणो भवन्ति । त्रयः अवरा न्यूना येषां ते त्र्यवराः त्रिभ्योऽर्वाक् न भवन्ति । परतस्तु यथाकामं भवन्तीत्यर्थः । जातिमनतिक्रम्य यथाजाति । जातयो मूर्धावसिक्ताद्याः अनुलोमजाः प्रतिलोमजाश्च। तत्र मूर्धावसिक्तानां मूर्धावसिक्ताः साक्षिणो भवन्ति । एवमम्बष्ठादिष्वपि द्रष्टव्यम् । वर्णमनतिक्रम्य यथावर्णम् । वर्णा ब्राह्मणादयः । तत्र ब्राह्मणानां ब्राह्मणा एवोक्तलक्षणा उक्तसंख्याकाः साक्षिणो भवन्ति । एवं क्षत्रियादिष्वपि द्रष्टव्यम् । तथा स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रिय एव कुर्युः । यथाह मनुः (८।६८)—'स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युः' इति । सजातिसवर्णासंभवे सर्वे मूर्धावसिक्तादयो ब्राह्मणादयश्च सर्वेषु मूर्धावसिक्तादिषु ब्राह्मणादिषु च यथासंभवं साक्षिणो भवन्ति । उक्तलक्षणानां साक्षिणामसंभवे प्रतिषेधरहितानामन्येषामपि साक्षित्वप्रतिपादनादर्थमसाक्षिणो वक्तव्याः । ते च पञ्चविधा नारदेन दर्शिताः—'असाक्ष्यपि हि शास्त्रेषु दृष्टः पञ्चविधो बुधैः । वचनाद्दोषतो भेदात्स्व[3]यमुक्तिर्मृतान्तरः ॥' इति । के पुनर्वचनात् असाक्षिण इत्यत आह—'श्रोत्रियास्तापसा वृद्धा ये च प्रव्रजितादयः । असाक्षिणस्ते वचनान्नात्र हेतुरुदाहृतः ॥' (१।१५८) इति । तापसा वानप्रस्थाः । 'आदि'शब्देन पित्रा विवदमानादीनां ग्रहणम् । यथाह शङ्खः—'पित्रा विवदमानगुरुकुलवासिपरिव्राजकवानप्र[4]स्थनिर्ग्रन्था असाक्षिणः' इति । दोषादसाक्षिणो दर्शिताः—'स्तेनाः साहसिकाश्चण्डाः कितवा व[5]ञ्चकास्तथा । असाक्षिणस्ते दुष्टत्वात्तेषु सत्यं न विद्यते ॥' (नारदः १।१५९) । चण्डाः कोपनाः, कितवा द्यूतकृतः । भेदादसाक्षिणां च स्वरूपं तेनैव दर्शितम्—'साक्षिणां लिखितानां च निर्दिष्टानां च [6]वादिनाम् । तेषामेकोऽन्यथावादी भेदात्सर्वे न[7] साक्षिणः ॥' इति । तथा स्वयमुक्तिस्वरूपं चोक्तम्—'स्वयमुक्ति[8]रनिर्दिष्टः स्वयमेवैत्य यो वदेत् । सूचीत्युक्तः स शास्त्रेषु न स साक्षित्वमर्हति ॥' (१।१६१) इति ।

---

१. सत्यवादन । २. ध्यानपराः । ३. स्वयमुक्तिर्मृतान्तरम् ; स्वयमुक्तेः । ४. वानप्रस्था निर्ग्रन्थाश्चासाः; निर्ग्रन्था निगडस्थाः । ५. वधकास्तथा । ६. वादिना । ७. असाक्षिणः । ८. मुक्तिर्हि निर्दिष्टः ।

मृतान्तरस्यापि लक्षणमुक्तम्—'योऽर्थः श्रावयितव्यः स्यात्तस्मिन्नसति चार्थिनि। क्व तद्वदतु साक्षित्वमित्यसाक्षी मृतान्तरः ॥' (१।१६२) इति। येनार्थिना प्रत्यर्थिना वा साक्षिणां योऽर्थः श्रावयितव्यो भवेत् 'यूयमत्रार्थे साक्षिणः' इति तस्मिन्नर्थिनि प्रत्यर्थिनि वा असति मृतेऽर्थे चानिवेदिते, [1]साक्षी क्व कस्मिन्नर्थे कस्य वा कृते साक्ष्यं वदत्विति मृतान्तरः साक्षी न भवति। यत्र तु मुमूर्षुणा स्वस्थेन वा पित्रा पुत्रादयः श्राविता 'अस्मिन्नर्थेऽमी साक्षिणः' इति तत्र मृतान्तरोऽपि साक्षी। यथाह नारदः (१।९६)—'मृतान्तरोऽर्थिनि प्रेते मुमूर्षुश्रावितादृते'। तथा—'श्रावितोऽनातुरेणापि यस्त्वर्थो धर्मसंहितः। मृतेऽपि तत्र साक्षी[2] स्यात्षट्सु चान्वाहितादिषु ॥' इति ॥ ६८–६९ ॥

भाषा—तपस्वी, दानी, कुलीन, सत्यवादी, (अर्थ और काम को छोड़ कर) धर्म में प्रमुख रूप से रत, सरल, पुत्रवान्, धनवान् और श्रौत एवं स्मार्त कर्मों का अनुष्ठान करने वाले तीन से अधिक साक्षी जानने चाहिए जो ब्राह्मणादि वर्ण एवं मूर्धावसिक्त आदि जातियों के अनुसार सबका सबके लिये साक्षी बनना विहित है ॥ ६८–६९ ॥

तानेतानसाक्षिणो दर्शयति—

स्त्रीबालवृद्धकितवमत्तोन्मत्ताभिशस्तकाः।
रङ्गावतारि[3]पाखण्डि[4]कूटकृद्विकलेन्द्रियाः ॥ ७० ॥
पतिताप्तार्थसंबन्धिसहायरिपुतस्कराः।
साहसी दृष्टदोषश्च [5]निर्धूताद्यास्त्वसाक्षिणः ॥ ७१ ॥

स्त्री प्रसिद्धा, बालोऽप्राप्तव्यवहारः, वृद्धोऽशीतिकावरः, 'वृद्ध'ग्रहणं वचननिषिद्धानामन्येषामपि श्रोत्रियादीनामुपलक्षणार्थम्; कितवोऽक्षदेवी, मत्तः पानादिना, उन्मत्तो [6]ग्रहाविष्टः, अभिशस्तोऽभियुक्तो ब्रह्महत्यादिना, रङ्गावतारी चारणः। पाखण्डिनो निर्ग्रन्थप्रभृतयः। कूटकृत् कपटलेख्यादिकारी। विकलेन्द्रियः श्रोत्रादिरहितः, पतितो ब्रह्महादिः, आप्तः सुहृत्, अर्थसंबन्धी विप्रतिपद्यमानार्थसंबन्धी, सहाय एककार्यः, रिपुः शत्रुः, तस्करः स्तेनः, साहसी [7]बलावष्टम्भकारी। दृष्टदोषो दृष्टविरुद्धवचनः, निर्धूतो बन्धुभिस्त्यक्तः, 'आद्य'शब्दादन्येषामपि स्मृत्यन्तरोक्तानां दोषादसाक्षिणां भेदादसाक्षिणां स्वयमुक्तेर्मृतान्तरस्य च ग्रहणम्। एते स्त्रीबालादयः साक्षिणो न भवन्ति ॥ ७०–७१ ॥

---

१. साक्षित्वं कस्मिन्नर्थे। २. साक्षात्स्यात्। ३. वतारपाखण्डकूट। ४. पाषाण्डि। ५. निर्धूतश्रेयसा। ६. भूताविष्टः। ७. स्वबला। ८. दृष्टवितथवचनः।

–स्त्री, बालक (८० वर्ष से ऊपर का), वृद्ध, जुआरी, मत्त (मदिरा पीने वाला), उन्मत्त (पागल), महापातकी, रंगावतारी, पाखण्डी, झूठा लेख लिखने वाला, विकलेन्द्रिय (बहरा या गूंगा), ब्रह्म-हत्यादि महापाप करने वाला पतित, मित्र, धन देने वाला, सहायक, शत्रु, चोर, साहसी (बलपूर्वक किसी वस्तु का अपहरण करने वाला), प्रत्यक्ष दोष से युक्त, और बन्धुओं द्वारा परित्यक्त व्यक्ति साक्षी नहीं होते हैं ॥ ७०–७१ ॥

'व्यवराः साक्षिणो ज्ञेयाः' (व्य० ६९) इत्यस्यापवादमाह—

उभयानुमतः साक्षी भवत्येकोऽपि धर्मवित् ।

ज्ञानपूर्वकं नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठायी धर्मवित् स एकोऽप्युभयानुमतश्चेत्साक्षी भवति । 'अपि'शब्दबलाद् द्वावपि[1] । यद्यपि 'श्रौतस्मार्तक्रियापराः' (व्य० ६९) इति व्यवराणामपि धर्मवित्त्वं समानं, तथापि तेषामुभयानुमत्यभावेऽपि साक्षित्वं भवति । एकस्य द्वयोर्वोभयानुमत्यैव साक्षित्वं भवतीत्यर्थवत्[2] 'व्यवर'ग्रहणम् ॥—

'तपस्विनो दानशीलाः, (व्य० ६८) इत्यस्यापवादमाह—

सर्वः साक्षी संग्रहणे चौर्यपारुष्यसाहसे ॥ ७२ ॥

संग्रहणादीनि वक्ष्यमाणलक्षणानि तेषु सर्वे वचननिषिद्धास्तपःप्रभृतिगुणरहिताश्च साक्षिणो भवन्ति । दोषादसाक्षिणो भेदादसाक्षिणः स्वयमुक्तिश्चात्रापि साक्षिणो न भवन्ति; सत्याभावादिति[3] हेतोरत्रापि विद्यमानत्वात् ।—'मनुष्यमारणं चौर्यं परदाराभिमर्शनम् । पारुष्यमुभयं चेति साहसं स्याच्चतुर्विधम् ॥' (नारदः १४।१) इति वचनाद्यद्यपि स्त्रीसंग्रहणचौर्यपारुष्याणां साहसत्वं तथापि तेषां स्वबलावष्टम्भेन जनसमक्षं क्रियमाणानां साहसत्वम् । रहसि क्रियमाणानां तु 'संग्रहणादि'शब्दवाच्यत्वमिति तेषां साहसात्पृथगुपादानम् ॥ ७२ ॥

भाषा—दोनों पक्ष स्वीकार करें तो धर्म को जानने वाला एक ही व्यक्ति साक्षी हो सकता है । चोरी और कठोर वचन के निर्जन स्थान पर करने अर्थात् संग्रहण में और इनके खुल्लमखुल्ला करने पर अर्थात् साहस में सभी साक्षी हो सकते हैं ॥ ७२ ॥

साक्षिश्रावणमाह—

साक्षिणः श्रावयेद्वादिप्रतिवादिसमीपगान् ।

अर्थिप्रत्यर्थिसंनिधौ साक्षिणः समवेतान् 'नासमवेताः पृष्टाः[4] प्रब्रूयुः' (१३।५) इति गौतमवचनात् , वक्ष्यमाणं श्रावयेत् । तत्रापि कात्यायनेन विशेषो

१. अपिशब्दाद् द्वावपि । २. त्यर्थं च व्यवर । ३. सत्यवादित्वहेतोः । ४. पृथगपृष्टाः ।

दर्शितः—'सभान्तः साक्षिणः सर्वानर्थिप्रत्यर्थिसंनिधौ। प्राड्विवाको नियुञ्जीत विधिनाऽनेन सान्त्वयन्। देवब्राह्मणसांनिध्ये साक्ष्यं पृच्छेदृतं द्विजान्। उदङ्मुखान्प्राङ्मुखान्वा पूर्वाह्णे वै शुचिः शुचीन्॥' (मनुः ८।७९, ८७) 'आहूय साक्षिणः पृच्छेन्नियम्य शपथैर्भृशम्। समस्तान्विदिताचारान्विज्ञातार्थान्पृथक्पृथक्॥' (नारदः १।१९८) इति। तथा ब्राह्मणादिषु श्रावणे मनुना नियमो दर्शितः (८।११३)—'सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः। गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः॥' इति। ब्राह्मणमन्यथा ब्रु[1]वतः सत्यं ते नश्यतीति शापयेत्। क्षत्रियं वाहनायुधानि तव विफलानीति, गोबीजकाञ्चनादीनि तव विफलानि भविष्यन्तीति वैश्यम्, शूद्रमन्यथा ब्रुवतस्तव सर्वाणि पातकानि भविष्यन्तीति शापयेत्। अत्र चापवादस्तेनैव दर्शितः (८।१०२)—'गोरक्षकान्वाणिजिकांस्तथा कारुकुशीलवान्। प्रेष्यान्वार्धुषिकांश्चैव विप्राञ्शूद्रवदाचरेत्॥' इति। 'विप्र' ग्रहणं क्षत्रियवैश्ययोरुपलक्षणार्थम्। कुशीलवा गायकाः। प्रतिवादिना साक्षिदूषणे दत्ते प्रत्यक्षयोग्यदूषणेषु बाल्यादिषु तथैव निर्णयः। अयोग्येषु तु तद्वचनाल्लोकतश्च निर्णयो न साक्ष्यन्तरेणेति नानवस्था। यदि साक्षिदोषमुद्भाव्य साधयितुं न शक्नोति प्रतिवादी, तदाऽसौ दोषानुसारेण[2] दण्ड्यः। अथ साधयति, तदा न साक्षिणः। यथाह—'असाधयन्[3]दमं दाप्यो दूषणं साक्षिणां स्फुटम्। भाविते साक्षिणो वर्ज्याः साक्षिधर्मनिराकृताः॥' इति। उद्दिष्टेषु च सर्वेषु साक्षिषु दुष्टेष्वर्थी यदा क्रियान्तरनिरपेक्षस्तदा पराजितो भवति; 'जितः स विनयं दाप्यः शास्त्रदृष्टेन कर्मणा। यदि वादी निराकाङ्क्षः साक्षिसत्ये व्यवस्थितः॥' इति स्मरणात्। साकाङ्क्षश्चेत्क्रियान्तरमवलम्बेतेत्यभिप्रायः॥—

कथं श्रावयेदित्यत आह—

> ये[4] पातककृतां लोका महापातकिनां तथा॥ ७३॥
> अग्निदानां च ये लोका ये च स्त्रीबालघातिनाम्।
> स ताँन्सर्वानवाप्नोति यः साक्ष्यमनृतं वदेत्॥ ७४॥
> सुकृतं यत्त्वया किंचिज्जन्मान्तरशतैः कृतम्।
> तत्सर्वं तस्य जानीहि यं पराजयसे मृषा॥ ७५॥

'पातकोपपातकमहापातककारिणामग्निदानां स्त्रीबालघातिनां च ये लोकास्तान्सर्वानसावाप्नोति यः साक्ष्यमनृतं वदति। तथा[6] जन्मान्तरशतैर्यत्सुकृतं कृतं, तत्सर्वं तस्य भवति, यँ[7]स्तेऽनृतवदनेन पराजितो भवति' इति, 'इति

---

१. ब्रुवन्तं। २. सारानुसारेण। ३. असाधयन् अभावयन्। ४. ये च पातकिनां लोकाः। ५. तान्सर्वान्समवा। ६. यथा। ७. यस्तेऽनृतवचनेन। यस्तेनोऽनृतवदनेन।

श्रावयेत्' इति संबन्धः। एतच्च शूद्रविषयं द्रष्टव्यम्; 'शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः' (मनुः ८।१२३) इति शूद्रे सर्वपातक[1]श्रावणस्य विहित[2]त्वात्। गोरक्षकादि-द्विजातिविषयं च; 'गोरक्षकान्वाणिजिकान्' (मनुः ८।१०२) इत्युक्तत्वात्। अ[3]न्यानेकजन्मार्जितसुकृतसंक्रमणस्य महापातकादिफलप्राप्तेश्चानृतवचनमात्रेणानुपपत्तेः, साक्षिसंत्रासार्थमिदमुच्यते। यथाह नारदः (१।२००)—'पुराणैर्धर्मवचनैः सत्यमाहात्म्यकीर्तनैः। अनृतस्यापवादैश्च भृ[4]शमुत्त्रासयेदिमान्॥' इति॥ ७३-७५॥

भाषा—वादी और प्रतिवादी के समीप स्थित साक्षियों को सम्बोधित कर उन्हें इस प्रकार सुनावे—जो लोक पातक करने वाले एवं महापातकियों को मिलते हैं, जो लोक आग लगाने वालों को एवं जो लोक स्त्री एवं बालकों की हत्या करने वालों को मिलते हैं उन सभी लोकों को वह व्यक्ति प्राप्त करता है जो साक्ष्य में झूठ बोलता है। तुम लोगों ने सौ जन्म-जन्मान्तर में जो कुछ भी पुण्यार्जन किया है उन सबको उस व्यक्ति का समझना जिसे तुम झूठे ही पराजित करोगे॥ ७३-७५॥

यदा तु श्राविताः साक्षिणः कथंचिन्न ब्रूयुस्तदा किं कर्तव्यमित्यत आह—

अब्रुवन्हि नरः साक्ष्यमृणं सदशबन्धकम्।
राज्ञा सर्वं प्रदाप्यः[5] स्यात्षट्[6]चत्वारिंशकेऽहनि॥ ७६॥

यः साक्ष्यमङ्गीकृत्य श्रावितः सन् कथंचिन्न वदति स राज्ञा सर्वं सवृद्धिकमृणं धनिने दाप्यः, सदशबन्धकं दशमांशसहितम्। दशमांशश्च राज्ञो भवति; 'राज्ञाऽधमर्णिको दाप्यः साधिताद्दशकं शतम्' (व्य० ४२) इत्युक्तत्वात्। एतच्च षट्चत्वारिंशकेऽहनि प्राप्ते वेदितव्यम्। ततोऽर्वागवदन्न दाप्यः, इदं च व्याध्याद्युपप्लवरहितस्य। यथाह मनुः (८।१०७)—'त्रिपक्षादब्रुवन्साक्ष्यमृणादिषु नरोऽगदः। तदृणं प्राप्नुयात्सर्वं दशबन्धं च सर्वशः॥' इति। 'अगद' इति राजदैवोपप्लवविरहोपलक्षणम्॥ ७६॥

भाषा—जो साक्ष्य स्वीकार करके उसके अनन्तर कुछ न बोले उससे राजा वृद्धि के साथ सम्पूर्ण ऋण का धन धनी को दिलावे तथा साथ ही उसका दशमांश वसूल करे। इन सभी धनों को राजा छियालिसवें दिन दिलावे॥ ७६॥

---

१. श्रवणस्य। २. विहितं च। ३. अस्यानेक। ४. भृशं संत्रासयेत्। ५. प्रदाप्यः षट्। ६. चत्वारिंशत्तमेऽहनि।

यस्तु जानन्नपि साक्ष्यमेव नाङ्गीकरोति दौरात्म्यात्तं प्रत्याह—

न ददाति हि यः साक्ष्यं जानन्नपि नराधमः ।
स कूटसाक्षिणां पापैस्तुल्यो दण्डेन चैव हि ॥ ७७ ॥

यः पुनर्नराधमो विप्रतिपन्नमर्थं विशेषतो जानन्नपि साक्ष्यं न ददाति नाङ्गीकरोति स कूटसाक्षिणां तुल्यः पापैः दण्डेन च । कूटसाक्षिणां च दण्डं वक्ष्यति । कूटसाक्षिणश्च दण्डयित्वा पुनर्व्यवहारः प्रवर्तनीयः । कृतोऽपि[1] वा, कौटसाक्ष्ये विदिते निवर्तनीयः । यथाह मनुः (८।११७)—'यस्मिन्यस्मिन्विवादे तु कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत् । तत्तत्कार्यं निवर्तेत कृतं चाप्यकृतं भवेत् ॥' इति ॥ ७७ ॥

भाषा—जो नीच मनुष्य जानता हुआ भी साक्ष्य (गवाही) नहीं देता है वह कूटसाक्षियों का पाप करता और उस उन्हीं के समान दण्ड देना चाहिए ॥७७॥

साक्षिविप्रतिपत्तौ कथं निर्णय इत्यत आह—

द्वैधे बहूनां वचनं समेषु गुणिनां तथा ।
गुणिद्वैधे तु वचनं ग्राह्यं ये गुणवत्तमाः ॥ ७८ ॥

साक्षिणां द्वैधे विप्रतिपत्तौ बहूनां वचनं ग्राह्यम् । समेषु समसंख्येषु द्वैधे ये गुणिनस्तेषां वचनं प्रमाणम् । यदा पुनर्गुणिनां विप्रतिपत्तिस्तदा ये गुणवत्तमाः श्रुताध्ययनतदर्थानुष्ठानधनपुत्रादिगुणसंपन्नास्तेषां वचनं ग्राह्यम् । यत्र[2] तु गुणिनः कतिपये, इतरे च बहवस्तत्रापि गुणिनामेव वचनं ग्राह्यम् ; 'उभयानुमतः साक्षी भवत्येकोऽपि धर्मवित्' (व्य० ७२) इति गुणातिशयस्य मुख्यत्वात् । यत्तु 'भेदादसाक्षिणः' (व्य० ६८।६९) इत्युक्तं, तत्सर्वसाम्येनागृह्यमाणविशेषविषयम् ॥ ७८ ॥

भाषा—साक्षियों के कथनों में अन्तर (द्वैध) हो तो उनमें से अधिकांश की बात को, दोनों ओर समान हों तो गुणियों के कथन को और गुणियों में भी परस्पर विरोध हो तो जो सर्वाधिक गुणवान् साक्षी हों उनके वचन को ग्रहण करना चाहिए ॥ ७८ ॥

साक्षिभिश्च कथमुक्ते जयः कथं वा पराजय इत्यत आह—

यस्योचुः साक्षिणः सत्यां प्रतिज्ञां स जयी भवेत् ।
अन्यथा वादिनो यस्य ध्रुवस्तस्य पराजयः ॥ ७९ ॥

यस्य वादिनः प्रतिज्ञां द्रव्यजातिसंख्यादिविशिष्टां साक्षिणः सत्यां वदन्ति सत्यमेवं जानीमो वयमिति स जयी भवति । यस्य पुनर्वादिनः प्रतिज्ञा-

---

१. कृतेऽपि कौटसाक्ष्ये । २. यत्र गुणिनः ।

मन्यथा वैपरीत्येन मिथ्यैतदिति वदन्ति तस्य पराजयो ध्रुवो निश्चितः। यत्र तु प्रतिज्ञातार्थस्य विस्मरणादिना भावाभावौ साक्षिणो न प्रतिपादयन्ति, तत्र प्रमाणान्तरेण निर्णयः कार्यः। न च राज्ञा साक्षिणः पुनः पुनः प्रष्टव्याः। स्वभावोक्तमेव वचनं ग्राह्यम्। यथाह—'स्वभावोक्तं वचस्तेषां ग्राह्यं यद्दोषवर्जितम्। उक्ते तु साक्षिणो राज्ञा न प्रष्टव्याः पुनः पुनः॥' इति॥ ७९॥

भाषा—जिसकी (जिस वादी की) प्रतिज्ञा (दावे) को साक्षी सत्य करार दें वह विजयी होता है और जिस (वादी) की प्रतिज्ञा को वे असत्य बताते हैं उसकी निश्चित पराजय होती है॥ ७९॥

'अन्यथा वादिनो यस्य ध्रुवस्तस्य पराजयः' (व्य० ७९) इत्यस्यापवादमाह—

उक्तेऽपि साक्षिभिः साक्ष्ये यद्यन्ये गुणवत्तमाः।
द्विगुणा वाऽन्यथा ब्रूयुः कूटाः स्युः पूर्वसाक्षिणः॥ ८०॥

पूर्वोक्तलक्षणैः साक्षिभिः साक्ष्ये स्वाभिप्राये[1] प्रतिज्ञातार्थवैपरीत्येनाभिहिते यद्यन्ये पूर्वेभ्यो गुणवत्तमाः द्विगुणा वा अन्यथा प्रतिज्ञातार्थाननुगुण्येन साक्ष्यं ब्रूयुस्तदा पूर्वे साक्षिणः कूटा [2]मिथ्यावादिनो भवेयुः। नन्वेतदनुपपन्नम्; अर्थिप्रत्यर्थिसभ्यसभापतिभिः परीक्षितैः प्रमाणभूतैः साक्षिभिर्निगदिते प्रमाणान्तरान्वेषणेऽनवस्थादोषप्रसङ्गात्—'निर्णिक्ते व्यवहारे तु प्रमाणमफलं भवेत्। लिखितं साक्षिणो वापि पूर्वमावेदितं न चेत्॥', 'यथा पक्वेषु धान्येषु निष्फलाः प्रावृषो गुणाः। निर्णिक्तव्यवहाराणां प्रमाणमफलं तथा॥' (ना० १।६३-६२) इति नारदवचनाच्च। उच्यते,—यदाऽर्थी प्रतिज्ञातार्थस्यान्तरात्मसाक्षित्वेनानाविष्कृतदोषाणामपि साक्षिणां वचनमर्थविसंवादित्वेनाप्रमाणं मन्यमानः साक्षिष्वपि दोषं कल्पयति तदा प्रमाणान्तरान्वेषणं केन वार्यते? उक्तं च—'यस्य च दुष्टं[3] करणं यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः स एवासमीचीनः' इति॥ यथा चक्षुरादिकरणदोषानध्यवसायेऽप्यर्थविसंवादात्तज्जनितस्य ज्ञानस्याप्रामाण्येन[4] करणदोषकल्पना तथेहापि; साक्षिपरीक्षातिरेकेण वाक्यपरीक्षोपदेशाच्च[5]।—'साक्षिभिर्भाषितं वाक्यं सह सभ्यैः परीक्षयेत्' इति। कात्यायनेनाप्युक्तम्—'यदा शुद्धा क्रिया न्यायात्तदा तद्वाक्यशोधनम्। शुद्धाच्च वाक्याद्यः शुद्धः स शुद्धोऽर्थ इति स्थितिः॥' इति। क्रिया साक्षिलक्षणा, 'नार्थसंबन्धिनो नाप्ताः' (मनुः ८।६४) इति न्यायाद्यदा शुद्धा तदा तद्वाक्यशोधनं साक्षिवाक्यशोधनं कर्तव्यम्; वाक्यशुद्धिश्च सत्यार्थप्रतिपादनेन; 'सत्येन शुद्ध्यते

---

१. स्वाभिप्रायेण प्रतिज्ञा। २. मिथ्यासाक्षिणो। ३. कारणं दुष्टं। ४. ज्ञानस्य प्रामाण्य। ५. वाक्यपरीक्षोप°।

वाक्यम्' इति स्मरणात्। एवं शुद्धायाः क्रियायाः शुद्धवाक्याच्च यः शुद्धोऽवगतोऽर्थः स शुद्धस्तथाभूत इति स्थितिरीदृशी मर्यादा न्यायविदाम्। कारणदोषबाधकप्रत्ययाभावे सत्यवितथ एवार्थ इत्यर्थः। ननु स्वयमर्थिना प्रमाणीकृतान्साक्षिणोऽतिक्रम्य कथं क्रियान्तरं प्रमाणीक्रियते? नैष दोषः; यतः—'क्रियां बलवतीं मुक्त्वा दुर्बलां योऽवलम्बते। स जयेऽवधृते सभ्यैः पुनस्तां नाप्नुयात्क्रियाम्॥' इति कात्यायनेन जयावधारणोत्तरकालं क्रियान्तरपरिग्रहनिषेधाज्जयावधारणात्प्राक् क्रियान्तरपरिग्रहो दर्शितः। नारदेनापि (मा० १।६२)—'निर्णिक्ते व्यवहारे तु प्रमाणमफलं भवेत्' इति वदता जयावधारणोत्तरकालमेव प्रमाणान्तरं निषिद्धं न प्रागपि। तस्मादुक्तेऽपि साक्षिभिः साक्ष्येऽपरितुष्यता क्रियान्तरमङ्गीकर्तव्यमिति स्थितम्। एवं स्थिते यत्राभिहितवचनेभ्यः साक्षिभ्यो गुणवत्तमा द्विगुणा वा पूर्वनिर्दिष्टा असन्निहिताः साक्षिणः सन्ति तदा त एव प्रमाणीकर्तव्याः; 'स्वभावेनैव यद्ब्रूयुस्तद्ग्राह्यं व्यावहारिकम्' इत्यस्य सर्वव्यवहारशेषत्वात्, 'निर्णिक्ते व्यवहारे तु प्रमाणमफलं भवेत्। लिखितं साक्षिणो वापि पूर्वमावेदितं न चेत्॥' (मा० १।६२) इति नारदवचनाच्च। पूर्वनिर्दिष्टानामसंभवे स्वनिर्दिष्टा अपि तथाविधाः[3] साक्षिण एव ग्राह्या न दिव्यं; 'संभवे साक्षिणां प्राज्ञो वर्जयेद्दैविकीं क्रियाम्' इति स्मरणात्। तेषामसंभवे दिव्यं प्रमाणीकर्तव्यम्[4]। अतः परमपरितुष्यताप्यर्थिना न प्रमाणान्तरमन्वेषणीयमवचनादिति[5] परिसमापनीयो व्यवहारः। यत्र तु प्रत्यर्थिनः स्वप्रत्ययविसंवादित्वेन साक्षिवचनस्याप्रामाण्यं मन्यमानस्य साक्षिषु दोषारोपणेनापरितोषस्तत्र प्रत्यर्थिनः क्रियोपन्यासावसराभावात्सप्ताहावधिकदैविकराजिकव्यसनोद्भवेन साक्षिपरीक्षणं कर्तव्यम्। तत्र च दोषावधारणे साक्षिणो विवादपदीभूतमृणं दाप्याः, सारानुसारेण दण्डनीयाश्च। अथ दोषानवधारणं[6], तदा प्रत्यर्थिना तावता संतोष्टव्यम्। यथाह मनुः (८।१०८)—'यस्य दृश्येत सप्ताहादुक्तवाक्यस्य साक्षिणः। रोगोऽग्निर्ज्ञातिमरणमृणं दाप्यो दमं च सः॥' इति। एतच्च 'यस्योचुः साक्षिणः सत्यां प्रतिज्ञां स जयी भवेत्' इत्यस्य अपरितुष्यत्प्रत्यर्थिविषयेऽपवादो द्रष्टव्यः। केचित्तु 'उक्तेऽपि साक्षिभिः साक्ष्ये' (व्य० ८०) इत्येतद्वचनमर्थिना निर्दिष्टेषु साक्षिष्वर्थ्यनुकूलमभिहितवत्सु यदि प्रत्यर्थी गुणवत्तमान्द्विगुणान्वाऽन्यान्साक्षिणः पूर्वोक्तविपरीतं संवादयति तदा पूर्ववादिनः साक्षिणः कूटा इति व्याचक्षते,—तदसत्; प्रत्यर्थिनः क्रियानुपपत्तेः। तथा हि—अर्थी नाम साध्यस्यार्थस्य

---

१. शुद्धाच्च वाक्याद्यः शुद्धो। २. कृताः साक्षिणो। ३. तथाविधा एव साक्षिणो ग्राह्याः। ४. प्रमाणं कर्तव्यं। ५. मनुवचनात. यमवचनात्। ६. दोषावधारणं।

निर्दिष्टा, तत्प्रतिपक्षस्तदभाववादी प्रत्यर्थी, तत्राभावस्य भावसिद्धिसापेक्षसिद्धित्वाद्भावस्य चाभावसिद्धिनिरपेक्षसिद्धित्वाद्भावस्यैव साध्यत्वं युक्तम्; अभावस्य स्वरूपेण साधयादिप्रमेयत्वाभावात्। अतश्चार्थिन एव क्रिया युक्ता। अपि चोत्तरानुसारेण सर्वत्रैव क्रिया नियता स्मर्यते; 'प्राङ्न्यायकारणोक्तौ तु प्रत्यर्थी निर्दिशेत्क्रियाम्। मिथ्योक्तौ पूर्ववादी तु प्रतिपत्तौ न सा भवेत्॥' इति। न चैकस्मिन्व्यवहारे द्वयोः क्रिया; 'नचैकस्मिन्विवादे तु क्रिया स्याद्वादिनोर्द्वयोः' इति स्मरणात्। तस्मात्प्रतिवादिनः साक्षिणो गुणवत्तमा द्विगुणा वाऽन्यथा ब्रूयुरित्यनुपपन्नम्॥ अथ मतम्—यत्र द्वावपि भावप्रतिज्ञावादिनौ 'मदीयमिदं दायादप्राप्तं मदीयमिदं दायादप्राप्त'मिति प्रतिज्ञावादिनोः पूर्वापरकालविभागानाकलितमेव वदतस्तत्र द्वयोः साक्षिषु सत्सु कस्य साक्षिणो ग्राह्या इत्याकाङ्क्षायां—'द्वयोर्विवदतोरर्थे द्वयोः सत्सु च साक्षिषु। पूर्वपक्षो भवेद्यस्य भवेयुस्तस्य साक्षिणः॥' इति वचनेन यः पूर्वं निवेदयति, तस्य साक्षिणो ग्राह्या इति स्थिते, तस्यापवादः—'उक्तेऽपि साक्षिभिः साक्ष्ये' इति। अतश्च पूर्वोक्तयोर्वादिनोः समसंख्येषु समगुणेषु साक्षिषु सत्सु पूर्ववादिन एव साक्षिणः प्रष्टव्याः। यदा तु उत्तरवादिनः साक्षिणो गुणवत्तमा द्विगुणा वा तदा प्रतिवादिनः साक्षिणः प्रष्टव्याः। एवं च नाभावस्य साध्यता; उभयोरपि भाववादित्वात्, चतुर्विधोत्तरविलक्षणत्वाच्च प्रकृतोदाहरणे न क्रियाव्यवस्था। एकस्मिन्व्यवहारे तु यथैकस्यार्थिनः क्रियाद्वयं परमते तथा वादिप्रतिवादिनोः क्रियाद्वयेऽप्यविरोध इति। तदप्याचार्यो नानुमन्यते—'उक्तेऽपि साक्षिभिः साक्ष्ये' इत्यपिशब्दादर्थात्प्रकरणाद्वाऽस्यार्थस्यानवगमादित्यलं प्रसङ्गेन॥ ८०॥

भाषा—साक्षियों के अपना वक्तव्य (बयान) दे लेने पर जो दूसरी प्रकृष्ट गुणवाले व्यक्ति या उनसे दूने व्यक्ति अन्यथा (उनके वक्तव्य के विपरीत) कहें तो वे पहले के साक्षी कूट साक्षी हो जाते हैं॥ ८०॥

कूटसाक्षिणो दर्शितास्तेषां दण्डमाह—

पृथक्पृथग्दण्डनीयाः कूटकृत्साक्षिणस्तथा।
विवादाद् द्विगुणं दण्डं विवास्यो ब्राह्मणः स्मृतः॥ ८१॥

यो धनदानादिना कूटान्साक्षिणः करोति स कूटकृत्, साक्षिणश्च ये तथा कूटास्ते विवादान्नाम विवादपराजयात्पराजये यो दण्डस्तत्र तत्रोक्तस्तं दण्डं

---

१. वाभावनिरपेक्ष। २. अभावस्वरूपेण। ३. कस्मिन्विवादे। ४. पवादमाह। ५. प्याचार्या नानुमन्यन्ते। ६. विवादाद्विवादपराजये, विवादात्पराजये।

द्विगुणं पृथक्पृथगेकैकशो दण्डनीयाः । ब्राह्मणस्तु विवास्यो राष्ट्रान्निर्वास्यः, न[1] दण्डनीयः । एतच्च लोभादिकारणविशेषापरिज्ञाने अनभ्यासे च वेदितव्यम्[2] । लोभादिकारणविशेषपरिज्ञानेऽभ्यासे च मनुनोक्तम् (८।१२०–२१)—'लोभात्सहस्रं दण्ड्यः स्यान्मोहात्पूर्वं तु साहसम् । भयाद् द्वौ[3] मध्यमौ दण्डौ मैत्र्यात्पूर्वं चतुर्गुणम् ॥ कामाद्दशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम् । अज्ञानाद् द्वे शते पूर्णे बालिश्याच्छतमेव तु ॥' इति । तत्र लोभोऽर्थलिप्सा, मोहो विपर्ययज्ञानम्, भयं संत्रासः, मैत्री स्नेहातिशयः, कामः स्त्रीव्यतिकराभिलाषः,[4] क्रोधोऽमर्षः । अज्ञानमस्फुटज्ञानम्, बालिश्यं ज्ञानानुत्पादः । सहस्रादिषु ताम्रिकाः पणा गृह्यन्ते । तथा (मनुः ८।१२३)—'कौटसाक्ष्यं तु कुर्वाणांस्त्रीन्वर्णान्धार्मिको नृपः । प्रवासयेद्दण्डयित्वा ब्राह्मणं तु विवासयेत् ॥' इति, एतच्चाभ्यासविषयम्; कुर्वाणानिति वर्तमाननिर्देशात्[5] । त्रीन्वर्णान्क्षत्रियादीन् पूर्वोक्तं दण्डं दण्डयित्वा प्रवासयेन्मारयेत् । अर्थशास्त्रे 'प्रवास'शब्दस्य मारणे प्रयोगात्, अस्य चार्थशास्त्ररूपत्वात्[6] । तत्रापि प्रवासनमोष्ठच्छेदनं जिह्वाच्छेदनं प्राणवियोजनं च कौटसाक्ष्यविषयानुसारेण द्रष्टव्यम् । ब्राह्मणं तु दण्डयित्वा विवासयेत् स्वराष्ट्रान्निष्कासयेत् । यद्वा,–वाससो विगतो विवासाः । विवाससं करोतीति णिचि कृते 'णाविष्ठवत्प्रातिपदिकस्य' इति टिलोपे रूपम् । विवासयेत् नग्नीकुर्यादित्यर्थः । अथवा वसत्यस्मिन्निति वासो गृहम् । विवासयेत् भग्नगृहं कुर्यादित्यर्थः । ब्राह्मणस्यापि लोभादिकारणविशेषापरिज्ञानेऽनभ्यासे च तत्र तत्रोक्तो दण्ड एव । अभ्यासे त्वर्थदण्डो विवासनं च । तत्रापि जातिद्रव्यानुबन्धाद्यपेक्षया विवासनं नग्नीकरणं गृहभङ्गो देशान्निर्वासनं चेति व्यवस्था द्रष्टव्या । लोभादिकारणविशेषापरिज्ञानेऽनभ्यासे चाल्पविषये कौटसाक्ष्ये ब्राह्मणस्यापि क्षत्रियादिवदर्थदण्ड एव । महाविषये तु देशान्निर्वासनमेव । अत्राप्यभ्यासे सर्वेषामेव मनूक्तं द्रष्टव्यम् । न च ब्राह्मणस्यार्थदण्डो नास्तीति मन्तव्यम् । अर्थदण्डाभावे शारीरदण्डे च निषिद्धे स्वल्पेऽप्यपराधे नग्नीकरणगृहभङ्गाङ्ककरणविप्रवासनं दण्डाभावो वा प्रसज्येत; 'चतुर्णामपि वर्णानां प्रायश्चित्तमकुर्वताम् । शारीरं धनसंयुक्तं दण्डं धर्म्यं प्रकल्पयेत् ॥' इति स्मरणाच्च । तथा (मनुः ८।३७८)—'सहस्रं ब्राह्मणो दण्ड्यो गुप्तां विप्रां बलाद् व्रजन्' इति स्मरणात् । यत्तु शङ्खवचनम्—'त्रयाणां वर्णानां धनापहारवध-बन्धक्रिया विवासनाङ्ककरणं ब्राह्मणस्य' इति, तत्र धनापहारः सर्वस्वापहारो विवक्षितः वधसाहचर्यात्; 'शारीरस्त्ववरोधादिर्जीवितान्तः प्रकीर्तितः । काकिण्यादिस्त्वर्थदण्डः सर्वस्वान्त-

---

१. न दण्ड्याः । २. द्रष्टव्यम् । ३. भयाद्वौ मध्यमो दण्डो । ४. स्त्रीव्यतिरेकाभि । ५. वर्तमानकाल । ६. शास्त्रस्वरूप ।

स्तथैव च ॥' (नारदः परि० ५४) इति वधसर्वस्वहरणयोः सहपाठात् । यदप्युक्तम्—'राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात्समग्रधनमक्षतम्' इति, तत्प्रथमकृतसाहसविषयं; न सर्वविषयम् । शारीरस्तु ब्रह्मणस्य न कदाचिद्भवति । 'न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम्' (मनुः ८।३८०) इति सामान्येन मनुस्मरणात् । तथा मनुः (८।३८१)—'न ब्राह्मणवधाद्भूयानधर्मो विद्यते भुवि । तस्मादस्य वधं राजा मनसापि न चिन्तयेत् ॥' इति ॥ ८१ ॥

भाषा—(धन लेकर) मिथ्या बोलने वाले कूट-साक्षियों में प्रत्येक से उस विवाद में हारने वाले पर जितना दण्ड हो उससे दूना धन दण्ड के रूप में लेवे और यदि वह कूटसाक्षी ब्राह्मण हो तो उसे अपने राज्य से निर्वासित करे ॥ ८१ ॥

जानतः साक्ष्यानङ्गीकारे आह—

यः साक्ष्यं श्रावितोऽन्येभ्यो निह्नुते तत्तमोवृतः ।
स दाप्योऽष्टगुणं दण्डं ब्राह्मणं तु विवासयेत् ॥ ८२ ॥

अपि च, यस्तु साक्षित्वमङ्गीकृत्यान्यैः साक्षिभिः सह साक्ष्यं श्रावितः सन्निगदनकाले तमोवृतो रागाद्याक्रान्तचित्तस्तत्साक्ष्यमन्येभ्यः साक्षिभ्यो निह्नुते—'नाहमत्र साक्षी भवामि' इति, स विवादपराजये यो दण्डस्तं दण्डमष्टगुणं दाप्यः । ब्राह्मणं पुनरष्टगुणद्रव्यदण्डदानासमर्थं विवासयेत् । विवासनं च नग्नीकरणगृहभङ्गदेशनिर्वासनलक्षणं विषयानुसारेण द्रष्टव्यम् । इतरेषां त्वष्टगुणद्रव्यदण्डदानासंभवे[1] स्वजात्युचितकर्मकरणनिगडबन्धनकारागृहप्रवेशादि द्रष्टव्यम् । एतच्च पूर्वश्लोकेऽप्यनुसर्तव्यम् । यदा सर्वे साक्ष्यं निह्नुवते तदा सर्वे समानदोषाः । यदा तु साक्ष्यमुक्त्वा पुनरन्यथा वदन्ति, तदानुबन्धाद्यपेक्षया दण्ड्याः । यथाह कात्यायनः—'उक्त्वाऽन्यथा ब्रुवाणाश्च दण्ड्याः स्युर्वाक्छलान्विताः' इति । न चान्येनोक्ताः साक्षिणोऽन्येन रहस्यनुसर्तव्याः । यथाह नारदः (१।१६५)—'न परेण समुद्दिष्टमुपेयात्साक्षिणं रहः । भेदयेन्नैव चान्येन हीयेतैवं[2] समाचरन् ॥' इति ॥ ८२ ॥

भाषा—जो साक्षी होना स्वीकार करके अन्य साक्षियों के साथ शपथ दिलाये जाने पर साक्षी होने से विरत होता है उससे विवाद के हारने पर जो दण्ड हो उसका आठ गुना धन दण्ड के रूप में ले और यदि वह ब्राह्मण हो तो उसे राज्य से निर्वासित करे ॥ ८२ ॥

साक्षिणामवचनमसत्यवचनं च सर्वत्र प्रतिषिद्धं, तदपवादार्थमाह—

वर्णिनां हि वधो यत्र तत्र साक्ष्यनृतं[3] वदेत् ।

---

१. दण्डासंभवे । २. हीयेच्चैवं । ३. वदेत् । साक्ष्यमनृतम् ।

यत्र वर्णिनां शूद्रविट्क्षत्रविप्राणां सत्यवचनेन वधः संभाव्यते तत्र साक्ष्यनृतं वदेत् सत्यं न वदेत्। अनेन च सत्यवचनप्रतिषेधेन साक्षिणः पूर्वप्रतिषिद्धमसत्यवचनमवचनं चाभ्यनुज्ञायते। यत्र शङ्काभियोगादौ सत्यवचने वर्णिनो वधोऽनृतवचने कस्यापि वधस्तत्रानृतवचनमभ्यनुज्ञायते। यत्र तु सत्यवचनेऽर्थिप्रत्यर्थिनोरन्यतरस्य वधोऽसत्यवचने चान्यतरस्य वधस्तत्र तूष्णींभावाभ्यनुज्ञा राजा यद्यनुमन्यते। अथ राजा कथमप्यकथने न मुञ्चति तदा भेदादसाक्षित्वं कर्तव्यम्। तस्याप्यसंभवे सत्यमेव वदितव्यम्। असत्यवचने वर्णिवधदोषोऽसत्यवचनदोषश्च। सत्यवचने तु वर्णिवधदोष एव, [1]तत्र च यथाशास्त्रं प्रायश्चित्तं कर्तव्यम्॥–

तर्ह्यसत्यवचने तूष्णींभावे च शास्त्राभ्य[2]नुज्ञानात्प्रत्यवायाभाव इत्यत आह—

तत्पावनाय निर्वाप्यश्चरुः सारस्वतो द्विजैः॥ ८३॥

तत्पावनाय अनृतवचनावचननिमित्तप्रत्यवायपरिहाराय सारस्वतश्चरुर्द्विजैरेकैकशो निर्वाप्यः कर्तव्यः। सरस्वती देवता अस्येति सारस्वतः। अनवस्रावितान्तरूष्मपक्वौदने 'चरु'शब्दः प्रसिद्धः। इहायमभिसन्धिः—'साक्षिणामनृतवचनमवचनं च यन्निषिद्धं तदिहाभ्यनुज्ञातम्। यत्तु—'ना[3]नृतं वदेत्। अब्रुवन्विब्रुवन्वापि नरो भवति किल्बिषी' (मनुः ८।१३) इति सामान्येनानृतवचनमवचनं च प्रतिषिद्धं तदतिक्रमनिमित्तमिदं प्रायश्चित्तम्। नच मन्तव्यं साक्षिणामनृतवचनावचनाभ्यनुज्ञानेऽपि साधारणानृतवचनावचनप्रतिषेधातिक्रमनिमित्तकप्रत्यवायस्य ताव[4]त्स्थ्यादभ्यनुज्ञावचनमनर्थकमिति। य[5]तः साक्ष्यनृतवचनावचनयोर्भूयान्प्रत्यवायः साधारणानृतवचनावचनयोरल्पीयानित्यर्थवदभ्यनुज्ञावचनम्। यद्यपि भूयसः प्रत्यवायस्य निवृत्त्या आनुषङ्गिकस्याल्पीयसः प्रत्यवायस्य निवृत्तिरन्यत्र तथापीहाभ्यनुज्ञावचनात्प्रायश्चित्तविधानाच्च भूयसो निवृत्त्यावल्पीयानप्यानुषङ्गिकोऽपि प्रत्यवायो न निवर्तत इति गम्यते। एतदेवान्यत्र प्रश्नेषु वर्णिवधाशङ्कायां पान्थादीनामनृतवचनावचनाभ्यनुज्ञानं वेदितव्यम्। नच तत्र प्रायश्चित्तमस्ति; प्रतिषेधान्तराभावात्। निमित्तान्तरेण कालान्तरेऽर्थतत्त्वावगमेऽपि साक्षिणामन्येषां च दण्डाभावोऽस्मादेव वचनादवगम्यत इति॥ ८३॥

भाषा—जहाँ सत्य बोलने से चारों वर्णों में किसी वर्ण के व्यक्ति के वध की संभावना हो वहाँ साक्षी झूठ बोले। उस (असत्यभाषण) की शुद्धि के लिए द्विज सरस्वती देवी के लिये चरु बनाकर चढ़ावे॥ ८३॥

इति साक्षिप्रकरणम्।

---

१. भ्यनुज्ञया। २. नाभूतं। ३. निषिद्धं। ४. स्थ्यादवचनाभ्यनुज्ञा। ५. साक्षिणामसत्यवचनावचनप्रतिषेधातिक्रमयोः।

अथ लेख्यप्रकरणम् ६

भुक्तिसाक्षिणौ निरूपितौ, सांप्रतं लेख्यं निरूप्यते। तत्र लेख्यं द्विविधम्—शासनं जानपदं चेति। शासनं निरूपितम्। जानपदमभिधीयते। तच्च द्विविधम्—स्वहस्तकृतमन्यकृतं[1] चेति। तत्र स्वहस्तकृतमसाक्षिकं, अन्यकृतं ससाक्षिकम् अनयोश्च देशाचारानुसारेण प्रामाण्यम्। यथाह नारदः (१।१३५)—'लेख्यं तु द्विविधं ज्ञेयं स्वहस्तोऽन्यकृतं तथा। असाक्षिमत्साक्षिमच्च सिद्धिर्देशस्थितेस्तयोः॥' इति। तत्रान्यकृतमाह—

> यः कश्चिदर्थो निष्णातः स्वरुच्या तु परस्परम्।
> लेख्यं तु साक्षिमत्कार्यं तस्मिन्धनिकपूर्वकम्॥ ८४॥

धनिकाधमर्णयोर्योऽर्थो हिरण्यादिः परस्परं स्वरुच्या 'इयता कालेनैतावद्देयम्', 'इयती च प्रतिमासं वृद्धिः' इति निष्णातो व्यवस्थितः तस्मिन्नर्थे कालान्तरे विप्रतिपत्तौ वस्तुतत्त्वनिर्णयार्थं लेख्यं साक्षिमदुक्तलक्षणसाक्षियुक्तं धनिकपूर्वकं धनिकः पूर्वो यस्मिंस्तद्धनिकपूर्वकम्। धनिकनामलेखनपूर्वकमिति यावत्। कार्यं कर्तव्यम्। उक्तलक्षणाः साक्षिणो वा कर्तव्याः; 'कर्ता तु यत्कृतं कार्यं सिद्ध्यर्थं तस्य साक्षिणः। प्रवर्तन्ते विवादेषु स्वकृतं वाऽथ लेख्यकम्॥' इति स्मरणात्॥ ८४॥

भाषा—जब धनी और अधमर्ण (ऋण) में अपनी इच्छा से परस्पर कोई बात तय हुई हो (जैसे ऋण भुगतान का समय, वृद्धि की दर आदि) तो साक्षियों के सामने उसे लिख देना चाहिए। लेख में धनिक (ऋणदाता) का उल्लेख करें॥ ८४॥

> समामासतदर्धाहर्नामजातिस्वगोत्रकैः[2]।
> सब्रह्मचारिकात्मीयपितृनामादिचिह्नितम्॥ ८५॥

अपि च, समा संवत्सरः, मासश्चैत्रादिः, तदर्धं पक्षः—शुक्लः कृष्णो वा, अहस्तिथिः प्रतिपदादिः, नाम धनिकर्णिकयोः[3], जातिर्ब्राह्मणत्वादिः, स्वगोत्रं वासिष्ठादिगोत्रम्, एतैः समादिभिश्चिह्नितम्, तथा सब्रह्मचारिकं बह्वृचादिशाखाप्रयुक्तं गुणनाम बह्वृचः कठ इति। आत्मीयपितृनाम धनिकर्णिकपितृनाम, 'आदि'ग्रहणाद् द्रव्यजातिसंख्याचारादेर्ग्रहणम्[4]। 'एतैश्च चिह्नितं लेख्यं कार्यम्' इति गतेन संबन्धः॥ ८५॥

---

१. मन्यहस्तकृतं। २. सगोत्रकैः। ३. धनिकाऽधमर्णिकयोः। ४. संख्यावारादेः।

भाषा—वर्ष, मास, पक्ष, दिन, नाम, जाति और गोत्र के साथ लिखना चाहिए। तथा बह्वृच आदि वेद की शाखा, और अपने पिता का नाम लिखना चाहिए ॥ ८५ ॥

समाप्तेऽर्थे ऋणी नाम स्वहस्तेन निवेशयेत्।
मतं मेऽमुकपुत्रस्य यदत्रोपरि लेखितम् ॥ ८६ ॥

किंच, धनिकाधमर्णयोर्योऽर्थः स्वरुच्या व्यवस्थितस्तस्मिन्नर्थे समाप्ते लिखिते ऋणी अधमर्णो नामात्मीयं स्वहस्तेनास्मिंल्लेख्ये यदुपरि लेखितं तन्ममामुकपुत्रस्य मतं अभिप्रेतमिति निवेशयेत् पत्रे विलिखेत् ॥ ८६ ॥

भाषा—ऋणदाता और ऋणी में तय हुई बात लिखने के उपरान्त ऋणी अपने हाथ से अपना नाम लिखे और यह भी लिखे कि अमुक के पुत्र मुझको ऊपर लिखी हुई बात स्वीकार है ॥ ८६ ॥

साक्षिणश्च स्वहस्तेन पितृनामकपूर्वकम्।
अत्राहममुकः साक्षी लिखेयुरिति ते समाः ॥ ८७ ॥

तथा, तस्मिंल्लेख्ये ये साक्षिणो लिखितास्तेऽप्यात्मीयपितृनामलेखनपूर्वकं अस्मिन्नर्थेऽयममुको देवदत्तः साक्षी इति स्वहस्तेनैकैकशो लिखेयुः। ते च समाः संख्यातो गुणतश्च कर्तव्याः। यद्यधमर्णः साक्षी वा लिपिज्ञो न भवति तदाधमर्णोऽन्येन साक्षी च साक्ष्यन्तरेण सर्वसाक्षिसंनिधौ स्वमतं लेखयेत्। यथाह नारदः—'अलिपिज्ञ ऋणी यः स्यात्स्वमतं तु स लेखयेत्। साक्षी वा साक्षिणाऽन्येन सर्वसाक्षिसमीपतः ॥' इति ॥ ८७ ॥

भाषा—साक्षी लोग भी अपने हाथ से अपने पिता के नाम के साथ अपना नाम लिखे कि इस समय मैं अमुक के यहाँ साक्षी के रूप में उपस्थित हूँ। साक्षियों की संख्या सम होनी चाहिए ॥ ८७ ॥

उभयाभ्यर्थितेनैतन्मया ह्यमुकसूनुना।
लिखितं ह्यमुकेनेति लेखकोऽन्ते ततो लिखेत् ॥ ८८ ॥

अपि च, ततो लेखक उभाभ्यां धनिकाधमर्णिकाभ्यां[2] प्रार्थितेन मयाऽमुकेन देवदत्तेन विष्णुमित्रसूनुना एतल्लेख्यं लिखितमित्यन्ते लिखेत् ॥ ८८ ॥

भाषा—तब अन्त में लेखक लिखे कि धनिक और ऋणी दोनों की प्रार्थना से अमुक के पुत्र अमुक नाम के मैंने यह लेख लिखा ॥ ८८ ॥

---

१. तेऽसमाः, २. काभ्यामुभाभ्यां।

सांप्रतं स्वकृतं लेख्यमाह—

विनापि साक्षिभिर्लेख्यं स्वहस्तलिखितं तु यत्।
तत्प्रमाणं स्मृतं लेख्यं बलोपधिकृतादृते ॥ ८९ ॥

यल्लेख्यं स्वहस्तेन लिखितमधमर्णेन तत्साक्षिभिर्विनापि प्रमाणं स्मृतं मन्वादिभिः। बलोपधिकृतादृते बलेन बलात्कारेण उपधिना छललोभक्रोधभयमदादिलक्षणेन यत्कृतं तस्माद्विना। नारदोऽप्याह (१।१३७)—'मत्ताभियुक्तस्त्रीबालबलात्कारकृतं च यत्। तदप्रमाणं लिखितं भयोपधिकृतं तथा॥' इति तच्चैतत्स्वहस्तकृतं परहस्तकृतं परहस्तकृतं च यल्लेख्यं देशाचारानुसारेण सबन्धकव्यवहारेऽबन्धकव्यवहारे च युक्तमर्थक्रमापरिलोपेन लिप्यक्षरापरिलोपेन च लेख्यमित्येतावत् न पुनः साधुशब्दैरेव, प्रातिस्विकदेशभाषयापि लेखनीयम्। यथाह नारदः (१।१३६)—'देशाचाराविरुद्धं यद्व्यक्ताधिविधिलक्षणम्। तत्प्रमाणं स्मृतं लेख्यमविलुप्तक्रमाक्षरम्॥'इति। विधानं विधिः, आधेर्विधिराधिविधिराधीकरणं तस्य लक्षणं गोप्याधिभोग्याधिकालकृतमित्यादि तद् व्यक्तं विस्पष्टं यस्मिंस्तद्व्यक्ताधिविधिलक्षणम्। अविलुप्तक्रमाक्षरम्। अर्थानां क्रमः क्रमश्चाक्षराणि च क्रमाक्षराणि अविलुप्तानि क्रमाक्षराणि यस्मिंस्तदविलुप्तक्रमाक्षरं। तदेवंभूतं लेख्यं प्रमाणम्। राजशासनवन्न साधुशब्दनियमोऽत्रेत्यभिप्रायः ॥ ८९ ॥

भाषा—जो लेख अपने हाथ से लिखा होता है वह साक्षियों के बिना भी प्रमाण होता है; बशर्ते वह बलपूर्वक या छल या लोभ से न लिखा गया हो ॥ ८९ ॥

लेख्यप्रसङ्गेन लेख्यारूढमप्यृणं त्रिभिरेव देयमित्याह—

ऋणं लेख्यकृतं देयं पुरुषैस्त्रिभिरेव तु।

यथा साक्ष्यादिकृतमृणं त्रिभिरेव देयं, तथा लेख्यकृतमप्याहर्तृतत्पुत्रतत्पुत्रैस्त्रिभिरेव देयं, न चतुर्थादिभिरिति नियम्यते। ननु 'पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयम्' (व्य० ५०) इत्यविशेषेण ऋणमात्रं त्रिभिरेव देयमिति नियतमेव। बाढम्। अस्यैवोत्सर्गस्य पत्रारूढर्णविषये स्मृत्यन्तरप्रभवामपवादशङ्कामपनेतुमिदं वचनमारब्धं। तथा हि—पत्रलक्षणमभिधाय कात्यायनेनाभिहितम्—'एवं कालमतिक्रान्तं पितॄणां दाप्यते ऋणम्' इति। इत्थं पत्रारूढमृणमतिक्रान्तकालमपि पितॄणां संबन्धि दाप्यते। अत्र 'पितॄणाम्' इति बहुवचननिर्देशात्कालमतिक्रान्तमिति

१. विना तु। २. तत्रैतत्। ३. कृतं च लेख्यं। ४. संबन्धव्यवहारे च। ५. तत्पुत्रपौत्रैः।

वचनाच्चतुर्थादिर्दाप्य[1] इति प्रतीयते । तथा हारीतेनापि—'लेख्यं यस्य भवेद्धस्ते लाभं तस्य विनिर्दिशेत्' इति । अत्रापि यस्य हस्ते लेख्य (पत्र) मस्ति तस्यर्णलाभः इति सामान्येन चतुर्थादिभ्योऽप्यृणलाभोऽस्तीति प्रतीयते । अतश्चैतदाशङ्कानिवृत्त्यर्थमेतद्वचनमित्युक्तम् । वचनद्वयं च योगीश्वरवचनानुसारेण योजनीयम् ॥—

अस्यापवादमाह—

आधिस्तु भुज्यते तावद्यावत्तन्न प्रदीयते ॥ ९० ॥

सबन्धकेऽपि पत्रारूढं[2] ऋणं त्रिभिरेव देयमिति नियमाद्धणापाकरणानधिकारेणा[3]ध्याहरणेऽप्यनधिकारप्राप्ताविदमुच्यते । यावच्चतुर्थेन पञ्चमेन वा ऋणं न दीयते तावदेवाधिर्भुज्यत इति वदता सबन्धकर्णापाकरणे चतुर्थादेरप्यधिकारो दर्शितः । नन्वेतदप्युक्तमेव 'फलभोग्यो न नश्यति' (व्य० ५८) इति । सत्यम् । तदप्येतस्मिन्नसत्यपवादवचने पुरुषत्रयविषयमेव स्यादिति सर्वमनवद्यम् ॥ ९० ॥

भाषा—लिखा गया ऋण तीन पीढ़ी तक ही देय होता है । और आधि (बन्धक) का भोग उस समय तक किया जाता है जब तक कि ऋण न लौटाया जाय ॥ ९० ॥

प्रासङ्गिकं परिसमाप्य प्रकृतमेवानुसरति—

देशान्तरस्थे दुर्लेख्ये नष्टोन्मृष्टे हृते तथा ।
भिन्ने [4]दग्धेऽथवा छिन्ने लेख्यमन्यत्तु कारयेत् ॥ ९१ ॥

व्यवहारात्तमे पत्रे पत्रान्तरं कुर्यादिति विधीयते । व्यवहाराक्षमत्वं चात्यन्तव्यवहितदेशान्तरस्थे पत्रे दुर्लेख्ये दुष्टानि संदिह्यमानानि अवाचकानि वा लेख्यानि लिप्यक्षराणि पदानि वा यस्मिंस्तत् दुर्लेख्यं तस्मिन्दुर्लेख्ये, नष्टे कालवशेन, उन्मृष्टे मषीदौर्बल्यादिना मृदितलिप्यक्षरे, हृते तस्करादिभिः[5], भिन्ने विदलिते, दग्धे अग्निना प्रज्वलिते, छिन्ने द्विधाभूते सति पत्रं[6] द्विर्भवति । एतच्चार्थिप्रत्यर्थिनोः परस्परानुमतौ सत्याम् । विमत्यां तु व्यवहारप्राप्तौ देशान्तरस्थपत्रानयनाया[7]ध्वापेक्षया कालो दातव्यः । दुर्गदेशा[8]वस्थिते नष्टे वा पत्रे साक्षिभिरेव व्यवहारनिर्णयः कार्यः । यथाह नारदः (१।१४२)—'लेख्ये देशा-

---

१. वचनाच्च चतुर्थादिः । २. पत्रारूढे ऋणे । ३. कारणापहरणे । ४. दग्धे तथा छि । छिन्ने भिन्ने तथा दग्धे । ५. तस्करादिना । ६. द्वितीयपत्रं भवति । ७. नाय दुर्गाध्वापेक्षया । ८. दुर्देशावस्थिते ।

न्तरन्यस्ते शीर्णे दुर्लिखिते हृते । सतस्तत्कालकरणमसतो द्रष्टृदर्शनम् ॥' इति । सतो विद्यमानस्य पत्रस्य देशान्तरस्थस्यानयनाय कालकरणं कालावधिर्दातव्यः । असतः पुनरविद्यमानस्य पत्रस्य पूर्वं ये द्रष्टारः साक्षिणस्तैर्दर्शनं व्यवहारपरिसमापनं कार्यम् । यदा तु साक्षिणो न सन्ति तदा दिव्येन निर्णयः कार्यः—'अलेख्यसाक्षिके दैवीं व्यवहारे विनिर्दिशेत्' इति स्मरणात् । एतच्च जानपदं व्यवस्थापत्रम् । राजकीयमपि व्यवस्थापत्रमीदृशमेव भवति । इयांस्तु विशेषः—'राज्ञः स्वहस्तसंयुक्तं स्वमुद्राचिह्नितं तथा । राजकीयं स्मृतं लेख्यं सर्वेष्वर्थेषु साक्षिमत् ॥' इति । तथान्यदपि राजकीयं जयपत्रकं वृद्धवसिष्ठेनोक्तम्—'यथोपन्यस्तसाध्यार्थसंयुक्तं सोत्तरक्रियम् । सावधारणकं चैव जयपत्रकमिष्यते ॥ प्राड्विवाकादिहस्ताङ्कं मुद्रितं राजमुद्रया । सिद्धेऽर्थे वादिने दद्याज्जयिने जयपत्रकम् ॥' इति । तथा सभासदोऽपि मतं मेऽमुकपुत्रस्येति स्वहस्तं दद्युः ।—'सभासदश्च ये तत्र स्मृतिशास्त्रविदः स्थिताः । यथालेख्यविधौ तद्वत्स्वहस्तं दद्युरेव ते ॥' इति स्मरणात् । सभासदां च परस्परानुमतिव्यतिरेकेण न व्यवहारो निःशल्यो भवति । यथाह नारदः—'यत्र सभ्यो जनः सर्वः साध्वेतदिति मन्यते । स निःशल्यो विवादः स्यात्सशल्यस्त्वन्यथा भवेत् ॥' इति । एतच्चतुष्पाद्व्यवहार एव ।—'साधयेत्साध्यमर्थं यच्चतुष्पादान्वितं च यत् । राजमुद्रान्वितं चैव जयपत्रकमिष्यते ॥' (कात्यायनः ?) इति स्मरणात् । यत्र तु हीनता । यथा—'अन्यवादी क्रियाद्वेषी नोपस्थाता निरुत्तरः । आहूतप्रपलायी च हीनः पञ्चविधः स्मृतः ॥' (नारदः मा० २।३३) इति । तत्र न जयपत्रकमस्ति, अपि तु हीनपत्रकमेव । तच्च कालान्तरे दण्डप्राप्त्यर्थं, जयपत्रं तु प्राड्न्यायविधिसिद्धयर्थमिति विशेषः ॥ ९१ ॥

भाषा—लेख के कहीं दूसरे देश में छूट जाने पर, पढ़ने योग्य न रह जाने पर खो जाने, मिटजाने, चुरा लिये जाने, गल जाने, जल जाने अथवा फट जाने पर दूसरा लेख बनवाना चाहिए ॥ ९१ ॥

लेख्यसंदेहे निर्णयनिमित्तान्याह—

संदिग्धलेख्यशुद्धिः स्यात्स्वहस्तलिखितादिभिः ।
युक्तिप्राप्तिक्रियाचिह्नसंबन्धागमहेतुभिः ॥ ९२ ॥

'शुद्धमशुद्धं वा' इति संदिग्धस्य लेख्यस्य शुद्धिः स्वहस्तलिखितादिभिः स्यात् । स्वहस्तेन लिखितं यल्लेख्यान्तरं तेन शुद्धिः । यदि सदृशान्यक्षराणि

---

१. द्रष्टदर्शनं । २. व्यवहारे । ३. दत्तं मे । ४. मुद्राङ्कितं । ५. व्यपलापी । ६. संदिग्धलेख्ये शुद्धिः ।

भवन्ति तदा शुद्धिः स्यादित्यर्थः। 'आदि' शब्दात् साक्षिलेखकस्वहस्तलिखितान्तरसंवादाच्छुद्धिरिति। युक्त्या प्राप्तिर्युक्तिप्राप्तिः, देशकालपुरुषाणां द्रव्येण सह संबन्धः प्राप्तिः। 'अस्मिन्देशेऽस्मिन्कालेऽस्य पुरुषस्येदं द्रव्यं घटते' इति युक्तिप्राप्तिः, क्रिया तत्साक्ष्युपन्यासः, चिह्नमसाधारणं श्रीकारादि, 'संबन्धोऽर्थिप्रत्यर्थिनोः पूर्वमपि परस्परविश्वासेन दानग्रहणादिसंबन्धः, आगमोऽस्यैतावतोऽर्थस्य संभावितः प्राप्त्युपायः, एते एव हेतवः। एभिर्हेतुभिः संदिग्धलेख्यस्य शुद्धिः स्यात्' इत्यन्वयः। यदा तु लेख्यसंदेहे निर्णयो न जायते तदा साक्षिभिर्निर्णयः कार्यः। यथाह कात्यायनः—'दूषिते पत्रके वादी तदारूढांस्तु निर्दिशेत्' इति। साक्षिसंभवविषयमिदं वचनम्। साक्ष्यसंभवविषयं तु हारीतवचनम्—'न मयैतत्कृतं पत्रं कूटमेतेन कारितम्। अधरीकृत्य तत्पत्रमर्थे दिव्येन निर्णयः॥' इति॥ ९२॥

भाषा—लेख्य के विषय में सन्देह हो तो अपने हाथ से लिखे हुए लेख्य से युक्तिप्राप्ति (इस देश में इस समय पर इस व्यक्ति पर इतना द्रव्य होता है), क्रिया (उसके साक्षी का उपन्यास), चिह्न (श्रीकार आदि) संबन्ध (धनी और ऋणी का पहले का पारस्परिक संबन्ध) और आगम (द्रव्यप्राप्ति का उपाय) हेतुओं से शुद्धि होती है॥ ९२॥

एवं शोधिते पत्रे ऋणे च दातव्ये प्राप्ते यदा कृत्स्नमेव ऋणं दातुमसमर्थस्तदा किं कर्तव्यमित्यत आह—

लेख्यस्य पृष्ठेऽभिलिखेद्दत्त्वा दत्त्वर्णिको धनम्।
धनी [2]वोपगतं दद्यात्स्वहस्तपरिचिह्नितम्॥ ९३॥

यदाऽधमर्णिकः सकलमृणं दातुमसमर्थस्तदा शक्त्यनुसारेण दत्त्वा पूर्वकृतस्य लेख्यस्य पृष्ठेऽभिलिखेत् 'एतावन्मया दत्तम्' इति। उत्तमर्णो वा उपगतं प्राप्तं धनं तस्यैव लेख्यस्य पृष्ठे दद्यादभिलिखेत्—'एतावन्मया लब्धम्' इति। कथम्? स्वहस्तपरिचिह्नितं स्वहस्तलिखिताक्षरचिह्नितम्। यद्वा,उपगतं प्रवेशपत्रं स्वहस्तलिखित[3]चिह्नितमधमर्णायोत्तमर्णो दद्यात्॥ ९३॥

भाषा—ऋणी धन देकर लेख्य के पीछे लिख दिया करे। धनी भी धन प्राप्त करके अपना हस्ताक्षर करके उपगत (प्राप्तिपत्र, रसीद) देवे॥ ९३॥

ऋणे तु कृत्स्ने दत्ते लेख्यं किं कर्तव्यमित्यत आह—

दत्त्वर्णं पाटयेल्लेख्यं शुद्ध्यै वाऽन्यत्तु कारयेत्।

क्रमेण सकृदेव वा कृत्स्नमृणं दत्त्वा पूर्वकृतं लेख्यं पाटयेत्। यदा तु दुर्गदेशावस्थितं लेख्यं नष्टं वा तदा शुद्ध्यै अधमर्णत्वनिवृत्त्यर्थमन्यल्लेख्यं

---

१. संबन्धप्राप्तिः। २. चोपगतं। ३. लिखितपरिचिह्नित।

कारयेदुत्तमर्णेनाधमर्णः । पूर्वोक्तक्रमेणोत्तमर्णो विशुद्धिपत्रमधमर्णाय दद्यादित्यर्थः ॥—

ससाक्षिके ऋणे कृत्स्ने दातव्ये किं कर्तव्यमित्यत आह—

साक्षिमच्च भवेद्यद्वा तद्दातव्यं ससाक्षिकम् ॥ ९४ ॥

यत्तु ससाक्षिकमृणं तत्पूर्वसाक्षिसमक्षमेव दद्यात् ॥ ९४ ॥

भाषा—ऋण देकर लेख को फाट दे अथवा ऋणी की निवृत्ति के लिए धनी दूसरा लेख्य लिखावे। जो ऋण साक्षियों के सामने लिया गया हो उसे उन्हीं साक्षियों के सामने ही लौटाना चाहिए ॥ ९४ ॥

इति लेख्यप्रकरणम् ।

अथ दिव्यप्रकरणम् ७

लिखितसाक्षिभुक्तिलक्षणं त्रिविधं मानुषं प्रमाणमुक्तम् । अथावसरप्राप्तं दिव्यं प्रमाणमभिधास्यन् 'तुलाग्न्याप' इत्यादिभिराद्यैः[2] पञ्चभिः श्लोकैर्दिव्यमातृकां कथयति । तत्र तावद्दिव्यान्युपदिशति—

तुलाग्न्यापो विषं कोशो दिव्यानीह विशुद्धये ।

तुलादीनि कोशान्तानि पञ्च दिव्यानीह धर्मशास्त्रे विशुद्धये संदिग्धस्यार्थस्य संदेह[3]निवृत्तये दातव्यानीति ॥—

ननु[4]न्यत्रान्यान्यपि तण्डुलादीनि दिव्यानि सन्ति—'घटोऽग्निरुदकं चैव विषं कोशस्तथैव च । तण्डुलाश्चैव दिव्यानि सप्तमस्तप्तमाषकः ॥' इति पितामहस्मरणात् । अतः कथमेतावन्त्येवेत्यत आह—

महाभियोगेष्वे[5]तानि

एतानि महाभियोगेष्वेव नान्यत्रेति नियम्यते न पुनरिमान्येव दिव्यानीति । महत्त्वावधिं च वक्ष्यति । नन्वल्पाभियोगेऽपि कोश[6] इष्यते; 'कोशमल्पेऽपि दापयेत्' इति स्मरणात् । सत्यम् । कोशस्य तुलादिषु पाठो न महाभियोगेष्वेवेति नियमार्थः, किंतु सावष्टम्भाभियोगेऽपि प्राप्त्यर्थः । अन्यथा शङ्काभियोगे एव स्यात् ; 'अवष्टम्भाभियुक्तानां घटादीनि विनिर्दिशेत् । तण्डुलाश्चैव कोशश्च शङ्कास्वेव न संशयः ॥' इति स्मरणात् ॥

---

१. उत्तमर्ण अध । २. द्भिरारभ्य । ३. संदिग्ध । ४. अन्यत्रान्या । ५. योगे त्वेतानि । ६. कोशोऽस्त्येव ।

महाभियोगेषु शङ्कितेषु सावष्टम्भेषु चाविशेषेण प्राप्तावपवादमाह—

—शीर्षकस्थेऽभियोक्तरि ॥ ९५ ॥

एतानि तुलादीन्यभियोक्तरि शीर्षकस्थेऽभियुक्तस्य भवन्ति । शीर्षकं शिरो व्यवहारस्य चतुर्थः पादो जयपराजयलक्षणस्तेन च दण्डो लक्ष्यते, तत्र तिष्ठतीति शीर्षकस्थः तत्प्रयुक्तदण्डभागित्यर्थः ॥ ९५ ॥

भाषा—तुला, अग्नि, जल, विष और कोश ये शुद्धि (संदेह-निवृत्ति) के लिये दिव्य कहे गये हैं। इनका प्रयोग महाभियोगों में होता है और वह भी प्रमुख अभियुक्त के लिए अभियोक्ता के शीर्षकस्थ होने पर किया जाता है (शीर्षकस्थ = जय-पराजय का भागी ।) ॥ ९५ ॥

'ततोऽर्थी लेखयेत्सद्यः प्रतिज्ञातार्थसाधनम्' (व्य० ७) इति भावप्रतिज्ञावादिन एव क्रियेति[1] व्यवस्था दर्शिता तदपवादार्थमाह—

रुच्या वाऽन्यतरः कुर्यादितरो वर्तयेच्छिरः ।

रुच्याभियोक्त्रभियुक्तयोः परस्परसंप्रतिपत्त्याऽन्यतरोऽभियुक्तोऽभियोक्ता वा दिव्यं कुर्यात् । इतरोऽभियुक्तोऽभियोक्ता वा शिरः शारीरमर्थदण्डं वा वर्तयेदङ्गीकुर्यात् । अयमभिसन्धिः—न मानुषप्रमाणवद्दिव्यं प्रमाणं भावैकगोचरं अपि तु भावाभावावविशेषेण गोचरयति । अतश्च मिथ्योत्तरे प्रत्यवस्कन्दने प्राङ्न्याये वाऽर्थिप्रत्यर्थिनोरन्यतरस्येच्छया दिव्यं भवतीति ॥—

अल्पाभियोगे महाभियोगे शङ्कासावष्टम्भयोरप्यविशेषेण कोशो भवतीत्युक्तं[2], तुलादीनि विषान्तानि तु महाभियोगेष्वेव सावष्टम्भेष्वेवेति च नियमो दर्शितः । तत्रावष्टम्भाभियोगेष्वेवेत्यस्यापवादमाह—

विनापि शीर्षकात्कुर्यान्नृपद्रोहे[3]ऽथ पातके ॥ ९६ ॥

राजद्रोहाभिशङ्कायां ब्रह्महत्यादिपातकाभिशङ्कायां च शिरःस्थायिना विनापि तुलादीनि कुर्यात् महाचौर्याभिशङ्कायां च । यथाह—'राजभिः शङ्कितानां च निर्दिष्टानां च दस्युभिः । आत्मशुद्धिपराणां च दिव्यं देयं शिरो विना ॥' इति । तण्डुलाः पुनरल्पचौर्यशङ्कायामेव ।—'चौर्ये तु तण्डुला देया नान्यत्रेति विनिश्चयः' इति पितामहवचनात् । तप्तमाषस्तु महाचौर्याभिशङ्कायामेव; 'चौर्यशङ्काभियुक्तानां तप्तमाषो विधीयते' इति स्मरणात् । अन्ये पुनः शपथा अल्पार्थविषयाः, 'सत्यं वाहनशस्त्राणि गोबीजकनकानि च । देवतापितृपादांश्च दत्तानि सुकृतानि च ॥ स्पृशेच्छिरांसि पुत्राणां दाराणां सुहृदां तथा । अभियोगेषु

1. क्रियाव्यवस्था । 2. भवतीति युक्तं । 3. राजद्रोहे ।

सर्वेषु[1] कोशपानमथापि वा ॥ इत्येते शपथाः प्रोक्ता मनुना स्वल्पकारणे ॥' इति नारदस्मरणात्[2] ॥ यद्यपि मानुषप्रमाणानिर्णेयस्य निर्णायकं यत्तद्दिव्यमिति लोकप्रसिद्ध्या शपथानामपि दिव्यत्वं तथापि कालान्तरनिर्णयनिमित्तत्वेन समनन्तरनिर्णयनिमित्तेभ्यो[3] घटादिभ्यो दिव्येभ्यो भेदस्तव्यपदेशो ब्राह्मणपरिव्राजकवत् । कोशस्य तु शपथत्वेऽपि घटादिषु पाठो महाभियोगविषयत्वेनावष्टम्भाभियोगविषयत्वेन च घटादिसाम्यान्नतु समनन्तरनिर्णयनिमित्तत्वेन । तण्डुलानां तप्तमाषस्य च समनन्तरनिर्णयनिमित्तत्वेऽप्यल्पविषयत्वेन शङ्काविषयत्वेन च घटादिवैलक्षण्यात्तेष्वपाठ इति संतोष्टव्यम् । एतानि च दिव्यानि शपथाश्च यथासंभवमृणादिषु विवादेषु प्रयोक्तव्यानि । यत्तु—पितामहवचनम् 'स्थावरेषु विवादेषु दिव्यानि परिवर्जयेत्' इति, तदपि लिखितसामन्तादिसद्भावे दिव्यानि परिवर्जयेदिति व्याख्येयम् । ननु विवादान्तरेष्वपि प्रमाणान्तरसंभवे[4] दिव्यानामनवकाश एव । सत्यम् । ऋणादिषु विवादेषु उक्तलक्षणसाक्ष्युपन्यासेऽर्थिना[5] कृतेऽपि प्रत्यर्थी यदि दण्डाभ्युपगमावष्टम्भेन दिव्यमवलम्बते तदा दिव्यमपि भवति । [6]साक्षिणामाशयदोषसंभवाद्दिव्यस्य च निर्दोषत्वेन वस्तुतत्त्वविषयत्वात्तल्लक्षणत्वाच्च धर्मस्य । यथाह नारदः—'तत्र सत्ये स्थितो धर्मो व्यवहारस्तु साक्षिणि । दैवसाध्ये पौरुषेयीं न लेख्यं वा प्रयोजयेत् ॥' इति । स्थावरेषु च विवादेषु प्रत्यर्थिना दण्डावष्टम्भेन दिव्यावलम्बने कृतेऽपि सामन्तादिदृष्टप्रमाणसद्भावे न दिव्यं ग्राह्यमिति विकल्पनिराकरणार्थं 'स्थावरेषु विवादेषु' इत्यादिपितामहवचनं नात्यन्तिकदिव्यनिराकरणार्थम्; लिखितसामन्ताद्यभावे स्थावरविवादेष्वनिर्णयप्रसङ्गात् ॥ ९६ ॥

भाषा—अथवा इच्छानुसार इन्हें अभियुक्त और अभियोक्ता दोनों में किसी के लिये किया जाता है; अथवा वे दोनों ही शारीरिक या आर्थिक दण्ड स्वीकार करें । राजद्रोह और ब्रह्महत्यादि पातक में बिना जय-पराजय के विचार के इनका प्रयोग किया जाता है ॥ ९६ ॥

दिव्ये साधारणविधिः—

> [7]सचैलं स्नातमाहूय सूर्योदय उपोषितम् ।
> कारयेत्सर्वदिव्यानि नृपब्राह्मणसंनिधौ ॥ ९७ ॥

किंच, पूर्वेद्युरुपोषितमुदिते सूर्ये सचैलं स्नातं दिव्यग्राहिणमाहूय नृपस्य सभ्यानां च ब्राह्मणानां संनिधौ सर्वाणि दिव्यानि कारयेत्प्राड्विवाकः–'त्रिरात्रो-

---

१. साध्येषु । सर्वेषु कोशयान । २. नारदादि । ३. नन्तरनिमित्तनिर्णयेभ्यो । ४. न्तरसद्भावे । ५. उक्तलक्षणे । ६. माशये दोष । ७. सचैलस्नानमाहूय ।

पोषिताय स्युरेकरात्रोषिताय वा । नित्यं दिव्यानि देयानि शुचये चार्द्रवाससे ॥' इत्युपवासविकल्पः पितामहेनोक्तो बलवद्बलवन्महाकार्याल्पकार्यविषयत्वेन व्यवस्थितो द्रष्टव्यः । उपवासनियमश्च कारयितुः प्राड्विवाकस्यापि—'दिव्येषु सर्वकार्याणि प्राड्विवाकः समाचरेत् । अध्वरेषु यथाध्वर्युः सोपवासो नृपाज्ञया ॥' इति पितामहवचनात् ॥ अत्र यद्यपि सूर्योदय इत्यविशेषेणोक्तं, तथापि शिष्टसमाचाराद्वानुवासरे दिव्यानि देयानि । तत्रापि—'पूर्वाह्णेऽग्निपरीक्षा स्यात्पूर्वाह्णे च धटो भवेत् । मध्याह्ने तु जलं देयं धर्मतत्त्वमभीप्सताम् ॥ दिवसस्य तु पूर्वाह्णे कोश[1]शुद्धिर्विधीयते । रात्रौ तु पश्चिमे यामे विषं देयं सुशीतलम् ॥' इति पितामहोक्तो विशेषो द्रष्टव्यः ॥ अनुक्तका[2]लविशेषाणां तण्डुलतप्तमाषप्रभृतीनां पूर्वाह्ण एव प्रदानम्; 'पूर्वाह्णे सर्वदिव्यानां प्रदानं परिकीर्तितम्' इति सामान्येन नारदस्मरणात् । अहनि त्रिधा विभक्ते पूर्वो[3] भागः पूर्वाह्णः, मध्यमो मध्याह्नः, [4]उत्तरोऽपराह्णः । तथापरोऽपि कालविशेषो विधिप्रतिषेधमुखेन दर्शितः । विधिमुखस्तावत्—'अग्नेः शिशिरहेमन्तौ वर्षाश्चैव प्रकीर्तिताः । शरद्ग्रीष्मेषु सलिलं हेमन्ते शिशिरे विषम् ॥ चैत्रो मार्गशिरश्चैव वैशाखश्च तथैव च । एते साधारणा मासा दिव्यानामविरोधिनः ॥ कोशस्तु सर्वदा देयस्तुला स्यात्सार्वकालिकी ॥' इति । 'कोश' ग्रहणं सर्वशपथानामुपलक्षणम् । तण्डुलानां पुनर्विशेषानभिधानात्सार्वकालिकत्वम् । प्रतिषेधमुखोऽपि–'न शीते तोय[5]शुद्धिः स्यान्नोष्णकालेऽग्निशोधनम् । न प्रावृषि विषं दद्यात्प्रवाते न तुलां तथा ॥ नापराह्णे न सन्ध्यायां न मध्याह्ने कदाचन ॥' इति । 'न शीते तोयशुद्धिः स्या'दित्यत्र 'शीत' शब्देन हेमन्त-शिशिर-वर्षाणां ग्रहणम् । 'नोष्णकालेऽग्निशोधन'मित्यत्र 'उष्णकाल' शब्देन ग्रीष्मशरदोः विधानलब्धस्यापि पुनर्निषेध आदरार्थः; प्रयोजनं तु वक्ष्यते ॥ ९७ ॥

भाषा—(शपथ लेने वाले को) पहले दिन उपवास कराके सूर्योदय के समय वस्त्र सहित स्नान कराके बुलावे और राजा तथा ब्राह्मणों के समक्ष सभी दिव्य करावे ॥ ९७ ॥

अधिकारिव्यवस्थामाह—

तुला स्त्रीबालवृद्धान्धपङ्गुब्राह्मणरोगिणाम् ।
अग्निर्जलं वा शूद्रस्य यवाः सप्त विषस्य वा ॥ ९८ ॥

स्त्री स्त्रीमात्रं जातिवयोवस्थाविशेषानादरेण, बाल आ षोडशाद्वर्षाज्जाति-

---

१. कोशसिद्धिः । २. अनुक्तवेला । ३. प्रथमो भागः । ४. उत्तमो । ५. तोयसिद्धिः स्यात् ।

विशेषानादरेण, वृद्धोऽशीतिकावरः, अन्धो नेत्रविकलः, पङ्गुः पादविकलः, ब्राह्मणो जातिमात्रम्, रोगी व्याधितः, एतेषां शोधनार्थं तुलैवेति नियम्यते। अग्निः फालस्तप्तमाषश्च क्षत्रियस्य। जलमेव वैश्यस्य। 'वा' शब्दोऽवधारणे। विषस्य यवा उक्तपरिमाणाः सप्तैव शूद्रस्य शोधनार्थं भवन्ति। ब्राह्मणस्य तुलाविधानात् 'शूद्रस्य यवाः सप्त विषस्य वा' इति विषविधानादग्निर्जलं चेति क्षत्रियवैश्यविषयमुक्तम्। एतदेव स्पष्टीकृतं पितामहेन—'ब्राह्मणस्य घटो देयः क्षत्रियस्य हुताशनः। वैश्यस्य सलिलं प्रोक्तं विषं शूद्रस्य दापयेत्॥' इति। यत्तु स्त्र्यादीनां दिव्याभावस्मरणम्, 'सव्रतानां भृशार्तानां व्याधितानां तपस्विनाम्। स्त्रीणां च न भवेद्दिव्यं यदि धर्मस्त्वपेक्षितः॥' इति, तत् 'रुच्या वाऽन्यतरः कुर्यात्' (व्य० ९६) इति विकल्पनिवृत्त्यर्थम्। एतदुक्तं भवति—'अवष्टम्भाभियोगेषु स्त्र्यादीनामभियोक्तृत्वेऽभियोज्यानामेव दिव्यं, एतेषामभियोज्यत्वेऽप्यभियोक्तृणामेव दिव्यम्। परस्पराभियोगे तु विकल्प एव। तत्रापि तुलैवेति कात्यायनवचनेन नियम्यते। तथा महापातकादिशङ्काभियोगे स्त्र्यादीनां तुलैवेति एतच्च वचनं सर्वदिव्यसाधारणेषु मार्गशिरश्चैत्रवैशाखेषु स्त्र्यादीनां सर्वदिव्यसमवधाने नियामकतयार्थवत्। नच सर्वकालं[1] स्त्रीणां तुलैवेति, 'स्त्रीणां तु न विषं प्रोक्तं न चापि सलिलं स्मृतम्। घटकोशादिभिस्तासामन्तस्तत्त्वं विचारयेत्॥' इति विषसलिलव्यतिरिक्तघटकोशाग्न्यादिभिः शुद्धिविधानात्। एवं बालादिष्वपि योजनीयम्। [2]तथा ब्राह्मणादीनामपि न सार्वकालिकस्तुलादिनियमः; 'सर्वेषामेव वर्णानां कोशशुद्धिर्विधीयते। सर्वाण्येतानि सर्वेषां ब्राह्मणस्य विषं विना॥' इति पितामहस्मरणात्। तस्मात्साधारणे काले बहुदिव्यसमवधाने तुलादिनियमार्थमेवेदं वचनम्। कालान्तरे तु तत्तत्कालविहितं सर्वेषाम्। तथाहि—वर्षास्वग्निरेव सर्वेषाम्। हेमन्तशिशिरयोस्तु क्षत्रियादित्रयाणामग्निविषयोर्विकल्पः। ब्राह्मणस्य त्वग्निरेव न कदाचिद्विषम्; 'ब्राह्मणस्य विषं विना' इति प्रतिषेधात्। ग्रीष्मशरदोस्तु सलिलमेव। येषां तु व्याधिविशेषेणाग्न्यादिनिषेधः—'कुष्ठिनां वर्जयेदग्निं सलिलं श्वासकासिनाम्। पित्तश्लेष्मवतां नित्यं विषं तु परिवर्जयेत्॥' इति तेषामग्न्यादिकालेऽपि साधारणं तुलाद्येव[3] दिव्यं भवति॥ तथा 'तोयमग्निर्विषं चैव दातव्यं बलिनां नृणाम्' इति [4]वचनाद् दुर्बलानामपि सर्वथा विधिप्रतिषेधोदितकालानतिक्रमेण जातिवयोर्वस्थाश्रितानि दिव्यानि देयानि॥ ९८॥

---

१. सार्वकालं। २. यथा। ३. तुला दिव्यं। ४. दुर्बलानामिति सर्वदा। ५. प्रतिषेधादृते उक्तकालानति। ६. वस्थानाश्रितानि।

भाषा—स्त्री, बालक, वृद्ध, अन्ध, पंगु, ब्राह्मण एवं रोगी के लिए तुला का दिव्य करे। क्षत्रिय के लिए अग्नि का, वैश्य के लिए जल का, और शूद्र के लिये सात यव के बराबर विष का दिव्य होता है ॥ ९८ ॥

'महाभियोगेष्वेतानि' (व्य० ९५) इत्युक्तं, तत्राभियोगस्य यदपेक्षं महत्त्वं तदिदानीमाह—

नासहस्राद्धरेत्फालं न विषं न तुलां तथा।

पणसहस्रादर्वाक् फालं विषं तुलां वा न कारयेत्। मध्यवर्ति जलमपि। यथोक्तम्—'तुलादीनि विषान्तानि गुरुष्वर्थेषु दापयेत्' इति। अत्र कोशस्याग्रहणं 'कोशमल्पेऽपि दापयेत्' इत्यल्पाभियोगेऽपि तस्य स्मरणात्। एतानि चत्वारि दिव्यानि पणसहस्रादूर्ध्वमेव भवन्ति नार्वागित्यर्थः ॥ नन्वर्वागप्यग्न्यादीनि पितामहेन दर्शितानि—'सहस्रे तु घटं दद्यात्सहस्रार्धे तथायसम्। अर्धस्यार्धे तु सलिलं तस्यार्धे तु विषं स्मृतम् ॥' इति सत्यम्।—तत्रेत्थं व्यवस्था यद्द्रव्यापहारे पातित्यं भवति तद्विषयं पितामहवचनं, इतरद्रव्यविषयं योगीश्वरवचनमिति। एतच्च वचनद्वयं स्तेयसाहसविषयम्, अपह्नवे तु विशेषो दर्शितः कात्यायनेन—'दत्तस्यापह्नवो यत्र प्रमाणं तत्र कल्पयेत्। स्तेयसाहसयोर्दिव्यं स्वल्पेऽप्यर्थे प्रदापयेत् ॥ सर्वद्रव्यप्रमाणं तु ज्ञात्वा हेम प्रकल्पयेत्। हेमप्रमाणयुक्तं तु तदा दिव्यं नियोजयेत् ॥ ज्ञात्वा संख्यां सुवर्णानां शतनाशे विषं स्मृतम्। अशीतेस्तु विनाशे वै दद्याच्चैव हुताशनम् ॥ षष्ट्या नाशे जलं देयं चत्वारिंशति वै घटम्। विंशद्दशविनाशे तु कोशपानं विधीयते ॥ पञ्चाधिकस्य वा नाशे ततोऽर्धार्धस्य तण्डुलाः। ततोऽर्धार्धविनाशे हि स्पृशेत्पुत्रादिमस्तकान् ॥ ततोऽर्धार्धविनाशे तु लौकिक्यश्च क्रियाः स्मृताः। एवं विचारयन्राजा धर्मार्थाभ्यां न हीयते ॥ इति 'ज्ञात्वा संख्या सुवर्णानाम्' इत्यत्र 'सुवर्णशब्दः 'षोडश माषाः सुवर्णः' (आ० ३६३) इत्युक्तपरिमाणवचनः। 'नाश'शब्दश्चात्रापह्नववचनः। 'नासहस्राद्धरेत्फालम्' इत्यत्र तु ताम्रिकपणसहस्रं बोद्धव्यम् ॥—

ननु नृपद्रोहे महापातके चैतानि दिव्यान्युक्तानि, तत्कथं 'नासहस्राद्धरेत्फालम्' (व्य० ९९) इत्यत्राह—

नृपार्थेष्वभिशापे च वहेयुः शुचयः सदा ॥ ९९ ॥

नृपद्रोहेषु महापातकाभियोगे च सदा द्रव्यसंख्यामनपेक्ष्यैवैतानि दिव्यानि वहेयुः कुर्युरुपवासादिना शुचयः सन्तः। तथा देशविशेषोऽपि नारदे-

---

१. यदपेक्षम्। २. तत्रैवं व्यवस्था। ३. दद्यादेव। ४. दद्यात् त्रिंशद्विनाशे तु। ५. अभिशापेषु। ६. नृपद्रोहेषु।

नोक्तः—'सभाराजकुलद्वारदेवायतनचत्वरे। निधेयो निश्चल पूज्यो धूपमाल्यानुलेपनैः॥' इति। निधेयो घटः। व्यवस्था च कात्यायनेनोक्ता—'इन्द्रस्थानेऽभिशस्तानां महापातकिनां नृणाम्। नृपद्रोहे प्रवृत्तानां राजद्वारे प्रयोजयेत्॥ प्रतिलोम्यप्रसूतानां दिव्यं देयं चतुष्पथे। [1]अतोऽन्येषु सभामध्ये दिव्यं देयं विदुर्बुधाः। अस्पृश्याधमदासानां म्लेच्छा[2]नां पापकारिणाम्। प्रातिलोम्यप्रसूतानां निश्चयो न तु राजनि। तत्प्रसिद्धानि दिव्यानि संशये तेषु [3]निर्दिशेत्॥' इति॥ ९९॥

भाषा—सहस्र पण से कम के विवाद में तप्तफाल, विष या तुला का (तथा जल का) दिव्य न करावे। राजद्रोह और महापातक के अभियोग में ये दिव्य सदैव पवित्रता के साथ करावे॥ ९९॥

इति दिव्यमातृका॥

एवं सर्वदिव्योपयोगिनीं दिव्यमातृकामभिधायेदानीं घटादिदिव्यानां प्रयोगमाह—

तुलाधारणविद्वद्भिरभियुक्तस्तुलाश्रितः।
प्रतिमानसमीभूतो रेखां[4] कृत्वाऽवतारितः॥ १००॥
'त्वं तुले सत्यधामासि पुरा देवैर्विनिर्मिता।
तत्सत्यं वद कल्याणि! संशयान्मां [5]विमोचय॥ १०१॥
यद्यस्मि पापकृन्मातस्ततो मां त्वमधो नय।
शुद्धश्चेद् गमयोर्ध्वं मां तुलामित्यभिमन्त्रयेत्॥ १०२॥

तुलाया धारणं तोलनं ये विदन्ति सुवर्णकारप्रभृतयस्तैः प्रतिमानेन मृदादिना समीभूतः समीकृतस्तुलामाश्रितोऽधिरूढोऽभियुक्तोऽभियोक्ता वा दिव्यकारी रेखां कृत्वा येन संनिवेशेन प्रतिमानसमीकरणदशायां शिक्यतलेऽवस्थितस्तस्मिन्पाण्डु[6]लेखेनाङ्कयित्वाऽवतारितस्तुलामभिमन्त्रयेत् प्रार्थयेतानेन मन्त्रेण—हे तुले! त्वं सत्यस्य स्थानमसि, पुरा आदिसृष्टौ देवैर्हिरण्यगर्भप्रभृतिभिर्विनिर्मितोत्पादिता। तत्तस्मात्सत्यं संदिग्धस्यार्थस्य स्वरूपं वद दर्शय; कल्याणि शोभने! अस्मात्संशयान्मां विमोचय। हे मातः! यद्यहं पापकृदसत्यवाद्यस्मि ततो मां त्वमधो नय। अथ शुद्धः सत्यवाद्यस्मि ततो मामूर्ध्वं

१. ततोऽन्येषु तु कार्येषु सभामध्ये विदुर्बुधाः। २. म्लेच्छानामपकारिणां। ३. दापयेत्। ४. रेखाः। ५. विशोधय। ६. पाण्डुलेख्येन।

गमयेति ॥ प्राड्विवाकस्य तुलाभिमन्त्रणमन्त्राः स्मृत्यन्तरोक्ताः, अयं तु दिव्यकारिणः। जयपराजयलक्षणं तु मन्त्रलिङ्गादेवावगम्यत इति न पृथगुक्तम् ॥ घटनिर्माणं पुनरारोहणाद्यर्थसिद्धमेव पितामहनारदादिभिः स्पष्टीकृतम्। तद्यथा— 'छित्त्वा तु यज्ञियं वृक्षं यूपवन्मन्त्रपूर्वकम्। प्रणम्य लोकपालेभ्यस्तुला कार्या मनीषिभिः ॥ मन्त्रः सौम्यो वानस्पत्यश्छेदने जप्य एव च। चतुरस्रा तुला कार्या दृढा ऋज्वी तथैव च। कटकानि च देयानि त्रिषु स्थानेषु चार्थवत्। चतुर्हस्ता तुला कार्या पादौ चोपरि तत्समौ ॥ अन्तरं[2] तु तयोर्हस्तौ भवेदध्यर्धमेव वा। हस्तद्वयं निखेयं तु पादयोरुभयोरपि। तोरणे च तथा कार्ये पार्श्वयोरुभयोरपि। घटादुच्चतरे स्यातां नित्यं दशभिरङ्गुलैः ॥ अवलम्बौ च कर्तव्यौ तोरणाभ्यामधोमुखौ। मृन्मयौ सूत्रसंबद्धौ घटमस्तकचुम्बिनौ ॥ प्राङ्मुखो निश्चलः कार्यः शुचौ देशे घटस्तथा। शिक्यद्वयं समासज्य पार्श्वयोरुभयोरपि ॥ प्राङ्मुखान्कल्पयेद्दर्भाञ्शिक्ययोरुभयोरपि। पश्चिमे तोलयेत्कर्तॄनन्यस्मिन्मृत्तिकां शुभाम् ॥ पिटकं पूरयेत्तस्मिन्निष्टकाग्रावपांसुभिः। अत्र च मृत्तिकेष्टकाग्रावपांसूनां विकल्पः। 'परीक्षका नियोक्तव्यास्तुलामानविशारदाः ॥ वणिजो हेमकाराश्च कांस्यकारास्तथैव[3] च। कार्यः परीक्षकैर्नित्यमवलम्बसमो घटः ॥ उदकं च प्रदातव्यं घटस्योपरि पण्डितैः। यस्मिन्न प्लवते तोयं स विज्ञेयः समो घटः ॥ तोलयित्वा नरं पूर्वं पश्चात्तमवतार्य तु। घटं तु कारयेन्नित्यं पताकाध्वजशोभितम् ॥ तत आवाहयेद् देवान्विधिनानेन मन्त्रवित्। वादित्रतूर्यघोषैश्च गन्धमाल्यानुलेपनैः ॥ [4]प्राङ्मुखः प्राञ्जलिर्भूत्वा प्राड्विवाकस्ततो वदेत्। एह्येहि भगवन्धर्म अस्मिन्दिव्ये समाविश ॥ सहितो लोकपालैश्च वस्वादित्यमरुद्गणैः। आवाह्य तु घटे धर्मं पश्चादङ्गानि विन्यसेत् ॥ इन्द्रं पूर्वे तु संस्थाप्य प्रेतेशं दक्षिणे तथा। वरुणं पश्चिमे भागे कुबेरं चोत्तरे तथा ॥ अग्न्यादिलोकपालांश्च कोणभागेषु विन्यसेत्। इन्द्रः पीतो यमः श्यामो वरुणः स्फटिकप्रभः ॥ कुबेरस्तु सुवर्णाभो वह्निश्चापि सुवर्णभः। तथैव निर्ऋतिः श्यामो वायुर्धूम्रः प्रशस्यते ॥ ईशानस्तु भवेद्रक्त एवं ध्यायेत्क्रमादिमान्। इन्द्रस्य दक्षिणे पार्श्वे वसूनाराधयेद् बुधः ॥ धरो[5] ध्रुवस्तथा सोम आपश्चैवानिलोऽनलः। प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वासवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ॥ देवेशेशानयोर्मध्ये [6]आदित्यानां तथा गणम् ॥ धाताऽर्यमा च मित्रश्च वरुणोंऽशुर्भगस्तथा[7] ॥ इन्द्रो विवस्वान्पूषा च पर्जन्यो दशमः स्मृतः। ततस्त्वष्टा ततो विष्णुरजघन्यो जघन्यजः ॥ इत्येते

१. मन्त्राः स्मृत्यन्तरोक्ताः। २. प्रान्तरं। ३. हेमकारश्च कांस्यकारः। ४. प्राञ्जलिः प्राङ्मुखो भूत्वा। ५. ध्रुवोऽध्वरस्तथा सोमः। धरो ध्रुवश्च सोमश्च। ६. आदित्यानां तथार्चनं। आदित्याराधनं तथा। ७. वरुणोंऽशो भग।

द्वादशादित्या नामभिः परिकीर्तिताः । [1]अग्नेः पश्चिमभागे तु रुद्राणामयनं विदुः ॥ वीरभद्रश्च शम्भुश्च गिरिशश्च महायशाः । अजैकपादहिर्बुध्न्यः पिनाकी चापराजितः ॥ भुवनाधीश्वरश्चैव कपाली च विशांपतिः । स्थाणुर्भवश्च भगवान् रुद्रास्त्वेकादश स्मृताः ॥ प्रेतेशरक्षोमध्ये तु मातृस्थानं प्रकल्पयेत् । ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा ॥ वाराही चैव माहेन्द्री चामुण्डा गणसंयुता । निर्ऋतेरुत्तरे भागे गणेशायतनं विदुः ॥ वरुणस्योत्तरे भागे मरुतां स्थानमुच्यते । पवनः स्पर्शनो वायुरनिलो मारुतस्तथा ॥ प्राणः प्राणेशजीवौ च मरुतोऽष्टौ प्रकीर्तिताः । घटस्योत्तरभागे तु दुर्गामावाहयेद् बुधः ॥ एतासां देवतानां तु स्वनाम्ना पूजनं विदुः । भूषावसानं धर्माय दत्त्वा चार्घ्यादिकं क्रमात् ॥ अर्घ्यादिपश्चादङ्गानां भूषान्तमुपकल्पयेत् । गन्धादिकां [2]नैवेद्यान्तां परिचर्यां प्रकल्पयेत् ॥' इति । अत्र च तुलां पताकाध्वजालंकृतां विधाय तस्यां 'एह्येही'ति मन्त्रेण धर्ममावाह्य 'धर्मायाऽर्घ्यं कल्पयामि नमः' इत्यादिना प्रयोगेणार्घ्यपाद्याचमनीयमधुपर्काचमनीयस्नानवस्त्रयज्ञोपवीताचमनीयमुकुटकटकादिभूषान्तं दत्त्वा इन्द्रादीनां दुर्गान्तानां प्रणवाद्यैः स्वनामभिश्चतुर्थ्यन्तैर्नमोन्तैरर्घ्यादिभूषान्तं पदार्थानुसमयेन दत्त्वा धर्माय गन्धपुष्पधूपदीपनैवेद्यादि दत्त्वा इन्द्रादीनां गन्धादीनि पूर्ववद्दद्यात् । गन्धपुष्पाणि च घटपूजायां रक्तानि कार्याणि । यथाह नारदः—'रक्तैर्गन्धैश्च माल्यैश्च दध्यपूपाक्षतादिभिः । अर्चयेत्तु घटं पूर्वं ततः शिष्टांस्तु पूजयेत् ॥' इति । इन्द्रादीनां तु विशेषानभिधानाद्यथालाभं रक्तैरन्यैर्वा पूजनमिति पूजाक्रमः ॥ एतच्च सर्वं प्राड्विवाकः कुर्यात् । यथोक्तम्—'प्राड्विवाकस्ततो विप्रो वेदवेदाङ्गपारगः । श्रुतवृत्तोपसंपन्नः शान्तचित्तो विमत्सरः ॥ सत्यसंधः शुचिर्दक्षः सर्वप्राणिहिते रतः । उपोषितः शुक्लवासाः कृतदन्तानुधावनः ॥ सर्वासां देवतानां च पूजां कुर्याद्यथाविधि ॥' तथा । ऋत्विग्भिश्चतुर्भिश्चतसृषु दिक्षु लौकिकाग्नौ होमः कार्यः । यथाह—'चतुर्दिक्षु तथा होमः कर्तव्यो वेदपारगैः । आज्येन हविषा चैव समिद्भिर्होमसाधनैः ॥ सावित्र्या प्रणवेनाथ स्वाहान्तेनैव होमयेत् ॥' प्रणवादिकां गायत्रीमुच्चार्य पुनः स्वाहाकारान्तं प्रणवमुच्चार्य समिदाज्यचरून्प्रत्येकमष्टोत्तरशतं जुहुयादित्यर्थः । एवं हवनान्तां देवपूजां विधायानन्तरमभियुक्तमर्थं वक्ष्यमाणमन्त्रसहितं पत्रे लिखित्वा तत्पत्रं शोध्य शिरोगतं कुर्यात् । यथाह—'[3]यदर्थमभियुक्तः स्याल्लिखित्वा तं तु पत्रके । मन्त्रेणानेन सहितं तत्कार्यं तु शिरोगतम् ॥' मन्त्रश्चायम्—'आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च । अहश्च

---

१. अग्नेः पश्चिमदिग्भागे रुद्राणां स्थापनं विदुः । २. निवेद्यान्तां परिचर्यां । ३. यं चार्थमभियुक्तः स्यात् ।

रात्रिश्च उभे च संध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥' इति । एतच्च धर्मावाहनादि शिरसि पत्रारोपणान्तमनुष्ठानकाण्डं सर्वदिव्यसाधारणम् । यथोक्तम्—'इमं मन्त्रविधिं कृत्स्नं सर्वदिव्येषु योजयेत् । आवाहनं च देवानां तथैव परिकल्पयेत् ॥' इति । अनन्तरं प्राड्विवाको घटमामन्त्रयेत्; 'घटमामन्त्रयेच्चैव विधिनानेन शास्त्रवित्' इति स्मरणात् । मन्त्राश्च दर्शिताः—'त्वं घट ! ब्रह्मणा सृष्टः परीक्षार्थं दुरात्मनाम् । धकाराद्धर्ममूर्तिस्त्वं टकारात्कुटिलं नरम् ॥ धृतो भावयसे यस्माद्घटस्तेनाभिधीयते । त्वं वेत्सि सर्वजन्तूनां[1] पापानि सुकृतानि च ॥ त्वमेव[2] देव ! जानीषे न विदुर्यानि मानवाः । व्यवहाराभिशस्तोऽयं मानुषः शुद्धिमिच्छति ॥ तदेनं संशयादस्माद्धर्मतस्त्रातुमर्हसि ॥' इति । शोध्यस्तु 'त्वं तुले' इत्यादिना पूर्वोक्तेन मन्त्रेण तुलामामन्त्रयेत् । अनन्तरं प्राड्विवाकः शिरोगतपत्रकं शोध्य यथास्थानं निवेश्य[3] च घटमारोपयति; 'पुनरारोपयेत्तस्मिञ्छिरोवस्थितपत्रकम्' इति स्मरणात् । आरोपितं च विनाडीपञ्चकं यावत्तथैवावस्थापयेत् । तत्कालपरीक्षां च ज्योतिःशास्त्राभिज्ञः कुर्यात् ; 'ज्योतिर्विद् ब्राह्मणः श्रेष्ठः कुर्यात्कालपरीक्षणम् । विनाड्यः पञ्च विज्ञेयाः परीक्षाकालकोविदैः ॥' इति स्मरणात् । दशगुर्वक्षरोच्चारकालः प्राणः । षट्प्राणा विनाडी । उक्तं च—'दशगुरुवर्णः प्राणः षट् प्राणाः स्याद्विनाडिका तासाम् । षष्ट्या घटी घटीनां षष्ट्या[4]हः त्रिंशद्भिर्दिनैर्मासः ॥' इति । तस्मिंश्च काले शुद्ध्यशुद्धिपरीक्षणार्थं[5] शुचयः पुरुषा राज्ञा नियोक्तव्याः । ते च शुद्ध्यशुद्धी कथयन्ति । यथोक्तं पितामहेन—'साक्षिणो ब्राह्मणाः श्रेष्ठा यथादृष्टार्थवादिनः । ज्ञानिनः शुचयोऽलुब्धा नियोक्तव्या नृपेण तु ॥ शंसन्ति साक्षिणः श्रेष्ठाः[6] शुद्ध्यशुद्धी नृपे तदा ॥' इति । शुद्ध्यशुद्धिनिर्णयकारणं चोक्तम् (नारदः १।२८३)—'तुलितो यदि वर्धेत स शुद्धः स्यान्न संशयः । समो वा हीयमानो वा न स[7] शुद्धो भवेन्नरः ॥' इति । यत्तु पितामहवचनम्—'अल्पदोषः समो ज्ञेयो बहुदोषस्तु हीयते' इति, तत्र यद्यप्यभियुक्तस्यार्थस्याल्पत्वं बहुत्वं च न दिव्येनावधारयितुं शक्यते तथापि सकृदमतिपूर्वत्वेनाल्पत्वमसकृन्मतिपूर्वत्वेन च महत्त्वमिति दण्डप्रायश्चित्ताल्पत्वमहत्त्वमवधार्यते । तदा चानुपलक्ष्यमाणदृष्टकारण एव कक्षादीनां छेदो भङ्गो वा भवति तदाप्यशुद्धिरेव—(नारदः १।२८४) 'कक्षच्छेदे तुलाभङ्गे घटकर्कटयोस्तथा । रज्जुच्छेदेऽक्षभङ्गे च तथैवाशुद्धिमादिशेत् ॥' इति स्मरणात् । कक्षं शिक्यतलम् । कर्कटौ तुलान्तयोः

---

१. सर्वभूतानां । २. त्वमेव सर्वं । ३. यथानिवेशं च । ४. षष्ट्याहोरात्र उक्तश्च । ५. शोध्यशुद्धि । ६. सर्वे । ७. [illegible] वेच्छुद्धो । ८. छेदे च भङ्गे च ।

शिक्याधारावीषद्वक्रावायसकीलकौ कर्कटशृङ्गसंनिभौ। अक्षः पादस्तम्भयोरुपरि निविष्टस्तुलाधारपट्टः। यदा तु दृश्यमानकारणक एषां भङ्गस्तदा पुनरारोपयेत्; 'शिक्यादिच्छेदभङ्गेषु पुनरारोपयेन्नरम्' इति स्मरणात्। ततश्च—'ऋत्विक्पुरोहिताचार्यान्दक्षिणाभिश्च तोषयेत्। एवं कारयिता राजा भुक्त्वा भोगान्मनोरमान्॥ महतीं कीर्तिमाप्नोति ब्रह्मभूयाय कल्पते॥' यदा तूक्तलक्षणं धटं तथैव स्थापयितुमिच्छति तदा वायसाद्युपघातनिरासार्थं कपाटादिसहितां शालां कुर्यात्; 'विशालामुन्नतां[2] शुभ्रां धटशालां तु कारयेत्। यत्रस्था नोपहन्येत श्वभिश्चण्डालवायसैः॥ तत्रैव लोकपालादीन्सर्वान्दिक्षु निवेशयेत्। त्रिसन्ध्यं पूजयेदेतान्गन्धमाल्यानुलेपनैः॥ कपाटबीजसंयुक्तां परिचारकरक्षिताम्। मृत्पानीयाग्निसंयुक्तामशून्यां कारयेन्नृपः॥' इति स्मरणात्। बीजानि यवव्रीह्यादीनि॥॥ १००–१०२॥

भाषा—तौलने में जो निपुण (सुवर्णकार आदि) हों, उनसे अभियुक्त को तुला पर चढ़ा कर तौलावे और उसके बराबर जो मिट्टी आदि वस्तु हो उसके बराबर रेखा बनाकर उसे तुला से उतारे। इसके बाद दिव्य करने वाला तुला की इस प्रकार प्रार्थना करे—हे तुला! तुम सत्य के स्थान हो। आदिकाल में देवताओं ने तुम्हारी सृष्टि की है। हे कल्याणी! तुम सत्य को प्रकट करो और मुझे इस संशय से विमुक्त करो। हे माता, यदि मैं पापी हूँ तो मुझे नीचे ले जाओ और यदि मैं निर्दोष हूँ तो मुझे ऊपर उठाओ॥१००–१०२॥

इति धटविधिः॥

इदानीं [3]क्रमप्राप्तमग्निदिव्यमाह—

करौ विमृदित[4]व्रीहेर्लक्षयित्वा ततो न्यसेत्।
सप्ता[5]श्वत्थस्य पत्राणि तावत्सूत्रेण[6] वेष्टयेत्॥ १०३॥

दिव्यमातृकोक्तसाधारणधर्मेषु सत्सु तुलाविधानोक्तधर्मावाहनादिशिरःपत्रारोपणान्ते च विधयन्ते सत्ययमग्निविधौ विशेषः। विमृदितव्रीहेर्विमृदिता विघर्षिता व्रीहयः करा[भ्यां] येनासौ विमृदितव्रीहिस्तस्य करौ लक्षयित्वा तिलकालकव्रणकिणादिस्थानेष्वलक्तकरसादिनाऽङ्कयित्वा। यथाह नारदः (१।२०१)—'हस्तक्षतेषु सर्वेषु कुर्याद्धंसपदानि तु' इति। अनन्तरं सप्ताश्वत्थस्य पर्णानि[7] हस्तयोरञ्जलीकृतयोर्न्यसेत्—'पत्रैरञ्जलिमापूर्य आश्वत्थैः सप्तभिः समैः'

१. भङ्गे तु। २. मुच्छ्रितां। ३. अग्निविधिं। अग्निविधानं। ४. तव्रीही लक्ष। ५. सप्त चाश्वत्थपत्राणि। ६. तावत्सूत्राणि वेष्टयेत्। ७. पत्राणि।

इति स्मरणात्। तानि च [1]हस्तसहितानि सूत्रेण तावद्वेष्टयेत्। यावदश्वत्थपर्णानि सप्तकृत्वो वेष्टयेदित्यर्थः। सूत्राणि च सप्त शुक्लानि भवन्ति—वेष्टयीत सितैर्हस्तौ सप्तभिः सूत्रतन्तुभिः' इति नारदवचनात्। तथा सप्त शमीपत्राणि सप्तैव दूर्वापत्राणि चाक्षतांश्च दध्यक्तानक्षतांश्चाश्वत्थपत्राणामुपरि विन्यसेत्; 'सप्त पिप्पलपत्राणि शमीपत्राण्यथाक्षतान्। दूर्वायाः सप्त पत्राणि दध्यक्तांश्चाक्षतान्न्यसेत्॥' इति स्मरणात्। तथा कुसुमानि च विन्यसेत्; 'सप्त पिप्पलपत्राणि अक्षतान्सुमनो दधि। हस्तयोर्निक्षिपेत्तत्र सूत्रेणावेष्टनं तथा॥' इति पितामहवचनात्। सुमनसः पुष्पाणि। यदपि स्मरणम्—'अयस्तप्तं तु पाणिभ्यामर्कपत्रैस्तु सप्तभिः। [2]अन्तर्हितं हरन् शुद्धस्त्वदग्धः सप्तमे पदे॥' इति, तदश्वत्थपत्राभावेऽर्कपत्रविषयं वेदितव्यम्; अश्वत्थपत्राणां पितामहप्रशंसावचनेन मुख्यत्वावगमात्—'पिप्पलाज्जायते वह्निः पिप्पलो वृक्षराट् स्मृतः। अतस्तस्य तु पत्राणि हस्तयोर्विन्यसेद् बुधः॥' इति १०३॥

भाषा—अग्नि का दिव्य करने वाले के दोनों हाथों में धान मलवा कर हथेलियों पर बने हुए व्रणादि के स्थानों पर अलक्तक रस से चिह्न बनवाकर उसके ऊपर पीपल के सात पत्ते रखे और उन्हें (सात श्वेत) धागों से लपेट देवे॥ १०३॥

कर्तुरग्न्यभिमन्त्रणमाह—

त्वमग्ने! सर्वभूतानामन्तश्चरसि पावक!।
साक्षिवत्पुण्यपापेभ्यो ब्रूहि सत्यं कवे! मम॥ १०४॥

हे अग्ने! त्वं सर्वभूतानां जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जानामन्तः शरीराभ्यन्तरे चरसि उपयुक्तान्नपानादीनां पाचकत्वेन वर्तसे। पावक शुद्धिहेतो! कवे क्रान्तदर्शिन्। साक्षिवत् पुण्यपापेभ्यः सत्यं ब्रूहि। 'पुण्यपापेभ्यः' इति ल्यब्लोपे पञ्चमी। पुण्यपापान्यवेक्ष्य सत्यं ब्रूहि दर्शयेत्यर्थः। अयःपिण्डे त्रिभिस्तापैः संतप्ते संदंशेन पुरत आनीते कर्ता पश्चिममण्डले प्राङ्मुखस्तिष्ठन् अनेन मन्त्रेणाग्निं अभिमन्त्रयेत्। यथाह नारदः (१।२८८-८९)—'अग्निवर्णमयःपिण्डं सस्फुलिङ्गं सुरञ्जितम्। तापे तृतीये संताप्य ब्रूयात्सत्यपुरस्कृतम्॥' इति। अस्यार्थः-लोहशुद्धयर्थं सुतप्तं लोहपिण्डमुदके निक्षिप्य पुनः संताप्योदके निक्षिप्य तृतीये तापे संताप्य संदंशेन गृहीत्वा पुरत आनीते सत्यपुरस्कृतं सत्यशब्दयुक्तं 'त्वमग्ने सर्वभूतानाम्'इत्यादिमन्त्रं कर्ता ब्रूयादिति॥ प्राड्विवाकस्तु मण्डलभूभागाद्दक्षिणप्रदेशे लौकिकमग्निमुपसमाधाय 'अग्नये पावकाय स्वाहा' इत्या-

---

१. स्वहस्तसहितानि। २. अन्तर्हितं रहः शुद्धमदग्धः। अन्तर्हितैर्हरन्।

ज्येनाष्टोत्तरशतवारं जुहुयात्; 'शान्त्यर्थं जुहुयादग्नौ घृतमष्टोत्तरं शतम्' इति स्मरणात्। हुत्वा च तस्मिन्नग्नावयःपिण्डं प्रक्षिप्य तस्मिंस्ताप्यमाने धर्मावाहनादिहवनान्तं पूर्वोक्तं विधिं विधाय तृतीये तापे वर्तमाने अयःपिण्डस्थमग्निमेभिर्मन्त्रैरभिमन्त्रयेत्–'त्वमग्ने! वेदाश्चत्वारस्त्वं च यज्ञेषु हूयसे। त्वं मुखं सर्वदेवानां त्वं मुखं ब्रह्मवादिनाम्॥ जठरस्थो हि भूतानां ततो वेत्सि शुभाशुभम्। पापं पुनासि वै यस्मात्तस्मात्पावक! उच्यसे। पापेषु दर्शयात्मानमर्चिष्मान्भव पावक!। अथवा शुद्धभावेषु शीतो भव हुताशन!॥ त्वमग्ने! सर्वदेवानामन्तश्चरसि साक्षिवत्। त्वमेव देव! जानीषे न विदुर्यानि [1]मानुषाः॥ व्यवहाराभिशस्तोऽयं मानुषः शुद्धिमिच्छति। तदेनं संशयादस्माद्धर्मतस्त्रातुमर्हसि॥' इति॥ १०४॥

भाषा—(इसके बाद दिव्य करने वाला प्रार्थना करे)—हे अग्नि! तुम सभी प्राणियों के शरीर में विद्यमान हो। हे पवित्र करने वाले, क्रान्तदर्शी कवि पुण्य और पाप के साक्षी होकर सत्य को प्रकाशित करो॥ १०४॥

तस्येत्युक्तवतो लौहं पञ्चाशत्पलिकं समम्।
अग्निवर्णं न्यसे[2]त्पिण्डं हस्तयोरुभयोरपि॥ १०५॥

अपि च, तस्य कर्तुरित्युक्तवतः 'त्वमग्ने सर्वभूतानामि'त्यादिभिर्मन्त्रैरभिमन्त्रणं कृतवतो लौहं लोहविकारं पिण्डं पञ्चाशत्पलिकं पञ्चाशत्पलसंमितं सममस्त्ररहितम्। सर्वतश्च समं वृत्तं श्लक्ष्णं तथाऽष्टाङ्गुलायामम्; 'अस्रहीनं समं कृत्वा अष्टाङ्गुलमयोमयम्। पिण्डं तु तापयेदग्नौ पञ्चाशत्पलिकं समम्॥ इति पितामहस्मरणात्। अग्निवर्णमग्निसदृशमुभयोर्हस्तयोरश्वत्थपत्रदधिदूर्वाद्यन्तरितयोर्न्यसेत्क्षिपेत्प्राड्विवाकः॥ १०५॥

भाषा—उसके ऐसा कहने के बाद उसके दोनों हाथों पर पचास पल तौल का लोहे का पिण्ड अग्नि के समान लाल करके रखे॥ १०५॥

ततः किं कुर्यादित्यत आह—

स तमादाय सप्तैव मण्डलानि शनैर्व्रजेत्।

स पुरुषस्तं तप्तलोहपिण्डं अञ्जलिना गृहीत्वा सप्त मण्डलानि शनैर्व्रजेत्। एवकारेण मण्डलेष्वेव पदन्यासं मण्डलानतिक्रमणं च दर्शयति। यथाह पितामहः—'न मण्डलमतिक्रामेन्नाप्यर्वाक्स्थापयेत्पदम्' इति॥—

सप्तैव मण्डलानि शनैर्व्रजेदित्युक्तं, तत्रैकैकं मण्डलं किंप्रमाणकं मण्डलयोरन्तरं च कियत्प्रमाणकमित्यत आह—

[3]षोडशाङ्गुलकं ज्ञेयं मण्डलं तावदन्तरम्॥ १०६॥

---

१. मानवाः २. न्यसेत्क्षिपं। ३. शाङ्गुलिकं।

षोडश अङ्गुलानि यस्य तत् षोडशाङ्गुलकम्। षोडशाङ्गुलप्रमाणं मण्डलं बोद्धव्यम्। मण्डलयोरन्तरं मध्यं च तावदेव षोडशाङ्गुलकमेव।—सप्त मण्डलानि व्रजेदिति वदता प्रथममवस्थानमण्डलमेकमुक्तम्। अत आष्टमण्डलानि षोडशाङ्गुलकानि मण्डलानामन्तराणि मध्यानीत्यर्थः। मण्डलान्तराणि तु सप्त तावत्प्रमाणानि॥ एतदेव नारदेन परिसंख्ययोक्तम्[1] (१।२७५, ७६)—'द्वात्रिंशदङ्गुलं प्राहुर्मण्डलान्मण्डलान्तरम्। अष्टभिर्मण्डलैरेवमङ्गुलानां शतद्वयम्। चत्वारिंशत्समधिकं भूमेरङ्गुलमानतः॥' इति। अयमर्थः—अवस्थानमण्डलात्षोडशाङ्गुलान्मण्डलान्तरमन्यन्मण्डलम्। द्वितीयाद्येकमेकं द्वात्रिंशदङ्गुलं सान्तरालं, तदेवमवस्थानमण्डलं षोडशाङ्गुलम्। गन्तव्यानि च सप्त मण्डलानि सान्तरालानि द्वात्रिंशदङ्गुलानि। एवमष्टाभिर्मण्डलैश्चत्वारिंदशधिकं शतद्वयं भूमेरङ्गुलमानतोऽङ्गुलमानमिति सार्वविभक्तिकस्तसिः। अस्मिंस्तु पक्षेऽवस्थानमण्डलं षोडशाङ्गुलं विधाय द्वात्रिंशदङ्गुलप्रमाणानां[2] सप्तानां सान्तरालमण्डलभूभागानामेकमेकं भूभागं द्विधा विभज्यान्तरालभूभागान्षोडशाङ्गुलप्रमाणान्विहाय मण्डलभूभागेषु द्विषोडशाङ्गुलप्रमाणेषु गन्तृपदप्रमाणानि सप्त मण्डलानि कार्याणि। यथा तेनैवोक्तम् (नारदः १।२९९)—'मण्डलस्य प्रमाणं तु कुर्यात्तत्पदसंमितम्' इति। यत्तु पितामहेनोक्तम्—'कारयेन्मण्डलान्यष्टौ पुरस्तान्नवमं तथा। आग्नेयं मण्डलं चाद्यं द्वितीयं वारुणं स्मृतम्॥ तृतीयं वायुदैवत्यं चतुर्थं यमदैवतम्। पञ्चमं त्विन्द्रदैवत्यं षष्ठं कौबेरमुच्यते। सप्तमं सोमदैवत्यं सावित्रं त्वष्टमं तथा। नवमं सर्वदैवत्यमिति दिव्यविदो विदुः॥ द्वात्रिंशदङ्गुलं प्राहुर्मण्डलान्मण्डलान्तरम्। अष्टाभिर्मण्डलैरेवमङ्गुलानां शतद्वयम्॥ षट्पञ्चाशत्समधिकं भूमेस्तु परिकल्पना। कर्तुः पदसमं कार्यं मण्डलं तु प्रमाणतः॥ मण्डले मण्डले देयाः कुशाः शास्त्रप्रचोदिताः॥' इति।—तत्र[3] नवमं सर्वदैवत्यमपरिमिताङ्गुलप्रमाणं मण्डलं विहायाष्टाभिर्मण्डलैरष्टाभिश्चान्तरालैः प्रत्येकं षोडशाङ्गुलप्रमाणैरङ्गुलानां षट्पञ्चाशदधिकं शतद्वयं संपद्यते। तत्रापि गन्तव्यानि सप्तैव मण्डलानि। यतः प्रथमे तिष्ठति नवमे क्षिपतीति न विरुध्यते। अङ्गुलप्रमाणं च—'तिर्यग्यवोदराण्यष्टावूर्ध्वा वा व्रीहयस्त्रयः। प्रमाणमङ्गुलस्योक्तं वितस्तिर्द्वादशाङ्गुला[4]॥ हस्तो वितस्तिद्वितयं दण्डो हस्तचतुष्टयम्। तत्सहस्रद्वयं क्रोशो योजनं तच्चतुष्टयम्॥' इति बोद्धव्यम्॥ १०६॥

भाषा—वह उस तप्त लौहपिण्ड को लेकर धीरे-धीरे सात मण्डल चले।

---

१. परिसंख्ययोक्तम्। २. द्वादशाङ्गुलप्रमाणानां। ३. तन्नवमं। ४. द्वादशाङ्गुलः।

एक मण्डल सोलह अङ्गुल का होता है और दो मण्डलों के बीच इतना ही (सोलह अङ्गुल) अन्तर रहता है ॥ १०६ ॥

सप्त मण्डलानि गत्वा किं कर्तव्यमित्यत आह—

मुक्त्वाग्निं मृदितव्रीहिरदग्धः शुद्धिमाप्नुयात् ।

अष्टमे मण्डले स्थित्वा नवमे मण्डलेऽग्नितप्तमयःपिण्डं त्यक्त्वा व्रीहीन् कराभ्यां[1] मर्दयित्वाऽदग्धहस्तश्चेच्छुद्धिमाप्नुयात् । दग्धहस्तश्चेदशुद्ध इत्यर्थसिद्धम् । यस्तु संत्रासात्प्रस्खलन्हस्ताभ्यामन्यत्र दह्यते तथाप्यशुद्धो न भवति । यथाह कात्यायनः—'प्रस्खलन्नभिशस्तश्चेत्स्थानादन्यत्र दह्यते । अदग्धं तं विदुर्देवास्तस्य भूयोऽपि दापयेत् ॥' इति ॥—

अन्तरा पतिते पिण्डे संदेहे वा पुनर्हरेत् ॥ १०७ ॥

यदा गच्छतोऽन्तराष्टममण्डलादर्वागेव पिण्डः पतति दग्धादग्धत्वे वा संशयस्तदा पुनर्हरेत् इत्यर्थप्राप्तमुक्तम् । तत्र चायमनुष्ठानक्रमः—पूर्वेद्युर्भूशुद्धि[2] विधायापरेद्युर्मण्डलानि यथाशास्त्रं निर्माय मण्डलाधिदेवताश्च मन्त्रैस्तत्र तत्र संपूज्याग्निमुपसमाधाय शान्तिहोमं निर्वर्त्याग्नावयःपिण्डं निधाय धर्मावाहनादिसर्वदेवतापूजां हवनान्तां निर्वर्त्य उपोषितस्य स्नातस्यार्द्रवाससः पश्चिमे[3] मण्डले तिष्ठतो व्रीहिमर्दनादिकरसंस्कारं विधाय प्रतिज्ञापत्रं समन्त्रकं कर्तुः शिरसि बद्ध्वा प्राड्विवाकस्तृतीये तापेऽग्निमभिमन्त्र्य तप्तमयःपिण्डं संदंशेन[4] गृहीत्वा कर्त्रभिमन्त्रितं तस्याञ्जलौ निदध्यात् । सोऽपि मण्डलानि सप्त गत्वा नवमे मण्डले प्रक्षिप्यादग्धः शुद्धो भवतीति ॥ १०७ ॥

भाषा—(उसके बाद) अग्नि को गिराकर फिर व्रीहि हाथों से मले । यदि जला नहीं रहता है तो शुद्ध होता है । यदि जलने के सन्देह से लौह-पिण्ड बीच ही में गिर जाय तो उसे पुनः उठाकर ले चले ॥ १०७ ॥

इत्यग्निविधिः ॥

संप्रत्युदकविधिमाह—

सत्येन माऽभिरक्ष त्वं वरुणेत्यभिशाप्य[5] कम् ।
नाभिदघ्नोदकस्थस्य गृहीत्वोरू जलं विशेत् ॥ १०८ ॥

हे वरुण ! 'सत्येन मामभिरक्ष त्वम्' इत्यनेन मन्त्रेण कमुदकमभिशाप्याभिमन्त्र्य नाभिदघ्नोदकस्थस्य नाभिप्रमाणोदकस्थितस्य पुरुषस्योरू गृहीत्वा

---

1. कराभ्यां व्रीहीन् । 2. भूतशुद्धिं । 3. पश्चिममण्डले । 4. संदंशकेन । 5. अभिशस्य । अभिशाप्य ।

शोध्यो जलं प्रविशेत् जले निमज्जेत्। एतच्च वरुणपूजायां सत्याम्; 'गन्धमाल्यैः सुरभिभिर्मधुक्षीरघृतादिभिः। वरुणाय प्रकुर्वीत पूजामादौ समाहितः ॥' इति नारदस्मरणात्। तथा साधारणधर्मेषु धर्मावाहनादिसकल[1]देवतापूजाहोमसमन्त्रकप्रतिज्ञापत्रशिरोनिवेशनान्तेषु सत्सु च। तथा—'तोय! त्वं प्राणिनां प्राणः सृष्टेराद्यं तु निर्मितम्। शुद्धेश्च कारणं प्रोक्तं द्रव्याणां देहिनां तथा ॥ अतस्त्वं दर्शयात्मानं शुभाशुभपरीक्षणे ॥' इति प्राड्विवाकेनोदकाभिमन्त्रणे कृते शोध्यः 'सत्येन माऽभिरक्ष त्वं वरुण!' [2]इति जलं प्रार्थयेत्। उदकस्थानानि च नारदेनोक्तानि (५।३०५)—'नदीषु तनुवेगासु सागरेषु वहेषु च। ह्रदेषु देवखातेषु तडागेषु सरःसु च' इति। तथा पितामहेनापि—'स्थिरतोये निम[3]ज्जेत न ग्राहिणि न चाल्पके। तृणशैवालरहिते ज[4]लौकामत्स्यवर्जिते ॥ देवखातेषु यत्तोयं तस्मिन्कुर्याद्विशोधनम्। आहार्य[5] वर्जयेन्नित्यं शीघ्रगासु नदीषु च ॥ आविशेत्सलिले नित्यमूर्मिपङ्कविवर्जिते ॥' इति। आहार्यं तडागादिभ्य आहृतं ताम्रकटाहादिक्षिप्तं जलम्। नाभिप्रमाणोदकस्थश्च यज्ञियवृक्षोद्भवां धर्मस्थूणामवष्टभ्य प्राङ्मुखस्तिष्ठेत्; 'उदके प्राङ्मुखस्तिष्ठेद्धर्मस्थूणां प्रगृह्य च।' इति स्मरणात् ॥ १०८ ॥

भाषा—'हे वरुण! तुम सत्य द्वारा मेरी रक्षा करो' इस प्रकार जल का आवाहन कर के नाभि तक जल में खड़े हुए पुरुष की जाँघों को पकड़कर जल में डुबकी लगावे ॥ १०८ ॥

ततः किं कर्तव्यमित्यत आह—

समकालमिषुं मुक्तमानीया[5]न्यो जवी नरः।
ग[6]ते तस्मिन्निमग्नाङ्गं पश्येच्चेच्छुद्धिमाप्नुयात् ॥ १०९ ॥

निमज्जनसमकालं गते तस्मिन् जविन्येकस्मिन्पुरुषे अन्यो जवी शरपातस्थानस्थितः पूर्वमुक्तमिषुमानीय जले निमग्नाङ्गं यदि पश्यति त[7]दा स शुद्धो भवति। एतदुक्तं भवति—त्रिषु शरेषु मुक्तेष्वेको वेगवान्मध्यमशरपातस्थानं गत्वा तमादाय तत्रैव तिष्ठति। अन्यस्तु पुरुषो वेगवान् शरमोक्षस्थाने तोरणमूले तिष्ठति। एवं स्थि[8]तयोस्तृतीयस्यां करतालिकायां शोध्यो निमज्जति। तत्समकालमेव तोरणमूलस्थितोऽपि द्रुततरं म[9]ध्यशरपातस्थानं गच्छति। शरग्राही च तस्मिन्प्राप्ते द्रुततरं तोरणमूलं प्राप्यान्तर्जलगतं यदि न पश्यति [10]तदा

१. देवपूजा। २. इत्युक्तं प्रार्थयते। ३. निमज्जेत्तु। ४. जलूका। ५. मानयेद्यो। ६. गतेऽन्यस्मिन्। ७. तदा शुद्धो। ८. स्थितयोस्तयोस्तृतीय। ९. मध्यमशर। १०. तदा शुद्धिं व्रजतीति।

शुद्धो भवतीति । एतदेव स्पष्टीकृतं पितामहेन—'गन्तुश्चापि च कर्तुश्च समं गमनमज्जनम् । गच्छेत्तोरणमूलात्तु लक्ष्यस्थानं जवी नरः ॥ तस्मिन्गते द्वितीयोऽपि वेगादादाय सायकम् । गच्छेत्तोरणमूलं तु यतः स पुरुषो गतः ॥ आगतस्तु शरग्राही न पश्यति यदा जले । अन्तर्जलगतं सम्यक्तदा शुद्धं विनिर्दिशेत् ॥' इति । जविनोश्च पुरुषयोर्निर्धारणं कृतं नारदेन—'पञ्चाशतो धावकानां यौ स्यातामधिकौ जवे । तौ च तत्र नियोक्तव्यौ शरानयनकारणात् ॥' इति । तोरणं च निमज्जनसमीपस्थाने समे शोध्यकर्णप्रमाणोच्छ्रितं कार्यम्; 'गत्वा तु तज्जलस्थानं तटे तोरणमुच्छ्रितम् । कुर्वीत कर्णमात्रं तु भूमिभागे समे शुचौ ॥' इति नारदस्मरणात् । शरत्रयं वैणवं च धनुर्मङ्गलद्रव्यैः श्वेतपुष्पादिभिः प्रथमं संपूजयेत्; 'शरान्संपूजयेत्पूर्वं वैणवं च धनुस्तथा । मङ्गलैर्धूपपुष्पैश्च ततः कर्म समाचरेत् ॥' इति पितामहवचनात् । धनुषः प्रमाणं लक्ष्यस्थानं च नारदेनोक्तम्—'क्रूरं धनुः सप्तशतं मध्यमं षट्शतं स्मृतम् । मन्दं पञ्चशतं ज्ञेयमेष ज्ञेयो धनुर्विधिः ॥ मध्यमेन तु चापेन प्रक्षिपेच्च शरत्रयम् । हस्तानां तु शते सार्धे लक्ष्यं कृत्वा विचक्षणः ॥ न्यूनाधिके तु दोषः स्यात्क्षिपतः सायकांस्तथा ॥' इति । अङ्गुलानां सप्ताधिकं शतं सप्तशतं क्रूरं धनुः । एवं षट्शतं पञ्चशतं च । एवं चैकादशाङ्गुलाधिकं हस्तचतुष्टयं क्रूरस्य धनुषः प्रमाणम्, मध्यमस्य दशाङ्गुलाधिकम्, मन्दस्य नवाङ्गुलाधिकमित्युक्तं भवति । शराश्चानायसाग्रा वैणवाः कार्याः; 'शरांश्चानाय साग्रांस्तु प्रकुर्वीत विशुद्धये । वेणुकाण्डमयांश्चैव क्षेप्ता तु सुदृढं क्षिपेत् ॥' इति स्मरणात् । क्षेप्ता क्षत्रियस्तद्वृत्तिर्वा ब्राह्मणः सोपवासो नियोक्तव्यः । यथाह—'क्षेप्ता च क्षत्रियः प्रोक्तस्तद्वृत्तिर्ब्राह्मणोऽपि वा । अक्रूरहृदयः शान्तः सोपवासस्ततः क्षिपेत् ॥' इति । त्रिषु मुक्तेषु मध्यमः शरो ग्राह्यः; तेषां च प्रोषितानां[1] च शराणां शास्त्रचोदनात् । मध्यमस्तु शरो ग्राह्यः पुरुषेण बलीयसा ॥' इति वचनात् । तत्रापि पतनस्थानादानेतव्यः; न सर्पणस्थानात्, 'शरस्य पतनं ग्राह्यं सर्पणं तु विवर्जयेत् । सर्पन्सर्पन्शरो यायाद् दूराद्दूतरं यतः ॥' इति वचनात् । वाते च प्रवायति विषमादिदेशे च शरमोक्षो न कर्तव्यः; 'इषुं न प्रक्षिपेद्विद्वान्मारुते चातिवायति[2] । विषमे भूप्रदेशे च वृक्षस्थानसमाकुले ॥ तृणगुल्मलतावल्लीपङ्कपाषाणसंयुते ॥' इति पितामहवचनात् । निमग्नाङ्गं पश्येच्चेच्छुद्धिमाप्नुयादिति वदता उन्मज्जिताङ्गस्याशुद्धिर्दर्शिता । स्थानान्तरगमने चाशुद्धिः पितामहेनोक्ता; 'अन्यथा न विशुद्धिः स्यादेकाङ्गस्यापि दर्शनात् ॥' इति 'स्थानाद्वाऽन्यत्र गमनाद्यस्मिन्पूर्वं निवेशितः ॥' इति एकाङ्गस्यापि दर्शनादिति च

---

१. प्रक्षिप्तानां च । २. च प्रवायति ।

कर्णाद्यभिप्रायेण। 'शिरोमात्रं तु दृश्यते न कर्णौ नापि नासिका। अप्सु प्रवेशने यस्य शुद्धं तमपि निर्दिशेत्॥' इति विशेषाभिधानात्। अयमत्र प्रयोगक्रमः—'उक्तलक्षणजलाशयसंनिधावुक्तलक्षणं तोरणं विधाय उक्तप्रमाणे देशे लक्ष्यं निधाय तोरणसंनिधौ[1] सशरं धनुः संपूज्य जलाशये वरुणमावाह्य पूजयित्वा तत्तीरे धर्मादींश्च देवान्हवनान्तमिष्ट्वा शोध्यस्य शिरसि प्रतिज्ञापत्रमाबध्य प्राड्विवाको जलमभिमन्त्रयते—'तोय! त्वं प्राणिनां प्राणः' इत्यादिना मन्त्रेण। अथ शोध्यः—'सत्येन' इत्यादिना मन्त्रेण जलमभिमन्त्र्य गृहीतस्थूणस्य नाभिमात्रोदकावस्थितस्य बलीयसः पुरुषस्य समीपमुपसर्पति। अथ शरेषु त्रिषु मुक्तेषु मध्यमशरपातस्थाने मध्यमं शरं गृहीत्वा जविन्येकस्मिन्पुरुषे स्थिते अन्यस्मिंश्च तोरणमूले स्थिते प्राड्विवाकेन तालत्रये दत्ते युगपद्गमनमज्जनमथ शरानयनमिति॥ १०९॥

भाषा—उसके डुबकी लगाने के समय ही छोड़े गये बाण को लानेके लिए एक तेज दौड़ने वाला व्यक्ति जावे; लौटने पर यदि वह दिव्य करने वाले व्यक्ति को जल डूबा हुआ ही पावे तो वह शुद्ध होता है॥ १०९॥

इत्युदकविधिः॥

इदानीं विषविधानमाह—

त्वं विष! ब्रह्मणः पुत्रः सत्यधर्मे[2] व्यवस्थितः[3]।
त्रायस्वास्मादभीशापात्सत्येन भव मेऽमृतम्॥ ११०॥
एवमुक्त्वा विषं शार्ङ्गं भक्षयेद्धिमशैलजम्।
यस्य वेगैर्विना[4] जीर्येच्छुद्धिं तस्य विनिर्दिशेत्॥ १११॥

'त्वं विष' इत्यादिमन्त्रेण विषमभिमन्त्र्य कर्ता विषं हिमशैलजं शृङ्गभवं भक्षयेत्। तच्च भक्षितं सत् यस्य विषं वेगैर्विना जीर्यति स शुद्धो भवति। विषवेगो नाम धातोर्धात्वन्तरप्राप्तिः। 'धातोर्धात्वन्तरप्राप्तिर्विषवेग इति स्मृतः' इति वचनात्। धातवश्च त्वगसृङ्मांसमेदोस्थिमज्जाशुक्राणीति सप्त। एवं च सप्तैव विषवेगा भवन्ति। तेषां च लक्षणानि पृथगेव विषतन्त्रे कथितानि—'वेगो रोमाञ्चमाद्यो रचयति विषजः स्वेदवक्त्रोपशोषौ तस्योर्ध्वस्तत्परौ द्वौ वपुषि जनयतो वर्णभेदप्रवेपौ। यो वेगः पञ्चमोऽसौ नयति[5] विवशतां कण्ठभङ्गं च हिक्कां षष्ठो निःश्वासमोहौ वितरति च मृतिं सप्तमो भक्षकस्य॥' इति। अत्र च महादेवस्य

1. समीपे सशरं। 2. सत्ये धर्मे,; सत्यधर्मव्यवस्थितः। 3. व्यवस्थितम्। 4. जीर्णे तस्य शुद्धिं विनिर्दिशेत्। 5. नयनविवशतां।

पूजा कर्तव्या । यथाह नारदः—'दद्याद्विषं सोपवासो देवब्राह्मणसंनिधौ । धूपोपहारमन्त्रैश्च पूजयित्वा महेश्वरम् ॥' इति प्राड्विवाकः कृतोपवासो महादेवं पूजयित्वा तस्य पुरतो विषं व्यवस्थाप्य धर्मादिपूजां हवनान्तां विधाय प्रतिज्ञापत्रं शोध्यस्य शिरसि निधाय विषमभिमन्त्रयते—'त्वं विष ! ब्रह्मणा सृष्टं परीक्षार्थं दुरात्मनाम् । पापानां दर्शयात्मानं शुद्धानाममृतं भव ॥ मृत्युमूर्ते विष ! त्वं हि ब्रह्मणा परिनिर्मितम् । त्रायस्वैनं नरं पापात्सत्येनास्यामृतं भव ॥' इति । एवमभिमन्त्र्य दक्षिणाभिमुखावस्थिताय दद्यात् ; 'द्विजानां संनिधावेव दक्षिणाभिमुखे स्थिते । उदङ्मुखः प्राङ्मुखो वा विषं दद्यात्समाहितः ॥' इति नारदवचनात् । विषं च वत्सनाभादि ग्राह्यम् ; 'शृङ्गिणो वत्सनाभस्य हिमजस्य विषस्य वा ॥' इति पितामहवचनात् । वर्ज्यानि च तेनैवोक्तानि—'चारितानि च जीर्णानि कृत्रिमाणि तथैव च । भूमिजानि च सर्वाणि विषाणि परिवर्जयेत् ॥' इति । तथा नारदेनापि (१।३२१)—'भ्रष्टं च चारितं चैव धूपितं मिश्रितं तथा । कालकूटमलाबुं च विषं यत्नेन वर्जयेत् ॥' इति । कालश्च नारदेनोक्तः (१।३१९)—'तोलयित्वेप्सितं काले देयं तद्धि हिमागमे । नापराह्णे न मध्याह्ने न संध्यायां तु धर्मवित् ॥' इति । कालान्तरे तूक्तप्रमाणादल्पं देयम् ; 'वर्षे चतुर्यवा मात्रा ग्रीष्मे पञ्चयवा स्मृता । हेमन्ते सा सप्तयवा शरद्यल्पा ततोऽपि हि ॥' इति स्मरणात् । अल्पेति षड्यवेत्यर्थः । 'हेमन्त'ग्रहणेन शिशिरस्यापि ग्रहणम् । 'हेमन्तशिशिरयोः समासेन' इति श्रुतेः । वसन्तस्य च सर्वदिव्यसाधारणत्वात्तत्रापि सप्त यवा विषं च घृतप्लुतं देयं; नारदवचनात् । 'विषस्य पलषड्भागाद्भागो विंशतिमस्तु यः । तमष्टभागहीनं तु शोध्ये दद्याद्घृतप्लुतम् ॥' (नारदः १।३२३) इति । पलं चात्र चतुःसुवर्णकम् । तस्य षष्ठो भागो दश माषाः दश यवाश्च भवन्ति । 'त्रियवं त्वेककृष्णलम् । पञ्चकृष्णलको माषः' इत्येको माषः पञ्चदश यवा भवन्ति । एवं दशानां माषाणां यवाः सार्धशतं भवन्ति । पूर्वे च दश यवा इति षष्ट्यधिकं शतं यवाः पलस्य षष्ठो भागस्तस्माद्विंशतितमो भागोऽष्टौ यवास्तस्याष्टभाग एकयवः, तेन हीनं विंशतितमं भागं सप्तयवं घृतप्लुतं दद्यात् । घृतं च विषात्त्रिंशद्गुणं ग्राह्यम् ; 'पूर्वाह्णे शीतले देशे विषं देयं तु देहिनाम् । घृते नियोजितं श्लक्ष्णं पिष्टं त्रिंशद्गुणान्वितम् ॥' इति कात्यायनवचनात् । त्रिंशद्गुणेन घृतेनान्वितं विषम् । शोध्यश्च कुहकादिभ्यो रक्षणीयः; 'त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा पुरुषैः स्वैरधिष्ठितम् । कुहकादिभयाद्राजा रक्षयेद्दिव्यकारिणम् ॥ ओषधीर्मन्त्रयोगांश्च मणीनथ विषापहान् । कर्तुः शरीरसंस्थांस्तु गूढोत्पन्नान्परीक्षयेत् ॥' इति पितामहस्मरणात् । तथा

---

१. पूजा कार्या । २. तथैवोक्तानि । ३. यत्नेन परि ।

विषमपि र[1]क्षणीयम्—'शार्ङ्गं हैमवतं शस्तं गन्धवर्णरसान्वितम्। अकृत्रिममसंमूढममन्त्रोपहतं च यत् ॥' (१।३२२) इति नारदस्मरणात्। त[2]था विषे पीते यावत्करतालिकाशतपञ्चकं तावत्प्रतीक्षणीयोऽनन्तरं चिकित्सनीयः। यथाह नारदः—'पञ्चतालशतं कालं निर्विकारो यदा भवेत्। तदा भवति संशुद्धस्ततः कुर्याच्चिकित्सितम् ॥' इति। पितामहेन तु दिनान्तोऽवधिरुक्तोऽल्पमात्राविषयः—'भक्षिते तु यदा स्वस्थो मूर्च्छाच्छर्दिविवर्जितः। निर्विकारो दिनस्यान्ते शुद्धं तमपि निर्दिशेत् ॥' इति। अत्र च प्राड्विवाकः सोपवासो महादेवं संपूज्य तत्पुरतो विषं स्थापयित्वा धर्मादीनिष्ट्वा शोध्यस्य शिरसि प्रतिज्ञापत्रं निधाय विषमभिमन्त्र्य दक्षिणाभि[3]मुखस्थिताय विषं प्रयच्छति। स च शोध्यो विषमभिमन्त्र्य भक्षयतीति क्रमः ॥ ११०-१११ ॥

भाषा—'हे विष ! तुम ब्रह्मा के पुत्र हो और सत्यधर्म में प्रतिष्ठित हो। इस अभिशाप से सत्य के द्वारा मेरी रक्षा करो और मेरे लिये अमृत बनो' इस प्रकार विष से प्रार्थना करके दिव्य करने वाला व्यक्ति हिमालय से उत्पन्न एवं शृङ्गसे निकले हुए विष का भक्षण करे। यदि विष बिना प्रभाव दिखाये ही पच जाय तो वह उसकी शुद्धि प्रकट करता है ॥ ११०-१११ ॥

इति विषविधानम् ॥

अथ कोशविधिमाह—

देवानुग्रान्समभ्यर्च्य तत्स्नानोदकमाहरेत्।
संस्नाप्य[4] पाययेत्तस्माज्जलं तु प्रसृतित्रयम् ॥ ११२ ॥

उग्रान्देवान्दुर्गादित्यादीन् समभ्यर्च्य गन्धपुष्पादिभिः पूजयित्वा संस्नाप्य तत्स्नानोदकमाहरेत्। आहृत्य च 'तोय ! त्वं प्राणिनां प्राणः' इत्यादिना तत्तोयं प्राड्विवाकः संस्नाप्य शोध्येन च तत्तोयं पात्रान्तरे कृत्वा 'सत्येन माभिरक्ष त्वं वरुण !' इत्यनेनाभिमन्त्रितं पाययेत्प्रसृतित्रयम्। एतच्च साधारणधर्मेषु धर्मावाहनादिसकलदेवतापूजाहोमसमन्त्रकप्रतिज्ञापत्रशिरोनिवेशनान्तेषु सत्सु। अत्र च स्नाप्यदेवतानियमः कार्यनियमोऽधिकारिनियमश्च पित[5]ामहादिभिरुक्तः—'भक्तो यो यस्य देवस्य पाययेत्तस्य तज्जलम्। समभावे तु देवानामादित्यस्य च प[6]ाययेत् ॥ दुर्गायाः पाययेच्चौरान्ये च शस्त्रोपजीविनः। भास्करस्य तु यत्तोयं ब्राह्मणं तन्न पाययेत् ॥ दुर्गायाः स्नापयेच्छूलमादित्यस्य तु मण्डलम्। अन्येषामपि देवानां स्नापयेदायुधानि तु ॥' इति देवतानियमः।

---

१. परीक्षणीयं। २. तथापि। ३. भिमुखाय स्थिताय। मुखाय विषं। ४. संश्राव्य। ५. पितामहनारदादिभिः। ६. स्नापयेत्।

'विस्रम्भे सर्वशङ्कासु संधिकार्ये तथैव च। एषु कोशः प्रदातव्यो नित्यं चित्तविशुद्धये ॥' इति कार्यनियमः। 'पूर्वाह्णे सोपवासस्य स्नातस्यार्द्रपटस्य च। सशूकस्याव्यसनिनः कोशपानं विधीयते ॥' (नारदः १।३२८) सशूकं आस्तिकः। 'मद्यपस्त्रीव्यसनिनां कितवानां तथैव च। कोशः प्राज्ञैर्न दातव्यो ये च नास्तिकवृत्तयः ॥ महापराधे निर्धर्मे कृतघ्ने क्लीबकुत्सिते। नास्तिकव्रात्यदासेषु कोशपानं विवर्जयेत् ॥' इति। महापराधो महापातकी, निर्धर्मो वर्णाश्रमधर्मरहितः पाखण्डी, कुत्सितः प्रतिलोमजः। दाशाः कैवर्ताः, इत्यधिकारिनियमः। तथा गोमयेन मण्डलं कृत्वा तत्र शोध्यमादित्याभिमुखं स्थापयित्वा पाययेदिति नारदवचनादवगन्तव्यम्। यथाह—'तमाहूयाभिशस्तं तु मण्डलाभ्यन्तरे स्थितम्। आदित्याभिमुखं कृत्वा पाययेत्प्रसृतित्रयम् ॥' इति ॥ ११२ ॥

भाषा—(दुर्गा आदि) उग्रदेवताओं की गन्ध, पुष्प आदि से पूजा करके उनके स्नान का जल लेवे; उसे दूसरे पात्र में रखकर तीन अंजलि जल दिव्य करने वाले को पिलावे ॥ ११२ ॥

ननु तुलादिषु विषान्तेषु समनन्तरमेव शुद्ध्यशुद्धिभावना, कोशे तु कथमित्यत आह—

अर्वाक् चतुर्दशादह्नो यस्य नो राजदैविकम्।
व्यसनं जायते घोरं स शुद्धः स्यान्न संशयः ॥ ११३ ॥

चतुर्दशादह्नः पूर्वं यस्य राजिकं राजनिमित्तं दैविकं देवप्रभवं व्यसनं दुःखं घोरं महत् नो नैव जायते अल्पस्य देहिनामपरिहार्यत्वात्स शुद्धो वेदितव्यः। ऊर्ध्वं पुनरवधेर्न दोषः। यथाह नारदः (१।३३१)—'ऊर्ध्वं यस्य द्विसप्ताहाद्वैकृतं तु महद्भवेत्। नाभियोज्यः स विदुषा कृतकालव्यतिक्रमात् ॥' इत्यर्थसिद्धमेवोक्तम्। 'अर्वाक् चतुर्दशादह्नः' इत्येतन्महाभियोगविषयम्; 'महाभियोगेष्वेतानि' इति प्रस्तुत्याभिधानात्। अवध्यन्तराणि पितामहेनोक्तान्यल्पविषयाणि, 'कोशमल्पेऽपि दापयेत्' इति स्मरणात् तानि च—'त्रिरात्रात्सप्तरात्राद्वा द्वादशाहाद् द्विसप्तकात्। वैकृतं यस्य दृश्येत पापकृत्स उदाहृतः ॥' इति। महाभियोगोक्तद्रव्यादर्वाचीनं द्रव्यं त्रिधा विभज्य त्रिरात्राद्यपि पक्षत्रयं व्यवस्थापनीयम् ॥ ११३ ॥

भाषा—जिस (इस दिव्य को करनेवाले) व्यक्ति पर चौदह दिन के भीतर राजकृत या दैवकृत घोर दुःख नहीं गिरता वह शुद्ध होता है, इसमें संशय नहीं ॥ ११३ ॥

इति कोशविधिः ॥

---

१. विभेदे। २. पासेषु

तुलादीनि कोशान्तानि पञ्च महादिव्यानि यथोद्देशं योगीश्वरेण व्याख्यातानि । स्मृत्यन्तरे स्वल्पाभियोगविषयाण्यन्यान्यपि दिव्यानि कथितानि । यथाह पितामहः—'तण्डुलानां प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणनोदितम् । चौरे तु तण्डुला देया नान्यत्रेति विनिश्चयः ॥ तण्डुलान्कारयेच्छुक्लाञ्छालेर्नान्यस्य कस्यचित् । मृन्मये भाजने कृत्वा आदित्यस्याग्रतः शुचिः ॥ स्नानोदकेन संमिश्रान्रात्रौ तत्रैव वासयेत् । प्राङ्मुखोपोषितं स्नातं शिरोरोपितपत्रकम् ॥ तण्डुलान्भक्षयित्वा तु पत्रे निष्ठीवयेत्ततः । पिप्पलस्य तु नान्यस्य अभावे भूर्ज एव तु ॥ लोहितं दृश्यते यस्य हनुस्तालु च शीर्यते । गात्रं च कम्पते यस्य तमशुद्धं विनिर्दिशेत् ॥' इति । शिरोरोपितपत्रकं तण्डुलान्भक्षयित्वा निष्ठीवयेत्प्राड्विवाकः ॥ भक्षयित्वेति च ण्यन्तात्क्त्वि रूपम् । सर्वदिव्यसाधारणं च धर्मावाहनादि पूर्ववदिहापि कर्तव्यम् ॥

इति तण्डुलविधिः ॥

तप्तमाषविधिः पितामहेनोक्तः । तथा हि—'सौवर्णं राजतं वापि ताम्रं वा षोडशाङ्गुलम् । चतुरङ्गुलखातं तु मृन्मयं वाऽथ मण्डलम् ॥' वर्तुलमित्यर्थः । 'पूरयेद्घृततैलाभ्यां विंशत्या तु पलैस्तु तत् । सुवर्णमाषकं तस्मिन्सुतप्ते निक्षिपेत्ततः ॥ अङ्गुष्ठाङ्गुलियोगेन उद्धरेत्तप्तमाषकम् । कराग्रं यो न धुनुयाद्विस्फोटो वा न जायते । शुद्धो भवति धर्मेण निर्विकारकराङ्गुलिः ॥' इति । 'उद्धरेत्'इति वचनात्पात्रादुत्क्षेपणमात्रं, न[2] बहिः प्रक्षेपणमादरणीयम्[3] ॥

अपरः कल्पः—'सौवर्णे राजते ताम्रे आयसे मृन्मयेऽपि वा । गव्यं घृतमुपादाय तदग्नौ तापयेच्छुचिः । सौवर्णीं राजतीं ताम्रीमायसीं वा सुशोधिताम् । सलिलेन सकृद्धौतां प्रक्षिपेत्तात्रमुद्रिकाम् ॥' (नारदः १।३३४) 'भ्रमद्वीचितरङ्गाढ्ये ह्यनखस्पर्शगोचरे । परीक्षेतार्द्रपर्णेन [4]चुरुकारं सुघोषकम् ॥ ततश्चानेन मन्त्रेण सकृत्तदभिमन्त्रयेत् ॥ परं पवित्रममृतं घृत त्वं यज्ञकर्मसु । दह पावक ! पापं त्वं हिमशीतं शुचौ भव ॥ उपोषितं ततः स्नातमार्द्रवाससमागतम् । ग्राहयेन्मुद्रिकां तां तु घृतमध्यगतां तथा ॥ प्रदेशिनीं च तस्याथ परीक्षेयुः परीक्षकाः । यस्य विस्फोटका न स्युः शुद्धोऽसावन्यथाऽशुचिः ॥' इति । अत्रापि धर्मावाह–, नाद्यनुसंधातव्यम् ॥ घृतानुमन्त्रणं प्राड्विवाकस्य । 'त्वमग्ने ! सर्वभूतानाम्' इति शोध्यस्याग्न्यभिमन्त्रणमन्त्रः । 'प्रदेशिनीं परीक्षेयुः'इति वचनात् प्रदेशिन्यैव मुद्रिकोद्धरणम् ॥

इति तप्तमाषकविधिः ॥

---

१. कम्पयेद्यस्य । २. न प्रक्षेपणं । ३. माहरणीयं । ४. चूरुकारं ।

धर्माधर्मदिव्यविधिः ॥ धर्माधर्माख्यदिव्यविधिश्च पितामहेनोक्तः । तथाच—'अधुना संप्रवक्ष्यामि धर्माधर्मपरीक्षणम् । हन्तॄणां याचमानानां प्रायश्चित्तार्थिनां नृणाम् ॥'इति । हन्तॄणामिति साहसाभियोगेषु, याचमानानामिति अर्थाभियोगेषु, प्रायश्चित्तार्थिनामिति पातकाभियोगेषु; 'राजतं कारयेद्धर्ममधर्मं सीसकायसम्' इति प्रतिमाविधानं सीसकं वा आयसं वेति ॥ पक्षान्तरमाह—'लिखेद्भूर्जे पटे वापि धर्माधर्मौ सितासितौ । अभ्युक्ष्य पञ्चगव्येन गन्धमाल्यैः समर्चयेत् ॥ सितपुष्पस्तु धर्मः स्यादधर्मोऽसितपुष्पधृक् । एवंविधायोपलिख्य पिण्डयोस्तौ निधापयेत् ॥ गोमयेन मृदा वापि पिण्डौ कार्यौ समंततः । मृद्भाण्डकेऽनुपहते स्थाप्यौ चानुपलक्षितौ ॥ उपलिप्ते शुचौ देशे देवब्राह्मणसंनिधौ । आवाहयेत्ततो देवाँल्लोकपालांश्च पूर्ववत् ॥ धर्मावाहनपूर्वं तु प्रतिज्ञापत्रकं लिखेत् ॥' ततः—'यदि पापविमुक्तोऽहं धर्मस्त्वायातु मे करे । अशुद्धश्चेन्मम करे पापं[1] आयातु धर्मतः ॥' इति ॥ अभिशस्तोऽभिमन्त्रयते—'अभियुक्तस्तयोश्चैकं प्रगृह्णीताविलम्बितः । धर्मे गृहीते शुद्धः स्यादधर्मे तु स हीयते ॥ एवं समासतः प्रोक्तं धर्माधर्मपरीक्षणम् ॥' इति ॥

इति धर्माधर्मदिव्यविधिः ॥

अन्ये च शपथा द्रव्याल्पत्वमहत्त्वविषया जातिविशेषविषयाश्च मन्वादिभिरुक्ताः । ते यथा—'निष्के तु सत्यवचनं द्विनिष्के पादलम्भनम् । त्रिकाद्र्वाक्तु पुण्यं स्यात्कोशपानमतः परम् ॥' (मनुः ८।११३) 'सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः । गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥' (मनुः ८।११३) इत्यादयः । अत्र च शुद्धिविभावना मनुनोक्ता (८।११५)—'न चाऽऽर्तिमृच्छति क्षिप्रं स ज्ञेयः शपथे शुचिः' इति । आर्तिरपि 'यस्य नो राजदैविकं व्यसनं जायते घोरम्' इत्युक्तैव । कालनियमश्च एकरात्रमारभ्य त्रिरात्रपर्यन्तं त्रिरात्रमारभ्य पञ्चरात्रपर्यन्तम् । एकरात्रप्रभृतित्वं कार्यलाघवगौरवपर्यालोचनया द्रष्टव्यम् ॥ एवं दिव्यैर्जयपराजयावधारणे दण्डविशेषोऽपि दर्शितः कात्यायने—'शतार्धं दापयेच्छुद्धमशुद्धो दण्डभाग्भवेत्' इति । तं दण्डमाह—'विषे तोये हुताशे च तुलाकोशे च तण्डुले । तप्तमाषकदिव्ये च क्रमाद्दण्डं प्रकल्पयेत् ॥ सहस्रं षट्शतं चैव तथा पञ्चशतानि च । चतुस्त्रिद्व्येकमेवं च हीनं हीनेषु कल्पयेत् ॥' इति ॥ 'निह्नवे भावितो दद्याद्' इत्युक्तदण्डेनायं दिव्यनिबन्धनो दण्डः समुच्चीयते ॥

इति दिव्यप्रकरणम् ॥

---

1. पापमायातु ।

अथ दायविभागप्रकरणम् ८

प्रमाणं मानुषं दैवमिति भेदेन वर्णितम् ।
अधुना वर्ण्यते दायविभागो योगमूर्तिना ॥

तत्र 'दाय' शब्देन यद्धनं स्वामिसंबन्धादेव निमित्तादन्यस्य स्वं भवति तदुच्यते । स च द्विविधः–अप्रतिबन्धः, सप्रतिबन्धश्च । तत्र पुत्राणां पौत्राणां च पुत्रत्वेन पौत्रत्वेन च पितृधनं पितामहधनं च स्वं भवतीत्यप्रतिबन्धो दायः । पितृव्यभ्रात्रादीनां तु पुत्राभावे स्वाम्यभावे च स्वं भवतीति[1] सप्रतिबन्धो दायः । एवं तत्पुत्रादिष्वप्यूहनीयः । विभागो नाम द्रव्यसमुदायविषयाणामनेकस्वाम्यानां तदेकदेशेषु व्यवस्थापनम्[2] । एतदेवाभिप्रेत्योक्तं नारदेन—'विभागोऽर्थस्य पित्र्यस्य[3] तनयैर्यत्र कल्प्यते । दायभाग इति प्रोक्तं व्यवहारपदं बुधैः (ना० १३।१) ॥' इति । पित्र्यस्येति स्वत्वनिमित्तसंबन्धोपलक्षणम् । 'तनयैः' इत्यपि प्रत्यासन्नोपलक्षणम् । इदमिह निरूपणीयम् ,–कस्मिन्काले कस्य कथं कैश्च विभागः कर्तव्य इति । तत्र कस्मिन्काले कथं कैश्चेति तत्र तत्र श्लोकव्याख्यान एव वक्ष्यते । कस्य विभाग इत्येतावदिह चिन्त्यते । किं विभागात्स्वत्वमुत स्वस्य सतो विभाग इति । तत्र स्वत्वमेव तावन्निरूप्यते–किं शास्त्रैकसमधिगम्यं स्वत्वमुत प्रमाणान्तरसमधिगम्यमिति । तत्र शास्त्रैकसमधिगम्यमिति तावद्युक्तं; गौतमवचनात्—'स्वामी रिक्थक्रयसंविभागपरिग्रहाधिगमेषु ब्राह्मणस्याधिकं लब्धं क्षत्रियस्य विजितं निर्विष्टं वैश्यशूद्रयोः ॥' (गौ० १०।३९-४२) इति । प्रमाणान्तरगम्ये स्वत्वे नेदं वचनमर्थवत्स्यात् । तथा स्तेनातिदेशे मनुः (८। ३४०)—'योऽदत्तादायिनो[4] हस्ताल्लिप्सेत ब्राह्मणो धनम् । याजनाध्यापने[5]नापि यथा स्तेनस्तथैव सः ॥' इति । अदत्तादायिनः सकाशाद्याजनादिद्वारेणापि द्रव्यमर्जयतां दण्डविधानमनुपपन्नं स्यात्स्वत्वस्य लौकिकत्वे । अपि च, लौकिकं चेत्स्वत्वं मम स्वमनेनापहृतमिति न ब्रूयात् ; अपहर्तुरेव स्वत्वात् । अन्यथा[6]ऽन्यस्य स्वं तेनापहृतमिति नापहर्तुः स्वम् । एवं तर्हि सुवर्णरजतादिस्वरूपवदस्य वा स्वमन्यस्य वा स्वमिति संशयो न स्यात् । तस्माच्छास्त्रैकसमधिगम्यं स्वत्वमिति । अत्रोच्यते—'लौकिकमेव स्वत्वं लौकिकार्थक्रियासाधनत्वात् व्रीह्यादिवत् । आहवनीयादीनां हि शास्त्रगम्यानां न लौकिकक्रियासाधनत्वमस्ति ॥ नन्वाहवनीयादीनामपि पाकादिसाधनत्वमस्त्येव । नैतत्–नहि तत्राहवनीयादि-

१. अत्र पुत्रसद्भावः स्वामिसद्भावश्च प्रतिबन्धः, तदभावे पितृव्यत्वेन भ्रातृत्वेन च स्वं भवतीति विशेषः । २. द्रव्यस्य व्यवस्थापनं । ३. पैत्रस्य । ४. अदत्तदायिनश्चौरस्य । ५. याजनाध्यापनाद्वापि । ६. अन्यथात्वं ।

रूपेण पाकादिसाधनत्वम् । किं तर्हि ? प्रत्यक्षादिपरिदृश्यमानाग्न्यादिरूपेण । इह तु सुवर्णादिरूपेण न क्रयादिसाधनत्वमपि तु स्वत्वेनैव । नहि यस्य यत्स्वं न भवति तत्तस्य क्रयाद्यर्थक्रियां साधयति ॥ अपि च,–प्रत्यन्तवासिनामप्यदृष्टशास्त्रव्यवहाराणां स्वस्वव्यहारो दृश्यते; क्रयविक्रयादिदर्शनात् । किंच,–नियतोपायकं[1] स्वत्वं लोकसिद्धमेवेति न्यायविदो मन्यन्ते । तथा हि—लिप्सासूत्रे तृतीये वर्णके द्रव्यार्जननियमानां क्रत्वर्थत्वे स्वत्वमेव न स्यात् । स्वत्वस्यालौकिकत्वादिति पूर्वपक्षासंभवमाशङ्क्य द्रव्यार्जनस्य प्रतिग्रहादिना स्वत्वसाधनत्वं लोकसिद्धमिति पूर्वपक्षः समर्थितो गुरुणा—ननु च द्रव्यार्जनस्य क्रत्वर्थत्वे स्वत्वमेव न भवतीति याग एव न संवर्तेत । प्रलपितमिदं केनापि 'अर्जनं स्वत्वं नापादयतीति विप्रतिषिद्धम्' इति वदता । तथा सिद्धान्तेऽपि स्वत्वस्य लौकिकत्वमङ्गीकृत्यैव विचारप्रयोजनमुक्तम् , अतो 'नियमातिक्रमः पुरुषस्य न क्रतोः' इति । अस्य चार्थ एवं विवृतः—यदा द्रव्यार्जननियमानां क्रत्वर्थत्वं तदा नियमार्जितेनैव द्रव्येण क्रतुसिद्धिर्न[2] नियमातिक्रमार्जितेन द्रव्येण न क्रतुसिद्धिरिति न पुरुषस्य नियमातिक्रमदोषः[3] पूर्वपक्षे । राद्धान्ते स्वर्जननियमस्य पुरुषार्थत्वात्तदतिक्रमेणार्जितेनापि द्रव्येण क्रतुसिद्धिर्भवति, पुरुषस्यैव नियमातिक्रमदोष इति नियमातिक्रमार्जितस्यापि स्वत्वमङ्गीकृतम्,–अन्यथा क्रतुसिद्ध्यभावात् , न चैतावता चौर्यादिप्राप्तस्यापि स्वत्वं स्यादिति मन्तव्यम् । लोके तत्र स्वत्वप्रसिद्ध्यभावात् , व्यवहारविसंवादाच्च एवं प्रतिग्रहाद्युपायके स्वत्वे लौकिके स्थिते—'ब्राह्मणस्य प्रतिग्रहादय उपायाः, क्षत्रियस्य विजितादयः, वैश्यस्य कृष्यादयः, शूद्रस्य शुश्रूषादयः' इत्यदृष्टार्था नियमाः । रिक्थादयस्तु सर्वसाधारणाः—'स्वामी रिक्थक्रयसंविभागपरिग्रहाधिगमेषु' (गौ० १०।३९) इत्युक्ताः । तत्राप्रतिबन्धो दायो रिक्थम् । क्रयः प्रसिद्धः । संविभागः सप्रतिबन्धो दायः । परिग्रहोऽनन्यपूर्वस्य जलतृणकाष्ठादेः स्वीकारः । अधिगमो निध्यादेः प्राप्तिः । एतेषु निमित्तेषु सत्सु स्वामी भवति । ज्ञातेषु[4] ज्ञायते स्वामी । 'ब्राह्मणस्याधिकं लब्धम्' (गौ० १०।४०) इति ब्राह्मणस्य प्रतिग्रहादिना यल्लब्धं तदधिकमसाधारणम् । 'क्षत्रियस्य विजितम्' (गौ० १०।४१) इत्यत्राधिकमित्यनुवर्तते । क्षत्रियस्य विजयदण्डादिलब्धमसाधारणम् । 'निर्विष्टं वैश्यशूद्रयोः' (गौ० १०।४२) इत्यत्राप्यधिकमित्यनुवर्तते । वैश्यस्य कृषिगोरक्षादिलब्धं निर्विष्टं तदसाधारणम् । शूद्रस्य द्विजशुश्रूषादिना भृतिरूपेण यल्लब्धं तदसाधारणम् । एवमनुलोमजानां प्रतिलोमजानां च

---

१. नियतोपाधिकं । २. क्रतुसिद्धिर्नियमातिक्रमार्जितेन द्रव्येण न क्रतुसिद्धिरिति । ३. दोष इति पूर्वपक्षे । ४. कृतेषु ।

लोकप्रसिद्धेषु स्वत्वहेतुषु यद्यदसाधारणमुक्तं 'सूतानामश्वसारथ्यम्' इत्यादि तत्तत्सर्वं निर्विष्टशब्देनोच्यते सर्वस्यापि भृतिरूपत्वात् ॥ 'निर्वेशो भृतिभोगयोः' (तृ० ना० २१४) इति त्रिकाण्डीस्मरणात् । तत्तदसाधारणं वेदितव्यम् । यदपि 'पत्नी दुहितरश्चैव' (व्य० १३५) इत्यादिस्मरणं तत्रापि स्वामिसंबन्धितया बहुषु दायविभागितया प्राप्तेषु लोकप्रसिद्धेऽपि स्वत्वे व्यामोहनिवृत्त्यर्थं स्मरणमिति सर्वमनवद्यम् ॥ यदपि मम स्वमनेनापहृतमिति न ब्रूयात्स्वत्वस्य लौकिकत्व इति;-तदप्यसत् ; स्वत्वहेतुभूतक्रयादिसंदेहात्स्वत्वसंदेहोपपत्तेः । विचारप्रयोजनं तु—'यद्गर्हितेनार्जयन्ति कर्मणा ब्राह्मणा धनम् । तस्योत्सर्गेण शुद्ध्यन्ति जप्येन तपसैव च ॥' इति । शास्त्रैकसमधिगम्ये स्वत्वे । गर्हितेनासत्प्रतिग्रहवाणिज्यादिना लब्धस्य स्वत्वमेव नास्तीति तत्पुत्राणां [1]तदविभाज्यमेव । यदा तु [2]लौकिकं स्वत्वं तदाऽसत्प्रतिग्रहादिलब्धस्यापि स्वत्वात्तत्पुत्राणां तद्विभाज्यमेव । 'तस्योत्सर्गेण शुद्ध्यन्ति' इति प्रायश्चित्तमर्जयितुरेवं, तत्पुत्रादीनां तु दायत्वेन स्वत्वमिति न तेषां दोषसंबन्धः; 'सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः । प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ॥' इति (१०।११५) मनुस्मरणात् ॥

इदानीमिदं संदिह्यते—'किं विभागात्स्वत्वमुत[3] स्वस्य सतो विभाग इति । तत्र विभागात्स्वत्वमिति[3] तावद्युक्तम् ; जातपुत्रस्याधानविधानात् । यदि जन्मनैव स्वत्वं स्यात्तदोत्पन्नस्य पुत्रस्यापि तत्स्वं साधारणमिति द्रव्यसाध्येष्वाधानादिषु पितुरनधिकारः स्यात् । तथा विभागात्प्राक् पितृप्रसादलब्धस्य विभागप्रतिषेधो नोपपद्यते; सर्वानुमत्या दत्तत्वाद्विभागप्राप्त्यभावात् । यथाह—'शौर्यभार्याधने चोभे यच्च विद्याधनं भवेत् । त्रीण्येतान्यविभाज्यानि प्रसादो यश्च पैतृकः ॥' (ना० १३।६) इति ॥ तथा 'भर्त्रा प्रीतेन यद्दत्तं स्त्रियै तस्मिन्मृतेऽपि तत् । सा यथाकाममश्नीयाद्दद्याद्वा स्थावरादृते ॥' इति प्रीतिदानवचनं च नोपपद्यते जन्मनैव स्वत्वे । नच 'स्थावरादृते यद्दत्तम्' इति संबन्धो युक्तः; व्यवहितयोजनाप्रसङ्गात् । यदपि—'मणिमुक्ताप्रवालानां सर्वस्यैव पिता प्रभुः । स्थावरस्य तु सर्वस्य न पिता न पितामहः ॥' तथा—'पितृप्रसादाद्भुज्यन्ते वस्त्राण्याभरणानि च । स्थावरं तु न भुज्येत प्रसादे सति पैतृके ॥'इति स्थावरस्य प्रसाद[4]दानप्रतिषेधवचनं, तत्पितामहोपात्तस्थावरविषयम् । अतीते पितामहे तद्धनं पित्रापुत्रयोः [5]साधारणमपि मणिमुक्तादि पितुरेव, स्थावरं तु साधारणमित्यस्मादेव वचनादवगम्यते । तस्मान्न जन्मना स्वत्वं किंतु स्वामिनाशाद्विभागाद्वा स्वत्वम् । अत

---

१. न विभाज्यमेव । २. स्वत्वं लौकिकं तदा । ३. स्वत्वमुत । ४. प्रसादादिह न प्रति । प्रसादप्रदाने प्रति । ५. समानमपि ।

एव पितुरूर्ध्वं विभागात्प्राग्द्रव्यस्वत्वस्य प्रहीणत्वादन्येन गृह्यमाणं न निवार्येत इति चोद्यस्यानवकाशः। तथैकपुत्रस्यापि पितृप्रयाणादेव पुत्रस्य स्वमिति न विभागमपेक्षत इति। अत्रोच्यते—लोकप्रसिद्धमेव स्वत्वमित्युक्तम्। लोके च पुत्रादीनां जन्मनैव स्वत्वं प्रसिद्धतरं नापह्नवमर्हति। 'विभाग'शब्दश्च बहुस्वामिकधनविषयो[1] लोकप्रसिद्धः, नान्यदीय[2]विषयो न प्रहीणविषयः; तथा[3] 'उत्पत्त्यैवार्थस्वामित्वं लभेतेत्याचार्याः' इति गौतमवचनाच्च। 'मणिमुक्ताप्रवालानाम्' इत्यादिवचनं च जन्मना स्वत्वपक्ष एवोपपद्यते। नच पितामहोपात्तस्थावरविषयमिति युक्तम्; 'न पिता न पितामहः' इति वचनात्। पि[4]तामहस्य हि स्वार्जितमपि पुत्रे पौत्रे च सत्यदेयमिति वचनं जन्मना स्वत्वं गमयति। तथा परमते मणिमुक्ता[5]प्रवालवस्त्राभरणादीनां पैतामहानामपि पितुरेव स्वत्वं; वचनात्, एवमस्मन्मतेऽपि पित्रार्जितानामप्येतेषां[6] पितुर्दानाधिकारः, वचनादित्यविशेषः॥ यत्तु 'भर्त्रा प्रीतेन' इत्यादिविष्णुवचनं स्थावरस्य प्रीतिदानज्ञापनं तत्स्वोपार्जितस्यापि पुत्राद्यनुज्ञयैवेति व्याख्येयम्; पूर्वोक्तैर्मणिमुक्तादिवचनैः स्थावरव्यतिरिक्तस्यैव प्रीतिदानयोग्यत्वनिश्चयात्॥ यदप्यर्थसाध्येषु वैदिकेषु कर्मस्वनधिकार इति, तत्र तद्विधानबलादेवाधिकारो गम्यते। तस्मात्पैतृके पैतामहे च द्रव्ये जन्मनैव स्वत्वम्, तथापि पितुरावश्यकेषु धर्मकृत्येषु वाचनिकेषु प्रसाददानकुटुम्बभरणापद्विमोक्षादिषु[7] च स्थावरव्यतिरिक्तद्रव्यविनियोगे स्वातन्त्र्यमिति स्थितम्। स्थावरे तु स्वार्जिते पित्रादिप्राप्ते चपुत्रादिपारतन्त्र्यमेव; 'स्थावरं द्विपदं चैव यद्यपि स्वयमर्जितम्। असंभूय सुतान्सर्वान्न दानं न च विक्रयः॥ ये जाता येऽप्यजाताश्च ये च गर्भे व्यवस्थिताः। वृत्तिं च तेऽभिकाङ्क्षन्ति न दानं न च विक्रयः॥' इत्यादिस्मरणात्। अस्यापवादः—'एकोऽपि स्थावरे कुर्याद्दानाधमनविक्रयम्। आपत्काले कुटुम्बार्थे धर्मार्थे च विशेषतः॥' इति। अस्यार्थः-अप्राप्तव्यवहारेषु पुत्रेषु पौत्रेषु वा[8]ऽनुज्ञानादावसमर्थेषु भ्रातृषु वा तथाविधेष्वविभक्तेष्वपि सकलकुटुम्बव्यापिन्यामापदि तत्पोषणे वाऽवश्यं कर्तव्येषु च पितृश्राद्धादिषु स्थावरस्य दानाधमनविक्रयमेकोऽपि समर्थः कुर्यादिति। यत्तु वचनम्—'विभक्ता वाऽविभक्ता वा सपिण्डाः स्थावरे समाः। एको ह्यनीशः सर्वत्र दानाधमनविक्रये॥' इति, तदप्यविभक्तेषु द्रव्यस्य मध्यस्थत्वादेकस्यानीश्वर[9]त्वात् सर्वाभ्यनुज्ञाऽवश्यं कार्या। विभक्तेषु तूत्तरकालं विभक्ताविभक्तसंशयव्यु-

---

१. प्रसिद्धो। २. न्यदीयधनविषयो। ३. तं तथोत्परयेव। ४. पितृपितामहस्य। ५. मुक्तावस्त्राभरणा। ६. एतेषां मणिमुक्तादीनां। ७. विमोक्षणादिषु। ८. वा अनुज्ञावा। अनुज्ञादानादाव: ९. अनीशकत्वात्।

दासेन व्यवहारसौकर्याय सर्वाभ्यनुज्ञा न पुनरेकस्यानीश्वरत्वेन, अतो विभक्ता-नुमतिव्यतिरेकेणापि व्यवहारः सिद्ध्यत्येवेति व्याख्येयम्। यदपि—'स्वग्रामज्ञा-तिसामन्तदायादानुमतेन च। हिरण्योदकदानेन षड्भिर्गच्छति मेदिनी॥' इति, तत्रापि ग्रामानुमतिः; 'प्रतिग्रहप्रकाशः स्यात्स्थावरस्य विशेषतः' (व्य० १७६) इति स्मरणात् व्यवहारप्रकाशनार्थमेवापेक्ष्यते, न पुनर्ग्रामानुमत्या विना व्यवहारासिद्धिः। सामन्तानुमतिस्तु सीमाविप्रतिपत्तिनिरासाय[1]। ज्ञातिदाया-दानुमतेस्तु प्रयोजनमुक्तमेव 'हिरण्योदकदानेन' इति; 'स्थावरे विक्रयो नास्ति कुर्यादाधिमनुज्ञया' इति स्थावरस्य विक्रयप्रतिषेधात्, 'भूमिं यः प्रति-गृह्णाति यश्च भूमिं प्रयच्छति। उभौ तौ पुण्यकर्माणौ नियतौ स्वर्गगामिनौ॥' इति दानप्रशंसादर्शनाच्च। विक्रयेऽपि कर्तव्ये सहिरण्यमुदकं दत्वा दानरूपेण स्थावरविक्रयं कुर्यादित्यर्थः। पैतृके पैतामहे च धने जन्मनैव स्वत्वेऽपि विशेषं 'भूर्या पितामहोपात्ता' (व्य० १२१) इत्यत्र वक्ष्यामः॥ इदानीं यस्मिन्काले येन च यथा विभागः कर्तव्यस्तद्दर्शयन्नाह—

विभागं चेत्पिता कुर्यादिच्छया विभजेत्सुतान्।
ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन सर्वे वा स्युः समांशिनः॥ ११४॥

यदा विभागं पिता चिकीर्षति तदा इच्छया विभजेत् पुत्रानात्मनः सका-शात् पुत्रं पुत्रौ पुत्रान्। इच्छाया निरङ्कुशत्वादनियमप्राप्तौ नियमार्थमाह—ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेनेति। ज्येष्ठं श्रेष्ठभागेन, मध्यमं [2]मध्यभागेन, कनिष्ठं कनिष्ठ-भागेन, 'विभजेत्' इत्यनुवर्तते। श्रेष्ठादिविभागश्च मनुनोक्तः (९।११२)—'ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः सर्वद्रव्याच्च यद्वरम्। ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयं तु यवीयसः॥' इति। 'वा' शब्दो वक्ष्यमाणपक्षापेक्षः। सर्वे वा स्युः समांशिन इति। सर्वे वा ज्येष्ठादयः समांशभाजः कर्तव्याः। अयं च विषमो विभागः स्वार्जितद्रव्यविषयः। पितृक्रमायाते तु समस्वाम्यस्य वक्ष्यमाणत्वान्नेच्छया विषमो विभागो युक्तः। विभागं चेत्पिता कुर्यादिति। यदा पितुर्विभागेच्छा स तावदेकः कालः। अपरोऽपि जीवत्यपि[3] पितरि द्रव्यनिःस्पृहे निवृत्तरमणे मातरि च निवृत्तरजस्कायां, पितुरनिच्छायामपि पुत्रेच्छयैव विभागो भवति। यथोक्तं नारदेन (१३।३)—'अत ऊर्ध्वं पितुः पुत्रा विभजेयुर्धनं समम्' इति पित्रो-रूर्ध्वं विभागं प्रतिपाद्य—'मातुर्निवृत्ते रजसि प्रत्तासु भगिनीषु च। निवृत्ते चापि रमणे पितर्युपरतस्पृहे॥' इति दर्शितः। अत्र 'पुत्रा धनं समं विभजेयुः' इत्यनुषज्यते। गौतमेनापि—'ऊर्ध्वं पितुः पुत्रा रिक्थं विभजेरन्' (२८।१)

---

१. सीमाप्रतिपत्ति। २. मध्यमभागेन। ३. जीवत्येव।

इत्युक्त्वा 'निवृत्ते चापि रजसि' (गौ० २८।२) इति द्वितीयः कालो दर्शितः। 'जीवति चेच्छति' (गौ० २८।२) इति तृतीयः कालो दर्शितः। तथा सरजस्कायामपि मातर्यनिच्छत्यपि पितर्यधर्मवर्तिनि दीर्घरोगग्रस्ते च पुत्राणामिच्छया भवति विभागः। यथाह शङ्खः—'अकामे पितरि रिक्थविभागो वृद्धे विपरीतचेतसि रोगिणि च' इति ॥ ११४ ॥

भाषा—यदि पिता (संपत्ति का) विभाग करे तो उसे अपनी इच्छानुसार पुत्रों में बाँटे। ज्येष्ठ पुत्र को श्रेष्ठभाग (मझले को मध्यम और सबसे छोटे को कनिष्ठभाग) देकर विभाजन करे अथवा सबको समान अंश देवे ॥ ११४ ॥

पितुरिच्छया विभागो द्विधा दर्शितः—समो विषमश्च; तत्र समविभागे विशेषमाह—

यदि कुर्यात्समानंशान् पत्न्यः कार्याः समांशिकाः।
न दत्तं स्त्रीधनं यासां भर्त्रा वा श्वशुरेण वा ॥ ११५ ॥

यदा स्वेच्छया पिता सर्वानेन सुतान् समविभागिनः करोति तदा पत्न्यश्च पुत्रसमांशभाजः कर्तव्याः, यासां पत्नीनां भर्त्रा श्वशुरेण वा स्त्रीधनं न दत्तम्। दत्ते तु स्त्रीधने अर्धांशं वक्ष्यति (व्य० १४८)—'दत्ते त्वर्धं प्रकल्पयेत्' इति ॥ यदा तु श्रेष्ठभागादिना ज्येष्ठादीन् विभजति तदा पत्न्यः श्रेष्ठादिभागान्न लभन्ते, किंतूद्धृतोद्धारात्समुदायात्समानेवांशाँल्लभन्ते स्वोद्धारं च ॥ यथाहापस्तम्बः (ध० २।१४।९)—'परीभाण्डं च गृहेऽलङ्कारो भार्यायाः' इति ॥ ११५ ॥

भाषा—यदि अपनी इच्छा से पिता सभी पुत्रों को समान अंश देता है तो उसे उन पत्नियों को भी समान भाग देना चाहिए, जिन्हें अपने पति से या श्वशुर स्त्रीधन नहीं मिला है ॥ ११५ ॥

'ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन सर्वे वा स्युः समांशिनः' (व्य० ११४) इति पक्षद्वयेऽप्यपवादमाह—

शक्तस्यानीहमानस्य किंचिद्दत्त्वा पृथक्क्रिया।

स्वयमेव द्रव्यार्जनसमर्थस्य पितृद्रव्यमनीहमानस्यानिच्छतोऽपि यत्किंचिद्[1]सारमपि दत्त्वा पृथक्क्रिया विभागः कर्तव्यः पित्रा। तत्पुत्रादीनां नादजिघृक्षा मा भूदिति ॥—

1. निच्छतो यत्किंचिदसारमपृथक्।

'ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन' (व्य० ११४) इति न्यूनाधिकविभागो दर्शितः। तत्र शास्त्रोक्तोद्धारादिविषमविभागव्यतिरेकेणान्यथाविषमविभागनिषेधार्थमाह—

न्यूनाधिकविभक्तानां धर्म्यः[1] पितृकृतः स्मृतः ॥ ११६ ॥

न्यूनाधिकविभागेन विभक्तानां पुत्राणामसौ न्यूनाधिकविभागो यदि धर्म्यः शास्त्रोक्तो भवति तदाऽसौ पितृकृतः कृत एव न निवर्तत इति मन्वादिभिः स्मृतः। अन्यथा तु पितृकृतोऽपि निवर्तत इत्यभिप्रायः। यथाह नारदः (१३।६)—'व्याधितः कुपितश्चैव विषयासक्तमानसः। अन्यथाशास्त्रकारी च न विभागे पिता प्रभुः ॥' इति ॥ ११६ ॥

भाषा—जो पुत्र स्वयं द्रव्यार्जन करने में समर्थ हो उसे उसके न चाहने पर भी कुछ देकर बँटवारा करना चाहिए। यदि पिता द्वारा पुत्रों में किया गया न्यून या अधिक विभाजन धर्म के अनुसार है तो वह परिवर्तनीय नहीं होता ॥ ११६ ॥

इदानीं विभागस्य कालान्तरं कर्त्रन्तरं प्रकारनियमाह—

विभजेरन्[2]सुताः पित्रोरूर्ध्वं[3] रिक्थमृणं समम्।

पित्रोर्मातापित्रोरूर्ध्वं [4]प्रयाणादिति कालो दर्शितः। सुता इति कर्तारो दर्शिताः। सममिति प्रकारनियमः। सममेवेति रिक्थमृणं च विभजेरन्। ननु—'ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च' (मनुः ९।१०४) इत्युपक्रम्य (मनुः ९।१०५)—'ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषतः। शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा ॥' इत्युक्त्वोक्तम् (मनुः ९।११२)—'ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः सर्वद्रव्याच्च यद्वरम्। ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयं तु यवीयसः ॥'[5] इति। सर्वस्माद्द्रव्यसमुदायाद्विंशतितमो भागः सर्वद्रव्येभ्यश्च यच्छ्रेष्ठं तज्ज्येष्ठाय दातव्यम्; तदर्धं चत्वारिंशत्तमो भागो मध्यमं च द्रव्यं मध्यमाय दातव्यम्; तुरीयमशीतितमो भागो हीनं द्रव्यं च कनिष्ठाय दातव्यमिति मातापित्रोरूर्ध्वं विभजतामुद्धाराविभागो मनुना दर्शितः। तथा (९।११६।११७)—'उद्धारेऽनुद्धृते त्वेषामियं स्यादंशकल्पना। एकाधिकं हरेज्ज्येष्ठः पुत्रोऽध्यर्धं ततोऽनुजः ॥ अंशमंशं यवीयांस इति धर्मो व्यवस्थितः ॥' इति। ज्येष्ठस्य द्वौ भागौ, तदनन्तरजातस्य सार्धं एको भागः ततोऽनुजानामेकैको विभाग इत्युद्धारव्यतिरेकेणापि विषमो विभागो

---

१. धर्मः। २. विभजेयुः। ३. रूर्ध्वमृणं। ४. प्रायणात्। ५. तदर्धं मध्यमस्य स्यात्तदर्धं तु कनीयस इति। ६. द्वनसमुच्चयात्।

दर्शितः[1] पित्रोरूर्ध्वं विभजताम्। जीवद्विभागे च स्वयमेव विषमो विभागो दर्शितः—'ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन' (व्य० ११४) इति। अतः सर्वस्मिन्नपि काले विषमो विभागोऽस्तीति कथं[2] सममेव विभजेरन्निति नियम्यते॥ अत्रोच्यते—सत्यम्, अयं विषमो विभागः शास्त्रदृष्टस्तथापि[3] लोकविद्विष्टत्वान्नानुष्ठेयः; 'अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्म्यमप्याचरेन्न तु' (आ० १५६) इति निषेधात्। यथा 'महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्' (आ० १०९) इति विधानेऽपि लोकविद्विष्टत्वादननुष्ठानम्। यथा वा—'मैत्रावरुणीं गां वशामनुबन्ध्यामालभेत' इति गवालम्भनविधानेऽपि लोकविद्विष्टत्वादननुष्ठानम्। उक्तं च—'यथा नियोगधर्मो[4] नो नानुबन्ध्यावधोऽपि वा। तथोद्धारविभागोऽपि नैव संप्रति वर्तते॥' इति। (नियोगमनतिक्रम्य यथानियोगं, नियोगाधीनो यो धर्मो 'देवराच्च सुतोत्पत्ति'रित्यादिः स नो भवति) आपस्तम्बोऽपि (आ० ध० २।१४।१)—'जीवन्पुत्रेभ्यो दायं विभजेत्समम्' इति[5] समतामुक्त्वा—'ज्येष्ठो दायाद इत्येके' (आ० ध० २।१४।५) इति 'कृत्स्नधन' ग्रहणं ज्येष्ठस्यैकीयमतेनोपन्यस्य देशविशेषे[6] सुवर्णं कृष्णा गावः कृष्णं भौमं ज्येष्ठस्य रथः पितुः[7] परीभाण्डं च गृहेऽलंकारो भार्याया ज्ञातिधनं चेत्येके' (ध० २।१४।६–९) इत्येकीयमतेनैवमुद्धारविभागं दर्शयित्वा 'तच्छास्त्रैर्विप्रतिषिद्धम्'[8] (आ० ध० २।१४।१०) इति निराकृतवान्। तं च शास्त्रविप्रतिषेधं स्वयमेव दर्शयति स्म 'मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजदित्यविशेषेण श्रूयते' (आ० २।१४।११) इति। तस्माद्विषमो विभागः शास्त्रदृष्टोऽपि लोकविरोधाच्छ्रुतविरोधाच्च नानुष्ठेय इति सममेव विभजेरन्निति नियम्यते॥—

मातापित्रोर्धनं सुता विभजेरन्नित्युक्तं, तत्र मातृधनेऽपवादमाह—

मातुर्दुहितरः शेषमृणात्[9]

मातुर्धनं दुहितरो विभजेरन्। ऋणाच्छेषं मातृकृतर्णापाकरणावशिष्टम्। अतऋणसमं न्यूनं वा मातृधनं सुता विभजेरन्नित्यस्य विषयः। एतदुक्तं भवति —मातृकृतमृणं पुत्रैरेवापाकरणीयं, न दुहितृभिः। ऋणावशिष्टं तु धनं दुहितरो गृह्णीयुरिति। युक्तं चैतत्—'पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः' (मनुः ३।४९) इति स्त्र्यवयवानां दुहितृषु बाहुल्यात् स्त्रीधनं दुहितृगामि, पितृधनं पुत्रगामि; पित्रवयवानां पुत्रेषु बाहुल्यादिति। तत्र च गौतमेन विशेषो

---

१. दर्शितो मनुना। २. कथं विभजेरन्निति सममेव नियम्यते। ३. शास्त्रदृष्टोऽस्ति। ४. धर्मोऽन्यो। ५. स्वमतमुक्त्वा। ६. विशेषेषु। विशेषेण। ७. परिभाण्डं। ८. विप्रतिषिद्धं। ९. कृतर्णं।

दर्शितः (२८।२४)—'स्त्रीधनं दुहितॄणामप्रत्तानामप्रतिष्ठितानां च' इति। अस्यार्थः—प्रत्ताऽप्रत्तासमवायेऽप्रत्तानामेव स्त्रीधनम्। प्रत्तासु च प्रतिष्ठिताप्रतिष्ठितासमवायेऽप्रतिष्ठितानां चेवेति। अप्रतिष्ठिता निर्धनाः॥—

दुहित्रभावे मातृधनमृणावशिष्टं को गृह्णीयादित्यत आह—

ताभ्य ऋतेऽन्वयः॥ ११७॥

ताभ्यो दुहितृभ्यो विना दुहितॄणामभावे अन्वयः पुत्रादिर्गृह्णीयात्। एतच्च—'विभजेरन्सुताः पित्रोरूर्ध्वम्' (व्य० ११७) इत्यनेनैव सिद्धं स्पष्टार्थमुक्तम्॥ ११७॥

भाषा—माता और पिता की मृत्यु के बाद सभी पुत्र मिल कर पिता की सम्पत्ति एवं ऋण का बराबर-बराबर विभाजन कर लें। माता का धन पुत्रियाँ बाँट लें और पुत्रियाँ न हों तो (माता का धन भी) पुत्र ग्रहण करें॥११७॥

अविभाज्यमाह—

पितृद्रव्याविरोधेन यदन्यत् स्वयमर्जितम्।
मैत्रमौद्वाहिकं चैव दायादानां न तद्भवेत्॥ ११८॥
क्रमादभ्यागतं द्रव्यं हृतमप्युद्धरेत्तु यः।
दायादेभ्यो न तद्दद्याद्विद्यया लब्धमेव च॥ ११९॥

मातापित्रोर्द्रव्याविनाशेन यत्स्वयमर्जितं, मैत्रं मित्रसकाशाद्यल्लब्धं, औद्वाहिकं विवाहलब्धं दायादानां भ्रातॄणां तन्न भवेत्। क्रमात्पितृक्रमादायातं यत्किञ्चिद्द्रव्यं अन्यैर्हृतमसामर्थ्यादिना पित्रादिभिरनुद्धृतं यः पुत्राणां मध्य इतराभ्यनुज्ञयोद्धरति तद्दायादेभ्यो भ्रात्रादिभ्यो न दद्यात्, उद्धर्तैव गृह्णीयात्। तत्र क्षेत्रे तुरीयांशमुद्धर्ता लभते, शेषं तु सर्वेषां सममेव। यथाह शङ्खः—'पूर्वं नष्टां तु यो भूमिमेकश्चेदुद्धरेत्क्रमात्। यथाभागं लभन्तेऽन्ये दत्त्वांशं तु तुरीयकम्॥' इति। क्रमादभ्यागतमिति शेषः। तथा विद्यया वेदाध्ययनेनाध्यापनेन वेदार्थव्याख्यानेन वा यल्लब्धं तदपि दायादेभ्यो न दद्यात्, अर्जक एव गृह्णीयात्। अत्र च 'पितृद्रव्याविरोधेन यत्किंचित्स्वयमर्जितम्॥' इति सर्वत्र शेषः। अतश्च पितृद्रव्याविरोधेन यन्मैत्रमर्जितं पितृद्रव्याविरोधेन यदौद्वाहिकं, पितृद्रव्याविरोधेन यत्क्रमादायातमुद्धृतं, पितृद्रव्याविरोधेन विद्यया यल्लब्धमिति प्रत्येकमभिसंबध्यते। तथा च पितृद्रव्याविरोधेन प्रत्युपकारेण यन्मैत्रम्, आसुरादिविवाहेषु यल्लब्धम्, तथा पितृद्रव्यव्ययेन यत्क्रमायातमुद्धृतं तथा पितृद्रव्यव्ययेन लब्धया विद्यया यल्लब्धम्, तत्सर्वं सर्वैर्भ्रातृभिः पित्रा च

१. मभ्युद्धरेत्तु। २. सर्वत्र शेषः। ३. क्रमायातं।

विभजनीयम्[1]। तथा 'पितृद्रव्याविरोधेन' इत्यस्य सर्वशेषत्वादेव पितृद्रव्यविरोधेन प्रतिग्रहलब्धमपि विभजनीयम्। अस्य च सर्वशेषत्वाभावे मैत्रमौद्वाहिकमित्यादिनारब्धव्यम्। अथ पितृद्रव्यविरोधेनापि यन्मैत्रादिलब्धं तस्याविभाज्यत्वाय मैत्रादिवचनमर्थवदित्युच्यते। तथा सति समाचारविरोधः, विद्यालब्धे नारदवचनविरोधश्च।—'कुटुम्बं बिभृयाद् भ्रातुर्यो विद्यामधिगच्छतः। भागं विद्याधनात्तस्मात्स लभेताश्रुतोऽपि सन्॥' (नारदः १३।१०) इति। तथा विद्याधनस्याविभाज्यस्य लक्षणमुक्तं कात्यायनेन—'परभक्तोपयोगेन विद्या प्राप्तान्यतस्तु या। तया लब्धं धनं यत्तु विद्याप्राप्तं तदुच्यते॥' इति। तथा 'पितृद्रव्याविरोधेन' इत्यस्य भिन्नवाक्यत्वे प्रतिग्रहलब्धस्याविभाज्यत्वमाचारविरुद्धमापद्येत[2]। एतदेव स्पष्टीकृतं मनुना (९।२०८)—'अनुपघ्नन्पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जितम्। दायादेभ्यो न तद्दद्याद्विद्यया लब्धमेव च॥' इति श्रमेण सेवायुद्धादिना। ननु पितृद्रव्याविरोधेन यन्मैत्रादिलब्धं द्रव्यं तदविभाज्यमिति न वक्तव्यम्; विभागप्राप्त्यभावात्। यद्येन लब्धं तत्तस्यैव, नान्यस्येति प्रसिद्धतरम्। प्राप्तिपूर्वकश्च प्रतिषेधः[3]। अत्र कश्चिदित्थं प्राप्तिमाह—'यत्किञ्चित्पितरि प्रेते धनं ज्येष्ठोऽधिगच्छति। भागो यवीयसां तत्र यदि विद्यानुपालिनः॥' (मनुः ९।२०४) इति। ज्येष्ठो वा कनिष्ठो वा मध्यमो वा पितरि प्रेते अप्रेते वा यवीयसां वर्षीयसां चेति व्याख्यानेन पितरि सत्यसति च मैत्रादीनां विभाज्यत्वं प्राप्तं प्रतिषिध्यत इति,—तदसत्; नह्यत्र प्राप्तस्य प्रतिषेधः, किंतु सिद्धस्यैवानुवादोऽयम्। लोकसिद्धस्यैवानुवादकान्येव प्रायेणास्मिन्प्रकरणे वचनानि। अथवा 'समवेतैस्तु यत्प्राप्तं सर्वे तत्र समांशिनः।' इति प्राप्तस्यापवाद इति संतुष्यतु भवान्। अतश्च 'यत्किंचित्पितरि प्रेते' इत्यस्मिन्वचने ज्येष्ठादिपदाविवक्षया प्राप्तिरिति व्यामोहमात्रम्। अतो मैत्रादिवचनैः पितुः प्रागूर्ध्वं वाविभाज्यत्वेनोक्तस्य[4] 'यत्किंचित्पितरि प्रेते' इत्यपवाद[5] इति व्याख्येयम्। तथाऽन्यदप्यविभाज्यमुक्तं मनुना (९।२१९)—'वस्त्रं पत्रमलंकारं कृतान्नमुदकं स्त्रियः। योगक्षेमं प्रचारं च न विभाज्यं प्रचक्षते॥' इति। धृतानामेव वस्त्राणामविभाज्यत्वं, यद्येन धृतं तत्तस्यैव। पितृधृतवस्त्राणि[6] तु पितुरूर्ध्वं विभजतां श्राद्धभोक्त्रे दातव्यानि। यथाह बृहस्पतिः—'वस्त्रालंकारशय्यादि पितुर्यद्वाहनादिकम्। गन्धमाल्यैः समभ्यर्च्य श्राद्धभोक्त्रे समर्पयेत्॥' इति। अभिनवानि तु वस्त्राणि विभाज्यान्येव। पत्रं वाहनमश्वशिबिकादि, तदपि यद्येनारूढं तत्तस्यैव। पित्र्यं तु वस्त्रवदेव, अश्वादीनां बहुत्वे तु तद्विक्रयोपजीविनां विभा-

---

१. समं विभजनीयं। २. विरोधश्चापद्येत। ३. निषेधः। ४. चाविभाज्य। ५. इत्यस्यापवाद। ६. पितृधृतानि।

ज्यत्वमेव। वैषम्येणाविभाज्यत्वे ज्येष्ठस्य (मनुः ९।११९)—'अजाविकं सैक-शफं न जातु विषमं[1] भजेत्। अजाविकं सैकशफं ज्येष्ठस्यैव विधीयते ॥' इति मनुस्मरणात्। अलंकारोऽपि यो येन धृतः स तस्यैव। अधृतः साधारणो विभाज्य एव। (मनुः ९।२००)—'पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलंकारो धृतो भवेत्। न तं भजेरन्दायादा भजमानाः पतन्ति[2] ते ॥' इति। 'अलंकारो धृतो भवेत्' इति [3]विशेषेणोपादानादधृतानां विभाज्यत्वं गम्यते। कृतान्नं तण्डुलमोद-कादि तदप्यविभाज्यं यथासंभवं भोक्तव्यम्। उदकं उदकाधारः कूपादि, तच्च विषमं मूल्यद्वारेण न विभाज्यं पर्यायेणोपभोक्तव्यम्। स्त्रियश्च दास्यो विषमाः न मूल्यद्वारेण विभाज्याः, पर्यायेण कर्म कारयितव्याः। अवरुद्धास्तु पित्रा स्वैरिण्याद्याः समा अपि पुत्रैर्न विभाज्याः। 'स्त्रीषु च संयुक्तास्वविभागः' (२८।४६) इति गौतमस्मरणात्। योगश्च क्षेमश्च योगक्षेमम्। 'योग'शब्देनालब्धलाभ-कारणं[4] श्रौतस्मार्ताग्निसाध्यं इष्टं कर्म लक्ष्यते। 'क्षेम'शब्देन लब्धपरिरक्षणहेतुभूतं बहिर्वेदिदानतडागारामनिर्माणादि पूर्तं कर्म लक्ष्यते। तदुभयं पैतृकमपि पितृद्रव्यविरोधार्जितमप्यविभाज्यम्। यथाह लौगाक्षिः—'क्षेमं पूर्तं योगमिष्ट-मित्याहुस्तत्त्वदर्शिनः। अविभाज्ये च ते प्रोक्ते शयनासनमेव च ॥' इति। 'योगक्षेम' शब्देन योगक्षेमकारिणो राजमन्त्रिपुरोहितादय उच्यन्ते-इति केचित्। छत्रचामरशस्त्रोपानत्प्रभृतय इत्यन्ये। प्रचारो गृहारामादिषु प्रवेशनिर्गममार्गः सोऽप्यविभाज्यः। यत्तूशनसा क्षेत्रस्याविभाज्यत्वमुक्तम्—'अविभाज्यं सगोत्राणामासहस्रकुलादपि। याज्यं क्षेत्रं च पत्रं च कृतान्न-मुदकं स्त्रियः ॥' इति, तद्ब्राह्मणोत्पन्नक्षत्रियादिपुत्रविषयम्। 'न प्रतिग्रह-भूर्देया क्षत्रियादिसुताय वै। यद्यप्येषां पिता दद्यान्मृते विप्रासुतो हरेत् ॥' इति स्मरणात्। याज्यं याजनकर्मलब्धम्। पितृप्रसादलब्धस्याविभाज्यत्वं वक्ष्यते। नियमातिक्रमार्जितस्याविभाज्यत्वमनन्तरमेव न्यरासि। पितृद्रव्य-विरोधेन यदर्जितं तद्विभजनीयमिति स्थितं, तत्रार्जकस्य भागद्वयं; वसिष्ठ-वचनात्—'येन चैषां स्वयमुपार्जितं स्यात्स द्व्यंशमेव लभेत' (१७।५१) इति ॥ ११८-११९ ॥

भाषा—माता पिता के धन की सहायता के विना स्वयं कहीं से स्वयं उपार्जित धन, मित्र से मिले हुए तथा विवाह में प्राप्त धन में भाइयों का हिस्सा नहीं होता। पितृ परम्परा से आया हुआ धन, जिसे किसी और ने बलपूर्वक अधिकार में किया हो, छुड़ाने वाले पुत्र का होता है, उसमें से

---

१. तु विषमं-मनुस्मृतिः। २. पतन्त्यधः। ३. विशेषस्योपादाना। ४. करणं।

भाइयों को अंश न देवे; तथा अपनी विद्या के द्वारा प्राप्त धन में भी दायादों का अंश नहीं होता ॥ ११८–११९ ॥

अस्यापवादमाह—

सामान्यार्थसमुत्थाने विभागस्तु समः स्मृतः ।

अविभक्तानां भ्रातॄणां सामान्यस्यार्थस्य[1] कृषिवाणिज्यादिना संभूय समुत्थाने सम्यग्वर्धने केनचित्कृते सम एव विभागो नार्जयितुरंशद्वयम्[2] ॥—

पित्र्ये द्रव्ये पुत्राणां विभागो दर्शितः; इदानीं पैतामहे पौत्राणां विभागे विशेषमाह—

अनेकपितृकाणां तु पितृतो भागकल्पना ॥ १२० ॥

यद्यपि पैतामहे द्रव्ये पौत्राणां जन्मना स्वत्वं पुत्रैरविशिष्टं, तथापि तेषां पितृद्वारेणैव पैतामहद्रव्ये[3] विभागकल्पना, न स्वरूपापेक्षया । एतदुक्तं भवति—यदाऽविभक्ता भ्रातरः पुत्रानुत्पाद्य दिवं गतास्तदैकस्य द्वौ पुत्रौ, अन्यस्य त्रयोऽपरस्य चत्वार इति पुत्राणां वैषम्ये तत्र द्वावेकं[4]स्वपित्र्यमंशं लभेते, अन्ये त्रयोऽप्येकमंशं पित्र्यं, चत्वारोऽप्येकमेवांशं पित्र्यं लभन्त इति । तथा केषुचित्पुत्रेषु ध्रियमाणेषु केषुचित्पुत्रानुत्पाद्य विनष्टेष्वप्ययमेव[5] न्यायः । ध्रियमाणाः स्वानंशानेव लभन्ते, नष्टानामपि पुत्राः पित्र्यानेवांशाँल्लभन्त इति वाचनिकी व्यवस्था ॥ १२० ॥

भाषा—विभाजन के पहले भाइयों के एक में रहते समय के सामान्य धन की कृषि व्यापार आदि से वृद्धि होने पर उसमें सबका समान अंश होता है। पितामह के धन में पिता के अंश के आधार पर ही पुत्र के अंश का निर्धारण होता है (अर्थात् पितामह की सम्पत्ति में अपने-अपने पिता का भाग लगाकर और फिर अपने-अपने पिता के भाग में अपने अंश का भाग लगाने पर ही पौत्र का भाग आता है ॥ १२० ॥

अधुना विभक्ते पितर्यविद्यमानभ्रातृके वा पौत्रस्य पैतामहे द्रव्ये विभागो नास्ति । [6]अध्रियमाणे पितरि 'पितृतो भागकल्पना' (श्लो० १२०) इत्युक्तत्वात् । भवतु वा स्वार्जितवत्पितुरिच्छयैवेत्याशङ्कित आह—

भूर्या पितामहोपात्ता निबन्धो द्रव्यमेव वा ।
तत्र स्यात्सदृशं स्वाम्यं पितुः पुत्रस्य [7]चैव हि ॥ १२१ ॥

---

१. साधारणस्यार्थस्य । २. भागद्वयम् । ३. द्रव्यविभाग । ४. पित्रंशं । ५. व्ययमेव । ६. ध्रियमाणे तु पितरि । ७. चोभयोः ।

भूः शालिक्षेत्रादिका। निबन्ध एकस्य पर्णभरकस्येयन्ति पर्णानि, तथा एकस्य क्रमुकफलभरकस्येयन्ति क्रमुकफलानीत्याद्युक्तलक्षणः। द्रव्यं सुवर्णरजतादि यत्पितामहेन प्रतिग्रहविजयादिना लब्धं तत्र पितुः पुत्रस्य च स्वाम्यं लोकप्रसिद्धमिति कृत्वा विभागोऽस्ति। हि यस्मात्तत्सदृशं समानम्, तस्मान्न पितुरिच्छयैव विभागो नापि पितुर्भागद्वयम्। अतश्च 'पितृतो भागकल्पना' (व्य० १२०) इत्येतत्स्वाम्ये समेऽपि वाचनिकम्। 'विभागं चेत्पिता कुर्यात्' (व्य० ११४) इत्येतत्स्वार्जितविषयम्। तथा—'द्वावंशौ प्रतिपद्येत विभजन्नात्मनः पिता' (नारदः १३।१२) इत्येतदपि स्वार्जितविषयम्। 'जीवतोरस्वतन्त्रः स्याज्जरयापि समन्वितः' इत्येतदपि पारतन्त्र्यं मातापित्रर्जितद्रव्यविषयम्। तथा—'अनीशास्ते हि जीवतोः' इत्येतदपि। तथा सरजस्कायां मातरि सस्पृहे च पितरि विभागमनिच्छत्यपि पुत्रेच्छया पैतामहद्रव्यविभागो भवति। तथाऽविभक्तेन पित्रा पैतामहे द्रव्ये दीयमाने विक्रीयमाणे वा पौत्रस्य निषेधेऽप्यधिकारः, पित्रर्जिते न तु निषेधाधिकारः, तत्परतन्त्रत्वात्। अनुमतिस्तु कर्तव्या। तथा हि—पैतृके पैतामहे च स्वाम्यं यद्यपि जन्मनैव, तथापि पैतृके पितृपरतन्त्रत्वात् पितुश्चार्जकत्वेन[3] प्राधान्यात् पित्रा विनियुज्यमाने स्वार्जिते द्रव्ये पुत्रेणानुमतिः कर्तव्या। पैतामहे तु द्वयोः स्वाम्यमविशिष्टमिति निषेधाधिकारोऽप्यस्तीति[4] विशेषः। मनुरपि (९।२०९) 'पैतृकं तु पिता द्रव्यमनवाप्तं यदाप्नुयात्। न तत्पुत्रैर्भजेत्सार्धमकामः स्वयमर्जितम्॥' इति। यत्पितामहार्जितं केनाप्यपहृतं पितामहेनानुद्धृतं यदि पितोद्धरति तत्स्वार्जितमिव पुत्रैः सार्धमकामः स्वयं न विभजेदिति वदन् पितामहार्जितमकामोऽपि पुत्रेच्छया पुत्रैः सह विभजेदिति दर्शयति॥ १२१॥

भाषा—जो भूमि, निबन्ध (चुङ्गी आदि) एवं धन पितामह ने उपार्जित किये हों उसमें भी उपरोक्त के समान ही पहले पिता का भाग लगाकर फिर उसके अन्तर्गत पुत्र का भाग होता है॥ १२१॥

विभागोत्तरकालमुत्पन्नस्य पुत्रस्य कथं विभागकल्पनेत्यत आह—

विभक्तेषु सुतो जातः सवर्णायां विभागभाक्।

विभक्तेषु पुत्रेषु पश्चात्सवर्णायां भार्यायामुत्पन्नो विभागभाक्। विभज्यत इति विभागः। पित्रोर्विभागस्तं भजतीति विभागभाक्; पित्रोरूर्ध्वं तयोरंशं लभत इत्यर्थः। मातृभागं चासत्यां दुहितरि, 'मातुर्दुहितरः शेषम्' (व्य०

---

१. भारकस्य। २. स्वाम्यमर्थसिद्धमिति। ३. पितुः स्वार्जकत्वेन। ४. कारोऽप्यस्तीति।

११७) इत्युक्तत्वात् । असवर्णायामुत्पन्नस्तु स्वांशमेव पित्र्याल्लभते, मातृकं तु सर्वमेव । एतदेव मनुनोक्तम् (९।२१६)—'ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्र्यमेव हरेद्धनम्' इति । पित्रोरिदं पित्र्यमिति व्याख्येयम् ; 'अनीशः पूर्वजः पित्रोर्भ्रातुर्भागे विभक्तजः' इति स्मरणात् । विभक्तयोर्मातापित्रोर्विभागे विभागात्पूर्वमुत्पन्नो न स्वामी, विभक्तजश्च भ्रातुर्भागे न स्वामीत्यर्थः । तथा विभागोत्तरकालं पित्रा यत्किंचिदर्जितं तत्सर्वं विभक्तजस्यैव; 'पुत्रैः सह विभक्तेन पित्रा यत्स्वयमर्जितम् । विभक्तजस्य तत्सर्वमनीशाः पूर्वजाः स्मृताः ॥' इति स्मरणात् । ये च विभक्ताः पित्रा सह संसृष्टाः पितुरूर्ध्वं तैः सार्धं विभक्तजो विभजेत् । यथाह मनुः (९।२१६)—'संसृष्टास्तेन वा ये स्युर्विभजेत स तैः सह' इति ॥—

पितुरूर्ध्वं पुत्रेषु विभक्तेषु पश्चादुत्पन्नस्य कथं विभागकल्पनेत्यत आह—

दृश्याद्वा तद्विभागः स्यादायव्ययविशोधितात् ॥ १२२ ॥

तस्य पितरि प्रेते भ्रातृविभागसमयेऽस्पष्टगर्भायां मातरि भ्रातृविभागोत्तरकालमुत्पन्नस्यापि विभागः । तद्विभागः कुत इत्यत आह । दृश्याद्भ्रातृभिर्गृहीताद्धनात् । कीदृशात् ? आयव्ययविशोधितात् । आयः प्रतिदिवसं प्रतिमासं प्रत्यब्दं वा यदुत्पद्यते, व्ययः पितृकृतर्णापाकरणं, ताभ्यामायव्ययाभ्यां यच्छोधितं तत्तस्मादुद्धृत्य तद्भागो दातव्यः स्यात् । एतदुक्तं भवति—प्रातिस्विकेषु भागेषु तदुत्थमायं प्रवेश्य पितृकृतं[2] चर्णमपनीयावशिष्टेभ्यः स्वेभ्यः स्वेभ्यो भागेभ्य;[3] किंचित्किंचिदुद्धृत्य विभक्तजस्य भागः स्वभागसमः कर्तव्य इति । एतच्च विभागसमयेऽप्रजस्य भ्रातुर्भार्यायामस्पष्टगर्भायां विभागादूर्ध्वमुत्पन्नस्यापि वेदितव्यम् । स्पष्टगर्भायां तु प्रसवं प्रतीक्ष्य विभागः कर्तव्यः । यथाह वसिष्ठः (१७।४१)—'अथ भ्रातॄणां दायविभागो याश्चानपत्याः स्त्रियस्तासामापुत्रलाभात्' इति । गृहीतगर्भाणामाप्रसवात्प्रतीक्षणमिति योजनीयम् ॥१२२॥

भाषा—पुत्रों में सम्पत्ति का विभाजन होने के कुछ कालोपरान्त यदि सवर्णा पत्नी से पुत्र उत्पन्न होता है तो वह भी भाग का अधिकारी होता है । पिता के मरने पर यदि भाइयों के विभाग के समय माता को गर्भ हो किन्तु वह ज्ञात न हो और उससे विभाग होने के कुछ कालोपरान्त पुत्र होवे तो आयव्यय का हिसाब करके उसमें से उसे भाग देना चाहिए ॥ १२२ ॥

---

१. मातुर्भागं तु सर्वमेव । मातृभागं । २. कृतमृणं । ३. भागेभ्यो यत्किंचिदुद्धृत्य । ४. समये भ्रातुर्भार्यामप्रजायामस्पष्टगर्भायां स्वभागा । समये भ्रातृभार्यायामप्रजस्य स्पष्टगर्भायां विभागादूर्ध्वं ।

विभक्तजः पित्र्यं मातृकं च सर्वं धनं गृह्णातीत्युक्तं, तत्र यदि विभक्तः पिता माता वा विभक्ताय पुत्राय स्नेहवशादाभरणादिकं प्रयच्छति, तदा विभक्तजेन दानप्रतिषेधो न कर्तव्यः; नापि दत्तं प्रत्याहर्तव्यमित्याह—

पितृभ्यां यस्य यद् दत्तं तत्तस्यैव धनं भवेत् ।

मातापितृभ्यां विभक्ताभ्यां पूर्वं विभक्तस्य पुत्रस्य यद्दत्तमलंकारादि, तत्तस्यैव[1] पुत्रस्य, न विभक्तजस्य स्वं भवति । न्यायसाम्याद्विभागात्प्रागपि यस्य यद्दत्तं तत्तस्यैव । तथा असति विभक्तजे विभक्तयोः पित्रोरंशं तदूर्ध्वं विभजतां यस्य यद्दत्तं तत्तस्यैव, नान्यस्येति वेदितव्यम् ॥—

जीवद्विभागे स्वपुत्रसमांशित्वं पत्नीनामुक्तं, 'यदि कुर्यात्समानंशान्' (व्य० ११५) इत्यादिना । पितुरूर्ध्वं विभागेऽपि पत्नीनां[2] स्वपुत्रसमांशित्वं दर्शयितुमाह—

पितुरूर्ध्वं विभजतां माताऽप्यंशं समं हरेत् ॥ १२३ ॥

पितुरूर्ध्वं पितुः प्रयाणादूर्ध्वं[3] विभजतां मातापि स्वपुत्रांशसममंशं हरेत्,—यदि स्त्रीधनं न दत्तम्; दत्ते त्वर्धांशहारिणीति वक्ष्यते[4] ॥ १२३ ॥

भाषा—माता-पिता जिस (विभक्त) पुत्र को जो वस्तु देते हैं वह उसी का धन होता है । पिता की मृत्यु के बाद (यदि स्त्रीधन न मिला हो) तो विभाग के समय माता भी पुत्रों के बराबर अंश ग्रहण करे ॥ १२३ ॥

पितरि प्रेते यद्यसंस्कृता भ्रातरः सन्ति, तदा तत्संस्कारे कोऽधिक्रियत इत्यत आह—

[5]असंस्कृतास्तु संस्कार्या भ्रातृभिः पूर्वसंस्कृतैः ।

पितुरूर्ध्वं विभजद्भिर्भ्रातृभिरसंस्कृता भ्रातरः समुदायद्रव्येण संस्कर्तव्याः ॥—

असंस्कृतासु भगिनीषु विशेषमाह—

भगिन्यश्च निजादंशाद् दत्त्वांशं तु तुरीयकम् ॥ १२४ ॥

अस्यार्थः—भगिन्यश्चासंस्कृताः [6]संस्कर्तव्या भ्रातृभिः । किं कृत्वा ? निजादंशाच्चतुर्थमंशं दत्त्वा । अनेन दुहितरोऽपि पितुरूर्ध्वमंशभागिन्य इति गम्यते । तत्र 'निजादंशात्' इति प्रत्येकं परिकल्पितादंशादुद्धृत्य चतुर्थांशो दातव्य[7] इत्येवमर्थो न भवति, किंतु यज्जातीया कन्या, तज्जातीयपुत्रभागाच्चतु-

---

१. तस्यैव । २. मातुः स्वपुत्र । ३. प्रायणा । ४. वक्ष्यति । ५. असंस्कृताश्च । ६. संस्कार्याः । ७. इत्येवमर्थो । इत्यर्थो ।

र्थांशभागिनी सा कर्तव्या। एतदुक्तं भवति—यदि ब्राह्मणी सा कन्या तदा ब्राह्मणीपुत्रस्य यावानंशो भवति, तस्य चतुर्थांशस्तस्या भवति। तद्यथा—यदि कस्यचिद् ब्राह्मणस्यैका पत्नी पुत्रश्चैकः कन्या चैका, तत्र पित्र्यं सर्वमेव द्रव्यं द्विधा पत्नी पुत्रश्चैकः कन्या चैका, तत्र पित्र्यं सर्वमेव द्रव्यं द्विधा विभज्य तत्रैकं भागं विभज्य तत्रैकं भागं चतुर्धा विभज्य तुरीयमंशं कन्यायै दत्त्वा शेषं पुत्रो गृह्णीयात्; यदा तु द्वौ पुत्रौ एका च कन्या, तदा पितृधनं सर्वं त्रिधा विभज्य एकं भागं चतुर्धा विभज्य तुरीयमंशं कन्यायै दत्त्वा शेषं द्वौ पुत्रौ विभज्य गृह्णीतः; अथ त्वेकः पुत्रो द्वे कन्ये, तदा पित्र्यं धनं त्रिधा विभज्य एकं चतुर्धा विभज्य तत्र द्वौ भागौ द्वाभ्यां कन्याभ्यां दत्त्वाऽवशिष्टं सर्वं पुत्रो गृह्णातीत्येवं समानजातीयेषु भ्रातृषु भगिनीषु च योजनीयम्। यदा तु ब्राह्मणीपुत्र एकः क्षत्रियाकन्या चैका, तत्र पितृधनं सप्तधा विभज्य क्षत्रियापुत्रभागांश्चतुर्धा विभज्य तुरीयांशं क्षत्रियाकन्यायै दत्त्वा शेषं ब्राह्मणीपुत्रो गृह्णाति। यदा तु द्वौ ब्राह्मणीपुत्रौ क्षत्रियाकन्या चैका, तत्र पित्र्यं धनमेकादशधा विभज्य तेषु त्रीनंशान् क्षत्रियापुत्रभागांश्चतुर्धा विभज्य चतुर्थमंशं क्षत्रियाकन्यायै दत्त्वा शेषं सर्वं ब्राह्मणीपुत्रा विभज्य [6]गृह्णीतः॥ एवं जातिवैषम्ये भ्रातृणां भगिनीनां च संख्यायाः साम्ये वैषम्ये च सर्वत्रोहनीयम्। नच[7] 'निजादंशाद्दत्त्वांशं तु तुरीयक'मिति तुरीयांशाविवक्षया संस्कारमात्रोपयोगि द्रव्यं दत्त्वेति व्याख्यानं युक्तम्। मनुवचनविरोधात् (९।११८)—'स्वेभ्योंऽशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भ्रातरः पृथक्। स्वात्स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः॥' इति। अस्यार्थः—ब्राह्मणादयो भ्रातरो ब्राह्मणीप्रभृतिभ्यो भगिनीभ्यः स्वेभ्यः स्वजातिविहितेभ्योंऽशेभ्यः 'चतुरोंऽशान्हरेद्विप्र' (मनुः ९।१५३) इत्यादिवक्ष्यमाणेभ्यः स्वात्स्वादंशादात्मीयादात्मीयाद्भागाच्चतुर्थं चतुर्थं भागं दद्युः। न चात्रात्मीयभागादुद्धृत्य चतुर्थांशो देय इत्युच्यते, किंतु स्वजातिविहितादेकस्मादेकस्मादंशात्पृथक्पृथगेकस्याप्येकस्यै कन्यायै चतुर्थोंऽशो देय इति जातिवैषम्ये संख्यावैषम्ये च विभागक्लृप्तिरुक्तैव। 'पतिताः स्युरदित्सव' इत्यकरणे प्रत्यवायश्रवणादवश्यदातव्यता प्रतीयते। अत्रापि चतुर्थभागवचनमविवक्षितं संस्कारमात्रोपयोगिद्रव्यदानमेव विवक्षितमिति चेन्न। स्मृतिद्वयेऽपि चतुर्थांशदानाविवक्षायां प्रमाणाभावाददाने प्रत्यवायश्रवणाच्चेति। यदपि कैश्चिदुच्यते—अंशदानविवक्षायां बहुभ्रातृकायाः [9]बहुधनत्वं, बहुभगिनीकस्य च निर्धनता प्राप्नोतीति, तदुक्तरीत्या परिहृतमेव।

---

१. कस्यचिद्ब्राह्मण्येवैका। २. अथ तु। ३. गृह्णीयात् एवं। ४. पित्र्यं धनं। ५. गृह्णीयात्। ६. गृह्णीयाताम्। ७. नच दत्त्वांशं तु। ८. संस्कारोपयोगि। ९. बहुधनकत्वं।

नह्यत्रात्मीयाद्भागादुद्धृत्य चतुर्थांशस्य दानमुच्यते येन तथा स्यात्; अतोऽसहायमेधातिथिप्रभृतीनां व्याख्यानमेव चतुरस्रं, न भारुचेः। तस्मात्पितुरूर्ध्वं कन्याप्यंशभागिनी पूर्वं चेद्यत्किंचित्पिता ददाति, तदेव लभते; विशेषवचनाभावादिति सर्वमनवद्यम् ॥ १२४ ॥

भाषा—पिता की मृत्यु के बाद यदि भाई विभाजन करें तो जिन भाइयों का संस्कार न हुआ हो उनका संस्कार सबके सम्मिलित धन द्वारा होना चाहिए और बहनों का विवाह-संस्कार न हुआ हो तो सभी भाई अपने भाग से चतुर्थांश देकर उनका संस्कार करें ॥ १२४ ॥

एवं 'विभागं चेत्पिता कुर्यात्' (व्य० ११४) इत्यादिना प्रबन्धेन समानजातीयानां भ्रातृणां परस्परं पित्रा च सह विभागक्लृप्तिरुक्ता; अधुना भिन्नजातीयानां विभागमाह—

चतुस्त्रिद्व्येकभागाः स्युर्वर्णशो ब्राह्मणात्मजाः।
क्षत्रजास्त्रिद्व्येकभागा विड्जास्तु[2] द्व्येकभागिनः ॥ १२५ ॥

'तिस्रो वर्णानुपूर्व्येण' (आ० १७) इति ब्राह्मणस्य चतस्रः, क्षत्रियस्य तिस्रः, वैश्यस्य द्वे, शूद्रस्यैकेति भार्या दर्शिताः। तत्र ब्राह्मणात्मजा ब्राह्मणोत्पन्ना वर्णशः—'वर्ण'शब्देन ब्राह्मणादिवर्णाः[3] स्त्रिय उच्यन्ते। 'संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्' (पा० ५।४।४३) इत्यधिकरणकारकादेकवचनाद्वीप्सायां शस्। अतश्च वर्णे वर्णे ब्राह्मणोत्पन्नाः[4] यथाक्रमं चतुस्त्रिद्व्येकभागाः स्युर्भवेयुः। एतदुक्तं भवति—ब्राह्मणेन ब्राह्मण्यामुत्पन्ना एकैकशश्चतुरश्चतुरो भागाँल्लभन्ते। तेनैव क्षत्रियायामुत्पन्नाः प्रत्येकं त्रींस्त्रीन् वैश्यायां द्वौ द्वौ शूद्रायामेकमेकमिति। क्षत्रजाः क्षत्रियेणोत्पन्नाः, 'वर्णशः' इत्यनुवर्तते; यथाक्रमं; त्रिद्व्येकभागाः। क्षत्रियेण क्षत्रियायामुत्पन्नाः प्रत्येकं त्रींस्त्रीन्, वैश्यायां द्वौ द्वौ, शूद्रायामेकमेकम्। विड्जाः वैश्येनोत्पन्नाः। अत्रापि 'वर्णश' इत्यनुवर्तते, यथाक्रमं द्व्येकभागिनः। वैश्येन वैश्यायामुत्पन्नाः प्रत्येकं द्वौ द्वौ भागौ लभन्ते। शूद्रायामेकमेकम्। 'शूद्रस्यैकैव भार्या' इति भिन्नजातीयपुत्राभावात्तत्पुत्राणां पूर्वोक्त एव विभागः; यद्यपि 'चतुस्त्रिद्व्येकभागा' इत्यविशेषेणोक्तं, तथापि प्रतिग्रहप्राप्तभूव्यतिरिक्तविषयमिदं द्रष्टव्यम्। यतः स्मरन्ति—'न प्रतिग्रहभूर्देया क्षत्रियादिसुताय वै। यद्यप्येषां पिता दद्यान्मृते विप्रासुतो हरेत् ॥' इति। प्रतिग्रहग्रहणात्क्रयादिना लब्धा भूः क्षत्रियादिसुतानामपि भवत्येव। शूद्रापुत्रस्य

---

१. वरिष्ठं, न भारुचेः। २. विड्जौ तु द्व्येकभागिनौ। ३. वर्णास्त्रय उच्यन्ते। ४. १९४१ एकैकशश्चतुरिति।

विशेषप्रतिषेधाच्च । 'शूद्रयां द्विजातिभिर्जातो न भूमेर्भागमर्हति' इति । यदि क्रयादिप्राप्ता भूः क्षत्रियादिसुतानां न भवेत्तदा शूद्रापुत्रस्य विशेषप्रतिषेधो नोपपद्यते । यत्पुनः (मनुः९।१५५)—'ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्रापुत्रो न रिक्थभाक् । यदेवास्य पिता दद्यात्तदेवास्य धनं भवेत् ॥' इति, तदपि जीवता पित्रा यदि शूद्रापुत्राय किमपि प्रदत्तं स्यात्तद्विषयम् । यदा तु प्रसाददानं नास्ति, तदैकांशभागित्यविरुद्धम् ॥ १२५ ॥

भाषा—वर्णानुसार ब्राह्मण के (क्रमशः चार वर्णों की पत्नियों से उत्पन्न) पुत्रों के चार, तीन, दो और एक भाग होते हैं; क्षत्रिय के (क्रमशः क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा पत्नी से उत्पन्न) पुत्रों का तीन, दो और एक भाग, वैश्य के (क्रमशः वैश्या और शूद्रा पत्नियों से उत्पन्न) पुत्रों के दो और एक भाग होते हैं ॥ १२५ ॥

अथ सर्वविभागशेषे किंचिदुच्यते—

अन्योन्यापहृतं [1]द्रव्यं विभक्ते य[2]त्तु दृश्यते ।
तत्पुनस्ते समैरंशैर्विभजेरन्निति स्थितिः ॥ १२६ ॥

परस्परापहृतं समुदायद्रव्यं विभागकाले [3]चाज्ञातं विभक्ते पितृधने यद्दृश्यते, तत्समैरंशैर्विभजेरन्नित्येवं स्थितिः शास्त्रमर्यादा । अत्र 'समैरंशैः' इति वदतोद्धारविभागो निषिद्धः । विभजेरन्निति वदता येन दृश्यते तेनैव न ग्राह्यमिति दर्शितम् । एवं च वचनस्यार्थवत्त्वान्न समुदायद्रव्यापहारे दोषाभावपरत्वम् । ननु मनुना ज्येष्ठस्यैव समुदायद्रव्यापहारे दोषो दर्शितो न कनीयसाम् (मनुः९।२१३) 'यो[4] ज्येष्ठो विनिकुर्वीत लोभाद् भ्रातॄन्यवीयसः । सोऽज्येष्ठः स्यादभागश्च नियन्तव्यश्च राजभिः ॥' इति वचनात् । नैतत् ; यतः संभावितस्वातन्त्र्यस्य पितृस्थानीयस्य ज्येष्ठस्यापि दोषं वदता ज्येष्ठपरतन्त्राणां कनीयसां पुत्रस्थानीयानां दण्डापूपिकन्यायात् सुतरां दोषो दर्शित एव । तथा चाविशेषेणैव दोषः श्रूयते । गौतमः—'यो वै भागिनं भागान्नुदते चयते चैनं स यदि चैनं न चयतेऽथ पुत्रमथ पौत्रं चयत' इति । यो भागिनं भागार्हं भागान्नुदते भागादपाकरोति भागं तस्मै न प्रयच्छति, स भागान्नुन्न एनं नोत्तारं[5] चयते नाशयति दोषिणं करोति; यदि तं न नाशयति, तदा तस्य पुत्रं पौत्रं वा नाशयतीति, ज्येष्ठविशेषमन्तरेणैव साधारणद्रव्यापहारिणो दोषः श्रुतः[6] । अथ साधारणं द्रव्यमात्मनोऽपि स्वं भवतीति स्वत्वबुद्ध्या गृह्यमाणं न दोषमावहतीति मतम् । तदसत्,

१. प्रचं । २. यदि दृश्यते । ३. वा ज्ञातं । च ज्ञातं । ४. यो लोभाद्विनिकुर्वीत । ५. चोत्तारं । ६. श्रूयते ।

स्वबुद्धया गृहीतेऽप्यवर्जनीयतया परस्वमपि गृहीतमेवेति निषेधानुप्रवेशाद्दोषमावहत्येव। यथा मौद्गे चरौ विपन्ने सदृशतया माषेषु गृह्यमाणेषु 'अयज्ञिया वै माषाः' इति निषेधो न प्रविशति, मुद्गावयवबुद्धया गृह्यमाणत्वादिति पूर्वपक्षिणोक्ते मुद्गावयवेषु गृह्यमाणेष्ववर्जनीयतया माषावयवा अपि गृह्यन्त एवेति निषेधः प्रविशत्येवेति राद्धान्तिनोक्तम्। तस्माद्वचनतो न्यायतश्च साधारणद्रव्यापहारे दोषोऽस्त्येवेति सिद्धम् ॥ १२६ ॥

भाषा—विभाग के समय आपस में छिपाकर रखा गया धन यदि पितृधन के विभाग के उपरान्त दिखाई पड़े तो वे सभी भाई उसका समान अंश करके विभाजन कर लें; यही नियम है ॥ १२६ ॥

द्व्यामुष्यायणस्य भागविशेषं दर्शयंस्तस्य स्वरूपमाह—

अपुत्रेण परक्षेत्रे नियोगोत्पादितः सुतः।
उभयोरप्यसौ रिक्थी पिण्डदाता च धर्मतः ॥ १२७ ॥

'अपुत्रां गुर्वनुज्ञातः' (आ० ६८) इत्याद्युक्तविधिना अपुत्रेण देवरादिना परक्षेत्रे परभार्यायां गुरुनियोगेनोत्पादितः पुत्रः उभयोर्बीजिक्षेत्रिणोरसौ रिक्थी रिक्थहारी पिण्डदाता च धर्मत इति। अस्यार्थः—यदाऽसौ नियुक्तो देवरादिः स्वयमप्यपुत्रोऽपुत्रस्य[1] क्षेत्रे स्वपरपुत्रार्थं प्रवृत्तो[2] यं जनयति, स द्विपितृको द्व्यामुष्यायणो द्वयोरपि रिक्थहारी पिण्डदाता च। यदा तु नियुक्तः पुत्रवान् केवलं क्षेत्रिणः पुत्रार्थं प्रयतते, तदा तदुत्पन्नः क्षेत्रिण एव पुत्रो भवति, न बीजिनः। स च न नियमेन बीजिनो रिक्थहारी पिण्डदो[3] वेति। यथोक्तं मनुना (९।५३)—'क्रियाभ्युपगमात्क्षेत्रं बीजार्थं यत्प्रदीयते। तस्येह भागिनौ दृष्टौ बीजी क्षेत्रिक एव च ॥' इति। क्रियाभ्युपगमादिति अत्रोत्पन्नमपत्यमावयोरुभयोरपि भवत्विति संविदङ्गीकरणाद्यत्क्षेत्रं[4] क्षेत्रस्वामिना [5]बीजावपनार्थं बीजिने दीयते तत्र तस्मिन्क्षेत्रे उत्पन्नस्यापत्यस्य बीजिक्षेत्रिणौ भागिनौ स्वामिनौ दृष्टौ महर्षिभिः। तथा (मनुः ९।५२)—'फलं त्वनभिसंधाय क्षेत्रिणां बीजिनां तथा। प्रत्यक्षं क्षेत्रिणामर्थो बीजाद्योनिर्बलीयसी ॥' इति। फलं त्वनभिसंधायेति। अत्रोत्पन्नमपत्यमावयोरुभयोरस्त्वित्येवमनभिसंधाय परक्षेत्रे यदपत्यमुत्पाद्यते तदपत्यं क्षेत्रिण एव। यतो बीजाद्योनिर्बलीयसी; गवाश्वादिषु तथा दर्शनात्। अत्रापि [6]नियोगो वाग्दत्ताविषय एव; इतरस्य नियोगस्य मनुना निषिद्धत्वात् (९।५९,६०)—'देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया

---

१. अपरस्य। २. प्रवर्तते। ३. पिण्डदाता च। ४. करणेन यत्क्षेत्रं। ५. बीजवापनार्थं। ६. तथा नियोगो।

सम्यङ्नियुक्तया । प्रजेप्सिताऽधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥ विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि । एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथंचन ॥' इत्येवं नियोगमुपन्यस्य मनुः स्वयमेव निषेधति (९।६४,६८)—'नान्यस्मिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः । अन्यस्मिन्हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम् ॥ नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित् । न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥ अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः । मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ॥ स महीमखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा । वर्णानां संकरं चक्रे कामोपहतचेतनः ॥ ततः प्रभृति यो मोहात्प्रमीतपतिकां स्त्रियम् । नियोजयत्यपत्यार्थे गर्हन्ते[1] तं हि साधवः ॥' इति ॥ न च विहितप्रतिषिद्धत्वाद्विकल्प इति मन्तव्यम् ; नियोक्तॄणां निन्दाश्रवणात् , स्त्रीधर्मेषु व्यभिचारस्य बहुदोषश्रवणात् , संयमस्य प्रशस्तत्वाच्च । यथाह मनुरेव (५।१५७)—'कामं तु क्षपयेद् देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः । नतु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु ॥' इति जीवनार्थं पुरुषान्तराश्रयणं प्रतिषिद्ध्य (मनुः ५।१५८।१६१)—'आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी । यो धर्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम् ॥ अनेकानि सहस्राणि कौमारब्रह्मचारिणाम् । दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसंततिम् ॥ मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता । स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥ अपत्यलोभाद्या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते । सेह निन्दामवाप्नोति परलोकाच्च हीयते ॥' इति पुत्रार्थमपि पुरुषान्तराश्रयणं निषेधति । तस्माद्विहितप्रतिषिद्धत्वाद्विकल्प इति न युक्तम् ॥ एवं विवाहसंस्कृतानियोगे प्रतिषिद्धे कस्तर्हि धर्म्यो नियोग इत्यत आह (मनुः ९।६९।७०)—'यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः । तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥ यथाविध्यधिगम्यैनां[2] शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम् । मिथो भजेताप्रसवात्सकृत्सकृदृतावृतौ ॥' इति । यस्मै वाग्दत्ता कन्या स प्रतिग्रहमन्तरेणैव तस्याः पतिरित्यस्मादेव वचनादवगम्यते । तस्मिन्प्रेते देवरस्तस्य ज्येष्ठः कनिष्ठो वा निजः सोदरो विन्देत परिणयेत् । यथाविधि यथाशास्त्रमधिगम्य परिणीय अनेन विधानेन घृताभ्यङ्गवाङ्नियमादिना शुक्लवस्त्रां शुचिव्रतां मनोवाक्कायसंयतां मिथो रहस्यागर्भग्रहणात्प्रत्यृत्वेकवारं गच्छेत् । अयं च विवाहो वाचनिको घृताभ्यङ्गादिनियमवत् , नियुक्ताभिगमनाङ्गमिति न देवरस्य; भार्यात्वमापादयति । अतस्तदुत्पन्नमपत्यं क्षेत्रस्वामिन एव भवति, न देवरस्य संविदा तूभयोरपि ॥ १२७ ॥

भाषा—पुत्रहीन देवर आदि द्वारा दूसरे की पत्नी से नियोग विधि से

---

१. तं विगर्हन्ति–मनुः । २. विध्यभिगम्यैनां ।

उत्पन्न पुत्र दोनों की सम्पत्ति का अधिकारी होता है और धर्मानुसार पिण्ड-दान देने वाला होता है ॥ १२७ ॥

समानासमानजातीयानां पुत्राणां विभागक्लृप्तिरुक्ता, अधुना मुख्यगौण-पुत्राणां दायग्रहणव्यवस्थां दर्शयिष्यंस्तेषां स्वरूपं तावदाह—

औरसो धर्मपत्नीजस्तत्समः पुत्रिकासुतः ।
क्षेत्रजः क्षेत्रजातस्तु सगोत्रेणेतरेण वा ॥ १२८ ॥

उरसो जात औरसः पुत्रः, स च धर्मपत्नीजः–सवर्णा धर्मविवाहोढा धर्मपत्नी, तस्यां जात औरसः पुत्रो मुख्यः । तत्समः पुत्रिकासुतः तत्सम औरससमः, पुत्रिकायाः सुतः पुत्रिकासुतः । अत एवौरससमः । यथाह वसिष्ठः–'अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलंकृताम् । अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति ॥' इति । अथवा पुत्रिकैव सुतः पुत्रिकासुतः; सोऽप्यौ-रससम एव पित्रवयवानामल्पत्वात् , मात्रवयवानां बाहुल्याच्च; यथाह वसिष्ठः (१७।१५)—'तृतीयः पुत्रिकैव' इति । तृतीयः पुत्रः पुत्रिकैवेत्यर्थः । द्व्यामुष्या-यणस्तु जनकस्यौरसादपकृष्टः; अन्यक्षेत्रोत्पन्नत्वात् । 'क्षेत्रजः क्षेत्रजातस्तु सगोत्रेणेतरेण वा । इतरेण सपिण्डेन देवरेण वोत्पन्नः पुत्रः क्षेत्रजः ॥ १२८ ॥

भाषा—धर्मपूर्वक विवाहिता सवर्णा पत्नी से उत्पन्न पुत्र औरस होता है पुत्रिकासुत (पुत्री का पुत्र, नाती अथवा एकमात्र पुत्री जो पुत्र सी होती है) उस (औरस पुत्र) के समान ही होता है । क्षेत्रज और क्षेत्रजात पुत्र सगोत्र या दूसरे सपिण्ड आदि द्वारा उत्पन्न होता है ॥ १२८ ॥

गृहे प्रच्छन्न उत्पन्नो गूढजस्तु सुतः स्मृतः ।
कानीनः कन्यकाजातो मातामहसुतो मतः ॥ १२९ ॥

गूढजः पुत्रो भर्तृगृहे प्रच्छन्न उत्पन्नो हीनाधिकजातीयपुरुषजत्वपरिहारेण पुरुषविशेषजत्वनिश्चयाभावेऽपि सवर्णजत्वनिश्चये सति बोद्धव्यः । कानीनस्तु कन्यकायामुत्पन्नः पूर्ववत्सवर्णात्स मातामहस्य पुत्रः । यद्यनूढा सा भवेत्तथा पितृगृह एव संस्थिता, अथोढा तदा वोढुरेव पुत्रः । यथाह मनुः (९।१७२)—'पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्रहः । तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोढुः कन्यास-मुद्भवम् ॥' इति ॥ १२९ ॥

भाषा—घर में (निम्न जाति के पुरुष संसर्ग के कारण) प्रच्छन्न रूप से उत्पन्न पुत्र गूढज कहलाता है और कुँवारी कन्या से उत्पन्न कानीन मातामह अर्थात् नाना का पुत्र होता है ॥ १२९ ॥

---

१. स्यौरसान्निकृष्टो ।

अक्षतायां क्षतायां वा जातः पौनर्भवः सुतः ।
दद्यान्माता पिता वा यं स पुत्रो दत्तको भवेत् ॥ १३० ॥

पौनर्भवस्तु पुत्रोऽक्षतायां क्षतायां वा पुनर्भ्वां सवर्णादुत्पन्नः । मात्रा भर्त्रनुज्ञया प्रोषिते प्रेते वा भर्तरि पित्रा वोभाभ्यां वा सवर्णाय यस्मै दीयते, स तस्य दत्तकः पुत्रः । यथाह मनुः (९।१६८)—'माता पिता वा दद्यातां यमद्भिः पुत्रमापदि । सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्त्रिमः सुतः ॥' इति । आपद्ग्रहणादनापदि न देयः; दातुरयं प्रतिषेधः । तथा एकपुत्रो न देयः । 'न त्वेवैकं पुत्रं दद्यात्प्रतिगृह्णीयाद्वा' (१५।३) इति वसिष्ठस्मरणात् । तथाऽनेकपुत्रसद्भावेऽपि ज्येष्ठो न देयः । 'ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः' (मनुः ९।१०६)—इति तस्यैव पुत्रकार्यकरणे मुख्यत्वात् । पुत्रप्रतिग्रहप्रकारश्च 'पुत्रं प्रतिग्रहीष्यन्बन्धूनाहूय राजनि चावेद्य निवेशनमध्ये व्याहृतिभिर्हुत्वा अदूरबान्धवं बन्धुसंनिकृष्ट एव प्रतिगृह्णीयात्' इति वसिष्ठेनोक्तः । 'अदूरबान्धवम्' इत्यत्यन्तदेशभाषाविप्रकृष्टस्य प्रतिषेधः । एवं क्रीतस्वयंदत्तकृत्रिमेष्वपि योजनीयम् ; समानन्यायत्वात् ॥ १३० ॥

भाषा—अक्षता (पहले पुरुष सम्पर्क से वञ्चित) या क्षता (जो पहले यौन संबन्ध का अनुभव कर चुकी हो) सवर्णा पुनर्भू (पुनः विवाहिता) का पुत्र पौनर्भव होता है; जिस पुत्र को माता और पिता किसी को दे देवे वह दत्तकपुत्र कहलाता है ॥ १३० ॥

क्रीतश्च ताभ्यां विक्रीतः कृत्रिमः स्यात्स्वयंकृतः ।
दत्तात्मा तु स्वयंदत्तो गर्भे विन्नः सहोढजः ॥ १३१ ॥

क्रीतस्तु पुत्रस्ताभ्यां मातापितृभ्यां मात्रा पित्रा वा विक्रीतः पूर्ववत् , तथैकं पुत्रं ज्येष्ठं च वर्जयित्वा आपदि सवर्ण इत्येव । यत्तु मनुनोक्तम् (९।१७४)—'क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थं मातापित्रोर्यमन्तिकात् । स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा ॥' इति, तद्गुणैः सदृशोऽसदृशो वेति व्याख्येयं, न जात्या; 'सजातीयेष्वयं प्रोक्तस्तनयेषु' (व्य० १३३) इत्युपसंहारात् । कृत्रिमः स्यात्स्वयंकृतः । कृत्रिमस्तु पुत्रः स्वयं पुत्रार्थिना धनक्षेत्रप्रदर्शनादिप्रलोभनैः पुत्रीकृतो मातापितृविहीनः तत्सद्भावे तत्परतन्त्रत्वात् । दत्तात्मा तु पुत्रो यो मातापितृविहीनस्ताभ्यां त्यक्तो वा तवाहं पुत्रो भवामीति स्वयंदत्तत्व-

---

१. निषेधः । २. गर्भे भिन्नः । ३. प्रलोभनेन । ४. स्वयंदत्त उपगतः ।

मुपगतः। सहोढजस्तु गर्भे स्थितो गर्भिण्यां परिणीतायां यः परिणीतः स वोढुः पुत्रः॥ १३१॥

भाषा—माता-पिता द्वारा (या उनमें से किसी एक द्वारा) धन लेकर दूसरे के हाथ बेचा गया पुत्र क्रीतपुत्र होता है और स्वयं बनाया गया पुत्र कृत्रिम कहलाता है। (माता पिता से त्यक्त या हीन होकर) स्वयं को पुत्र के रूप में अर्पित करने वाला दत्तात्मा और विवाह के समय जो गर्भ में रहा हो वह सहोढज पुत्र कहलाता है॥ १३१॥

उत्सृष्टो गृह्यते यस्तु सोऽपविद्धो भवेत्सुतः।

अपविद्धो मातापितृभ्यामुत्सृष्टो यो गृह्यते, स ग्रहीतुः पुत्रः. सर्वत्र सवर्ण इत्येव॥-

एवं मुख्यामुख्यपुत्राननुक्रम्यैतेषां दायग्रहणे क्रममाह—

पिण्डदोंऽशहरश्चैषां पूर्वाभावे परः परः॥ १३२॥

एतेषां पूर्वोक्तानां पुत्राणां द्वादशानां पूर्वस्य पूर्वस्याभावे उत्तर उत्तरः श्राद्धदोंऽशहरो धनहरो वेदितव्यः। औरसपौत्रिकेयसमवाये औरसस्यैव धनग्रहणे प्राप्ते मनुरपवादमाह (९।१३४)—'पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनुजायते। समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः॥' इति। तथा अन्येषामपि पूर्वस्मिन्पूर्वस्मिन्सत्यप्युत्तरेषां पुत्राणां चतुर्थांशभागित्वमुक्तं वसिष्ठेन। 'तस्मिंश्चेत्प्रतिगृहीते औरस उत्पद्येत चतुर्थभागभागी स्याद्दत्तकः' (१५।९) इति। 'दत्तक'ग्रहणं क्रीतकृत्रिमादीनां प्रदर्शनार्थम्; पुत्रीकरणाविशेषात्। तथा च कात्यायनः—'उत्पन्ने त्वौरसे पुत्रे चतुर्थांशहराः सुताः। सवर्णा असवर्णास्तु ग्रासाच्छादनभाजनाः॥' इति। सवर्णा दत्तकक्षेत्रजादयस्ते सत्यौरसे चतुर्थांशहराः। असवर्णाः कानीनगूढोत्पन्नसहोढजपौनर्भवास्ते त्वौरसे सति न चतुर्थांशहराः[1], किंतु ग्रासाच्छादनभाजनाः। यदपि विष्णुवचनम्—'अप्रशस्तास्तु कानीनगूढोत्पन्नसहोढजाः। पौनर्भवश्च नैवैते पिण्डरिक्थांशभागिनः॥' इति, तदप्यौरसे सति चतुर्थांशनिषेधपरमेव; औरसाद्यभावे तु कानीनादीनामपि सकलपित्र्यधनग्रहणमस्त्येव। 'पूर्वाभावे परः परः' इति वचनात्॥ यदपि मनुवचनम् (९।१६३)—'एक एवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः। शेषाणामानृशंस्यार्थं प्रदद्यात्तु प्रजीवनम्॥' इति, तदपि दत्तकादीनामौरसप्रतिकूलत्वे निर्गुणत्वे च वेदितव्यम्। तत्र क्षेत्रजस्य विशेषो दर्शितस्तेनैव (मनुः९।१६४)—

---

१. चतुर्थांश।

'षष्ठं तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात्पैतृकाद्धनात्। औरसो विभजन्दायं पित्र्यं पञ्चममेव वा ॥' इति प्रतिकूलत्वनिर्गुणत्वसमुच्चये षष्ठमंशम्, एकतरसद्भावे पञ्चममिति विवेक्तव्यम् ॥ यदपि मनुना पुत्राणां षट्कद्वयमुपन्यस्य पूर्वषट्कस्य दायादबान्धवत्वमुक्तम्, उत्तरषट्कस्यादायादबान्धवत्वमुक्तम् (मनुः ९।१५९।१६०)— 'औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च। गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट् ॥ कानीनश्च सहोढश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा। स्वयंदत्तश्च शौद्रश्च षडदायादबान्धवाः ॥' इति, तदपि स्वपितृसपिण्डसमानोदकानां संनिहितरिक्थहरान्तराभावे पूर्वषट्कस्य तद्रिक्थहरत्वम्, उत्तरषट्कस्य तु तन्नास्ति। बान्धवत्वं पुनः समानगोत्रत्वेन सपिण्डत्वेन चोदकप्रदानादिकार्यकरत्वं वर्गद्वयस्यापि सममेवेति व्याख्येयम् ॥ (मनुः ९।१४२)—'गोत्ररिक्थे जनयितुर्न भजेद्दत्त्रिमः सुतः। गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधा ॥' इत्यत्र 'दत्त्रिम'ग्रहणस्य पुत्रप्रतिनिधिप्रदर्शनार्थत्वात्। पितृधनहारित्वं तु पूर्वस्य पूर्वस्याभावे सर्वेषामविशिष्टम्। (मनुः ९।१८५)—'न भ्रातरो न पितरः पुत्रा रिक्थहराः पितुः।' इत्यौरसव्यतिरिक्तानां पुत्रप्रतिनिधीनां सर्वेषां रिक्थहारित्वप्रतिपादनपरत्वात्। औरसस्य तु (मनुः ९।१२६)—'एक एवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः।' इत्यनेनैव रिक्थभाक्त्वस्योक्तत्वात्। 'दायाद'शब्दस्य 'दायादानपि दापयेत्' इत्यादौ पुत्रव्यतिरिक्तरिक्थभाग्विषयत्वेन प्रसिद्धत्वाच्च। वासिष्ठादिषु वर्गद्वयेऽपि कस्यचिद्व्यत्ययेन पाठो गुणवद्गुणवद्विषयो वेदितव्यः। गौतमीये तु 'पौत्रिके यस्य दशमत्वेन पाठो विजातीयविषयः। तस्मात्स्थितमेतत्पूर्वपूर्वाभावे परः परोंऽशभागिति ॥ यत्तु (९।१८२)—'भ्रातृणामेकजातानामेकश्चेत्पुत्रवान्भवेत्। सर्वे[१] ते तेन पुत्रेण पुत्रिणो मनुरब्रवीत् ॥' इति, तदपि भ्रातृपुत्रस्य पुत्रीकरणसंभवेऽन्येषां पुत्रीकरणनिषेधार्थम्, न पुनः पुत्रत्वप्रतिपादनाय। 'तत्सुता गोत्रजा बन्धुः—' (व्य० १३५) इत्यनेन विरोधात् ॥ १३२ ॥

भाषा—माता पिता द्वारा छोड़ा जाने पर जो पुत्र ग्रहण किया जाता है वह अपविद्ध पुत्र होता है। इन पूर्वों में पहले-पहले के अभाव में बादवाले पिण्ड, दान एवं सम्पत्ति के अंशग्रहण के अधिकारी होते हैं ॥ १३२ ॥

इदानीमुक्तोपसंहारव्याजेन तत्रैव नियममाह—

सजातीयेष्वयं प्रोक्तस्तनयेषु मया विधिः।

समानजातीयेष्वेव पुत्रेषु अयं 'पूर्वाभावे परः पर' इत्युक्तो विधिः, न भिन्नजातीयेषु। तत्र च कानीनगूढोत्पन्नसहोढजपौनर्भवाणां सवर्णत्वं जनकद्वारेण,

---

१. सर्वास्तांस्ते।

न स्वरूपेण; तेषां वर्णजातिलक्षणाभावस्योक्तत्वात् । तथानुलोमजानां मूर्धावसिक्तादीनामौरसेष्वन्तर्भावात्तेषामप्यभावे क्षेत्रजादीनां दायहरत्वं बोद्धव्यम् । शूद्रापुत्रस्त्वौरसोऽपि कृत्स्नं भागमन्याभावेऽपि न लभते । यथाह मनुः (९।१५४) —'यद्यपि स्यात्तु सत्पुत्रो यद्यपुत्रोऽपि वा भवेत् । नाधिकं दशमाद्दद्याच्छूद्रापुत्राय धर्मतः ॥' इति । यदि सत्पुत्रो विद्यमानद्विजातिपुत्रो यद्यपुत्रोऽविद्यमानद्विजातिपुत्रो वा स्यात्तस्मिन्मृते क्षेत्रजादिर्वाऽन्यो वा सपिण्डः शूद्रापुत्राय तद्धनाद्दशमांशादधिकं न दद्यादित्यस्मादेव क्षत्रियावैश्यापुत्रयोः सवर्णापुत्राभावे सकलधनग्रहणं गम्यते ॥

अधुना शूद्रधनविभागे विशेषमाह—

जातोऽपि दास्यां शूद्रेण कामतोऽशहरो भवेत् ॥ १३३ ॥
मृते पितरि कुर्युस्तं भ्रातरस्त्वर्धभागिकम् ।
अभ्रातृको हरेत्सर्वं दुहितॄणां सुतादृते ॥ १३४ ॥

शूद्रेण दास्यामुत्पन्नः पुत्रः कामतः पितुरिच्छया भागं लभते । पितुरूर्ध्वं तु यदि परिणीतापुत्राः सन्ति तदा ते भ्रातरस्तं दासीपुत्रं अर्धभागिनं कुर्युः, स्वभागादर्धं दद्युरित्यर्थः । अथ परिणीतापुत्रा न सन्ति तदा कृत्स्नं धनं दासीपुत्रो गृह्णीयात् यदि परिणीतादुहितरस्तत्पुत्रा वा न सन्ति । तत्सद्भावे त्वर्धभागिक एव दासीपुत्रः । अत्र च 'शूद्र'ग्रहणाद् द्विजातिना दास्यामुत्पन्नः पितुरिच्छयाऽप्यंशं न लभते नाप्यर्धं, दुहितर एव कृत्स्नम् । किंत्वनुकूलश्चेज्जीवनमात्रं लभते ॥ १३३–१३४ ॥

भाषा—मैंने समान जाति के पुत्रों के विषय में यह पूर्व और परभाव का उल्लेख किया है । शूद्र द्वारा दासी से भी उत्पन्न पुत्र पिता की इच्छा से अंशग्राही होता है । पिता की मृत्यु के बाद भाई (=परिणीता पत्नी के पुत्र) उस दासीपुत्र को आधा भाग प्रदान करें । भाई (परिणीतापुत्र) न हों और विवाहिता पुत्रियाँ एवं उनके पुत्र न हों तो दासीपुत्र सम्पूर्ण धन ले लेवे ॥ १३३–१३४ ॥

मुख्यगौणसुता दायं गृह्णन्तीति निरूपितम्, तेषामभावे सर्वेषां दायादक्रम उच्यते—

पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा ।
तत्सुता गोत्रजा [6]बन्धुशिष्यसब्रह्मचारिणः ॥ १३५ ॥

---

१. स्वरूपद्वारेण । २. प्यसत्पुत्रोऽपि वा भवेत् । ३. विभागेऽपि । ४. धनं गृह्णीयात् । ५. कृत्स्नं धनं, दूरत एव । ६. बन्धुशिष्याः सब्रह्म ।

एषामभावे पूर्वस्य धनभागुत्तरोत्तरः।
स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य सर्ववर्णेष्वयं विधिः॥ १३६॥

पूर्वोक्ता द्वादशपुत्रा यस्य न सन्ति असावपुत्रः, तस्यापुत्रस्य स्वर्यातस्य परलोकं गतस्य धनभाक् धनग्राही एषां पत्न्यादीनामनुक्रान्तानां मध्ये पूर्वस्य पूर्वस्याभाव उत्तर उत्तरो धनभागिति संबन्धः। सर्वेषु मूर्धावसिक्तादिषु[1] अनुलोमजेषु सूतादिषु प्रतिलोमजेषु वर्णेषु च ब्राह्मणादिषु अयं दायग्रहणविधिर्दायग्रहणक्रमो वेदितव्यः। तत्र प्रथमं पत्नी धनभाक्[2]। पत्नी विवाहसंस्कृता 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' (अ० ४।१।३३) इति स्मरणात्। एकवचनं च जात्यभिप्रायेण। ताश्च बह्वयश्चेत्सजातीया विजातीयाश्च तदा यथांशं विभज्य धनं गृह्णन्ति[3]। वृद्धमनुरपि पत्न्याः समग्रधन[4]संबन्धं वक्ति—'अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती व्रते स्थिता। पत्न्येव दद्यात्तत्पिण्डं कृत्स्नमंशं लभेत च॥' इति। वृद्धविष्णुरपि—'अपुत्रधनं पत्न्यभिगामि, तदभावे दुहितृगामि, तदभावे पितृगामि, तदभावे भ्रातृगामि' इति। कात्यायनोऽपि—'पत्नी पत्युर्धनहरी या स्यादव्यभिचारिणी। तदभावे तु दुहिता यद्यनूढा भवेत्तदा॥' इति। तथा 'अपुत्र[5]स्याथ कुलजा पत्नी दुहितरोऽपि वा। तदभावे पिता माता भ्राता पुत्राश्च कीर्तिताः॥' इति। बृहस्पतिरपि (बृह. २५।४८)—'कुल्येषु विद्यमानेषु पितृभ्रातृसनाभिषु। असुतस्य प्रमीतस्य पत्नी तद्भागहारिणी॥' एतद्विरुद्धानीव[6] वाक्यानि लक्ष्यन्ते (ना० १३। २५-२६) 'भ्रातॄणामप्रजाः प्रेयात्कश्चिच्चेत्प्रव्रजेत वा। विभजेरन्धनं तस्य शेषास्ते स्त्रीधनं विना॥ भरणं चास्य कुर्वीरन्स्त्रीणामाजीवनक्षयात्। रक्षन्ति शय्यां भर्तुश्चेदाच्छिन्द्युरितरासु तु॥' इति पत्नीसद्भावेऽपि भ्रातॄणां धनग्रहणं पत्नीनां च भरणमात्रं नारदेनोक्तम्। मनुना तु (९।१८५)—'पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव वा' इत्यपुत्रस्य धनं पितुर्भ्रातुर्वेति दर्शितम्। तथा (मनुः ९। २१७)—'अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात्। मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम्॥' इति मातुः पितामह्याश्च धनसंबन्धो दर्शितः। शङ्खेनापि—'स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य भ्रातृगामि द्रव्यं तदभावे पितरौ हरेयातां ज्येष्ठा वा पत्नी' इति भ्रातॄणां पित्रोर्ज्येष्ठायाश्च पत्न्याः क्रमेण धनसंबन्धो दर्शितः। कात्यायनेनापि—'विभक्ते संस्थिते द्रव्यं पुत्राभावे पिता हरेत्। भ्राता वा जननी वाऽथ माता वा तत्पितुः क्रमात्॥' इत्येवमादीनां विरुद्धार्थानां वाक्यानां धारेश्वरेण व्यवस्था दर्शिता—'पत्नी गृह्णीयात्' इत्येतद्वचनजातं विभक्तभ्रातृस्त्रीविषयम्।

---

१. दिष्वनुलोमजेषु सूतादिषु प्रतिलोमजेषु ब्राह्मणादिषु अयं। २. भाक् विवाह। ३. गृह्णन्ति यथा। ४. धनग्रहणं। ५. स्यार्यकुलजा। ६. विरुद्धानि च वाक्यानीह।

सा च यदि नियोगार्थिनी भवति। कुत एतत् नियोगसव्यपेक्षायाः पत्न्या धनग्रहणं न स्वतन्त्रायां इति। 'पिता हरेदपुत्रस्य' (मनुः ९।१८५) इत्यादिवचनात्तत्र व्यवस्थाकारणं वक्तव्यम्। नान्यद् व्यवस्थाकारणमस्ति इति गौतमवचनाच्च (२९।५।६) 'पिण्डगोत्रर्षिसम्बन्धा रिक्थं भजेरन् स्त्री वाऽनपत्यस्य बीजं लिप्सेत' इति। अस्यार्थः—पिण्डगोत्रर्षिसम्बन्धा अनपत्यस्य रिक्थं भजेरन्स्त्री वा रिक्थं भजेत् यदि बीजं लिप्सेतेति। मनुरपि (९।१४६)—धनं यो बिभृयाद् भ्रातुर्मृतस्य स्त्रियमेव वा। सोऽपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य दद्यात्तस्यैव तद्धनम्॥' इति। अनेनैतद्दर्शयति विभक्तधनेऽपि भ्रातर्युपरतेऽपत्यद्वारेणैव पत्न्या धनसंबन्धो नान्यथेति। तथाऽविभक्तधनेऽपि (मनुः ९।१२०)—'कनीयाञ्ज्येष्ठभार्यायां पुत्रमुत्पादयेद्यदि। समस्तत्र विभागः स्यादिति धर्मो व्यवस्थितः॥' इति। तथा वसिष्ठोऽपि (१७।४८) 'रिक्थलोभान्नास्ति नियोगः' इति रिक्थलोभान्नियोगं प्रतिषेधयन् नियोगद्वारक एव पत्न्याः धनसंबन्धो नान्यथेति दर्शयति। नियोगाभावेऽपि पत्न्या भरणमात्रमेव नारदवचनात् 'भरणं चास्य कुर्वीरन्स्त्रीणामाजीवनक्षयात्' इति। योगीश्वरेणापि किल वक्ष्यते (व्य० १४२)—'अपुत्रा योषितश्चैषां भर्तव्याः साधुवृत्तयः। निर्वास्या व्यभिचारिण्यः प्रतिकूलास्तथैव च॥' इति। अपि च, द्विजातिधनस्य यथार्थत्वात् स्त्रीणां च यज्ञेऽनधिकाराद्धनग्रहणमयुक्तम्। यथा च केनापि स्मृतम्—'यज्ञार्थे द्रव्यमुत्पन्नं तत्रानधिकृतास्तु ये। अरिक्थभाजस्ते सर्वे ग्रासाच्छादनभाजनाः॥ यज्ञार्थं विहितं वित्तं तस्मात्तद्विनियोजयेत्। स्थानेषु धर्मजुष्टेषु न स्त्रीमूर्खविधर्मिषु॥' इति,–तदनुपपन्नम्; 'पत्नी दुहितरः' (व्य० १३५) इत्यत्र नियोगस्याप्रतीतेरप्रस्तुतत्वाच्च। अपि चेदमत्र वक्तव्यम्,–पत्न्याः धनग्रहणे नियोगो वा निमित्तं तदुत्पन्नमपत्यं वा। तत्र नियोगस्यैव निमित्तत्वे अनुत्पादितपुत्राया अपि धनसंबन्धः प्राप्नोति। उत्पन्नस्य च पुत्रस्य धनसंबन्धो न प्राप्नोति अथ तदपत्यस्यैव निमित्तत्वं, तथा सति पुत्रस्यैव धनसंबन्धात्पत्नीति नारब्धव्यम्॥

अथ स्त्रीणां पतिद्वारको धनसंबन्धः पुत्रद्वारको वा नान्यथेति मतम्,–तदप्यसत्; (मनुः ९।१९४)—'अध्यग्न्यध्यावहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि। भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम्॥' इत्यादिविरोधात्। किंच; सर्वथा पुत्राभावे 'पत्नी दुहितरः' इत्यारब्धम्। तत्र नियुक्ताया धनसंबन्धं वदता क्षेत्रजस्यैव धनसंबन्धं[1] उक्तो भवति। स च प्रागेवाभिहित इति 'अपुत्रप्रकरणे पत्नी' ति नारब्धव्यम्। अथ पिण्डगोत्रर्षिसंबन्धा रिक्थं भजेरन्स्त्री वाऽनपत्यस्य बीजं लिप्सेत' (गौ० २९।५) इति गौतमवचनान्नियुक्ताया धनसंबन्ध इति। तद-

1. संबन्धो युक्तो।

ध्यसत्,—नहि यदि बीजं लिप्सेत तदाऽनपत्यस्य स्त्री धनं गृह्णीयादित्ययमर्थोऽस्मात्प्रतीयते। किंतु 'अनपत्यस्य धनं पिण्डगोत्रर्षिसंबन्धा भजेरन्स्त्री वा सा[1] स्त्री बीजं वा लिप्सेत संयता वा भवेत्'इति तस्या धर्मान्तरोपदेशः; 'वा'शब्दस्य पक्षान्तरवचनत्वेन यथार्थप्रतीतेः। अपि च संयताया एव धनग्रहणं युक्तं, न नियुक्तायाः स्मृतिलोकनिन्दितायाः। 'अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती व्रते स्थिता। पत्न्येव दद्यात्तत्पिण्डं कृत्स्नमंशं लभेत च॥' इति संयताया एव धनग्रहणमुक्तम्॥

तथा नियोगश्च निन्दितो मनुना (९।६४)—'नान्यस्मिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः। अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम्॥'इत्यादिना यत्तु वसिष्ठवचनम् (१७।६५) 'रिक्थलोभान्नास्ति नियोगः' इति, तदविभक्ते संसृष्टिनि वा भर्तरि प्रेते तस्या धनसंबन्धो नास्तीति स्वापत्यस्य धनसंबन्धार्थं नियोगो न कर्तव्य इति व्याख्येयम्। यदपि नारदवचनम् (१३।२६)—'भरणं चास्य कुर्वीरन्स्त्रीणामाजीवनक्षयात्' इति, तदपि 'संसृष्टानां तु यो भागस्तेषामेव स इष्यते' इति [2]संसृष्टानां प्रस्तुतत्वात्तत्स्त्रीणामनपत्यानां भरणमात्रप्रतिपादनपरम्। नच 'भ्रातृणामप्रजाः प्रेयात्' (ना० १३।२४) इत्येतस्य संसृष्टिविषयत्वे 'संसृष्टानां[2] तु यो भाग' (ना० १३।२४) इत्यनेन पौनरुक्त्यमाशङ्कनीयम्। यतः पूर्वोक्तविवरणेन स्त्रीधनस्याविभाज्यत्वं तत्स्त्रीणां च भरणमात्रं विधीयते। यदपि 'अपुत्रा योषितश्चैषाम्' (व्य० १४०) इत्यादिवचनं, तत् क्लीबादिस्त्रीविषयमिति [3]वक्ष्यते। यत्तु 'द्विजातिधनस्य यज्ञार्थत्वात्स्त्रीणां च यज्ञेऽनधिकाराद्धनग्रहणमयुक्त'मिति,—तदसत्; सर्वस्य द्रव्यजातस्य यज्ञार्थत्वे दानहोमाद्यसिद्धेः। अथ यज्ञशब्दस्य धर्मोपलक्षणत्वाद्दानहोमादीनामपि धर्मत्वात्तदर्थत्वमविरुद्धमिति मतम्। एवं तर्ह्यर्थकामयोर्धनसाध्ययोरसिद्धिरेव स्यात्। तथा सति 'धर्मार्थकामान्स्वे काले यथाशक्ति न हापयेत्' (आ० ११५)। तथा 'न पूर्वाह्णमध्यन्दिनापराह्णानफलान्कुर्याद्यथाशक्ति धर्मार्थकामेभ्यः' (गौ० ९।२४)। तथा 'न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया' (मनुः २।९६) इत्यादियाज्ञवल्क्यगौतममनुवचनविरोधः। अपि च धनस्य यज्ञार्थत्वे 'हिरण्यं धार्यम्' इति हिरण्यसाधारणस्य क्रत्वर्थतानिराकरणेन पुरुषार्थत्वमुक्तं तत्प्रत्युद्धृतं स्यात्। किंच यज्ञशब्दस्य धर्मोपलक्षणपरत्वे स्त्रीणामपि पूर्तधर्माधिकाराद्धनग्रहणं युक्ततरम्। यत्तु पारतन्त्र्यवचनं 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' (मनुः ९।३) इत्यादि तदस्तु पारतन्त्र्यं, धनस्वीकारे तु को विरोधः॥ कथं तर्हि 'यज्ञार्थं द्रव्यमुत्पन्नम्' इत्यादिवचनम्? उच्यते—'यज्ञार्थमेवार्जितं यद्धनं तद्यज्ञ एव नियोक्तव्यं पुत्रादिभिरपी'त्येवं परं तत्।—

---

१. सा बीजं वा। २. संसृष्टिनां तु। ३. वक्ष्यति।

'यज्ञार्थं लब्धमददद्भासः काकोऽपि वा भवेत्' (आ० १२७) इति दोषश्रवणस्य पुत्रादिष्वप्यविशेषात्। यदपि कात्यायनेनोक्तम्—'अदायिकं राजगामि योषिद्भृत्यौर्ध्वदेहिकम्। अपास्य श्रोत्रियद्रव्यं श्रोत्रियेभ्यस्तदर्पयेत्॥' इति। अदायिकं दायादरहितं यद्धनं तद्राजगामि राज्ञो भवति, योषिद्भृत्यौर्ध्वदेहिकमपास्य, तत्स्त्रीणामशनाच्छादनोपयुक्तं और्ध्वदेहिकं धनिनः श्राद्धाद्युपयुक्तं चापरस्य परिहृत्य राजगामि भवतीति संबन्धः। अस्यापवाद उत्तरार्धे। श्रोत्रियद्रव्यं च योषिद्भृत्यौर्ध्वदेहिकमपास्य 'श्रोत्रियायोपपादये'दिति, तदप्यवरुद्धस्त्रीविषयम्; योषिद्ग्रहणात्। नारदवचनं च (१३।५२)—'अन्यत्र ब्राह्मणात्किंतु राजा धर्मपरायणः। तत्स्त्रीणां जीवनं दद्यादेष दायविधिः स्मृतः॥' इत्यवरुद्धस्त्रीविषयमेव। स्त्रीशब्दग्रहणात्। इह तु 'पत्नी'शब्दादूढायाः संयताया धनग्रहणमविरुद्धम्। तस्माद्विभक्तासंसृष्टिन्यपुत्रे स्वर्याते पत्नी धनं प्रथमं गृह्णातीत्ययमर्थः सिद्धो भवति। विभागस्योक्तत्वात्संसृष्टिनां तु वक्ष्यमाणत्वात्। एतेनाल्पधनविषयत्वं श्रीकरादिभिरुक्तं निरस्तं वेदितव्यम्। तथा ह्यौरसेषु पुत्रेषु सत्स्वपि जीवद्विभागे अजीवद्विभागे च पत्न्याः पुत्रसमांशग्रहणमुक्तम् (व्य० ११५)—'यदि कुर्यात्समानंशान् पत्न्यः कार्याः समांशिकाः' इति। तथा—'पितुरूर्ध्वं विभजतां माताप्यंशं समं हरेत्' इति च, तथासत्यपुत्रस्य स्वर्यातस्य धनं पत्नी भरणादतिरिक्तं न लभत इति व्यामोहमात्रम्। अथ 'पत्न्यः कार्याः समांशिका' (व्य० ११५) इत्यत्र 'माताप्यंशं समं हरेत्' (व्य० १२३) इत्यत्र च जीवनोपयुक्तमेव धनं स्त्री हरतीति मतं;—तदसत्; 'अंश'शब्दस्य 'सम'शब्दस्य चानर्थक्यप्रसङ्गात्। स्यान्मतम्—बहुधने जीवनोपयुक्तं धनं गृह्णाति अल्पे तु पुत्रांशसमांशं गृह्णातीति। तच्च न विधिवैषम्यप्रसङ्गात्। तथा हि 'पत्न्यः कार्याः समांशिकाः' 'माताप्यंशं समं हरेत्' इति च बहुधने जीवनमात्रोपयुक्तं वाक्यान्तरमपेक्ष्य प्रतिपादयति, अल्पधने तु पुत्रांशसममंशं प्रतिपादयतीति। यथा चातुर्मास्येषु 'द्वयोः प्रणयन्ति' इत्यत्र पूर्वपक्षिणा सौमिकप्रणयनातिदेशे हेतुत्वेन प्राप्ताया उत्तरवेद्या 'न वैश्वदेवे उत्तरवेदिमुपकिरन्ति' 'न शुनासीरीये' इत्युत्तरवेदिप्रतिषेधे दर्शिते राद्धान्तैकदेशिना 'न सौमिकप्रणयनातिदेशप्राप्ताया उत्तरवेद्याः प्रथमोत्तमयोः पर्वणोरयं प्रतिषेधः किंतूपात्र्र वपन्तीति प्राकरणिकेन वचनेन प्राप्ताया उत्तरवेद्याः प्रतिषेधोऽयमित्यभिहिते पुनः पूर्वपक्षिणा 'उपात्र वपन्ति' इति प्रथमोत्तमयोः पर्वणोः प्रतिषेधमपेक्ष्य पाक्षिकीमुत्तरवेदिं प्रापयति। मध्यमयोस्तु निरपेक्षमेव नित्यवदुत्तरवेदिं प्रापयति' (जै० ७।३।२३-२५) इति विधिवैषम्यं दर्शितम्।

---

१. द्विष्वविशेषात्। २. आदायकं। ३. ऽपवादः। श्रोत्रिय। ४. श्रीकारादिभिः। ५. तथा पत्न्यः। ६. स्त्रीधनमिति मतं। ७. तथा। ८. तूपात्त, तूपात्र। ९. प्रतिपादयति।

राद्धान्तेऽपि विधिवैषम्यभयात्प्रथमोत्तमयोः पर्वणोरुत्तरवेदिप्रतिषेधो नित्यानुवादो 'द्वयोः प्रणयन्ति' इत्यस्यार्थवादपर्यालोचनया 'उपात्र वपन्ति' इति मध्यमयोरेव वरुणप्रघाससाकमेधपर्वणोरुत्तरवेदिं विधत्त इति दर्शितम् । यदपि मतम् (मनुः ९।१८५)—'पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव वा' इति मनुस्मरणात् , तथा—स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य भ्रातृगामि द्रव्यं तदभावे पितरौ हरेयातां[1] ज्येष्ठा वा पत्नी' इति शङ्खस्मरणाच्च अपुत्रस्य[2] धनं भ्रातृगामीति प्राप्तं, 'भरणं चास्य कुर्वीरन्स्त्रीणामाजीवनक्षयात्' (ना० १३।२६) इत्यादिवचनाच्च भरणोपयुक्तं धनं पत्नी लभत इत्यपि स्थितम् । एवं स्थिते बहुधने अपुत्रे स्वर्याते भरणोपयुक्तं पत्नी गृह्णाति, शेषं च भ्रातरः । यदा तु पत्नीभरणमात्रोपयुक्तमेव द्रव्यमस्ति ततो न्यूनं वा तदा किं पत्न्येव गृह्णात्युत भ्रातरोऽपीति विरोधे पूर्वबलीयस्त्वज्ञापनार्थं 'पत्नी दुहितर' इत्यारब्धमिति, तदप्यत्र भगवानाचार्यो न मृष्यति । यतः (मनुः ९।१८५)—'पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव वा' इति विकल्पस्मरणान्[3]नेदं क्रमपरं वचनम् , अपि तु धनग्रहणेऽधि[4]कारप्रदर्शनमात्रपरम् । तच्चासत्यपि पत्न्यादिगणे घटत इति व्याचष्टे । शङ्खवचनमपि संसृष्टभ्रातृविषयमिति[5] । अपि चाल्पविषयत्वमस्माद्वचनात्प्रकरणाद्वा नावगम्यते । 'धनभागुत्तरोत्तरः' (व्य० १३६) इत्यस्य च 'पत्नी दुहितर' इति विषयद्वये वाक्यान्तरमपेक्ष्याल्पधनविषयत्वम् , पित्रादिषु तु धनमात्रविषयत्वमिति पूर्वोक्तं विधिवैषम्यं तदवस्थमेवेति । यत्तु हारीतवचनम्—विधवा यौवनस्था चेन्नारी भवति कर्कशा । आयुषः क्षपणार्थं तु दातव्यं जीवनं तदा ॥' इति,—तदपि शङ्कितव्यभिचारायाः सकलधनग्रहणनिषेधपरम् । अस्मादेव [6]वचनादनाशङ्कितव्यभिचारायाः सकलधनग्रहणं गम्यते । एतदेवाभिप्रेत्योक्तं शङ्खेन 'ज्येष्ठा वा पत्नी' इति । ज्येष्ठा गुणज्येष्ठा अनाशङ्कितव्यभिचारा, सा सकलं धनं गृहीत्वाऽन्या कर्कशामपि मातृवत्पालयतीति सर्वमनवद्यम् । तस्मादपुत्रस्य स्वर्यातस्य विभक्तस्यासंसृष्टिनो धनं परिणीता स्त्री संयता सकलमेव गृह्णातीति स्थितम् ।

तदभावे दुहितरः । 'दुहितर' इति बहुवचनं समानजातीयानामसमानजातीयानां च समविषमांशप्राप्त्यर्थम् । तथा च कात्यायनः—'पत्नी भर्तुर्धनहरी या स्यादव्यभिचारिणी । तदभावे तु दुहिता यद्यनूढा भवेत्तदा ॥' इति बृहस्पतिरपि (२५।५५-५६)—'भर्तुर्धनहरी पत्नी तां विना दुहिता स्मृता । अङ्गादङ्गात्संभवति पुत्रवद् दुहिता नृणाम् ॥ तस्मात्पितृधनं त्वन्यः कथं गृह्णीत मानवः ॥'

१. हरेतां । २. अपुत्रधनं । ३. श्रवणात् । ४. धिकारमात्रप्रदर्शनपरं । ५. संसृष्टविषयं । ६. वचनादशङ्कित ।

इति। तत्र चोढानूढासमवायेऽनूढैव गृह्णाति। 'तदभावे तु दुहिता यद्यनूढा भवेत्तदा' इति विशेषस्मरणात्। तथा प्रतिष्ठिताप्रतिष्ठानां समवाये अप्रतिष्ठितैव तदभावे प्रतिष्ठिता; 'स्त्रीधनं दुहितॄणामप्रत्तानामप्रतिष्ठितानां च' (गौ. २९।६) इति गौतमवचनस्य पितृधनेऽपि समानत्वात्। न चैतत्पुत्रिकाविषयमिति मन्तव्यम्। 'तत्समः पुत्रिकासुतः' इति पुत्रिकायास्तत्सुतस्य चौरससमत्वेन पुत्रप्रकरणेऽभिधानात्। 'च'शब्दाद्दुहित्रभावे दौहित्रो धनभाक्। यथाह विष्णुः—'अपुत्रपौत्रसंताने दौहित्रा धनमाप्नुयुः। पूर्वेषां तु स्वधाकारे पौत्रा दौहित्रिका मताः॥' इति मनुरपि (९।१३६)—'अकृता[1] वा कृता वाऽपि यं विन्देत्सदृशात्सुतम्। पौत्री मातामहस्तेन दद्यात्पिण्डं हरेद्धनम्॥' इति॥

तदभावे पितरौ मातापितरौ धनभाजौ। यद्यपि युगपदधिकरणवचनतायां द्वन्द्वस्मरणात् तदपवादत्वादेकशेषस्य धनग्रहणे पित्रोः क्रमो न प्रतीयते, तथापि विग्रहवाक्ये 'मातृ'शब्दस्य पूर्वनिपातादेकशेषाभावपक्षे च मातापितराविति 'मातृ'शब्दस्य पूर्वं श्रवणात् पाठक्रमादेवार्थक्रमावगमाद्धनसंबन्धेऽपि क्रमापेक्षायां, प्रतीतक्रमानुरोधेनैव प्रथमं माता धनभाक्, तदभावे पितेति गम्यते। किंच पिता पुत्रान्तरेष्वपि साधारणः; माता तु न साधारणीति प्रत्यासत्त्यतिशयात् 'अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत्' (मनुः ९।१८७) इति वचनान्मातुरेव प्रथमं धनग्रहणं युक्तम्। नच सपिण्डेष्वेव प्रत्यासत्तिर्नियामिका, अपि तु समानोदकादिष्वप्यविशेषेण धनग्रहणे प्राप्ते प्रत्यासत्तिरेव नियामिकेत्यस्मादेव वचनादवगम्यत इति। मातापित्रोर्मातुरेव प्रत्यासत्त्यतिशयाद्धनग्रहणं युक्ततरम्। तदभावे पिता धनभाक्।

पित्रभावे भ्रातरो धनभाजः। तथा च (मनुः ९।१८५)—'पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव वा' इति। यत्पुनर्धारेश्वरेणोक्तम् (९।२१७)—'अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात्। मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम्॥' इति मनुवचनाज्जीवत्यपि पितरि मातरि वृत्तायां पितुर्माता पितामही धनं हरेन्न पिता। यतः पितृगृहीतं धनं विजातीयेष्वपि पुत्रेषु गच्छति, पितामहीगृहीतं तु सजातीयेष्वेव गच्छतीति पितामह्येव गृह्णातीति। एतदप्याचार्यो नानुमन्यते। विजातीयपुत्राणामपि धनग्रहणस्योक्तत्वात्, 'चतुस्त्रिद्व्येकभागाः स्युः' (व्य० १२५) इत्यादिनेति। यत्पुनः (मनुः ९।१८९)—'अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्थितिः' इति मनुस्मरणं तन्नृपाभिप्रायं, नतु पुत्राभिप्रायम्। भ्रातृष्वपि सोदराः प्रथमं गृह्णीयुः भिन्नोदराणां मात्रा विप्रकर्षात्। 'अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत्' (मनुः ९।१८७) इति स्मरणात्।

---

1. अक्षता वा क्षता वापि।

सोदराणामभावे भिन्नोदरा धनभाजः, भ्रातृणामप्यभावे तत्पुत्राः पितृक्रमेण धनभाजः। भ्रातृभ्रातृपुत्रसमवाये भ्रातृपुत्राणामनधिकारः; भ्रात्रभावे भ्रातृपुत्राणामधिकारवचनात्; यदा स्वपुत्रे भ्रातरि स्वर्याते तद्भ्रातृणामविशेषेण धनसंबन्धे जाते भ्रातृधनविभागात्प्रागेव यदि कश्चिद्भ्राता मृतस्तदा तत्पुत्राणां पितृतोऽधिकारे प्राप्ते तेषां भ्रातॄणां च विभज्य धनग्रहणे 'पितृतो भागकल्पना' (व्य० १२०) इति युक्तम् ॥

भ्रातृपुत्राणामप्यभावे गोत्रजा धनभाजः। गोत्रजाः पितामही सपिण्डाः समानोदकाश्च। तत्र पितामही प्रथमं धनभाक्। 'मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता धनं हरेत्' (मनुः ९।२१७)—इति मात्रनन्तरं पितामह्या धनग्रहणे प्राप्ते पित्रादीनां भ्रातृसुतपर्यन्तानां बद्धक्रमत्वेन मध्येऽनुप्रवेशाभावात, 'पितुर्माता धनं हरेत्' इत्यस्य वचनस्य धनग्रहणाधिकारप्राप्तिमात्रपरत्वादुत्कर्षे तत्सुतानन्तरं पितामही गृह्णातीत्यविरोधः ॥ पितामह्याश्चाभावे समानगोत्रजाः सपिण्डाः पितामहादयो धनभाजः; भिन्नगोत्राणां सपिण्डानां 'बन्धु'शब्देन ग्रहणात्। तत्र च पितृसन्तानाभावे पितामही पितामहः पितृव्यास्तत्पुत्राश्च क्रमेण धनभाजः। पितामहसन्तानाभावे प्रपितामही प्रपितामहस्तत्पुत्रास्तत्सूनवश्चेत्येवमासप्तमात्समानगोत्राणां सपिण्डानां धनग्रहणं वेदितव्यम्। तेषामभावे समानोदकानां धनसंबन्धः ते च सपिण्डानामुपरि सप्त वेदितव्याः। जन्मनामज्ञानावधिका वा। यथाऽऽह बृहन्मनुः—'सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते। समानोदकभावस्तु निवर्तेताचतुर्दशात् ॥ जन्मनाम्नोः स्मृतेरेके तत्परं गोत्रमुच्यते ॥' इति।

गोत्रजाभावे बन्धवो धनभाजः। बन्धवश्च त्रिविधाः—आत्मबन्धवः, पितृबन्धवः, मातृबन्धवश्चेति। यथोक्तम्—'आत्मपितृष्वसुः पुत्रा आत्ममातृष्वसुः सुताः। आत्ममातुलपुत्राश्च विज्ञेया आत्मबान्धवाः ॥ पितुः पितृष्वसुः पुत्राः पितुर्मातृष्वसुः सुताः। पितुर्मातुलपुत्राश्च विज्ञेयाः पितृबान्धवाः ॥ मातुः पितृष्वसुः पुत्रा मातुर्मातृष्वसुः सुताः। मातुर्मातुलपुत्राश्च विज्ञेया मातृबान्धवाः ॥' इति ॥ तत्र चान्तरङ्गत्वात्प्रथममात्मबन्धवो धनभाजस्तदभावे पितृबन्धवस्तदभावे मातृबन्धव इति क्रमो वेदितव्यः। बन्धूनामभावे आचार्यः, तदभावे शिष्यः—'पुत्राभावे यः प्रत्यासन्नः सपिण्डः, तदभावे आचार्यः, आचार्याभावेऽन्तेवासी' इत्यापस्तम्बस्मरणात् ॥

शिष्याभावे सब्रह्मचारी धनभाक्। येन सहैकस्मादाचार्यादुपनयनाध्ययनतदर्थज्ञानप्राप्तिः, स सब्रह्मचारी। तदभावे ब्राह्मणद्रव्यं यः कश्चित् श्रोत्रियो गृह्णीयात् 'श्रोत्रिया ब्राह्मणस्यानपत्यस्य रिक्थं भजेरन्' (२८।४१) इति गौतमस्मरणात्। तदभावे ब्राह्मणमात्रम्। यथाऽऽह मनुः (९।१८८)—'सर्वेषामप्यभावे तु

ब्राह्मणा रिक्थभागिनः। त्रैविद्याः शुचयो दान्तास्तथा धर्मो न हीयते ॥' इति। न कदाचिदपि ब्राह्मणद्रव्यं राजा गृह्णीयात्; 'अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्थितिः' (९।१८९) इति मनुवचनात्। नारदेनाप्युक्तम्—'ब्राह्मणार्थस्य तन्नाशे दायादश्चेन्न कश्चन। ब्राह्मणायैव दातव्यमेनस्वी स्यान्नृपोऽन्यथा ॥' इति ॥ क्षत्रियादिधनं सब्रह्मचारिपर्यन्तानामभावे राजा हरेत्। न ब्राह्मणः। यथाऽऽह मनुः (९।१८९)—'इतरेषां तु वर्णानां सर्वाभावे हरेन्नृप' इति ॥ १३५–१३६ ॥

भाषा—जिसके पूर्वोक्त बारह प्रकार के पुत्रों में से किसी भी प्रकार का पुत्र न होवे उस पुत्रहीन के मर जाने पर पत्नी, पुत्रियाँ, माता-पिता, भाई, भाइयों के पुत्र, गोत्र में उत्पन्न व्यक्ति, बन्धु, शिष्य और ब्रह्मचारी में पहले-पहले के न होने पर उसके बाद वाले धन के अधिकारी होते हैं। यह विधि सभी वर्णों के लिये है ॥ १३५–१३६ ॥

पुत्राः पौत्राश्च दायं गृह्णन्ति तदभावे पत्न्यादय इत्युक्तं, इदानीं तदुभयापवादमाह—

वानप्रस्थयतिब्रह्मचारिणां रिक्थभागिनः।
क्रमेणाचार्यसच्छिष्यधर्मभ्रात्रेकतीर्थिनः ॥ १३७ ॥

वानप्रस्थस्य यतेर्ब्रह्मचारिणश्च क्रमेण प्रतिलोमक्रमेणाचार्यः, सच्छिष्यः, धर्मभ्रात्रेकतीर्थी च, रिक्थस्य धनस्य भागिनः। ब्रह्मचारी नैष्ठिकः। उपकुर्वाणस्य तु धनं मात्रादय एव गृह्णन्ति। नैष्ठिकस्य तु धनं तदपवादत्वेनाचार्यो गृह्णातीत्युच्यते। यतेस्तु धनं सच्छिष्यो गृह्णाति। सच्छिष्यः पुनरध्यात्मशास्त्रश्रवणधारणतदर्थानुष्ठानक्षमः; दुर्वृत्तस्याचार्यादेरपि भागानर्हत्वात्। वानप्रस्थस्य धनं धर्मभ्रात्रेकतीर्थी गृह्णाति। धर्मभ्राता प्रतिपन्नो भ्राता, एकतीर्थी एकाश्रमी, धर्मभ्राता चासावेकतीर्थी च धर्मभ्रात्रेकतीर्थी। एतेषामाचार्यादीनामभावे पुत्रादिषु सत्स्वप्येकतीर्थ्येव गृह्णाति। ननु 'अनंशास्त्वाश्रमान्तरगताः' इति वसिष्ठस्मरणादाश्रमान्तरगतानां रिक्थसंबन्ध एव नास्ति कुतस्तद्विभागः? न च नैष्ठिकस्य स्वार्जितधनसंबन्धो युक्तः; प्रतिग्रहादिनिषेधात्। 'अनिचयो भिक्षुः' (३।७) इति गौतमस्मरणात्। भिक्षोरपि न स्वार्जितधनसंबन्धसंभवः। उच्यते—वानप्रस्थस्य तावत्—'अह्नो मासस्य षण्णां वा तथा संवत्सरस्य वा। अर्थस्य निचयं कुर्यात्कृतमाश्वयुजे त्यजेत् ॥' (प्राय० ४७) इति वचनाद्धनसंबन्धोऽस्त्येव। यतेरपि—'कौपीनाच्छादनार्थं वा[3] वासोऽपि बिभृयात्तथा। योगसंभार-

---

१. संबन्धः प्रतिग्रहादिः। २. धनसंभवः। ३. हि वासोऽपि बिभृयात्तथा।

भेदांश्च गृह्णीयात्पादुके तथा ॥ इत्यादिवचनाद्ब्रह्मपुस्तकसंबन्धोऽस्त्येव; नैष्ठिकस्यापि शरीरयात्रार्थं वस्त्रादिसंबन्धोऽस्त्येवेति तद्विभागकथनं युक्तमेव ॥१३७॥

भाषा—वानप्रस्थ, यति और ब्रह्मचारी की सम्पत्ति का अधिकारी क्रमशः धर्मभ्राता और एकतीर्थी (उसी आश्रम में निवास करने वाला धर्म-भ्राता), सच्छिष्य (अध्यात्मशास्त्र में निपुण शिष्य) और आचार्य होते हैं ॥१३७॥

इदानीं स्वर्यातस्य पुत्रस्य पत्न्यादयो धनभाज इत्युक्तस्यापवादमाह—

संसृष्टिनस्तु संसृष्टी—

विभक्तं धनं पुनर्मिश्रीकृतं संसृष्टं तदस्यास्तीति संसृष्टी; संसृष्टत्वं च न येन केनापि, किंतु पित्रा भ्रात्रा पितृव्येण वा; यथाऽऽह बृहस्पतिः (२५।७२)—'विभक्तो यः पुनः पित्रा भ्रात्रा वैकत्र संस्थितः । पितृव्येणाथवा प्रीत्या स तत्संसृष्ट उच्यते ॥' इति । तस्य संसृष्टिनो मृतस्यांशं विभागं विभागकाले अविज्ञातगर्भायां भार्यायां पश्चादुत्पन्नस्य पुत्रस्य संसृष्टी दद्यात् । पुत्राभावे संसृष्टयेवापहरेद् गृह्णीयात् , न पत्न्यादिः ॥

'संसृष्टिनस्तु संसृष्टी' इत्यस्यापवादमाह—

—सोदरस्य तु सोदरः ।
दद्यादपहरेच्चांशं जातस्य च मृतस्य च ॥ १३८ ॥

संसृष्टिनः संसृष्टीत्यनुवर्तते । अतश्च सोदरस्य संसृष्टिनो मृतस्यांशं सोदरः संसृष्टी अनुजातस्य सुतस्य दद्यात् ; तदभावे अपहरेदिति[3] पूर्ववत् संबन्धः । एवं च सोदरासोदरसंसर्गे सोदरसंसृष्टिनो धनं सोदर एव संसृष्टी गृह्णाति न भिन्नोदरः संसृष्टयपीति पूर्वोक्तस्यापवादः ॥ १३८ ॥

भाषा—विभाजन के बाद पुनः एक साथ धन मिलाकर रहने वाले संसृष्टी कहलाते हैं संसृष्टी का धन संसृष्टी लेता है; सोदर (सगे) भाई का धन उसके मरने पर सोदर भाई को ही मिलता है । सोदर संसृष्टी की मृत्यु के उपरांत उसका पुत्र जन्म ले तो उसे उसका अंश दे, यदि कोई पुत्र न हो तो उस धन को ले लेवे ॥ १३८ ॥

इदानीं संसृष्टिन्यपुत्रे स्वर्याते संसृष्टिनो भिन्नोदरस्य सोदरस्य चासंसृष्टिनः सद्भावे, कस्य धनग्रहणमिति विवक्षायां द्वयोर्विभज्य ग्रहणे कारणमाह—

अन्योदर्यस्तु संसृष्टी नान्योदर्यो धनं हरेत् ।
असंसृष्ट्यपि वाऽऽदद्यात्संसृष्टो नान्यमातृजः ॥ १३९ ॥

---

१. च सोदरः । २. संसृष्टिनो धनं···संसृष्टयनुजातस्य । ३. दिति संबन्धः । ४. भिन्नोदरस्यासंसृष्टिनः सोदरस्य च । ५. वा दद्यात् ; त्वादद्यात् । ६. नान्यमातृकः ।

अन्योदर्यः सापत्नो भ्राता संसृष्टी धनं हरेत् , न पुनरन्योदर्यो धनं हरेद् संसृष्टी । अनेनान्वयव्यतिरेकाभ्यामन्योदर्यस्य संसृष्टित्वं धनग्रहणे कारणमुक्तं[1] भवति । असंसृष्टीत्येतदुत्तरेणापि संबध्यते । अतश्चासंसृष्टयपि संसृष्टिनो धनमाददीत । कोऽसावित्यत आह—संसृष्ट इति । संसृष्टः एकोदरसंसृष्टः । सोदर इति यावत् । अनेनासंसृष्टस्यापि सोदरस्य धनग्रहणे सोदरत्वं कारणमुक्तं, 'संसृष्ट' इत्युत्तरेणापि संबध्यते । तत्र च संसृष्टः संसृष्टीत्यर्थः । नान्यमातृजः । अत्र 'एव' शब्दाध्याहारेण व्याख्यानं कार्यम् , संसृष्टयप्यन्यमातृज एव संसृष्टिनो धनं नाददीतेति एवं चासंसृष्टयपि वाऽऽदद्यादित्यपिशब्दश्रवणात् 'संसृष्टो नान्यमातृज एव' इत्यवधारणनिषेधा[2]च्चासंसृष्टसोदरस्य संसृष्ट[3]भिन्नोदरस्य च विभज्य ग्रहणं कर्तव्यमित्युक्तं भवति । द्वयोरपि धनग्रहणकारणस्यैकैकस्य सद्भावात् । एतद्देव स्पष्टीकृतं मनुना (९।२१०)—'विभक्ताः[4] सह जीवन्तो विभजेरन्पुनर्यदि' इति संसृष्टिविभागं प्रक्रम्य 'येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा हीयेतांशप्रदानतः । म्रियेतान्यतरो वाऽपि तस्य भागो न लुप्यते ॥ सोदर्या विभजेयुस्तं समेत्य सहिताः समम् । भ्रातरो ये च संसृष्टा भगिन्यश्च सनाभयः ॥ (९।२११।२१२) इति वदता । येषां भ्रातॄणां संसृष्टिनां मध्ये ज्येष्ठः कनिष्ठो मध्यमो वांशप्रदानतोंऽशप्रदाने । सार्वविभक्तिकस्तसिः । विभागकाल इति यावत् । हीयेत स्वांशात् भ्रश्येत आश्रमान्तरपरिग्रहेण ब्रह्महत्यादिना वा म्रियेत वा तस्य भागो न लुप्यते । अतः पृथगुद्धरणीयो न संसृष्टिन एव गृह्णीयुरित्यर्थः । तस्योद्धृतस्य विनियोगमाह—सोदर्या विभजेयुस्तमिति । तमुद्धृतं भागं सोदर्याः सहोदरा असंसृष्टा अपि समेत्य देशान्तरगता अपि समागम्य सहिताः संभूय समं[5] न न्यूनाधिकभावेन; ये च भ्रातरो भिन्नोदराः संसृष्टाः, ते च सनाभयो भगिन्य[6]श्च समं विभजेयुः । समं विभज्य गृह्णीयुरिति तस्यार्थः ॥ १३९ ॥

भाषा—यदि सौतेला भाई संसृष्टी हो तो धन ले यदि सौतेला भाई संसृष्टी न हो तो वह धन न लेवे । किन्तु एक ही माता से उत्पन्न सगा भाई असंसृष्ट भी हो तो धन पाता है । यदि सौतेला भाई संसृष्ट रहता हो तो वह अकेले सब धन न ले, (मृत व्यक्ति के) सगे भाइयों में भी उसका विभाग करे ॥ १३९ ॥

---

१. मुक्तं । असंसृष्टी । २. निषेधादसंसृष्ट । ३. संसृष्टिनो भिन्नोदरस्य च । ४. संसृष्टाः सहजीवन्त । ५. सममन्यूनाधिक । ६. भगिन्यश्च विभजेयुः ।

पुत्रपत्न्यादिसंसृष्टिनां यद्दायग्रहणमुक्तं, तस्यापवादमाह—

क्लीबोऽथ पतितस्तज्जः पङ्गुरुन्मत्तको जडः।
अन्धोऽचिकित्स्यरोगाद्या भर्तव्याः[1] स्युर्निरंशकाः॥ १४०॥

क्लीबस्तृतीया प्रकृतिः। पतितो ब्रह्महादिः, तज्जः पतितोत्पन्नः, पङ्गुः पादविकलः, उन्मत्तकः वातिकपैत्तिकश्लैष्मिकसांनिपातिकग्रहावेशलक्षणैरुन्मादैरभिभूतः, जडो विकलान्तःकरणः, हिताहितावधारणाऽक्षम इति यावत्। अन्धो नेत्रेन्द्रियविकलः, अचिकित्स्यरोगोऽप्रतिसमाधेयक्षयमादिरोगग्रस्तः, 'आद्य'शब्देनाश्रमान्तरगतपितृद्वेष्युपपातकिबधिरमूकनिरिन्द्रियाणां ग्रहणम्। यथाऽऽह वसिष्ठः (१७।५२)—'अनंशास्त्वाश्रमान्तरगताः' इति। नारदोऽपि (१३।२१)—'पितृद्विट् पतितः षण्ढो यश्च [4]स्यादौपपातिकः। औरसा अपि नैतेंऽशं लभेरन्क्षेत्रजाः कुतः॥' इति। मनुरपि (९।२०१)—'अनंशौ क्लीबपतितौ जात्यन्धबधिरौ तथा। उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रियाः॥' इति। निरिन्द्रियो निर्गतमिन्द्रियं यस्माद् व्याध्यादिना स निरिन्द्रियः। एते क्लीबादयोऽनंशाः रिक्थभाजो न भवन्ति। केवलमशनाच्छादनदानेन पोषणीया भवेयुः। अभरणे तु पतितत्वदोषः। 'सर्वेषामपि तु न्याय्यं दातुं शक्त्या मनीषिणा। ग्रासाच्छादनमत्यन्तं पतितो ह्यददद्भवेत्॥' (९।२०२)—इति मनुस्मरणात्। अत्यन्तं यावज्जीवमित्यर्थः। एतेषां विभागात्प्रागेव दोषप्राप्तावनंशत्वमुपपन्नं न पुनर्विभक्तस्य। विभागोत्तरकालमप्यौषधादिना दोषनिर्हरणे भागप्राप्तिरस्त्येव।—'विभक्तेषु सुतो जातः सवर्णायां विभागभाक्' (व्य० १२२) इत्यस्य समानन्यायत्वात्। पतितादिषु तु पुंल्लिङ्गत्वमविवक्षितम्। अतश्च पत्नीदुहितृमात्रादीनामप्युक्तदोषदुष्टानामनंशित्वं[5] वेदितव्यम्॥ १०४॥

भाषा—नपुंसक, पतित, पतित का पुत्र, पङ्गु, पागल, जड, अन्धा, असाध्य रोग से ग्रस्त (औरस भाइयों को भी) अंश न देकर केवल उनका भरण-पोषण करना चाहिए॥ १४०॥

क्लीबादीनामनंशित्वात्तत्पुत्राणामप्यनंशित्वे प्राप्ते इदमाह—

औरसाः क्षेत्रजास्त्वेषां निर्दोषा भागहारिणः।

एतेषां क्लीबादीनामौरसाः क्षेत्रजा वा पुत्रा निर्दोषा अंशग्रहणविरोधिक्लैब्यादिदोषरहिता भागहारिणोंऽशग्राहिणो भवन्ति। तत्र क्लीबस्य क्षेत्रजः पुत्रः संभवत्यन्येषामौरसा अपि। 'औरस-क्षेत्रज'योर्ग्रहणमितरपुत्रव्युदासार्थम्॥

---

१. भर्तव्यास्तु निरंशकाः। २. संनिपातग्रहा। ३. क्षयादिरोग।
४. स्यादुपपातितः। ५. दोषाणामनंशित्वं।

क्लीबादिदुहितॄणां विशेषमाह—

सुताश्चैषां प्रभर्तव्या यावद्वै भर्तृसात्कृताः ॥ १४१ ॥

एषां क्लीबादीनां सुता दुहितरो यावद्विवाहसंस्कृता भवन्ति, तावद्भरणीयाः 'च'शब्दात्संस्कार्याश्च ॥ १४१ ॥

भाषा—इन (नपुंसक आदि) में यदि औरस या क्षेत्रज पुत्र निर्दोष होते हैं तो अंशग्राही होते हैं। इन नपुंसक आदि पुत्रों का उस समय तक भरण-पोषण करना चाहिए जब तक उनके पुत्रियों का विवाह न हो जाय ॥१४१॥

क्लीबादिपत्नीनां विशेषमाह—

अपुत्रा योषितश्चैषां भर्तव्याः साधुवृत्तयः।
निर्वास्या व्यभिचारिण्यः प्रतिकूलास्तथैव च ॥ १४२ ॥

एषां क्लीबादीनामपुत्राः पत्न्यः साधुवृत्तयः सदाचाराश्चेद्भर्तव्या भरणीयाः, व्यभिचारिण्यस्तु निर्वास्याः। प्रतिकूलास्तथैव च निर्वास्या भवन्ति, भरणीयाश्चाव्यभिचारिण्यश्चेत्। न पुनः प्रातिकूल्यमात्रेण भरणमपि न कर्तव्यम् ॥१४२॥

भाषा—इनकी पुत्रहीना पत्नियाँ यदि सदाचारिणी हों तो उनका भरण करना चाहिए, यदि व्यभिचारिणी और प्रतिकूल आचरण करने वाली होंवे तो उन्हें निर्वासित कर देना चाहिए ॥ १४२ ॥

'विभजेरन्सुताः पित्रोः' (व्य० ११७) इत्यत्र स्त्रीपुंधनविभागं संक्षेपेणाभिधाय पुरुषधनविभागो विस्तरेणाभिहितः, इदानीं स्त्रीधनविभागं विस्तरेणाभिधास्यंस्तत्स्वरूपं तावदाह—

पितृमातृपतिभ्रातृदत्तमध्यग्न्युपागतम्।
आधिवेदनिकाद्यं च स्त्रीधनं परिकीर्तितम् ॥ १४३ ॥

पित्रा मात्रा पत्या भ्रात्रा च यद्दत्तं, यच्च विवाहकालेऽग्नावधिकृत्य मातुलादिभिर्दत्तम्, आधिवेदनिकं अधिवेदननिमित्तं 'अधिविन्नस्त्रियै दद्यात्' (व्य० १४८) इति वक्ष्यमाणं। 'आद्य'शब्देन रिक्थक्रयसंविभागपरिग्रहाधिगमप्राप्तमेतत्स्त्रीधनं मन्वादिभिरुक्तम्। 'स्त्रीधन'शब्दश्च यौगिको न पारिभाषिकः। योगसंभवे परिभाषाया अयुक्तत्वात्। यत्पुनर्मनुनोक्तम् (९।१९४) —'अध्यग्न्यध्यावहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि। भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम् ॥' इति स्त्रीधनस्य षड्विधत्वं, तन्न्यूनसंख्याव्यवच्छेदार्थं नाधिकसंख्याव्यवच्छेदाय ॥ अध्यग्न्यादिस्वरूपं च कात्यायनेनाभिहितम्—'विवाहकाले यत्स्त्रीभ्यो दीयते ह्यग्निसंनिधौ। तदध्यग्निकृतं सद्भिः स्त्रीधनं परिकीर्ति-

---

१. वेदनिकं चैव।

तम् ॥ यत्पुनर्लभते नारी नीयमाना पितुर्गृहात् । अध्यावहनिकं नाम स्त्रीधनं तदुदाहृतम् ॥ प्रीत्या दत्तं तु यत्किंचिच्छ्वश्र्वा वा श्वशुरेण वा । पादवन्दनिकं चैव प्रीतिदत्तं तदुच्यते । ऊढया कन्यया वाऽपि पत्युः पितृगृहेऽपि वा । भ्रातुः[1] सकाशात्पित्रोर्वा लब्धं सौदायिकं स्मृतम् ॥' इति ॥ १४३ ॥

भाषा—पिता, माता, पति और भाई द्वारा दिया गया धन, विवाह में अग्नि के निकट मिला हुआ धन, आधिवेदनिक (दूसरा विवाह करते समय पति द्वारा पहली स्त्री के सन्तोष के लिये प्रदत्त) धन इत्यादि स्त्रीधन कहे गये हैं ॥ १४३ ॥

बन्धुदत्तं तथा शुल्कमन्वाधेयकमेव च ।

किंच बन्धुभिः कन्याया मातृबन्धुभिः पितृबन्धुभिश्च यद्दत्तम्, शुल्कं यद् गृहीत्वा कन्या दीयते । अन्वाधेयकं परिणयनादनु पश्चादाहितं दत्तम् । उक्तं च कात्यायनेन—'विवाहात्परतो यच्च लब्धं भर्तृकुलात्स्त्रिया । अन्वाधेयं तु तद्द्रव्यं लब्धं पितृकुलात्तथा ॥' इति स्त्रीधनं परिकीर्तितमिति गतेन संबन्धः ॥

एवं स्त्रीधनमुक्तं, तद्विभागमाह—

अतीतायामप्रजसि[2] बान्धवास्तदवाप्नुयुः ॥ १४४ ॥

तत्पूर्वोक्तं स्त्रीधनमप्रजसि अनपत्यायां दुहितृदौहित्रीदौहित्रपुत्रपौत्ररहितायां स्त्रियामतीतायां बान्धवा भर्त्रादयो वक्ष्यमाणा गृह्णन्ति ॥ १४४ ॥

भाषा—स्त्री के मातृपक्ष एवं पितृपक्ष के बन्धुओं द्वारा दिया गया धन, शुल्क (जो धन लेकर कन्या दी जाय), और अन्वाधेयक (विवाह के बाद पतिकुल या पितृकुल से प्राप्त) धन भी स्त्रीधन कहलाता है । स्त्री के विना सन्तान (पुत्री, नाती, नाती के पुत्र आदि) मर जाने पर पति आदि बान्धव स्त्रीधन ग्रहण करते हैं ॥ १४४ ॥

सामान्येन बान्धवा धनग्रहणाधिकारिणो दर्शिताः । इदानीं विवाहभेदेनाधिकारिभेदमाह—

अप्रजस्त्रीधनं भर्तुर्ब्राह्मादिषु चतुर्ष्वपि ।
दुहितॄणां प्रसूता चेच्छेषेषु पितृगामि तत् ॥ १४५ ॥

अप्रजसः[3] स्त्रियाः पूर्वोक्तायाः ब्राह्मदैवार्षप्राजापत्येषु चतुर्षु विवाहेषु भार्यात्वं प्राप्ताया अतीतायाः पूर्वोक्तं धनं प्रथमं भर्तुर्भवति । तदभावे तत्प्रत्यासन्नानां सपिण्डानां भवति । शेषेष्वासुरगान्धर्वराक्षसपैशाचेषु विवाहेषु

१. भर्तुः सकाशात् । २. अप्रजायामतीतायां । ३. अप्रजस्त्रियाः ।

तदप्रजस्त्रीधनं पितृगामि। माता च पिता च पितरौ तौ गच्छतीति पितृगामि। एकशेषनिर्दिष्टाया अपि मातुः प्रथमं धनग्रहणं पूर्वमेवोक्तम्। तदभावे तत्प्रत्यासन्नानां धनग्रहणम्। सर्वेष्वेव विवाहेषु प्रसूतापत्यवती चेद् दुहितॄणां तद्धनं भवति। अत्र 'दुहितृ'शब्देन दुहितृदुहितर उच्यन्ते। साक्षाद् दुहितॄणां 'मातुर्दुहितरः शेषम्' (व्य० ११७) इत्यत्रोक्तत्वात्। अतश्च मातृधनं मातरि वृत्तायां प्रथमं दुहितरो गृह्णन्ति; तत्र चोढानूढासमवायेऽनूढैव गृह्णाति; तदभावे च परिणीता; तत्रापि प्रतिष्ठिताऽप्रतिष्ठितासमवायेऽप्रतिष्ठिता गृह्णाति, तदभावे प्रतिष्ठिता; यथाह गौतमः (२९।६)—'स्त्रीधनं दुहितॄणामप्रत्तानामप्रतिष्ठितानां च' इति। तत्र 'च'शब्दात्प्रतिष्ठितानां च। अप्रतिष्ठिता अनपत्या निर्धना वा। एतच्च शुल्कव्यतिरेकेण। शुल्कं तु सोदर्याणामेव; 'भगिनीशुल्कं सोदर्याणामूर्ध्वं मातुः' (२९।६) इति गौतमवचनात्। सर्वासां दुहितॄणामभावे दुहितृदुहितरो गृह्णन्ति; 'दुहितॄणां प्रसूता चेत्' इत्यस्माद्वचनात्। तासां भिन्नमातृकाणां विषमाणां समवाये मातृद्वारेण भागकल्पना; 'प्रतिमातृ वा स्ववर्गे[1] भागविशेषः' (२९।५) इति गौतमस्मरणात्॥ दुहितृदौहित्रीणां समवाये दौहित्रीणां किंचिदेव दातव्यम्; यथाह मनुः (९।१९३)—'यास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामपि यथाऽर्हतः। मातामह्या धनात्किंचित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम्॥' इति॥ दौहित्रीणामप्यभावे दौहित्रा धनहारिणः; यथाह नारदः—(१३।२) 'मातुर्दुहितरोऽभावे दुहितॄणां तदन्वयः' इति। तच्छब्देन संनिहितदुहितृपरामर्शात्॥ दौहित्राणामभावे पुत्रा गृह्णन्ति। 'ताभ्य ऋतेऽन्वय' (व्य० ११७) इत्युक्तत्वात्। मनुरपि दुहितॄणां पुत्राणां च मातृधनसंबन्धं दर्शयति (९।१९२)—'जनन्यां संस्थितायां तु सर्वे सहोदराः। समं भजेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः॥' इति। मातृकं रिक्थं सर्वे सहोदराः समं भजेरन्, सनाभयो भगिन्यश्च समं भजेरन्निति संबन्धः; न पुनः सहोदरा भगिन्यश्च संभूय भजेरन्निति इतरेतरयोगस्य द्वन्द्वैकशेषाभावादप्रतीतेः। विभागकर्तृत्वा[2]न्वयेनापि 'च'शब्दोपपत्तेः; यथा देवदत्तः कृषिं कुर्याद्यज्ञदत्तश्चेति। 'सम'ग्रहणमुद्धारविभागनिवृत्त्यर्थम्। 'सोदर'ग्रहणं भिन्नोदरनिवृत्त्यर्थम्। अनपत्यहीनजातिस्त्रीधनं तु भिन्नोदराप्युत्तमजातीयसपत्नीदुहिता गृह्णाति, तदभावे तदपत्यम्; यथाऽऽह मनुः (९।१९८)—'स्त्रियास्तु यद्भवेद्वित्तं पित्रा दत्तं कथंचन। ब्राह्मणी तद्धरेत्कन्या तदपत्यस्य वा भवेत्॥' इति। 'ब्राह्मणी'ग्रहणमुत्तमजात्युपलक्षणम्। अतश्चानपत्यवैश्याधनं क्षत्रियाकन्या गृह्णाति। पुत्राणामभावे पौत्राः पितामहीधनहारिणः। 'रिक्थभाज ऋणं प्रतिकुर्युः' (२९।७) इति गौतमस्मरणात्, 'पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयम्' (व्य० ५०) इति

---

१. स्ववर्गे भाग, स्वस्ववर्गेण। २. कर्तृत्वेनान्वयेनापि।

पौत्राणामपि [1]पितामहऋणापाकरणेऽधिकारात् । पौत्राणामप्यभावे पूर्वोक्ता भर्त्रा-दयो बान्धवा धनहारिणः ॥ १४५ ॥

भाषा—ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य विवाह हो तो स्त्री के निःसन्तान मरने पर उसका धन पति को मिलता है। शेष विवाहों में वह धन स्त्री के पिता का हो जाता है। किन्तु इन सभी विवाहों में यदि उस स्त्री के पुत्रियाँ हों तो उसका धन उन पुत्रियों को ही मिलता है ॥ १४५ ॥

स्त्रीधनप्रसङ्गेन वाग्दत्ताविषयं किंचिदाह—

दत्त्वा कन्यां हरन्दण्ड्यो व्ययं दद्याच्च[2] सोदयम् ।

कन्यां वाचा दत्त्वाऽपहरन् द्रव्यानुबन्धाद्यनुसारेण राज्ञा दण्डनीयः । एतच्चापहरणकारणाभावे; सति तु कारणे 'दत्तामपि हरेत्पूर्वाच्छ्रेयांश्चेद्वर आव्रजेत्' (आ० ६५) इत्यपहाराभ्यनुज्ञानान्न दण्ड्यः । यच्च वाग्दाननिमित्तं वरेण स्वसंबन्धिनां कन्यासंबन्धिनां चोपचारार्थं धनं व्ययीकृतं, तत्सर्वं सोदयं सवृद्धिकं कन्यादाता वराय दद्यात् ॥—

अथ कथंचिद्वाग्दत्ता संस्काराग्प्राङ् म्रियेत[3], तदा किं कर्तव्यमित्यत आह—

मृतायां [4]दत्तमादद्यात् परिशोध्योभयव्ययम् ॥ १४६ ॥

यदि वाग्दत्ता मृता तदा यत्पूर्वमङ्गुलीयकादि [5]शुल्कं वरेण दत्तं, तद्वर आददीत परिशोध्योभयव्ययम् । उभयोरात्मनः कन्यादातुश्च यो व्ययः, तं परिशोध्य वि[6]गमय्यावशिष्टमाददीत । यत्तु कन्यायै मातामहादिभिर्दत्तं शिरोभूषणादिकं वा क्र[7]मायातं, तत्सहोदरा भ्रातरो गृह्णीयुः; 'रिक्थं मृतायाः कन्याया गृह्णीयुः सोदरास्तदभावे मातुस्तदभावे पितुः' इति बौधायनस्मरणात् ॥ १४६ ॥

भाषा—कन्या का वाग्दान करके पुनः उसका हरण करने (दान न करने) वाले को उसके लिये व्यय किया गया धन वृद्धि सहित दण्ड लेकर वर को दिलावे। वाग्दत्ता कन्या के मरने पर दोनों (पिता और वर) के व्यय का शोध करके जो शेष बचे वह वर को देवे ॥ १४६ ॥

मृतप्रजास्त्रीधनं भर्तृगामीत्युक्तम् , इदानीं जीवन्त्याः सप्रजाया अपि स्त्रिया धनग्रहणे क्वचिद्भर्तुरभ्यनुज्ञामाह—

दुर्भिक्षे धर्मकार्ये च व्याधौ संप्रतिरोधके ।
गृहीतं स्त्रीधनं भर्ता न स्त्रियै दातुमर्हति ॥ १४७ ॥

---

१. पितामहऋणापाकरणाधिकारात् । २. दद्यात्सहोदयम् । ३. म्रियते तदा । ४. सर्वमादद्यात् । ५. शुल्कं वा वरेण । ६. विगणय्य । ७. क्रमागतं । ८. भर्त्रा, भर्त्रा न स्त्रियो ।

दुर्भिक्षे कुटुम्बभरणार्थं, धर्मकार्ये अवश्यकर्तव्ये, व्याधौ च संप्रतिरोधके, बन्दिग्रहणनिग्रहादौ, द्रव्यान्तररहितः स्त्रीधनं गृह्णन्भर्ता न पुनर्दातुमर्हति; प्रकारान्तरेणा[1]पहरन्दद्यात् । भर्तृव्यतिरेकेण जीवन्त्याः स्त्रिया धनं केनापि दायादेन न ग्रहीतव्यम्; 'जीवन्तीनां तु तासां ये तद्धरेयुः स्वबान्धवाः । ताञ्छिष्याच्चौरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः ॥' (मनुः ८।२९) इति दण्डविधानात् । तथा—'पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलंकारो धृतो भवेत् । न तं भजेरन्दायादा भजमानाः पतन्ति ते ॥' (मनुः ९।२००) इति दोषश्रवणाच्च ॥ १४७ ॥

भाषा—दुर्भिक्ष के समय, धर्म-कार्य में, रोग में और बन्दी होने पर लिये गये स्त्री-धन को पति स्त्री को पुनः देने का भागी नहीं होता ॥ १४७ ॥

आधिवेदनिकं स्त्रीधनमुक्तं, तदाह—

अधिविन्नस्त्रियै द[2]द्यादाधिवेदनिकं समम् ।
न दत्तं स्त्रीधनं यस्यै दत्ते त्वर्धं प्र[3]कल्पयेत् ॥ १४८ ॥

यस्या उपरि विवाहः साऽधिविन्ना, सा चासौ स्त्री च; तस्यै अधिविन्नस्त्रियै, आधिवेदनिकमधिवेदननिमित्तं धनं समं यावदधिवेदनार्थं व्ययीकृतं तावद्दद्यात् । यस्यै भ[4]र्त्रा श्वशुरेण वा स्त्रीधनं न दत्तम्; दत्ते पुनः स्त्रीधने आधिवेदनिकद्रव्यस्यार्धं दद्यात् । 'अर्ध' शब्दश्चात्र समविभागवचनो न भवति, अतश्च यावता तत्पूर्वदत्तमाधिवेदनिकसमं भवति तावद् देयमित्यर्थः ॥ १४८ ॥

भाषा—जिस स्त्री के रहते दूसरा विवाह करे तो उस पहली स्त्री को यदि उसे स्त्री-धन न मिला हो तो दूसरे विवाह में व्यय किये गये धन के बराबर आधिवेदनिक (सन्तोषार्थ) धन देवे; यदि उसे स्त्री-धन मिला हो तो दूसरे विवाह के व्यय का आधा धन ही देना विहित है ॥ १४८ ॥

एवं विभागमुक्त्वा इदानीं तत्संदेहे निर्णयहेतूनाह—

विभागनिह्नवे ज्ञातिबन्धुसाक्ष्यभिलेखितैः ।
विभागभावना ज्ञेया[5] गृहक्षेत्रैश्च यौतकैः ॥ १४९ ॥

विभागस्य निह्नवे अपलापे ज्ञातिभिः पितृबन्धुभिर्मातृबन्धुभिः मातुलादिभिः साक्षिभिः पूर्वोक्तलक्षणैर्लेख्येन च विभागपत्रेण विभागभावना विभागनिर्णयो ज्ञातव्यः । तथा यौतकैः पृथक्कृतैर्गृहक्षेत्रैश्च । पृथक्कृष्यादिकार्यप्रवर्तनं पृथक्पञ्चमहायज्ञादिधर्मानुष्ठानं च । नारदेन विभागलिङ्गमुक्तम् (१३।३७, ३९)—इति । 'विभागधर्मसंदेहे दायादानां विनिर्णयः । ज्ञातिभिर्भागलेख्येन पृथक्-

---

१. णापहृतं दद्यात् । २. देयमाधि । ३. प्रकीर्तितम् । ४. श्वशुरेण भर्त्रा वा । ५. ज्ञेया क्षेत्रकगृहयौतकैः ।

कार्यप्रवर्तनात् ॥ भ्रातृणामविभक्तानामेको धर्मः प्रवर्तते । विभागे सति धर्मोऽपि भवेत्तेषां पृथक् पृथक्॥' तथाऽपराण्यपि विभागलिङ्गानि तेनैवोक्तानि—'साक्षित्वं प्रातिभाव्यं च दानं ग्रहणमेव च । विभक्ता भ्रातरः कुर्युर्नाविभक्ताः कथंचन ॥' (ना० १३।४२, ४३) इति ॥ १४९ ॥

भाषा—विभाग को अस्वीकार करने पर जाति के लोगों, बन्धुओं, साक्षियों, लेख और पृथक् किये गये घर और खेत से विभाग का निर्णय होता है ॥ १४९ ॥

इति दायविभागप्रकरणम् ।

अथ सीमाविवादप्रकरणम् ९

अधुना सीमाविवादनिर्णय उच्यते—

सीम्नो विवादे क्षेत्रस्य सामन्ताः [1]स्थविरादयः ।
गोपाः सीमाकृषाणा[2] ये [3]सर्वे च वनगोचराः ॥ १५० ॥
नयेयुरेते सीमानं स्थलाङ्गारतुषद्रुमैः ।
सेतुवल्मीकनिम्नास्थिचैत्याद्यैरुपलक्षिताम्[4] ॥ १५१ ॥

ग्रामद्वयसंबन्धिनः क्षेत्रस्य सीम्नो विवादे तथैकग्रामान्तर्वर्तिक्षेत्रमर्यादाविवादे च सामन्तादयः स्थलाङ्गारादिभिः पूर्वकृतैः सीमालक्षणैरुपलक्षितां चिह्नितां सीमां नयेयुर्निश्चिनुयुः । सीमा क्षेत्रादिमर्यादा; सा चतुर्विधा—जनपदसीमा, ग्रामसीमा, क्षेत्रसीमा, गृहसीमा चेति । सा च यथासंभवं पञ्चलक्षणा । तदुक्तं नारदेन—'ध्वजिनी मत्स्यिनी चैव नैधानी भयवर्जिता । राजशासननीता च सीमा पञ्चविधा स्मृता ॥' इति ॥ ध्वजिनी वृक्षादिलक्षिता; वृक्षादीनां प्रकाशकत्वेन ध्वजतुल्यत्वात् । मत्स्यिनी सलिलवती; 'मत्स्य' शब्दस्य स्वाधारजललक्षकत्वात । नैधानी निखाततुषाङ्गारादिमती; तेषां निखातत्वेन निधानतुल्यत्वात् । भयवर्जिता अर्थिप्रत्यर्थिपरस्परसंप्रतिपत्तिनिर्मिता । राजशासननीता ज्ञातृचिह्नाभावे राजेच्छया निर्मिता । एवंभूतायां षोढा विवादः संभवति । यथाऽऽह कात्यायनः—'आधिक्यं न्यूनता चांशे अस्तिनास्तित्वमेव च । अभोगभुक्तिः सीमा च षड् भूवादस्य हेतवः ॥' इति ॥ तथा हि—'ममात्र पञ्चनिवर्तनाया भूमेरधिका भूरस्ति' इति केनचिदुक्ते पञ्चनिवर्तनैव नाधिके-

---

१. स्थविरा गणाः । २. कृषाणाश्च (= वृद्धबालिका) । ३. चान्ये । ४. रुपलक्षितम् ।

स्याधिक्ये विवादः । 'पञ्चनिवर्तना मदीया भूमिः' इत्युक्ते न ततो न्यूनैवेति न्यूनतायाम् । 'पञ्चनिवर्तनो ममांश' इत्युक्ते अंश एव नास्तीत्यस्तिनास्तित्व-विवादः संभवति । 'मदीया भूः प्रागविद्यमानभोगैव भुज्यते' इत्युक्ते न संतता चिरंतन्येव मे 'भुक्ति' रित्यभोगभुक्तौ विवादः । इयं मर्यादेयं वेति सीमाविवाद इति षट्प्रकार एव विवादः संभवति । षट्प्रकारेऽपि भूविवादे श्रुत्यर्थाभ्यां सीमाया अपि निर्णीयमानत्वात्सीमानिर्णयप्रकरणे तस्यान्तर्भावः । समन्ताद्भवाः सामन्ताः । चतसृषु दिक्ष्वनन्तरग्रामादयस्ते च प्रतिसीमं व्यवस्थिताः; 'ग्रामो ग्रामस्य सामन्तः क्षेत्रं क्षेत्रस्य कीर्तितम् । गृहं गृहस्य निर्दिष्टं समन्तात्परिरभ्य हि ॥' इति कात्यायनवचनात् । 'ग्रामादि'शब्देन तत्स्थाः पुरुषा लक्ष्यन्ते । ग्रामः पलायित इति यथा । 'सामन्त'ग्रहणं च तत्संसक्ताद्युपलक्षणार्थम् । उक्तं च कात्यायनेन—'संसक्तकास्तु सामन्तास्तत्संसक्तास्तथोत्तराः । संसक्तस-क्तसंसक्ताः पद्माकाराः प्रकीर्तिताः ॥' इति ॥ स्थविरा वृद्धाः । 'आदि'ग्रहणेन मौलोद्धृतयोर्ग्रहणम् । वृद्धादिलक्षणं च तेनैवोक्तम्—'निष्पद्यमानं यैर्दृष्टं तत्कार्यं तद्गुणान्वितैः । वृद्धा वा यदि वाऽवृद्धास्ते तु वृद्धाः प्रकीर्तिताः ॥ ये तत्र पूर्वं सामन्ताः पश्चाद्देशान्तरं गताः । तन्मूलत्वात्तु ते मौला ऋषिभिः परिकीर्तिताः ॥ उपश्रवणसंभोगकार्याख्यानोपचिह्निताः । उद्धरन्ति पुनर्यस्मादुद्धृतास्ते ततः स्मृताः ॥' इति ॥ गोपा गोचारकाः । सीमाकृषाणाः सीमासंनिहितक्षेत्रकर्षकाः । सर्वे च वनगोचरा वनचारिणो व्याधादयः । ते च मनुनोक्ताः (८।२६०)—'व्याधाञ्शाकुनिकान्गोपान्कैवर्तान्मूलखातकान् । व्यालग्राहानुञ्छवृत्तीनन्यांश्च वनगोचरान् ॥' इति ॥ स्थलमुन्नतो भूप्रदेशः, अङ्गारोऽग्नेरुच्छिष्टम् , तुषा धान्यत्वचः, द्रुमा न्यग्रोधादयः, सेतुर्जलप्रवाहबन्धः, चैत्यं पाषाणादिबन्धः, आदिशब्देन वेणुवालुकादीनां ग्रहणम् , एतानि च प्रकाशाप्रकाशभेदेन द्विप्र-काराणि । यथाऽऽह मनुः (८।२४६-२४८) 'सीमावृक्षांश्च कुर्वीत न्यग्रोधाश्वत्थ-किंशुकान् । शाल्मलीशालतालांश्च क्षीरिणश्चैव पादपान् ॥ गुल्मान्वेणूंश्च विविधा-ञ्शमीवल्लीस्थलानि च । शरान्कुब्जकगुल्मांश्च यथा सीमा न नश्यति ॥ तडागान्युदपानानि वाप्यः प्रस्रवणानि च । सीमासंधिषु कार्याणि देवतायतनानि च ॥' इति प्रकाशरूपाणि । (मनुः ८।२४९–२५२)—'उपच्छन्नानि चान्यानि सीमालिङ्गानि कारयेत् । सीमाज्ञाने नृणां वीक्ष्य नित्यं लोके विपर्ययम् ॥ अश्मनोऽस्थीनि गोवालांस्तुषान्भस्म कपालिकाः । करीषमिष्टकाङ्गारशर्करावा-लुकास्तथा ॥ यानि चैवंप्रकाराणि कालाद् भूमिर्न भक्षयेत् । तानि संधिषु सीमायामप्रकाशानि कारयेत् ॥ एतैर्लिङ्गैर्नयेत्सीमां राजा विवदमानयोः ॥'

---

१. पद्माकाराः । २. ग्राहांस्तूञ्छवृत्तीन् । ३. कुब्जकगुल्मांश्च ।

इति प्रच्छन्नलिङ्गानि ॥ एतैः प्रकाशाप्रकाशरूपैर्लिङ्गैः सामन्तादिप्रदर्शितैः सीमां प्रति विवदमानयोः सीमानिर्णयं कुर्याद्राजा ॥ १५०–१५१ ॥

भाषा—(दो गाँव की अथवा) खेत की सीमा के विवाद में सामन्त, वृद्धपुरुष, गोप (चरवाहे), सीमा पर के खेत जोतने वाले, और सभी वनचारी (व्याध आदि)·ये ऊँची भूमि, कोयला, भूँमी, वृक्ष, सेतु (जलप्रवाहबन्ध), चीटियों की बाँबी, गड्ढों, हड्डियों और पत्थर आदि से चिह्नित करके सीमा का निर्धारण करें ॥ १५०–१५१ ॥

यदा पुनश्चिह्नानि न सन्ति, विद्यमानानि वा लिङ्गालिङ्गतया संदिग्धानि, तदा निर्णयोपायमाह—

सामन्ता वा समग्रामाश्चत्वारोऽष्टौ दशापि वा ।
रक्तस्रग्वसनाः सीमां नयेयुः क्षितिधारिणः ॥ १५२ ॥

सामन्ताः पूर्वोक्तलक्षणाः, समग्रामाश्चत्वारोऽष्टौ दशापि वेत्येवं समसंख्याः प्रत्यासन्नग्रामीणाः । रक्तस्रग्विणो रक्ताम्बरधराः मूर्ध्न्यारोपितक्षितिखण्डाः सीमानं नयेयुः प्रदर्शयेयुः । 'सामन्ता वा' इति विकल्पाभिधानं स्मृत्यन्तरोक्तसाक्ष्यभिप्रायम् । यथाऽऽह मनुः (८।२५३)—'साक्षिप्रत्यय एव स्यात्सीमावादविनिर्णये' इति ॥ तत्र च साक्षिणां निर्णेतृत्वं मुख्यम् ; तदभावे सामन्तानाम् । तदुक्तम् (मनुः ८।२५८)—'साक्ष्यभावे तु चत्वारो ग्राम्याः सीमान्तवासिनः । सीमाविनिर्णयं कुर्युः प्रयता राजसंनिधौ ॥' इति; तदभावे तत्संसक्तादीनां निर्णेतृत्वम् । यथाऽऽह कात्यायनः—'स्वार्थसिद्धौ प्रदुष्टेषु सामन्तेष्वर्थगौरवात् । तत्संसक्तैस्तु कर्तव्य उद्धारो नात्र संशयः ॥ संसक्तसक्तदोषे तु तत्संसक्ताः प्रकीर्तिताः । कर्तव्या न प्रदुष्टास्तु राज्ञा धर्मं विजानता ॥' इति । सामन्ताद्यभावे मौलादयो ग्राह्याः; 'तेषामभावे सामन्तमौलवृद्धोद्धृतादयः । स्थावरे षट्प्रकारेऽपि कार्या नात्र विचारणा ॥' इति कात्यायनेन क्रमविधानात् । एते च सामन्तादयः संख्यागुणातिरेकेण संभवन्ति । 'सामन्ताः साधनं पूर्वं निर्दोषाः स्युर्गुणान्विताः । द्विगुणास्तूत्तरा ज्ञेयास्ततोऽन्ये त्रिगुणा मताः ॥' इति स्मरणात् ॥ ते च साक्षिणः सामन्तादयश्च स्वैः स्वैः शपथैः शापिताः सन्तः सीमां नयेयुः; (मनुः ८।२५६)—'शिरोभिस्ते गृहीत्वोर्वीं स्रग्विणो रक्तवाससः । सुकृतैः शापिताः स्वैः स्वैर्नयेयुस्ते समंजसम् ॥' इति स्मरणात् । नयेयुरिति बहुवचनं द्वयोर्निरासार्थं नैकस्य । 'एकश्चेदुन्नयेत्सीमां सोपवासः

---

१. प्रकाशितैः । २. समा ग्रामा । ३. कुर्वीत । ४. दोषेषु । ५. क्रमाभिधानात् ।

समुन्नयेत् । रक्तमाल्याम्बरधरो भूमिमादाय मूर्धनि ॥' (ना० ११।१०।९) इति नारदेनैकस्याभ्यनुज्ञानात् ॥ योऽयं—'नैकः समुन्नयेत्सीमां नरः प्रत्ययवानपि । गुरुत्वादस्य कार्यस्य क्रियैषा बहुषु स्थिता ॥' इत्येकस्य निषेधः स उभयानुमतधर्मविद्व्यतिरिक्तविषय इत्यविरोधः ॥ स्थलादिचिह्नाभावेऽपि साक्षिसामन्तादीनां सीमाज्ञाने उपायविशेषो नारदेनोक्तः—'निम्नगापहृतोत्सृष्टनष्टचिह्नासु भूमिषु । तत्प्रदेशानुमानाच्च प्रमाणाद्भोगदर्शनात् ॥' (ना० ११।६) इति । निम्नगाया नद्या अपहृतेनापहरणेनोत्सृष्टानि स्वस्थानात्प्रच्युतानि नष्टानि वा लिङ्गानि यासु मर्यादाभूमिषु तत्र तत्प्रदेशानुमानादुत्सृष्टनष्टचिह्नानां प्राचीनप्रदेशानुमानात् ग्रामादारभ्य सहस्रदण्डपरिमितं क्षेत्रमस्य ग्रामस्य पश्चिमे भागे इत्येवंविधात्प्रमाणाद्वा प्रत्यर्थिसमक्षमविप्रतिपन्नाया अस्मार्तकालोपलक्षितभुक्तेर्वा निश्चिनुयुः ॥ बृहस्पतिना चात्र विशेषो दर्शितः—'आगमं च प्रमाणं च भोगं कालं च नाम च । भूभागलक्षणं चैव ये विदुस्तेऽत्र साक्षिणः ॥' इति । एते च साक्षिसामन्तादयः शपथैः श्राविताः सन्तः कुलादिसमक्षं राज्ञा प्रष्टव्याः । यथाह मनुः (८।२५४)—'ग्रामेयककुलानां तु समक्षं सीम्नि साक्षिणः । प्रष्टव्याः सीमलिङ्गानि तयोश्चैव विवादिनोः ॥' इति । ते च पृष्टाः साक्ष्यादयः समस्ता ऐकमत्येन सीम्नि निर्णयं ब्रूयुः । तैर्निर्णीतां सीमां तत्प्रदर्शितसकललिङ्गयुक्तां साक्ष्यादिनामान्वितां चाविस्मरणार्थं पत्रे समारोपयेत् । उक्तं च मनुना (८।२६१)—'ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः समस्ताः सीम्नि निर्णयम् । निबध्नीयात्तथा सीमां सर्वांस्तांश्चैव नामतः ॥' इति । एतेषां साक्षिसामन्तप्रभृतीनां सीमाचङ्क्रमणदिनादारभ्य यावत्त्रिपक्षं राजदैविकव्यसनाभ्यसनं चेन्नोत्पद्यते तदा तत्प्रदर्शनात्सीमानिर्णयः । अयं च राजदैविकव्यसनावधिः कात्यायनेनोक्तः—'सीमाचङ्क्रमणे कोशे पादस्पर्शे तथैव च । त्रिपक्षपक्षसप्ताहं दैवराजिकमिष्यते ॥' इति ॥ १५२ ॥

भाषा—(यदि कोई चिह्न न हों तो) सामन्त, आसपास के चार, आठ या दस ग्रामवासी लाल रंग का वस्त्र धारण करके एवं शिर पर मिट्टी का ढेला रखकर सीमा निर्धारित करें ॥ १५२ ॥

यदा त्वमीषामुक्तसाक्ष्यवचसां त्रिपक्षाभ्यन्तरे रोगादि दृश्यते, अथवा प्रतिज्ञादिनिर्दिष्टाभ्यधिकसंख्यागुणसाक्ष्यन्तरविरुद्धवचनता तदा ते मृषाभाषितया दण्डनीयास्तदाह—

अनृते तु पृथग्दण्ड्या राज्ञा मध्यमसाहसम् ।

---

४. पलक्षितैर्भुक्तेर्वा । ५. साक्षिणः सामन्तादयः । ६. सीमानं ।

अनृते मिथ्या[1]वदने निमित्तभूते सति सर्वे सामन्ताः प्रत्येकं मध्यमसाहसेन चत्वारिंशदधिकेन पणपञ्चशतेन दण्डनीयाः। सामन्तविषयता चास्य सा[2]क्षिमौलादीनां स्मृत्यन्तरे दण्डान्तरविधानादवगम्यते। यथाऽऽह मनुः (८।२५७)-'यथोक्तेन नयन्तस्ते पूयन्ते सत्यसाक्षिणः। विपरीतं नयन्तस्तु दाप्याः स्युर्द्विशतं दमम् ॥' इति ॥ नारदोऽपि (११।७)—'अथ चेदनृतं ब्रूयुः सामन्ताः सीमनिर्णये। सर्वे पृथक्पृथग्दण्ड्या राज्ञा मध्यमसाहसम् ॥' इति सामन्तानां मध्यमसाहसं दण्डमभिधाय—'शेषाश्चेदनृतं ब्रूयुर्नियुक्ता भूमिकर्मणि। प्रत्येकं तु जघन्यास्ते विनेयाः पूर्वसाहसम् ॥' इति, तत्संसक्तादिषु प्रथमं साहसमुक्तवान्। मौलादीनामपि तमेव दण्डमाह—'मौलवृद्धादयस्त्वन्ये दण्डगत्या पृथक् पृथक्। विनेयाः प्रथमेनैव साहसेनानृते स्थिताः ॥' (ना० ११।८) इति। 'आदि'-शब्देन गोपशाकुनिकव्याधवनगोचराणां ग्रहणम्। यद्यपि शाकुनिकादीनां पापरतत्वाल्लिङ्गप्रदर्शन एवोपयोगो न साक्षात्सीमानिर्णये तथाऽपि लिङ्गदर्शन एव मृषाभाषित्वसंभवाद्दण्डविधानमुपपद्यत एव। 'अनृते तु पृथग् दण्ड्या' इत्येतद्दण्डविधानमज्ञानविषयम्; 'बहूनां तु गृहीतानां न सर्वे निर्णयं यदि। कुर्युर्भयाद्वा लोभाद्वा दण्ड्यास्तूत्तमसाहसम् ॥' इति ज्ञानविषये साक्ष्यादीनां कारयायनेन दण्डान्तरविधानात्। तथा साक्षिवचनभेदेऽप्ययमेव दण्डस्तेनैवोक्तः—'कीर्तिते यदि भेदः स्याद्दण्ड्यास्तूत्तमसाहसम्' इति। एवमज्ञानादिनानृतवदने साक्ष्यादीन्दण्डयित्वा पुनः सीमाविचारः प्रवर्तयितव्यः। 'अज्ञानोक्तौ दण्डयित्वा पुनः सीमां विचारयेत्' इत्युक्त्वा 'त्यक्त्वा दुष्टांस्तु सामन्तानन्यान्मौलादिभिः सह। संमिश्य कारयेत्सीमामेवं धर्मविदो विदुः ॥' इति निर्णयप्रकारस्तेनैवोक्तः ॥-

यदा पुनः सामन्तप्रभृतयो ज्ञातारश्चिह्नानि च न सन्ति, तदा कथं निर्णय इत्यत आह—

अभावे ज्ञातृचिह्नानां राजा सीम्नः प्र[3]वर्तिता ॥ १५३ ॥

ज्ञातॄणां सामन्तादीनां लिङ्गादीनां च वृक्षादीनामभावे राजैव सीम्नः प्रवर्तिता प्रवर्तयिता। अन्तर्भावितोऽत्र ण्यर्थः। ग्रामद्वयमध्यवर्तिनीं विवादास्पदीभूतां भुवं समं प्रविभज्य 'अस्येयं भूरस्येयम्' इत्युभयोः समर्प्य तन्मध्ये सीमालिङ्गानि कुर्यात्। यदा तस्यां भूमावन्यतरस्योपकारातिशयो दृश्यते, तदा तस्यैव ग्रामस्य सकला भूः समर्पणीया। यथाऽऽह मनुः (८।२६५)—'सीमायामविषह्यायां स्वयं राजैव धर्मवित्। प्रदिशेद्भूमिमेतेषामुपकारादिति स्थितिः ॥' इति ॥ १५३ ॥

---

१. मिथ्यावदते। २. साक्षिमौलत्वादीनां। ३. प्रवर्तकः।

भाषा—इन (सामन्त आदि) के झूठ बोलने पर राजा को इन्हें मध्यमसाहस का दण्ड देना चाहिए। जानने वाले सामन्त आदि और वृक्ष आदि चिह्न न हों तो राजा ही सीमा निश्चित करे ॥ १२३ ॥

असत्यामप्यतद्भावाशङ्कायामस्याः स्मृतेर्न्यायमूलतां दर्शयितुमतिदेशमाह—

आरामायतनग्रामनिपानोद्यानवेश्मसु ।
एष एव विधिर्ज्ञेयो वर्षाम्बुप्रवहा[1]दिषु ॥ १५४ ॥

आरामः पुष्पफलोपचयहेतुर्भूभागः, आयतनं निवेशनं [2]पलालकूटाद्यर्थं विभक्तो भूप्रदेशः, ग्रामः प्रसिद्धः, 'ग्राम' ग्रहणं च नगराद्युपलक्षणार्थम्, निपानं पानीयस्थानं वापीकूपप्रभृतिकम्, उद्यानं क्रीडार्था भूमिः, वेश्म गृहम्, एतेष्वारामादिष्वयमेव सामन्तसाक्ष्यादिलक्षणो विधिर्ज्ञातव्यः। तथा प्रवर्षणोद्भूतजलप्रवाहेषु अनयोर्गृहयोर्मध्येन जलौघः प्रवहति अनयोर्वेत्येवंप्रकारे विवादे 'आदि' ग्रहणात्प्रासादादिष्वपि प्राचीन एव विधिर्वेदितव्यः। तथा च कात्यायनः—'क्षेत्रकूपतडागानां केदारारामयोरपि। गृहप्रासादावसथनृपदेवगृहेषु च ॥' इति ॥ १५४ ॥

भाषा—यही विधि वाटिका, आयतन (बैठक), गाँव, वापी, कूप आदि जलस्थल, उद्यान और घर की सीमा का निर्धारण करने में भी होती है। वर्षा का जल जिस मार्ग से बहता हो उसके संबन्ध में भी यह विधि समझनी चाहिए ॥ १५४ ॥

सीमानिर्णयमुक्त्वा तत्प्रसङ्गेन मर्यादाप्रभेदनादौ दण्डमाह—

मर्यादायाः प्रभेदे च[3] [4]सीमातिक्रमणे तथा।
क्षेत्र[5]स्य हरणे दण्डा अधमोत्तममध्यमाः ॥ १५५ ॥

अनेकक्षेत्रव्यवच्छेदिका [6]साधारणा भूर्मर्यादा, तस्याः प्रकर्षेण भेदने सीमातिक्रमणे सी[7]मामतिलङ्घ्य कर्षणे क्षेत्रस्य च भयादिप्रदर्शनेन हरणे यथाक्रमेण अधमोत्तममध्यमसाहसा दण्डा वेदितव्याः। 'क्षेत्र' ग्रहणं चात्र गृहारामाद्युपलक्षणार्थम्। यदा पुनः स्वीयभ्रान्त्या क्षेत्रादिकमपहरति, तदा द्विशतो दमो वेदितव्यः। यथाऽऽह मनुः (८।२६४)—'गृहं तडागमारामं क्षेत्रं वा भीषया हरन्। शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादज्ञानाद् द्विशतो दमः ॥' इति।

---

१. प्रवहेषु च। २. पलालादिकूटाद्यर्थं। ३. तु। ४. क्षेत्रस्य हरणे तथा। ५. सीमातिक्रमणे दण्ड्या। ६. साधारणी। ७. सीमानमतिलङ्घ्य।

अपह्रियमाणक्षेत्रादिभूयस्त्वपर्यालोचनया कदाचिदुत्तमोऽपि दण्डः प्रयोक्तव्यः। अत एवाह—'वधः सर्वस्वहरणं पुरान्निर्वासनाङ्कने। तदङ्गच्छेद इत्युक्तो दण्ड उत्तमसाहसः ॥' इति ॥ १५५ ॥

भाषा—मर्यादा (खेतों के बीच मे बनी हुई मेंड़) को तोड़ने और सीमा को पार करने (अधिक जोतने) और धमकी देकर खेत छीन लेने पर क्रमशः अधम, उत्तम और मध्यमसाहस का दण्ड समझना चाहिए ॥ १५५ ॥

यः पुनः परक्षेत्रे सेतुकूपादिकं प्रार्थनयार्थदानेन वा लब्धानुज्ञो निर्मातुमिच्छति तन्निषेधतः क्षेत्रस्वामिन एव दण्ड इत्याह—

न निषेध्योऽल्पबाधस्तु सेतुः कल्याणकारकः।
परभूमिं हरन्[1]कूपः स्वल्पक्षेत्रो बहूदकः ॥ १५६ ॥

परकीयां भूमिमपहरन्नाशयन्नपि सेतर्जलप्रवाहबन्धः क्षेत्रस्वामिना न प्रतिषेध्यः स चेदीषत्पीडाकरो बहूपकारकश्च भवति। कूपश्चाल्पक्षेत्रव्यापित्वेनाल्पबाधो बहूदकत्वेन कल्याणकारकश्चेतो [2]बहूदको नैव निवारणीयः। 'कूप' ग्रहणं च वापीपुष्करिण्याद्युपलक्षणार्थम्। यदा पुनरसौ [3]सर्वक्षेत्रवर्तितया बहुबाधो नद्यादिसमीपक्षेत्रवर्तितया वाऽल्पोपकारकस्तदासौ निषेध्य इत्यर्थादुक्तं भवति। सेतोश्च द्वैविध्यमुक्तं नारदेन (१५।१८)—'सेतुश्च द्विविधो ज्ञेयः खेयो बन्ध्यस्तथैव च। तोयप्रवर्तनात्खेयो बन्ध्यः स्यात्तन्निवर्तनात् ॥' इति यदा त्वन्यनिर्मितं सेतुं भेदनादिना नष्टं स्वयं संस्करोति तदा पूर्वस्वामिनं तद्वंश्यं नृपं वा पृष्ट्वैव संस्कुर्यात्। यथाऽऽह नारदः (११।२०-२१)—'पूर्वप्रवृत्तमुत्सन्नमपृष्ट्वा स्वामिनं तु यः। सेतुं प्रवर्तयेत्कश्चिन्न स तत्फलभाग्भवेत् ॥ मृते तु स्वामिनि पुनस्तद्वंश्ये वाऽपि मानवे। राजानमामन्त्र्य ततः कुर्यात्सेतुप्रवर्तनम् ॥' इति ॥ १५६ ॥

भाषा—थोड़ी भूमि के लगने से बहुत कल्याण देने वाला सेतु दूसरे के भूमि में बनाने पर भी भूमि का स्वामी मना न करे। दूसरे की भूमि लेकर कुआँ बनवाने पर भूमि की हानि कम होती है और उससे जल का लाभ अधिक होता है ॥ १५६ ॥

क्षेत्रस्वामिनं प्रत्युपदिष्टम्, इदानीं सेतोः प्रवर्तयितारं प्रत्याह—

स्वामिने [4]योऽनिवेद्यैव क्षेत्रे सेतुं प्रवर्तयेत्।
उत्पन्ने स्वामिनो भोगस्तदभावे महीपतेः ॥ १५७ ॥

---

१. हरेत्। २. बहूपकारको नैव। ३. समग्रक्षेत्र। ४. अविनिवेद्यैव।

क्षेत्रस्वामिनमनभ्युपगम्य[1] तदभावे राजानं वा यः परक्षेत्रे सेतुं प्रवर्तयत्यसौ फलभाङ् न भवति, अपि तु तदुत्पन्ने फले क्षेत्रस्वामिनो भोगस्तदभावे राज्ञः। तस्मात्प्रार्थनया अर्थदानेन वा क्षेत्रस्वामिनं तदभावे राजानं चाऽनुज्ञाप्यैव परक्षेत्रे सेतुः प्रवर्तनीय इति तात्पर्यार्थः ॥ १५७ ॥

भाषा—जो खेत के स्वामी से बिना पूछे ही खेत में सेतु बनाता है, उससे फल होने पर खेत का स्वामी ही उसका अधिकारी होता है। उसके न होने पर वह लाभ राजा को प्राप्त होता है ॥ १५७ ॥

क्षेत्रस्वामिना सेतुर्न प्रतिषेध्य इत्युक्तम्, इदानीं तस्यैव प्रसक्तानुप्रसक्त्या क्वचिद्विध्यन्तरमाह—

फालाहतमपि क्षेत्रं न[2] कुर्याद्यो न कारयेत्।
स[3] प्रदाप्यः कृष्टफलं क्षेत्रमन्येन कारयेत् ॥ १५८ ॥

यः पुनः क्षेत्रस्वामिपार्श्वे 'अहमिदं क्षेत्रं कृषामि' इत्यङ्गीकृत्य पश्चादुत्सृजति, न चान्येन कर्षयति, तच्च क्षेत्रं यद्यपि फालाहतं ईषद्धलेन विदारितं न सम्यग्बीजावापार्हं तथाऽपि तस्याकृष्टस्य फलं यावत्तत्रोत्पत्त्यर्हं सामन्तादिकल्पितं तावदसौ कर्षको दापनीयः। तच्च क्षेत्रं पूर्वकर्षकादाच्छिद्यान्येन कारयेत् ॥ १५८ ॥

भाषा—जो खेत के स्वामी से खेत लेकर थोड़ा जोतकर फिर न अपने जोतता है और न किसी दूसरे को जोतने देता है उससे उस खेत में जितना पैदा होता है उतना अन्न दिलावे और खेत दूसरे को जोतने के लिए देवे ॥ १५८ ॥

इति सीमाविवादप्रकरणम्।

अथ स्वामिपालविवादप्रकरणम् १०

व्यवहारपदानां परस्परहेतुहेतुमद्भावाभावात्[4] 'तेषामाद्यमृणादानम्' इत्यादिपाठक्रमो न विवक्षित इति व्युत्क्रमेण स्वामिपालविवादोऽभिधीयते—

माषानष्टौ तु महिषी सस्यघातस्य कारिणी।
दण्डनीया तदर्धं तु गौस्तदर्धमजाविकम् ॥ १५९ ॥

---

१. अभ्युपगमय्य। २. यो न कुर्यान्न। ३. तं प्रदाप्याकृष्टशदं (= शदः क्षेत्रस्य फलं, अकृष्टस्य क्षेत्रस्य शदः। अकृष्टेऽपि क्षेत्रे तं प्रदाप्य क्षेत्रमन्यस्यार्पयेत्)। ४. हेतुमद्भावात्।

परसस्यविनाशकारिणी महिषी अष्टौ माषान्दण्डनीया । गौस्तदर्धं चतुरो माषान् । अजा मेषाश्च माषद्वयं दण्डनीयाः । महिष्यादीनां धनसंबन्धभावात्तत्स्वामी पुरुषो लक्ष्यते । माषश्चात्र ताम्रिकपणस्य विंशतितमो भागः । 'माषो विंशतिमो भागः पणस्य परिकीर्तितः' इति नारदस्मरणात् । एतच्चाज्ञानविषयम्; ज्ञानपूर्वे तु 'पणस्य पादौ द्वौ गां तु द्विगुणं महिषीं तथा । तथाऽजाविकवत्सानां पादो दण्डः प्रकीर्तितः ॥' इति स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् । यत्पुनर्नारदेनोक्तम् (११।३१)—'माषं गां दापयेद्दण्डं द्वौ माषौ महिषीं तथा । तथाऽजाऽविकवत्सानां दण्डः स्यादर्धमाषिकः ॥' इति तत्पुनःप्ररोहयोग्यमूलावशेषभक्षणविषयम् ॥ १५९ ॥

भाषा—यदि किसी की भैंस दूसरे की फसल नष्ट करे तो उससे आठ माष दण्ड लेना चाहिए, गाय चरे तो उसके आधे चार माष दण्ड ले और बकरा तथा भेंड़ चरे तो उसके भी आधा (दो माष) दण्ड वसूल करे ॥ १५९ ॥

अपराधातिशयेन क्वचिद्दण्डद्वैगुण्यमाह—

भक्षयित्वोपविष्टानां यथोक्ताद् द्विगुणो दमः ।

यदि पशवः परक्षेत्रे सस्यं भक्षयित्वा तत्रैवानिवारिताः शेरते तदा यथोक्ताद्दण्डाद् द्विगुणो दण्डो वेदितव्यः । सवत्सानां पुनर्भक्षयित्वोपविष्टानां यथोक्तदण्डाच्चतुर्गुणो दण्डो वेदितव्यः । 'वसतां द्विगुणः प्रोक्तः सवत्सानां चतुर्गुणः' इति वचनात् ॥

क्षेत्रान्तरे पश्वन्तरे वातिदेशमाह—

सममेषां विवीतेऽपि खरोष्ट्रं महिषीसमम् ॥ १६० ॥

विवीतः प्रचुरतृणकाष्ठो रक्ष्यमाणः परिगृहीतो भूप्रदेशः, तदुपघातेऽपीतरक्षेत्रदण्डेन समं दण्डमेषां महिष्यादीनां विद्यात् । खरश्च उष्ट्रश्च खरोष्ट्रं तन्महिषीसमम् । महिषी यत्र यादृशेन दण्डेन दण्ड्यते तत्र तादृशेनैव दण्डेन खरोष्ट्रमपि प्रत्येकं दण्डनीयम् । सस्योपरोधकत्वेन खरोष्ट्रयोः प्रत्येकं महिषीतुल्यत्वाद्दण्डस्य चापराधानुसारित्वात्खरोष्ट्रमिति समाहारो न विवक्षितः ॥१६०॥

भाषा—यदि पशु किसी दूसरे की फसल चरकर वहीं बैठा भी हो तो, भी बताये गये दण्ड का दूना दण्ड होता है । विवीत (बाड़े) में भैंस आदि प्रवेश करे तो पहले के समान ही दण्ड ले । इस संबन्ध में गदहा और ऊँट के लिये भी भैंसे के समान दण्ड होता है ॥ १६० ॥

१. गां तद्द्विगुणं ।

परसस्यविनाशे गोस्वामिनो दण्ड उक्तः, इदानीं क्षेत्रस्वामिने फलमप्यसौ दापनीय इत्याह—

> [1]यावत्सस्यं विनश्येत्तु तावत्स्यात्क्षेत्रिणः फलम् ।
> [2]गोपस्ताड्यश्च गोमी तु पूर्वोक्तं दण्डमर्हति ॥ १६१ ॥

'सस्य'ग्रहणं क्षेत्रोपचयोपलक्षणार्थम् । यस्मिन्क्षेत्रे यावत्पलालधान्यादिकं गवादिभिर्विनाशितं तावत्क्षेत्रफलं 'एतावति क्षेत्रे एतावद्भवति' इति सामन्तैः परिकल्पितं तत्क्षेत्रस्वामिने गोमी दापनीयः । गोपस्तु ताडनीय एव, न फलं दापनीयः । गोपस्य च ताडनं पूर्वोक्तधनदण्डसहितमेव पालदोषेण सस्यनाशे द्रष्टव्यम् । 'या नष्टा पालदोषेण गौस्तु सस्यानि नाशयेत् । न तत्र गोमिनां दण्डः पालस्तं दण्डमर्हति ॥' इति वचनात् ॥ गोमी पुनः स्वापराधेन सस्यनाशे पूर्वोक्तं दण्डमेवार्हति, न ताडनम् । फलदानं पुनः सर्वत्र गोस्वा[3]मिन एव; तत्फलपुष्टमहिष्यादिक्षीरेणोपभोगद्वारेण तत्क्षेत्रफलभागित्वात् । गवादिभक्षितावशिष्टं पलालादिकं गोमिनैव ग्रहीतव्यम् । मध्यस्थकल्पि[4]तमूल्यदानेन क्रीतप्रायत्वात् । अत एव नारदः—गोभिस्तु भक्षितं सस्यं यो नरः प्रतियाचते । सामन्तानुमतं देयं धान्यं यत्तत्र वापितम् ॥ पलालं [5]गोमिने देयं धान्यं वै कर्षकस्य तु ॥' इति ॥ १६१ ॥

भाषा—गाँव के निकट के मार्ग में, और पशुओं के बाड़े के निकट के जितनी फसल चरे या नष्ट किये हो उतने का फल खेत के स्वामी को मिले । चरवाहे को पीटना चाहिए और गाय के स्वामी से उपरोक्त दण्ड ही लेना चाहिए ॥ १६१ ॥

क्षेत्रविशेषे अपवादमाह—

> पथि ग्रामविवीतान्ते क्षेत्रे दोषो न विद्यते ।
> अकामतः कामचारे चौरवद्दण्डमर्हति ॥ १६२ ॥

पथि मार्गसमीपवर्तिनि क्षेत्रे ग्रामविवीतसमीपवर्तिनि च क्षेत्रे अकामतो गोभिर्भक्षिते गोपगोमिनोर्द्वयोरप्यदोषः । दोषाभावप्रतिपादनं च दण्डाभावार्थं विनष्टसस्यमूल्यादानप्रतिषेधार्थं च । कामचारे कामतश्चारणे चौरवत् चौरस्य यादृशो दण्डस्तादृशं दण्डमर्हति । एतच्चानावृतक्षेत्रविषयम् ; 'तत्रापरिवृतं धान्यं विहिंस्युः पशवो यदि । न तत्र प्रणयेद्दण्डं नृपतिः पशुरक्षिणाम् ॥

---

१. विनश्येत तावत्क्षेत्री फलं लभेत् । २. पालस्ताड्येत गोमी तु पूर्ववद्दण्ड । पालस्ताड्योऽथ गोमी तु पूर्वोक्तं । ३. गोमिन एव । ४. मूल्यद्वारेण । ५. गोमिनो देयं ।

८।२३८)—इति दण्डाभावस्यानावृतक्षेत्रविषयत्वेन मनुनोक्तत्वात् । आवृते पुनर्मार्गादिक्षेत्रेऽपि दोषोऽस्त्येव । वृतिकरणं च तेनैवोक्तम् । 'वृतिं च तत्र कुर्वीत यामुष्ट्रो नावलोकयेत् । छिद्रं निवारयेत्सर्वं श्वसूकरमुखानुगम् (मनुः ८।२३९) इति ॥ १६२ ॥

भाषा—गाँव के निकट के मार्ग में और पशुओं के बाड़े से सटे हुए खेत में भूल से पशुओं के पड़ जाने पर कोई दोष नहीं होता। जानबूझ कर पशुओं को छोड़ने वाला चोर के समान दण्डनीय होता है ॥ १६२ ॥

पशुविशेषेऽपि दण्डाभावमाह—

> महोक्षोत्सृष्टपशवः [1]सूतिकागन्तुकादयः ।
> पालो येषां न[2] ते मोच्या [3]दैवराजपरिप्लुताः ॥ १६३ ॥

महांश्चासावुक्षा च महोक्षो वृषः सेक्ता । उत्सृष्टपशवः वृषोत्सर्गादिविधानेन देवतोद्देशेन वा त्यक्ताः । सूतिका प्रसूता अनिर्दशाहा; आगन्तुकः स्वयूथात्परिभ्रष्टो देशान्तरादागतः । एते मोच्याः परसस्यभक्षणेऽपि न दण्ड्याः । येषां च पालो न विद्यते तेऽपि दैवराजपरिप्लुताः दैवराजोपहताः सस्यविनाशकारिणो न दण्ड्याः । आदिशब्दग्रहणाद्धस्त्यश्वादयो गृह्यन्ते । ते चोशनसोक्ताः—'अदण्ड्या हस्तिनो ह्यश्वाः प्रजापाला हि ते स्मृताः । [4]अदण्ड्यौ काणकुब्जौ च ये चाश्वत्कृतलक्षणाः ॥ अदण्ड्यागन्तुकी गौश्च सूतिका वाऽभिसारिणी । अदण्ड्याश्चोत्सवे गावः श्राद्धकाले तथैव च ॥' इति । अत्रोत्सृष्टपशूनामस्वामिकत्वेन दण्ड्यत्वासंभवात् दृष्टान्तार्थमुपादानम् । यथोत्सृष्टपशवो न दण्ड्या एवं महोक्षादय इति ॥ १६३ ॥

भाषा—साँड, यज्ञ विधि से छोड़े गये पशु, दस दिन से कम की ब्याई हुई गाय, अपने गिरोह से भटक कर आये हुए पशु को छोड़ देना चाहिए (दण्ड नहीं देना चाहिए)। जिसको पालने वाला न हो और जो राजा या दैव से पीडित हो ऐसे पशु को (खेत चरने पर भी) छोड़ देना चाहिए ॥ १६३ ॥

गोस्वामिन उक्तम् , इदानीं गोपं प्रत्युपदिश्यते—

> यथार्पितान्पशून्गोपः सायं प्रत्यर्पयेत्तथा ।
> प्रमादमृतनष्टांश्च प्रदाप्यः कृतवेतनः ॥ १६४ ॥

---

१. सूतिकागन्तुकी च गौः । २. च । ३. राजदैवपरि । ४. अदण्ड्याः काणकूटाश्च वृताश्च कृतलक्षणाः ।

गोस्वामिना प्रातःकाले यथा गणयित्वा समर्पिताः पशवस्तथैव सायंकाले गोपो गोस्वामिने पशून् विगणय्य प्रत्यर्पयेत्। प्रमादेन स्वापराधेन मृतान्नष्टांश्च पशून् कृतवेतनः कल्पितवेतनो गोपः स्वामिने दाप्यः। वेतनकल्पना च नारदेनोक्ता (६।१०)—'गवां शताद्वत्सतरी धेनुः स्याद् [1]द्विशताभृतिः। प्रतिसंवत्सरं गोपे संदोहश्चाष्टमेऽहनि ॥' इति। प्रमादनाशश्च मनुना स्पष्टीकृतः (८।२३२)—'नष्टं जग्धं च कृमिभिः श्वहतं विषमे मृतम्। हीनं पुरुषकारेण प्रदद्यात्पाल एव तु ॥' इति ॥ प्रसह्य चौरैरपहृतं[2] न दाप्यः। यथाऽऽह मनुः (८।२३३)—'विक्रुष्य[3] तु हृतं चौरैर्न पालो दातुमर्हति। यदि देशे च काले च स्वामिनः स्वस्य शंसति ॥' इति। [4]दैवमृतानां पुनः कर्णादि प्रदर्शनीयम्। 'कर्णौ चर्म च वालांश्च बस्तिं स्नायुं च रोचनाम्। [5]पशुषु स्वामिनां दद्यान्मृतेष्वङ्कानि[6] दर्शयन् ॥' (८।२३४) इति मनुस्मरणात् ॥ १६४ ॥

भाषा—प्रातःकाल जैसा पशु स्वामी ने गोप (चरवाहे) को सौंपा हो वैसा ही (उतने ही) पशु सन्ध्या को वह (गोप) स्वामी को लौटावे। यदि पशु उसकी असावधानी से मर गया हो या खो गया हो तो स्वामी उसका वेतन ठहरा कर उसमें से उस पशु का मूल्य ले लेवे ॥ १६४ ॥

पालदोषविनाशे तु पाले दण्डो विधीयते।
अर्धत्रयोदशपणः स्वामिनो द्रव्यमेव च ॥ १६५ ॥

किंच, [8]पालदोषेणैव पशुविनाशे अर्धाधिकत्रयोदशपणं दण्डं पालो दाप्यः। स्वामिनश्च द्रव्यं विनष्टपशुमूल्यं मध्यस्थकल्पितम्। दण्डपरिमाणार्थः श्लोकः, अन्यत्पूर्वोक्तमेव ॥ १६५ ॥

भाषा—चरवाहे के दोष से पशु का नाश होने पर चरवाहे से साढ़े तेरह पण दण्ड स्वामी को दिलवाये ॥ १६५ ॥

गोप्रसङ्गात् गोप्रचारमाह—

[9]ग्राम्येच्छया गोप्रचारो भूमिराजवशेन वा।
द्विजस्तृणैधःपुष्पाणि [10]सर्वतः सर्वदा हरेत् ॥ १६६ ॥

ग्राम्येच्छया ग्राम्यजनेच्छया भूम्यल्पत्वमहत्त्वापेक्षया राजेच्छया वा गोप्रचारः कर्तव्यः। गवादीनां [11]प्रचारणार्थं कियानपि भूभागोऽकृष्टः परिकल्पनीय

---

1. द्विशताद्भृतिः। 2. अपहृतान्। 3. विघुष्य त्विति। 4. दैवराजमृतानां। 5. पशुस्वामिषु दद्यात्तु मृतेष्वङ्कानि। पशुस्वामिषु दद्यात्तु मृतेष्वङ्कानि। 6. अङ्कादि दर्शयेत्। 7. स्वामिने। 8. दोषेण पशु। 9. ग्रामेच्छया। 10. सर्वतः समुपाहरेत्। 11. चरणार्थं।

इत्यर्थः । द्विजस्तृणेन्धनाद्यभावे गवाग्निदेवतार्थं तृणकाष्ठकुसुमानि सर्वतः स्ववदनिवारित आहरेत् । फलानि [1]स्वपवृतादेव । 'गोऽग्न्यर्थं तृणमेधांसि वीरुद्वनस्पतीनां च पुष्पाणि स्ववदाददीत फलानि चापरिवृतानाम्' (गौ. १२।२८) इति गौतमस्मरणात् । एतच्च परिगृहीतविषयम् । अपरिगृहीते तु द्विजव्यतिरिक्तस्यापि परिग्रहादेव स्वत्वसिद्धेः । यथा तेनैवोक्तम्—'स्वामी रिक्थक्रयसंविभागपरिग्रहाधिगमेषु' (गौ. १३।३९) इति । यत्पुनरुक्तम्—'तृणं वा यदि वा काष्ठं पुष्पं वा यदि वा फलम् । अनापृच्छन्हि गृह्णानो हस्तच्छेदनमर्हति ॥' इति, तद् द्विजव्यतिरिक्तविषयमनापद्विषयं वा गवादिव्यतिरिक्तविषयं चेति ॥ १६६ ॥

भाषा—गाँव के लोगों की इच्छा से अथवा राजा की आज्ञा से गौओं के चरागाह के लिये भूमि बनानी चाहिए । द्विज जलाने के लिये ईंधन और पुष्प सभी स्थानों से सदा बे रोक टोक ले सकता है ॥ १६६ ॥

इदमपरं गवादीनां स्थानासनसौकर्यार्थमुच्यते—

> धनुःशतं [2]परीणाहो ग्रामे क्षेत्रान्तरं भवेत् ।
> द्वे शते [4]खर्वटस्य स्यान्नगरस्य चतुःशतम् ॥ १६७ ॥

ग्रामक्षेत्रयोरन्तरं धनुःशतपरिमितं परीणाहः सर्वतोदिशमनुसस्यं कार्यम् । खर्वटस्य प्रचुरकण्टकसन्तानस्य ग्रामस्य द्वे शते [5]परीणाहः । नगरस्य बहुजनसंकीर्णस्य धनुषां चतुःशतपरिमितमन्तरं कार्यम् ॥ १६७ ॥

भाषा—गाँव के चारों ओर सौ धनु स्थान छोड़े, खर्वट (कस्बे) के चारों ओर दो सौ धनुष और नगर के चारों ओर चार सौ धनुष स्थान छोड़ देना चाहिए ॥ १६७ ॥

इति स्वामिपालविवादप्रकरणम् ।

अथास्वामिविक्रयप्रकरणम् ११

संप्रत्यस्वामिविक्रयाख्यं व्यवहारपदमुपक्रमते । तस्य च लक्षणं नारदेनोक्तम् (७।१)—'निक्षिप्तं वा परद्रव्यं नष्टं लब्ध्वापहृत्य वा । विक्रीयतेऽसमक्षं यत्स ज्ञेयोऽस्वामिविक्रयः ॥' इति, तत्किमित्याह—

> स्वं लभेतान्यविक्रीतं क्रेतुर्दोषोऽप्रकाशिते ।
> हीनाद्रहो हीनमूल्ये वेलाहीने च तस्करः ॥ १६८ ॥

---

१. स्वपरिवृतादेव । २. परीहारः (= परिहृतं कृष्यादिकं) । ३. ग्रामक्षेत्रान्तरं । ४. कर्पटस्य (= ग्रामनगरोभयधर्मयुक्तस्य) । ५. परिणाहः । ६. दिक्षवनुसस्यं ।

स्वमात्मसंबन्धि द्रव्यं अन्यविक्रीतमस्वामिविक्रीतं यदि पश्यति, तदा लभेत गृह्णीयात् ; अस्वामिविक्रयस्य स्वत्वहेतुत्वाभावात्। 'विक्रीत' ग्रहणं दत्ताहितयोरुपलक्षणार्थम् ; अस्वामिविक्रीतत्वेन[1] तुल्यत्वात् । अत एवोक्तम्— 'अस्वामिविक्रयं दानमाधिं च विनिवर्तयेत्' इति । क्रेतुः पुनरप्रकाशिते गोपिते [2]क्रये दोषो भवति । तथा हीनात्तत्द्रव्यागमोपायहीनाद्रहसि चैकान्ते संभाव्यद्रव्यादपि हीनमूल्येनाल्पतरेण च मूल्येन क्रये वेलाहीने वेलया हीनो वेलाहीनः, क्रयो राज्यादौ कृतस्तत्र च क्रेता तस्करो भवति । तस्करवद्दण्डभाग्भवतीत्यर्थः । यथोक्तम् (ना० ७।१।३-५)—'द्रव्यमस्वामिविक्रीतं प्राप्य स्वामी तदाप्नुयात् । प्रकाशं क्रयतः शुद्धिः क्रेतुः स्तेयं रहःक्रयात् ॥' इति ॥ १६८ ॥

भाषा—अपनी वस्तु किसी दूसरे के पास बेची हुई देखे तो उसे ले लेवे । चोरी छिपे क्रय करने में क्रेता को दोष होता है । हीन (जिसके पास वह वस्तु सामान्यतः नहीं होनी चाहिए) व्यक्ति से एकान्त में कममूल्य पर और अयुक्त समय पर (रात्रि में) खरीदे तो क्रेता चोर होता है ॥ १६८ ॥

स्वाम्यभियुक्ते क्रेत्रा किं कर्तव्यमित्यत आह—

नष्टापहृतमासाद्य हर्तारं ग्राहयेन्नरम् ।
देशकालातिपत्तौ च[3] गृहीत्वा स्वयमर्पयेत् ॥ १६९ ॥

नष्टमपहृतं वाऽन्यदीयं क्रयादिना प्राप्य हर्तारं विक्रेतारं[4] नरं ग्राहयेत् चौरोद्धरणकादिभिः आत्मविशुद्ध्यर्थं राजदण्डाप्राप्त्यर्थं च । अथाविदितदेशान्तरं गतः कालान्तरे वा विपन्नस्तदा मूलसमाहरणाशक्तेर्विक्रेतारमदर्शयित्वैव स्वयमेव तद्धनं नाष्टिकस्य समर्पयेत् । तावतैवासौ शुद्धो भवतीति श्रीकराचार्येण व्याख्यातं,–तदिदमनुपपन्नम् , विक्रेतुर्दर्शनाच्छुद्धिः' (व्य० १७०) इत्यनेन पौनरुक्त्यप्रसङ्गात् । अतोऽन्यथा व्याख्यायते नष्टापहृतमिति । नाष्टिकं प्रत्ययमुपदेशः । नष्टमपहृतं वाऽऽत्मीयद्रव्यमासाद्य क्रेतृहस्तस्थं ज्ञात्वा तं हर्तारं क्रेतारं स्थानपालादिभिर्ग्राहयेत् । देशकालातिपत्तौ देशकालातिक्रमे स्थानपालाद्यसंनिधाने तद्विज्ञापनकालात्प्राक्[5] पलायनाशङ्कायां स्वयमेव गृहीत्वा तेभ्यः समर्पयेत् ॥ १६९ ॥

भाषा—अपनी खोई हुई या चोरी गई हुई वस्तु देखे तो उसके विक्रेता को पकड़वाये; यदि उसके कहीं भाग जाने या देर होने की आशंका हो तो स्वयं पकड़ कर स्थानपाल के पास ले जावे ॥ १६९ ॥

---

१. अस्वामिक्रीतेन । २. क्रय्ये । ३. वा । ४. विक्रेतारं ग्राहयेत् । ५. तद्विज्ञापकात्प्राक् ।

ग्राहिते हर्तरि किं कर्तव्यमित्यत आह—

विक्रेतुर्दर्शनाच्छुद्धिः स्वामी द्रव्यं नृपो दमम् ।
क्रेता मूल्यमवाप्नोति तस्माद्यस्तस्य विक्रयी ॥ १७० ॥

यद्यसौ गृहीतः क्रेता 'न मयेदमपहृतम् , अन्यसकाशात्क्रीतम्' इति वक्ति, तदा तस्य क्रेतुर्विक्रेतुर्दर्शनमात्रेण शुद्धिर्भवति । न पुनरसावभियोज्यः, किंतु तत्प्रदर्शितेन विक्रेत्रा सह नाष्टिकस्य विवादः; यथाऽऽह बृहस्पतिः—'मूले समाहृते क्रेता नाभियोज्यः कथंचन । मूलेन सह वादस्तु नाष्टिकस्य विधीयते ॥' इति ॥ तस्मिन् विवादे यद्यस्वामिविक्रयनिश्चयो भवति, तदा तस्य नष्टापहृतस्य गवादिद्रव्यस्य यो विक्रयी विक्रेता तस्य सकाशात्स्वामी नाष्टिकः स्वीयं द्रव्यमवाप्नोति; नृपश्चापराधानुरूपं दण्डं; क्रेता च मूल्यमवाप्नोति । अथासौ देशान्तरगतस्तदा योजनसंख्यया आनयनार्थं कालो देयः; 'प्रकाशं वा क्रयं कुर्यान्मूलं वापि समर्पयेत् । मूलानयनकालश्च देयस्तत्राध्वसंख्यया ॥' इति स्मरणात् ॥ अथाविज्ञातदेशतया मूलमाहर्तुं न शक्नोति, तदा क्रयं शोधयित्वैव शुद्धो भवति; 'असमाहार्यमूलस्तु क्रयमेव विशोधयेत्' इति वचनात् ॥ यदा पुनः साक्ष्यादिभिर्दिव्येन वा क्रयं न शोधयति मूलं च न प्रदर्शयति, तदा स एव दण्डभाग्भवति ॥ इति; 'अनुपस्थापयन्मूलं क्रयं वाऽप्यविशोधयन् । यथाऽभियोगं धनिने धनं दाप्यो दमं च सः' ॥ इति मनुस्मरणात् ॥ १७० ॥

भाषा—यदि ऐसी वस्तु को बेचने वाला अपने पूर्व के विक्रेता को दिखला दे तो छूट जाता है । राजा इस विक्रेता से स्वामी को वस्तु दिलावे क्रेता अपना मूल्य उस व्यक्ति से प्राप्त कर लेता है जिसने उसे पहले बेचा हो ॥ १७० ॥

'स्वं लभेतान्यविक्रीतम्' (श्लो० १६८) इत्युक्तं, तल्लिप्सुना किं कर्तव्यमित्यत आह—

आगमेनोपभोगेन नष्टं भाव्यमतोऽन्यथा ।
पञ्चबन्धो दमस्तस्य[2] राज्ञे तेनाविभाविते ॥ १७१ ॥

आगमेन रिक्थक्रयादिना उपभोगेन च 'मदीयमिदं द्रव्यं तच्चैवं नष्टमपहृतं वा इत्यपि[3] भाव्यं साधनीयं तत्स्वामिना । अतोऽन्यथा तेन स्वामिना अविभाविते पञ्चबन्धो नष्टद्रव्यस्य पञ्चमांशो दमो नाष्टिकेन राज्ञे देयः । अत्र चायं क्रमः—पूर्वस्वामी नष्टमात्मीयं साधयेत् , ततः क्रेता चौर्यपरिहारार्थं मूल्यलाभाय च विक्रेतारमानयेत् , अथानेतुं न शक्नोति तदात्मदोषपरिहाराय क्रयं[4]साधयित्वा द्रव्यं नाष्टिकस्य समर्पयेदिति ॥ १७१ ॥

१. स्तत्र । २. स्तत्र राज्ञस्तेनापि भाव्यते । ३. वेति भाव्यं ।
४. शोधयित्वा ।

भाषा—आगम (लेख) और उपभोग द्वारा खोई हुई वस्तु पर अपने स्वत्व को प्रमाणित करे, अन्यथा प्रमाणित न कर सकने पर वस्तु के मूल्य का पञ्चमांश राजा दण्ड के रूप में उससे वसूल करे ॥ १७१ ॥

तस्करस्य प्रच्छादकं प्रत्याह—

हृतं प्रनष्टं यो द्रव्यं परहस्तादवाप्नुयात् ।
अनिवेद्य नृपे दण्ड्यः स तु षण्णवतिं पणान् ॥ १७२ ॥

हृतं प्रनष्टं वा चौरादिहस्तस्थं द्रव्यं 'अनेन मदीयं द्रव्यमपहृतम्' इति नृपस्यानिवेद्यैव दर्पादिना यो गृह्णाति असौ षडुत्तरान्नवतिं पणान्दण्डनीयः; तस्करप्रच्छादकत्वेन दुष्टत्वात् ॥ १७२ ॥

भाषा—जो अपनी चोरी गई हुई या खोई हुई वस्तु दूसरे व्यक्ति के हाथ से राजा से विना प्रार्थना किये ही लेता है तो उसे छियानबे पणों का दण्ड देना होता है ॥ १७२ ॥

राजपुरुषानीतं प्रत्याह—

शौल्किकैः स्थानपालैर्वा नष्टापहृतमाहृतम् ।
अर्वाक्संवत्सरात्स्वामी हरेत परतो नृपः ॥ १७३ ॥

यदा तु शुल्काधिकारिभिः स्थानरक्षिभिर्वा नष्टमपहृतं द्रव्यं राजपार्श्वं प्रत्यानीतं, तदा संवत्सरादर्वाक् प्राप्तश्चेत् नाष्टिकस्तद्द्रव्यमवाप्नुयात्; ऊर्ध्वं पुनः संवत्सराद्राजा गृह्णीयात् । स्वपुरुषानीतं च द्रव्यं जनसमूहेषूद्घोष्य यावत्संवत्सरं राज्ञा रक्षणीयम्; यथाऽऽह गौतमः (१०-३६।३०)—'प्रनष्टस्वामिकमधिगम्य राज्ञे प्रब्रूयुः । विख्याप्य संवत्सरं राज्ञा रक्ष्यम्' इति । यत्पुनर्मनुनाऽत्रध्यन्तरमुक्तम् (८।३०)—'प्रनष्टस्वामिकं द्रव्यं राजा त्र्यब्दं निधापयेत् । अर्वाक् त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परतो नृपतिर्हरेत् ॥' इति,-तच्छ्रुतवृत्तसंपन्नब्राह्मणविषयम् । रक्षणनिमित्तषड्भागादिग्रहणं च तेनैवोक्तम् (मनुः ८।३३) 'आददीताथ षड्भागं प्रनष्टाधिगतान्नृपः । दशमं द्वादशं वापि सतां धर्ममनुस्मरन् ॥' इति ॥ तृतीय-द्वितीय-प्रथमसंवत्सरेषु यथाक्रमं षष्ठादयो भागा वेदितव्याः । प्रपञ्चितं चैतत्पुरस्तात् ॥ १७३ ॥

भाषा—शुल्क लेने वाले अधिकारी और स्थानपाल यदि किसी की खोई हुई या चोरी गई वस्तु लाकर राजा को दें। यदि उस का स्वामी उसे एक वर्ष के भीतर ही लेने आवे तब तो वह पाता है अन्यथा (एक वर्ष के बाद) वह राजा का हो जाता है ॥ १७३ ॥

---

१. लभेत ।

मनूक्तषड्भागादिग्रहणस्य द्रव्यविशेषेऽपवादमाह—

पणानेकशफे दद्याच्चतुरः पञ्च मानुषे ।
म[1]हिषोष्ट्रगवां द्वौ द्वौ पादं पादमजाविके ॥ १७४ ॥

एकशफे अश्वादौ प्रनष्टाधिगते तत्स्वामी राज्ञे रक्षणनिमित्तं चतुरः पणान्दद्यात् । मानुषे मनुष्यजातीये द्रव्ये पञ्च पणान्, महिषोष्ट्रगवां रक्षणनिमित्तं प्रत्येकं द्वौ द्वौ पणौ, अजाविके पुनः प्रत्येकं पादं पादम् । 'दद्यात्' इति सर्वत्रानुषज्यते । अजाविकमिति समासनिर्देशेऽपि 'पादं पादम्' इति वीप्साबलात्प्रत्येकं संबन्धोऽवगम्यते ॥ १७४ ॥

भाषा—एक खुरवाले घोड़े आदि पशुओं के खो जाने के बाद पुनः मिलने पर चार, खोये हुए मनुष्य के मिलने पर पाँच, भैंस, ऊँट और गाय के मिलने पर दो-दो पण और बकरा तथा भेंड़ के मिलने पर चौथाई पण राजा को देवे ॥ १७४ ॥

इत्यस्वामिविक्रयप्रकरणम् ।

अथ दत्ताप्रदानिकप्रकरणम् १२

अधुना विहिताविहितमार्गद्वयाश्रयतया द[2]त्तानपकर्म दत्ताप्रदानिकमिति च लब्धाभिधानद्वयं दानाख्यं व्यवहारपदमभिधीयते । तत्स्वरूपं च नारदेनोक्तम् (४।१)—'दत्त्वा द्रव्यमसम्यग्यः पुनरादातुमिच्छति । दत्ताप्रदानिकं नाम व्यवहारपदं हि तत् ॥' इति । असम्यगविहितमार्गाश्रयेण द्रव्यं दत्त्वा पुनरादातुमिच्छति यस्मिन्वि[3]वादपदे तद्दत्ताप्रदानिकम्—दत्तस्याप्रदानं पुनर्हरणं यस्मिन्दानाख्ये तद्दत्ताप्रदानिकं नाम व्यवहारपदम् । विहितमार्गाश्रयत्वेन तत्प्रतिपक्षभूतं तदेव व्यवहारपदं दत्तानप[2]कर्मेत्यर्थादुक्तं भवति। दत्तस्यानपकर्म अपुनरादा[4]नाख्यं यत्र दानाख्ये विवादपदे तद्दत्तानपकर्म । तच्च देयादेयादिभेदेन चतुर्विधम् । यथाऽऽह नारदः (४।२)—'अथ देयमदेयं च दत्तं वाऽदत्तमेव च । व्यवहारेषु विज्ञेयो दानमार्गश्चतुर्विधः ॥' इति । तत्र देयमित्यनिषिद्धदानक्रियायोग्यमुच्यते । अदेयमस्वतया निषिद्धतया वा दानानर्हम् । यत्पुनः प्रकृतिस्थेन दत्तमव्यावर्तनीयं तद्दत्तमुच्यते । अदत्तं तु यत्प्रत्याहरणीयं तत्कथ्यते । तदेतत्संक्षेपतो निरूपयितुमाह—

स्वं कुटुम्बाविरोधेन देयं

स्वमात्मीयं कुटुम्बाविरोधेन कुटुम्बानुपरोधेन, कुटुम्बभरणावशिष्टमिति यावत् । तद्दद्यात्; तद्भरणस्यावश्यकत्वात् । यथाऽऽह मनुः (११।१०)—

1. माहिषोष्ट्र । 2. दत्तानपाकर्म । 3. व्यवहारपदे । 4. रादानं ।

'वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या सुतः शिशुः । अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत् ॥' इति । 'कुटुम्बाविरोधेन' इत्यनेनादेयमेकविधं दर्शयति । 'स्वं दद्यात्' इत्यनेन चास्वभूतानामन्वाहितयाचितकाधिसाधारणनिक्षेपाणां पञ्चानाम-प्यदेयत्वं व्यतिरेकतो दर्शितम् ॥ यत्पुनर्नारदेनाष्टविधत्वमदेयानामुक्तम् (४।३-४)—'अन्वाहितं याचितकमाधिः साधारणं च यत् । निक्षेपः पुत्रदारं च सर्वस्वं चान्वये सति ॥ आपत्स्वपि हि कष्टासु वर्तमानेन देहिना । अदेयान्याहुराचार्या यच्चान्यस्मै प्रतिश्रुतम् ॥' इति,-एतददेयत्वमात्राभिप्रायेण, न पुनः स्वत्वाभावा-भिप्रायेण; पुत्रदारसर्वस्वप्रतिश्रुतेषु स्वत्वस्य सद्भावात् । अन्वाहितादीनां स्वरूपं च प्रागेव प्रपञ्चितम् ॥

'स्वं दद्यात्' इत्यनेन दारसुतादेरपि स्वत्वाविशेषेण देयत्वप्रसक्तौ प्रतिषेधमाह—

दारसुतादृते ।
नान्वये[1] सति सर्वस्वं यच्चान्यस्मै प्रतिश्रुतम् ॥ १७५ ॥

दारसुतादृते दारसुतव्यतिरिक्तं स्वं दद्यात्, न दारसुतमित्यर्थः । तथा पुत्रपौत्राद्यन्वये विद्यमाने सर्वं धनं न दद्यात्; 'पुत्रानुत्पाद्य संस्कृत्य वृत्तिं चैषां प्रकल्पयेत्' इति स्मरणात । तथा हिरण्यादिकमन्यस्मै प्रतिश्रुतमन्यस्मै न देयम् ॥ १७५ ॥

भाषा—दान इतना ही देना चाहिए जिससे अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण में कठिनाई न हो । पुत्र और स्त्री दान में न देवे । यदि पुत्र और पौत्र आदि हों तो सब कुछ दान नहीं करना चाहिए ॥ १७५ ॥

एवं दारसुतादिव्यतिरिक्तं देयमुक्त्वा प्रसङ्गाद्देयधनग्रहणं च प्रतिग्रहीत्रा प्रकाशमेव कर्तव्यमित्याह—

प्रतिग्रहः प्रकाशः स्यात्स्थावरस्य विशेषतः ।

प्रतिग्रहणं प्रतिग्रहः सः प्रकाशः कर्तव्यो विवादनिराकरणार्थम् । स्थाव-रस्य च विशेषतः प्रकाशमेव ग्रहणं कार्यम् ; तस्य सुवर्णादिवदात्मनि स्थितस्य दर्शयितुमशक्यत्वात् ॥—

एवं प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रकृतमनुसरन्नाह—

देयं प्रतिश्रुतं चैव दत्त्वा नापहरेत्पुनः ॥ १७६ ॥

देयं प्रतिश्रुतं चैव—यद्यस्मै धर्मार्थं प्रतिश्रुतं तत्तस्मै देयमेव यद्यसौ [2]धर्मा-त्प्रच्युतो न भवति । प्रच्युते न पुनर्दातव्यम्; 'प्रतिश्रुत्याप्यधर्मसंयुक्ताय न

1. नान्वये सति सर्वस्वं देयं यच्चान्यसंश्रितम् । 2. धर्मप्रच्युतो ।

दद्यात्' (गौ० ५।२३) इति गौतमस्मरणात्। दत्त्वा नापहरेत्पुनः न्यायमार्गेण यद्दत्तं तत्सप्तविधमपि पुनर्नापहर्तव्यम्; किंतु तथैवानुमन्तव्यम्। यत्पुनरन्यायेन दत्तं तददत्तं षोडशप्रकारमपि प्रत्याहर्तव्यमेवेत्यर्थादुक्तं भवति। नारदेन च (४।३)–'दत्तं सप्तविधं प्रोक्तमदत्तं षोडशात्मकम्' इति प्रतिपाद्य दत्तादत्तयोः स्वरूपं विवृतम्—'पण्यमूल्यं भृतिस्तुष्ट्या स्नेहात्प्रत्युपकारतः। स्त्रीशुल्कानुग्रहार्थं च दत्तं दानविदो विदुः॥ अदत्तं तु भयक्रोधशोकवेगरुजान्वितैः। तथोत्कोचपरीहासव्यत्यासच्छलयोगतः॥ बालमूढास्वतन्त्रार्तमत्तोन्मत्तापवर्जितम्। कर्ता ममेदं कर्मेति प्रतिलाभेच्छया च यत्॥ अपात्रे पात्रमित्युक्ते कार्ये चाधर्म[1]संहिते। यद्दत्तं स्यादविज्ञानाददत्तमिति तत्स्मृतम्॥' (ना० ४।८, १९, ११) इति। अयमर्थः—पण्यस्य क्रीतद्रव्यस्य यन्मूल्यं दत्तम्, भृतिर्वेतनं कृतकर्मणे दत्तम्, तुष्ट्या बन्दिचारणादिभ्यो दत्तम्, स्नेहाद् दुहितृपुत्रादिभ्यो दत्तम्, प्रत्युपकारतः [2]उपकृतवते प्रत्युपकाररूपेण दत्तम्, स्त्रीशुल्कं परिणयनार्थं कन्याज्ञातिभ्यो यद्दत्तम्, यच्चानुग्रहार्थमदृष्टार्थं दत्तम्; तदेतत्सप्तविधमपि दत्तमेव न प्रत्याहरणीयम्। भयेन बन्दिग्राहादिभ्यो दत्तम्, क्रोधेन [3]पुत्रादिभ्यो वैरनिर्यातनायान्यस्मै दत्तम्, पुत्रवियोगादिनिमित्तशोकावेशेन दत्तम्, उत्कोचेन कार्यप्रतिबन्धनिरासार्थमधिकृतेभ्यो दत्तम्, परिहासेनोपहासेन दत्तम्। [4]एकः स्वं द्रव्यमन्यस्मै ददात्यन्योऽपि तस्मै ददातीति दानव्यत्यासः। छलयोगतः शतदानमभिसंधाय सहस्रमिति परिभाष्य ददाति। बालेना[5]प्राप्तषोडशवर्षेण, मूढेन लोक[6]वादानभिज्ञेन, अस्वतन्त्रेण पुत्रदासादिना, आर्तेन रोगाभिभूतेन, मत्तेन मदनीयमत्तेन, उन्मत्तेन वातिकाद्युन्मादग्रस्तेन वा, अपवर्जितं दत्तम्, तथा–'अयं म[7]दीयमिदं कर्म करिष्यति' इति प्रतिलाभेच्छया दत्तम्, अचतुर्वेदाय 'चतुर्वेदोऽहम्' इत्युक्तवते दत्तम्, 'यज्ञं करिष्यामी'ति धनं लब्ध्वा द्यूतादौ विनियुञ्जानाय दत्तम्, इत्येवं षोडशप्रकारमपि दत्तमदत्तमित्युच्यते; प्रत्याहरणीयत्वात्। आर्तदत्तस्यादत्तत्वं धर्मकार्यव्यतिरिक्तविषयम्; 'स्वस्थेनार्तेन वा दत्तं श्रावितं धर्मकारणात्। अदत्त्वा तु मृते दाप्यस्तत्सुतो नात्र संशयः॥' इति कात्यायनस्मरणात्॥ तथेदमपरं संक्षिप्तार्थवचनं सर्वविवादसाधारणम्॥ (मनुः ८।१६५)—'योगाधमनविक्रीतं योगदानप्रतिग्रहम्। यत्र वाऽप्युपधिं पश्येत्तत्सर्वं विनिवर्तयेत्॥' इति॥ योग उपाधिः। ये[8]नागामिनोपाधिविशेषेणाधिविक्रयदानप्रतिग्रहाः कृतास्तदुपाधिवि[9]गमे तान् क्रयादीन्विनिवर्तयेदित्य-

---

१. धर्मसंयुते। २. उपकृते। ३. पुत्रादिवैर। ४. एकोऽपि स्वं द्रव्य। ५. अप्राप्तव्यवहारेण। ६. लोकवेदा। ७. मदीयं कर्म। ८. येनोपाधि। ९. विगमे क्रयादीन्।

स्यार्थः। यः पुनः षोडशप्रकारमपि अदत्तं गृह्णाति, यश्चादेयं प्रयच्छति, तयोर्दण्डो नारदेनोक्तः (८।१६५)—'गृह्णात्यदत्तं यो लोभाद्यश्चादेयं प्रयच्छति। अदेयदायको दण्ड्यस्तथा दत्तप्रतीच्छकः॥' इति॥ १७६॥

भाषा—दान सबके समक्ष लेना चाहिए और वह भी विशेषतः स्थावर (भूमि आदि) का दान तो सबके सामने लेना चाहिए। जो वस्तु जिसको देने का संकल्प किया हो उसे वह वस्तु अवश्य देवे और देकर पुनः अपहरण न करे॥ १७६॥

इति दत्ताप्रदानिकं नाम प्रकरणम्।

अथ क्रीतानुशयप्रकरणम् १३

अथ क्रीतानुशयः कथ्यते। तत्स्वरूपं च नारदेनोक्तम् (९।१)—'क्रीत्वा मूल्येन यः पण्यं क्रेता न बहु मन्यते। क्रीतानुशय इत्येतद्विवादपदमुच्यते॥' इति। तत्र च यस्मिन्नहनि पण्यं क्रीतं तस्मिन्नेवाह्नि तदविकृतं प्रत्यर्पणीयमिति तेनैवोक्तम्—'क्रीत्वा मूल्येन यत्पण्यं दुःक्रीतं मन्यते क्रयी। विक्रेतुः प्रतिदेयं तत्तस्मिन्नेवाह्न्यविक्षतम्[1]॥ (ना० ९।२ इति)। द्वितीयादिदिने तु प्रत्यर्पणे विशेषस्तेनैवोक्तः—द्वितीयेऽह्नि ददत्क्रेता मूल्यात्त्रिंशांशमाहरेत्[2]। द्विगुणं तु तृतीयेऽह्नि परतः क्रेतुरेव तत्॥' (ना० ९।३) इति॥ परतोऽनुशयो न कर्तव्य इत्यर्थः। एतच्च बीजादिव्यतिरिक्तोपभोगादिविनश्वरवस्तुविषयम्॥

बीजादिक्रये पुनरन्य एव प्रत्यर्पणावधिरित्याह—

दशैकपञ्चसप्ताहमासत्र्यहार्धमासिकम्।
बीजायोवाह्यरत्नस्त्रीदोह्यपुंसां परीक्षणम्॥ १७७॥

बीजं व्रीह्यादिबीजम्, अयो [3]लोहम्, वाह्यो बलीवर्दादिः, रत्नं मुक्ताप्रवालादि, स्त्री दासी, दोह्यं [4]महिष्यादि, पुमान् दासः; एषां बीजादीनां यथाक्रमेण दशाहादिकः परीक्षाकालो विज्ञेयः। परीक्ष्यमाणे च बीजादौ यद्यन्यथात्वबुद्ध्याऽनुशयो भवति तदा दशाहाद्यभ्यन्तर एव क्रयनिवृत्तिः, न पुनरूर्ध्वमित्युपदेशप्रयोजनम्। यत्तु मनुवचनम् (८।२२२)—'क्रीत्वा विक्रीय वा किंचिद्यस्येहानुशयो भवेत्। सोऽन्तर्दशाहात्तद्द्रव्यं दद्याच्चैवाददीत च॥' इति,—तदुक्तलोहादिव्यतिरिक्तो[5]पभोगविनश्वरगृहक्षेत्रयानशयनासनादिविषयम्। सर्वं चैतदपरीक्षितक्रीतविषयम्। यत्पुनः प[6]रीक्षितं 'न पुनः प्रत्यर्पणीयम्' इति समयं कृत्वा क्रीतं-

---

१. तस्मिन्नह्नि वीक्षितम्। २. मावहेत्। ३. लोहादि। ४. माहिष्यादि। ५. पभोगविनश्वर। ६. परीक्ष्य।

तद्विक्रेत्रे न प्रत्यर्पणीयम्; तदुक्तम्—'क्रेता पण्यं परीक्षेत प्राक् स्वयं गुणदोषतः। परीक्ष्याभिमतं क्रीतं विक्रेतुर्न भवेत्पुनः ॥' (ना० ३।८) इति ॥ १७७ ॥

भाषा—व्रीहि आदि का बीज, लोहा, भार ढोने वाले बैल आदि पशु, रत्न, स्त्री (दासी) भैंस आदि दूध देने वाले पशु और पुरुष (दास) का क्रय के उपरान्त परीक्षण का काल क्रमशः दस, एक, पाँच, सात, दिन, एक मास, ३ दिन और एक पक्ष का होता है। (अर्थात् निर्दिष्ट समय के भीतर ही फेर बदल हो सकता है) ॥ १७७ ॥

दोह्यादिपरीक्षाप्रसङ्गेन स्वर्णादेरपि परीक्षामाह—

> अग्नौ सुवर्णमक्षीणं [1]रजते द्विपलं शते ।
> अष्टौ त्रपुणि सीसे च ताम्रे पञ्च दशायसि ॥ १७८ ॥

वह्नौ प्रताप्यमानं सुवर्णं न क्षीयते, अतः कटकादिनिर्माणार्थं यावत्स्वर्णकारहस्ते प्रक्षिप्तं तावत्तुलितं तैः प्रत्यर्पणीयम्; इतरथा क्षयं दाप्या दण्ड्याश्च। रजते तु शतपले प्रताप्यमाने पलद्वयं क्षीयते। अष्टौ त्रपुणि सीसे च, 'शते' इत्यनुवर्तते। त्रपुणि सीसे च शतपले प्रताप्यमानेऽष्टौ पलानि क्षीयन्ते। ताम्रे पञ्च, दशायसि,—ताम्रे शतपले पञ्चपलानि, अयसि दशपलानि क्षीयन्ते। अत्रापि 'शते' इत्येव। कांस्यस्य तु त्रपुताम्रयोनित्वात्त[2]दनुसारेण क्षयः कल्पनीयः। [3]ततोऽधिकक्षयकारिणः शिल्पिनो दण्ड्याः ॥ १७८ ॥

भाषा—आग में तपाने पर सोना कम नहीं होता, चाँदी सौ में दो पल कम हो जाती है, पीतल और शीशा सौ में आठ पल, ताँबा पाँच पल और लोहा दस पल घट जाता है ॥ १७८ ॥

क्वचित्कम्बलादौ वृद्धिमाह—

> शते दशपला वृद्धिरौर्णे [4]कार्पाससौत्रिके ।
> मध्ये पञ्चपला वृद्धिः सूक्ष्मे तु त्रिपला मता ॥ १७९ ॥

स्थूलेनौर्णसूत्रेण यत्कम्बलादिकं क्रियते तस्मिन् शतपले दशपला वृद्धिर्वेदितव्या। एवं कार्पाससूत्रनिर्मिते पटादौ वेदितव्यम्। मध्ये अनतिसूक्ष्मसूत्रनिर्मिते पटादौ पञ्चपला वृद्धिः। सुसूक्ष्मसूत्ररचिते शते त्रिपला वृद्धिर्वेदितव्या। एतच्चाप्रक्षालितवासोविषयम् ॥ १७९ ॥

---

१. द्विपलं रजते शतम्। अष्टौ तु त्रपुसीसे च। २. तदंशानुसारेण। ३. इतोऽधिक। ४. कार्पासिके तथा, कार्पासकेऽथ वा। मध्ये पञ्चपला हानिः।

भाषा—ऊन और कपास के मोटे सूत से कम्बल आदि बनाने में सौ पल में दस पल, मोटाई में मध्यम श्रेणी के सूत में पाँच पल और पतले सूत से बनी वस्तु में सौ पल में तीन पल की वृद्धि समझनी चाहिए ॥ १७९ ॥

द्रव्यान्तरे विशेषमाह—

कार्मिके रोमबद्धे च त्रिंशद्भागः क्षयो मतः।
न क्षयो न च वृद्धिश्च[1] कौशेये वाल्कलेषु[2] च ॥ १८० ॥

कार्मिकं कर्मणा चित्रेण निर्मितम्। यत्र निष्पन्ने पटे चक्रस्वस्तिकादिकं चित्रं[3] सूत्रैः क्रियते तत्कार्मिकमित्युच्यते। यत्र प्रावारादौ[4] रोमाणि बध्यन्ते स रोमबद्धः,[5] तत्र त्रिंशत्तमो भागः क्षयो वेदितव्यः कौशेये कोशप्रभवे वाल्कलेषु वृक्षत्वङ्निर्मितेषु वसनेषु वृद्धिह्रासौ न स्तः, किंतु यावद्वयनार्थं[6] कुविन्दादिभ्यो दत्तं तावदेव प्रत्यादेयम् ॥ १८० ॥

भाषा—कसीदाकारी, और किनारों में रोम बाँधने में तीसवें भाग का क्षय बताया जाता है। कौशेय और वल्कल के वस्त्र बनवाने में न तो कमी होती है और न वृद्धि ही होती है ॥ १८० ॥

द्रव्यानन्त्यात्प्रतिद्रव्यं क्षयवृद्धिप्रतिपादनाशक्तेः सामान्येन ह्रासवृद्धिज्ञानोपायमाह—

देशं कालं च भोगं च ज्ञात्वा नष्टे बलाबलम्।
द्रव्याणां कुशला[7] ब्रूयुर्यत्तद्दाप्यमसंशयम् ॥ १८१ ॥

शाणक्षौमादौ द्रव्ये नष्टे ह्रासमुपगते द्रव्याणां कुशलाः द्रव्यवृद्धिक्षयाभिज्ञाः देशं कालमुपभोगं तथा नष्टद्रव्यस्य बलाबलं सारासारतां च परीक्ष्य यत्कल्पयन्ति तदसंशयं शिल्पिनो दाप्याः ॥ १८१ ॥

भाषा—द्रव्य के नष्ट हो जाने पर देश, काल, भोग उस वस्तु की सारता और असारता जानकर उस द्रव्य के विषय में विशेष ज्ञान रखने वाले जितना कहें उतना ही (शिल्पियों को) दिलाना चाहिए ॥ १८१ ॥

इति क्रीतानुशयप्रकरणम्।

अथाभ्युपेत्याशुश्रूषाप्रकरणम् १४

सांप्रतमभ्युपेत्याशुश्रूषाख्यमपरं विवादपदमभिधातुमुपक्रमते तत्स्वरूपं च नारदेनोक्तम् (५।१)—'अभ्युपेत्य तु शुश्रूषां यस्तां न प्रतिपद्यते। अशु-

१. वृद्धिः स्यात्। २. वाल्कले तथा. वल्कलेषु.। ३. चित्रं सूत्रैः। ४. प्रान्तादौ। ५. रोमबन्धः। ६. यावद्वानार्थं। ७. यत्तद्दाप्या असंशयम् यत्तद्दाप्यमृणद्वयम्।

श्रूषाभ्युपेत्यैतद्विवादपदमुच्यते ॥' इति । [1]आज्ञाकरणं शुश्रूषा, तामङ्गीकृत्य पश्चाद्यो न संपादयति तद्विवादपदमभ्युपेत्याशुश्रूषाख्यम् । शुश्रूषकश्च पञ्चविधः– शिष्योऽन्तेवासी भृतकोऽधिकर्मकृद्दास इति । तेषामाद्याश्चत्वारः कर्मकरा इत्युच्यन्ते । ते च शुभकर्मकारिणः । दासाः पुनर्गृहजातादयः पञ्चदशप्रकाराः– गृहद्वाराशुचिस्थानरथ्यावस्करशोधनाद्यशुभकर्मकारिणः । तदिदं नारदेन स्पष्टीकृतम्—'शुश्रूषकः पञ्चविधः शास्त्रे दृष्टो मनीषिभिः । चतुर्विधः कर्मकरस्तेषां दासास्त्रिपञ्चकाः ॥ शिष्यान्तेवासिभृतकाश्चतुर्थस्त्वधिकर्मकृत् । एते कर्मकरा ज्ञेया दासास्तु गृहजादयः ॥ सामान्यमस्वतन्त्रत्वमेषामाहुर्मनीषिणः । जातिकर्मकृतस्तूक्तो[3] विशेषो वृत्तिरेव च ॥ कर्मापि द्विविधं ज्ञेयमशुभं शुभमेव च । अशुभं दासकर्मोक्तं शुभं कर्मकृतां स्मृतम् ॥ गृहद्वाराशुचिस्थानरथ्यावस्करशोधनम् । गुह्याङ्गस्पर्शनोच्छिष्टविण्मूत्रग्रहणोज्झनम् ॥ इच्छतः [4]स्वामिनश्चाङ्गैरुपस्थानमथान्ततः । अशुभं कर्म विज्ञेयं शुभमन्यदतः परम् ॥' (ना० ५।२–७) इति ॥ तत्र शिष्यो वेदविद्यार्थी, अन्तेवासी शिल्पशिक्षार्थी, मूल्येन यः कर्म करोति स भृतकः, कर्मकुर्वतामधिष्ठाताऽधिकर्मकृत्, अशुचिस्थानमुच्छिष्टप्रक्षेपार्थं गर्तादिकम् , अवस्करो गृहमार्जितपांस्वादिनिचयस्थानम् , उज्झनं त्यागः । भृतकश्चात्र त्रिविधः । तदुक्तम्—'उत्तमस्त्वायुधीयोऽत्र मध्यमस्तु कृषीवलः । अधमो भारवाही स्यादित्येवं त्रिविधो भृतः ॥' (ना० ५।२२) इति । दासाः पुनः—'गृहजातस्तथा क्रीतो लब्धो दायादुपागतः । अनाकालभृतस्तद्वदाहितः स्वामिना च यः ॥ मोक्षितो महतश्चर्णाद्युद्धप्राप्तः पणे जितः । तवाहमित्युपगतः प्रव्रज्यावसितः कृतः ॥ भक्तदासश्च विज्ञेयस्तथैव वडवाहृतः । विक्रेता चात्मनः शास्त्रे दासाः पञ्चदश स्मृताः ॥' (ना० ५।२६) गृहे दास्यां जातो गृहजातः, क्रीतो मूल्येन, लब्धः प्रतिग्रहादिना, दायादुपागतः पित्रादिदासः, अनाकालभृतो दुर्भिक्षे यो दासत्वाय मरणाद्रक्षितः, आहितः स्वामिना धनग्रहणेनाधितां नीतः, ऋणमोचनेन दासत्वमभ्युपगतो ऋणदासः, युद्धप्राप्तः समरे विजित्य गृहीतः, पणे जितः–'यद्यस्मिन्विवादे पराजितोऽहं तदा त्वद्दासो भवामि' इति परिभाष्य जितः; तवाहमित्युपगतः 'तवाहं दासः' इति स्वयं संप्रतिपन्नः, प्रव्रज्यावसितः प्रव्रज्यातश्च्युतः, कृतः 'एतावत्कालं त्वद्दासः' इत्यभ्युपगमितः, भक्तदासः सर्वकालं भक्तार्थमेव दासत्वमभ्युपगम्य यः प्रविष्टः, वडवाहृतः–वडवा गृहदासी तया हृतः तल्लोभेन तामुद्वाह्य दासत्वेन प्रविष्टः, य आत्मानं विक्रीणीतेऽसावात्मविक्रेता; इत्येवं पञ्चदश प्रकाराः ॥ यत्तु मनुना (८।४१५)—'ध्वजाहृतो भक्तदासो गृहजः क्रीतदत्त्रिमौ । पैतृको दण्डदासश्च

१. आज्ञाकारणं । २. आधिकर्मकृत् । ३. कर्मकरस्तूक्तो । ४. स्वामिनः स्वाङ्गैः । ५. निर्वापस्थानम् । ६. भृतश्चैव । ७. मोचितो ।

सप्तैते दासयोनयः ॥' इति सप्तविधत्वमुक्तं,-तत्तेषां दासत्वप्रतिपादनार्थं, न तु परिसंख्यार्थम् । तत्रैषां शिष्यान्तेवासिभृतकाधिकर्मकृद्दासानां मध्ये शिष्यवृत्तिः प्रागेव प्रतिपादिता ।—'आहूतश्चाप्यधीयीत लब्धं चास्मै निवेदयेत्' (आ० २७) इत्यादिना । अधिकर्मकृद्भृतकानां तु भृतिं वेतनादानप्रकरणे वक्ष्यते ।—'यो यावत्कुरुते कर्म तावत्तस्य तु वेतनम्' (व्य० १९६) इत्यादिना ॥

दासान्तेवासिनोस्तु धर्मविशेषं वक्तुमाह—

बलाद्दासीकृतश्चौरैर्विक्रीतश्चापि मुच्यते ।
स्वामिप्राणप्रदो [4]भक्तत्यागात्तन्निष्क्रयादपि ॥ १८२ ॥

बलात् बलावष्टम्भेन यो दासीकृतः, यश्चौरैरपहृत्य विक्रीतः, 'अपि'शब्दादाहितो दत्तश्च; स मुच्यते । यदि स्वामी न मुञ्चति तर्हि राज्ञा मोचयितव्यः । उक्तं च नारदेन (५।३८)—'चौरापहृतविक्रीता ये च दासीकृता बलात् । राज्ञा मोचयितव्यास्ते दास्यं तेषु हि नेष्यते ॥' इति । चौरव्याघ्राद्यवरुद्धस्य स्वामिनः प्राणान्यः प्रददाति स्वत्यसावपि मोचयितव्यः । तदिदं सर्वदासानां साधारणं दास्यनिवृत्तिकारणम् ।—'यश्चैषां स्वामिनं कश्चिन्मोचयेत्प्राणसंशयात् । दासत्वात्स विमुच्येत पुत्रभागं लभेत च ॥' (५।३०) इति नारदस्मरणात् ॥ भक्तदासादीनां प्रातिस्विकमपि मोक्षकरणमुच्यते । अनाकालभृतभक्तदासौ भक्तस्य त्यागाद्दासभावादारभ्य स्वामिद्रव्यं यावदुपभुक्तं तावद्दत्वा मुच्येते । आहितर्णदासौ तु तन्निष्क्रयात् यद्गृहीत्वा स्वामिना आहितः, यच्च दत्वा धनिनोत्तमर्णान्मोचितः, तस्य निष्क्रयात्सवृद्धिकस्य प्रत्यर्पणान्मुच्यते । नारदेन विशेषोऽप्युक्तः—'अनाकालभृतो दास्यान्मुच्यते गोयुगं ददत् । संभक्षितं यदुर्भिक्षे न तच्छुद्ध्येत कर्मणा ॥' 'भक्तस्योत्क्षेपणात्सद्यो भक्तदासः प्रमुच्यते ।', 'आहितोऽपि धनं दत्वा स्वामी यद्येनमुद्धरेत् ॥', 'ऋणं तु सोदयं दत्वा ऋणी दास्यात्प्रमुच्यते (ना० ५।३१, २९, ३२, ३३) ॥' इति ॥ तथा 'तवाहम्' इत्युपगतयुद्धप्राप्तपणजितकृतकवडवाहृतानां च प्रातिस्विकं मोचनकारणं च तेनैवोक्तम्—'तवाहमित्युपगतो युद्धप्राप्तः पणे जितः । प्रतिशीर्षप्रदानेन मुच्येरँस्तुल्यकर्मणा ॥', 'कृतकालव्यपगमात्कृतकोऽपि विमुच्यते ।', 'निग्रहाद्वडवायास्तु मुच्यते वडवाहृतः ॥' (ना० ५।३४, ३३, ३७) इति । दासेन सह संभोगनिरोधादित्यर्थः । तदेवं गृहजातक्रीतलब्धदायप्राप्तात्मविक्रयिणां स्वामिप्राणप्रदानतत्प्रसादरूपसाधारणकारणव्यतिरेकेण मोक्षो नास्ति; विशेषकारणानभि-

३. प्रतिपादनपरम् । ४. भक्तस्त्यागात्त । भाक्तस्तत्यागान्निष्क्रयादपि (= भाक्तः भक्तदासः) । ५. मोचनीयः । ६. कृतवडवा । ७. नारदेनैव । ८. प्रदानात्तत्प्रसाद ।

धानात् । दासमोक्षश्चानेन क्रमेण कर्तव्यः—'स्वं दासमिच्छेद्यः कर्तुमदासं प्रीतमानसः । स्कन्धादादाय तस्यासौ भिन्द्यात्कुम्भं सहाम्भसा ॥ साक्षताभिः सपुष्पाभिर्मूर्धन्यद्भिरवाकिरेत् । अदास इत्यथोक्त्वा त्रिः प्राङ्मुखं तमवासृजेत् ॥' (ना० ५।४२, ४३) इति तेनैवोक्तम् ॥ १८२ ॥

भाषा—बलपूर्वक बनाया गया और चोरों द्वारा बेचा गया दास स्वामी का प्राण बचाने पर, स्वामी के खाये हुए धन को लौटाने पर अथवा निष्क्रय का मूल्य चुका देने पर (दासता से) मुक्त हो जाता है ॥ १८२ ॥

प्रव्रज्यावसितस्य तु मोक्षो नास्तीत्याह—

प्रव्रज्यावसितो राज्ञो दास [1]आमरणान्तिकम् ।

प्रव्रज्या संन्यासः, ततोऽवसितः प्रच्युतः । अनभ्युपगतप्रायश्चित्तश्चेद्राज्ञ एव दासो भवति । मरणमेव [2]तद्दासत्वस्यान्तो नान्तरा प्रतिमोक्षोऽस्ति ॥–

वर्णापेक्षया दास्यव्यवस्थामाह—

वर्णानामानुलोम्येन दास्यं न प्रतिलोमतः ॥ १८३ ॥

ब्राह्मणादीनां वर्णानामानुलोम्येन दास्यम्–ब्राह्मणस्य क्षत्रियादयः, क्षत्रियस्य वैश्यशूद्रौ, वैश्यस्य शूद्र इत्येवमानुलोम्येन दासभावो भवति, न प्रातिलोम्येन । स्वधर्मत्यागिनः पुनः परिव्राजकस्य प्रातिलोम्येनापि दासत्वमिष्यत एव; यथाह नारदः (५।३९)—'वर्णानां प्रातिलोम्येन दासत्वं न विधीयते । स्वधर्मत्यागिनोऽन्यत्र दारवद् दासता मता ॥' इति ॥ १८३ ॥

भाषा—संन्यास से च्युत व्यक्ति जीवन भर राजा का दास होकर रहता है । दास्य भाव वर्णों के आनुलोम्य से ही होता है अर्थात् अपने से निम्नवर्ण का ही दास होता है । प्रातिलोम्य नहीं होता (निम्नवर्ण के व्यक्ति का दास उससे उच्चवर्ण वाला नहीं होता) ॥ १८३ ॥

अन्तेवासिधर्मानाह—

कृतशिल्पोऽपि निवसेत्कृतकालं गुरोर्गृहे ।
अन्तेवासी गुरुप्राप्तभोजनस्तत्फलप्रदः ॥ १८४ ॥

अन्तेवासी गुरोर्गृहे कृतकालं 'वर्षचतुष्टयमायुर्वेदादिशिल्पशिक्षार्थं त्वद्गृहे वसामि' इति यावदङ्गीकृतं तावत्कालं वसेत्,–यद्यपि वर्षचतुष्टयादर्वागेव लब्धापेक्षितशिल्पविद्यः । कथं निवसेत् ? गुरुप्राप्तभोजनः गुरोः सकाशात्प्राप्तं [3]भोजनं येन स तथोक्तः, तत्फलप्रदः तस्य शिल्पस्य फलमाचार्याय प्रददातीति तत्फलप्रदः ।

---

१. मरणान्तिकः । २. स्यान्तो नान्तरा प्रतिमोक्षोऽस्ति । ३. भोजनं

तत्फलप्रदः, एवंभूतो वसेत्। नारदेन विशेषोऽप्यत्र दर्शितः—'स्वशिल्पमिच्छन्नाहर्तुं बान्धवानामनुज्ञया। आचार्यस्य वसेदन्ते कृत्वा कालं सुनिश्चितम् ॥ आचार्यः शिक्षयेदेनं स्वगृहे दत्तभोजनम्। न चान्यत्कारयेत्कर्म पुत्रवच्चैनमाचरेत ॥ शिक्षयन्तमसंदुष्टं य आचार्यं परित्यजेत्। बलाद्वासयितव्यः स्याद्वधबन्धौ च सोऽर्हति ॥ शिक्षितोऽपि कृतं कालमन्तेवासी समाप्नुयात्। तत्र कर्म च यत्कुर्यादाचार्यस्यैव तत्फलम् ॥ गृहीतशिल्पः समये कृत्वाचार्यं प्रदक्षिणम्। शिक्षितश्चानुमान्यैनमन्तेवासी निवर्तते ॥' (ना० ५।१६-२०) इति। 'वध'शब्दोऽत्र ताडनार्थः; दोषस्याल्पत्वात् ॥ १८४ ॥

भाषा—पहले निवास की अवधि निश्चित करके गुरु के घर रहने वाला ब्रह्मचारी उसके पूर्व विद्या समाप्त कर लेने पर भी अपनी जीविका का शिल्प सीखकर उसका फल गुरु को देते हुए और गुरु द्वारा दिया गया भोजन ग्रहण करता हुआ उन्हीं के निकट निवास करे ॥ १८४ ॥

इत्यभ्युपेत्याशुश्रूषाख्यं विवादप्रकरणम्।

अथ संविद्व्यतिक्रमप्रकरणम् १५

संप्रति संविद्व्यतिक्रमः कथ्यते; तस्य च लक्षणं नारदेन व्यतिरेकमुखेन दर्शितम्—'पाखण्डिनैगमादीनां स्थितिः समय उच्यते। समयस्यानपाकर्म तद्विवादपदं[1] स्मृतम् ॥' इति पारिभाषिकधर्मेण व्यवस्थानं समयः, तस्यानपाकर्माव्यतिक्रमः परिपालनं तद्व्यतिक्रम्यमाणं विवादपदं भवतीत्यर्थः ॥

तदुपक्रमार्थं किंचिदाह—

> **राजा कृत्वा पुरे स्थानं ब्राह्मणान्न्यस्य तत्र तु।**
> **[2]त्रैविद्यं वृत्तिमद्ब्रूयात्स्वधर्मः पाल्यतामिति ॥ १८५ ॥**

राजा स्वपुरे दुर्गादौ स्थानं धवलगृहादिकं कृत्वा तत्र ब्राह्मणान्न्यस्य स्थापयित्वा [3]तद्ब्राह्मणव्रातं त्रैविद्यं वेदत्रयसंपन्नं वृत्तिमद्भूहिरण्यादिसंपन्नं च कृत्वा स्वधर्मो वर्णाश्रमनिमित्तः श्रुतिस्मृतिविहितो भवद्भिरनुष्ठीयतामिति तान्ब्राह्मणान्ब्रूयात् ॥ १८५ ॥

भाषा—राजा अपने दुर्ग में स्थान बनाकर उसमें तीनों वेदों के अध्ययन से सम्पन्न, ब्राह्मणों को बुलाकर उन्हें कुछ वृत्ति देकर उनसे कहे कि आप लोग अपने धर्म का पालन करें ॥ १८५ ॥

---

१. व्यवहारपदं। २. त्रैविद्यान्। ३. तद्ब्राह्मणव्रातं।

एवं नियुक्तैस्तैर्यत्कर्म कर्तव्यं तदाह—

निजधर्माविरोधेन यस्तु सामयिको भवेत् ।
सोऽपि यत्नेन संरक्ष्यो धर्मो राजकृतश्च यः ॥ १८६ ॥

श्रौतस्मार्तधर्मानुपमर्देन समयान्निष्पन्नो यो धर्मो गोप्रचारोदकरक्षण-देवगृहपालनादिरूपः सोऽपि यत्नेन पालनीयः। तथा राज्ञा च निजधर्मा-विरोधेनैव यः सामयिको धर्मो 'यावत्पथिकं भोजनं देयमस्मद्दशातिमण्डलं तुरङ्गादयो न प्रस्थापनीया' इत्येवंरूपः कृतः सोऽपि रक्षणीयः ॥ १८६ ॥

भाषा—अपने धर्म के अनुकूल जो धर्म सामयिक हो तथा राजा द्वारा निर्दिष्ट धर्म की यत्नपूर्वक रक्षा करें ॥ १८६ ॥

एवं समयधर्मः परिपालनीय इत्युक्त्वा तदतिक्रमादौ दण्डमाह—

गणद्रव्यं हरेद्यस्तु संविदं लङ्घयेच्च यः ।
सर्वस्वहरणं कृत्वा तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥ १८७ ॥

यः पुनर्गणस्य ग्रामादिजनसमूहस्य संबन्धि साधारणं द्रव्यमपहरति, संवित् समयस्तां समूहकृतां राजकृतां वा यो लङ्घयेदतिक्रामेत्, तदीयं सर्वं धनमपहृत्य, स्वराष्ट्राद्विप्रवासयेन्निष्कासयेत् ॥ अयं च दण्डोऽनुबन्धाद्य-तिशये द्रष्टव्यः ॥ अनुबन्धाल्पत्वे तु (मनुः ८।२१९-२२०)—'यो ग्रामदेश-संघानां कृत्वा सत्येन संविदम् । विसंवदेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥ निगृह्य दापयेदेनं समयव्यभिचारिणम् । चतुःसुवर्णं षण्निष्कांश्छतमानं च राजतम् ॥' इति मनुप्रतिपादितदण्डानां निर्वासनचतुःसुवर्णषण्निष्कशतमानानां चतुर्णामन्यतमो जातिशक्त्याद्यपेक्षया कल्पनीयः ॥ १८७ ॥

भाषा—जो गण के अर्थात् सबके सामूहिक धन का अधर्मपूर्वक अपहरण करे अथवा राजा द्वारा या समूह द्वारा दी गई व्यवस्था का उल्लंघन करे उसका सम्पूर्ण धन छीनकर उसे राज्य से निर्वासित कर देना चाहिए ॥ १८७ ॥

इदं च तैः कर्तव्यमित्याह—

कर्तव्यं वचनं सर्वैः समूहहितवादिनाम् ।

गणिनां मध्ये ये समूहहितवादनशीलास्तद्वचनमितरैर्गणानामन्तर्गतैर-नुसरणीयम् ॥—

अन्यथा दण्ड इत्याह—

यस्तत्र विपरीतः स्यात्स दाप्यः प्रथमं दमम् ॥ १८८ ॥

---

१. मण्डले । २. राजा विप्रवासयेत् । ३. राज्ञा कृतां । ४. हितवदन ।

यस्तु गणिनां मध्ये समूहहितवादिवचनप्रतिबन्धकारी स राज्ञा प्रथमसाहसं दण्डनीयः ॥ १८८ ॥

भाषा—(गण के व्यक्तियों में) समूह का हित कहे उनका अनुसरण सभी को करना चाहिए। जो उसके (समूह के हित के) विपरीत बोले उसे प्रथम साहस का दण्ड देना चाहिए ॥ १८८ ॥

राज्ञा [1]चेत्थं गणिषु वर्तनीयमित्याह—

समूहकार्य आयातान्कृतकार्यान्विसर्जयेत्।
स दानमानसत्कारैः पूजयित्वा महीपतिः ॥ १८९ ॥

समूहकार्यनिर्वृत्त्यर्थं स्वपार्श्वं प्राप्तान् गणिनो निर्वर्तितात्मीयप्रयोजनान् दानमानसत्कारैः स राजा परितोष्य विसर्जयेत् ॥ १८९ ॥

भाषा—समूह के कार्य के लिये आये हुए व्यक्तियों का कार्य करके राजा उन्हें दान, मान और सत्कार द्वारा सन्तुष्ट करके विदा करे ॥ १८९ ॥

समूहदत्तापहारिणं प्रत्याह—

समूहकार्यप्रहितो यल्लभेत तदर्पयेत्।
एकादशगुणं दाप्यो [2]यद्यसौ नार्पयेत्स्वयम् ॥ १९० ॥

समूहकार्यार्थं महाजनैः प्रेरितो राजपार्श्वे यवसहिरण्यादिकं लभते तदप्रार्थित एव महाजनेभ्यो निवेदयेत्। अन्यथा लब्धादेकादशगुणं दण्डं दापनीयः ॥ १९० ॥

भाषा—समूह के कार्य से भेजा गया व्यक्ति जो कुछ पावे उसे समूह के श्रेष्ठ जनों के समक्ष अर्पित करे। यदि वह ऐसा धन नहीं अर्पित करता है तो उससे उसका ग्यारह गुना दण्ड लेना चाहिए ॥ १९० ॥

एवंप्रकाराश्च कार्यचिन्तकाः कार्या इत्याह—

[3]धर्मज्ञाः शुचयोऽलुब्धा भवेयुः कार्यचिन्तकाः।
कर्तव्यं वचनं तेषां समूहहितवादिनाम् ॥ १९१ ॥

श्रौतस्मार्तधर्मज्ञा बाह्याभ्यन्तरशौचयुक्ता अर्थेष्वलुब्धाः कार्यविचारकाः कर्तव्याः। तेषां वचनमितरैः कार्यमित्येतदादरार्थं पुनर्वचनम् ॥ १९१ ॥

भाषा—श्रौत और स्मार्त धर्म-जानने वाले, पवित्र, लोभहीन कार्यविचारक बनाने चाहिए। उन समूह का हित कहने वालों के वचनों का पालन करना चाहिए ॥ १९१ ॥

---

१. एवंगणिषु वर्तितव्यं। २. यद्यस्मै। ३. वेदज्ञाः।

इदानीं त्रैविद्यानां प्रतिपादितं धर्मं श्रेण्यादिष्वतिदिशन्नाह—

श्रेणिनैगम[1]पाखण्डिगणानामप्ययं विधिः।
भेदं चैषां नृपो रक्षेत्पूर्ववृत्तिं च पालयेत् ॥ १९२ ॥

एकपण्यशिल्पोपजीविनः श्रेणयः, नैगमाः ये वेदस्याप्तप्रणीतत्वेन प्रामाण्यमिच्छन्ति पाशुपतादयः, पाखण्डिनो ये वेदस्य प्रामाण्यमेव नेच्छन्ति नग्नाटकसौगतादयः, गणो व्रातः आयुधीयादीनामेककर्मोपजीविनां, एषां चतुर्विधानामप्ययमेव विधिः—यो 'निजधर्माविरोधेन' (व्य० १८६) इत्यादिना प्रतिपादितः। एतेषां श्रेण्यादीनां भेदं धर्मव्यवस्थानं नृपो रक्षेत्। पूर्वोपात्तां वृत्तिं च पालयेत् ॥ १९२ ॥

भाषा—श्रेणी (एक व्यापार या शिल्प करने वाले), नैगम (एक ही वेद को पढ़ने वाले), पाखण्डी (वेद को प्रमाण न मानने वाले) और गण (शस्त्रादि विषयक एक ही कार्य द्वारा जीविका चलाने वालों) के विषय में भी यही नियम है। राजा इन सबके भेद की रक्षा करे और उनकी पूर्ववृत्ति का पालन करे ॥ १९२ ॥

इति संविद्व्यतिक्रमप्रकरणम्।

अथ वेतनादानप्रकरणम् १६

संप्रति वेतनस्यानपाकर्माख्यं व्यवहारपदं प्रस्तूयते। तत्स्वरूपं च नारदेनोक्तम् (६।१)—'भृत्यानां[2] वेतनस्योक्तो दानादानविधिक्रमः। वेतनस्यानपाकर्म तद्विवादपदं स्मृतम् ॥' इति। अस्यार्थः—भृत्यानां वेतनस्य वक्ष्यमाणश्लोकैरुक्तो दानादानविधिक्रमो यत्र विवादपदे तद्वेतनस्यानपाकर्मेत्युच्यते; तत्र निर्णयमाह—

गृहीतवेतनः कर्म त्यजन्द्विगुणमावहेत्।
अगृहीते [3]समं दाप्यो भृत्यै रक्ष्य उपस्करः ॥ १९३ ॥

गृहीतं वेतनं येनासौ स्वाङ्गीकृतं कर्म त्यजन् अकुर्वन् द्विगुणां भृतिं स्वामिने दद्यात्। यदा पुनरभ्युपगतं कर्म अगृहीते एव वेतने त्यजति तदा समं यावद्वेतनमभ्युपगतं तावद्दाप्यो न द्विगुणम्। यद्वाऽङ्गीकृतां भृतिं दत्त्वा बलात्कारयितव्यः; 'कर्माकुर्वन्प्रतिश्रुत्य कार्यो दत्त्वा भृतिं बलात्' (६।५) इति नारदवचनात्। भृतिरपि तेनैवोक्ता—'[4]भृत्याय वेतनं दद्यात्कर्मस्वामी यथा-

1. पाषाण्डि। 2. भृतानां। 3. समं कार्यं भृत्यैः पाल्य उपस्करः। 4. भृताय।

क्रमम् । आदौ मध्येऽवसाने वा कर्मणो यद्विनिश्चितम् ॥' (ना० ६।२) इति । तैश्च भृत्यैरुपस्कर [1]उपकरणं लाङ्गलादीनां प्रग्रहयोक्त्रादिकं यथाशक्त्या रक्षणीयम् ; इतरथा कृष्यादिनिष्पत्त्यनुपपत्तेः ॥ १९३ ॥

भाषा—वेतन लेकर काम छोड़ देने वाले से दूना वेतन स्वामी को दिलावे । बिना वेतन लिये ही कार्य करना स्वीकार करके न करे तो वेतन के बराबर धन दिलावे । वे भृत्य भी उपस्करण (हल आदि औजार की) यत्नपूर्वक रक्षा करें ॥ १९३ ॥

भृतिमपरिच्छिद्य यः कर्म कारयति तं प्रत्याह—

> दाप्यस्तु[2] दशमं भागं वाणिज्यपशुसस्यतः ।
> अनिश्चित्य भृतिं यस्तु कारयेत्स महीक्षिता ॥ १९४ ॥

यस्तु स्वामी वणिक् गोमी क्षेत्रिको वा अपरिच्छिन्नवेतनमेव [3]भृत्यं कर्म कारयति स तस्माद्वाणिज्यपशुसस्यलक्षणात् कर्मणो यल्लब्धं तस्य दशमं भागं भृत्याय महीक्षिता राज्ञा दापनीयः ॥ १९४ ॥

भाषा—जो भृति ठहराये बिना भृत्यों से कार्य लेता है व्यापार, पशुपालन या खेती का काम लेता है उससे राजा तत्तत् कार्यों से होने वाले लाभ का दसवाँ भाग भृत्यों को दिलावे ॥ १९४ ॥

अनाज्ञप्तकारिणं प्रत्याह—

> देशं कालं च [4]योऽतीयाल्लाभं कुर्याच्च योऽन्यथा ।
> तत्र स्यात्स्वामिनश्छन्दोऽधिकं देयं कृतेऽधिके ॥ १९५ ॥

यस्तु भृत्यः पण्यविक्रयाद्युचितं देशं कालं च पण्यविक्रयाद्यकुर्वन्दर्पादिनोल्लङ्घयेत्तस्मिन्नेव वा देशे काले च लाभमन्यथा व्ययाद्यतिशयसाध्यतया हीनं करोति तस्मिन्भृतके भृतिदानं प्रति स्वामिनश्छन्द इच्छा भवेत् यावदिच्छति तावद्द्यान्न पुनः सर्वामेव भृतिमित्यर्थः । यदा पुनर्देशकालाभिज्ञतयाऽधिको लाभः कृतस्तदा पूर्वपरिच्छिन्नाय [6]भृतेरधिकमपि धनं स्वामिना भृत्याय दातव्यम् ॥ १९५ ॥

भाषा—जो भृत्य (व्यापार योग्य) स्थान और समय का उल्लंघन करके लाभ के स्थान पर हानि कराता है तो उसके वेतन के विषय में स्वामी अपने इच्छानुसार करे; किन्तु जब देश और समय के ज्ञान से वह अधिक लाभ कराता है तो उसे वेतन से अधिक धन देना चाहिए ॥ १९५ ॥

---

१. उपस्करणं । २. दाप्यस्तद्दशमं । ३. भृत्यकर्म । ४. यो यावत्कर्म कुर्यात् । ५. दर्पादिनमुल्लङ्घयेत् । ६. भृतेरपि किमपि धनमधिकं ।

अनेकभृत्यसाध्यकर्मणि भृतिदानप्रकारमाह—

या यावत्कुरुते कर्म तावत्तस्य तु[1] वेतनम् ।
उभयोरप्यसाध्यं[2] चेत्साध्ये कुर्याद्यथाश्रुतम् ॥ १९६ ॥

यदा पुनरेकमेव कर्म नियतवेतनमुभाभ्यां क्रियमाणं उभयोरप्यसाध्यं चेद्व्याध्याद्यभिभवादुभाभ्यामपिशब्दाद्बहुभिरपि यदि न परिसमापितं तदा यो भृत्यो यावत्कर्म करोति, तावत्तस्मै तत्कृतकर्मानुसारेण मध्यस्थकल्पितं वेतनं देयं, न पुनः समम् । नचावयवशः कर्मणि वेतनस्योपरिभाषितत्वाददानमिति मन्तव्यम् । साध्ये तूभाभ्यां कर्मणि निर्वर्तिते यथाश्रुतं यावत्परिभाषितं तावदुभाभ्यां देयं, न पुनः प्रत्येकं कृत्स्नं वेतनं, नापि कर्मानुरूपं परिकल्प्य देयम् ॥ १९६ ॥

भाषा—यदि एक ही कार्य को दो भृत्य करें और (व्याधि एवं आधि के कारण) वह समाप्त न हो सके तो जो जितना कार्य किये हो उसी के अनुसार उसका वेतन होता है और कार्य पूरा हो जाने पर जितना बताया जाय उतना उन दोनों को देना चाहिए ॥ १९६ ॥

आयुधीयभारवाहकौ प्रत्याह—

[3]अराजदैविकं नष्टं भाण्डं दाप्यस्तु वाहकः ।
प्रस्थानविघ्न[4]कृच्चैव प्रदाप्यो द्विगुणां भृतिम् ॥ १९७ ॥

न विद्यते राजदैविकं यस्य भाण्डस्य तत्तथोक्तम् । तद्यदि प्रज्ञाहीनतया वाहकेन नाशितं तदा नाशानुसारेणासौ तद्भाण्डं दापनीयः । तदाह नारदः (६।९)—'भाण्डं व्यसनमागच्छेद्यदि वाहकदोषतः । दाप्यो यत्तत्र नश्येत्तु दैवराजकृतादृते ॥' इति । यः पुनर्विवाहाद्यर्थं मङ्गलवति वासरे प्रतिष्ठमानस्य तत्प्रस्थानौपयिकं कर्म प्रागङ्गीकृत्य तदानीं 'न करिष्यामि' इति प्रस्थानविघ्नमाचरति तदासौ द्विगुणां भृतिं दाप्यः । अत्यन्तोत्कर्षहेतुकर्मनिरोधात् ॥ १९७ ॥

भाषा—राजा और दैव के उत्पात के विना ले जाने वाले भृत्य से भाण्ड का नाश हो जाय तो उससे भाण्ड दिलावे; जो (विवाहादि मंगलकार्य के) प्रस्थान के समय विघ्न करे (जाने को कहकर न जावे) उससे वेतन का दूना धन दिलावे ॥ १९७ ॥

प्रक्रान्ते सप्तमं भागं चतुर्थं पथि सं[5]त्यजन् ।
भृतिमर्धपथे सर्वां प्रदाप्यस्त्याजकोऽपि च ॥ १९८ ॥

---

१. च । २. उभयोरप्यशाठ्यं चेच्छाठ्ये कुर्या(द्यथाश्रुतम्)द्यथाकृतम् । ३. अराजदैविकान्नष्टं । ४. विघ्नकर्ता च । ५. संत्यजेत् ।

किंच,—प्रक्रान्ते अध्यवसिते प्रस्थाने स्वाङ्गीकृतं कर्म यस्त्यजति, असौ भृतेः सप्तमं भागं दाप्यः। नन्वत्रैव विषये 'प्रस्थानविघ्नकृत्' (व्य० १९७) इत्यादिना द्विगुणभृतिदानमुक्तं, इदानीं सप्तमो भाग इति विरोधः। उच्यते,—भृत्यन्तरोपादानावसरसंभवे स्वाङ्गीकृतं कर्म यस्त्यजति तस्य सप्तमो विभागः। यस्तु प्रस्थानलग्नसमय एव त्यजति, तस्य द्विगुणभृतिदानमित्यविरोधः। यः पुनः पथि प्रक्रान्ते गमने वर्तमाने सति कर्म त्यजति, स भृतेश्चतुर्थं भागं दाप्यः। अर्धपथे पुनः सर्वां भृतिं दाप्यः। यस्तु त्याजकः कर्मत्यजन्तं त्याजयति स्वामी पूर्वोक्तप्रदेशेष्वसावपि पूर्वोक्तसप्तमभागादिकं भृत्याय दापनीयः; एतच्चाव्याधितादिविषयम्। 'भृत्योऽनार्तो न कुर्याद्यो दर्पात्कर्म यथोचितम्। स दण्ड्यः कृष्णलान्यष्टौ न देयं तस्य वेतनम्॥' (८।२१५)—इति मनुवचनात्। यदा [1]पुनर्व्याधावपगतेऽन्तरितदिवसान्परिगणय्य पूरयति, तदा लभत एव वेतनम्। 'आर्तस्तु कुर्यात्स्वस्थः सन्यथाभाषितमादितः। स दीर्घस्यापि कालस्य स्वं लभेतैव वेतनम्॥' (८।२१६) इति मनुस्मरणात्॥ यस्त्वपगतव्याधिः स्वस्थ एवालस्यादिना स्वारब्धं कर्माल्पोनं न करोति, परेण वा न समापयति, तस्मै वेतनं न देयमिति। यथाह मनुः (८।२१७)—'यथोक्तमार्तः स्वस्थो वा यस्तत्कर्म न कारयेत्। न तस्य वेतनं देयमल्पोनस्यापि कर्मणः॥' इति॥ १९८॥

भाषा—प्रस्थान के समय कार्य करके जो मार्ग में छोड़ दे तो उस भृत्य से वेतन का सातवाँ भाग ले और आधे मार्ग में कार्य छोड़ दे तो उससे सम्पूर्ण भृति दिलानी चाहिए और जो उससे काम छोड़वाता है उससे भी सारी भृति दिलावे॥ १९८॥

इति वेतनादानप्रकरणम्।

अथ द्यूतसमाह्वयप्रकरणम् १७

अधुना द्यूतसमाह्वयाख्यं [2]विवादपदमधिक्रियते; तत्स्वरूपं नारदेनाभिहितम् (१६।१)—'[3]अक्षबध्नशलाकाद्यैर्देवनं जिह्मकारितम्। पणक्रीडावयोभिश्च पदं द्यूतसमाह्वयम्॥ इति। अक्षाः पाशकाः, बध्नश्चर्मपट्टिका, शलाका दन्तादिमय्यो दीर्घचतुरस्राः, 'आद्य'ग्रहणाच्च तुरङ्गादिक्रीडासाधनं करितुरङ्गरथादिकं गृह्यते। तैरप्राणिभिर्यद्देवनं क्रीडा पणपूर्विका क्रियते। तथा वयोभिः पक्षिभिः कुक्कुटपारावतादिभिः 'च' शब्दान्मल्लमेषमहिषादिभिश्च प्राणिभिर्या पणपूर्विका क्रीडा क्रियते, तदुभयं यथाक्रमेण द्यूतसमाह्वयाख्यं विवादपदम्। द्यूतं च समाह्वयश्च द्यूतसमाह्वयम्। तदुक्तं मनुना (९।२२३)—'अप्राणिभिर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते। प्राणिभिः क्रियमाणस्तु स विज्ञेयः समाह्वयः॥' इति॥

---

१. व्याध्याद्यपगमे। २. व्यवहारपदमधि। ३. अक्षबध्न।

तत्र द्यूतसभाधिकारिणो वृत्तिमाह—

ग्लहे शतिकवृद्धेस्तु सभिकः पञ्चकं शतम् ।
गृह्णीयाद् धूर्तकितवादितराद्दशकं शतम् ॥ १९९ ॥

परस्परसंप्रतिपत्त्या कितवपरिकल्पितः पणो ग्लह इत्युच्यते । तत्र ग्लहे तदाश्रया शतिका शतपरिमिता तदधिकपरिमाणा वा वृद्धिर्यस्यासौ शतिकवृद्धिः, तस्माद् धूर्तकितवात्पञ्चकं शतमात्मवृत्त्यर्थं सभिको गृह्णीयात् । पञ्च पणा आयो यस्मिन् शते तत् पञ्चकं शतम् । 'तदस्मिन्वृद्ध्यायलाभ—' (पा० ५।१।४७) इत्यादिना कन् । जितग्लहस्य विंशतितमं भागं गृह्णीयादित्यर्थः । सभा-कितवनिवासार्था यस्यास्त्यसौ सभिकः । कल्पिताक्षादिनिखिलक्रीडोपकरणस्त-दुपचितद्रव्योपजीवी सभापतिरुच्यते । इतरस्मात्पुनरपि पूर्णशतिकवृद्धेः कितवा-द्दशकं शतं जितद्रव्यस्य दशमं भागं गृह्णीयादिति यावत् ॥ १९९ ॥

भाषा—जुआ के खेल में धूर्त जुआरी (जीतने वाले) के धन में पाँच प्रतिशत सभिक (जुवा चलाने वाला) लेवे और दूसरों से दस प्रतिशत वसूल करे ॥ १९९ ॥

एवं क्लृप्तवृत्तिना सभिकेन किं कर्तव्यमित्याह—

स सम्यक्पालितो [1]दद्याद्राज्ञे भागं यथाकृतम् ।
जितमुद्ग्राहयेज्जेत्रे दद्यात्सत्यं वचः क्षमी ॥ २०० ॥

य एवं क्लृप्तवृत्तिर्द्यूताधिकारी स राज्ञा धूर्तकितवेभ्यो रक्षितस्तस्मै राज्ञे यथा संप्रतिपन्नमंशं दद्यात् ; तथा [3]जितं यद् द्रव्यं तदुद्ग्राहयेत् बन्धकग्रहणेना-सेधादिना च पराजितसकाशादुद्धरेत् । उद्धृत्य च तद्धनं जेत्रे जयिने सभिको दद्यात् ; तथा क्षमी भूत्वा सत्यं वचो विश्वासार्थं द्यूतकारिणां दद्यात् । तदुक्तं नारदेन (१६।२)—'सभिकः कारयेद् द्यूतं देयं दद्याच्च तत्कृतम्' इति ॥२००॥

भाषा—वह सभिक राजा द्वारा संरक्षित होने पर उसे यथोचित अंश प्रदान करे और जीतने वाले को जीता हुआ धन दिलावे तथा क्षमाशील होकर दूसरे द्यूतकरों के विश्वास के लिये सत्य वचन देवे ॥ २०० ॥

यदा पुनः सभिको दापयितुं न शक्नोति, तदा राजा दापयेदित्याह—

[4]प्राप्ते नृपतिना भागे प्रसिद्धे धूर्तमण्डले ।
जितं ससभिके स्थाने दापयेदन्यथा [5]न तु ॥ २०१ ॥

---

१. भागं राज्ञे दद्याद्यथाश्रुतम् । २. जितमुद्ग्राहयेज्जेत्रे दद्यात्सत्यवचाः क्षमी । ३ जितं द्रव्यमुद्ग्राहयेत् । ४. प्राप्ते भागे च नृपतिः । ५. तु न ।

प्रसिद्धे अप्रच्छन्ने राजाध्यक्षसमन्विते ससभिके सभिकसहिते कितवसमाजे सभिकेन च राजभागे दत्ते राजा धूर्तकितवमविप्रतिपन्नं जितं पणं दापयेत्। अन्यथा प्रच्छन्ने सभिकरहिते अदत्तराजभागे [1]द्यूते जितपणं जेत्रे न दापयेत् ॥ २०१ ॥

भाषा—राजा (सभिक से) अपना अंश प्राप्त करने पर ज्ञात (गुप्त नहीं अपितु राजा द्वारा संरक्षित) द्यूतकरों के मण्डल में सभिक के निरीक्षण में ज़ीता हुआ धन जीतने वाले को दिलावे अन्यथा (संरक्षित द्यूतकरमण्डल न होने पर) न दिलावे ॥ २०१ ॥

जयपराजयविप्रतिपत्तौ निर्णयोपायमाह—

द्रष्टारो व्यवहाराणां साक्षिणश्च त एव हि ।

द्यूतव्यवहाराणां द्रष्टारः सभ्यास्त एव कितवा एव राज्ञा नियोक्तव्याः; न तत्र 'श्रुताध्ययनसंपन्ना' (व्य० २) इत्यादिर्नियमोऽस्ति । साक्षिणश्च द्यूते द्यूतकारा एव कार्याः न तत्र 'स्त्रीबालवृद्धकितव–' (व्य० ७०) इत्यादिनिषेधोऽस्ति ॥—

क्वचिद्द्यूतं निषेद्धुं दण्डमाह—

राज्ञा सचिह्नं निर्वास्याः कूटाक्षोपधिदेविनः ॥ २०२ ॥

कूटैरक्षादिभिरुपधिना च मतिवञ्चनहेतुना मणिमन्त्रौषधादिना ये दीव्यन्ति तान् श्वपदादिनाऽङ्कयित्वा राजा स्वराष्ट्रान्निर्वासयेत् । नारदेन तु निर्वासने विशेष उक्तः (१६।६)—'कूटाक्षदेविनः पापान् राजा राष्ट्राद्विवासयेत् । कण्ठेऽक्षमालामासज्य स ह्येषां विनयः स्मृतः ॥' इति । यानि च मनुवचनानि द्यूतनिषेधपराणि (मनुः ९।२२४)—'द्यूतं समाह्वयं चैव यः कुर्यात् कारयेत वा । तान्सर्वान्घातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः ॥" इत्यादीनि, तान्यपि कूटाक्षदेवनविषयतया राजाध्यक्षसभिकरहितद्यूतविषयतया च योज्यानि ॥ २०२ ॥

भाषा—जुए के व्यवहार को देखने-वाले एवं साक्षी वे ही (द्यूतकर ही) होते हैं। कपटपूर्वक (मणि, मंत्र, औषध आदि से) जुआ खेलने वाले को कुत्ते के पंजे आदि चिह्न से दागकर राज्य से निर्वासित कर देवे ॥ २०२ ॥

द्यूतमेकमुखं कार्यं तस्करज्ञानकारणात् ।

किंच, यत्पूर्वोक्तं द्यूतं तदेकमुखं एकं मुखं प्रधानं यस्य द्यूतस्य तत्तथोक्तं कार्यम् , राजाध्यक्षाधिष्ठितं राज्ञा कारयितव्यमित्यर्थः; तस्करज्ञानकारणात् ।

---

१. द्यूते पणं जेत्रे । २. सचिह्ना ।

तस्करज्ञानरूपं प्रयोजनं पर्यालोच्य प्रायशश्चौर्यार्जितधना एव कितवा भवन्ति, अतश्चौरविज्ञानार्थमेकमुखं कार्यम् ॥—

द्यूतधर्मं समाह्वयेऽतिदिशन्नाह—

एष एव विधिर्ज्ञेयः प्राणिद्यूते समाह्वये ॥ २०३ ॥

'ग्लहे शतिकवृद्धेः' (व्य० १९९) इत्यादिना यो द्यूतधर्म उक्तः, स एव प्राणिद्यूते मल्लमेषमहिषादिनिर्वर्त्ये समाह्वयसंज्ञके ज्ञातव्यः ॥ २०३ ॥

भाषा—चोरों के पहिचान के लिये एक व्यक्ति को द्यूत का प्रधान (अध्यक्ष) नियुक्त कर देना चाहिए। प्राणिद्यूत (पहलवान, भेंड़ा, भैंसा आदि को लड़ाकर खेले जाने वाले जुए) में भी ये नियम समझने चाहिए ॥

इति द्यूतसमाह्वयाख्यं प्रकरणम् ।

अथ वाक्पारुष्यप्रकरणम् १८

इदानीं वाक्पारुष्यं प्रस्तूयते; तल्लक्षणं चोक्तं नारदेन (१५।१)—'देशजातिकुलादीनामाक्रोशं न्यङ्गसंयुतम् । यद्वचः प्रतिकूलार्थं वाक्पारुष्यं तदुच्यते ॥' इति । देशादीनामाक्रोशं न्यङ्गसंयुतम् । उच्चैर्भाषणमाक्रोशः, न्यङ्गमवद्यं तदुभययुक्तं यत्प्रतिकूलार्थमुद्वेगजननार्थं वाक्यं तद्वाक्पारुष्यं कथ्यते । तत्र 'कलहप्रियाः खलु गौडाः' इति देशाक्रोशः । 'नितान्तं लोलुपाः[1] खलु विप्राः' इति जात्याक्रोशः । 'क्रूरचरिता ननु वैश्वामित्राः' इति कुलाक्षेपः । आदिग्रहणात्स्वविद्याशिल्पादिनिन्दया विद्वच्छिल्पादि[2]पुरुषाक्षेपो गृह्यते । तस्य च दण्डतारतम्यार्थं निष्ठुरादिभेदेन त्रैविध्यमभिधाय तल्लक्षणं तेनैवोक्तम् (१५।२)—'निष्ठुराश्लीलतीव्रत्वादपि तत्त्रिविधं स्मृतम् । गौरवानुक्रमात्तस्य दण्डोऽपि स्यात्क्रमाद् गुरुः ॥ साक्षेपं निष्ठुरं ज्ञेयमश्लीलं न्यङ्गसंयुतम् । पतनीयैरुपाक्रोशैस्तीव्रमाहुर्मनीषिणः ॥' इति । तत्र [3]धिङ्मूर्ख जाल्ममित्यादि साक्षेपम् । अत्र न्यङ्गमित्यसभ्यम् । अवद्यं भगिन्यादिगमनं तद्युक्तमश्लीलम् । सुरापोऽसीत्यादिमहापातकाद्याक्रोशैर्युक्तं वचस्तीव्रम् ॥

तत्र निष्ठुराक्रोशे सवर्णविषये दण्डमाह—

सत्यासत्यान्यथास्तोत्रैर्न्यूनाङ्गेन्द्रियरोगिणाम् ।
क्षेपं करोति चेद्दण्ड्यः पणानर्धत्रयोदशान्[4] ॥ २०४ ॥

न्यूनाङ्गाः करचरणादिविकलाः, न्यूनेन्द्रिया नेत्रश्रोत्रादिरहिताः, रोगिणो दुश्चर्मप्रभृतयः, तेषां सत्येनासत्येनान्यथास्तोत्रेण च निन्दार्थया स्तुत्या ।

---

१. खलु लोलुपाः । २. शिल्पादि । ३. धिङ्मूर्ख जाल्मस्त्वमित्यादि । ४. त्रयोदश ।

यत्र नेत्रयुगलहीन एषोऽन्ध इत्युच्यते तत्सत्यम् । यत्र पुनश्चक्षुष्मानेवान्ध इत्युच्यते तदसत्यम् । यत्र विकृताकृतिरेव दर्शनीयस्त्वमसीत्युच्यते तदन्यथास्तोत्रम् । एवंविधैर्यः क्षेपं निर्भर्त्सनं करोत्यसौ अर्धाधिकत्रयोदशपणान्दण्डनीयः । (मनुः ८।२७४)—'काणं वाऽप्यथवा खञ्जमन्यं वाऽपि तथाविधम् । तथ्येनापि ब्रुवन्दाप्यो दण्डं कार्षापणावरम् ॥' इति यन्मनुवचनं, तदतिदुर्वृत्तवर्णविषयम् । यदा पुनः पुत्रादयो मात्रादीन् शपन्ति तदा शतं दण्डनीया इति तेनैवोक्तम् । (मनुः ८।२७५)—'मातरं पितरं जायां भ्रातरं श्वशुरं गुरुम् । आक्षारयञ्शतं दाप्यः पन्थानं चाददद् गुरोः ॥' इति । एतच्च सापराधेषु मात्रादिषु गुरुषु निरपराधायां च जायायां द्रष्टव्यम् ॥ २०४ ॥

भाषा—जो किसी विकलेन्द्रिय और रोगी आदि को सच्चे या झूठे ही निन्दापरक वचनों से आक्षेप करता है तो उससे साढ़े तेरह पण दण्ड लेना चाहिए ॥ २०४ ॥

अश्लीलाक्षेपे दण्डमाह—

अभिगन्तास्मि भगिनीं मातरं वा तवेति ह ।
शपन्तं दापयेद्राजा पञ्चविंशतिकं दमम् ॥ २०५ ॥

'त्वदीयां भगिनीं मातरं वा अभिगन्तास्मि' इति शपन्तं अन्यां वा 'स्वजायामभिगन्ताऽस्मि' इत्येवं शपन्तं राजा पञ्चविंशतिकं पणानां पञ्चाधिका विंशतिर्यस्मिन्दण्डे स तथोक्तस्तं दमं दापयेत् ॥ २०५ ॥

भाषा—'तुम्हारी बहन या माँ का मैं अभिगन्ता (जार) हूँ' इस प्रकार का वचन कहकर गाली देने वाले से राजा पच्चीस पण दण्ड ले ॥ २०५ ॥

एवं समानगुणेषु वर्णिषु दण्डमभिधाय विषमगुणेषु दण्डं प्रतिपादयितुमाह—

अर्धोऽधमेषु द्विगुणः परस्त्रीषूत्तमेषु च ।

अधमेष्वाक्षेप्त्रपेक्षया न्यूनवृत्तादिगुणेष्वर्धो दण्डः । पूर्ववाक्ये पञ्चविंशतेः प्रकृतत्वात्तदपेक्षयार्धः सार्धद्वादशपणात्मको द्रष्टव्यः । परभार्यासु पुनरविशेषेण द्विगुणः पञ्चविंशत्यपेक्षयैव पञ्चाशत्पणात्मको वेदितव्यः । तथोत्तमेषु च स्वापेक्षयाधिकश्रुतवृत्तेषु दण्डः पञ्चाशत्पणात्मक एव ॥

वर्णानां मूर्धावसिक्तादीनां च परस्पराक्षेपे दण्डकल्पनामाह—

दण्डप्रणयनं कार्यं वर्णजात्युत्तराधरैः ॥ २०६ ॥

---

१. नेपोऽन्ध इति । २. हि । ३. मुत्तमः ।

वर्णा ब्राह्मणादयः, जातयो मूर्धावसिक्ताद्याः। वर्णाश्च जातयश्च वर्णजातयः। उत्तराश्च अधराश्च उत्तराधराः, वर्णजातयश्च ते उत्तराधराश्च वर्णजात्युत्तराधराः, तैः वर्णजात्युत्तराधरैः परस्परमाक्षेपे क्रियमाणे दण्डस्य प्रणयनं प्रकर्षेण नयनमूहनं वेदितव्यम्। तत्र दण्डकल्पनमुत्तराधरैरिति [1]विशेषेणोपादानादुत्तराधरभावापेक्षयैव कर्तव्यमित्यवगम्यते। यथा मूर्धावसिक्तं ब्राह्मणाद्धीनं क्षत्रियादुत्कृष्टं चाक्रुश्य ब्राह्मणः क्षत्रियाक्षेपनिमित्तात्पञ्चाशत्पणदण्डात्किंचिदधिकं पञ्चसप्तत्यात्मकं दण्डमर्हति, क्षत्रियोऽपि तमाक्रुश्य ब्राह्मणाक्षेपनिमित्ताच्छतदण्डा[2]दूनं पञ्चसप्ततिमेव दण्डमर्हति। मूर्धावसिक्तोऽपि तावाक्रुश्य तमेव दण्डमर्हति। मूर्धावसिक्ताम्बष्ठयोः परस्पराक्षेपे ब्राह्मणक्षत्रिययोः परस्पराक्रोशनिमित्तकौ यथाक्रमेण दण्डौ वेदितव्यौ। एवमन्यत्राप्यूहनीयम् ॥ २०६ ॥

भाषा—हीन वर्ण की स्त्रियों के विषय में ऐसी गाली देने पर उपरोक्त दण्ड आधा होता है और उत्तम वर्ण की परस्त्री के लिये कहने पर दूना होता है। इसी प्रकार वर्ण और जाति की उच्चता एवं निम्नता का विचार करके दण्ड देना चाहिए ॥ २०६ ॥

एवं स[3]वर्णविषये दण्डमभिधाय वर्णानामेव प्रतिलोमानुलोमाक्षेपे दण्डमाह—

[4]प्रातिलोम्यापवादेषु द्विगुणत्रिगुणा दमाः।
[5]वर्णानामानुलोम्येन तस्मादर्धार्धहानितः ॥ २०७ ॥

अपवादा अधिक्षेपाः। प्रातिलोम्येनापवादाः प्रातिलोम्यापवादाः, तेषु ब्राह्मणाक्रोशकारिणोः क्षत्रियवैश्ययोर्यथाक्रमेण पूर्ववाक्याद् द्विगुणपदोपात्तपञ्चाशत्पणापेक्षया द्विगुणाः शतपणाः, त्रिगुणाः सार्धशतपणा दण्डा वेदितव्याः। शूद्रस्य ब्राह्मणाक्रोशे ताडनं जिह्वाच्छेदनं वा भवति; यथाह मनुः (८।२६७)—'शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति। वैश्योऽप्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति ॥' इति; विट्शूद्रयोरपि क्षत्रियादनन्तरैकान्तरयोस्तुल्यन्यायतया शतमध्यर्धशतं च यथाक्रमेण क्षत्रियाक्रोशे वेदितव्यम्। शूद्रस्य वैश्याक्रोशे शतम्। आनुलोम्येन तु वर्णानां [6]क्षत्रियविट्शूद्राणां ब्राह्मणेनाक्रोशे कृते तस्माद्ब्राह्मणाक्रोशनिमित्ताच्छतपरिमितात्क्षत्रियदण्डात्प्रतिवर्णमर्धस्यार्धस्य हानिं कृत्वावशिष्टं पञ्चाशत्पञ्चविंशतिसार्धद्वादशपणात्मकं यथाक्रमं ब्राह्मणो दण्डनीयः। तदुक्तं मनुना (८।२६८)—'पञ्चाशद्ब्राह्मणो दण्ड्यः क्षत्रियस्याभिशंसने। [7]वैश्ये

---

१. विशेषोपादानात्। २. दण्डाद्धीनं। ३. सर्ववर्ण। ४. प्रतिलोमापवादेषु। ५. वर्णान्स्याद्यानुलोम्येन तस्मादेवार्धहानतः। ६. पञ्चविंशत्यर्धं द्वादश। ७. वैश्यस्य चार्धपञ्चाशत्।

स्यादर्धपञ्चाशच्छूद्रे द्वादशको दमः ॥' इति ॥ क्षत्रियेण वैश्ये शूद्रे वाक्रुष्टे यथाक्रमं पञ्चाशत्पञ्चविंशतिकौ दमौ। वैश्यस्य च शूद्राक्रोशे पञ्चाशदित्यूहनीयम्; 'ब्राह्मणराजन्यवत्क्षत्रियवैश्ययोः' (१२।२४) इति गौतमस्मरणात् ।—'विट्शूद्रयोरेवमेव स्वजातिं प्रति तत्त्वतः' इति (८।२७७) मनुस्मरणाच्च ॥ २०७ ॥

भाषा—वर्णों की प्रतिलोमता से दोष लगाने पर (अर्थात् जब छोटी जाति वाला बड़ी जाति वाले को दोष लगावे तो) दूना, तिगुना दण्ड होता है और वर्णों की अनुलोमता से (बड़ी जाति वाले पर मिथ्या आरोप लगावे तो) वर्णानुसार दण्ड आधा कम होता जाता है ॥ २०७ ॥

पुनर्निष्ठुराक्षेपमधिकृत्याह—

बाहुग्रीवानेत्रसक्थिविनाशे वाचिके दमः ।
शत्यस्तदर्धिकः पादनासाकर्णकरादिषु ॥ २०८ ॥

बाह्वादीनां प्रत्येकं विनाशे वाचिके वाचा प्रतिपादिते 'तव बाहू छिनद्मि' इत्येवंरूपे शत्यः शतपरिमितो दण्डो वेदितव्यः । पादनासाकर्णकरादिषु 'आदि'ग्रहणात्स्फिगादिषु वाचिके विनाशे तदर्धिकः तस्य शतस्यार्धं तदर्धं तदस्यास्त्यसौ तदर्धिकः, पञ्चाशत्पणिको दण्डो वेदितव्यः ॥ २०८ ॥

भाषा—बाहु, गर्दन, आँख, हड्डी, तोड़ने की धमकी देने पर सौ पण और पैर, नाक, कान और हाथ आदि तोड़ने की धमकी देने पर उसके आधा अर्थात् पचास पण दण्ड होता है ॥ २०८ ॥

अशक्तस्तु वदन्नेवं दण्डनीयः पणान्दश ।
तथा शक्तः प्रतिभुवं दाप्यः क्षेमाय तस्य तु ॥ २०९ ॥

किंच, यः पुनर्ज्वरादिना क्षीणशक्तिः 'त्वद्बाह्वाद्यङ्गभङ्गं करोमि' इत्येवं शपत्यसौ दश पणान्दण्डनीयः। यः पुनः समर्थः क्षीणशक्तिं पूर्ववदाक्षिपत्यसौ पूर्वोक्तशतादिदण्डोत्तरकालं तस्याशक्तस्य क्षेमार्थं[2] प्रतिभुवं दापनीयः ॥ २०९ ॥

भाषा—यदि अशक्त (ज्वरादि से क्षीण शक्ति वाला) इस प्रकार का वचन बोले तो उसे दस पण का दण्ड देना चाहिए और यदि शक्तिशाली व्यक्ति दुर्बल व्यक्ति से ऐसा वचन कहे तो उससे सौ पण दण्ड लेवे और उस (दुर्बल व्यक्ति) की रक्षा के लिये उससे प्रतिभू (जामिन) उपस्थित करावे ॥ २०९ ॥

तीव्राक्रोशे दण्डमाह—

पतनीयकृते क्षेपे दण्डो मध्यमसाहसः ।
उपपातकयुक्ते तु दाप्यः प्रथमसाहसम्[3] ॥ २१० ॥

---

१. स्ततोऽर्धिकः । २. क्षेमाय । ३. प्रथमसाहसः ।

पातित्यहेतुभिर्ब्रह्महत्यादिभिर्वर्णिनामाक्षेपे[1] कृते मध्यमसाहसं दण्डः। उपपातकसंयुक्ते[2] पुनः 'गोघ्नस्त्वमसि' इत्येवमादिरूपे क्षेपे प्रथमसाहसं दण्डनीयः ॥ २१० ॥

भाषा—जो ऐसा (ब्रह्महत्यादि) मिथ्या आरोप लगावे जिससे पतित होने की संभावना हो तो मध्यम साहस का दण्ड और उपपातक (गोवध आदि का दोष) लगाने पर प्रथम (अधम) साहस का दण्ड देना चाहिए ॥

त्रैविद्यनृपदेवानां क्षेप उत्तमसाहसः।
मध्यमो जातिपूगानां[3] प्रथमो ग्रामदेशयोः ॥ २११ ॥

किंच, त्रैविद्याः वेदत्रयसंपन्नास्तेषां राज्ञां देवानां च क्षेपे उत्तमसाहसो दण्डः। ये पुनर्ब्राह्मणमूर्धावसिक्तादिजातीनां पूगाः संघास्तेषामाक्षेपे मध्यमसाहसो दण्डः। ग्रामदेशयोः प्रत्येकमाक्षेपे प्रथमसाहसो दण्डो वेदितव्यः ॥२११॥

भाषा—तीनों वेदों के विद्वानों राजा और देवताओं पर आक्षेप करने से उत्तम साहस का दण्ड होता है। जाति, पूग (संघ) के आक्षेप में मध्यम साहस का और ग्राम तथा देश के आक्षेप में प्रथम साहस का दण्ड होता है ॥ २११ ॥

इति वाक्पारुष्यं नाम विवादपदप्रकरणम्।

अथ दण्डपारुष्यप्रकरणम् १९

संप्रति दण्डपारुष्यं प्रस्तूयते, तत्स्वरूपं च नारदेनोक्तम् (१५।४)—'परगात्रेष्वभिद्रोहे हस्तपादायुधादिभिः। भस्मादिभिश्चोपघातो दण्डपारुष्यमुच्यते ॥' इति। परगात्रेषु स्थावरजङ्गमात्मकद्रव्येषु हस्तपादायुधैरादिग्रहणाद् ग्रावादिभिर्योऽभिद्रोहो हिंसनं दुःखोत्पादनं तथा भस्मना आदिग्रहणाद्रजः पङ्कपुरीषाद्यैश्च य उपघातः संस्पर्शनरूपं मनोदुःखोत्पादनं तदुभयं दण्डपारुष्यम्। दण्ड्यतेऽनेनेति दण्डो देयः, तेन यत्पारुष्यं विरुद्धाचरणं जङ्गमादेर्द्रव्यस्य तद्दण्डपारुष्यम्। तस्य चावगोरणादिकारण[4]भेदेन त्रैविध्यमभिधाय हीनमध्यमोत्तमद्रव्यरूपकर्मत्रैविध्यात्पुनस्त्रैविध्यं तेनैवोक्तम् (१५।५-६)—'तस्यापि[5] दृष्टं त्रैविध्यं हीनमध्योत्तमक्रमात्। अवगोरणनिःसङ्क[6]पातनक्षतदर्शनैः ॥ हीनमध्योत्तमानां च द्रव्याणां समतिक्रमात्। त्रीण्येव साहसान्याहुस्तत्र कण्टकशोधनम् ॥' इति। निःसङ्कपातनं निःशङ्कप्रहरणम्। त्रीण्येव साहसानि त्रिप्रकाराण्येव। सहसा कृतानि दण्ड-

1. वर्णानामाक्षेपे। 2. संबन्धे तु। 3. जातिरूपाणां। 4. करणभेदेन। 5. तस्योपदृष्टं। 6. निःशङ्कपातन।

पारुष्याणीत्यर्थः। तथा वाग्दण्डपारुष्ययोरुभयोरपि द्वयोः प्रवृत्तकलहयोः यः क्षमते न केवलं तस्य दण्डाभावः, किंतु पूज्य एव। तथा पूर्वं कलहे प्रवृत्तस्य दण्डगुरुत्वम्। कलहे च बद्धवैरानुसन्धातुरेव दण्डभाक्त्वम्। तथा तयोर्द्वयोरपराधविशेषापरिज्ञाने दण्डः समः। तथा श्वपचादिभिरार्याणामपराधे कृते सज्जना एव दण्डदापनेऽधिकारिणः, तेषामशक्यत्वे तान् राजा घातयेदेव; नार्थं गृह्णीयादित्येवं पञ्च प्रकारा विधयस्तेनैवोक्ताः (ना० १५।७)—'विधिः पञ्चविधस्तूक्त एतयोरुभयोरपि। पारुष्ये सति संरम्भादुत्पन्ने क्रुद्धयोर्द्वयोः॥ स मन्यते यः क्षमते दण्डभाग्योऽतिवर्तते। पूर्वमाचारयेद्यस्तु नियतं स्यात्स दोषभाक्॥ पश्चाद्यः सोऽप्यसत्कारी पूर्वे तु विनयो गुरुः। द्वयोरापन्नयोस्तुल्यमनुबध्नाति यः पुनः॥ स तयोर्दण्डमाप्नोति पूर्वो वा यदि वेतरः। पारुष्यदोषावृतयोर्युगपत्संप्रवृत्तयोः॥ विशेषश्चेन्न लक्ष्येत विनयः स्यात्समस्तयोः। श्वपाकषण्ढचण्डालव्यङ्गेषु वधवृत्तिषु॥ हस्तिपव्रात्यदासेषु गुर्वाचार्यनृपेषु च। मर्यादातिक्रमे सद्यो घात एवानुशासनम्॥ यमेव ह्यतिवर्तेरन्नेते सन्तं जनं नृषु। स एव विनयं [1]कुर्यान्नूनं विनयभाङ्नृपः॥ मला ह्येते मनुष्याणां धनमेषां मलात्मकम्। अतस्तान्घातयेद्राजा नार्थदण्डेन दण्डयेत्॥' (१५।९, १०, ११-१४) इति॥

एवंभूतदण्डपारुष्यनिर्णयपूर्वकत्वाद्दण्डप्रणयनस्य तत्स्वरूपसंदेहे निर्णयहेतुमाह—

> [2]असाक्षिकहते चिह्नैर्युक्तिभिश्चागमेन च।
> द्रष्टव्यो व्यवहारस्तु कूटचिह्नकृतो[3] भयात्॥ २१२॥

यदा कश्चित् 'रहस्यहरनेन हतः' इति राज्ञे निवेदयति, तदा [4]चिह्नैर्व्रणादिस्वरूपगतैर्लिङ्गैर्युक्त्या कारणप्रयोजनपर्यालोचनात्मिकया आगमेन जनप्रवादेन 'च'शब्दाद्दिव्येन वा कूटचिह्नकृतसंभावनाभयात्परीक्षा कार्या॥ २१२॥

भाषा—जो विना साक्षी उपस्थित किये हुए किसी पर एकान्त में मारने पीटने का अभियोग लगाता है तो चिह्नों, युक्ति (कारण, प्रयोजन और पर्यालोचन) और आगम द्वारा उसकी परीक्षा करे; कारण झूठे (चोट के) चिह्न बना लेने की भी शंका रहती है॥ २१२॥

एवं निश्चिते साधनविशेषेण दण्डविशेषमाह—

> भस्मपङ्करजःस्पर्शे दण्डो दशपणः स्मृतः।
> अमेध्यपार्ष्णिनिष्ठ्यूतस्पर्शने द्विगुणस्ततः[5]॥ २१३॥

---

1. कुर्यान्न तद्विनयभाक्। 2. असाक्षिके हते। 3. कृताहते। कृताङ्कघात्। 4. चिह्नैर्व्रणादि। 5. द्विगुणः स्मृतः।

समेष्वेवं परस्त्रीषु द्विगुणस्तूत्तमेषु च।
हीनेष्वर्धदमो[1] मोहमदादिभिरदण्डनम् ॥ २१४ ॥

भस्मना पङ्केन रेणुना वा यः परं स्पर्शयत्यसौ दशपणं दण्डं दाप्यः । अमेध्यमिति अश्रुश्लेष्मनखकेशकर्णविट्दूषिकाभुक्तोच्छिष्टादिकं च गृह्यते । पार्ष्णिः पादस्य पश्चिमो भागः, निष्ठ्यूतं मुखनिःसारितं जलम्, तैः स्पर्शने ततः पूर्वाद्दशपणाद् द्विगुणो विंशतिपणो दण्डो वेदितव्यः ॥ पुरीषादिस्पर्शने पुनः कात्यायनेन विशेष उक्तः—'छर्दिमूत्रपुरीषाद्यैरापाद्यः स चतुर्गुणः । षड्गुणः कायमध्ये स्यान्मूर्ध्नि त्वष्टगुणः स्मृतः ॥' इति । 'आद्य'ग्रहणाद्वसाशुक्रासृङ्मज्जानो गृह्यन्ते । एवंभूतः पूर्वोक्तो दण्डः सवर्णविषये द्रष्टव्यः । परभार्यासु चाविशेषेण । तथोत्तमेषु स्वापेक्षयाऽधिकश्रुतवृत्तेषु पूर्वोक्ताद्दशपणाद्विंशतिपणाच्च दण्डाद् द्विगुणो दण्डो वेदितव्यः । हीनेषु स्वापेक्षया [2]न्यूतवृत्तश्रुतादिषु पूर्वोक्तस्यार्धदमः पञ्चपणो दशपणश्च वेदितव्यः । मोहश्चित्तवैकल्यम् , मदो मद्यपानजन्योऽवस्थाविशेषः । 'आदि'ग्रहणाद् ग्रहावेशादिकम् । एतैर्युक्तेन भस्मादिस्पर्शने कृतेऽपि दण्डो न कर्तव्यः ॥ २१३–२१४ ॥

भाषा—भस्म, कीचड़ और धूल फेंकने पर दस पण का दण्ड होता है अमेध्य (शरीर के विकार और जूठा भोजन) फेंकने पर एड़ी से मारने पर और थूक फेंकने पर उससे दूना अर्थात् बीस पण दण्ड होता है। ये दण्ड समान वर्ण के व्यक्ति पर भस्म आदि फेंकने पर ही होते हैं। परस्त्री और उत्तम जाति के व्यक्ति को भस्मादि फेंककर पीड़ित करने पर दूना दण्ड होता है और अपनी अपेक्षा निम्नतर वर्ण एवं वृत्ति वाले को इस प्रकार पीड़ित करने पर आधा दण्ड होता है। मोह (भूल) और मदपान के कारण ऐसा अपराध करे तो दण्ड का भागी नहीं होता ॥ २१३–२१४ ॥

प्रातिलोम्यापराधे दण्डमाह—

विप्रपीडाकरं छेद्यमङ्गमब्राह्मणस्य तु ।
उद्गूर्णे प्रथमो दण्डः संस्पर्शे तु तदर्धिकः ॥ २१५ ॥

ब्राह्मणानां पीडाकरमब्राह्मणस्य क्षत्रियादेर्यदङ्गं करचरणादिकं तच्छेत्तव्यम् । क्षत्रियवैश्ययोरपि पीडां कुर्वतः शूद्रस्याङ्गच्छेदनमेव । (मनुः ८।२७९)—'येन केनचिदङ्गेन हिंस्याच्[3]छ्रेयांसमन्त्यजः । छेत्तव्यं तत्तदेवास्य तन्मनोरनुशासनम् ॥' इति । द्विजातिमात्रस्यापराधे शूद्रस्याङ्गच्छेदविधानाद्वैश्यस्यापि

---

1. क्रमः प्रोक्तो मदादिभिः । 2. न्यूनश्रुतादिषु । 3. च्छेत्तुमे- मन्त्यजः–मनुः ।

क्षत्रियापकारिणोऽयमेव दण्डः; तुल्यन्यायत्वात् । उद्गूर्णे वधार्थमुद्यते शस्त्रादिके प्रथमसाहसो दण्डो वेदितव्यः । शूद्रस्य पुनरुद्गूर्णेऽपि हस्तादिच्छेदनमेव; (८।२८०)—'पाणिमुद्यम्य दण्डं वा पाणिच्छेदनमर्हति' इति मनुस्मरणात् ॥ उद्गूरणार्थं शस्त्रादिस्पर्शने तु तदर्धिकः प्रथमसाहसादर्धदण्डो वेदितव्यः ॥ भस्मादिसंस्पर्शे पुनः क्षत्रियवैश्ययोः 'प्रातिलोम्यापवादेषु द्विगुणत्रिगुणा दमा' (व्य० २०७) इति वाक्पारुष्योक्तन्यायेन कल्प्यम् । शूद्रस्य तत्रापि हस्तच्छेद एव । (८।२८२)—'अवनिष्ठीवतो दर्पाद् द्वावोष्ठौ छेदयेन्नृपः । अवमूत्रयतो मेढ्रमवशर्धयतो गुदम् ॥' इति मनुस्मरणात् ॥ २१५ ॥

भाषा—ब्राह्मण को पीड़ा देने वाला यदि अब्राह्मण (क्षत्रिय आदि) हो तो उस अंग को (जिससे उसने पीड़ा पहुँचाई हो) काट डालना चाहिए । मारने के लिये शस्त्र उठाने पर प्रथम साहस का दण्ड होता है और शस्त्र छूकर छोड़ देने वाले को उसका (प्रथम साहस का) आधा दण्ड मिलता है ॥ २१५ ॥

एवं प्रातिलोम्यापराधे दण्डमभिधाय पुनः सजातिमधिकृत्याह—

उद्गूर्णे हस्तपादे तु दशविंशतिकौ दमौ ।
परस्परं तु सर्वेषां[1] शस्त्रे मध्यमसाहसः ॥ २१६ ॥

हस्ते पादे वा ताडनार्थमुद्गूर्णे यथाक्रमं दशपणो विंशतिपणश्च दण्डो वेदितव्यः । परस्परवधार्थं शस्त्रे उद्गूर्णे सर्वेषां वर्णिनां मध्यमसाहसो दण्डः ॥

(परस्पर अपने समान जाति वाले को) मारने के लिए हाथ और पैर उठाने पर दश पण और बीस पण और शस्त्र उठाने पर मध्यम साहस का दण्ड होता है ॥ २१६ ॥

पादकेशांशुककरो[2]ल्लुञ्चनेषु पणान्दश ।
[3]पीडाकर्षांशुकावेष्टपादाध्यासे शतं दमः ॥ २१७ ॥

किंच, पादकेशवस्त्रकराणामन्यतमं गृहीत्वा य उल्लुञ्चति झटित्याकर्षयति असौ दशपणान्दण्ड्यः । पीडा च कर्षश्चांशुकावेष्टश्च पादाध्यासश्च पीडाकर्षांशुकावेष्टपादाध्यासं तस्मिन्समुच्चिते शतं दण्ड्यः । एतदुक्तं भवति—अंशुकेनावेष्ट्य गाढमापीड्याकृष्य च यः पादेन घट्टयति, तं शतं पणान्दा[4]पयेदिति ॥

भाषा—पैर, केश, वस्त्र और हाथ पकड़कर बलपूर्वक खींचने में दश पण दण्ड होता है और जो पीड़ा पहुँचाते हुए, वस्त्र में बाँधकर, पैर से मारे उस पर सौ पण का दण्ड लगता है ॥ २१७ ॥

---

१. वर्णानां । २. करालुञ्चनेषु । ३. पीडाकर्षांशुकावेष्ट । ४. दम-येदिति ।

शोणितेन विना दुः[1]खं कुर्वन्काष्ठादिभिर्नरः ।
द्वात्रिंशतं पणान्द[2]ण्ड्यो द्विगुणं दर्शनेऽसृजः ॥ २१८ ॥

किंच । यः पुनः शोणितं यथा न दृश्यते तथा मृदुताडनं काष्ठलोष्टादिभिः करोत्यसौ द्वात्रिंशतं पणान्दण्ड्यः ॥ यदा पुनर्गाढताडनेन लोहितं दृश्यते तदा द्वात्रिंशतो द्विगुणं चतुःषष्टिपणान्दण्डनीयः । [3]त्वङ्मांसास्थिभेदे पुनर्विशेषो मनुना दर्शितः (८।२८४)—'त्वग्भेदकः शतं दण्ड्यो लोहितस्य च दर्शकः । मांसभेत्ता च षण्निष्कान्प्रवास्यस्त्वस्थिभेदकः ॥' इति ॥ २१८ ॥

भाषा—यदि कोई व्यक्ति लकड़ी आदि से मार कर विना रुधिर निकाले दुःख पहुँचाता है तो बत्तीस पण दण्ड होता है और रुधिर दिखाई पड़ने पर उसके दूना दण्ड होता है ॥ २१८ ॥

करपादद[4]तो भङ्गे छेदने कर्णनासयोः ।
मध्यो दण्डो व्रणोद्भेदे मृतकल्पहते तथा ॥ २१९ ॥

किंच, करपाददन्तस्य प्रत्येकं भङ्गे कर्णनासस्य च प्रत्येकं छेदने रूढव्रणस्योद्भेदने मृतकल्पो यथा भवति तथा हते ताडिते मध्यमसाहसो वेदितव्यः । अनुबन्धादिना विषयस्य साम्यमत्रापादनीयम् ॥ २१९ ॥

भाषा—हाथ, पैर, और दाँत तोड़ने पर, कान और नाक काटने पर, फोड़ा कुचल देने पर तथा मारते-मारते अधमरा कर देने पर मध्यमसाहस का दण्ड होता है ॥ २१९ ॥

चेष्टाभोजनवाग्रोधे नेत्रादिप्रतिभेदने ।
कन्धराबाहुस[5]क्थ्नां च भङ्गे म[6]ध्यमसाहसः ॥ २२० ॥

किंच, गमनभोजनभाषणनिरोधे नेत्रस्य 'आदि' ग्रहणाज्जिह्वायाश्च प्रतिभेदने । कन्धरा ग्रीवा, बाहुः प्रसिद्धः, सक्थि ऊरुस्तेषां प्रत्येकं भञ्जने मध्यमसाहसो दण्डः ॥ २२० ॥

भाषा—चलना, भोजन और बोलना रोक देनेपर, आँख आदि (जिह्वा भी) फोड़ने या काटने पर, ग्रीवा, बाँह और जंघा तोड़ने पर मध्यमसाहस का दण्ड होता है ॥ २२० ॥

एकं घ्नतां बहूनां च यथोक्ताद् द्विगुणो दमः ।

अपि च, यदा पुनर्बहवो मिलिता एकस्याङ्गभङ्गादिकं कुर्वन्ति, तदा यस्मिन्यस्मिन् अपराधे यो यो दण्ड उक्तस्तत्र तस्माद् द्विगुणो दण्डः प्रत्येकं

---

१. पीडां । २. पणान्दाप्यो । ३. मांसास्थिविभेदे । ४. दन्तभङ्गे । ५. सक्थ्यस्थिभङ्गे । ६. उत्तमसाहसः ।

वेदितव्यः। अतिक्रूरत्वात्तेषां प्रातिलोम्यानुलोम्यापराधयोरप्येतस्यैव[1] सवर्णविषयेऽभिहितस्य दण्डजातस्य वाक्पारुष्योक्तक्रमेण हानिं वृद्धिं च कल्पयेत्; 'वाक्पारुष्ये य[2] एवोक्तः प्रातिलोम्यानुलोमतः। स एव दण्डपारुष्ये दाप्यो राज्ञा यथाक्रमम्॥' इति स्मरणात्॥—

कलहापहृतं देयं दण्डश्च द्विगुणस्ततः[3]॥ २२१॥

किंच, कलहे वर्तमाने यद्येनापहृतं तत्तेन प्रत्यर्पणीयम्। अपहृतद्रव्याद् द्विगुणश्चापहारनिमित्तो दण्डो देयः॥ २२१॥

भाषा—बहुत से व्यक्ति मिलकर यदि एक व्यक्ति को मारे पीटे तो जिस-जिस अपराध का जो-जो दण्ड कहा गया है उसके दुगुना दण्ड देना चाहिए। कलह में ली हुई वस्तु लौटवानी चाहिए और उसके दूना दण्ड देना चाहिए॥ २२१॥

दुःखमुत्पादयेद्यस्तु स समुत्थानजं[4] व्ययम्।
दाप्यो दण्डं[5] च यो यस्मिन्कलहे समुदाहृतः॥ २२२॥

किंच, यो यस्य ताडनाद्दुःखमुत्पादयेत्स तस्य व्रणरोपणादौ औषधार्थं पथ्यार्थं च यो व्ययः क्रियते तं दद्यात्। समुत्थानं व्रणरोपणम्। यस्मिन्कलहे यो दण्डस्तं च दद्यात्, न पुनः समुत्थानजव्ययमात्रम्॥ २२२॥

भाषा—जो किसी को मारपीट कर चोट पहुँचावे वह उसकी दवा और पथ्य में लगे हुए व्यय को भी चुकता करे। और जिस कलह में जो दण्ड कहा गया है वह दण्ड उस व्यक्ति को देना चाहिए॥ २२२॥

परगात्राभिद्रोहे दण्डमुक्त्वानन्तरं बहिरङ्गार्थनाशे दण्डमाह—

अभिघाते तथा छेदे भेदे कुड्यावपातने।
पणान्दाप्यः पञ्च दश विंशतिं तद्द्वयं तथा॥ २२३॥

मुद्गरादिना कुड्यस्याभिघाते विदारणे [6]द्विधाकरणे च यथाक्रमं पञ्चपणो दशपणो विंशतिपणश्च दण्डो वेदितव्यः। अवपातने पुनः कुड्यस्यैते त्रयो दण्डाः सँमुच्चिता[7] ग्राह्याः; पुनः कुड्यसंपादनार्थं च धनं स्वामिने दद्यात्॥ २२३॥

भाषा—मुद्गर आदि से दीवाल को फोड़ने, छेद करने और गिराने पर क्रमशः पाँच, दस और बीस पण दण्ड तथा उसको बनवाने का व्यय (हानि पहुँचाने वाले से) दिलाया चाहिए॥ २२३॥

---

१. पराधेऽप्येतस्यैव। २. य एवोक्तः प्रतिलोमानुलोमतः। स एव दण्डपारुष्ये राज्ञा कार्यो यथाक्रमम्। ३. स्तथा। ४. स्थानधनव्ययम्। ५. दण्डश्च। ६. द्वैधीकरणे। ७. समन्विताः।

दुःखोत्पादि गृहे द्रव्यं क्षिपन्प्राणहरं तथा ।
षोडशाद्यः पणान्दाप्यो द्वितीयो मध्यमं दमम् ॥ २२४ ॥

अपि च, परगृहे दुःखजनकं कण्टकादि द्रव्यं प्रक्षिपन्षोडशपणान्दण्ड्यः । प्राणहरं पुनर्विषभुजङ्गादिकं प्रक्षिपन्मध्यमसाहसं दण्ड्यः ॥ २२४ ॥

भाषा—दूसरे के घर में दुःख उत्पन्न करने वाले (कण्टक आदि) और (विष, सर्प आदि) प्राण लेने वाले द्रव्य या जीव फेंकने वाले में पहले सोलह पण ॥ २२४ ॥

पशुभिद्रोहे दण्डमाह—

दुःखे च शोणितोत्पादे शाखाङ्गच्छेदने तथा ।
दण्डः क्षुद्रपशूनां तु द्विपणप्रभृतिः क्रमात् ॥ २२५ ॥

क्षुद्राणां पशूनां [1]अजाविकहरिणप्रायाणां ताडनेन दुःखोत्पादने असृक्स्रावणे शाखाङ्गच्छेदने । 'शाखा' शब्देन चात्र प्राणसंचाररहितं शृङ्गादिकं लक्ष्यते । अङ्गानि करचरणप्रभृतीनि; शाखा चाङ्गं च शाखाङ्गं तस्य छेदने द्विपणप्रभृतिर्दण्डः । द्वौ पणौ यस्य दण्डस्य स द्विपणः । द्विपणः प्रभृतिरादिर्यस्य दण्डगणस्यासौ द्विपणप्रभृतिः । स च दण्डगणो द्विपणश्चतुष्पणः षट्पणोऽष्टपण इत्येवंरूपो न पुनर्द्विपणस्त्रिप[2]णश्चतुष्पणः पञ्चपण इति । कथमिति चेदुच्यते ? अपराधगुरुत्वात्तावत्प्रथमदण्डाद् गुरुतरमुपरितनं दण्डत्रितयमवगम्यते । तत्र चाश्रुतत्रित्वादिसंख्याश्रयणाद्वरं श्रुतिद्विसंख्याया एवाभ्यासाश्रयणेन गुरुत्वसंपादनमिति निरवद्यम् ॥ २२५ ॥

भाषा—बकरी, भेंड़, हरिण जैसे क्षुद्र पशुओं को मारकर रुधिर निकालने, और सींग आदि निर्जीव अंग काटने पर क्रमशः दो, चार, छः और आठ पण दण्ड होता है ॥ २२५ ॥

लिङ्गस्य छेदने मृत्यौ मध्यमो मूल्यमेव च ।
महापशूनामेतेषु स्थानेषु द्विगुणो दमः ॥ २२६ ॥

किंच, तेषां क्षुद्रपशूनां लिङ्गच्छेदने मरणे च मध्यमसाहसो दण्डः । स्वामिने च मूल्यं दद्यात् । महापशूनां पुनर्गोगजवाजिप्रभृतीनामेतेषु स्थानेषु ताडनलोहित[3]स्रावणादिषु निमित्तेषु पूर्वोक्ताद्दण्डाद् द्विगुणो दण्डो वेदितव्यः ॥ २२६ ॥

भाषा—उन क्षुद्र पशुओं का लिङ्ग काटने और उन्हें मार डालने पर मध्यम साहस का दण्ड होता है और पशु का मूल्य भी देना होता है यदि

---

१. अजाविहरिणानां । २. त्रिपणश्चतुःपणः । ३. स्रावणादिनिमित्तेषु ।

गाय, हाथी, घोड़ा जैसे बड़े पशु हों तो इन स्थानों पर चोट पहुँचाने पर पूर्वोक्त दण्ड से दुगुना दण्ड समझना चाहिए ॥ २२६ ॥

स्थावराभिद्रोहे दण्डमाह—

प्ररोहिशाखिनां शाखास्कन्धसर्वविदारणे।
उपजीव्यद्रुमाणां च विंशतेर्द्विगुणो दमः ॥ २२७ ॥

प्ररोहा अङ्कुरास्तद्वत्यः शाखाः प्ररोहिण्यः; याश्छिन्नाः पुनरुप्ताः प्रतिकाण्डं प्ररोहन्ति ताः शाखा येषां वटादीनां ते प्ररोहिशाखिनः; तेषां शाखाच्छेदने, यतो मूलशाखा निर्गच्छन्ति स स्कन्धः, तस्य छेदने; समूलवृक्षच्छेदने च यथाक्रमं विंशतिपण[1]दण्डादारभ्य पूर्वस्मात्पूर्वस्मादुत्तरोत्तरो दण्डो द्विगुणः। एतदुक्तं भवति—विंशतिपणश्चत्वारिंशत्पणोऽशीतिपण इत्येवं त्रयो दण्डा यथाक्रमं शाखाच्छेदनादिष्वपराधेषु भवन्तीति । अप्ररोहिशाखिनामप्युपजीव्यवृक्षाणामाम्रादीनां पूर्वोक्तेषु स्थानेषु पूर्वोक्ता एव दण्डाः, अनुपजीव्याप्ररोहिशाखिषु पुनर्वृक्षेषु कल्प्याः ॥ २२७ ॥

भाषा—कोपलों से युक्त डालों वाले वृक्षों की शाखा और तना या सम्पूर्ण वृक्ष काटने पर यदि वह वृक्ष मनुष्य के जीविका-निर्वाह का साधन (आम आदि का) हो तो क्रमशः बीस, चालीस और अस्सी पण दण्ड लगता है ॥ २२७ ॥

वृक्षविशेषान्प्रत्याह—

चैत्यश्मशानसीमासु पुण्यस्थाने सुरालये।
जातद्रुमाणां द्विगुणो दमो[2] वृक्षे च विश्रुते ॥ २२८ ॥

चैत्यादिषु जातानां वृक्षाणां शाखाच्छेदनादिषु पूर्वोक्ताद्दण्डाद् द्विगुणः। विश्रुते च पिप्पलपलाशादिके द्विगुणो दण्डः ॥ २२८ ॥

भाषा—धार्मिक स्थान, श्मशान, सीमा, पवित्र स्थान और देवता के मन्दिर में उत्पन्न हुए वृक्ष और पीपल, पलाश आदि के वृक्ष की शाखा आदि काटने पर उपरोक्त दण्ड से दुगुना दण्ड होता है ॥ २२८ ॥

गुल्मादीन्प्रत्याह—

गुल्मगुच्छक्षुपलताप्रतानौषधिवीरुधाम्।
पूर्वस्मृतादर्धदण्डः स्थानेषूक्तेषु कर्तने ॥ २२९ ॥

गुल्मा अनतिदीर्घनिबिडलता मालत्यादयः, गुच्छा अवल्लीरूपाः असरलप्रायाः कुरण्टकादयः, क्षुपाः करवीरादयः सरलप्रायाः, लता दीर्घयायिन्यो

---

1. पणाद्दण्डादारभ्य। 2. दमो वृक्षेऽथ विश्रुते। 'दमा वृक्षं'।

द्राक्षातिमुक्ताप्रभृतयः, प्रतानाः काण्डप्ररोहरहिताः सरलयायिन्यः[1] सारिवाप्रभृतयः, ओषध्यः फलपाकावसानाः शालिप्रभृतयः, वीरुधः छिन्ना अपि या विविधं प्ररोहन्ति ताः गुडूचीप्रभृतयः, एतेषां पूर्वोक्तेषु स्थानेषु विकर्तने छेदने पूर्वोक्ताद्दण्डादर्धदण्डो वेदितव्यः ॥ २२९ ॥

भाषा—गुल्म मालती जैसी (छोटी और घनी लताएँ), गुच्छ (कुरण्टक जैसी लपटाने वाली लता), क्षुप (करवीर जैसी सीधी लता), द्राक्षा जैसी बड़ी लता, सीधी चलने वाली सारिवा आदि लताएँ, शालि आदि ओषधियों और गुडूची आदि विरवों को पूर्वोक्त स्थानों पर काटने का दण्ड उपरोक्त दण्ड से आधा होता है ॥ २२९ ॥

इति दण्डपारुष्यप्रकरणम् ।

अथ साहसप्रकरणम् २०

संप्रति साहसं नाम विवादपदं व्याचिख्यासुस्तल्लक्षणं तावदाह—

सामान्यद्रव्यप्रसभहरणात्साहसं[2] स्मृतम् ।

सामान्यस्य साधारणस्य [3]यथेष्टविनियोगानर्हस्य[4]विशेषेण परकीयस्य द्रव्यस्यापहरणं साहसम् । कुतः ? प्रसभहरणात् प्रसह्य हरणात्, बलावष्टम्भेन हरणादिति यावत् ॥ एतदुक्तं भवति—राजदण्डं जनाक्रोशं चोल्लङ्घ्य राजपुरुषेतरजनसमक्षं यत्किंचिन्मारणहरणपरदारप्रधर्षणादिकं क्रियते तत्सर्वं साहसमिति साहसलक्षणम् । अतः साधारणधनपरधनयोर्हरणस्यापि बलावष्टम्भेन क्रियमाणत्वात्साहसत्वमिति । नारदेनापि साहसस्य स्वरूपं विवृतम् (१।१४)—'सहसा क्रियते कर्म यत्किंचिद्बलदर्पितैः । तत्साहसमिति प्रोक्तं सहो बलमिहोच्यते ॥' इति । तदिदं साहसं चौर्यवाग्दण्डपारुष्यस्त्रीसंग्रहणेषु व्यासक्तमपि बलदर्पावष्टम्भोपाधितो भिद्यते[5] इति दण्डातिरेकार्थं पृथगभिधानम् । तस्य च दण्डवैचित्र्यप्रतिपादनार्थं प्रथमादिभेदेन त्रैविध्यमभिधाय तल्लक्षणं तेनैव विवृतम् (१४।३-९)—'तत्पुनस्त्रिविधं ज्ञेयं प्रथमं मध्यमं तथा । उत्तमं चेति शास्त्रेषु तस्योक्तं लक्षणं पृथक् ॥ फलमूलोदकादीनां क्षेत्रोपकरणस्य च । भङ्गाक्षेपोपमर्दाद्यैः प्रथमं साहसं स्मृतम् ॥ वासःपश्वन्नपानानां गृहोपकरणस्य च । एतेनैव प्रकारेण मध्यमं साहसं स्मृतम् ॥ व्यापादो विषशस्त्राद्यैः परदाराभिमर्शनम् । प्राणोपरोधि यच्चान्यदुक्तमुत्तमसाहसम् ॥ तस्य दण्डः क्रियाक्षेपः प्रथमस्य

---

१. शिखायायिन्यः । २. हरणं साहसं । ३. यथेष्टविनियोग । ४. स्याद्विशेषेण । ५. पाधिना भिद्यते ।

शतावरः। मध्यमस्य तु शास्त्रज्ञैर्दृष्टः पञ्चशतावरः॥ उत्तमे साहसे दण्डः सहस्रावर इष्यते। वधः सर्वस्वहरणं पुरान्निर्वासनाङ्कने। तदङ्गच्छेद इत्युक्तो दण्ड उत्तमसाहसे॥' इति॥ वधादयश्चापराधतारतम्यादुत्तमसाहसे समस्ता व्यस्ता वा योज्याः॥

तत्र परद्रव्यापहरणरूपे साहसे दण्डमाह—

तन्मूल्याद् द्विगुणो दण्डो निह्नवे तु चतुर्गुणः॥ २३० ॥

तस्यापहृतद्रव्यस्य मूल्यात् द्विगुणो दण्डः। यः पुनः साहसं कृत्वा 'नाहमकार्षम्' इति निह्नुते तस्य मूल्याच्चतुर्गुणो दण्डो भवति। एतस्मादेव विशेषदण्डविधानात्प्रथमसाहसादिसामान्यदण्डविधानमपहारव्यतिरिक्तविषयं गम्यते॥ २३०॥

भाषा—सामान्य वस्तु के बलपूर्वक अपहरण को साहस कहते हैं। उसके लिए उस वस्तु के मूल्य का दुगुना दण्ड होता है और अपराध अस्वीकार करने पर उसका चौगुना दण्ड होता है॥ २३०॥

साहसिकस्य प्रयोजयितारं प्रत्याह—

यः साहसं कारयति स दाप्यो द्विगुणं दमम्।
यश्चैवमुक्त्वाऽहं दाता कारयेत्स चतुर्गुणम्॥ २३१॥

यस्तु 'साहसं कुरु' इत्येवमुक्त्वा कारयत्यसौ साहसिकाद्दण्डाद् द्विगुणं दण्डं दाप्यः। यः पुनः 'अहं तुभ्यं धनं दास्यामि, त्वं कुरु' इत्येवमुक्त्वा साहसं कारयति स चतुर्गुणं दण्डं दाप्योऽनुबन्धातिशयात्॥ २३१॥

भाषा—जो व्यक्ति साहस कराता है (करने के लिए उकसाता है) उससे साहसिक के दण्ड से दुगुना दण्ड लेना चाहिए और जो ऐसा कहे कि तुम करो जो लगेगा वह मैं दूँगा, उससे उसके चौगुना दण्ड लेवे॥ २३१॥

साहसिकविशेषं प्रत्याह—

[2]अर्घ्याक्षेपातिक्रमकृद् भ्रातृभार्याप्रहारकः।
संदिष्टस्याप्रदाता च समुद्रगृहभेदकृत्॥ २३२॥
सामन्तकुलिकादीनामपकारस्य कारकः।
पञ्चाशत्पणिको दण्ड एषामिति विनिश्चयः॥ २३३॥

अर्घ्यस्यार्घार्हस्याचार्यादेराक्षेपमाज्ञातिक्रमं च यः करोति, यश्च भ्रातृभार्यां ताडयति तथा संदिष्टस्य प्रतिश्रुतस्यार्थस्याप्रदाता यश्च मुद्रितं गृहमुद्घाटयति तथा स्वगृहे क्षेत्रादिसंसक्तगृहक्षेत्रादिस्वामिनां कुलिकानां स्वकुलोद्भवानां

---

1. कुर्विंत्येवं वाचैव कारयति। 2. अर्घ्याक्रोशाति।

'आदि' ग्रहणात् स्वग्राम्यस्वदेशीयानां च योऽपकर्ता, ते सर्वे पञ्चाशत्पणपरिमितेन दण्डेन दण्डनीयाः ॥ २३२–२३३ ॥

भाषा—आचार्य आदि अर्घ्य व्यक्तियों को आक्षेप करने वाले, भाई की पत्नी को मारने वाले, सन्देश न कहने वाले, बन्द घर का द्वार तोड़ने वाले, सामन्त (जिसका खेत या घर सटा हुआ हो ऐसे) और अपने कुल में उत्पन्न व्यक्तियों का अपकार करने वाले से पचास पण का दण्ड लिया जाता है; यह निश्चय है ॥ २३२–२३३ ॥

स्वच्छन्दविधवागामी विक्रुष्टेऽनभिधावकः ।
अकारणे च विक्रोष्टा चण्डालश्चोत्तमान्स्पृशेत्[1] ॥ २३४ ॥
शूद्रप्रव्रजितानां[2] च दैवे पित्र्ये च भोजकः ।
अयुक्तं शपथं कुर्वन्नयोग्यो योग्यकर्मकृत् ॥ २३५ ॥
वृषक्षुद्रपशूनां च पुंस्त्वस्य प्रतिघातकृत् ।
साधारणस्यापलापी दासीगर्भविनाशकृत् ॥ २३६ ॥
पितृपुत्र[3]स्वसृभ्रातृदम्पत्याचार्यशिष्यकाः ।
एषामपतितान्योन्यत्यागी च शतदण्डभाक् ॥ २३७ ॥

किंच, नियोगं विना यः स्वेच्छया विधवां गच्छति, चौरादिभयाकुलैर्विक्रुष्टे च यः शक्तोऽपि नाभिधावति, यश्च वृथाक्रोशं करोति, यश्च चण्डालो ब्राह्मणादीन्स्पृशति, यश्च शूद्र[2]प्रव्रजितान्दिगम्बरादीन्दैवे पित्र्ये च कर्मणि भोजयति, यश्चायुक्तं 'मातरं [4]गमिष्यामि' इत्येवं शपथं करोति, तथा यश्च अयोग्य एव शूद्रादियोग्यकर्माध्ययनादि करोति, वृषो बलीवर्दः; क्षुद्रपशवोऽजादयस्तेषां पुंस्त्वस्य प्रजननशक्तेर्विनाशकः, 'वृक्षक्षुद्रपशूनाम्' इति पाठे हिंस्वायौषधप्रयोगेण वृक्षादेः फलप्रसूनानां पातयिता, साधारणमपलपति साधारणद्रव्यस्य च वञ्चकः, दासीगर्भस्य च पातयिता, ये च पित्रादयोऽपतिता एव सन्तोऽन्योन्यं त्यजन्ति, ते सर्वे प्रत्येकं पणशतं दण्डार्हा भवन्ति ॥ २३४–२३७ ॥

भाषा—बिना नियोग के अपनी इच्छा से विधवा स्त्री के साथ संभोग करने वाला, भयातुर व्यक्ति की पुकार सुनकर शक्तिशाली होते हुए भी न दौड़ने वाला, बिना कारण के आर्त्तनाद करने वाला, और ब्राह्मण आदि उच्च वर्णों को छूने वाला चाण्डाल; शूद्र और संन्यासियों को देवयज्ञ एवं श्राद्ध में भोजन देने वाला, झूठी शपथ लेने वाला, और अपने वर्ण के अयोग्य कर्म करने वाला, बैल और बकरा आदि छोटे पशुओं को बधिया करने वाला,

१. न्स्पृशन् । २. शूद्रः प्रव्रजितानां ३. पितापुत्र । ४. ग्रहीष्यामीत्येवं ।

सामान्य वस्तु को दबा लेने वाला, दासी का गर्भपात कराने वाला; और पिता, पुत्र, बहन, भाई, पति, पत्नी आचार्य और शिष्य के निर्दोष होने पर भी उनका (एक दूसरे का) त्याग करने वाला—ये सभी सौ पण दण्ड के भागी होते हैं ॥ २३४-२३७ ॥

इति साहसप्रकरणम् ॥

साहसप्रसङ्गात्तत्सदृशापराधेषु निर्णेजकादीनां दण्डमाह—

बसानस्त्रीन्पणान्दण्ड्यो नेजकस्तु परांशुकम् ।
विक्रंयावक्रयाधानयाचितेषु पणान्दश ॥ २३८ ॥

नेजको वस्त्रस्य धावकः, स यदि निर्णेजनार्थं समर्पितानि वासांसि स्वयमाच्छादयति तदाऽसौ पणत्रयं दण्ड्यः । यः पुनस्तानि विक्रीणीते अवक्रयं वा 'एतावत्कालमुपभोगार्थं वस्त्रं दीयते, मह्यमेतावद्धनं देयम्' इत्येवं भाटकेन यो ददाति, आधित्वं वा नयति, स्वसुहृद्भ्यो याचितं वा ददात्यसौ प्रत्यपराधं दशपणान्दण्डनीयः । तानि च वस्त्राणि श्लक्ष्णशाल्मलीफलके[2] क्षालनीयानि न पाषाणे, नच व्यत्यसनीयानि; नच स्वगृहे वासयितव्यानि; इतरथा दण्ड्यः । (८।३९६)—'शाल्मलीफलके श्लक्ष्णे निज्याद्वासांसि नेजकः । नच वासांसि वासोभिर्निर्हरेन्न च वासयेत् ॥' इति मनुस्मरणात् ॥ यदा पुनः प्रमादात्तानि नाशयति तदा नारदेनोक्तं द्रष्टव्यम्—'मूल्याष्टभागो हीयेत सकृद्धौतस्य वाससः । द्विः पादस्त्रिस्तृतीयांशश्चतुर्धौतेऽर्धमेव च ॥ अर्धक्षयात्तु परतः पादांशापचयः क्रमात् । यावत्क्षीणदशं जीर्णं जीर्णस्यानियमः क्षयः ॥' इति । अष्टपणक्रीतस्य सकृद्धौतस्य वस्त्रस्य नाशितस्याष्ट[3]मभागपणोनं मूल्यं देयम् । द्विर्धौतस्य तु पादोनं, त्रिर्धौतस्य पुनस्तृतीयांशन्यूनम् । चतुर्धौतस्यार्धं पणचतुष्टयं देयम् । ततः परं प्रतिनिर्णेजनमवशिष्टं मूल्यं [4]पादपादापचयेन देयम् । यावज्जीर्णं जीर्णस्य पुनर्नाशितस्येच्छातो मूल्यदानकल्पनम् ॥ २३८ ॥

भाषा—यदि धोबी धोने के लिए दिये गये दूसरों के वस्त्रों को स्वयं पहनता है तो उसे तीन पण दण्ड लगता है; यदि वह उसे बेचता है, भाड़े देता है, बन्धक रखता है या मँगनी देता है तो दश पण दण्ड लगता है ॥२३८॥

पितापुत्रविरोधे तु साक्षिणां त्रि[5]पणो दमः ।
अन्तरे च[6] तयोर्यः स्यात्तस्याप्य[7]ष्टगुणो दमः ॥ २३९ ॥

---

१. विक्रयापक्रमाधानयाचितेषु (= भाटकेनार्पणमपक्रमः, आधमनमाधानम्) २. शाल्मले फलके । ३. अष्टमभागोनं पणं मूल्यं । ४. पादाद्यपचयेन । ५. द्विशतो दमः । ६. तु । ७. त्वष्टशतो दमः ।

पितापुत्रयोः कलहे यः साक्ष्यमङ्गीकरोति, न पुनः कलहं निवारयति असौ पणत्रयं दण्ड्यः। यश्च तयोः सपणे विवादे पणदाने प्रतिभूर्भवत्यसौ, चकारात्तयोर्यः कलहं वर्धयति, सोऽपि त्रिपणादष्टगुणं चतुर्विंशतिपणान्दण्डनीयः। दम्पत्यादिष्वयमेव दण्डोऽनुसरणीयः ॥ २३९ ॥

भाषा—पिता और पुत्र के कलह में जो साक्षी बनता है (और कलह का निवारण नहीं करता) उसे तीन पण दण्ड देना चाहिए; जो उन दोनों में मध्यस्थ बने (अर्थात् पण का विवाद हो तो प्रतिभू बने और झगड़े को बढ़ावे) उससे उसका भी आठ गुना दण्ड लेना चाहिए ॥ २३९ ॥

तुलाशासनमानानां कूटकृन्नाणकस्य च।
एभिश्च व्यवहर्ता यः स दाप्यो दममुत्तमम् ॥ २४० ॥

तुला तोलनदण्डः, शासनं पूर्वोक्तम्, मानं प्रस्थद्रोणादि, नाणकं मुद्रादिचिह्नितं द्रम्मनिष्कादि, एतेषां यः कूटकृत् देशप्रसिद्धपरिमाणादन्यथा न्यूनत्वमाधिक्यं वा द्रम्मादेरव्यवहारिकमुद्रात्वं[1] ताम्रादिगर्भत्वं वा करोति, यश्च तैः कूटैर्जानन्नपि व्यवहरति, तावुभौ प्रत्येकमुत्तमसाहसं दण्डनीयौ ॥ २४० ॥

भाषा—जो तराजू से तौलने, राजा की आज्ञा, तौल के मानों (बटखरों) और नाणक (सिक्कों) में धूर्तता करे तो उसे उत्तम साहस का दण्ड देना चाहिए ॥ २४० ॥

नाणकपरीक्षिणं प्रत्याह—

अकूटं कूटकं ब्रूते कूटं यश्चाप्यकूटकम्।
स नाणकपरीक्षी तु दाप्य उत्तमसाहसम् ॥ २४१ ॥

यः पुनर्नाणकपरीक्षी ताम्रादिगर्भमेव द्रम्मादिकं सम्यगिति ब्रूते, सम्यक् च कूटकमिति असावुत्तमसाहसं दण्ड्यः ॥ २४१ ॥

भाषा—जो नाणक की परीक्षा करने वाला खोटे सिक्के को खरा कहता है और खरे को खोटा कहता है उसे उत्तम साहस का दण्ड देना चाहिए ॥ २४१ ॥

चिकित्सकं प्रत्याह—

भिषङ्मिथ्याचरन्[2]दण्ड्यस्तिर्यक्षु प्रथमं दमम्।
मानुषे मध्यमं राज[3]पुरुषेषूत्तमं दमम् ॥ २४२ ॥

यः पुनर्भिषक् मिथ्या आयुर्वेदानभिज्ञ एव जीवनार्थं 'चिकित्सितज्ञोऽहम्' इति तिर्यङ्मनुष्यराजपुरुषेषु चिकित्सामाचरत्यसौ यथाक्रमेण प्रथममध्यमोत्तम-

---

१. व्यावहारिकमुद्रितत्वं। २. चरन्दाप्यः। ३. राजमानुषे तूत्तमं।

साहसान्दण्डनीयः। तत्रापि तिर्यगादिषु मूल्यविशेषेण वर्णविशेषेण राजप्रत्यासत्तिविशेषेण [1]दण्डस्य लघुगुरुभावः कल्पनीयः ॥ २४२ ॥

भाषा—जो अल्पज्ञानी वैद्य (नीम हकीम) पशु-पक्षियों की झूठी चिकित्सा करता हो उसे प्रथम साहस का दण्ड होता है, मनुष्य की चिकित्सा करे तो मध्यम साहस का और राजपुरुष की चिकित्सा करने पर उत्तम साहस का दण्ड होता है ॥ २४२ ॥

> अबन्ध्यं यश्च बध्नाति बद्धं यश्च प्रमुञ्चति।
> अप्राप्तव्यवहारं च स दाप्यो दममुत्तमम् ॥ २४३ ॥

यः पुनर्बन्धनानर्हमनपराधिनं राजाज्ञया विना बध्नाति, यश्च बद्धं व्यवहारार्थमाहूतं अनिर्वृत्तव्यवहारं चोत्सृजति, असौ उत्तमसाहसं दाप्यः ॥ २४३ ॥

भाषा—जो बन्धन के अयोग्य व्यक्ति को राजा की आज्ञा के बिना बांधता है और जो बद्ध (व्यवहार के लिये पकड़कर लाये गए चोर आदि) को व्यवहार की निवृत्ति के पूर्व ही छोड़ देता है वह उत्तम साहस के दण्ड का भागी होता है ॥ २४३ ॥

> मानेन तुलया वापि योंऽशमष्टमकं हरेत्।
> दण्डं स दाप्यो द्विशतं वृद्धौ हानौ च कल्पितम् ॥ २४४ ॥

यः पुनर्वणिक् व्रीहिकार्पासादेः पण्यस्याष्टममंशं कूटमानेन कूटतुलया वा अन्यथा वा परिहरति असौ पणानां द्विशतं दण्डनीयः। अपहृतस्य द्रव्यस्य पुनर्वृद्धौ हानौ च दण्डस्यापि वृद्धिहानी कल्प्ये ॥ २४४ ॥

भाषा—नापने या तौलने में जो धूर्तता करके किसी वस्तु का आठवाँ भाग ले ले तो उससे दो सौ पण दण्ड लेना चाहिए। अपहृत धन के अधिक या कम होने के अनुसार दण्ड भी कम या अधिक होता है ॥ २४४ ॥

> भेषजस्नेहलवणगन्धधान्यगुडादिषु।
> पण्येषु [2]प्रक्षिपन्हीनं पणान्दाप्यस्तु षोडश ॥ २४५ ॥

भेषजमौषधद्रव्यम् , स्नेहो घृतादिः, लवणं प्रसिद्धम् , गन्धद्रव्यमुशीरादि, धान्यगुडौ प्रसिद्धौ, 'आदि' शब्दाद्धिङ्गुमरिचादि, एतेष्वसारं द्रव्यं विक्रयार्थं मिश्रयतः षोडशपणो दण्डः ॥ २४५ ॥

भाषा—औषध, घृत आदि द्रवपदार्थ, नमक, गन्ध, धान्य और गुड़ आदि में विक्रय द्वारा अधिक लाभ पाने के लिये असार द्रव्य डालने पर (मिलावट करने पर) सोलह पण दण्ड लेवे ॥ २४५ ॥

---

१. दण्डानां। २. हीनं क्षिपतः पणा दण्डस्तु।

मृच्चर्ममणिसूत्रायःकाष्ठवल्कलवाससाम् ।
अजातौ जातिकरणे विक्रेयाष्टगुणो[1] दमः ॥ २४६ ॥

किंच, न विद्यते बहुमूल्या जातिर्यस्मिन्मृच्चर्मादिके तदजाति, तस्मिन् जातिकरणे विक्रयार्थं गन्धवर्णरसान्तरसंचारणेन बहुमूल्यजातीयसादृश्यसंपादने यथा—मल्लिकामोदसंचारेण मृत्तिकायां सुगन्धामलकमिति, मार्जारचर्मणि वर्णोत्कर्षापादनेन व्याघ्रचर्मेति, स्फटिकमणौ वर्णान्तकरणेन पद्मराग इति, कार्पासिके सूत्रे गुणोत्कर्षाधानेन पट्टसूत्रमिति, कौलायसे[2] वर्णोत्कर्षाधानेन रजतमिति, बिल्वकाष्ठे चन्दनामोदसंचारेण चन्दनमिति, कङ्कोले त्वगाख्यं लवङ्गमिति, कार्पासिके वाससि गुणोत्कर्षाधानेन कौशेयमिति, विक्रेयस्यापादितसादृश्यमृच्चर्मादेः पण्यस्याष्टगुणो दण्डो वेदितव्यः ॥ २४६ ॥

भाषा—मिट्टी, चमड़ा, मणि, सूत, लोहा, लकड़ी, और वल्कल के वस्त्र को घटिया होने पर भी अच्छा बनाकर बेचने वाले से जितने मूल्य पर बिका हो उसके आठ गुना दण्ड लेवे ॥ २४६ ॥

संमुद्ग[3]परिवर्तं च सारभाण्डं च कृत्रिमम् ।
आधानं विक्रयं वापि नयतो दण्डकल्पना ॥ २४७ ॥
भिन्ने पणे च[4] पञ्चाशत्पणे तु शतमुच्यते ।
द्विपणे द्विशतो दण्डो मूल्यवृद्धौ च[5] वृद्धिमान् ॥ २४८ ॥

मुद्गः पिधानं, मुद्गेन सह वर्तत इति संमुद्गं करण्डकम्, परिवर्तनं व्यत्यासः; योऽन्यदेव मुक्तानां पूर्णं करण्डकं दर्शयित्वा हस्तलाघवेनान्यदेव स्फटिकानां पूर्णं करण्डकं समर्पयति, यश्च सारभाण्डं कस्तूरिकादिकं कृत्रिमं कृत्वा विक्रयमाधिं वा नयति तस्य दण्डकल्पना वक्ष्यमाणा वेदितव्या । कृत्रिमकस्तूरिकादेर्मूल्यभूते पणे भिन्ने[6] न्यूने, न्यूनपणमूल्य इति यावत्; तस्मिन् कृत्रिमे विक्रीते पञ्चाशत्पणो दण्डः । पणमूल्ये पुनः शतम् । द्विपणमूल्ये द्विशतो दण्ड इत्येवं मूल्यवृद्धौ दण्डवृद्धिरुन्नेया ॥ २४७-२४८ ॥

भाषा—ढककर रखी हुई वस्तु को अपने हस्तलाघव से (हाथ की सफाई द्वारा) कुछ और ही बनाकर लोगों को ठगता है और जो बनावटी कस्तूरी बन्धक रखता है या बेचता है तो उसको इस प्रकार दण्ड लगता है:—कृत्रिम कस्तूरी आदि का मूल्य पण से कम में हो तो पचास पण और एक पण मूल्य हो तो सौ पण, दो पण मूल्य होने पर दो सौ पण दण्ड होता है और मूल्य की वृद्धि के अनुसार दण्ड बढ़ता जाता है ॥ २४७-२४८ ॥

---

१. विक्रयेऽष्टगुणो । २. कार्ष्णायसे च । ३. समुद्ग । ४-५. तु ।
६. भिन्ने भिन्नमूल्ये ।

वणिजः प्रत्याह—

संभूय कुर्वतामर्घं संबाधं कारुशिल्पिनाम्।
अर्घस्य ह्रासं वृद्धिं वा जानतो दम उत्तमः ॥ २४९ ॥

राजनिरूपितार्घस्य ह्रासं वृद्धिं वा जानन्तोऽपि वणिजः संभूय मिलित्वा कारूणां रजकादीनां शिल्पिनां चित्रकारादीनां संबाधं पीडाकरमर्घान्तरं लाभलोभात्कुर्वन्तः पणसहस्रं दण्डनीयाः ॥ २४९ ॥

भाषा—यदि राजा द्वारा निर्धारित मूल्य की वृद्धि और ह्रास को जानते हुए भी व्यापारी लोग आपस में मिलकर रजक आदि को और शिल्पियों को पीड़ित करें तो उन्हें उत्तम साहस का दण्ड देना चाहिए ॥ २४९ ॥

संभूय वणिजां पण्यमनर्घेणोपरुन्धताम्।
विक्रीणतां वा विहितो दण्ड उत्तमसाहसः ॥ २५० ॥

किंच, ये पुनर्वणिजो मिलित्वा देशान्तरादागतं पण्यमनर्घेण हीनमूल्येन प्रार्थयमाना उपरुन्धन्ति, महार्घेण वा विक्रीणते तेषामुत्तमसाहसो दण्डो विहितो मन्वादिभिः ॥ २५० ॥

भाषा—जो व्यापारी आपस में मिलकर दूसरे देश से लाई गयी वस्तु को कम मूल्य पर बिकने से रोक देते हैं अथवा अधिक मूल्य पर बेचते हैं उनके लिये उत्तम साहस का दण्ड विहित है ॥ २५० ॥

केन पुनरर्घेण पणितव्यमित्यत आह—

राजनि स्थाप्यते योऽर्घः प्रत्यहं तेन विक्रयः।
क्रयो वा निःस्रवस्तस्माद्वणिजां लाभकृत्स्मृतः ॥ २५१ ॥

राजनि संनिहिते सति यस्तेनार्घः स्थाप्यते निरूप्यते तेनार्घेण प्रतिदिनं क्रयो विक्रयो वा कार्यः। निर्गतः स्रवो निःस्रवोऽवशेषस्तस्माद्राजनिरूपितार्घाद्यो निःस्रवः स एव वणिजां लाभकारी, न पुनः स्वच्छन्दपरिकल्पितात्। मनुना चार्घकरणे विशेषो दर्शितः (८।४०२)—'पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे पक्षे मासे तथा गते। कुर्वीत चैषां प्रत्यक्षमर्घसंस्थापनं नृपः ॥' इति ॥ २५१ ॥

भाषा—राजा द्वारा जो मूल्य निर्धारित किया गया हो उसी मूल्य पर प्रतिदिन क्रय या विक्रय करना चाहिए। उससे जो कुछ शेष बचे वही बनियों का लाभ होता है ॥ २५१ ॥

---

१. ह्रासे वृद्धौ वा साहस्रो दण्ड उच्यते। २. जानतां। ३. मभिहितो। ४. लाभकः। ५. शेषः।

स्वदेशपण्ये तु शतं वणिग्गृह्णीत पञ्चकम् ।
दशकं पारदेश्ये[1] तु यः सद्यःक्रयविक्रयी ॥ २५२ ॥

किंच, स्वदेशप्राप्तं पण्यं गृहीत्वा यो विक्रीणीते असौ पञ्चकं शतं पणशते पणपञ्चकं लाभं गृह्णीयात् । परदेशात्प्राप्ते पुनः पण्ये शतपणमूल्ये दशपणाल्लाभं गृह्णीयात् । यस्य पणस्य ग्रहणदिवस एव विक्रयः संपद्यते । यः पुनः कालान्तरे विक्रीणीते तस्य कालोत्कर्षवशाल्लाभोत्कर्षः[2] कल्प्यः । एवं च यथार्घे निरूपिते पणशते पञ्चपणो लाभो भवति तथैवार्घो राज्ञः स्वदेशपण्यविषये स्थापनीयः ॥

भाषा—अपने देश की वस्तु लेकर तत्काल बेचने वाला बनियाँ पाँच प्रतिशत लाभ लेवें; दूसरे देश से लाकर बेचने वाले को दस प्रतिशत लाभ लेना चाहिए ॥ २५२ ॥

पारदेश्यपण्येऽर्घनिरूपणप्रकारमाह—

पण्यस्योपरि संस्थाप्य व्ययं पण्यसमुद्भवम् ।
अर्घोऽनुग्रहकृत्कार्यः[3] क्रेतुर्विक्रेतुरेव च ॥ २५३ ॥

देशान्तरादागते पण्ये देशान्तरगमनप्रत्यागमनभाण्डग्रहणशुल्कादिस्थानेषु यावानुपयुक्तोऽर्थस्तावन्तमर्थं परिगणय्य पण्यमूल्येन सह मेलयित्वा यथा पणशते दशपणो लाभः संपद्यते तथा क्रेतृविक्रेत्रोरनुग्रहकार्यर्घो राज्ञा स्थापनीयः ॥ २५३ ॥

भाषा—(दूसरे देश से लाई हुई वस्तु हो तो) बेची जाने वाली वस्तु के मूल्य के साथ उसको लाने में लगा हुआ व्यय जोड़कर क्रेता और विक्रेता के लाभ का विचार कर (राजा) मूल्य निर्धारित करे ॥ २५३ ॥

इति साहसे प्रासङ्गिकप्रकरणम् ।

अथ विक्रीयासंप्रदानप्रकरणम् ॥ २१ ॥

प्रासङ्गिकं परिसमाप्याधुना विक्रीयासंप्रदानं प्रक्रमते । तत्स्वरूपं च नारदेनाभिहितम् (८।१)—'विक्रीय पण्यं मूल्येन क्रेतुर्यन्न प्रदीयते । विक्रीयासंप्रदानं तद्विवादपदमुच्यते ॥' इति । तत्र विक्रेयद्रव्यस्य चराचरभेदेन द्वैविध्यमभिधाय पुनः षड्विधत्वं तेनैव प्रत्यपादि (८।२-३)—'लोकेऽस्मिन्द्विविधं पण्यं जङ्गमं स्थावरं तथा । षड्विधस्तस्य तु बुधैर्दानादानविधिः स्मृतः ॥ गणिमं तुलिमं मेयं क्रियया रूपतः श्रिया ॥' इति गणिमं[4] क्रमुकफलादि, तुलिमं

---

1. पारदेशे ।　2. वशाल्लाभः कल्प्य ।　3. नुग्राहकः ।　4. गणितं क्रमुकफलादि; तुलितं कर्पूरादि ।

कनककस्तूरीकुङ्कुमादि, मेयं शाल्यादि, क्रियया वाहदोहादिरूपयोपलक्षितमश्व-महिष्यादि। रूपतः पण्याङ्गनादि, श्रिया दीप्त्या मरकतपद्मरागादीति ॥

एतत्षट्प्रकारकमपि पण्यं विक्रीयाऽसंप्रयच्छतो दण्डमाह—

गृहीतमूल्यं यः पण्यं क्रेतुर्नैव प्रयच्छति।
सोदयं तस्य दाप्योऽसौ दिग्लाभं वा दिगागते ॥ २५४ ॥

गृहीतं मूल्यं यस्य पण्यस्य विक्रेत्रा तद्गृहीतमूल्यं, तद्यदि विक्रेता प्रार्थ्यमानाय स्वदेशवणिजे क्रेत्रे न समर्पयति, तच्च पण्यं यदि क्रयकाले बहुमूल्यं सत्कालान्तरेऽल्पमूल्येनैव लभ्यते तदार्घह्रासकृतो य उदयो वृद्धिः पण्यस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य तेन सहितं पण्यं विक्रेता क्रेत्रे दापनीयः। यदा मूल्यह्रासकृतः पण्यस्योदयो नास्ति, किं तु क्रयकाले यावदेवैयतो मूल्यस्येयत्पण्यमिति प्रतिपन्नं तावदेव तदा तत्पण्यमादाय तस्मिन्देशे विक्रीणानस्य यो लाभस्तेनोदयेन सहितं द्विकं त्रिकमित्यादिप्रतिपादितवृद्धिरूपोदयेन वा सहितं क्रेतृवाञ्छावशाद्दापनीयः; यथाह नारदः (८।५)—'अर्घश्चेदवहीयेत सोदयं पण्यमावहेत्। स्थानिनामेष नियमो दिग्लाभं दिग्विचारिणाम् ॥' इति। यदा स्वधर्महत्वेन पण्यस्य न्यूनभावस्तदा तस्मिन्पण्ये वस्त्रगृहादिकेय उपभोगस्तदाच्छादनसुखनिवासादिरूपो विक्रेतुस्तत्सहितं पण्यमसौ दाप्यः; यथाह नारदः (८।४)—'विक्रीय पण्यं मूल्येन यः क्रेतुर्न प्रयच्छति। स्थावरस्य क्षयं दाप्यो जङ्गमस्य क्रियाफलम् ॥' इति। विक्रेतुरुपभोगः क्षय उच्यते; क्रेतृसंबन्धित्वेन क्षीयमाणत्वात्, न पुनः कुड्यपातसस्यघातादिरूपः। तस्य तु—'उपहन्येत वा पण्यं दह्येतापह्रियेत वा। विक्रेतुरेव सोऽनर्थो विक्रीयासंप्रयच्छतः ॥' (ना० ८।६) इत्यत्रोक्तत्वात् ॥ यदा त्वसौ क्रेता देशान्तरात्पण्यग्रहणार्थमागतस्तदा तत्पण्यमादाय देशान्तरे विक्रीणानस्य यो लाभस्तेन सहितं पण्यं विक्रेता क्रेत्रे दापयितव्यः। अयं च क्रीतपण्यसमर्पणनियमोऽनुशयाभावे द्रष्टव्यः ॥ सति त्वनुशये 'क्रीत्वा विक्रीय वा किंचिदि'त्यादि (८।२२२) मनूक्तं वेदितव्यम् ॥ २५४ ॥

भाषा—जो विक्रेता सौदे का मूल्य लेकर सौदा खरीदने वाले को नहीं देता उससे राजा ब्याज के साथ सौदा (खरीदने वाले को) दिलावे; और यदि क्रेता दूसरे देश में आकर सौदा खरीद रहा हो तो उसे ले जाकर अपने देश में बेचने पर जितना लाभ उसे मिलता वह भी दिलावे ॥ २५४ ॥

विक्रीतमपि विक्रेयं पूर्वक्रेतर्यगृह्णति।
हानिश्चेत्क्रेतृदोषेण क्रेतुरेव हि सा भवेत् ॥ २५५ ॥

---

१. 'श्चेदत्र'। २. कुड्यपात्यघातादि।

किंच, यदा पुनर्जातानुशयः क्रेता पण्यं न जिघृक्षति तदा विक्रीतमपि पण्यमन्यत्र विक्रेयम् , यदा पुनर्विक्रेत्रा दीयमानं क्रेता न गृह्णाति, तच्च पण्यं राजदैविकेनोपहतं, तदा क्रेतुरेवासौ हानिर्भवेत्; पण्याग्रहणरूपेण क्रेतृदोषेण नाशितत्वात् ॥ २५५ ॥

भाषा—यदि पहले वाला क्रेता पण्य (सौदा) न ले तो बिके हुए पण्य को भी दूसरे के हाथ बेच दे। यदि इसी बीच (जब विक्रेता दे रहा हो और क्रेता न लेता हो) उस वस्तु में क्रेता के दोष से हानि हो जाय तो उसे क्रेता को ही सहन करना होता है ॥ २५५ ॥

राजदैवोपघातेन पण्ये दोषमुपागते ।
हानिर्विक्रेतुरेवासौ याचितस्याप्रयच्छतः ॥ २५६ ॥

अपि च, यदा पुनः क्रेत्रा प्रार्थ्यमानमपि पण्यं विक्रेता न समर्पयति, अजातानुशयोऽपि, तच्च राजदैविकेनोपहतं, भवति, तदासौ हानिर्विक्रेतुरेव। अतोऽन्यददुष्टं पण्यं विनष्टसदृशं[2] क्रेत्रे देयम् ॥ २५६ ॥

भाषा—यदि क्रेता पण्य मांग रहा हो और विक्रेता उसे वह पण्य न देता हो; तथा इसी बीच राजकृत या दैवकृत उत्पात से उस वस्तु में दोष आ जावे तो यह हानि विक्रेता की ही होती है ॥ २५६ ॥

अन्यहस्ते च विक्रीय दुष्टं वाऽदुष्टवद्यदि ।
विक्रीणीते दमस्तत्र [3]मूल्यात्तु द्विगुणो भवेत् ॥ २५७ ॥

किंच, यः पुनर्विनैवानुशयमेकस्य हस्ते विक्रीतं पुनरन्यस्य हस्ते विक्रीणीते सदोषं वा पण्यं प्रच्छादितदोषं विक्रीणीते, तदा तत्पण्यमूल्याद् द्विगुणो दमो वेदितव्यः। नारदेनाप्यत्र विशेषो दर्शितः (८।८)—'अन्यहस्ते च विक्रीय योऽन्यस्मै तत्प्रयच्छति। द्रव्यं तद्द्विगुणं दाप्यो विनयस्तावदेव तु ॥ निर्दोषं दर्शयित्वा तु सदोषं यः प्रयच्छति। स मूल्याद् द्विगुणं दाप्यो विनयं तावदेव तु ॥' इति ॥ सर्वश्चायं विधिर्दत्तमूल्ये पण्ये द्रष्टव्यः। अदत्तमूल्ये पुनः पण्ये वाङ्मात्रक्रये क्रेतृविक्रेत्रोर्नियमकारिणः समयादृते प्रवृत्तौ निवृत्तौ वा न कश्चिद्दोषः। यथाह नारदः (८।१०)—'दत्तमूल्यस्य पण्यस्य विधिरेष प्रकीर्तितः। अदत्तेऽन्यत्र समयान्न विक्रेतुरविक्रयः ॥' इति ॥ २५७ ॥

भाषा—जो एक के हाथ बेची गई वस्तु को पुनः दूसरे व्यक्ति के हाथ बेचता है अथवा दोषपूर्ण वस्तु को निर्दोष वस्तु बनाकर बेचता है तो उससे राजा वस्तु के मूल्य का दुगुना दण्ड लेवे ॥ २५७ ॥

---

१. पण्यदोष। २. सदृशं। ३. मूल्याच्च।

विक्रयानुशयोऽभिहितः। क्रीतानुशयस्वरूपं तु प्राक् प्रपञ्चितम्। अधुना तदुभयसाधारणं धर्ममाह—

क्षयं वृद्धिं च वणिजा पण्यानामविजानता।
क्रीत्वा नानुशयः कार्यः कुर्वन्षड्भागदण्डभाक्॥ २५८॥

परीक्षितक्रीतपण्यानां क्रयोत्तरकालं क्रयकालपरिमाणतोऽर्धकृतां वृद्धिमपश्यता क्रेत्रा अनुशयो न कार्यः। विक्रेत्रा च महार्घनिबन्धनं पण्यक्षयमपश्यता नानुशयितव्यम्। वृद्धिक्षयपरिज्ञाने पुनः क्रेतृविक्रेत्रोरनुशयो भवतीति व्यतिरेकादुक्तं भवति। अनुशयकालावधिस्तु नारदेनोक्तः (८।९)—'क्रीत्वा मूल्येन यः पण्यं दुःक्रीतं मन्यते क्रयी। विक्रेतुः प्रतिदेयं तत्तस्मिन्नेवाह्न्यविक्षतम्॥ द्वितीयेऽह्नि ददःक्रेता मूल्यात्त्रिंशांशमावहेत्। द्विगुणं तु तृतीयेऽह्नि परतः क्रेतुरेव तत्॥' इति। अपरीक्षितक्रयविक्रये पुनः पण्यवैगुण्यनिबन्धनानुशयावधि'र्दशैकपञ्चसप्ताहे'त्यादिना दर्शित एव। तदनया वाचोयुक्त्या वृद्धिक्षयपरिज्ञानस्यानुशयकरणत्वमवगम्यते। यथा गण्यपरीक्षाविधिबलात्पण्यदोषाणामनुशयकारणत्वं अतः पण्यदोषतद्वृद्धिक्षयकारणत्रितयाभावेऽनुशयकालाभ्यन्तरेऽपि यद्यनुशयं करोति तदा पण्यषड्भागं दण्डनीयः। अनुशयकारणसद्भावेऽप्यनुशयकालातिक्रमेणानुशयं कुर्वतोऽप्ययमेव दण्डः। उपभोगेनाविनश्वरेषु स्थिरार्घेष्वनुशयकालातिक्रमेणानुशयं कुर्वतो मनूक्तो दण्डो द्रष्टव्यः (८।२२३)—'परेण तु दशाहस्य न दद्यान्नापि दापयेत्। आददानो ददच्चैव राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट्॥' इति॥ २५८॥

भाषा—पण्य (सौदे) की हानि और लाभ को न जानने वाले वणिक् को सौदा खरीद कर उसका अनुशय (फेराफेरी) नहीं करना चाहिए। यदि वह ऐसा करता है तो सौदे को षष्ठांश दण्ड के रूप में चुकावे॥ २५८॥

इति विक्रीयासंप्रदानं नाम प्रकरणम्।

अथ संभूयसमुत्थानप्रकरणम् २२

संभूयसमुत्थानं नाम विवाद[2]पदमिदानीमभिधीयते—

समवायेन वणिजां लाभार्थं कर्म कुर्वताम्।
लाभालाभौ यथाद्रव्यं यथा वा संविदा कृतौ॥ २५९॥

'सर्वे वयमिदं कर्म मिलिताः कुर्मः' इत्येवंरूपा संप्रतिपत्तिः समवायः, तेन ये वणिङ्नटनर्तकप्रभृतयो लाभलिप्सवः प्रातिस्विकं कर्म कुर्वते, तेषां

१. यत्पण्यं दुष्क्रीतं। २. पदमधुना समभिदधाति।

लाभालाभावुपचयापचयौ यथाद्रव्यं येन यावद्धनं पण्यग्रहणाद्यर्थं दत्तं तदनुसारेणावसेयौ; यद्वा,-प्रधानगुणभावपर्यालोचनयास्य भागद्वयमस्यैको भाग इत्येवंरूपया संविदा समयेन यथा संप्रतिपन्नौ तथा वेदितव्यौ ॥ २५९ ॥

भाषा—यदि अनेक व्यापारी लाभ की इच्छा से इकट्ठे मिलकर (साझे पर) कार्य करें तो उन्हें अपनी लगाई पूंजी के अनुसार लाभ और हानि होती है अन्यथा उनमें परस्पर जैसी संविदा हुई हो उसके अनुसार लाभ या हानि का अंश मिलता है ॥ २५९ ॥

प्रतिषिद्धमनादिष्टं प्रमादाद्यच्च नाशितम् ।
स तद्दद्याद्विप्लवाच्च रक्षिताद्दशमांशभाक् ॥ २६० ॥

किंच । तेषां संभूय प्रचरतां मध्ये 'पण्यमिदमित्थं न व्यवहर्तव्यम्' इति प्रतिषिद्धमाचरता यन्नाशितमनादिष्टमननुज्ञातं वा कुर्वाणेन तथा प्रमादात्प्रज्ञाहीनतया वा येन यन्नाशितं स तत्पण्यं वणिग्भ्यो दद्यात् । यः पुनस्तेषां मध्ये चौरराजादिजनिताद्व्यसनात्पण्यं पालयति स तस्माद्रक्षितात्पण्याद्दशममंशं लभते ॥ २६० ॥

भाषा—एक साथ मिलकर व्यापार करने वालों में जो व्यक्ति निषिद्ध विक्रय से, न कहा हुआ कार्य करके अथवा प्रमादवश कोई वस्तु नष्ट कर दे तो वह उस वस्तु को दे (या हानि को पूरा करे)। उनमें जो पण्य को राजा और चोर के उत्पात से सुरक्षित रखता है उसे दसवां अंश प्राप्त होता है ॥ २६० ॥

अर्घप्रक्षेपणाद्विंशं भागं शुल्कं नृपो हरेत् ।
व्यासिद्धं राजयोग्यं च विक्रीतं राजगामि तत् ॥ २६१ ॥

'इयतः पण्यस्येयन्मूल्यम्' इत्यर्घः, तस्य प्रक्षेपणात् राजतो निरूपणाद्धेतोरसौ मूल्याद्विंशतितममंशं शुल्कार्थं गृह्णीयात् । यत्पुनर्व्यासिद्धं 'अन्यत्र न विक्रेयम्' इति राज्ञा प्रतिषिद्धं, यच्च[2] राजयोग्यं मणिमाणिक्याद्यप्रतिषिद्धमपि तद्राज्ञेऽनिवेद्य लाभलोभेन विक्रीतं चेद्राजगामि मूल्यदाननिरपेक्षं तत्सर्वं पण्यं राजाऽपहरेदित्यर्थः ॥ २६१ ॥

भाषा—विक्रय वस्तु का मूल्य निर्धारित करने के कारण उस वस्तु के मूल्य का बीसवां भाग शुल्क के रूप में वसूल करे। राजा द्वारा विक्रयार्थ निषिद्ध और राजा के योग्य वस्तु बेची जाने पर भी राजा की हो जाती है (उसका राजा अपहरण कर लेता है) ॥ २६१ ॥

---

१. रक्षिता दशमांशभाक् । २. यद्राजयोग्यं ।

मिथ्यावदन्परीमाणं शुल्कस्थानादपासरन् ।
दाप्यस्त्वष्टगुणं यश्च [1]सव्याजक्रयविक्रयी ॥ २६२ ॥

यः पुनर्वणिक् शुल्कवञ्चनार्थं पण्यपरिमाणं निह्नुते शुल्कग्रहणस्थाना-द्वाऽपसरति यश्च 'अस्येदमस्येदं वा' इत्येवं विवादास्पदीभूतं पण्यं क्रीणाति विक्रीणीते वा ते सर्वे पण्यादष्टगुणं दण्डनीयाः ॥ २६२ ॥

भाषा—शुल्क से बचने के लिये सौदे का तौल कम बताने वाले, शुल्क स्थान से भागने वाले और विवादास्पद पण्य को खरीदने वाले से पण्य का आठ गुना दण्ड लेवे ॥ २६२ ॥

तरिकः स्थलजं शुल्कं गृह्णन्दाप्यः पणान्दश ।
[2]ब्राह्मणप्रातिवेश्यानामेतदेवानिमन्त्रणे ॥ २६३ ॥

अपि च, शुल्कं हि द्विविधं—स्थलजं जलजं च । तत्र स्थलजम्-'अर्घप्रक्षेपणाद्विंशं भागं शुल्कं नृपो हरेत्' (व्य० २६१) इत्यत्रोक्तम् । जलजं तु मानवेऽभिहितम् (८।४०४,५,७)—'पणं यानं तरे दाप्यं पुरुषोऽर्धपणं तरे । पादं पशुश्च योषिच्च पादार्धं रिक्तकः पुमान् ॥ भाण्डपूर्णानि यानानि तार्यं दाप्यानि सारतः । रिक्तभाण्डानि यत्किंचित्पुमांसश्चापरिच्छदाः ॥ गर्भिणी तु द्विमासादिस्तथा प्रव्रजितो मुनिः । ब्राह्मणा लिङ्गिनश्चैव न दाप्यास्तारिकं [3]नराः ॥' इति ॥ शुल्कद्वयेऽप्ययमपरो विशेषः—'न भिन्नकार्षापणमस्ति शुल्कं न शिल्पवृत्तौ न शिशौ न दूते । न भैक्षलब्धे न हृतावशेषे न श्रोत्रिये प्रव्रजिते न यज्ञे ॥' इति ॥ तीर्यतेऽनेनेति [4]तरिः नावादिः, तज्जन्यशुल्केऽधिकृतस्तरिकः; स यदा स्थलोद्भवं शुल्कं गृह्णाति तदा दशपणान्दण्डनीयः । वेशो वेश्म, प्रतिवेश इति स्ववेश्माभिमुखं स्ववेश्मपार्श्वस्थं चोच्यते; तत्र भवाः प्रातिवेश्याः, ब्राह्मणाश्च ते प्रातिवेश्याश्च ब्राह्मणप्रातिवेश्याः; तेषां श्रुतवृत्तसं[5]पन्नानां श्राद्धादिषु विभवे सत्यनिमन्त्रणे एतदेव दशपणात्मकं दण्डनं वेदितव्यम् ॥ २६३ ॥

भाषा—नौका द्वारा नदी पार कराने के लिए शुल्क लेने वाला यदि स्थल का शुल्क ग्रहण करता है तो उससे दश पण दण्ड देना चाहिए । प्रतिवेशी ब्राह्मणों को (उनके योग्य होने पर भी) श्राद्ध आदि में निमन्त्रित न करे तो उससे इतना ही (दश पण) दण्ड लेना चाहिए ॥ २६३ ॥

---

१. सव्याजक्रयविक्रयी (= सव्याजौ शौल्किकप्रतारणावन्तौ) । २. ब्राह्मणः प्रतिवेशानां । ३. तरे—मनुस्मृतिः । ४. तरो नावादिः । ५. संपूर्णानां ।

देशान्तरमृतवणिग्रिक्थं प्रत्याह—

देशान्तरगते प्रेते द्रव्यं दायादबान्धवाः।
ज्ञातयो वा हरेयुस्तदागतास्तैर्विना नृपः॥ २६४॥

यदा संभूयकारिणां मध्ये यः कश्चिद्देशान्तरगतो मृतस्तदा तदीयमंशं दायादाः पुत्राद्यपत्यवर्गाः, बान्धवाः मातृपक्षा मातुलाद्याः, ज्ञातयोऽपत्यवर्गव्यतिरिक्ताः सपिण्डा वा, आगताः संभूय व्यवहारिणो ये देशान्तरादागतास्ते वा गृह्णीयुः। तैर्विना दायादाद्यभावे राजा गृह्णीयात्। 'वा'शब्देन च दायादादीनां वैकल्पिकमधिकारं दर्शयति। पौर्वापर्यनियमस्तु 'पत्नी दुहितर' (व्य० १३५) इत्यादिना प्रतिपादित एवात्रापि [1]वेदितव्यः। शिष्यसब्रह्मचारिब्राह्मणनिषेधो वणिक्प्राप्तिश्च वचनप्रयोजनम्। वणिजामपि मध्ये यः पिण्डदानर्णदानादिसमर्थः स गृह्णीयात्। सामर्थ्यविशेषे पुनः सर्वे वणिजः संसृष्टिनो विभज्य गृह्णीयुः। तेषामप्यभावे दशवर्षं दायादाद्यागमनं प्रतीक्ष्यानागतेषु स्वयमेव राजा गृह्णीयात्। तदिदं नारदेन स्पष्टीकृतम् 'एकस्य चेत्स्यान्मरणं दायादोऽस्य तदाप्नुयात्। अन्यो वाऽसति दायादे शक्ताश्चेत्सर्व एव ते॥ तदभावे तु गुप्तं त[2]त्कारयेद्दशवत्सरान्। अस्वामिकमदायादं दशवर्षस्थितं ततः॥ राजा तदात्मसात्कुर्यादेवं धर्मो न हीयते॥' इति॥ २६४॥

भाषा—एक साथ मिलकर व्यापार करने वालों में यदि कोई साझेदार विदेश चला जाय या मर जाय तो उसका अंशभूत द्रव्य उसके पुत्रादि दायाद, बान्धव या जातिवाले प्राप्त करें, अथवा देशान्तर से लौटकर वे सभी व्यापारी ले लें या उनके न होने पर राजा (उसका धन) ग्रहण करे॥ २६४॥

जिह्मं त्यजेयुर्निर्लाभमशक्तोऽन्येन कारयेत्।

किं च, जिह्मो वञ्चकः तं निर्लाभं निर्गतलाभं लाभमाच्छिद्य त्यजेयुर्बहिष्कुर्युः। यश्च संभूयकारिणां मध्ये भाण्डप्रत्यवेक्षणादिकं कर्तुमसमर्थोऽसावन्येन स्वकं कर्म भाण्डभारवाहनतदायव्ययपरीक्षणादिकं कारयेत्॥—

प्रागुपदिष्टं वणिग्धर्ममृत्विगादिष्वतिदिशति—

अनेन विधिराख्यात ऋत्विक्कर्षककर्मिणाम्॥ २६५॥

अनेन 'लाभालाभौ यथाद्रव्यम्' इत्यादिवणिग्धर्मकथनेन ऋत्विजां होत्रादीनां कृषीवलानां नटनर्तकतक्षादीनां च शिल्पकर्मोपजीविनां विधिर्वर्तनप्रकार आख्यातः। तत्र च ऋत्विजां धनविभागे विशेषो मनुना दर्शितः (८।२१०)—

---

1. विज्ञेयः। 2. तद्धारयेत्।

"सर्वेषामर्धिनो मुख्यास्तदर्धेनार्धिनोऽपरे । तृतीयिनस्तृतीयांशाश्चतुर्थांशाश्च पादिनः ॥' इति । अस्यायमर्थः—ज्योतिष्टोमेन 'तं शतेन दीक्षयन्ती'ति वचनेन[1] गवां शतमृत्विगानतिरूपे दक्षिणाकार्ये विनियुक्तम् । ऋत्विजश्च होत्रादयः षोडश । तत्र कस्य कियानंश इत्यपेक्षायामिदमुच्यते । सर्वेषां होत्रादीनां षोडशर्त्विजां मध्ये ये मुख्याश्चत्वारो होत्रध्वर्युब्रह्मोद्गातारः ते गोशतस्यार्धिनः सर्वेषां भागपूरणोपपत्तिवशादष्टाचत्वारिंशद्रूपार्धेनार्धभाजः । अपरे मैत्रावरुण-प्रतिप्रस्थातृब्राह्मणाच्छंसिप्रस्तोतारस्तदर्धेन तस्य मुख्यांशस्यार्धेन चतुर्विंशति-रूपेणार्धभाजः । ये पुनस्तृतीयिनः अच्छावाकनेष्ट्राग्नीध्रप्रतिहर्तारस्ते तृतीयिनो मुख्यांशस्य षोडशगोरूपतृतीयांशेन तृतीयांशभाजः । ये तु पादिनः ग्रावस्तदु-न्नेतृपोतृसुब्रह्मण्यास्ते मुख्यभागस्य यश्चतुर्थांशो द्वादशगोरूपस्तद्भाजः ॥ ननु कथमयमंशनियमो घटते ? न तावदत्र समयः[2], नापि द्रव्यसमवायः, नापि वचनम् , यद्वशादीदृग्भागनियमः स्यात् ; अतः 'समं स्यादश्रुतत्वादि'ति न्यायेन सर्वेषां समांशभाक्त्वं कर्मानुरूपेण वांऽशभाक्त्वमिति युक्तम् । अत्रोच्यते,–ज्योतिष्टोमप्रकृतिके द्वादशाहेऽर्धिनस्तृतीयिनः पादिनः इति सिद्धव-दनुवादो न घटते; यदि तत्प्रकृतिभूते ज्योतिष्टोमे अर्धतृतीयचतुर्थांशभाक्त्वं मैत्रावरुणादीनां न स्यात् , अतो वैदिकर्द्धिप्रभृतिसमाख्याबलात्प्रागुक्तोऽशनिय-मोऽवकल्प्यत इति निरवद्यम् ॥ २६५ ॥

भाषा—इन एक साथ मिलकर काम करने वालों में जो जिह्म (धूर्त या बेइमान) हो उसे लाभ न देकर बाहर कर दें और जो कोई कार्य स्वयं करने में असमर्थ हो वह (अपनी ओर से) किसी दूसरे व्यक्ति से करावे । इसी के आधार पर ऋत्विजों कृषकों और कारीगरों के विषय में भी विधि समझ लेनी चाहिए ॥ २६५ ॥

इति संभूयसमुत्थानप्रकरणम् ।

अथ स्तेयप्रकरणम् ॥ २३ ॥

इदानीं स्तेयं प्रस्तूयते; तल्लक्षणं च मनुनाभिहितम् (८।३३२)—"स्यात्साहसं त्वन्वयवत्प्रसभं कर्म यत्कृतम् । निरन्वयं भवेत्स्तेयं कृत्वापह्नूयते[3] च यत् ॥' इति । अन्वयवत् द्रव्यरक्षिराजाध्यक्षादिसमक्षम् , प्रसभं बलावष्टम्भेन यत्परधनहरणादिकं क्रियते तत्साहसम् ; स्तेयं तु–तद्विलक्षणं निरन्वयं द्रव्य-स्वाम्याद्यसमक्षं वञ्चयित्वा यत्परधनहरणं[4] तदुच्यते । यच्च सान्वयमपि कृत्वा

---

१. वचने गवा । २. नियमो । ३. पह्नवते च यत् । ह्रत्वापव्ययते–मनुः । ४. ग्रहणं ।

न मयेदं कृतमिति भयान्निह्नुते तदपि स्तेयम् ॥ नारदेनाप्युक्तम् (१४।१७)–'उपायैर्विविधैरेषां छलयित्वाऽपकर्षणम् । सुप्तमत्तप्रमत्तेभ्यः स्तेयमाहुर्मनीषिणः ॥' इति ॥

तत्र तस्करग्रहणपूर्वकत्वाद्दण्डनस्य, ग्रहणस्य च ज्ञानपूर्वकत्वात्, ज्ञानोपायं तावदाह—

ग्राहकैर्गृह्यते चौरो लोप्त्रेणाथ पदेन वा ।
पूर्वकर्मापराधी च तथा चाशुद्धवासकः ॥ २६६ ॥

यः 'चौरोऽयम्' इति जनैर्विख्याप्यते असौ ग्राहकै राजपुरुषस्थानपालप्रभृतिभिर्ग्रहीतव्यः । लोप्त्रेणापहृतभाजनादिना वा चौर्यचिह्नेन नाशदेशादारभ्य[1] चौर्यपदानुसरणेन वा ग्राह्यः । यश्च पूर्वकर्मापराधी प्राक्प्रख्यातचौर्यः, अशुद्धोऽज्ञातो वासः स्थानं यस्यासावशुद्धवासकः, सोऽपि ग्राह्यः ॥ २६६ ॥

भाषा—जिसे लोग चोर कहे उस व्यक्ति को ग्राहक (स्थानपाल आदि राजा द्वारा नियुक्त अधिकारी) पकड़े चुराई गई वस्तु के मिलने, चोरी का चिह्न मिलने, चौर्य पद के अनुसरण से, पहले अपराधी होने (नामजद चोर होने) और निवासस्थान सही न ज्ञात होने से किसी को चोरी के अभिभोग में पकड़ना चाहिए ॥ २६६ ॥

अन्येऽपि शङ्कया ग्राह्या जातिनामादिनिह्नवैः[2] ।
द्यूतस्त्रीपानसक्ताश्च शुष्कभिन्नमुखस्वराः ॥ २६७ ॥
परद्रव्यगृहाणां च पृच्छका गूढचारिणः[3] ।
निराया व्ययवन्तश्च विनष्टद्रव्यविक्रयाः ॥ २६८ ॥

किंच, न केवलं पूर्वोक्ता ग्राह्याः, किंत्वन्येऽपि वक्ष्यमाणैर्लिङ्गैः शङ्कया ग्राह्याः । जातिनिह्नवेन 'नाहं शूद्र' इत्येवंरूपेण, नामनिह्नवेन 'नाहं डित्थ'[4] इत्येवंरूपेण, 'आदि' 'ग्रहणात्स्वदेशग्रामकुलाद्यपलापेन च लक्षिता ग्राह्याः । द्यूतपण्याङ्गनामद्यपानादिव्यसनेष्वतिप्रसक्तास्तथा 'कुतस्त्योऽसि त्वम् ?' इति चौरग्राहिभिः पृष्टो यदि शुष्कमुखो भिन्नस्वरो वा भवति, तर्ह्यसावपि ग्राह्यः । बहुवचनात्स्विन्नललाटादीनां ग्रहणम् । तथा ये निष्कारणं 'कियदस्य धनं, किं वाऽस्य गृहम्'[5] इति पृच्छन्ति, ये च वेषान्तरधारणेनात्मानं गूहयित्वा चरन्ति, ये चायाभावेऽपि बहुव्ययकारिणः, ये वा विनष्टद्रव्याणां जीर्णवस्त्रभिन्नभाजनादीनामविज्ञातस्वामिकानां विक्रयकास्ते सर्वे चौरसंभावनया ग्राह्याः । एवं

१. नाशदिवसा । २. नामजात्यादि । ३. गूढवासिनः । ४. लपित्थ इत्येवं । ५. गृहमित्येवंविधं पृच्छन्ति ।

नानाविधचौरलिङ्गान्पुरुषान्गृहीत्वा एते चौराः किं वा साधव इति सम्यक् परीक्षेत, न पुनर्लिङ्गदर्शनमात्रेण चौर्यनिर्णयं कुर्यात्। अचौर्यस्यापि लोप्त्रादिलिङ्गसंबन्धसंभवात्। यथाह नारदः—'अन्यहस्तात्परिभ्रष्टमकामादुच्छ्रितं भुवि। चौरेण वा परिक्षिप्तं[1] लोप्त्रं यत्नात्परीक्षयेत्॥' तथा—'असत्याः सत्यसंकाशाः सत्याश्चासत्यसंनिभाः। दृश्यन्ते विविधा भावास्तस्मादुक्तं परीक्षणम्॥' इति॥ २६७–२६८॥

भाषा—अपनी जाति और नाम छिपाने वाले, जुआ, वेश्या-गमन और मद्यपान आदि व्यसनों में लिप्त रहने वाले, (तुम कहां से आये हो ऐसा पूछने पर) जिनका मुख सूख जाता हो और बोली बदल जाती हो उन व्यक्तिय को, दूसरे के धन और घर के विषय में बातें पूछने वाले को, (वेष आदि बदलकर) गुप्त निवास करने वाले, आय न होने पर भी अधिक व्यय करने वाले और खोई हुई वस्तु को बेचने वाले व्यक्तियों को भी सन्देह से पकड़ना चाहिए॥ २६७–२६८॥

एवं चौर्यशङ्कया गृहीतेनात्मा संशोधनीय इत्याह—

गृहीतः शङ्कया चौर्ये नात्मानं चेद्विशोधयेत्।
दापयित्वा हृतं[2] द्रव्यं चौरदण्डेन दण्डयेत्॥ २६९॥

यदि चौर्यशङ्कया गृहीतस्तन्निस्तरणार्थमात्मानं न शोधयति तर्हि वक्ष्यमाणधनदापनवधादिदण्डभाग्भवेत्। अतो मानुषेण तदभावे दिव्येन वा आत्मा शोधनीयः॥ ननु 'नाहं चौरः' इति मिथ्योत्तरे कथं प्रमाणं संभवति? तस्याभावरूपत्वात्। उच्यते,—दिव्यस्य तावद्भावाभावगोचरत्वं 'रुच्या वाऽन्यतरः कुर्यात्' इत्यत्र प्रतिपादितम्। मानुषं पुनर्यद्यपि साक्षाच्छुद्धमिथ्योत्तरे न संभवति, तथापि कारणेन संसृष्टे भावरूपमिथ्याकारणसाधनमुखेनाभावमपि गोचरयत्येव। यथा 'नाशापहारकाले अहं देशान्तरस्थ' इत्यभियुक्तैर्भाविते चौर्याभावस्याप्यर्थात्सिद्धेः शुद्धिर्भवत्येव॥ २६९॥

भाषा—जो चोरी की शंका से पकड़ा गया हो और अपनी निर्दोषता न प्रमाणित करे उससे चोरी गया हुआ धन दिलाकर चोर के लिये विहित दण्ड भी देना चाहिए॥ २६९॥

चौरदण्डमाह—

चौरं प्रदाप्यापहृतं घातयेद्विविधैर्वधैः।

यस्तु प्रागुक्तपरीक्षया यन्निरपेक्षं वा निश्चितचौर्यस्तं स्वामिने अपहृतं धनं स्वरूपेण मूल्यकल्पनया वा दापयित्वा विविधैर्वधैर्घातैर्घातयेत्। एतच्चोत्तमसा-

---

1. प्रतिक्षिप्तं। 2. गतं।

हसदण्डप्राप्तियोग्योत्तमद्रव्यविषयम् , न पुनः पुष्पवस्त्रादिक्षुद्रमध्यमद्रव्यापहारविषयम् । 'साहसेषु य एवोक्तस्त्रिषु दण्डो मनीषिभिः । स एव दण्डः स्तेयेऽपि द्रव्येषु त्रिष्वनुक्रमात् ॥' (१४।३१) इति नारदवचनेन वधरूपस्योत्तमसाहसस्योत्तमद्रव्यविषये व्यवस्थापितत्वात् ॥ यत्पुनर्वृद्धमनुवचनम्–'अन्यायोपात्तवित्तत्वाद्धनमेषां मलात्मकम् । अत[1]स्तान्घातयेद्राजा नार्थदण्डेन दण्डयेत् ॥' इति,–तदपि महापराधविषयम् ॥—

चौरविशेषेऽपवादमाह—

सचिह्नं ब्राह्मणं कृत्वा स्वराष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥ २७० ॥

ब्राह्मणं पुनश्चौरं महत्यप्यपराधेऽपि न घातयेत् , अपि तु ललाटेऽङ्कयित्वा स्वदेशान्निष्कासयेत् । अङ्कनं च श्वपदाकारं कार्यम् ; तथा च मनुः (९।२३७)–'गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः । स्तेये च श्वपदं कार्यं ब्रह्महण्यशिराः पुमान् ॥' इति । एतच्च दण्डोत्तरकालं प्रायश्चित्तमचिकीर्षतां द्रष्टव्यम्; यथाह मनुः (९।२४०)–'प्रायश्चित्तं तु कुर्वाणाः सर्वे वर्णा यथोदितम् । नाङ्क्या राज्ञा ललाटे तु दाप्यास्तूत्तमसाहसम् ॥' इति ॥ २७० ॥

भाषा—चोर से चोरी गई हुई वस्तु दिलाकर अनेक प्रकार के वध (शारीरिक दण्ड) द्वारा दण्डित करे । यदि ब्राह्मण ने चोरी की हो तो उसके ललाट पर चिह्न बनाकर उसे अपने राज्य से निकाल देवे ॥ २७० ॥

चौरादर्शने अपहृतद्रव्यप्राप्त्युपायमाह—

घातितेऽपहृते दोषो ग्रामभर्तुरनिर्गते ।
विवीतभर्तुस्तु पथि चौरोद्धर्तुरवीतके ॥ २७१ ॥

यदि ग्राममध्ये मनुष्यादिप्राणिवधो धनापहरणं वा जायते तदा ग्रामपतेरेव चौरोपेक्षादोषः, तत्परिहारार्थं स एव चौरं गृहीत्वा राज्ञेऽर्पयेत् । तदशक्तौ हृतं धनं धनिने दद्याद्यदि चौर[2]पदं स्वग्रामान्निर्गतं न दर्शयति । दर्शिते पुनस्तत्पदं यत्र प्रविशति तद्विषयाधिपतिरेव चौरं धनं वार्पयेत् । तथा च नारदः (१६।७)—'गोचरे यस्य मु[3]ष्येत तेन चौरः प्रयत्नतः । ग्राह्यो दाप्योऽथवा शेषं पदं यदि न निर्गतम् ॥ निर्गते पुनरेतस्माच्च चेदन्यत्र पातितम् । सामन्तान्मार्गपालांश्च दिक्पालांश्चैव दापयेत् ॥' इति ॥ विवीते त्वपहारे विवीतस्वामिन एव दोषः । यदा त्वध्वन्येव तद्धृतं भवत्यवीतके वा विवीतादन्यत्र क्षेत्रे तदा चौरोद्धर्तुर्मार्गपालस्य दिक्पालस्य वा[4] दोषः ॥ २७१ ॥

---

१. स्ता वर्तयेत् । २. चौरस्य पदं । ३. लुप्येत मुच्येत । ४. वापराधः ।

भाषा—गांव के भीतर किसी का वध होने या किसी की चोरी होने पर यदि हत्यारे या चोर के गांव से बाहर न जाने का संकेत मिले तो ग्रामपाल का ही दोष रहता है। विवीत (सराय) में चोरी आदि हो तो उसके स्वामी का और उससे अन्यत्र मार्ग आदि में चोरी या वध होने पर मार्गपाल का दोष होता है ॥ २७१ ॥

स्वसीम्नि दद्याद् ग्रामस्तु पदं वा यत्र गच्छति।
पञ्चग्रामी बहिः क्रोशाद्दशग्राम्यथवा पुनः ॥ २७२ ॥

किंच, यदा पुनर्ग्रामाद्बहिः सीमापर्यन्ते क्षेत्रे मोषादिकं भवति तदा तद्ग्रामवासिन एव दद्युः,–यदि सीम्नो बहिश्चौरपदं न निर्गतम्। निर्गते पुनर्यत्र ग्रामादिके चौरपदं प्रविशति स एव चौरा[1]र्पणादिकं कुर्यात्। यदा त्वनेकग्राममध्ये क्रोशमात्राद् बहिःप्रदेशे घातितो मुषितो वा चौरपदं च जनसंमर्दादिना भग्नं, तदा पञ्चानां ग्रामाणां समाहारः पञ्चग्रामी दशग्रामसमाहारो[2] दशग्रामी वा दद्यात्। विकल्पवचनं तु यथा तत्प्रत्यासत्त्यपहृतधनप्रत्यर्पणादिकं कुर्यादित्येवमर्थम्। यदा त्वन्यतोऽपहृतं द्रव्यं दापयितुं न शक्नोति तदा स्वकोशादेव राजा दद्यात्। 'चौरहृतमवजित्य यथास्थानं गमयेत्स्वकोशाद्वा दद्यात्' (२०।४६-४७) इति गौतमस्मरणात् ॥ मुषितामुषितसन्देहे मानुषेण दिव्येन वा निर्णयः कार्यः। 'यदि तस्मिन्दाप्यमाने भवेन्मोषे तु संशयः। मुषितः शपथं दाप्यो बन्धुभिर्वापि साधयेत् ॥' इति वृद्धमनुस्मरणात् ॥ २७२ ॥

भाषा—अपने गांव की सीमा के भीतर चोरी आदि हुई हो तो उसका दण्ड गांव के निवासी देवें अथवा जिस गांव में चोरों के जाने के पदचिह्न दिखाई पड़े उस गांव के लोग देवें। यदि कई गावों के बीच एक कोश की दूरी पर चोरी आदि की घटना हुई हो तो पांच गाँव या दश गांव मिलकर दण्ड देवे (चोरी आदि की क्षति पूरी करें) ॥ २७२ ॥

अपराधविशेषेण दण्डविशेषमाह—

बन्दिग्राहांस्तथा वाजिकुञ्जराणां च हारिणः।
प्रसह्यघातिनश्चैव [3]शूलानारोपयेन्नरान् ॥ २७३ ॥

बन्दिग्राहादीन्बलावष्टम्भेन घातकांश्च नराञ्शूलानारोपयेत्। अयं च वधप्रकारविशेषोपदेशः। (९।२८०)—'[4]कोष्ठागारायुधागारदेवतागारभेदकान्। हस्त्यश्वरथहर्तॄंश्च हन्यादेवाविचारयन् ॥' इति मनुस्मरणात् ॥ २७३ ॥

---

१. चौर्यार्पणादिकं। २. समाहारोपये दशग्रामी वा। ३. शूलमारोपये। ४. अवन्धागारा

भाषा—बलपूर्वक बन्दी को छुड़ाने वाले, घोड़ा और हाथी चुराने वाले और किसी का बलपूर्वक घात करने वाले पुरुषों को शूली पर चढ़ावे ॥२७३॥

उत्क्षेपकग्रन्थिभेदौ करसन्दंशहीनकौ ।
कार्यौ द्वितीयापराधे करपादैकहीनकौ ॥ २७४ ॥

किंच, वस्त्राद्युत्क्षिप्यत्यपहरतीत्युत्क्षेपकः, वस्त्रादिबद्धं स्वर्णादिकं विस्रस्योत्कृत्य वा योऽपहरत्यसौ ग्रन्थिभेदकः, तौ यथाक्रमं करेण सन्दंशसदृशेन तर्जन्याङ्गुष्ठेन च हीनौ कार्यौ। द्वितीयापराधे पुनः करश्च पादश्च करपादं, तच्च तदेकं च करपादैकं, तद्धीनं ययोस्तौ करपादैकहीनकौ कार्यौ। उत्क्षेपकग्रन्थिभेदकयोरेकमेकं करं पादं च छिन्द्यादित्यर्थः। एतदप्युत्तमसाहसप्राप्तियोग्यद्रव्यविषयम्। 'तदङ्गच्छेद इत्युक्तो दण्ड उत्तमसाहसः' (१४।८) इति नारदवचनात्॥ तृतीयापराधे तु वध एव। तथा च मनुः (९।२७७)—'अङ्गुलीग्रन्थिभेदस्य छेदयेत्प्रथमे ग्रहे। द्वितीये हस्तचरणौ तृतीये वधमर्हति॥' इति। जातिद्रव्यपरिमाणतो मूल्याद्यनुसारतो दण्डः कल्पनीय इति ॥ २७४ ॥

भाषा—उत्क्षेपक (वस्त्र आदि चुराने वाले उचक्का) और ग्रन्थिभेद (गिरहकट के क्रमशः हाथ और संदंश (तर्जनी एवं अंगूठा) काट लेना चाहिए। दुबारा अपराध में उसका एक हाथ और एक पैर भी काट देना चाहिए ॥ २७४ ॥

जातिद्रव्यपरिमाणपरिग्रहविनियोगवयःशक्तिगुणदेशकालादीनां दण्डगुरुलघुभावकारणानामानन्त्यात्प्रतिद्रव्यं वक्तुमशक्तेः सामान्येन दण्डकल्पनोपायमाह—

क्षुद्रमध्यमहाद्रव्यहरणे सारतो दमः ।
देशकालवयःशक्ति सञ्चिन्त्यं दण्डकर्मणि ॥ २७५ ॥

क्षुद्राणां मध्यमानामुत्तमानां च द्रव्याणां हरणे सारतो मूल्याद्यनुसारतो दण्डः कल्पनीयः। क्षुद्रादिद्रव्यस्वरूपं च नारदेनोक्तम्। (१४।१४-१६) 'मृद्भाण्डासनखट्वास्थिदारुचर्मतृणादि यत्। शमीधान्यं कृतान्नं च क्षुद्रं द्रव्यमुदाहृतम्॥ वासः कौशेयवर्ज्यं च गोवर्ज्यं पशवस्तथा। हिरण्यवर्ज्यं लोहं च मध्यं व्रीहियवा अपि॥ हिरण्यरत्नकौशेयस्त्रीपुङ्गोगजवाजिनः। देवब्राह्मणराज्ञां च द्रव्यं विज्ञेयमुत्तमम्॥' त्रिप्रकारेष्वपि द्रव्येष्वौत्सर्गिकः प्रथममध्यमोत्तमसाहसरूपो दण्डनियमस्तेनैव दर्शितः (१४।२१)—'साहसेषु य एवोक्तस्त्रिषु दण्डो मनीषिभिः। स एव दण्डः स्तेयेऽपि द्रव्येषु त्रिष्वनुक्रमात्॥' इति॥ मृन्मयेषु मणिकमल्लिकादिषु गोवाजिव्यतिरिक्तेषु च महिषमेषादिपशुषु ब्राह्मणसंबन्धिषु च कनकधान्यादिषु तरतमभावोऽस्तीति उच्चावचदण्डविशेषाकाङ्क्षायां

१. हस्तपादौ तु। २. गोव्यतिरिक्तेषु। ३. तारतम्यभावोऽस्तीति।

मूल्याद्यनुसारेण दण्डः कल्पनीयः। तत्र च दण्डकर्मणि दण्डकल्पनायां तद्धेतुभूतं देशकालवयःशक्तीति सम्यक् चिन्तनीयम्। एतच्च जातिद्रव्यपरिमाणपरिग्रहादीनामुपलक्षणम्। तथा हि—'अष्टापाद्यं स्तेयकिल्बिषं शूद्रस्य द्विगुणोत्तराणीतरेषां प्रतिवर्णं विदुषोऽतिक्रमे दण्डभूयस्त्वम्' इति। अयमर्थः—'किल्बिष'शब्देनात्र दण्डो लक्ष्यते। यस्मिन्नपहारे यो दण्ड उक्तः स विद्वच्छूद्रकर्तृकेऽपहारेऽष्टगुण आपादनीयः। इतरेषां पुनर्विट्क्षत्रब्राह्मणादीनां विदुषां स्तेये द्विगुणोत्तराणि किल्बिषाणि षोडशद्वात्रिंशच्चतुःषष्टिगुणा दण्डा आपादनीयाः। यस्माद्विद्वच्छूद्रादिककर्तृकेष्वपहारेषु दण्डभूयस्त्वम्। मनुनाप्ययमेवार्थो दर्शितः (८।३३७-३३८)—'अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्बिषम्। षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत्क्षत्रियस्य तु॥ ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वापि शतं भवेत्। द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्दोषगुणवेदिनः॥' इति॥ तथा परिमाणकृतमपि दण्डगुरुत्वं दृश्यते। यथाह मनुः (८।३२०)—'धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतोऽभ्यधिकं वधः। शेषेऽप्येकादशगुणं दाप्यस्तस्य च तद्धनम्॥' इति॥ विंशतिद्रोणकः कुम्भः। हर्तुर्ह्रियमाणस्वामिगुणापेक्षया सुभिक्षदुर्भिक्षकालाद्यपेक्षया वा ताडनाङ्गच्छेदनवधरूपा दण्डा योज्याः॥ तथा संख्याविशेषादपि दण्डविशेषो रत्नादिषु। (मनुः ८।३२१।३२२)—'सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां च वाससाम्। रत्नानां चैव सर्वेषां शतादभ्यधिके वधः॥ पञ्चाशतस्त्वभ्यधिके हस्तच्छेदनमिष्यते। शेषेऽप्येकादशगुणं मूल्याद्दण्डं प्रकल्पयेत्॥' इति॥ तथा द्रव्यविशेषादपि (८।३२३)—'पुरुषाणां कुलीनानां नारीणां च विशेषतः। रत्नानां चैव सर्वेषां हरणे वधमर्हति॥' अकुलीनानां तु दण्डान्तरम्—'पुरुषं हरतो दण्डः प्रोक्त उत्तमसाहसः। स्त्र्यपराधे तु सर्वस्वं कन्यां तु हरतो वधः॥' इति॥ क्षुद्रद्रव्याणां तु माषतो न्यूनमूल्यानां दमः; 'काष्ठभाण्डतृणादीनां मृन्मयानां तथैव च॥ वेणुवैणवभाण्डानां तथा स्नाय्वस्थिचर्मणाम्॥ शाकानामार्द्रमूलानां हरणे फलमूलयोः। गोरसेक्षुविकाराणां तथा लवणतैलयोः॥ पक्वान्नानां कृतान्नानां मत्स्यानामामिषस्य च[1]। सर्वेषामल्पमूल्यानां मूल्यात्पञ्चगुणो दमः॥' (२२४) इति नारदस्मरणात्॥ यः पुनः प्रथमसाहसः क्षुद्रद्रव्येषु शतावरः पञ्चाशत्पर्यन्तोऽसौ माषमूल्ये तदधिकमूल्ये वा यथायोग्यं व्यवस्थापनीयः॥ यत् पुनर्मानवं क्षुद्रद्रव्यगोचरवचनं—'तन्मूल्याद् द्विगुणो दमः' इति, तदल्पप्रयोजनशरावादिविषयम्। तथापराधगुरुत्वादपि दण्डगुरुत्वम्। यथा—'संधिं भित्त्वा तु ये चौर्यं रात्रौ कुर्वन्ति तस्कराः। तेषां छित्त्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णशूले निवेशयेत्॥' (८।२७६) इत्येवं सर्वेषामानन्त्यात्प्रतिद्रव्यं वक्तुमशक्तेर्जाति-

1. मत्स्यानामौषधस्य च। सर्वेषामल्पमूल्यानां।

परिमाणादिभिः कारणैर्दण्डगुरुलघुभावः कल्पनीयः। पथिकादीनां पुनरल्पापहारे न दण्डः। यथाह मनुः (८।३४१)—'द्विजोऽध्वगः क्षीणवृत्तिर्द्वाविक्षू द्वे च मूलके। आददानः परक्षेत्रान्न दण्डं दातुमर्हति ॥', तथा—'चणकव्रीहिगोधूमयवानां मुद्गमाषयोः। अनिषिद्धैर्ग्रहीतव्यो[1] मुष्टिरेकः पथि स्थितैः ॥ तथैव सप्तमे भक्तं भक्तानि षडनश्नता। अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ॥' इति ॥ २७५ ॥

भाषा—छोटी, मध्यम आकार या मूल्य की और बड़ी वस्तु की चोरी में देश, काल, आयु और शक्ति को ध्यान में रखते हुए चोरी की वस्तु के मूल्य के अनुसार दण्ड निर्धारित करे ॥ २७५ ॥

अचौरस्यापि चौरोपकारिणो दण्डमाह—

भक्तावकाशाग्न्युदकमन्त्रोपकरणव्ययान्[2] ।
दत्त्वा चौरस्य वा हन्तुर्जानतो दम उत्तमः ॥ २७६ ॥

भक्तमशनम्, अवकाशो निवासस्थानम्, अग्निश्चौरस्य शीतापनोदाद्यर्थः, उदकं तृषितस्य, मन्त्रश्चौर्यप्रकारोपदेशः, उपकरणं चौर्यसाधनम्, व्ययः अपहारार्थम् देशान्तरं गच्छतः पाथेयम्, एतानि चौरस्य, हन्तुर्वा दुष्टत्वं जानन्नपि यः प्रयच्छति तस्योत्तमसाहसो दण्डः। चौरोपेक्षिणामपि दोषः—'शक्ताश्च य उपेक्षन्ते तेऽपि तद्दोषभागिनः।' (१४।१९) इति नारदस्मरणात् ॥ २७६ ॥

भाषा—जो व्यक्ति चोर या हत्यारे को उसका पापकर्म जानते हुए भी भोजन, निवासस्थान, अग्नि, पीने के लिए जल, (चोरी की विधि की) सलाह, चोरी के साधनभूत उपकरण और चोरी के लिये कहीं जाते समय मार्ग-व्यय देता है उसे उत्तम साहस का दण्ड होता है ॥ २७६ ॥

शस्त्रावपाते गर्भस्य पातने चोत्तमो दमः ।
उत्तमो वाऽधमो वापि पुरुषस्त्रीप्रमापणे ॥ २७७ ॥

किंच परगात्रेषु शस्त्रस्यावपातने दासीब्राह्मणगर्भव्यतिरेकेण गर्भस्य पातने चोत्तमो दमो दण्डः। दासीगर्भनिपातने तु 'दासीगर्भविनाशकृत्' (व्य. २३६) इत्यादिना शतदण्डोऽभिहितः। ब्राह्मणगर्भविनाशे तु 'हत्वा गर्भमविज्ञातम्' इत्यत्र ब्रह्महत्यातिदेशं वक्ष्यति[3]। पुरुषस्य प्रमापणे स्त्रियाश्च शीलवृत्ताद्यपेक्षयोत्तमो वाऽधमो वा दण्डो व्यवस्थितो वेदितव्यः ॥ २७७ ॥

भाषा—किसी के शरीर पर शस्त्र चलाने और गर्भपात करने में उत्तम दण्ड होता है। पुरुष और स्त्री को मारने पर (शील एवं वृत्ति के अनुसार) उत्तम अथवा अधम दण्ड देना चाहिए ॥ २७७ ॥

---

१. ग्रहीतव्या मुष्टिरेका। २. व्ययम्। ३. वक्ष्यते।

विप्रदुष्टां स्त्रियं चैव पुरुषघ्नीमगर्भिणीम् ।
सेतुभेदकरीं चाप्सु शिलां बद्ध्वा प्रवेशयेत् ॥ २७८ ॥

अपि च, विशेषेण प्रदुष्टा विप्रदुष्टा, भ्रूणघ्नी स्वगर्भपातिनी च। या च पुरुषस्य हन्त्री सेतूनां भेत्त्री च,-एता गर्भरहिताः स्त्रीगले शिलां बद्ध्वा अप्सु प्रवेशयेत् यथा न प्लवन्ते ॥ २७८ ॥

भाषा—(गर्भपात करने आदि के कारण) जो स्त्री अत्यन्त दुष्टा हो, और पुरुष की हत्या करने वाली हो, जिसने सेतु (पुल या बांध) तोड़ा हो उसके गर्भवती न होने पर उसके गले में शिला बांधकर पानी में डाल देवे ॥ २७८ ॥

विषाग्निदां पतिगुरुनिजापत्यप्रमापणीम् ।
विकर्णकरनासौष्ठीं कृत्वा गोभिः प्रमापयेत् ॥ २७९ ॥

किंच, 'अगर्भिणीम्' इत्यनुवर्तते। या च परवधार्थमन्नपानादिषु विषं ददाति क्षिपति। या च दाहार्थं ग्रामादिष्वग्निं ददाति, तथा या च निजपतिगुर्वपत्यानि मारयति तां विच्छिन्नकर्णकरनासौष्ठीं कृत्वा अदान्तैर्दुष्टबलीवर्दैः प्रवाह्य मारयेत्। स्तेयप्रकरणे यदेतत्साहसिकस्य दण्डविधानं तत्प्रासङ्गिकमिति मन्तव्यम् ॥ २७९ ॥

भाषा—जिस स्त्री ने दूसरे को मारने के लिये अन्न में विष दिया हो, घर जलाने के लिए अग्नि दिया हो, जिसने पति, गुरु या अपनी सन्तान का वध किया हो (यदि वह गर्भिणी न हो तो) उसके कान, हाथ, नाक और ओठ काटकर उसे बैलों से मरवा डाले ॥ २७९ ॥

अविज्ञातकर्तृके हनने हन्तृज्ञानोपायमाह—

अविज्ञातहतस्याशु कलहं सुतबान्धवाः ।
प्रष्टव्या योषितश्चास्य परपुंसि रताः पृथक् ॥ २८० ॥

अविज्ञातहतस्या[3]विज्ञातपुरुषेण घातितस्य संबन्धिनः, सुताः प्रत्यासन्नबान्धवाश्च 'केनास्य कलहो जातः' इति कलहमाशु प्रष्टव्याः। तथा मृतस्य संबन्धिन्यो योषितो याश्च परपुंसि रता व्यभिचारिण्यस्ता अपि प्रष्टव्याः ॥ २८० ॥

भाषा—जिस व्यक्ति के हत्यारे का पता न हो उसके पुत्रों और बान्धवों से उसके कलह के विषय में पूछना चाहिए (अर्थात् इस प्रकार पूछना चाहिए कि इस मृत व्यक्ति का किसके साथ बैर था); उसकी व्यभिचारिणी स्त्रियों से भी अलग-अलग पूछना चाहिए ॥ २८० ॥

---

१. भ्रूणपुरुष। २. प्रवासयेत्। ३. अविज्ञातपुरुषेण।

कथं प्रष्टव्या इत्यत आह—

स्त्रीद्रव्यवृत्तिकामो वा केन वाऽयं गतः सह।
मृत्युदेशसमासन्नं पृच्छेद्वापि जनं शनैः॥ २८१॥

'किमयं स्त्रीकामो द्रव्यकामो वृत्तिकामो वा?' तथा 'कस्यां किंसंबन्धिन्यां वा स्त्रियामस्य रतिरासीत्?', 'कस्मिन् वा द्रव्ये प्रीतिः?', 'कुतो वा वृत्तिकामः?', 'केन वा सह देशान्तरं गतः?' इति नानाप्रकारं व्यभिचारिण्यो योषितः पृथक्पृथक् विश्वास्य प्रष्टव्याः। तथा मरणदेशनिकटवर्तिनो गोपाऽटविकाद्या ये जनास्तेऽपि विश्वासपूर्वकं प्रष्टव्याः। एवं नानाकारैः प्रश्नैर्हन्तारं निश्चित्य तदुचितो दण्डो विधातव्यः॥ २८१॥

भाषा—यह स्त्री, धन, या वृत्ति-किस की अभिलाषा रखता था अथवा किस के साथ गया था, इस प्रकार मृत्यु स्थान के निकटवर्ती मनुष्यों से विश्वास दिलाकर पूछना चाहिए॥ २८१॥

क्षेत्रवेश्मवनग्रामविवीतखलदाहकाः।
राजपत्न्यभिगामी च दग्धव्यास्तु कटाग्निना॥ २८२॥

किंच, क्षेत्रं पक्वफलसस्योपेतम्, वेश्म गृहम्, वनमटवीं क्रीडावनं वा, ग्रामम्, विवीतमुक्तलक्षणम्, खलं वा ये दहन्ति, ये च राजपत्नीमभिगच्छन्ति तान्सर्वान्कटैर्वीरणमयैर्वेष्टयित्वा दहेत्। क्षेत्रादेर्दाहकानां मारणदण्डप्रसङ्गाद्दण्डविधानम्॥ २८२॥

भाषा—किसी दूसरे के खेत, (पकी फसल), घर, वन, (वाटिका) गाँव, बाड़ा और खलिहान को जलाने वाले तथा राजपत्नी के साथ व्यभिचार करने वाले को कट (सरहरी) में लपेटवाकर जला देना चाहिए॥ २८२॥

इति स्तेयप्रकरणम्।

अथ स्त्रीसंग्रहणप्रकरणम् २४

स्त्रीसंग्रहणाख्यं विवादपदं व्याख्यायते। प्रथमसाहसादिदण्डप्राप्त्यर्थं त्रेधा तत्स्वरूपं व्यासेन विवृतम्—'त्रिविधं तत्समाख्यातं प्रथमं मध्यमोत्तमम्। अदेशकालभाषाभिर्निर्जने च परस्त्रियाः॥ कटाक्षावेक्षणं हास्यं प्रथमं साहसं स्मृतम्॥ प्रेषणं गन्धमाल्यानां धूपभूषणवाससाम्॥ प्रलोभनं चान्नपानैर्मध्यमं साहसं स्मृतम्॥ सहासनं विविक्ते तु परस्परमुपाश्रयः केशाकेशिग्रहश्चैव सम्यक् संग्रहणं स्मृतम्॥' स्त्रीपुंसयोर्मिथुनीभावः संग्रहणम्॥

---

१. तत्प्रदेश। २. संभाषा निर्जने। ३. समुदाहृतम्। ४. मपाश्रयः।

संग्रहणज्ञानपूर्वकत्वात्तत्कर्तुर्दण्डविधानस्य तज्ज्ञानोपायं तावदाह—

पुमान्संग्रहणे ग्राह्यः केशाकेशि परस्त्रिया।
सद्यो वा कामजैश्चिह्नैः प्रतिपत्तौ द्वयोस्तथा॥ २८३॥

संग्रहणे प्रवृत्तः पुमान् केशाकेश्यादिभिर्लिङ्गैर्ज्ञात्वा ग्रहीतव्यः। परस्परकेशग्रहणपूर्विका क्रीडा केशाकेशि। 'तत्र तेनेदम्' (पा. २।२।२७) इति सरूपे' इति बहुव्रीहौ सति—'इच् कर्मव्यतिहारे' (पा. ५।४।१२७) इति समासान्त इच् प्रत्ययः। अव्ययत्वाच्च लुप्ततृतीयाविभक्तिः। ततश्चायमर्थः—परभार्यया सह केशाकेशिक्रीडनेनाभिनवैः कररुहदशनादिकृतव्रणैः रागकृतैर्लिङ्गैर्द्वयोः संप्रतिपत्त्या वा ज्ञात्वा संग्रहणे प्रवृत्तो ग्रहीतव्यः। 'परस्त्री'ग्रहणं नियुक्तावरुद्धादिव्युदासार्थम्॥ २८३॥

भाषा—परायी स्त्री का केश पकड़ कर क्रीडा करने से, तत्काल कामक्रीडा द्वारा बनाये गये (नखक्षत आदि) चिह्नों से अथवा दोनों की परस्पर प्रकट प्रीति देखकर (व्यभिचार में) प्रवृत्त पुरुष को पकड़े॥ २८३॥

नीवीस्तनप्रावरणसक्थिकेशावमर्शनम्।
अदेशकालसंभाषं सहैकासनमेव च॥ २८४॥

किंच, यः पुनः परदारपरिधानग्रन्थिप्रदेशकुचप्रावरणजघनमूर्धरुहादिस्पर्शनं साभिलाष इवाचरति। तथा अदेशे निर्जने जनताकीर्णे वाऽन्धकाराकुले अकाले संलापनं करोति। परभार्यया वा सहैकमञ्चकादौ रिरंसयेवावतिष्ठते यः, सोऽपि संग्रहणे प्रवृत्तो ग्राह्यः। एतच्चाशङ्क्यमानदोषपुरुषविषयम्, इतरस्य तु न दोषः। यथाऽऽह मनुः (८।३५५)—'यस्त्वनाक्षारितः पूर्वमभिभाषेत कारणात्। न दोषं प्राप्नुयात्किंचिन्नहि तस्य व्यतिक्रमः॥' इति। यः परस्त्रिया स्पृष्टः क्षमतेऽसावपि ग्राह्य इति तेनैवोक्तम् (८।३५८)—'स्त्रियं स्पृशेददेशे यः स्पृष्टो वा मर्षयेत्तथा। परस्परस्यानुमते सर्वं संग्रहणं स्मृतम्॥' इति। यश्च मयेयं विदग्धाऽसकृद्रमितचरीति श्लाघया भुजंगजनसमक्षं ख्यापयत्यसावपि ग्राह्य इति तेनैवोक्तम्। 'दर्पाद्वा यदि वा मोहाच्छ्लाघया वा स्वयं वदेत्। पूर्वं मयेयं भुक्तेति तच्च संग्रहणं स्मृतम्॥' (ना० १२।६९) इति॥ २८४॥

भाषा—(परायी स्त्री का) नीवी, चोली या आँचल, जाँघ और केश कामुकता पूर्वक छूने, अनुचित स्थान (एकान्त, भीड़ या अँधेरे) में और अयुक्त समय पर (जैसे रात्रि को) भाषण करने और एक साथ एक आसन पर बैठने वाले पुरुष को पकड़े॥ २८४॥

---

१. परस्त्रियाः। २. सहैकस्थानमेव।

प्रतिषिद्धयोः स्त्रीपुंसयोः पुनः सँल्लापादिकरणे दण्डमाह—

स्त्री निषेधे शतं दद्याद् द्विशतं तु दमं पुमान्।
प्रतिषेधे तयोर्दण्डो यथा संग्रहणे तथा ॥ २८५ ॥

प्रतिषिध्यत इति प्रतिषेधः पतिपित्रादिभिर्येन सह संभाषणादिकं निषिद्धं तत्र प्रवर्तमाना स्त्री शतपणं दण्डं दद्यात्। पुरुषः पुनरेवं निषिद्धे प्रवर्तमानो द्विशतं दद्यात्। द्वयोस्तु स्त्रीपुंसयोः प्रतिषिद्धे प्रवर्तमानयोः संग्रहणे संभोगे वर्णानुसारेण यो दण्डो वक्ष्यते स एव विज्ञेयः। एतच्च चारणादिभार्याऽप्रतिरेकेण। 'नैष चारणदारेषु विधिर्नात्मोपजीविषु। सज्जयन्ति हि ते नारीं निगूढाश्चारयन्ति च ॥ (८।३६२)—इति मनुस्मरणात् ॥ २८५ ॥

भाषा—पति, पिता भाई आदि ने जिस पुरुष के साथ बोलने के लिये मना किया हो उससे बोलने पर स्त्री सौ पण और इसी प्रकार का निषेध किये जाने पर भी किसी स्त्री से बोलने या संबन्ध रखने वाले पुरुष से दो सौ दण्ड दे। दोनों को वर्जित किया गया हो तो उन्हें वही दण्ड होता है जो उपर्युक्त संग्रहण आदि में होता है ॥ २८५ ॥

तमिदानीं संग्रहणे दण्डमाह—

सजातावुत्तमो दण्ड आनुलोम्ये तु मध्यमः।
प्रातिलोम्ये वधः पुंसो नार्याः कर्णादिकर्तनम् ॥ २८६ ॥

चतुर्णामपि वर्णानां बलात्कारेण सजातीयगुप्तपरदाराभिगमने साशीतिपणसहस्रं दण्डनीयः। यदा स्वानुलोम्येन हीनवर्णां स्त्रियमगुप्तामभिगच्छति, तदा मध्यमसाहसं दण्डनीयः। यदा पुनः सवर्णामगुप्तामानुलोम्येन गुप्तां वा व्रजति तदा मानवे विशेष उक्तः (८।३७८-३८३)—'सहस्रं ब्राह्मणो दण्ड्यो गुप्तां विप्रां बलाद् व्रजन्। शतानि पञ्च दण्डयः स्यादिच्छन्त्या सह संगतः ॥' तथा—'सहस्रं ब्राह्मणो दण्डं दाप्यो गुप्ते तु ते व्रजन्। शूद्रायां क्षत्रियविशोः सहस्रं तु भवेद्दमः ॥' इति ॥ एतच्च गुरुसखिभार्यादिव्यतिरेकेण द्रष्टव्यम्।—'माता मातृष्वसा श्वश्रूर्मातुलानी पितृष्वसा। पितृव्यसखिशिष्यस्त्री भगिनी तत्सखी स्नुषा ॥ दुहिताचार्यभार्या च सगोत्रा शरणागता। राज्ञी प्रव्रजिता धात्री साध्वी वर्णोत्तमा च या ॥ आसामन्यतमां गच्छन्गुरुतल्पग उच्यते। शिश्नस्योत्कर्तनात्तत्र नान्यो दण्डो विधीयते ॥' (१२।७३—७५) इति नारदस्मरणात्। प्रातिलोम्ये उत्कृष्टवर्णस्त्रीगमने क्षत्रियादेः पुरुषस्य वधः। एतच्च गुप्ताविषयम्; अन्यत्र तु धनदण्डः। 'उभावपि हि तावेव ब्राह्मण्या गुप्तया सह। विप्लुतौ शूद्रवद्दण्ड्यौ दग्धव्यौ वा कटाग्निना ॥ ब्राह्मणीं यद्यगुप्तां तु सेवेतां वैश्यपार्थिवौ। वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात्क्षत्रियं तु सहस्रिणम् ॥' (८।३७६।३७७)

इति मनुस्मरणात्। शूद्रस्य पुनरगुप्तामुत्कृष्टवर्णां स्त्रियं व्रजतो लिङ्गच्छेदनसर्वस्वापहारौ; गुप्तां तु व्रजतस्तस्य वधसर्वस्वापहाराविति तेनैवोक्तम्। (मनुः ८।३७४)—'शूद्रो गुप्तमगुप्तं वा द्वैजातं वर्णमावसन्। अगुप्तमङ्गसर्वस्वैर्गुप्तं सर्वेण हीयते ॥' इति। नार्याः पुनर्हीनवर्णं व्रजन्त्याः कर्णयोः, 'आदि'ग्रहणान्नासादेश्च कर्तनम्। आनुलोम्येन वा सवर्णं वा व्रजन्त्या दण्डः कल्प्यः। अयं च वधाद्युपदेशो राज्ञ एव, तस्यैव पालनाधिकाराान्न द्विजातिमात्रस्य। तस्य 'ब्राह्मणः परीक्षार्थमपि शस्त्रं नाददीत' इति शस्त्रग्रहणनिषेधात्। यदा तु राज्ञो निवेदनेन कालविलम्बनेन कार्यातिपाताशङ्का तदा स्वयमेव जारादीन्हन्यात्। (मनुः ८।३४८)—'शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते'। तथा (मनुः ८।३५१)—'नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन। प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥' इति शस्त्रग्रहणाभ्यनुज्ञानाच्च। तथा क्षत्रियवैश्ययोरन्योन्यस्त्र्यभिगमने यथाक्रमं सहस्र-पञ्चशतपणात्मकौ दण्डौ वेदितव्यौ। तदाह मनुः (८।३८२)—'वैश्यश्चेत्क्षत्रियां गुप्तां वैश्यां वा क्षत्रियो व्रजेत्। यो ब्राह्मण्यामगुप्तायां तावुभौ दण्डमर्हतः ॥' इति ॥ २८६ ॥

भाषा—सजातीय परायी स्त्री से व्यभिचार करने पर उत्तम साहस का, वर्ण की अनुलोमता होने पर अर्थात् अपने से छोटी जाति का स्त्री से व्यभिचार करने पर मध्यम साहस का दण्ड होता है। वर्ण की प्रतिलोमता पर (अपने से उच्च जाति की स्त्री के साथ व्यभिचार करने पर) दोषी पुरुष का वध कर देना चाहिए और (अपने से नीच वर्ण के पुरुष के साथ व्यभिचाररत) स्त्रियों का कान आदि काट लेना चाहिए ॥ २८६ ॥

पारदार्यप्रसङ्गात्कन्यायामपि दण्डमाह—

अलंकृतां हरन्[2]कन्यामुत्तमं [3]ह्यन्यथाऽधमम्।
दण्डं दद्यात्सवर्णासु[4] प्रातिलोम्ये वधः स्मृतः ॥ २८७ ॥

विवाहाभिमुखीभूतामलंकृतां सवर्णां कन्यामपहरन्नुत्तमसाहसं दण्डनीयः। तदनभिमुखीं सवर्णां हरन्प्रथमसाहसम्। उत्कृष्टवर्णजां कन्यामपहरतः पुनः क्षत्रियादेर्वध एव। दण्डविधानाच्चापहर्तृसकाशादाच्छिद्यान्यस्मै देयेति गम्यते ॥ २८७ ॥

भाषा—जिस का विवाह होने वाला हो उस आभूषणों से युक्त सवर्णा कन्या का अपहरण करने वाले को उत्तम साहस का दण्ड होता है; अन्यथा (ब्याही जाने वाली कन्या न होने पर) अधम साहस का दण्ड होता है;

---

१. अगुप्तैकाङ्गसर्वस्वैः। २. हरेत्कन्याम्। ३. त्वन्यथाऽधमम्। ४. सवर्णा तु प्राति।

उच्च जाति का कन्या का अपहरण करने वाले पुरुष का वध कर देना चाहिए ॥ २८७ ॥

आनुलोम्यापहरणे दण्डमाह—

सकामास्वनुलोमासु न दोषस्त्वन्यथा दमः ।

यदि सानुरागां हीनवर्णां कन्यामपहरति तदा दोषाभावान्न दण्डः । अन्यथा स्वनिच्छन्तीमपहरतः प्रथमसाहसो दण्डः ॥

कन्यादूषणे दण्डमाह—

दूषणे तु करच्छेद उत्तमायां वधस्तथा ॥ २८८ ॥

'अनुलोमासु' इत्यनुवर्तते । यद्यकामां कन्यां बलात्कारेण नखक्षतादिना दूषयति तदा तस्य करश्छेत्तव्यः । यदा पुनस्तामेवाङ्गुलिप्रक्षेपेण योनिक्षतं कुर्वन्दूषयति तदा मनूक्तषट्शतसहितोऽङ्गुलिच्छेदः । 'अभिषह्य तु यः कन्यां कुर्याद्दर्पेण मानवः । तस्याशु कर्त्ये अङ्गुल्यौ दण्डं चार्हति षट्शतम् ॥' (मनुः ८।३६७)—इति । यदा पुनः सानुरागां पूर्ववद्दूषयति तदाऽपि तेनैव विशेष उक्तः (मनुः ८।३६८)—'सकामां दूषयन्कन्यां[2] नाङ्गुलिच्छेदमर्हति । द्विशतं तु दमं दाप्यः प्रसङ्गविनिवृत्तये ।' इति । यदा तु कन्यैव कन्यां दूषयति, विदग्धा वा, तत्रापि विशेषस्तेनैवोक्तः । 'कन्यैव कन्यां या कुर्यात्तस्यास्तु द्विशतो दमः । या तु कन्यां प्रकुर्यात्स्त्री सा सद्यो मौण्ड्यमर्हति ॥ अङ्गुल्योरेव वा च्छेदं खरेणोद्वहनं तथा ॥' (मनुः ८।३६९)—इति । 'कन्यां कुर्यात्' इति कन्यां योनिक्षतवतीं कुर्यादित्यर्थः ॥ तदा पुनरुत्कृष्टजातीयां कन्यामवि-शेषात्[3]सकामामकामां वाऽभिगच्छति तदा हीनस्य क्षत्रियादेर्वध एव; 'उत्तमां सेवमानस्तु जघन्यो वधमर्हति' (८।३६६)—इति मनुस्मरणात् ॥ यदा सवर्णां सकामामभिगच्छति तदा गोमिथुनं शुल्कं तत्पित्रे दद्यात्, यदीच्छति; पितरि तु शुल्कमनिच्छति दण्डरूपेण तदेव राज्ञे दद्यात् । सवर्णामकामां तु गच्छतो वध एव; यथाह मनुः (८।३६६)—'शुल्कं दद्यात्सेवमानः समामिच्छेत्पिता यदि' (८।३६४)—'योऽकामां दूषयेत्कन्यां स सद्यो वधमर्हति । सकामां दूषयँस्तुल्यो न वधं प्राप्नुयान्नरः ॥' इति ॥ २८८ ॥

भाषा—कन्या का भी प्रेम होने पर और उसके (पुरुष से) निम्न जाति की होने पर दोष नहीं होता, अन्यथा (कन्या का प्रेम न होने पर) प्रथम साहस का दण्ड होता है; यदि ऐसी (अर्थात् अपने से हीन जाति की

---

१. स्त्वन्यथाऽधमः (= प्रथमसाहसः) । २. दूषयंस्तुल्यो । ३. विशेषा-त्सानुरागामकामां ।

और न चाहने वाली) कन्या को बलपूर्वक नखक्षत आदि से दूषित करने पर हाथ काटने और अपने से उच्च वर्ण की अनचाहती कन्या को दूषित करने पर वध का दण्ड होता है ॥ २८८ ॥

शतं स्त्रीदूषणे दद्याद् द्वे तु मिथ्याभिशंसने[1] ।
पशून्गच्छञ्शतं दाप्यो हीनां स्त्रीं गां च मध्यमम्[2] ॥ २८९ ॥

किंच, 'स्त्री'शब्देनात्र प्रकृतत्वात्कन्याऽत्रमृश्यते । तस्या यदि कश्चिद्विद्यमानानेवापस्माराराजयक्ष्मादिदीर्घकुत्सितरोगसंसृष्टमैथुनत्वादिदोषान्प्रकाश्य 'इयमकन्या' इति दूषयति, असौ शतं दाप्यः । मिथ्याऽभिशंसने तु पुनरविद्यमानदोषाविष्कारेण दूषणे द्वे शते दापनीयः । गोव्यतिरिक्तपशुगमने तु शतं दाप्यः । यः पुनर्हीनां स्त्रियमन्त्यावसायिनीमविशेषात्सकामामकामां वा गां चाभिगच्छत्यसौ मध्यमसाहसं दण्डनीयः ॥ २८९ ॥

भाषा—किसी कन्या का वास्तविक दोष भी प्रकाशित करने पर सौ पण और उस पर झूठा दोष लगाने पर दो सौ पण दण्ड दे । पशु मैथुन करने वाले से सौ पण दण्ड ले और हीन स्त्री एवं गाय में मैथुन करने वाले को मध्यम साहस का दण्ड होता है ॥ २८९ ॥

साधारणस्त्रीगमने दण्डमाह—

अवरुद्धासु दासीषु भुजिष्यासु तथैव च ।
गम्यास्वपि पुमान्दाप्यः पञ्चाशत्पणिकं दमम् ॥ २९० ॥

'गच्छन्' इत्यनुवर्तते । उक्तलक्षणा वर्णस्त्रियो दास्यः, ता एव स्वामिना शुश्रूषाहानिर्व्युदासार्थं गृह एव स्थातव्यमित्येवं पुरुषान्तरोपभोगतो निरुद्धा अवरुद्धाः, पुरुषनियतपरिग्रहा भुजिष्याः, यदा दास्योऽवरुद्धा भुजिष्या वा भवेयुस्तदा तासु तथा । 'च'शब्दाद्वेश्यास्वैरिणीनामपि साधारणस्त्रीणां भुजिष्याणां च ग्रहणम् । तासु च सर्वपुरुषसाधारणतया गम्यास्वपि गच्छन् पञ्चाशत्पणं दण्डनीयः; परपरिगृहीतत्वेन तासां परदारतुल्यत्वात् । एतच्च स्पष्टमुक्तं नारदेन (१२।७८।७९)—'स्वैरिण्यब्राह्मणी वेश्या दासी निष्कासिनी च या । गम्याः स्युरानुलोम्येन स्त्रियो न प्रतिलोमतः ॥ आस्वेव तु भुजिष्यासु दोषः स्यात्परदारवत् । गम्यास्वपि हि नोपेयाद्यतस्ताः[3] सपरिग्रहाः ॥' इति ॥ निष्कासिनी स्वाम्यनवरुद्धा दासी । ननु च स्वैरिण्यादीनां साधारणतया गम्यत्वाभिधानमुक्तम् । नहि जातितः शास्त्रतो वा काश्चन लोके साधारणाः

---

१. मिथ्याभिशंसिते; । मिथ्याभिशंसिता । २. पशुं गच्छञ्शतं दाप्यो हीनस्त्रीं गां । ३. यतस्ताः परपरिग्रहाः ।

स्त्रिय उपलभ्यन्ते। तथा हि-स्वैरिण्यो दास्यश्च तावद्वर्णस्त्रिय एव; 'स्वैरिणी या पतिं हित्वा सवर्णं कामतः श्रयेत्। वर्णानामानुलोम्येन दास्यं न प्रतिलोमतः॥' इति मनुस्मरणात्॥ नच वर्णस्त्रीणां पत्यौ जीवति मृते वा पुरुषान्तरोपभोगो घटते; 'दुःशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः। परिचार्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः॥ कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः। न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु॥' (मनुः ५।१५४-१५७)—इति निषेधस्मरणात्॥ नापि कन्यावस्थायाः साधारणत्वम्। पित्रादिपरिरक्षितायाः कन्याया एव दानोपदेशात्। दात्रभावेऽपि तथाविधाया एव स्वयंवरोपदेशात्। न च दासी भावात्स्वधर्माधिकारच्युतिः। पारतन्त्र्यं हि दास्यम्, न स्वधर्मपरित्यागः। नापि वेश्या साधारणी; वर्णानुलोमजव्यतिरेकेण गम्यजात्यन्तरासंभवात्। तदन्तःपातित्वे च पूर्ववदेवागम्यत्वम्; प्रतिलोमजत्वे तु तासां नितरामगम्यत्वम्। अतः पुरुषान्तरोपभोगे तासां निन्दितकर्माभ्यासेन पातित्यात्, पतितसंसर्गस्य निषिद्धत्वाच्च न सकलपुरुषोपभोगयोग्यत्वम्। सत्यमेवम्। किं त्वत्र स्वैरिण्याद्युपभोगे पित्रादिरक्षकराजदण्डभयादिदृष्टदोषाभावाद्गम्यत्ववाचोयुक्तिः। दण्डाभावश्चावरुद्धासु दासीष्विति नियतपुरुषपरिग्रहोपाधितो दण्डविधानात्तदुपाधिरहितास्व[1]र्थादवगम्यते। स्वैरिण्यादीनां पुनर्दण्डाभावो विधानाभावात्॥ 'कन्यां भजन्तीमु[2]त्कृष्टां न किंचिदपि दापयेत्॥' इति लिङ्गनिदर्शनाच्चावगम्यते। प्रायश्चित्तं तु स्वधर्मस्खलननिमित्तं गम्यानां गन्तॄणां चाविशेषाद्भवत्येव। यत्पुनर्वेश्यानां जात्यन्तरासंभवेन वर्णान्तःपातित्वमनुमानादुक्तम्—'वेश्या वर्णानुलोमाद्यन्तःपातिन्यः; मनुष्यजात्याश्रयत्वात्, ब्राह्मणादिवत्' इति। तन्न; कुण्डगोलकादिभिरनैकान्तिकत्वात्। अतो वेश्याख्या काचिज्जातिरनादिर्वेश्यायामुत्कृष्टजातेः समानजातेर्वा पुरुषादुत्पन्नापुरुषसंभोगवृत्तिर्वेश्येति ब्राह्मण्यादिवल्लोकप्रसिद्धिबलादभ्युप[3]गमनीयम्। नच निर्मूलेयं प्रसिद्धिः। स्मर्यते हि स्कन्दपुराणे—'पञ्चचूडा नाम काञ्चनाप्सरसः, तत्सन्ततिर्वेश्याख्या पञ्चमी जातिः' इति। अतस्तासां नियतपुरुषपरिणयनविधिविधुरतया समानोत्कृष्टजातिपुरुषाभिगमने नादृष्टदोषो नापि दण्डः। तासु चानवरुद्धासु गच्छतां पुरुषाणां यद्यपि न दण्डस्तथाप्यदृष्टदोषोऽस्त्येव। 'स्वदारनिरतः सदा' (३।४५) इति नियमात्।—'पशुवेश्याभिगमने प्राजापत्यं विधीयते' इति प्रायश्चित्तस्मरणाच्चेति निरवद्यम्॥ २९०॥

भाषा—यदि कोई पुरुष दूसरे की अवरुद्धा (केवल स्वामी की सेवा के लिए रखी गई, जिसे घर से बाहर निकलना मना हो) दासी और भुजिष्या

---

१. स्वर्थाद्गम्यते। २. मुत्कृष्टं। ३. उपगमनीया।

(अर्थात् किसी विशेष पुरुष को सौंपी गई) दासी से संभोग करे तो उस दासी के गम्य होने पर भी पुरुष को पचास पण दण्ड लेवे ॥ २९० ॥

'अवरुद्धासु दासीषु' (व्य० २९०) इत्यनेन दासीस्वैरिण्यादिभुजिष्याभिगमने दण्डं विदधतस्तास्वभुजिष्यासु दण्डो नास्तीत्यर्थादुक्तं तस्यापवादमाह—

प्रसह्य दास्यभिगमे दण्डो दशपणः स्मृतः ।
बहूनां यद्यकामाऽसौ चतुर्विंशतिकः पृथक् ॥ २९१ ॥[1]

पुरुषसंभोगजीविकासु दासीषु स्वैरिण्यादिषु शुल्कदानविरहेण प्रसह्य बलात्कारेणाभिगच्छतो दशपणो दण्डः । यदि बहव [2]एकामनिच्छन्तीमपि बलात्कारेणाभिगच्छन्ति तर्हि प्रत्येकं चतुर्विंशतिपणपरिमितं दण्डं दण्डनीयाः । यदा पुनस्तदिच्छया भाटिं दत्त्वा पश्चादनिच्छन्तीमपि बलाद्व्रजन्ति तदा तेषामदोषः; यदि व्याध्याद्यभिभवस्तस्या न स्यात्: 'व्यधिता सश्रमा व्यग्रा राजकर्मपरायणा । आमन्त्रिता चेन्नागच्छेददण्ड्या वडवा स्मृता ॥' इति नारदवचनात् ॥ २९१ ॥

भाषा—(पुरुष संभोग से जीविका चलाने वाली स्वैरिणी) दासियों से बलपूर्वक (बिना धन दिये ही) संभोग करने का दण्ड दस पण कहा गया है । यदि अनेक पुरुष मिलकर न चाहने वाली स्वैरिणी दासी के साथ बलात्कार करें तो उनमें से प्रत्येक से चौबीस पण दण्ड लेवे ॥ २९१ ॥

गृहीतवेतना वेश्या नेच्छन्ती द्विगुणं वहेत् ।
अगृहीते समं दाप्यः पुमानप्येवमेव हि ॥ २९२ ॥

यदा तु शुल्कं गृहीत्वा स्वस्थापि अर्थपतिं नेच्छति तदा द्विगुणं शुल्कं दद्यात् तथा शुल्कं दत्त्वा स्वयमनिच्छतः स्वस्थस्य पुंसः शुल्कहानिरेव । —'शुल्कं गृहीत्वा पण्यस्त्री नेच्छन्ती द्विगुणं वहेत् । अनिच्छन्दत्तशुल्कोऽपि शुल्कहानिमवाप्नुयात् ॥' इति तेनैवोक्तम् । तथाऽन्योऽपि विशेषस्तेनैव दर्शितः—'अप्रयच्छंस्तथा शुल्कमनुभूय पुमान्स्त्रियम् । अक्रमेण च संगच्छन् [3]घातदन्तनखादिभिः ॥ अयोनौ वाऽभिगच्छेद्यो बहुभिर्वाऽपि वासयेत् । शुल्कमष्टगुणं दाप्यो विनयं तावदेव तु ॥ वेश्याप्रधाना यास्तत्र कामुकास्तद्ग्रहोषिताः । तत्समुत्थेषु कार्येषु निर्णयं संशये विदुः ॥' इति ॥ २९२ ॥

भाषा—शुल्क लेकर (और स्वस्थ होने पर भी) शुल्क देने वाले पुरुष से संभोग की इच्छा न रखने वाली वेश्या शुल्क का दूना धन देवे ।

---

१. अयोनौ गच्छतो…चाधिमेहतः…॥ २९२ ॥ २. मनभिलषन्तीं ।
३. घातदन्तनखा ।

बिना शुल्क लिये ही संभोग की स्वीकृति देने के बाद नट जाने वाली वेश्या शुल्क के बराबर धन दे। इसी प्रकार का दण्ड वेश्या के समीप गये हुए पुरुष के विषय में भी होता है। (यदि शुल्क देने के बाद स्वस्थ होने पर भी संभोग न करे तो फिर शुल्क वापस लेने का अधिकारी नहीं होता) ॥२९२॥

अयोनौ[1] गच्छतो योषां पुरुषं वाऽभिमेहतः[2]।
चतुर्विंशतिको दण्डस्तथा प्रव्रजितागमे ॥ २९३ ॥

किंच, यस्तु[3] स्वयोषां मुखादावभिगच्छति पुरुषं वाऽभिमुखो मेहति तथा प्रव्रजितां वा गच्छत्यसौ चतुर्विंशतिपणान्दण्डनीयः ॥ २९३ ॥

भाषा—स्त्री की योनि को छोड़ कर उसके मुख आदि किसी अन्य अंग में मैथुन करने वाले, पुरुष के समक्ष रति करने वाले और प्रव्रजिता (संन्यासिनी) का संभोग करने वाले पुरुष को चौबीस पण दण्ड लगता है ॥ २९३ ॥

अन्त्याभिगमने[4]त्वङ्क्यः कुबन्धेन[5] प्रवासयेत्।
शूद्रस्तथाऽ[6]न्त्य एव स्यादन्त्यस्यार्यागमे वधः ॥ २९४ ॥

किंच, अन्त्या चाण्डाली तद्गमने त्रैवर्णिकान्प्रायश्चित्तानभिमुखान् 'सहस्रं त्वन्त्यजस्त्रियम्' (८।३८५) इति मनुवचनात्पणसहस्रं दण्डयित्वा कुबन्धेन कुत्सितबन्धेन भगाकारेणाङ्कयित्वा स्वराष्ट्रान्निर्वासयेत्। प्रायश्चित्ताभिमुखस्य पुनर्दण्डनमेव। शूद्रः पुनश्चाण्डाल्यभिगमेऽन्त्य एव चाण्डाल एव भवति। अन्त्यजस्य पुनश्चाण्डालादेरुत्कृष्टजातिस्त्र्यभिगमे वध एव ॥ २९४ ॥

भाषा—चाण्डाली से संभोग करने वाले पुरुष को, उसके शरीर पर भग की आकृति दागकर अपने राज्य से निर्वासित कर दे। शूद्र पुरुष (चाण्डाली संभोग से) चण्डाल ही हो जाता है और उत्तम जाति की स्त्री से रति करने पर चाण्डाल का वध होता है ॥ २९४ ॥

इति स्त्रीसंग्रहणप्रकरणम्।

अथ प्रकीर्णकप्रकरणम् २५

व्यवहारप्रकरणमध्ये स्त्रीपुंसयोगाख्यमप्यपरं विवादपदं मनुनारदाभ्यां विवृतम्। तत्र नारदः (१२।१)—'विवाहादिविधिः स्त्रीणां यत्र पुंसा च कीर्त्यते। स्त्रीपुंसयोगसंज्ञं तद्विवादपदमुच्यते ॥' इति ॥ मनुरप्याह (९।२)—'अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम्। विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या ह्यात्मनो

---

१. अन्त्याभिगमने***॥२९३॥ २. चाभिमेहतः। विद्वान्द्वशपणो दण्डः। ३. स्वेच्छया योषां। ४. त्वाङ्क्य। ५. कबन्धेन। ६. स्तथाऽङ्क्य।

वशे ॥'इत्यादि ॥ यद्यपि स्त्रीपुंसयोः परस्परमर्थिप्रत्यर्थितया 'नृपसमक्षं व्यवहारो निषिद्धः, तथापि प्रत्यक्षेण कर्णपरम्परया वा विदिते तयोः परस्परातिचारे दण्डादिना दम्पती निजधर्ममार्गे राज्ञा स्थापनीयौ। इतरथा दोषभाग्भवतीति व्यवहारप्रकरणे राजधर्ममध्येऽस्य स्त्रीपुंसधर्मजातस्योपदेशः। एतच्च विवाहप्रकरण एव सप्रपञ्चं प्रतिपादितमिति योगीश्वरेण न पुनरत्रोक्तम् ॥

सांप्रतं प्रकीर्णकाख्यं व्यवहारपदं प्रस्तूयते। तल्लक्षणं च कथितं नारदेन (१७-१-४)-'प्रकीर्णकेषु[2] विज्ञेया व्यवहारा नृपाश्रयाः। राज्ञामाज्ञाप्रतीघातस्तत्कर्मकरणं तथा ॥ पुरःप्रदानं संभेदः[3] प्रकृतीनां तथैव च। पाखण्डिनैगमश्रेणिगणधर्मविपर्ययाः ॥ पित्रापुत्रविवादश्च प्रायश्चित्तव्यतिक्रमः। प्रतिग्रहविलोपश्च कोपश्चाश्रमिणामपि ॥ वर्णसंकरदोषश्च तद्वृत्तिनियमस्तथा। न दृष्टं यच्च पूर्वेषु सर्वं तत्स्यात्प्रकीर्णके ॥' इति ॥ प्रकीर्णके विवादपदे ये विवादा राजाज्ञोल्लङ्घनतदाज्ञाकरणादिविषयास्ते नृपसमवायिनः। नृप एव तत्र स्मृत्याचारव्यपेतमार्गे वर्तमानानां प्रतिकूलतामास्थाय व्यवहारनिर्णयं कुर्यात् ॥ एवं च वदता यो नृपाश्रयो व्यवहारस्तत्प्रकीर्णकमित्यर्थाल्लक्षितं भवति ॥

तत्रापराधविशेषेण दण्डविशेषमाह—

[4]ऊनं वा[5]ऽभ्यधिकं वा[6]ऽपि लिखेद्यो राजशासनम्।
पारदारिकचौरं[7] वा मुञ्चतो दण्ड उत्तमः ॥ २९५ ॥

राजदत्तभूमेर्निबन्धस्य वा परिमाणान्न्यूनत्वमाधिक्यं वा प्रकाशयन् राजशासनं योऽभिलिखति, यश्च पारदारिकं चौरं वा गृहीत्वा राज्ञेऽनर्पयित्वा मुञ्चति तावुभावुत्तमसाहसं दण्डनीयौ ॥ २९५ ॥

भाषा—जो राजा की आज्ञा को घटा-बढ़ाकर लिखता है और जो परायी स्त्री से व्यभिचार करने वाले या चोर को पकड़ करके भी छोड़ देता है उसे उत्तम साहस का दण्ड होता है ॥ २९५ ॥

प्रसङ्गान्नृपाश्रयव्यतिरिक्तव्यवहारविषयमपि दण्डमाह—

[8]अभक्ष्येण द्विजं दूष्यो दण्ड्य उत्तमसाहसम्।
मध्यमं क्षत्रियं वैश्यं प्रथमं शूद्रमर्धिकम् ॥ २९६ ॥

---

१. नृपसमीपं। २. र्णके पुनर्ज्ञेया। ३. भेदश्च। ४. न्यूनं वा। ५. वाऽपि यो लिखेद्राज। ६. वाऽभ्यधि। ७. चौरौ। ८. द्विजं प्रदूष्याभक्ष्येण दण्ड्य उत्तमसाहसम्। क्षत्रियं मध्यमं वैश्यं प्रथमं शूद्रमर्धिकम्। अभक्ष्यैर्दूषयन् विप्रं दण्ड उत्तमसाहसम्।

मूत्रपुरीषादिना अभक्ष्येण भक्ष्यानर्हेण दूष्यान्नपानादिमिश्रणेन स्वरूपेण[1] वा ब्राह्मणं दूषयित्वा खादयित्वोत्तमसाहसं दण्ड्यो भवति। क्षत्रियं पुनरेवं दूषयित्वा मध्यमम्, वैश्यं दूषयित्वा प्रथमम्, शूद्रं दूषयित्वा प्रथमसाहसस्यार्धम्, 'दण्ड्यो भवति' इति संबन्धः। लशुनाद्यभक्ष्यदूषणे तु दोषतारतम्याद्दण्डतारतम्यमूहनीयम् ॥ २९६ ॥

भाषा—मूत्र, पुरीष आदि अपवित्र या अभक्ष्य पदार्थ द्वारा ब्राह्मण के अन्न और जल को दूषित करने वाला उत्तम साहस के दण्ड का भागी होता है। क्षत्रिय को इस प्रकार दूषित करने वाला मध्यम साहस के, वैश्य को दूषित करने वाला प्रथम साहस के और शूद्र को इस प्रकार दूषित करने वाला प्रथम साहस के आधा दण्ड के योग्य होता है ॥ २९६ ॥

कूटस्वर्णव्यवहारी विमांसस्य च विक्रयी।
त्र्यङ्गहीनस्तु कर्तव्यो दाप्यश्चोत्तमसाहसम् ॥ २९७ ॥

किंच, रसवेधाद्यापादितवर्णोत्कर्षैः कूटैः स्वर्णैर्व्यवहारशीलो यः स्वर्णकारादिः। यश्च विमांसस्य कुत्सितमांसस्य श्वादिसंबन्धस्य विक्रयशीलः सौनिकादिः; 'च'शब्दात्कूटरजतादिव्यवहारी च, ते सर्वे प्रत्येकं नासाकर्णकरैस्त्रिभिरङ्गैर्हीनाः कार्याः। 'च'शब्दात्त्र्यङ्गच्छेदेन[2] समुच्चितमुत्तमसाहसं दण्डं दाप्याः। यत्पुनर्मनुनोक्तम् (९-२९२)—'सर्वकण्टकपापिष्ठं हेमकारं तु पार्थिवः। प्रवर्तमानमन्याये छेदयेल्लवशः क्षुरैः॥' इति,-तदेतद् देवब्राह्मणराजस्वर्णविषयम् ॥२९७॥

भाषा—कूट स्वर्ण (सोने का पानी चढ़ाकर बनाये गये खोटे सोने) का व्यवहार करने वाले और निषिद्ध अर्थात् कुत्ते आदि का मांस बेचने वाले के तीन अंग (नाक, कान और हाथ) काट कर उन्हें उत्तम साहस का दण्ड देना चाहिए ॥ २९७ ॥

विषयविशेषे दण्डाभावमाह—

चतुष्पादकृतो दोषो नापेहीति प्रजल्पतः।
काष्ठलोष्टेषुपाषाणबाहुयुग्यकृतस्तथा[3] ॥ २९८ ॥

चतुष्पादैर्गोगजादिभिः कृतो यो दोषो मनुष्यमारणादिरूपोऽसौ गवादिस्वामिनो न भवति, अपसरेति प्रकर्षेणोच्चैर्भाषमाणस्य। तथा लकुटलोष्टसायकपाषाणोत्क्षेपणेन बाहुना युग्येन च युगं वहताश्वादिना कृतो यः पूर्वोक्तो दोषः सोऽपि काष्ठादीन्प्रास्यतो न भवत्यपसरेति प्रजल्पतः। काष्ठाद्युत्क्षेपणेन हिंसायां दोषाभावकथनं दण्डाभावप्रतिपादनार्थम्। प्रायश्चित्तं पुनरबुद्धिपूर्वकरणनिमित्तमस्त्येव। काष्ठादिग्रहणं च शक्तितोमरादेरुपलक्षणार्थम् ॥ २९८ ॥

---

1. द्रव्यरूपेण। 2. शब्दादङ्गच्छेदेन। 3. 'न बाहुयुग्य'।

भाषा—'हटो हटो' इस प्रकार चिल्लाकर स्वामी के सावधान करने पर भी यदि चौपाए (गाय, बैल, हाथी आदि) कोई दोष करें अर्थात् किसी को मार दें तो स्वामी का दोष नहीं होता; इसी प्रकार हटने के लिये आवाज देते हुए काठ, ढेला, बाण, पत्थर फेंकने से, हाथ चलाने से और रथ में जुते हुए घोड़ों से किसी को चोट लगने पर भी फेंकने, चलाने या हाँकने वाले का दोष नहीं होता ॥ २९८ ॥

छिन्ननस्येन यानेन तथा भग्नयुगादिना ।
पश्चाच्चैवापसरता हिंसने स्वाम्यदोषभाक् ॥ २९९ ॥

किंच, नसि भवा रज्जुर्नस्या छिन्ना शकटादियुक्तबलीवर्दनस्या रज्जुर्यस्मिन्याने तत् छिन्ननस्यं शकटादि तेन, तथा भग्नयुगेन 'आदि'ग्रहणाद्भग्नाक्षचक्रादिना च यानेन पश्चात्पृष्ठतोऽपसरता 'च'शब्दात्तिर्यगपगच्छता प्रतिमुखं वागच्छता च मनुष्यादिहिंसने स्वामी प्राजको वा दोषभाङ् न भवति । अतत्प्रयत्नजनितत्वाद्धिंसनस्य । तथा च मनुः (८।२९१।२९२)—'छिन्ननस्ये भग्नयुगे तिर्यक्प्रतिमुखागते । अक्षभङ्गे च यानस्य चक्रभङ्गे तथैव च ॥ छेदने चैव यन्त्राणां योक्त्ररश्म्योस्तथैव च । आक्रन्दे[2] सत्यपैहीति न दण्डं मनुरब्रवीत् ॥' इति ॥ २९९ ॥

भाषा—गाड़ी में बैलों को नाँधने के लिए लगी हुई रस्सी (जोता) के टूटने पर और जुए आदि के टूटने से तथा यान (गाड़ी) के पीछे चलने से किसी मनुष्य आदि की हिंसा हो जाय तो यान का स्वामी दोषी नहीं होता ॥ २९९ ॥

उपेक्षायां स्वामिनो दण्डमाह—

शक्तोऽप्यमोक्षयन्स्वामी दंष्ट्रिणां शृङ्गिणां तथा ।
प्रथमं साहसं दद्याद्विक्रुष्टे द्विगुणं तथा ॥ ३०० ॥

अप्रवीणप्राजकप्रेरितैर्दंष्ट्रिभिर्गजादिभिः शृङ्गिभिर्गवादिभिर्वध्यमानं समर्थोऽपि तत्स्वामी यद्यमोक्षयन्नुपेक्षते, तदा अकुशलप्राजकनियोजननिमित्तं प्रथमसाहसं दण्डं दद्यात् । यदा तु 'मारितोऽहम्' इति विक्रुष्टेऽपि न मोक्षयति तदा द्विगुणम् । यदा पुनः प्रवीणमेव प्राजकं प्रेरयति तदा प्राजक एव दण्ड्यो न स्वामी । यथाह मनुः (८।२९४)—'प्राजकश्चेद्भवेदाप्तः प्राजको दण्डमर्हति' इति ॥ प्राजको यन्ता । आप्तोऽभियुक्तः । प्राणिविशेषाच्च दण्डविशेषः कल्पनीयः । यथाह मनुः (८।२९६–९८)—'मनुष्यमारणे क्षिप्रं चौरवत्किल्बिषी भवेत् ।

---

१. तिर्यगपसरता । २. आक्रन्दनेप्यपैहीति ।

प्राणभृत्सु महत्स्वर्धं गोगजोष्ट्रहयादिषु ॥ क्षुद्राणां च पशूनां तु हिंसायां द्विशतो दमः। पञ्चाशत्तु भवेद्दण्डः शुभेषु मृगपक्षिषु ॥ गर्दभाजाविकानां तु दण्डः स्यात्पञ्चमाषकः। माषकस्तु भवेद्दण्डः श्वशूकरनिपातने ॥' इति ॥ ३०० ॥

भाषा—दाँत वाले (हाथी आदि) और सींग बाले (बैल आदि) पशुओं का स्वामी यदि समर्थ होते हुए भी इनके आक्रमण से किसी को न छुड़ावे तो उसे प्रथम साहस का दण्ड होता है और यदि उस व्यक्ति के (जिसे पशु मार रहा हो) रक्षा के लिये चिल्लाने पर भी नहीं बचाता तो वह प्रथम साहस के दण्ड से दूना दण्ड का भागी होता है ॥ ३०० ॥

जारं चौरेत्यभिवदन्दाप्यः पञ्चशतं दमम्।
उपजीव्य धनं मुञ्चंस्तदेवाष्टगुणीकृतम् ॥ ३०१ ॥

किंच, स्ववंशकलङ्कभयाज्जारं पारदारिकं 'चौर ! निर्गच्छे'त्यभिवदन् पञ्चशतं पणानां पञ्च शतानि यस्मिन्दमे स तथोक्तस्तं दमं दाप्यः। यः पुनर्जारहस्ताद्धनमुपजीव्य उत्कोचरूपेण गृहीत्वा जारं मुञ्चत्यसौ यावद् गृहीतं तावदष्टगुणीकृतं दण्डं दाप्यः ॥ ३०१ ॥

भाषा—यदि कोई अपने कुल की प्रतिष्ठा बचाने के लिए जार (अर्थात् व्यभिचारी) को चोर-चोर कहकर भाग जाने दे तो उससे पाँच सौ पण दण्ड लेना चाहिए और यदि उस जार से उत्कोच के रूप में धन लेकर उसे छोड़ दे तो उसके अठगुना दण्ड होता है ॥ ३०१ ॥

राज्ञोऽनिष्टप्रवक्तारं तस्यैवाक्रोशकारिणम्।
तन्मन्त्रस्य च भेत्तारं छित्त्वा जिह्वां प्रवासयेत् ॥ ३०२ ॥

किंच, राज्ञोऽनिष्टस्यानभिमतस्यामित्रस्तोत्रादेः[2] प्रकर्षेण भूयो भूयो वक्तारं तस्यैव राज्ञ आक्रोशकारिणं निन्दाकरणशीलं तदीयस्य च मन्त्रस्य स्वराष्ट्रविवृद्धिहेतोः परराष्ट्रापक्षयकरस्य वा भेत्तारं अमित्रकर्णेषु जपन्तं तस्य जिह्वामुत्कृत्य स्वराष्ट्रान्निष्कासयेत्। कोशापहरणादौ पुनर्वध एव। (मनुः ९।२७५)—'राज्ञः कोशापहर्तॄंश्च प्रतिकूलेषु च स्थितान्। घातयेद्विविधैर्दण्डैररीणां[3] चोपकारकान् ॥' इति मनुस्मरणात्। विविधैः सर्वस्वापहाराङ्गच्छेदवधरूपैरित्यर्थः। सर्वस्वापहारेऽपि यद्यस्य जीवनोपकरणं तन्नापहर्तव्यम् चौर्योपकरणं विना। यथाह नारदः—(१७।१०,११) 'आयुधान्यायुधीयानां वाह्यादीन्वाह्यजीविनाम्। वेश्यास्त्रीणामलंकारान्वाद्यातोद्यादि तद्विदाम् ॥ यच्च यस्योपकरणं येन जीवन्ति कारुकाः। सर्वस्वहरणेऽप्येतन्न राजा हर्तुमर्हति ॥' इति।

---

१. क्षुद्रकाणां पशूनां तु। २. मित्रस्तवादेः। ३. चोपजापकान्।

ब्राह्मणस्य पुनः 'न शारीरो ब्राह्मणे दण्डः' (गौ० १२।४६) इति निषेधाद्वध-स्थाने शिरोमुण्डनादिकं कर्तव्यम्—'ब्राह्मणस्य वधो मौण्ड्यं पुरान्निर्वासनाङ्कने। ललाटे चाभिशस्ताङ्कः प्रयाणं गर्दभेन तु ॥' इति मनुस्मरणात् ॥ ३०२ ॥

भाषा—पुनः पुनः राजा का अहित कहने वाले, उसकी निन्दा करने वाले और उसकी (राजनीति की) गुप्त बातों को खोलने वाले की जीभ काटकर अपने राज्य से निकाल देना चाहिए ॥ ३०२ ॥

मृताङ्गलग्नविक्रेतुर्गुरोस्ताडयितुस्तथा।
राजयानासनारोढुर्दण्ड[2] उत्तमसाहसः ॥ ३०३ ॥

किंच[1] मृतशरीरसंबन्धिनो वस्त्रपुष्पादेर्विक्रेतुः गुरोः पित्राचार्यादेस्ताडयितुः तथा राजानुमतिं विना तद्यानं गजाश्वादि आसनं सिंहासनादि आरोहतश्चोत्तम-साहसो दण्डः ॥ ३०३ ॥

भाषा—शव के ऊपर की वस्तु (वस्त्र आदि) बेचने वाले, पिता एवं आचार्य आदि को ताड़ना देने वाले और राजा की सवारी या सिंहासन पर बैठने वाले को उत्तम साहस का दण्ड होता है ॥ ३०३ ॥

द्विनेत्रभेदिनो राजद्विष्टादेशकृतस्तथा।
विप्रत्वेन च शूद्रस्य जीवतोऽष्टशतो दमः ॥ ३०४ ॥

किंच, यः पुनः क्रोधादिना परस्य नेत्रद्वयं भिनत्ति। यश्च ज्योतिःशास्त्रवित् गुर्वादिहितेच्छुर्व्यतिरिक्तो[3] राज्ञो द्विष्टमनिष्टं 'संवत्सरान्ते तव राज्य-च्युतिर्भविष्यति' इत्येवमादिरूपमादेशं करोति। तथा च यः शूद्रो भोजनार्थं यज्ञोपवीतादीनि ब्राह्मणलिङ्गानि धारयति तेषामष्टशतो दमः। अष्टौ पणशतानि यस्मिन्दमे स तथोक्तः। 'श्राद्धभोजनार्थं पुनः शूद्रस्य विप्रवेषधारिणस्तप्त-शलाकया यज्ञोपवीतवद्वपुष्यालिखेत्' इति स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम्। वृत्त्यर्थं तु यज्ञोपवीतादिब्राह्मणलिङ्गधारिणो वध एव।—'द्विजातिलिङ्गिनः शूद्रान्घातयेत्' इति स्मरणात् ॥ ३०४ ॥

भाषा—किसी की दोनों आँखें फोड़ने वाले, राजा के अनिष्ट (राज्यनाश आदि) की बात फैलाने वाले और शूद्र होकर ब्राह्मण का वेष बनाकर जीविका निर्वाह करने वाले को आठ सौ पण दण्ड होता है ॥ ३०४ ॥

रागलोभादिनाऽन्यथा व्यवहारदर्शने दण्डमाह—

[4]दुर्दृष्टांस्तु पुनर्दृष्ट्वा व्यवहारान्नृपेण तु।
सभ्याः सजयिनो दण्ड्या विवादाद्द्विगुणं[5] दमम् ॥ ३०५ ॥

---

१. न शारीरो दण्डः। २. मध्यमसाहसः। ३. हितेच्छु। ४. सम्य-ग्दृष्ट्वा तु दुर्दृष्टान्य। ५. द्विगुणं पृथक्।

दुर्दृष्टान्स्मृत्याचारप्राप्तधर्मोल्लङ्घनेन रागलोभादिभिरसम्यग्विचारितत्वेनाशङ्क्यमानान् व्यवहारान्पुनः स्वयं राजा सम्यग्विचार्य निश्चितदोषाः पूर्वसभ्याः सजयिनः प्रत्येकं विवादपदे यो दमः पराजितस्य तद्द्विगुणं दाप्याः। अप्राप्तजेतृदण्डविधिपरत्वाद्वचनस्य रागाल्लोभादित्यादिना श्लोकेनापौनरुक्त्यम्। यदा पुनः साक्षिदोषेण व्यवहारस्य दुर्दृष्टत्वं ज्ञातं तदा साक्षिण एव दण्ड्याः, न जयी नापि सभ्याः। यदा तु राजानुमत्या व्यवहारस्य दुर्दृष्टत्वं[2] ज्ञातं तदा सर्व एव राजसहिताः सभ्यादयो दण्डनीयाः।—'पादो गच्छति कर्तारं पादः साक्षिणमृच्छति। पादः सभासदः सर्वान्पादो राजानमृच्छति॥' (८।१७) इति वचनात्। एतच्च प्रत्येकं राजादीनां दोषप्रतिपादनपरं, न पुनरेकस्यैव[3] पापापूर्वस्य विभागाय। यथोक्तम्—'कर्तृसमवायिफलजननस्वभावत्वादपूर्वस्य' इति॥

भाषा—पहले सभासदों द्वारा अधर्मपूर्वक देखे गये व्यवहार पर फिर से न्याय के साथ विचार करके राजा पहले विजयी घोषित किये गये व्यक्ति और सभासदों से विवाद में हारने वाले पर जितना दण्ड होता हो उसका दूना धन पृथक्-पृथक् ले॥ ३०५॥

न्यायतो निर्णीतव्यवहारस्य प्रत्यावर्तयितुर्दण्डमाह—

यो मन्येताजितोऽस्मीति न्यायेनापि पराजितः।
तमायान्तं पुनर्जित्वा दापयेद् द्विगुणं दमम्॥ ३०६॥

यः पुनर्न्यायमार्गेण पराजितोऽपि औद्धत्यात् 'नाहं पराजितोऽस्मि' इति मन्यते तमायान्तं कूटलेख्याद्युपन्यासेन पुनर्धर्माधिकारिणमधितिष्ठन्तं धर्मेण पुनः पराजयं नीत्वा द्विगुणं दण्डं दापयेत्॥ नारदेनाप्युक्तम्—'तीरितं चानुशिष्टं च मन्येत विधर्मतः। द्विगुणं दण्डमास्थाय तत्कार्यं पुनरुद्धरेत्॥' इति। तीरितं साक्षिलेख्यादिनिर्णीतमनुद्धृतदण्डम्। अनुशिष्टमुद्धृतदण्डम्। दण्डपर्यन्तं नीतमिति यावत्। यत्पुनर्मनुवचनम् (९।२३३)—'तीरितं चानुशिष्टं च यत्र क्वचन विद्यते। कृतं तद्धर्मतो ज्ञेयं न तत्प्राज्ञो निवर्तयेत्॥' इति, तदर्थिप्रत्यर्थिनोरन्यतरवचनाद्व्यवहारस्याधर्मतो वृत्तत्वाशङ्कायां पुनर्द्विगुणदण्डप्रतिज्ञापूर्वकं व्यवहारं प्रवर्तयेत्, न पुनर्धर्मतो वृत्तत्वनिश्चयेऽपि राज्ञा लोभादिना प्रवर्तयितव्य इत्येवंपरम्। यत्पुनर्नृपान्तरेणापि न्यायापेतं कार्यं निर्वर्तितं तदपि सम्यक्परीक्षणेन धर्म्ये पथि स्थापनीयम्। 'न्यायापेतं यदन्येन राज्ञा ज्ञानकृतं भवेत्। तदप्यन्यायविहितं पुनर्न्याये निवेशयेत्॥' इति स्मरणात्॥३०६॥

भाषा—जो न्यायतः पराजित होने पर भी स्वयं को पराजित नहीं मानता उसे पुनः धर्मपूर्वक पराजित करके राजा उससे दुगुना दण्ड वसूल करे॥३०६॥

---

१. जयिसहिताः। २. दुर्दृष्टता तदा। ३. रेकैकस्यैव।

अन्यायगृहीतदण्डधनस्य गतिमाह—

राज्ञाऽन्यायेन यो दण्डो गृहीतो वरुणाय तम्[1]।
निवेद्य दद्याद्विप्रेभ्यः स्वयं त्रिंशद्गुणीकृतम् ॥ ३०७ ॥[2]

अन्यायेन यो दण्डो राज्ञा लोभादिना गृहीतस्तं त्रिंशद्गुणीकृतं वरुणायेदमिति संकल्प्य ब्राह्मणेभ्यः स्वयं दद्यात्। यस्माद्दण्डरूपेण यावद् गृहीतमन्यायेन तावत्तस्मै प्रतिदेयम्, इतरथापहारदोषप्रसङ्गात्। अन्यायदण्डग्रहणे पूर्वस्वामिनः स्वत्वविच्छेदाभावाच्चेति ॥ ३०७ ॥

इति श्रीमत्पद्मनाभभट्टोपाध्यायात्मजस्य श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविज्ञानेश्वरभट्टारकस्य कृतौ ऋजुमिताक्षराख्यायां याज्ञवल्कीयधर्मशास्त्रविवृतौ द्वितीयोऽध्यायो व्यवहाराख्यः संपूर्णः ॥

अथास्मिन्नध्याये प्रकरणानुक्रमणिका कथ्यते। आद्यं साधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् १। असाधारणव्यवहारमातृकाप्रकरणम् २। ऋणादानम् ३। उपनिधिप्रकरणम् ४। साक्षिप्रकरणम् ५। लेख्यप्रकरणम् ६। दिव्यप्रकरणम् ७। दायविभागः ८। सीमाविवादः ९। स्वामिपालविवादः १०। अस्वामिविक्रयः ११। दत्ताप्रदानिकम् १२। क्रीतानुशयः १३। अभ्युपेत्याशुश्रूषा १४। संविद्व्यतिक्रमः १५। वेतनादानम् १६। द्यूतसमाह्वयाख्यम् १७। वाक्पारुष्यम् १८। दण्डपारुष्यम् १९। साहसम् २०। विक्रियासंप्रदानम् २१। संभूयसमुत्थानम् २२। स्तेयप्रकरणम् २३। स्त्रीसंग्रहणम् २४। प्रकीर्णकम् २५।

इति पञ्चविंशतिप्रकरणानि ॥

उत्तमोपपदस्येयं शिष्यस्य कृतिरात्मनः।
धर्मशास्त्रस्य विवृतिर्विज्ञानेश्वरयोगिनः ॥ १ ॥

भाषा—यदि राजा ने अन्याय से कोई दण्ड लिया हो तो स्वयं उसका तीस गुना करके उसे वरुण देवता के लिये संकल्प करके ब्राह्मणों को देवे, (और जिससे जितना धन अन्यायपूर्वक लिया हो उसे उतना धन लौटा देवे) ॥ ३०७ ॥

व्यवहाराध्याय समाप्त

---

१. अन्यायेन तु यो दण्डो। २. राजभिर्धृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः। निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥ एवमुद्धृतदण्डानां विशुद्धिः पापकर्मिणाम्। स्वधर्मस्थापनाद्राजा प्रजाभ्यो धर्ममश्नुते ॥ यत्र दण्डविधिर्नोक्तः सर्वैरेव महात्मभिः। देशकालादि संचिन्त्य तत्र दण्डो विधीयते ॥

प्रायश्चित्ताध्यायः

अथाशौचप्रकरणम्

गृहस्थाश्रमिणां नित्यनैमित्तिका धर्मा उक्ताः । अभिषेकादिगुणयुक्तस्य गृहस्थविशेषस्य गुणधर्माश्च प्रदर्शिताः । अधुना तदधिकारसंकोचहेतुभूताशौचप्रतिपादनमुखेन तेषामपवादाः प्रतिपाद्यन्ते । 'आशौच'शब्देन च कालस्नानाद्यपनोद्यः पिण्डोदकदानादिविधेः अध्ययनादिपर्युदासस्य च निमित्तभूतः पुरुषगतः कश्चनातिशयः कथ्यते, न पुनः कर्मानधिकारमात्रम् । 'अशुद्धा बान्धवाः सर्वे' (मनुः ५।५८) इत्यादावशुद्धत्वाभिधानात् । 'अशुद्ध'[1]शब्दस्य च वृद्धव्यवहारेऽनाहिताग्निदीक्षितादावनधिकारिमात्रे प्रयोगाभावात् वृद्धव्यवहारव्युत्पत्तिनिबन्धनत्वाच्च शब्दार्थावगतेः । किंच यद्याशौचिनां दानादिनिषेधदर्शनात्तदयोग्यत्वमाशौचशब्दाभिधेयं कल्प्यते तर्हि उदकदानादिविधिदर्शनात् तद्योग्यत्वमप्याशौचशब्दाभिधेयं स्यात् तत्रानेकार्थकल्पनादोषप्रसङ्ग इत्युपेक्षणीयोऽयं पक्षः ॥

तत्राशौचिभिः सपिण्डाद्यैर्यत्कर्तव्यं तत्तावदाह—

> ऊनद्विवर्षं निखनेन्न कुर्यादुदकं ततः ।
> आश्मशानादनुव्रज्य[2] इतरो ज्ञातिभिर्वृतः[3] ॥ १ ॥
> यमसूक्तं तथा गाथा जपद्भिर्लौकिकाग्निना ।
> स दग्धव्य उपेतश्चेदाहिताग्न्यावृतार्थवत् ॥ २ ॥

ऊने अपरिपूर्णे द्वे वर्षे यस्यासावूनद्विवर्षस्तं प्रेतं निखनेत् भूमाववटं कृत्वा निदध्यान्न पुनर्दहेदित्यर्थः । न च 'सकृत्प्रसिञ्चन्त्युदकम्' (प्रा. ४) इत्यादिभिः प्रेतोद्देशेन विहितमुदकदानाद्यौर्ध्वदेहिकं कुर्यात् । अयं च गन्धमाल्यानुपलेपनादिभिरलंकृत्य शुचौ भूमौ श्मशानादन्यत्रास्थिनिचयरहितायां बहिर्ग्रामान्निखननीयः । यथाऽऽह मनुः (५।६८-६९)—'ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं निदध्युर्बान्धवा बहिः । अलंकृत्य शुचौ भूमावस्थिसंचयनादृते ॥ नास्य[4] कार्योऽग्निसंस्कारो नापि कार्योदकक्रिया । अरण्ये काष्ठवत्त्यक्त्वा क्षिपेयुस्त्र्यहमेव तु ॥' इति । 'अरण्ये काष्ठवत्त्यक्त्वा' इत्यस्यायमर्थः-यथाऽरण्ये काष्ठं त्यक्त्वोदासीनास्तद्विषये भवन्ति तथोनद्विवार्षिकमपि खातायां भूमौ परित्यज्य तद्विषये श्राद्धाद्यौर्ध्वदेहिकेषु उदासीनैर्भवितव्यमित्याचारादिप्राप्तश्राद्धाद्यभावोऽनेन दृष्टान्तेन सूच्यते । स[5] च घृतेनाभ्यज्य यमगाथाः पठद्भिर्[6]निधातव्यः ।

---

१. अत्राशुद्धशब्दस्य च व्यवहारेणाहिताग्नि । २. आश्मशानमनुव्राज्य । ३. र्मृतः । ४. नास्य । ५. शवश्च । ६. गायद्भिः ।

'ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं घृताक्तं निखनेद्बहिः । यमगाथा गायमानो यमसूक्तमनुस्मरन् ॥' इति यमस्मरणात् ॥ ततस्तस्मादूनद्विवार्षिकादितरपूर्णद्विवर्षो यो मृतोऽसौ श्मशानपर्यन्तं ज्ञातिभिः सपिण्डैः समानोदकैश्च ज्येष्ठः पुरःसरैरनुव्रज्योऽनुगन्तव्यः । अस्मादेव वचनादूनद्विवर्षस्यानुगमनमनियतमिति गम्यते । अनुगम्य च 'परेयिवांसम्' (ऋ० ७, अ० ६, । १४, ५, ६) इत्यादि यमसूक्तं यमदैवत्या गाथाश्च जपद्भिर्लौकिकेनासंस्कृतेनाग्निना दग्धव्यो यदि जातारणिर्नास्ति । तत्सद्भावे तु तन्मथितेन दग्धव्यो न लौकिकेन । तस्याग्निसंपाद्यकार्यमात्रार्थत्वेनोत्पत्तेः । लौकिकाग्निश्च चण्डालादिव्यतिरिक्तो ग्राह्यः; 'चण्डालाग्निरमेध्याग्निः सूतिकाग्निश्च कर्हिचित् । पतिताग्निश्चिताग्निश्च न शिष्टग्रहणोचिताः ॥' इति देवलस्मरणात् ॥ लौगाक्षिणा चात्र विशेष उक्तः—'तूष्णीमेवोदकं कुर्यात्तूष्णीं संस्कारमेव च । सर्वेषां कृतचूडानामन्यत्रापीच्छया द्वयम् ॥' इति अयमर्थः—'चौलकर्मानन्तरकाले नियमेनाभ्युदकदानं कार्यम् । अन्यत्रापि नामकरणादूर्ध्वं अकृतचूडेऽपीच्छया प्रेताभ्युदयकामनया द्वयं अभ्युदकदानात्मकं तूष्णीं कार्यं, न नियमेनेति विकल्पः । मनुनाप्यत्र विशेषो दर्शितः (५।७०)—'नात्रिवर्षस्य कर्तव्या बान्धवैरुदकक्रिया । जातदन्तस्य वा कुर्यान्नाम्नि वाऽपि कृते सति ॥' इति । 'उदकग्रहणं' साहचर्यादग्निसंस्कारस्याप्युपलक्षणार्थम् । 'नात्रिवर्षस्य' इति वचनात् । कुलधर्मापेक्षया चूडोत्कर्षेऽपि वर्षत्रयादूर्ध्वमभ्युदकदानादिनियमोऽवगम्यते । लौगाक्षिवचनाद्वर्षत्रयात्प्रागपि कृतचूडस्य तयोर्नियम इति विवेचनीयम् । उपेतश्चेद्युपनीतस्तर्हि आहिताग्न्यावृता[1] आहिताग्नेर्दाहप्रक्रियया[2] स्वगृह्यादिप्रसिद्धया लौकिकाग्निनैव[3] दग्धव्यः । अर्थवत्प्रयोजनवत् । अयमर्थः—यद्यस्य क्लृप्तं दाहद्वारं कार्यरूपं प्रयोजनं सम्भवति । भूमिजोषणप्रोक्षणादि तदुपादेयम् । यत्पुनर्लुप्तप्रयोजनं पात्रयोजनादि तन्निवर्तते । तथा लौकिकाग्निविधानेनोपनीतस्य अनाहिताग्नेर्गृह्याग्निना दाहविधानेन च अपहृतप्रयोजनत्वादाहवनीयादेरपि निवृत्तिरिति ॥ अभ्यन्तरविधानं च वृद्धयाज्ञवल्क्येनोक्तम्—'आहिताग्निर्यथान्यायं दग्धव्यस्त्रिभिरग्निभिः । अनाहिताग्निरेकेन लौकिकेनापरो जनः ॥' इति । न च शूद्रेण श्मशानं प्रति अग्निकाष्ठादिनयनं कार्यम् ; 'यस्यानयति शूद्रोऽग्निं तृणं काष्ठं हवींषि च । प्रेतत्वं हि सदा तस्य स चाधर्मेण लिप्यते ॥' इति यमस्मरणात् ॥ तथा दाहश्च स्नपनाद्यनन्तरं कार्यः—'प्रेतं दहेच्छुभैर्गन्धैः स्नापितं स्रग्विभूषितम्' इति स्मरणात् । प्रचेतसाऽप्युक्तम्—स्नानं प्रेतस्य पुत्राद्यैर्वस्त्राद्यैः पूजनं

---

१. उदकदानात्मकं । २. आहिताग्नेर्दानप्रक्रियया । ३. आहिताग्नेः स्वगृह्याग्निना ।

तथा । नग्नं दहेन्नैव किंचिद्देयं परित्यजेत् ॥' इति; किंचिद्देयमिति शववस्त्रैकदेशं श्मशानवास्यर्थं देयं परित्यजेदित्यर्थः ॥ तथा प्रेतनिर्हरणेऽपि मनुना विशेषो दर्शितः (५।१०४) —'न विप्रं स्वेषु तिष्ठत्सु मृतं शूद्रेण हारयेत्। अस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा स्याच्छूद्रसंपर्कदूषिता ॥' अत्र च स्वेषु तिष्ठत्सु इत्यविवक्षितम् । अस्वर्ग्यत्वादिदोषश्रवणात् ॥—'दक्षिणेन मृतं शूद्रं परद्वारेण निर्हरेत् । पश्चिमोत्तरपूर्वैस्तु यथासंख्यं द्विजातयः ॥' तथा हारीतोऽपि—'न ग्रामाभिमुखं प्रेतं हरेयुः' इति ॥ यदा तु प्रोषितमरणे शरीरं न लभ्यते तदास्थिभिः प्रतिकृतिं कृत्वा तेषामप्यलाभे पर्णशरैः शौनकादिगृह्योक्तमार्गेण प्रतिकृतिं कृत्वा संस्कारः कार्यः । आशौचं चात्र दशाहादिकमेव । 'आहिताग्निश्चेत्प्रवसन्म्रियेत पुनः संस्कारं कृत्वा शववदाशौचम्' (४।३७) इति वसिष्ठस्मरणात् । अनाहिताग्निस्तु त्रिरात्रम् ; 'सुपिष्टैर्जलसंमिश्रैर्दग्धव्यश्च तथाग्निना । असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहेत्युक्त्वा स बान्धवैः ॥ एवं पर्णशरं दग्ध्वा त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ॥' इति वचनात् ॥ ततश्चायमर्थः—'नामकरणादर्वाङ्निखननमेव, न चोदकदानादि । तत ऊर्ध्वं यावत्त्रिवर्षं वैकल्पिकमप्युदकदानम् । ततः परं यावदुपनयनं तूष्णीमेवाप्युदकदानं नियतम् । वर्षत्रयात्प्रागपि कृतचूडस्य । उपनयनादूर्ध्वं पुनराहिताग्न्यावृता दाहं कृत्वा सर्वमौर्ध्वदेहिकं कार्यम् । अयं तु विशेषः–उपनीतस्य लौकिकाग्निना दाहः कार्यः । अनाहिताग्नेर्गृह्याग्निना दाहो यथासंभवं पात्रयोजनं च कार्यम् ॥१–२॥

भाषा—दो वर्ष से कम आयु वाले बालक के मरने पर उसे भूमि में गाड़ देना चाहिए और उसके लिए उदकदान (प्रेत को उद्दिष्ट कर दी जाने वाली उदकांजलि) नहीं करना चाहिए । उससे अधिक आयु वाले के मरने पर जाति वालों (सपिण्डों) के साथ श्मशान तक (शव के पीछे-पीछे) जावें। यमसूक्त और गाथा का पाठ करते हुए (यदि मृत व्यक्ति अग्निहोत्री न रहा हो तो) लौकिक अग्नि से उसका दाह करे; यदि उसका यज्ञोपवीत हुआ हो तो अपने गृह्य में बताई गई लौकिक अग्नि से प्रयोजन के अनुसार दाह करे ॥ १–२ ॥

संस्कारानन्तरं किं कर्तव्यमित्यत आह—

सप्तमाद्दशमाद्वापि ज्ञातयोऽभ्युपयन्त्यपः ।
अप नः शोशुचदघमनेन पितृदिङ्मुखाः ॥ ३ ॥

सप्तमाद्दिवसादर्वाग्दशमदिवसाद्वा ज्ञातयः समानगोत्राः सपिण्डाः समानोदकाश्च 'अप नः शोशुचदघम्' (ऋ. सं. १।७।५) इत्यनेन मन्त्रेण दक्षिणामुखाः अपः अभ्युपयन्ति । अभ्युपगमनेन तत्प्रयोजनभूतोदकदानविशिष्टमभ्युपगमनं कथ्यते; 'एवं मातामहाचार्य–' (प्रा० ४) इत्यनन्तरमुदकदानस्यातिदेश-

दर्शनात्। एतच्चायुग्मासु तिथिषु कार्यम्। 'प्रथमतृतीयपञ्चमसप्तमनवमेषूदकक्रिया' (१४।४०) इति गौतमस्मरणात्॥ एतच्च स्नानानन्तरं कार्यम्; 'शरीरमग्नौ संयोज्यानवेक्षमाणा अपोऽभ्युपयन्ति' इति शातातपस्मरणात्॥ तथा प्रचेतसाप्यत्र विशेषो दर्शितः—'प्रेतस्य बान्धवा यथावृद्धमुदकमवतीर्य नोद्धर्षयेयुरुदकान्ते प्रसिञ्चेयुरपसव्ययज्ञोपवीतवाससो दक्षिणाभिमुखा ब्राह्मणस्योदङ्मुखाः प्रत्यङ्मुखाश्च[1] राजन्यवैश्ययोः' इति। स्मृत्यन्तरे तु यावत्त्याशौचदिनानि तावदुदकदानस्यावृत्तिरुक्ता। यथा‍ह विष्णुः (१९।१३)—'यावदाशौचं तावत्प्रेतस्योदकं पिण्डं च दद्युः' इति॥ तथा च प्रचेतसाप्युक्तम्—'दिने दिनेऽञ्जलीन्पूर्णान्प्रदद्यात्प्रेतकारणात्। तावद्वृद्धिश्च कर्तव्या यावत्पिण्डः समाप्यते॥' इति। प्रतिदिनमञ्जलीनां वृद्धिः कार्या, यावद्दशमः पिण्डः समाप्यत इत्यर्थः॥ यद्यप्यनयोर्गुरुलघुकल्पयोरन्यतरानुष्ठानेनापि शास्त्रार्थः सिद्धस्तथापि बहुक्लेशावहत्वेन गुरुतरकल्पे प्रवृत्त्यनुपपत्तेः प्रेतस्योपकारातिशयो भविष्यतीति कल्पनीयम्[2]। अन्यथा गुरुतरकल्पाम्नायस्यानर्थक्यप्रसङ्गात्॥ वसिष्ठेनापि विशेषोऽभिहितः। (४।१२)—'सव्योत्तराभ्यां पाणिभ्यामुदकक्रियां कुर्वीरन्' इति॥ ३॥

भाषा—सातवें या दसवें दिन से पहले समान गोत्रवाले या सपिण्ड पुरुष जल के समीप जाकर 'अप नः शोशुचदघम्' इस मन्त्र से पितरों की दिशा दक्षिण की ओर मुख करके उदकदान करें॥ ३॥

वक्ष्यमाणसकृत्प्रसेकस्य नामगोत्रादिभिर्गुणैर्विशिष्टस्योदकदानस्यासमान[3]गोत्रेषु मातामहादिष्वतिदेशमाह—

एवं मातामहाचार्यप्रेतानामुदकक्रिया।
कामोदकं सखिप्रत्तास्वस्त्रीयश्वशुरर्त्विजाम्॥ ४॥

यथा सगोत्रसपिण्डानां प्रेतानामुदकं दीयते तथा मातामहानामाचार्याणां च प्रेतानां नित्यमुदकक्रिया कार्या। सखा मित्रं, प्रत्ताः परिणीता दुहितृभगिन्यादयः, स्वस्त्रीयो भागिनेयः, श्वशुरः प्रसिद्धः, ऋत्विजो याजकाः, एतेषां सख्यादीनां प्रेतानां कामोदकं कार्यम्। काम इच्छा, कामेनोदकदानं कामोदकं, प्रेताभ्युदयकामनायां सत्यामुदकं देयम्; असत्यां न देयमिति अकरणे, प्रत्यवायो नास्तीत्यर्थः॥ ४॥

भाषा—इसी विधि से मातामह (नाना) और आचार्य के लिए भी उदकदान किया जाता है। इच्छानुसार मित्र, विवाहिता पुत्री या बहन, भागिनेय, श्वशुर और ऋत्विज् के लिए भी उदकदान करे॥ ४॥

---

१. प्राङ्मुखाश्च। २. कल्पनीयस्या। ३. स्य समान। ३. प्रेतानां चोदकक्रिया। ४. प्रत्तस्वस्रीय।

उदकदाने गुणविधिमाह—

सकृत्प्रसिञ्चन्त्युदकं नामगोत्रेण वाग्यताः ।

तच्चोदकदानमित्थं कर्तव्यम्—सपिण्डाः समानोदकाश्च मौनिनो भूत्वा प्रेतस्य नामगोत्रे उच्चार्य 'अमुकनामा प्रेतोऽमुकगोत्रस्तृप्यतु' इति सकृदेवोदकं प्रसिञ्चेयुः त्रिर्वा; 'त्रिः [1]प्रत्येकं कुर्युः प्रेतस्तृप्यतु'इति प्रचेतःस्मरणात् ॥ प्रतिदिनमञ्जलिवृद्धिस्तु प्रतिपादितैव । तथा अयमपि विशेषस्तेनैवोक्तः—'नदीकूलं ततो गत्वा शौचं कृत्वा यथार्थवत् । वस्त्रं संशोधयेदादौ ततः स्नानं समाचरेत् ॥ सचैलस्तु ततः स्नात्वा शुचिः प्रयतमानसः । पाषाणं तत [2]आधाय विप्रे दद्याद्दशाञ्जलीन् ॥ द्वादश क्षत्रिये दद्याद्वैश्ये पञ्चदश स्मृताः । त्रिंशच्छूद्राय दातव्यास्ततः संप्रविशेद् गृहम् । ततः स्नानं पुनः कार्यं गृहशौचं च कारयेत् ॥' इति ॥

सपिण्डानां मध्ये केषांचिदुदकदानप्रतिषेधमाह—

न ब्रह्मचारिणः कुर्युरुदकं पतितास्तथा ॥ ५ ॥

ज्ञातित्वे सत्यपि ब्रह्मचारिणः समावर्तनपर्यन्तं, पतिताश्च प्रच्युतद्विजातिकर्माधिकाराः, उदकादिदानं न कुर्युः ॥ ब्रह्मचर्योत्तरकालं पूर्वमृतानां सपिण्डादीनां उदकदानमाशौचं च कुर्यादेव । यथाह मनुः (५।८८)—'आदिष्टी नोदकं कुर्यादाव्रतस्य समापनात् । समाप्ते तूदकं कृत्वा [3]त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ॥' इति । आदिष्टी 'ब्रह्मचार्यसि अपोशान कर्म कुरु दिवा मा स्वाप्सीः' (आश्व० १।२२।२) इत्यादिव्रतादेशयोगाद् ब्रह्मचार्युच्यते । एतच्च पित्रादिव्यतिरेकेणेति वक्ष्यति । 'आचार्यपित्रुपाध्यायान्' (प्रा० १५) इति । अत्राचार्यः पुनरेवं मन्यते—आदिष्टीति प्रक्रान्तप्रायश्चित्तः कथ्यते, तस्यैवायमुदकदानादिनिषेधः प्रायश्चित्तरूपव्रतस्य समाप्त्युत्तरकालमुदकदानाशौचविधिरिति । तथा क्लीबादीनां चोदकदायित्वं निषिद्धम् ; 'क्लीबाद्या नोदकं कुर्युः स्तेना व्रात्या विधर्मिणः । गर्भभर्तृद्रुहश्चैव सुराप्यश्चैव योषितः ॥' इति वृद्धमनुस्मरणात् ॥ ५ ॥

भाषा—(सपिण्ड लोग) मौन होकर गोत्रसहित प्रेत (मृत व्यक्ति) का नाम लेकर एक बार (या तीन बार) उदकाञ्जलि दें । ब्रह्मचारी और पतित व्यक्ति उदकदान न करें ॥ ५ ॥

एवमुदकदाने कर्तृविशेषप्रतिषेधमुक्त्वा संप्रदानविशेषेण प्रतिषेधमाह—

[4]पाखण्ड्यनाश्रिताः स्तेना भर्तृघ्न्यः कामगादिकाः ।
सुराप्य [5]आत्मत्यागिन्यो नाशौचोदकभाजनाः ॥ ६ ॥

---

१. प्रत्येकं कुर्युः । २. आदाय । ३. त्रिरात्रेणैव शुद्ध्यति । ४. पाषण्डाना । ५. आत्मघातिन्यो ।

नरशिरःकपालादिश्रुतिबाह्यलिङ्गधारणं पाखण्डम्, तद्विद्यते येषां ते पाखण्डिनः; अनाश्रिताः अधिकारे सत्यप्यकृताश्रमविशेषपरिग्रहाः। स्तेनाः सुवर्णाद्युत्तमद्रव्यहारिणः, भर्तृघ्न्यः प्रतिघातिन्यः, कामगाः कुलटाः, 'आदि'ग्रहणात् स्वगर्भब्राह्मणघातिन्यो गृह्यन्ते। सुराप्यो यासां या सुरा प्रतिषिद्धा तत्पानरताः। आत्मत्यागिन्यः विषाग्न्युदकोद्बन्धनाद्यैरात्मानं यास्त्यजन्ति। एते पाखण्ड्यादयः 'त्रिरात्रं दशरात्रं वा' (प्रा० १८) वक्ष्यमाणस्याशौचस्योदकदानाद्यौर्ध्वदेहिकस्य च भाजना न भवन्ति। भाजयन्तीति भाजनाः; सपिण्डादीनामाशौचादिनिमित्तभूता न भवन्ति; अतस्तन्मरणे सपिण्डैरुदकदानादि न कार्यमित्येतत्प्रतिपादनपरं वचनम्। अत्र 'सुराप्य' इत्यादिषु लिङ्गमविवक्षितम्[1]।—'लिङ्गं च वचनं देशः कालोऽयं कर्मणः फलम्। मीमांसाकुशलाः प्राहुरनुपादेयपञ्चकम्॥' इत्यनुपादेयगतत्वात्। एतच्च बुद्धिपूर्वविषयम्; यथाह गौतमः (१४।१२)—'प्रायोऽनाशकशस्त्राग्निविषोदकोद्बन्धनप्रपतनैश्चेच्छताम्' इति। प्रायो महाप्रस्थानम्, अनाशकमनशनम्, गिरिशिखरादवपातः प्रपतनम्। अत्र चेच्छतामिति विशेषणोपादानात्प्रमादकृते दोषो नास्तीत्यवगन्तव्यम्; 'अथ कश्चित्प्रमादेन म्रियेताग्न्युदकादिभिः। तस्याशौचं विधातव्यं कर्तव्या चोदकक्रिया' इति अङ्गिरःस्मरणात्॥ तथा मृत्युविशेषादपि आशौचादिनिषेधः— 'चाण्डालादुदकात्सर्पाद् ब्राह्मणाद्वैद्युतादपि। दंष्ट्रिभ्यश्च पशुभ्यश्च मरणं पापकर्मिणाम्॥ उदकं पिण्डदानं च प्रेतेभ्यो यत्प्रदीयते। नोपतिष्ठति तत्सर्वमन्तरिक्षे विनश्यति॥' इति। एतदपीच्छापूर्वमात्महननविषयम्। गौतमवचनेनेच्छापूर्वकमेवोदकेन हतस्याशौचादिनिषेधस्योक्तत्वात्। अत्रापि 'चाण्डालादुदकात्सर्पात्' इति तत्साहचर्यदर्शनाद् बुद्धिपूर्वविषयत्वनिश्चयः। अतो दर्पादिना चाण्डालादीन्हन्तुं गतो यस्तैर्मारितस्तस्यायं 'सर्वत एवात्मानं गोपायेत्' इति विध्यतिक्रमनिमित्तः पिण्डदानादिनिषेधः। एवं दुष्टदंष्ट्र्यादिग्रहणार्थनाभिमुख्येन दर्पाद्गच्छतो मरणेऽप्ययं निषेध इत्यनुसंधेयम्। अयं चाशौचप्रतिषेधो दशाहादिकालावच्छिन्नस्य; 'हतानां नृपगोविप्रैरन्वक्षं चात्मघातिनाम्' (प्रा० २१) इति सद्यःशौचस्य वक्ष्यमाणत्वात्। तथा दाहादिकमप्येषां न कार्यम्; 'नाशौचं नोदकं नाश्रु न दाहाद्यन्त्यकर्म च। ब्रह्मदण्डहतानां च न कुर्यात्कटधारणम्॥' इति यमस्मरणात्। ब्रह्मदण्डहता ब्राह्मणदण्डहताः। प्रेतवहनसाधने खट्वादि 'कट'शब्देनोच्यते। न चाहिताग्निमग्निभिर्दहन्ति यज्ञपात्रैश्चेत्येतत् श्रुतिविहिताग्नियज्ञपात्रादिप्रतिपत्तिलोपप्रसङ्गात्। अयं स्मार्तो दाहादिनिषेधो विप्रादिहताहिताग्निविषयं नास्कन्दतीत्याशङ्कनीयम्। यतश्चण्डालादिह-

1. विवक्षितम्। एतच्च बुद्धिपूर्वविषयम्।

त्ताहिताग्निसंबन्धिनामग्नियज्ञपात्राणां स्मृत्यन्तरे प्रतिपत्त्यन्तरं विधीयते—'वैतानं प्रक्षिपेदप्सु आवसथ्यं चतुष्पथे। पात्राणि तु दहेदग्नौ यजमाने वृथा मृते ॥' (जमदग्निः) इति। तथा तच्छरीरस्यापि प्रतिपत्त्यन्तरमुक्तम्; 'आत्मनस्त्यागिनां नास्ति पतितानां तथा क्रिया। तेषामपि तथा गङ्गातोये संस्थापनं हितम् ॥' इति स्मरणात्। तस्मादविशेषेण सर्वेषां दहनादिनिषेधः। अतः स्नेहादिना निषेधातिक्रमे प्रायश्चित्तं कर्तव्यम्; 'कृत्वाऽग्निमुदकं स्नानं स्पर्शनं वहनं कथाम्। रज्जुच्छेदाश्रुपातं च तप्तकृच्छ्रेण शुद्ध्यति ॥' इति स्मरणात्। एतच्च प्रत्येकं बुद्धिपूर्वके वेदितव्यम्। अबुद्धिपूर्वकमरणे तु 'एषामन्यतमं प्रेतं यो वहेत दहेत वा। कटोदकक्रियां कृत्वा कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ॥' इति संवर्तोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ यः पुनः 'तच्छवं केवलं स्पृष्टमश्रु वा पातितं यदि। पूर्वोक्तानामकारी चेदेकरात्रमभोजनम् ॥' इति स्पर्शाश्रुपातयोरुपवास उक्तः ॥ असौ कृच्छ्रेष्वशक्तस्य तथा बन्धनच्छेदने दहने वा मासं भैक्षाहारस्त्रिषवणं च' इति सुमन्तुना भैक्षाशित्वमुक्तं,—तदप्यशक्तस्यैव। एवमन्यान्यपि तद्विषयाणि स्मृतिवाक्यानि व्यवस्थापनीयानि। अयं च दाहादिप्रतिषेधो नित्यकर्मानुष्ठानासमर्थजीर्णवानप्रस्थादिव्यतिरिक्तविषयः; तेषामभ्यनुज्ञादर्शनात्। 'वृद्धः शौचस्मृतेर्लुप्तः प्रत्याख्यातभिषक्क्रियः। आत्मानं घातयेद्यस्तु भृग्वग्न्यनशनाम्बुभिः ॥ तस्य त्रिरात्रमाशौचं द्वितीये त्वस्थिसंचयः। तृतीये तूदकं कृत्वा चतुर्थे श्राद्धमाचरेत्'॥ इति स्मरणात् ॥

एवं येन येनोपाधिना आत्महननं शास्त्रतोऽभ्यनुज्ञायते तत्तद्व्यतिरिक्तमार्गेणात्महनने श्राद्धाद्यौर्ध्वदेहिकेषु निषिद्धेषु किं पुनस्तेषां कार्यमित्यपेक्षायां वृद्धयाज्ञवल्क्यच्छागलेयाभ्यामुक्तम्—'नारायणबलिः कार्यो लोकगर्हाभयान्नरैः। तथा तेषां भवेच्छौचं नान्यथेत्यब्रवीद्यमः। तस्मात्तेभ्योऽपि दातव्यमन्नमेव सदक्षिणम् ॥' इति। व्यासेनाप्युक्तम्—'नारायणं समुद्दिश्य शिवं वा यत्प्रदीयते। तस्य शुद्धिकरं कर्म तद्भवेन्नैतदन्यथा ॥' एवं इति। एवं नारायणबलिः प्रेतस्य शुद्ध्यापादनद्वारेण श्राद्धादिसंप्रदानस्य योग्यतां जनयतीति और्ध्वदेहिकमपि सर्वं कार्यमेव। अत एव षट्त्रिंशन्मतेऽपि और्ध्वदेहिकस्याभ्यनुज्ञा दृश्यते—'गोब्राह्मणहतानां च पतितानां तथैव च। ऊर्ध्वं संवत्सरात्कुर्यात्सर्वमेवौर्ध्वदेहिकम् ॥' इति। एवं संवत्सरादूर्ध्वमेव नारायणबलिं कृत्वौर्ध्वदेहिकं कार्यम् ॥

नारायणबलिश्चेत्थं कार्यः—कस्यांचिच्छुक्लैकादश्यां विष्णुं वैवस्वतं यमं च यथावदभ्यर्च्य तत्समीपे मधुघृतप्लुतांस्तिलमिश्रान्दश पिण्डान्विष्णुरूपिणं प्रेतमनुस्मरन् प्रेतनामगोत्रे उच्चार्य दक्षिणाग्रेषु दर्भेषु दक्षिणाभिमुखो दत्त्वा गन्धा-

---

१. पूर्वैव वेदितव्यम्।

दिभिरभ्यर्च्य पिण्डप्रवाहणान्तं कृत्वा नद्यां क्षिपेत् , न पत्न्यादिभ्यो दद्यात् ॥ ततस्तस्यामेव रात्र्यामयुग्मान्ब्राह्मणानामन्त्र्योपोषितः श्वोभूते मध्याह्ने विष्ण्वाराधनं कृत्वा एकोद्दिष्टविधिना ब्राह्मणपादप्रक्षालनादितृप्तिप्रश्नान्तं कृत्वा पिण्डपितृयज्ञावृतोल्लेखनाद्यवनेजनान्तं तूष्णीं कृत्वा विष्णवे ब्रह्मणे शिवाय यमाय च परिवारसहिताय चतुरः पिण्डान्दत्त्वा नामगोत्रसहितं तं प्रेतं संस्मृत्य विष्णोर्नाम संकीर्त्य पञ्चमं पिण्डं दद्यात् । ततो विप्रानाचान्तान्दक्षिणाभिस्तोषयित्वा तन्मध्ये चैकं गुणवत्तमं प्रेतबुद्ध्या संस्मरन् गोभूहिरण्यादिभिरतिशयेन संतोष्य ततः पवित्रपाणिभिर्विप्रैः प्रेताय तिलादिसहितमुदकं दापयित्वा स्वजनैः सार्धं भुञ्जीत ॥

सर्पहते त्वयं विशेषः—संवत्सरं यावत्पुराणोक्तविधिना पञ्चम्यां नागपूजां विधाय पूर्णे संवत्सरे नारायणबलिं कृत्वा सौवर्णं नागं दद्यात्, गां च प्रत्यक्षाम् । ततः सर्वमौर्ध्वदेहिकं कुर्यात् ॥

नारायणबलिस्वरूपं च वैष्णवेऽभिहितं यथा—'एकादशीं समासाद्य शुक्लपक्षस्य वै तिथिम् । [1]विष्णुं समर्चयेद्देवं यमं वैवस्वतं तथा ॥ दश पिण्डान् घृताभ्यक्तान्दर्भेषु मधुसंयुतान् । तिलमिश्रान्प्रदद्याद्वै संयतो दक्षिणामुखः ॥ विष्णुं बुद्धौ समासाद्य नद्यम्भसि ततः क्षिपेत् । नामगोत्रग्रहं तत्र पुष्पैरभ्यर्चनं तथा ॥ धूपदीपप्रदानं च भक्ष्यं भोज्यं तथा परम् । निमन्त्रयेत विप्रान्वै पञ्च सप्त नवापि वा ॥ विद्यातपःसमृद्धान्वै कुलोत्पन्नान्समाहितान् । अपरेऽहनि संप्राप्ते मध्याह्ने समुपोषितः ॥ विष्णोरभ्यर्चनं कृत्वा विप्रांस्तानुपवेशयेत् । उदङ्मुखान्यथाज्येष्ठं पितृरूपमनुस्मरन् ॥ मनो निवेश्य विष्णौ वै सर्वं कुर्यादतन्द्रितः । आवाहनादि यत्प्रोक्तं देवपूर्वं तदाचरेत् ॥ तृप्तान्ज्ञात्वा ततो विप्रांस्तृप्तिं पृष्ट्वा यथाविधि । हविष्यव्यञ्जनेनैव तिलादिसहितेन च ॥ पञ्च पिण्डान्प्रदद्याच्च दैवं [2]रूपमनुस्मरन् । प्रथमं विष्णवे दद्याद् ब्रह्मणे च शिवाय च ॥ यमाय [3]सानुचराय चतुर्थं पिण्डमुत्सृजेत् । मृतं संकीर्त्य मनसा गोत्रपूर्वमतः परम् ॥ विष्णोर्नाम गृहीत्वैवं पञ्चमं पूर्ववत्क्षिपेत् । [4]विप्रानाचम्य विधिवद्दक्षिणाभिः समर्चयेत् ॥ एकं [5]विद्वत्तमं विप्रं हिरण्येन समर्चयेत् । गवा वस्त्रेण भूम्या च प्रेतं तं मनसा स्मरन् ॥ ततस्तिलाम्भो विप्रास्तु हस्तैर्दर्भसमन्वितैः । क्षिपेयुर्गोत्रपूर्वं तु नाम बुद्धौ निवेश्य च ॥ हविर्गन्धतिलाम्भस्तु तस्मै दद्युः समाहिताः । मित्रभृत्यजनैः सार्धं पश्चाद्भुञ्जीत वाग्यतः ॥ एवं विष्णुमते स्थित्वा यो दद्यादात्मघातिने । समुद्धरति तं क्षिप्रं नात्र कार्या विचारणा ॥' सर्पदंशनिमित्तं सौवर्णनागदानं प्रतिकृतिरूपेण भविष्यत्पुराणे सुमन्तुनाभिहितम्—'सुवर्णभारनिष्पन्नं नागं कृत्वा तथैव गाम् । व्यासाय दत्त्वा विधिवत्पितुरानृण्यमाप्नुयात् ॥' इति ॥६॥

---

१. अर्चयेद् देवेशं । २. देवरूपं । ३. सानुचाराय । ४. विप्रेणाचम्य । ५. वृद्धतमं ।

भाषा—पाखण्डी, अनाश्रित (जो किसी आश्रम में न हों), चोर, पति की हत्यारिणी और व्यभिचारिणी आदि स्त्रियाँ, सुरा पीने वाले और आत्महत्या करने वाले आशौचकाल में दिये जाने वाले उदकदान के पात्र नहीं होते। (अर्थात् इन्हें आशौच में उदकदान नहीं दिया जाता) ॥ ६ ॥

एवमुदकदानं सापवादमभिधायानन्तरं किं कार्यमित्यत आह—

कृतोदकान्समुत्तीर्णान्मृदुशाद्वलसंस्थितान् ।
स्नातानपवदेयुस्तानितिहासैः पुरातनैः ॥ ७ ॥

कृतमुदकदानं यैस्तान्कृतोदकान् स्नातान्सम्यगुदकादुत्तीर्णान्मृदुशाद्वले नवोद्गततृणप्रचयावृते भूभागे सम्यक्स्थितान् पुत्रादीन्कुलवृद्धाः पुरातनैरितिहासैर्वचयमाणैरपवदेयुः शोकनिरसनसमर्थैर्वचोभिर्बोधयेयुः ॥ ७ ॥

भाषा—उदकदान के बाद स्वयं जल में स्नान करके जल से निकल कर (किनारे की) हरी घास पर बैठे हुए पुत्रादि जनों को पुरानी कथाएँ सुनाकर कुल के वृद्ध व्यक्ति उनके शोक को दूर करें ॥ ७ ॥

शोकनिरसनसमर्थेतिहासस्वरूपमाह—

मानुष्ये कदलीस्तम्भनिःसारे सारमार्गणम् ।
करोति यः स संमूढो जलबुद्बुदसंनिभे ॥ ८ ॥

'मनुष्य'शब्देन जरायुजाण्डजादिचतुर्विधभूतजातं लक्ष्यते; तस्य भावो मानुष्यं; तत्र संसरणधर्मित्वेन कदलीस्तम्भवदन्तःसाररहिते जलबुद्बुदवदचिरविनश्वरे संसारे सारस्य स्थिरस्य मार्गणमन्वेषणं यः करोति स संमूढः अत्यन्तविनष्टचित्तः तस्मात्संसारस्वरूपवेदिभिर्भवद्भिरित्थं न कार्यम् ॥ ८ ॥

भाषा—जो व्यक्ति एक केले के स्तम्भ के समान निःसार और जल के बुलबुले के समान नश्वर इस मनुष्यलोक में स्थिरता की इच्छा करता है वह मूढ है ॥ ८ ॥

पञ्चधा संभृतः कायो यदि पञ्चत्वमागतः ।
कर्मभिः स्वशरीरोत्थैस्तत्र का परिदेवना ॥ ९ ॥

किंच, जन्मान्तरात्मीयशरीरजनितैः कर्मबीजैः स्वफलोपभोगार्थं पञ्चधा पृथिव्यादिपञ्चभूतात्मकतया पञ्चप्रकारं संभृतो निर्मितः कायः स यदि फलोपभोगनिवृत्तौ पञ्चत्वमागतः पुनः पृथिव्यादिरूपतां प्राप्तस्तत्र भवतां किमर्था परिदेवना ? निष्प्रयोजनत्वान्नानुशोचनं कर्तव्यम्; वस्तुस्थितेस्तथात्वात्। नहि केनचिद्वस्तुस्थितिरतिक्रमितुं शक्यते ॥ ९ ॥

भाषा—पूर्वजन्म के शरीर द्वारा किये गये कर्मों का फल भोगने के लिए (पृथ्वी आदि) पाँच तत्त्वों के संघात से निर्मित शरीर यदि पुनः पञ्चतत्त्वों के रूप में आ गया तो इसमें शोक करने की क्या बात है ? ॥ ९ ॥

गन्त्री वसुमती नाशमुदधिर्दैवतानि च ।
फेनप्रख्यः कथं नाशं मर्त्यलोको न यास्यति ॥ १० ॥

अपि च, नेदमाश्चर्यं मरणं नाम; यतः पृथिव्यादीनि महान्त्यपि भूतानि नाशं गच्छन्ति, तथा समुद्रा अपि जरामरणविरहिणः, अमरा अपि प्रलयसमये अवसानं गच्छन्ति, कथमिवास्थिरतया फेनसंनिभो मरणधर्मा भूतसंघो विनाशं न यास्यति ? उचितमेव हि मरणधर्मिणः प्रायणम् । अतो निष्प्रयोजनः शोकसमावेशः ॥ १० ॥

भाषा—पृथिवी, समुद्र और देवता भी नाश को प्राप्त होते हैं तो फेन के समान मृत्युलोक क्यों नहीं नष्ट होगा ? ॥ १० ॥

अनिष्टापादकत्वादप्यनुशोचनं न कार्यमित्याह—

श्लेष्माश्रु बान्धवैर्मुक्तं प्रेतो भुङ्क्ते यतोऽवशः ।
अतो न रोदितव्यं हि क्रियाः कार्याः [1]स्वशक्तितः ॥ ११ ॥

यस्मादनुशोचद्भिर्बान्धवैर्वदननयननिर्गमितं श्लेष्माश्रु वा यस्मादवशोऽकामोऽपि प्रेतो भुङ्क्ते, तस्मान्न रोदितव्यं; किंतु प्रेतहितेप्सुभिः स्वशक्त्यनुसारेण श्राद्धादिक्रियाः कार्याः ॥ ११ ॥

भाषा—बान्धवों द्वारा शोक में गिराये गये श्लेष्मा (खखार) और अश्रु प्रेत को बाध्य होकर (न चाहते हुए भी) खाना पड़ता है; अतएव रोना नहीं चाहिये, अपितु (प्रेत के हित के लिए) अपनी शक्ति के अनुसार (श्राद्ध) क्रिया करनी चाहिए ॥ ११ ॥

इति संश्रुत्य गच्छेयुर्गृहं बालपुरःसराः ।
विदश्य निम्बपत्राणि नियता द्वारि वेश्मनः ॥ १२ ॥
[2]आचम्याग्न्यादि सलिलं गोमयं गौरसर्षपान् ।
प्रविशेयुः समालभ्य कृत्वाऽश्मनि पदं शनैः ॥ १३ ॥

एवं कुलवृद्धवचांसि सम्यगाकर्ण्य त्यक्तशोकाः सन्तो बालानग्रतः कृत्वा गृहं गच्छेयुः । गत्वा च वेश्मनो द्वारि स्थित्वा नियताः संयतमनस्काः निम्बपत्राणि विदश्य दशनैः खण्डयित्वा आचमनं च कृत्वाऽग्न्युदकगोमयगौरसर्षपानालभ्य, 'आदि' ग्रहणात् 'दूर्वाप्रवालमग्निवृषभौ

१. 'प्रयत्नतः' । २. 'आचम्याथाग्निमुदकं' ।

च' इति शङ्खोक्तौ दूर्वाङ्कुरवृषभावपि स्पृष्ट्वा अश्मनि च पदं निधाय शनैरद्रुतं वेश्मनि प्रविशेयुः ॥ १२-१३ ॥

भाषा—(कुल वृद्धों के) इस प्रकार के वचन सुनकर (शोक त्याग कर) बालकों को आगे करके घर जावें। घर के द्वार पर खड़े होकर नीम की पत्तियाँ कूँचकर, आचमन करके, अग्नि, जल, गोबर और पीले सरसों का स्पर्श करें और पत्थर पर पैर रखकर धीरे से घर में प्रवेश करें ॥ १२-१३ ॥

अतिदेशमाह—

प्रवेशनादिकं कर्म प्रेतसंस्पर्शिनामपि ।
इच्छतां [1]तत्क्षणाच्छुद्धिः परेषां स्नानसंयमात् ॥ १४ ॥

यदेतत्पूर्वोक्तं निम्बपत्रदशनादि वेश्मप्रवेशनान्तं कर्म, तन्न केवलं ज्ञातीनामपि तु परेषामपि धर्मार्थं प्रेतालंकारनिर्हरणादिकं कुर्वतां भवति। 'प्रवेशनादिकं' इत्यत्र 'आदि' शब्दोऽमाङ्गलिकत्वात्प्रतिलोमक्रमाभिप्रायः। तेषां च धर्मार्थनिर्हरणादौ प्रवृत्तानां तत्क्षणाच्छुद्धिमिच्छतां असपिण्डानां स्नानप्राणायामाभ्यामेव शुद्धिः। यथाह पराशरः—'अनाथं ब्राह्मणं प्रेतं ये वहन्ति द्विजातयः। पदे पदे यज्ञफलमानुपूर्व्या लभन्ति ते ॥ न तेषामशुभं किंचित्पापं चाशुभकर्मणि। जलावगाहनात्तेषां सद्यः शौचं विधीयते ॥' इति ॥ स्नेहादिना निर्हरणे तु मनूक्तो विशेषः (५।१०१।१०२)—'असपिण्डं द्विजं प्रेतं विप्रो निर्हृत्य बन्धुवत्। विशुध्यति त्रिरात्रेण मातुराप्तांश्च बान्धवान्। यद्यन्नमत्ति तेषां तु दशाहेनैव शुध्यति। अनदन्नन्नमह्नैव न चेत्तस्मिन्गृहे वसेत् ॥' इति। अत्रेयं व्यवस्था—यः स्नेहादिना शवनिर्हरणं कृत्वा तदीयमेवान्नमश्नाति, तद्गृहे च वसति, तस्य दशाहेनैव शुद्धिः। यस्तु केवलं तद्गृहे वसति, न पुनस्तदन्नमश्नाति, तस्य त्रिरात्रम्; यः पुनर्निर्हरणमात्रं करोति, न तद्गृहे वसति, न च तदन्नमश्नाति, तस्यैकाह इति-एतत्सजातीयविषयम्; विजातीयविषये पुनर्यज्जातीयं प्रेतं निर्हरति तज्जातिप्रयुक्तमाशौचं कार्यम्; यथाह गौतमः (१४।१९)—'अवरश्चेद्वर्णः पूर्वं वर्णमुपस्पृशेत्पूर्वो वाऽवरं तत्र तच्छवोक्तमाशौचम्' इति। उपस्पर्शनं निर्हरणम्। विप्रस्य शूद्रनिर्हरणे मासाशौचम्; शूद्रस्य तु विप्रनिर्हरणे दशरात्रमित्येवं शववदाशौचं कर्तव्यमित्यर्थः ॥ १४ ॥

भाषा—शव को छूने वाले दूसरे (सगोत्र बान्धवों से भिन्न) व्यक्तियों को घर में प्रवेश करने तक की पूर्वोक्त क्रियाएँ करनी होती हैं, यदि वे तत्काल शुद्ध होने का विचार करें तो स्नान और प्राणायाम से ही उनकी शुद्धि हो जाती है ॥ १४ ॥

---

1. तत्क्षणाच्छुद्धिं। तत्क्षणाच्छुद्धिरन्येषां।

ब्रह्मचारिणं प्रत्याह—

आचार्यपित्रुपाध्यायान्निर्हृत्यापि व्रती व्रती।
संकटान्नं च नाश्नीयान्न च तैः सह संवसेत् ॥ १५ ॥

आचार्य उक्तलक्षणः, माता च पिता च पितरौ, उपाध्यायः पूर्वोक्तः; एतान्निर्हृत्यापि व्रती ब्रह्मचारी भवत्येव, न पुनरस्य व्रतभ्रंशः। 'कट'शब्देनाशौचं लक्ष्यते, तत्सहचरितमन्नं सकटान्नं तद्ब्रह्मचारी नाश्नीयात्; न चाशौचिभिः सह संवसेत्। एवं वदता आचार्यादिव्यतिरिक्तप्रेतनिर्हरणे ब्रह्मचारिणो व्रतलोप इत्यर्थादुक्तं भवति। अत एव वसिष्ठेनोक्तम्—'ब्रह्मचारिणः शवकर्मिणो व्रतान्निवृत्तिरन्यत्र मातापित्रोः' इति ॥ १५ ॥

भाषा—आचार्य, मातापिता और उपाध्याय के शव श्मशान तक ले जाने पर भी ब्रह्मचारी व्रती ही रहता है (उसका व्रत खण्डित नहीं होता); किन्तु उसे आशौची का अन्न नहीं ग्रहण करना चाहिए और न उनके साथ निवास करना चाहिए ॥ १५ ॥

आशौचिनां नियमविशेषमाह—

क्रीतलब्धाशना भूमौ स्वपेयुस्ते पृथक् क्षितौ[2]।
पिण्डयज्ञावृता देयं प्रेतायान्नं दिनत्रयम् ॥ १६ ॥

क्रीतमयाचितलब्धं वा अशनं येषां ते क्रीतलब्धाशनाः, भवेयुरिति शेषः। क्रीतलब्धाशननियमात्तदलाभेऽनशनमर्थात्सिद्धं भवति। अत एव वसिष्ठः—'गृहान्व्रजित्वा अधःप्रस्तरे त्र्यहमनश्नन्त आसीरन् क्रीतोत्पन्नेन वा वर्तेरन्' इति। अधःप्रस्तर आशौचिनां शयनासनार्थस्तृणमयः प्रस्तरः। ते च सपिण्डा भूमावेव पृथक्पृथक् शयीरन्, न खट्वादौ ॥ मनुनाऽप्यत्र विशेषो दर्शितः (५।७३)—'अक्षारलवणान्नाः स्युर्निमज्जेयुश्च ते त्र्यहम्। मांसाशनं च नाश्नीयुः शयीरंश्च पृथक् क्षितौ ॥' इति। तथा गौतमेनापि विशेष उक्तः (१४।३०)—'अधःशय्यासनिनो ब्रह्मचारिणः[3] शवकर्मिणः' इति। तथा पिण्डपितृयज्ञप्रक्रियया प्राचीनावीतित्वादिरूपया प्रेताय दिनत्रयं पिण्डरूपमन्नं तूष्णीं क्षितौ देयम्। यथाह मरीचिः—'प्रेतपिण्डं बहिर्दद्याद्दर्भमन्त्रविवर्जितम्। प्रागुदीच्यां चरुं कृत्वा स्नातः प्रयतमानसः ॥' इति। दर्भमन्त्रविवर्जितत्वमनुपनीतविषयम्। 'असंस्कृतानां भूमौ पिण्डं दद्यात्संस्कृतानां कुशेषु' इति प्रचेतःस्मरणात्। तथा कर्तृनियमश्च गृह्यपरिशिष्टाद्विज्ञेयः—'असगोत्रः सगोत्रो वा यदि स्त्री यदि वा पुमान्। प्रथमेऽहनि यो दद्यात्स दशाहं समापयेत् ॥' इति। तथा द्रव्यविनियमश्च शुनःपुच्छेन दर्शितः—'शालिना सक्तुभिर्वापि शाकैर्वा-

१. स कटान्नं २. पृथक्पृथक्। ३. रिणः सर्वे इति।

स्यथ निर्वपेत् । प्रथमेऽहनि यद् द्रव्यं तदेव स्याद्दशाहिकम् ॥ तूष्णीं प्रत्येकं पुष्पं च दीपं धूपं तथैव च ॥' इति । पिण्डश्च पाषाणे देयः । 'भूमौ माल्यं पिण्डं पानीयमुपले वा दद्युः' इति शङ्खस्मरणात् । न च 'दद्युः' इति बहुवचनेनोदकदानवत्सर्वैः पिण्डदानं कार्यमित्याशङ्कनीयं, किंतु पुत्रेणैव कार्यम् । तदभावे प्रत्यासन्नेन सपिण्डानामन्यतमेन, तदभावे मातृसपिण्डादिना कार्यम् ; 'पुत्राभावे सपिण्डा मातृसपिण्डाः शिष्याश्च दद्युस्तदभावे ऋत्विगाचार्याः' इति गौतमस्मरणात् । पुत्रबहुत्वे पुनर्ज्येष्ठेनैव कार्यम् । 'सर्वैरनुमतिं कृत्वा ज्येष्ठेनैव तु यत्कृतम् । द्रव्येण चाविभक्तेन सर्वैरेव कृतं भवेत् ॥' इति मरीचिस्मरणात् । पिण्डसंख्यानियमश्च—ब्राह्मणस्य दश पिण्डाः, क्षत्रियस्य द्वादशैवेति । एवमाशौचदिवससंख्यया विष्णुनाऽभिहितम्—'यावदाशौचं प्रेतस्योदकं पिण्डमेकं च दद्युः' इति । तथा स्मृत्यन्तरेऽपि—'नवभिर्दिवसैर्दद्यान्नव पिण्डान्समाहितः । दशमं पिण्डमुत्सृज्य रात्रिशेषे शुचिर्भवेत् ॥' इति शुचित्ववचनमपरेद्युः क्रियमाणश्राद्धार्थब्राह्मणनिमन्त्रणाभिप्रायेण । योगीश्वरेण तु पिण्डत्रयदानमभिहितम् । अनयोश्च गुरुलघुकल्पयोरुदकदानविषयोक्ता व्यवस्था विज्ञेया । अत्रापरः शातातपीयो विशेषः—'आशौचस्य तु ह्रासेऽपि पिण्डान्दद्याद्दशैव तु' इति ॥ त्रिरात्राशौचिनां पुनः पारस्करेण विशेषो दर्शितः—'प्रथमे दिवसे देयास्त्रयः पिण्डाः समाहितैः । द्वितीये चतुरो दद्यादस्थिसंचयनं तथा ॥ त्रींस्तु दद्यात्तृतीयेऽह्नि वस्त्रादि क्षालयेत्तथा ॥' इति ॥ १६ ॥

भाषा—आशौची व्यक्ति खरीद कर या बिना माँगे ही मिले हुए अन्न का भोजन करें और भूमि पर पृथक्-पृथक् सोवें तथा पृथ्वी पिण्ड-पितृयज्ञ की विधि से (दाहिने कन्धे पर यज्ञोपवीत करके) तीन दिन प्रेत के लिए पिण्डदान के रूप में अन्न देवें ॥ १६ ॥

जलमेकाहमाकाशे स्थाप्यं क्षीरं च मृन्मये ।

किंच, जलं क्षीरं च मृन्मये पात्रद्वये पृथक् पृथगाकाशे शिक्याद्यावेकाहं स्थापनीयम् । अत्र विशेषानुपादानात्प्रथमेऽहनि कार्यम् । तथा पारस्करवचनात् । 'प्रेतात्र स्नाहि' इत्युदकं स्थाप्यं 'पिब चेदम्' इति क्षीरम् ॥ तथास्थिसंचयनं च प्रथमादिदिनेषु कार्यम् ; तथाह संवर्तः—'प्रथमेऽह्नि तृतीये वा सप्तमे नवमे तथा । अस्थिसंचयनं कार्यं दिने तद्गोत्रजैः सह ॥' इति । क्वचिद् द्वितीये त्वस्थिसंचय इत्युक्तम् । वैष्णवे तु 'चतुर्थे दिवसेऽस्थिसंचयनं कुर्यात् तेषां च गङ्गाम्भसि प्रक्षेपः' इति । अतोऽन्यतमस्मिन्दिने स्वगृह्योक्तविधिनाऽस्थिसंचयनं कार्यम् अङ्गिरसा चात्र विशेषो दर्शितः—'अस्थिसंचयने यागो देवानां परिकीर्तितः । प्रेतीभूतं समुद्दिश्य यः शुचिर्न करोति चेत् ॥ देवतानां तु यजनं तं शापन्त्यथ

देवताः ॥' देवताश्चात्र श्मशानवासिन्यः तत्र पूर्वंदग्धाः 'श्मशानवासिनो देवाः शवानां परिकीर्तिताः' इति तेनैवोक्तम् । अतस्तान्देवानचिरमृतं च प्रेतमुद्दिश्य धूपदीपादिभिः पिण्डरूपेण चान्नेन तत्र पूजा कार्येत्युक्तं भवति ॥ तथा वपनं च दशमेऽहनि कार्यम् ; 'दशमेऽहनि संप्राप्ते स्नानं ग्रामाद्बहिर्भवेत् । तत्र त्याज्यानि वासांसि केशश्मश्रुनखानि च ॥' इति देवलस्मरणात् ॥ तथा स्मृत्यन्तरेऽपि—'द्वितीयेऽहनि कर्तव्यं क्षुरकर्म प्रयत्नतः । तृतीये पञ्चमे वाऽपि सप्तमे वाऽप्रदानतः ॥' इति श्राद्धप्रदानादर्वागनियम इति यावत् । वपनं च केषामित्याकाङ्क्षायामापस्तम्बेनोक्तम्—'अनुभाविनां च परिवापनम्' इति । अयमर्थः—शावं दुःखमनुभवन्तीत्यनुभाविनः सपिण्डाः, तेषां चाविशेषेण वपनमुतात्पवयसामित्यपेक्षायामिदमेवोपतिष्ठते—'अनुभाविनां च परिवापनम्' इति । अनु पश्चाद्भवन्तीत्यनुभाविनोऽल्पवयसस्तेषां वपनमिति । अनुभाविनः पुत्रा इति केचिन्मन्यन्ते; 'गङ्गायां भास्करक्षेत्रे [2]मातापित्रोर्गुरोर्मृतौ । आधानकाले सोमे च वपनं सप्तसु स्मृतम् ॥' इति नियमदर्शनात् ॥

अशुचित्वेन सकलश्रौतस्मार्तकर्माधिकारनिवृत्तौ प्रसक्तायां केषुचिदभ्यनुज्ञार्थमाह—

वैतानौपासनाः कार्याः क्रियाश्च श्रुतिचोदनात् ॥ १७ ॥

वितानोऽग्नीनां विस्तारस्तत्र भवा वैतानाः त्रेताग्निसाध्या अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासाद्याः क्रिया उच्यन्ते । प्रतिदिनमुपास्यत इत्युपासनो गृह्याग्निस्तत्र भवा औपासनाः सायंप्रातर्होमक्रिया उच्यन्ते । ता वैतानौपासना वैदिक्यः क्रियाः कार्याः । कथं वैदिकत्वमिति चेत् ,—श्रुतिचोदनात् । तथा हि—'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादिश्रुतिभिरग्निहोत्रादीनां चोदना स्पष्टैव । तथा 'अहरहः स्वाहा कुर्यादन्नाभावे केनचिदाकाष्ठात्' इति श्रुत्यौपासनहोमोऽपि चोद्यते । अत्र च श्रौतत्वविशेषणोपादानात्स्मार्तक्रियाणां दानादीनामननुष्ठानं गम्यते । अत एव वैयाघ्रपादेनोक्तम्—'स्मार्तकर्मपरित्यागो राहोरन्यत्र सूतके । श्रौते कर्मणि तत्कालं स्नातः शुद्धिमवाप्नुयात् ॥' इति श्रौतानां च कार्यत्वाभिधानं नित्यनैमित्तिकाभिप्रायेण; यथाह पैठीनसिः—'नित्यानि विनिवर्तेरन्वैतानवर्जं शालाग्नौ चैके' इति । 'नित्यानि विनिवर्तेरन्' इत्यविशेषेण आवश्यकानां नित्यनैमित्तिकानां निवृत्तौ प्रसक्तायां 'वैतानवर्जम्' इत्यग्नित्रयसाध्यावश्यकानां पर्युदासः; 'शालाग्नौ चैके' इति गृह्याग्नौ भवानामप्यावश्यकानां पाक्षिकः पर्युदास उक्तः । अतस्तेष्वाशौचं नास्त्येव । काम्यानां पुनः शौचा-

---

१. भूतपूर्वंदग्धाः । २. गुरौ मृते । ३. वैतानो । ४. चोदनाः । ५. बध्यते ।

भावादननुष्ठानम् । मनुनाप्यनेनैवाभिप्रायेणोक्तम् (५।८४)—'प्रत्यूहेन्नाग्निषु क्रिया' इति । अग्निषु क्रिया न प्रत्यूहेदिति अनग्निसाध्यानां पञ्चमहायज्ञादीनां निवृत्तिः । अत एव संवर्तः—'होमं तत्र प्रकुर्वीत शुष्कान्नेन फलेन वा । पञ्चयज्ञविधानं तु न कुर्यान्मृत्युजन्मनोः ॥' इति वैश्वदेवस्याग्निसाध्यत्वेऽपि वचनान्निवृत्तिः । 'विप्रो दशाहमासीत वैश्वदेवविवर्जितः' इति तेनैवोक्तत्वात् ॥ 'सूतके कर्मणां त्यागः संध्यादीनां विधीयते' इति यद्यपि संध्याया विनिवृत्तिः श्रूयते, तथाप्यञ्जलिप्रक्षेपादिकं कुर्यात् । 'सूतके सावित्र्या चाञ्जलिं प्रक्षिप्य प्रदक्षिणं कृत्वा सूर्यं ध्यायन्नमस्कुर्यात्' इति पैठीनसिस्मरणात् । यद्यपि 'वैतानौपासनाः कार्या' इति सामान्येनोक्तं, तथाप्यन्येन कारयितव्यम् । 'अन्य एतानि कुर्युः' इति पैठीनसिस्मरणात् । बृहस्पतिनाप्युक्तम्—'सूतके मृतके चैव अशक्तौ श्राद्धभोजने । प्रवासादिनिमित्तेषु हावयेन्न तु हापयेत् ॥' इति । तथा स्मार्तत्वेऽपि पिण्डपितृयज्ञश्रवणाकर्माश्वयुज्यादिकश्च नित्यहोमः कार्य एव; 'सूतके तु समुत्पन्ने स्मार्तं कर्म कथं भवेत् । पिण्डयज्ञं चरुं होममसगोत्रेण कारयेत् ॥' इति जातूकर्ण्यस्मरणात् । यद्यपि साङ्गे कर्मण्यन्यकर्तृत्वं, तथापि स्वद्रव्यस्त्यागात्मकं प्रधानं स्वयं कुर्यात्; तस्यानन्यनिष्पाद्यत्वात् । अत एवोक्तम्—'श्रौते कर्मणि तत्कालं स्नातः शुद्धिमवाप्नुयात्' इति; यत्पुनः—'दानं प्रतिग्रहो होमः स्वाध्यायश्च निवर्तते' इति होमप्रतिषेधः, स काम्याभिप्रायो वैश्वदेवाभिप्रायो वा व्यवस्थापनीयः । तथा सूतकान्नभोजनमपि न कार्यम्; 'उभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं न भुज्यते' इति यमस्मरणात्, उभयत्र जननमरणयोः । 'दशाहानि' इत्याशौचकालोपलक्षणम् । कुलस्य सूतकयुक्तस्य संबन्ध्यन्नं असकुल्यैर्न भोक्तव्यं, सकुल्यानां पुनर्न दोषः; 'सूतके तु कुलस्यान्नमदोषं मनुरब्रवीत्' इति तेनैवोक्तत्वात् । अयं च निषेधो दातृभोक्त्रोरन्यतरेण जनने मरणे वा ज्ञाते सति वेदितव्यः; 'उभाभ्यामपरिज्ञाते सूतकं नैव दोषकृत् । एकेनापि परिज्ञाते भोक्तुर्दोषमुपावहेत् ॥ इति षट्त्रिंशन्मते दर्शनात् । तथा विवाहादिषु सूतकोत्पत्तेः प्राक् ब्राह्मणार्थं पृथक्कृतमन्नं भोक्तव्यमेव; 'विवाहोत्सवयज्ञेषु त्वन्तरा मृतसूतके । पूर्वसंकल्पितार्थेषु न दोषः परिकीर्तितः' ॥' इति बृहस्पतिस्मरणात् । तथापरोऽपि विशेषः षट्त्रिंशन्मते दर्शितः—'विवाहोत्सवयज्ञेषु त्वन्तरा मृतसूतके । परैरन्नं प्रदातव्यं भोक्तव्यं च द्विजोत्तमैः ॥ भुञ्जानेषु तु विप्रेषु त्वन्तरा मृतसूतके । अन्यगेहोदकाचान्ताः सर्वे ते शुचयः स्मृताः ॥' इति । तथाशौचपरिग्रहत्वेऽपि केषुचिद्द्रव्येषु दोषाभावः । यथाह मरीचिः—'लवणे मधुमांसे च पुष्पमूलफलेषु च । शाककाष्ठतृणेष्वप्सु दधिसर्पिःपयस्सु च ॥ तिलौषधाजिने चैव पक्वापक्वे स्वयंग्रहः । पण्येषु चैव सर्वेषु नाशौचं मृतसूतके ॥' इति । पक्वं भक्ष्यजातं मोदकादि,

अपक्वं तण्डुलादि, 'स्वयंग्रह' इति स्वयमेव स्वाम्यनुज्ञातो गृह्णीयादित्यर्थः। पक्वापक्वाभ्यनुज्ञानमन्नसत्रप्रवृत्तविषयम् ; 'अन्नसत्रप्रवृत्तानामाममन्नमगर्हितम्। भुक्त्वा पक्वान्नमेतेषां त्रिरात्रं तु पयः पिबेत्॥' इत्यङ्गिरःस्मरणात्। अत्र 'पक्व' शब्दो भक्ष्यव्यतिरिक्तौदनादिविषयः॥ शवसंसर्गनिमित्ताशौचे त्वङ्गिरसा विशेष उक्तः—'आशौचं यस्य संसर्गादापतेद्गृहमेधिनः। क्रियास्तस्य न लुप्यन्ते गृह्याणां च न तद्भवेत्॥' इति,—तदाशौचं केवलं गृहमेधिन एव; न पुनस्तद्गृहे भवानां भार्यादीनां तद्द्रव्याणां च भवेदित्यर्थः। अतिक्रान्ताशौचेऽप्ययमेवार्थः स्मृत्यन्तरे दर्शितः—'अतिक्रान्ते दशाहे तु पश्चाज्जानाति चेद्गृही। त्रिरात्रं सूतकं तस्य न तद्द्रव्यस्य कर्हिचित्॥' (मनुः ५।७६) इति॥ १७॥

भाषा—एक दिन मिट्टी के (दो) पात्रों में पृथक्-पृथक् जल और दूध आकाश में (शिक्या-सिकहर-पर) रखना चाहिए। श्रुति के आदेश से अग्निहोत्र आदि वैतानिक और एवं गृह्याग्नि से किये जाने वाला उपासन कर्म एवं सायं-प्रातः होम क्रिया करनी चाहिए॥ १७॥

एवमाशौचिनो विधिप्रतिषेधरूपान्धर्माननभिधायाधुना आशौचनिमित्तं कालनियमं चाह—

त्रिरात्रं दशरात्रं वा शावमाशौचमिष्यते।
ऊनद्विवर्षे उभयोः सूतकं मातुरेव हि॥ १८॥

शवनिमित्तं शावम्। 'सूतक'शब्देन च जननवाचिना तन्निमित्तमाशौचं लक्ष्यते। एवं च वदता जननमरणयोराशौचनिमित्त्वमुक्तं भवति। तच्च जनन-मरणमुत्पन्नज्ञातमेव निमित्तम्। 'निर्दशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च' (मनुः ५।७७) इत्यादिलिङ्गदर्शनात्। तथा (मनुः ५।७५)—'विगतं तु विदे-शस्थं शृणुयाद्यो ह्यनिर्दशम्। यच्छेषं दशरात्रस्य तावदेवाशुचिर्भवेत्॥' इत्यादि-वाक्यारम्भसामर्थ्याच्च। उत्पत्तिमात्रापेक्षत्वे ह्याशौचस्य दशाहाद्याशौचकालनिय-मास्तत्तत्प्रभृतिका एवेति अनिर्दशज्ञातिमरणश्रवणे दशरात्रशेषमेवाशौचमर्थात्सि-द्ध्यतीति 'यच्छेषं दशरात्रस्य' इत्यनारम्भणीयं स्यात्। तस्माज्ज्ञातमेव जननं मरणं च निमित्तम्। तच्चोभयनिमित्तमप्याशौचं त्रिरात्रं दशरात्रं चेष्यते मन्वादिभिः॥ अत्राशौचप्रकरणे अहर्ग्रहणं रात्रिग्रहणं चाहोरात्रोपलक्षणार्थम्। मन्वादिभिः 'इष्यते' इति वचनं तदुक्तसपिण्डसमानोदकरूपविषयभेदप्रदर्शनार्थम्॥ तथा हि (मनुः ५।५९)—'दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते।','जनने-ऽप्येवमेव स्यान्निपुणां शुद्धिमिच्छताम्॥' (मनुः ५।६१) 'जन्मन्येकोदकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते'। (मनुः ५।७१) 'शवस्पृशो विशुद्ध्यन्ति त्र्यहात्सूतकदा-

---

१. अनुज्ञातमन्न।

चिनः ॥' (मनुः ५।६४) इत्येतैर्वाक्यैस्त्रिरात्रदशरात्रयोः समानोदकसपिण्डविषयत्वेन व्यवस्था कृता। अतः सपिण्डानां सप्तमपुरुषावधिकानामविशेषेण दशरात्रम्, समानोदकानां त्रिरात्रमिति ॥ यत्पुनः स्मृत्यन्तरवचनम्—'चतुर्थे दशरात्रं स्यात्षण्निशाः पुंसि पञ्चमे। षष्ठे चतुरहाच्छुद्धिः सप्तमे त्वहरेव तु ॥' इति, तद्विगीतत्वान्नादरणीयम्। यद्यप्यविगीतं तथापि मधुपर्काङ्गपश्वालम्भनवल्लोकविद्विष्टत्वान्नानुष्ठेयम्। 'अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्म्यमप्याचरेन्न तु, (आ० १५६) इति मनुस्मरणात्। नच सप्तमे प्रत्यासन्ने सपिण्ड एकाहो विप्रकृष्टाष्टमादिषु समानोदकेषु त्र्यहमिति युक्तम्। एवमविशेषेण सपिण्डानामाशौचे प्राप्ते क्वचिन्नियमार्थमाह। ऊनद्विवर्षे संस्थिते उभयोरेव मातापित्रोर्दशरात्रमाशौचं न सर्वेषां सपिण्डानाम्। तेषां तु वक्ष्यति 'आ दन्तजन्मनः सद्यः' (प्रा० २३) इति। तथा च पैङ्ग्यः—'गर्भस्थे प्रेते मातुर्दशाहं, जात उभयोः, कृते नाग्नि सोदराणां च' इति। अथवा अयमर्थः—ऊनद्विवर्षे संस्थिते उभयोर्मातापित्रोरेव अस्पृश्यत्वलक्षणमाशौचं न सपिण्डानाम्। तथा स्मृत्यन्तरे—'ऊनद्विवर्षे प्रेते मातापित्रोरेव नेतरेषाम्' इति अस्पृश्यत्वलक्षणमभिप्रेतम्। इतरस्य पुनः कर्मण्यनधिकारलक्षणस्य सपिण्डेष्वपि 'आ दन्तजन्मनः सद्यः' (प्रा० २३) इत्यादिभिर्विहितत्वात्। अत्र दृष्टान्तः—सूतकं मातुरेव हीति। यथा सूतकं जनननिमित्तमस्पृश्यत्वलक्षणमाशौचं मातुरेव केवलं तथोनद्विवर्षोपरमे मातापित्रोरेवास्पृश्यत्वमिति। ऊनद्विवर्षे सपिण्डानामस्पृश्यत्वं प्रतिषेधताऽन्यत्रास्पृश्यत्वमभ्यनुज्ञातं भवति। तथा च देवलः—'स्वाशौचकालाद्विज्ञेयं स्पर्शनं च त्रिभागतः। शूद्रविट्क्षत्रविप्राणां यथाशास्त्रं प्रचोदितम् ॥' इति। एतच्चानुपनीतप्रयाणनिमित्ते अतिक्रान्ताशौचे च त्रिरात्रादौ वेदितव्यम्। उपनीतविषयेऽपि तेनैवोक्तम्—'दशाहादित्रिभागेन कृते संचयने क्रमात्। अङ्गस्पर्शनमिच्छन्ति वर्णानां तत्त्वदर्शिनः ॥ त्रिचतुःपञ्चदशभिः स्पृश्या वर्णाः क्रमेण तु। भोज्यान्नो दशभिर्विप्रः शेषा द्वित्रिषडुत्तरैः ॥' इति। द्व्युत्तरैर्दशभिः त्र्युत्तरैर्द्वादशभिः षडुत्तरैः पञ्चदशभिरिति द्रष्टव्यम् ॥ १८ ॥

भाषा—शव-सम्बन्धी (मृत्यु के कारण) आशौच तीन दिन या दस दिन का होता है दो वर्ष से कम आयु के बालक का आशौच माता-पिता को होता है और सूतक (जन्म के समय का आशौच) केवल माता को ही होता है ॥ १८ ॥

जनननिमित्तमस्पृश्यत्वलक्षणमाशौचमाह—

पित्रोस्तु सूतकं मातुस्तदसृग्दर्शनाद् ध्रुवम्।
तदहर्न प्रदुष्येत पूर्वेषां जन्मकारणात् ॥ १९ ॥

सूतकं जननिमित्तमस्पृश्यत्वलक्षणाशौचं पित्रोर्मातापित्रोरेव, न सर्वेषां सपिण्डानाम्। तत्रास्पृश्यत्वं मातुर्ध्रुवं दशाहपर्यन्तं स्थिरमित्यर्थः। कुतः? तदसृग्दर्शनात् तस्याः संबन्धित्वेनासृजो दर्शनात्। अत एव वसिष्ठः (४।२३)—'नाशौचं विद्यते पुंसः संसर्गं चेन्न गच्छति। रजस्तत्राशुचि ज्ञेयं तच्च पुंसि न विद्यते॥' इति। पितुस्तु ध्रुवं न भवति स्नानमात्रेणास्पृश्यत्वं निवर्तते, यथाऽऽह संवर्तः—'जाते पुत्रे पितुः स्नानं सचैलं तु विधीयते। माता शुद्ध्येद्दशाहेन स्नानात्तु स्पर्शनं पितुः॥' इति। 'माता शुद्ध्येद्दशाहेन' इत्येतच्च संव्यवहारयोग्यतामात्रम्। अदृष्टार्थेषु पुनः कर्मसु पैठीनसिना विशेष उक्तः—'सूतिकां पुत्रवतीं विंशतिरात्रेण कर्माणि कारयेत्। मासेन स्त्रीजननीम्' इति। अङ्गिरसा च सपिण्डानामस्पृश्यत्वाभावः स्पष्टीकृतः—'सूतके सूतिकावर्ज्यं संस्पर्शो न निषिद्ध्यते। संस्पर्शे सूतिकायास्तु स्नानमेव विधीयते॥' इति। यस्मिन्दिवसे कुमारजननं तदहर्न प्रदुष्येत। तन्निमित्तदानाद्यधिकारापहारकृन्न भवतीत्यर्थः। यस्मात्तस्मिन्नहनि पूर्वेषां पित्रादीनां पुत्ररूपेण जन्म उत्पत्तिस्तस्मात्तदहर्न प्रदुष्येत। तथा च वृद्धयाज्ञवल्क्येनोक्तम्—'कुमारजन्मदिवसे विप्रैः कार्यः प्रतिग्रहः। हिरण्यभूगवाश्वाजवासःशय्यासनादिषु॥ तत्र सर्वं प्रतिग्राह्यं कृतान्नं न तु भक्षयेत्। भक्षयित्वा तु तन्मोहाद् द्विजश्चान्द्रायणं चरेत्॥' इति॥ व्यासेनाप्यत्र विशेष उक्तः—'सूतिकावासनिलया जन्मदा नाम देवताः। तासां यागनिमित्तं तु शुचिर्जन्मनि कीर्तिता॥ प्रथमे दिवसे षष्ठे दशमे चैव सर्वदा। त्रिष्वेतेषु न कुर्वीत सूतकं पुत्रजन्मनि॥' मार्कण्डेयेनाप्युक्तम्—'रक्षणीया तथा षष्ठी निशा तत्र विशेषतः। रात्रौ जागरणं कार्यं जन्मदानां तथा बलिः॥ पुरुषाः शस्त्रहस्ताश्च नृत्यगीतैश्च योषितः। रात्रौ जागरणं कुर्युर्दशम्यां चैव सूतके॥' इति॥ १९॥

भाषा—जन्म का सूतक (अस्पृश्यत्व) माता-पिता को ही होता है (सभी सपिण्डों को नहीं), उसमें भी माता का रुधिर दिखाई पड़ने से उसे निश्चित रूप से (दस दिन तक) सूतक होता है। जिस दिन बालक का जन्म होता है वह दिन दान आदि के लिए अशुद्ध नहीं होता, क्योंकि पूर्वपुरुष (पितर) ही पुत्र के रूप में जन्म लेते हैं॥ १९॥

आशौचमध्ये पुनर्जनने मरणे वा जाते 'प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकमावर्तते' इति न्यायेन पुनर्दशाहाद्याशौचप्राप्तौ तदपवादमाह—

अन्तरा जन्ममरणे शेषाहोभिर्विशुद्ध्यति।

वर्णापेक्षया वयोवस्थापेक्षया वा यस्य यावानाशौचकालस्तदन्तरा तत्समस्य ततो न्यूनस्य वाऽऽशौचस्य निमित्तभूते जनने मरणे वा जाते पूर्वाशौचावशिष्टैरेवाहोभिर्विशुद्ध्यति। न पुनः पश्चादुत्पन्नजननादिनिमित्तं पृथ-

वपृथगाशौचं कार्यम् । यदा पुनरल्पाद्वर्तमानाशौचाद्दीर्घकालमाशौचमन्तरा पतति तदा न पूर्वशेषेण शुद्धिः । यथाऽऽहोशनाः—'स्वल्पाशौचस्य मध्ये तु दीर्घाशौचं भवेद्यदि । न पूर्वेण विशुद्धिः स्यात्स्वकालेनैव शुद्ध्यति ॥' इति । यमोऽप्याह—'अघवृद्धिमदाशौचं पश्चिमेन समापयेत्' इति । अत्र 'चान्तरा जन्ममरणे' इति यद्यप्यविशेषेणाभिहितं, तथापि न सूतकान्तर्वर्तिनः शावस्य पूर्वाशौचशेषेण शुद्धिः । यथाहाङ्गिराः—'सूतके मृतकं चेत्स्यान्मृतके त्वथ सूतकम् । तत्राधिकृत्य मृतकं शौचं कुर्यान्न सूतकम् ॥' इति । तथा षट्त्रिंशन्मतेऽपि-'शावाशौचे समुत्पन्ने सूतकं तु यदा भवेत् । शावेन शुद्ध्यते सूतिर्न सूतिः शावशोधिनी ॥' इति । तस्मान्न सूतकान्तःपातिनः शावाशौचस्य पूर्वशेषेण शुद्धिः, किंतु शावान्तःपातिन एव सूतकस्य । तथा सजातीयान्तःपातित्वेऽपि शावस्य क्वचित्पूर्वशेषेण शुद्धेरपवादः स्मृत्यन्तरे दर्शितः—'मातर्यग्रे प्रमीतायामशुद्धौ म्रियते पिता । पितुः शेषेण शुद्धिः स्यान्मातुः कुर्यात्तु पक्षिणीम् ॥' इति । अयमर्थः—मातरि पूर्वं मृतायां तन्निमित्ताशौचमध्ये यदि पितुरुपरमः स्यात्तदा न पूर्वशेषेण शुद्धिः, किंतु पितुः प्रायणनिमित्ताशौचकालेनैव शुद्धिः कार्या । तथा पितुः प्रायणनिमित्ताशौचमध्ये मातरि स्वर्यातायामपि न पूर्वशेषमात्राच्छुद्धिः किंतु पूर्वाशौचं समाप्योपरि पक्षिणीं क्षिपेत् इति ॥ तथाऽऽशौचसन्निपातकालविशेषकृतोऽप्यपवादो गौतमेनोक्तः (१४।७,८)—'रात्रिशेषे सति द्वाभ्यां प्रभाते तिसृभिः' इति । अयमर्थः—रात्रिमात्रावशिष्टे पूर्वाशौचे यद्याशौचान्तरं सन्निपतेत्तर्हि पूर्वाशौचं समाप्यानन्तरं द्वाभ्यां रात्रिभ्यां शुद्धिः । प्रभाते पुनस्तस्या रात्रेः पश्चिमे यामे जननाद्याशौचान्तरसन्निपाते सति तिसृभी रात्रिभिः शुद्धिः, न पुनस्तच्छेषमात्रेण । शातातपेनाप्युक्तम्—'रात्रिशेषे द्व्यहाच्छुद्धिर्यामशेषे शुचिस्त्र्यहात्' इति । प्रेतक्रिया पुनः-'सूतकसन्निपातेऽपि न निवर्तत' इति तेनैवोक्तम्—'अन्तर्दशाहे जननात्पश्चात्स्यान्मरणं यदि । प्रेतमुद्दिश्य कर्तव्यं पिण्डदानं स्वबन्धुभिः ॥ प्रारब्धे प्रेतपिण्डे तु मध्ये चेज्जननं भवेत् । तथैवाशौचपिण्डांस्तु शेषान्दद्याद्यथाविधि ॥' इति । तथा शावाशौचयोः सन्निपातेऽपि प्रेतकृत्यं कार्यम्; तुल्यन्यायत्वात् । तथा जातकर्मादिकमपि पुत्रजन्मनिमित्तकमाशौचान्तरसन्निपातेऽपि कार्यमेव । यथाह प्रजापतिः-'आशौचे तु समुत्पन्ने पुत्रजन्म यदा भवेत् । कर्तुस्तात्कालिकी शुद्धिः पूर्वाशौचेन शुद्ध्यति ॥' इति ॥

पूर्णप्रसवकालजननाशौचमभिधायाधुना अप्राप्तकालगर्भनिःसरणनिमित्तमाशौचमाह—

गर्भस्रावे मासतुल्या निशाः शुद्धेस्तु कारणम् ॥ २० ॥

पाठा०—१. अहोवृद्धिमत् । २. शावस्य ।

स्रवतिर्यद्यपि लोके द्रवद्रव्यकर्तृके परिस्यन्दे प्रयुज्यते, तथाऽप्यत्र द्रवाद्रवद्रव्यसाधारणरूपेऽधःपतने वर्तते। कुतः? द्रवत्वस्य प्रथममास एव संभवात्तत्र च 'मासतुल्या निशाः' इति बहुवचनानुपपत्तेः। गर्भस्रावे यावन्तो गर्भग्रहणमासास्तत्समसंख्याका निशाः शुद्धेः कारणम्। एतच्च स्त्रिया एव; 'गर्भस्रावे मासतुल्या रात्रयः स्त्रीणां, स्नानमात्रमेव पुरुषस्य' इति वृद्धवसिष्ठस्मरणात्। यत्पुनर्गौतमेन 'त्र्यहं च' (१४।१८) इति त्रिरात्रमुक्तं,-तन्मासत्रयादर्वाग्वेदितव्यम्; 'गर्भस्रुत्यां यथामासमचिरे तूत्तमे त्रयः। राजन्ये तु चतूरात्रं वैश्ये पञ्चाहमेव तु॥ अष्टाहेन तु शूद्रस्य शुद्धिरेषा प्रकीर्तिता॥' इति मरीचिस्मरणात्। अचिरे मासत्रयादर्वाक् गर्भस्रावे उत्तमे ब्राह्मणजातौ त्रिरात्रमित्यर्थः। एतच्च षण्मासपर्यन्ते[1] द्रष्टव्यम्। सप्तमादिषु पुनः परिपूर्णमेव प्रसवाशौचं कार्यम्; तत्र परिपूर्णाङ्गगर्भस्य जीवतो निर्गमदर्शनात्। तत्र च लोके 'प्रसव'शब्दप्रयोगात्, 'षण्मासाभ्यन्तरे यावद्गर्भस्रावो भवेद्यदा। तदा माससमैस्तासां दिवसैः शुद्धिरिष्यते॥ अत ऊर्ध्वं स्वजात्युक्तं तासामाशौचमिष्यते। सद्यःशौचं सपिण्डानां गर्भस्य पतने सति॥' इति स्मरणात्॥ एतच्च सपिण्डानां सद्यःशौचविधानं द्रवभूतगर्भपतने वेदितव्यम्। यत्पुनर्वसिष्ठवचनम् (४।३४)—'ऊनद्विवार्षिके प्रेते गर्भस्य पतने च सपिण्डानां त्रिरात्रम्' इति,-तत्पञ्चमषष्ठयोः कठिनगर्भपतनविषयम्; 'आचतुर्थाद्भवेत्स्रावः पातः पञ्चमषष्ठयोः। अत ऊर्ध्वं[2] प्रसूतिः स्याद्दशाहं सूतकं भवेत्॥ स्रावे मातुस्त्रिरात्रं स्यात्सपिण्डाशौचवर्जनम्। पाते मातुर्यथामासं पित्रादीनां दिनत्रयम्॥' इति मरीचिस्मरणात्॥ सप्तममासप्रभृति मृतजनने जातमृते वा सपिण्डानां जननिमित्तं परिपूर्णमाशौचम्; 'जातमृते मृतजाते वा सपिण्डानां दशाहम्' इति हारीतस्मरणात्, 'अतः सूतके चेदोत्थानादाशौचं सूतकवत्' इति पारस्करवचनाच्च। आ उत्थानादासूतिकाया उत्थानाद्दशाहमिति यावत्। सूतकवदिति शिशूपरमनिमित्तोदकदानरहितमित्यर्थः। बृहन्मनुरपि—'दशाहाभ्यन्तरे बाले प्रमीते तस्य बान्धवैः। शावाशौचं न कर्तव्यं सूत्याशौचं विधीयते॥' इति। तथा च स्मृत्यन्तरोऽपि—'अन्तर्दशाहोपरतस्य सूतिकाहोभिरेवाशौचम्' इति। एवमादिवचननिचयपर्यालोचनया सपिण्डानां जननिमित्ताशौचसंकोचो नास्तीति गम्यते। यत्पुनर्बृहद्विष्णुवचनम्—'जाते मृते मृतजाते वा कुलस्य सद्यःशौचम्' इति,-तच्छिशूपरमनिमित्तस्याशौचस्य स्नानाच्छुद्धिप्रतिपादनपरं न प्रसवनिमित्तस्य। तथा च पारस्करः—'गर्भे यदि विपत्तिः स्याद्दशाहं सूतकं भवेत्।' सपिण्डानां प्रसवनिमित्तस्य विद्यमानत्वात्।—'जीवञ्जातो यदि प्रेयात्सद्य एव विशुद्ध्यति' इति प्रेताशौचाभिप्रायम्। तथा च

---

१. पर्यंतम्। २. अत ऊर्ध्वं प्रसवो दशाहम्।

शङ्खेनोक्तम्—'प्राङ्नामकरणात्सद्यःशौचम्' इति । यत्पुनः कात्यायनवचनम्—अनिवृत्ते दशाहे तु पञ्चत्वं यदि गच्छति । सद्य एव विशुद्धिः स्यान्न प्रेतं नोदकक्रिया ॥' इति,–तदपि वैष्णवेन समानार्थम् । यदा तु 'न प्रेतं नैव सूतक'मिति पाठस्तदा सूतकमस्पृश्यत्वं नैव पित्रादीनां भवतीत्यर्थः । अथवाऽयमर्थः–अन्तर्दशाहे यदि शिशूपरमस्तदा न प्रेताशौचम् । यदि तत्र सपिण्डजननं तदा सूतकमपि नैव कार्यं, किंतु पूर्वाशौचेनैव शुद्धिरिति । यत्तु बृहन्मनुवचनम्—'जीवञ्जातो यदि ततो मृतः सूतक एव तु । सूतकं सकलं मातुः पित्रादीनां त्रिरात्रकम् ॥ इति । यच्च बृहत्प्रचेतोवचनम्—'मुहूर्तं जीवितो बालः पञ्चत्वं यदि गच्छति । मातुः शुद्धिर्दशाहेन सद्यः[2] शुद्धास्तु गोत्रिणः ॥' इति, तत्रेयं व्यवस्था—जननानन्तरं नाभिवर्धनात्प्राङ् मृतौ पित्रादीनां जननिमित्तमाशौचं दिनत्रयम् । सद्यःशौचं त्वग्निहोत्राद्यर्थम् ; 'अग्निहोत्रार्थं स्नानोपस्पर्शनात्तत्कालं शौचम्'इति शङ्खस्मरणात् । नाभिवर्धनोत्तरकालं तु शिशुप्रायणेऽपि जननिमित्तं संपूर्णमाशौचं सपिण्डानाम् । 'यावन्न छिद्यते नालं तावन्नाप्नोति सूतकम् । छिन्ने नाले ततः पश्चात्सूतकं तु विधीयते ॥' इति जैमिनिस्मरणात् ।

मनुनाऽप्ययमर्थो दर्शितः (५।६६)—'रात्रिभिर्मासतुल्याभिर्गर्भस्रावे विशुद्ध्यति । रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वला ॥' इति पूर्वभागस्यार्थो दर्शितः । उत्तरस्य त्वयमर्थः–रजसि निःसरणादुपरते निवृत्ते रजस्वला स्त्री स्नानेन साध्वी दैवादिकर्मयोग्या भवति । स्पर्शनादिविषये पुनरनुपरतेऽपि रजसि चतुर्थेऽहनि स्नानाच्छुद्धा भवति । तदुक्तं वृद्धमनुना—'चतुर्थेऽहनि संशुद्धा भवति व्यावहारिकी' इति । तथा स्मृत्यन्तरम्—'शुद्धा भर्तुश्चतुर्थेऽह्नि स्नानेन स्त्री रजस्वला । दैवे कर्मणि पित्र्ये च पञ्चमेऽहनि शुद्ध्यति ॥ 'पञ्चमेऽहनि' इति रजोनिवृत्तिकालोपलक्षणार्थम् । यदा रजोदर्शनादारभ्य पुनः सप्तदश दिनाभ्यन्तरे रजोदर्शनं तदा अशुचित्वं नास्त्येव; अष्टादशे त्वेकाहाच्छुद्धिः, एकोनविंशे द्व्यहात् , तत उत्तरेषु त्र्यहाच्छुद्धिः । यथाहात्रिः—'रजस्वला यदि स्नाता पुनरेव रजस्वला । अष्टादशदिनादर्वागशुचित्वं न विद्यते ॥ एकोनविंशतेरर्वागेकाहं स्यात्ततो द्व्यहम् । विंशत्प्रभृत्युत्तरेषु त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ॥' इति ।—यत्तु 'चतुर्दशदिनादर्वागशुचित्वं न विद्यते' इति स्मृत्यन्तरं, तत्र स्नानप्रभृतित्वमभिप्रेतमतो न विरोधः । अयं चाशुचित्वप्रतिषेधो यस्या विंशतिदिनोत्तरकालमेव प्रायशो रजोदर्शनं तद्विषयः । यस्याः पुनरारूढयौवनायाः प्रागेवाष्टादशदिनात्प्राचुर्येण रजोनिर्गमस्तस्यास्त्रिरात्रमेवाशौचम् । तया च यावत्त्रिरात्रं स्नानादिरहितया स्थातव्यम् ; 'रजस्वला त्रिरात्रमशुचिर्भवति सा च नाञ्जीत नाभ्यञ्जीत

---

१. सूतकाहोभिः । २. सद्यः शौचास्तु ।

नाप्सु स्नायादधः शयीत न दिवा स्वप्यात् न प्रहासिरीक्षेत नाग्निं स्पृशेत् नाश्नीयान्न रज्जुं सृजेत् न च दन्तान्धावयेत् न हसेन्नच किंचिदाचरेत् अखर्वेण पात्रेण पिबेदञ्जलिना वा पात्रेण लोहितायसेन वेति विज्ञायते' (४-७) इति वसिष्ठस्मरणात् ।

आङ्गिरसेऽपि विशेषः—'हस्तेऽश्नीयान्मृन्मये वा हविर्भुक् क्षितिशायिनी । रजस्वला चतुर्थेऽह्नि स्नात्वा शुद्धिमवाप्नुयात् ॥' इति । पराशरेऽपि विशेषः— 'स्नाने नैमित्तिके प्राप्ते नारी यदि रजस्वला । पात्रान्तरिततोयेन स्नानं कृत्वा व्रतं चरेत् ॥ सिक्तगात्रा भवेदद्भिः साङ्गोपाङ्गा कथंचन । न वस्त्रपीडनं कुर्यान्नान्यद्वासश्च धारयेत् ॥' इति उशनसाऽप्यत्र विशेषो दर्शितः—'ज्वराभिभूता या नारी रजसा च परिप्लुता । कथं तस्या भवेच्छौचं शुद्धिः स्यात्केन कर्मणा ॥ चतुर्थेऽहनि संप्राप्ते स्पृशेदन्याऽशुचिस्त्रियम् । सा सचेलावगाह्यापः स्नात्वा स्नात्वा पुनः स्पृशेत् । दशद्वादशकृत्वो वा आचमेच्च पुनः पुनः ॥ अन्ते च वाससां त्यागस्ततः शुद्धा भवेच्च सा । दद्याच्छक्त्या ततो दानं पुण्याहेन विशुद्धयति ॥' इति ।

अयं चातुरमात्रे स्नानप्रकारोऽनुसरणीयः । 'आतुरे स्नान उत्पन्ने दशकृत्वो ह्यनातुरः । स्नात्वा स्नात्वा स्पृशेदेनं ततः शुद्ध्येत्स आतुरः ॥' (७।१०) इति पराशरस्मरणात् । यदा तु रजस्वलायाः सूतिकाया वा मृतिर्भवति तदायं स्नानप्रकारः—'सूतिकायां मृतायां तु कथं कुर्वन्ति याज्ञिकाः । कुम्भे सलिलमादाय पञ्चगव्यं तथैव च ॥ पुण्यर्ग्भिरभिमन्त्र्यापो वाचा शुद्धिं लभेत्ततः । तेनैव स्नापयित्वा तु दाहं कुर्याद्यथाविधि ॥' रजस्वलायास्तु—'पञ्चभिः स्नापयित्वा तु गव्यैः प्रेतां रजस्वलाम् । वस्त्रान्तरावृतां कृत्वा दाहयेद्विधिपूर्वकम् ॥' इति । एतच्च रजोदर्शनपुत्रजन्मादि; यद्युदयोत्तरकालमुत्पन्नं तदा तद्दिवसप्रभृत्याशौचाहोरात्रगणना कार्या । यदा तु रजन्यां रजोदर्शनपुत्रजन्मादि जातं तदार्धरात्रात्प्राक् जननाद्युत्पत्तौ पूर्वदिवसैकदेशाव्याप्तित्वेऽपि आशौचस्य तत्पूर्वदिवसप्रभृत्येव गणना कार्येत्येकः कल्पः । रात्रिं त्रेधा विभज्याद्ये भागद्वये जननादौ जाते पूर्वदिनं ग्राह्यमिति द्वितीयः । प्रागुदयादित्यपरः । यथाह कश्यपः—'उदिते तु यदा सूर्ये नारीणां दृश्यते रजः । जननं वा विपत्तिर्वा यस्याहस्तस्य शर्वरी ॥ अर्धरात्रावधिः कालः सूतकादौ विधीयते । रात्रिं कुर्यात्त्रिभागां तु द्वौ भागौ पूर्व एव तु ॥ उत्तरांशः प्रभातेन युज्यते ऋतुसूतके । रात्रावेव समुत्पन्ने मृते रजसि सूतके ॥ पूर्वमेव दिनं ग्राह्यं यावन्नोदयते[2] रविः ॥' इति । एतेषां च कल्पानां देशाचारतो व्यवस्था विज्ञेया ।

---

१. आशौचपूर्वदिनम् । २. यावन्नाभ्युदितो रविः ।

इदं चाशौचमाहिताग्नेरुपरमे संस्कारदिवसप्रभृति कर्तव्यम्। अनाहिताग्नेस्तु मरणदिवसप्रभृति संचयनं तूभयोरिति संस्कारदिवसप्रभृतीति विवेचनीयम्। यथाहाङ्गिराः—'अनग्निमत उत्क्रान्तेः साग्नेः संस्कारकर्मणः। शुद्धिः संचयनं दाहान्मृताहस्तु यथाविधि ॥' इति। 'साग्नेः संस्कारकर्मणः' इति श्रवणादाहिताग्नौ पितरि देशान्तरमृते तत्पुत्रादीनामासंस्कारात्संध्यादिकर्मलोपो नास्तीत्यनुसंधेयम्। तथा च पैठीनसिः—'अनग्निमत उत्क्रान्तेराशौचं हि द्विजातिषु। दाहादग्निमतो विद्याद्विदेशस्थे मृते सति ॥' इति ॥ २० ॥

भाषा—एक आशौच के भीतर ही जन्म या मरण आ जावे तो उसके बाद प्रथम आशौच के जितने दिन शेष हों उतने ही दिनों में शुद्धि होती है। गर्भस्राव होने पर जितने मास का गर्भ रहा हो उतने ही दिन में शुद्धि होती है ॥ २० ॥

सपिण्डत्वादिना दशाहादिप्राप्तौ क्वचिन्मृत्युविशेषेणापवादमाह—

[2]हतानां नृपगोविप्रैरन्वक्षं चात्मघातिनाम्।

नृपोऽभिषिक्तः क्षत्रियादिः 'गो'ग्रहणं शृङ्गिदंष्ट्र्यादितिरश्चामुपलक्षणार्थम्, 'विप्र'ग्रहणमन्त्यजोपलक्षणम्; एतैर्हतानां संबन्धिनो ये सपिण्डास्तेषाम्, विषोद्बन्धनादिभिः बुद्धिपूर्वमात्मानं ये व्यापादयन्ति ते आत्मघातिनः; 'आत्मघाति'ग्रहणं 'पाखण्ड्यनाश्रिता' (प्रा० ६-११) इत्येकयोगोपात्तपतितपात्रोपलक्षणार्थम्। तत्संबन्धिनां चान्वक्षमनुगतमक्षमन्वक्षं सद्यः शौचमित्यर्थः[3]। तत्संबन्धिनां च सान्वक्षं यावद्दर्शनमाशौचं न पुनर्दशाहादिकम्। तथा च गौतमः (१४।९—१२)—'गोब्राह्मणहतानामन्वक्षं राजक्रोधाच्चायुद्धे प्रायोऽनाशकशस्त्राग्निविषोदकोद्बन्धनप्रपतनैश्चेच्छताम्' इति। 'क्रोध'ग्रहणं प्रमादव्यापादितनिरासार्थम्। 'अयुद्ध'ग्रहणं युद्धहतस्यैकाहमाशौचमस्तीति ज्ञापनार्थम्; 'ब्राह्मणार्थे विपन्नानां योषितां गोग्रहेऽपि च। आहवेऽपि हतानां च एकरात्रमशौचकम् ॥' इति स्मरणात्। एतच्च युद्धकालक्षतेनैव कालान्तरविपन्नस्य। समरमूर्धनि हतस्य पुनः सद्यः शौचम्। यथाह मनुः (५।९८)—'उद्यतैराहवे शस्त्रैः क्षत्रधर्महतस्य च। सद्यः संतिष्ठते यज्ञस्तथाऽऽशौचमिति स्थितिः ॥' इति ॥—

ज्ञातस्यैव जननादेराशौचनिमित्तत्वाज्जन्मदिनादुत्तरकालेऽपि ज्ञाते दशाहादिप्राप्तावपवादमाह—

प्रोषिते कालशेषः स्यात्पूर्णे[4] दत्त्वोदकं शुचिः ॥ २१ ॥

---

1. यथातिथीति। 2. विप्रगोनृपहतानामन्वक्षं। 3. शौचमित्यर्थः न पुनः। 4. स्यादशेषे त्र्यहमेव च।

प्रोषिते देशान्तरस्थे यत्रस्थेन प्रथमदिवस एव सपिण्डजननादिकं न ज्ञायते तस्मिन्सपिण्डे कालस्य दशाहाद्यवच्छिन्नस्य यः शेषोऽवशिष्टकालः स एव शुद्धिहेतुर्भवति। पूर्णे पुनराशौचकाले दशाहादिके प्रेतायोदकं दत्वा शुद्धिर्भवति। उदकदानस्य स्नानपूर्वकत्वात्स्नात्वोदकं दत्वा शुचिर्भवति। तदुक्तं शुचिर्भवति। तदुक्तं मनुना (५।७७)—'निर्दशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च। सवासा जलमाप्लुत्य शुद्धो भवति मानवः॥' इति। 'पूर्णे दत्त्वोदकं शुचिः' इति प्रेतोदकदानसहचरितस्याशौचकालस्य शुद्धिहेतुत्वविधानात्। जन्मन्यतिक्रान्ताशौचं सपिण्डानां नास्तीति गम्यते। पितुस्तु निर्दशेऽपि जनने स्नानमस्त्येव; 'श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च' इति वचनात्। एतच्च 'पुत्र'ग्रहणं जन्मनि सपिण्डानामतिक्रान्ताशौचं नास्तीति ज्ञापकम्। अन्यथा 'निर्दशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा जन्म च निर्दशम्' इत्येवावक्ष्यत्। न चोक्तम्। तथा च देवलः—'नाशुद्धिः प्रसवाशौचे व्यतीतेषु दिनेष्वपि' इति। तस्माद्विपत्तावेवातिक्रान्ताशौचमिति स्थितम्[1]॥ केचिदन्यथेमं श्लोकं पठन्ति—'प्रोषिते कालशेषः स्याद्शेषे त्र्यहमेव तु। सर्वेषां वत्सरे पूर्णे प्रेते दत्त्वोदकं शुचिः॥' इति। [2]प्रोषिते प्रेते सर्वेषां ब्राह्मणक्षत्रियादीनामविशेषेण कालशेषः शुद्धिहेतुः। अशेषे पुनरतिक्रान्ते दशाहादौ सर्वेषां त्र्यहमेवाशौचम्। संवत्सरे पूर्णे यदि प्रोषितप्रायणमवगतं स्यात्तदा सर्वो ब्राह्मणादिः स्नात्वोदकं दत्वा शुचिः स्यात्। तथा च मनुः (५।७६)—'संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्ट्वैवापो विशुद्ध्यति' इति। अयं च त्र्यहो दशाहादूर्ध्वं मासत्रयादर्वाग्द्रष्टव्यः। पूर्वोक्तं तु सद्यःशौचं नवममासादूर्ध्वमर्वाक्संवत्सराद् द्रष्टव्यम्। यत्पुनर्वासिष्ठं वचनम्—'ऊर्ध्वं दशाहाच्छ्रुत्वैकरात्रम्' इति,-तदूर्ध्वं षण्मासेभ्यो यावन्नवमम्। यदपि गौतमवचनम् (१४।१९)—'श्रुत्वा चोर्ध्वं दशम्याः पक्षिणी' इति, तन्मासत्रयादूर्ध्वमर्वाक्षण्मासात्। तथा च वृद्धवसिष्ठः—'मासत्रये त्रिरात्रं स्यात्षण्मासे पक्षिणी तथा। अहस्तु नवमादर्वागूर्ध्वं स्नानेन शुद्ध्यति॥' इति। एतच्च मातापितृव्यतिरिक्तविषयम्। 'पितरौ चेन्मृतौ स्यातां दूरस्थोऽपि हि पुत्रकः। श्रुत्वा तद्दिनमारभ्य दशाहं सूतकी भवेत्॥' इति पैठीनसिस्मरणात्। तथा च स्मृत्यन्तरेऽपि—'महागुरुनिपाते तु आर्द्रवस्त्रोपवासिना। अतीतेऽब्देऽपि कर्तव्यं प्रेतकार्यं यथाविधि॥' इति। संवत्सरादूर्ध्वमपि प्रेतकार्यमाशौचोदकदानादिकं कार्यं, न पुनः स्नानमात्राच्छुद्धिरित्यर्थः। पितृपत्न्यामपि मातृव्यतिरिक्तायां स्मृत्यन्तरे विशेषो दर्शितः—'पितृपत्न्यामपेतायां मातृवर्जं द्विजोत्तमः। संवत्सरे व्यतीतेऽपि त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्॥' इति। यस्तु नद्यादिव्यवहिते देशान्तरे मृतस्तत्सपिण्डानां

---

१. मिति स्थितिः। २. प्रोषिते सर्वेषां।

दशाहादूर्ध्वं मासत्रयादर्वागपि सद्यःशौचम् ; 'देशान्तरमृतं श्रुत्वा क्लीबे वैखानसे यतौ। मृते स्नानेन शुद्ध्यन्ति गर्भस्रावे च गोत्रिणः॥' इति। देशान्तरलक्षणं च बृहस्पतिनोक्तम्—'महानद्यन्तरं यत्र गिरिर्वा व्यवधायकः। वाचो यत्र विभिद्यन्ते तद्देशान्तरमुच्यते॥ देशान्तरं वदन्त्येके षष्टियोजनमायतम्। चत्वारिंशद्वदन्त्यन्ये त्रिंशदन्ये तथैव च॥' इति। इदं चातिक्रान्ताशौचमुपनीतोपरमविषयम्। न पुनर्वयोवस्थाविशेषाशौचविषयमपि। तथा चोक्तं व्याघ्रपादेन—'तुल्यं वयसि सर्वेषामतिक्रान्ते तथैव च। उपनीते तु विषमं यस्मिन्नेवातिकालजम्॥' इति। अयमर्थः—वयसि त्रिवर्षादिरूपे यदाशौचं 'आ दन्तजन्मनः सद्यः' (प्रा० २३) इत्यादिवाक्यविहितं तत्सर्वेषां ब्राह्मणादिवर्णानां तुल्यमविशिष्टम्। अतिक्रान्ते च दशाहादिके त्र्यहादि यदाशौचं तदपि सर्वेषामविशिष्टम्। उपनीते पुनरुपरमे दशद्वादशपञ्चदशत्रिंशद्दिनानीत्येवं विषममाशौचं ब्राह्मणादीनाञ्च। तस्मिन्नेवोपनीतोपरम एव अतिकालजमतिक्रान्ताशौचं भवति न वयोवस्थाशौचातिक्रम इति॥ २१॥

भाषा—राजा, गौ और ब्राह्मण द्वारा मारे गये एवं स्वयं आत्महत्या करके मरे हुए व्यक्तियों के सम्बन्धी की शुद्धि तत्काल होती है। दूसरे देश में मरे हुए व्यक्ति के लिये (मृत्यु का समाचार ज्ञात होने पर) दस दिनों में जितने दिन शेष रहते हैं उतने दिन में शुद्धि होती है और यदि समय पूरा हो गया हो तो उदक दान देकर ही उसके गोत्र वाले शुद्ध हो जाते हैं॥२१॥

क्षत्रियादिषु दशरात्रस्य सपिण्डाशौचस्यापवादमाह—

क्षत्रस्य द्वादशाहानि विशः पञ्चदशैव तु।
त्रिंशद्दिनानि शूद्रस्य तदर्धं न्यायवर्तिनः॥ २२॥

क्षत्रियवैश्यशूद्राणां सपिण्डजनने तदुपरमे च यथाक्रमेण द्वादशपञ्चदशत्रिंशद्दिनान्याशौचं भवति। न्यायवर्तिनः पुनः शूद्रस्य पाकयज्ञद्विजशुश्रूषादिरतस्य तदर्धं तस्य मासस्यार्धं पञ्चदशरात्रमाशौचम्। एवं च 'त्रिरात्रं[3] दशरात्रं वा' (प्रा० १८) इत्येतद्दशरात्रमाशौचं पारिशेष्याद् ब्राह्मणविषये व्यवतिष्ठते स्मृत्यन्तरेषु तु क्षत्रियादीनां दशाहादयोऽप्याशौचकल्पा दर्शिताः। यथाह पराशरः—'क्षत्रियस्तु दशाहेन स्वकर्मनिरतः शुचिः। तथैव द्वादशाहेन वैश्यः शुद्धिमवाप्नुयात्॥' तथा च शातातपः—'एकादशाहाद्द्विजन्यो वैश्यो द्वादशभिस्तथा। शूद्रो विंशतिरात्रेण शुद्ध्येत मृतसूतके॥' वसिष्ठस्तु—'पञ्चदशरात्रेण राजन्यो विंशतिरात्रेण वैश्य' इति। अङ्गिरास्त्वाह—'सर्वेषामेव वर्णानां सूतके मृतके तथा। दशाहाच्छुद्धिरेतेषामिति शातातपोऽब्रवीत्॥' इत्येवमनेकोच्चाव-

---

१. वैखानसो वानप्रस्थः। २. पुनरुपरते। ३. त्रिरात्रं वेति।

च्चाशौचकल्पा दर्शिताः; तेषां लोके समाचाराभावान्नातीव व्यवस्थाप्रदर्शनमुपयोगीति नात्र व्यवस्था प्रदर्श्यते। यदा पुनर्ब्राह्मणादीनां क्षत्रियादयः सपिण्डा भवन्ति तदा हारीताद्युक्ताशौचकल्पोऽनुसरणीयः।—'दशाहाच्छुध्यते विप्रो जन्महानौ स्वयोनिषु। षड्भिस्त्रिभिरथैकेन क्षत्रविट्शूद्रयोनिषु॥' इति। विष्णुरप्याह (२२।२३,२४)—'क्षत्रियस्य विट्शूद्रेषु सपिण्डेषु षड्रात्रत्रिरात्राभ्यां वैश्यस्य शूद्रे सपिण्डे षड्रात्रेण शुद्धिर्हीनवर्णानां तूत्कृष्टेषु सपिण्डेषु जातेषु मृतेषु वा तदाऽऽशौचव्यपगमे शुद्धिः' (२२।२१) इति बौधायनेन त्वविशेषेण दशाह इत्युक्तम्—'क्षत्रविट्शूद्रजातीया ये स्युर्विप्रस्य बान्धवाः। तेषामाशौचे विप्रस्य दशाहाच्छुद्धिरिष्यते॥' इति। अनयोश्च पक्षयोरापदनापद्विषयत्वेन व्यवस्था। दास्यादीनां तु स्वामिशौचेन स्पृश्यत्वं, कर्मानधिकारत्वं तु मासावधिरेव। तदाहाङ्गिराः—'दासी दासश्च सर्वो वै यस्य वर्णस्य यो भवेत्। तद्वर्णस्य भवेच्छौचं दास्या मासस्तु सूतकम्॥' इति प्रतिलोमानां त्वाशौचाभाव एव; 'प्रतिलोमा धर्महीनाः' इति मनुस्मरणात्। केवलं मृतौ प्रसवे च मलापकर्षणार्थं मूत्रपुरीषोत्सर्गवत् शौचं भवत्येव॥ २२॥

भाषा—(सपिण्ड व्यक्ति के जन्म एवं मृत्यु पर) क्षत्रिय को बारह दिन का, वैश्य को पन्द्रह दिन का और शूद्र को तीस दिन का आशौच होता है; किन्तु न्यायवर्ती (द्विज की सेवा में रहने वाले) शूद्र को पन्द्रह दिन का ही आशौच होता है॥ २२॥

वयोवस्थाविशेषादपि दशाहाद्याशौचस्यापवादमाह—

आ दन्तजन्मनः सद्य आ चूडान्नैशिकी स्मृता।
त्रिरात्रमा व्रतादेशाद्दशरात्रमतः परम्॥ २३॥

यावता कालेन दन्तानामुत्पत्तिस्तस्मिन्काले अतीतस्य बालस्य तत्संबन्धिनां सद्यः शौचं चूडाकरणादर्वाङ्मृतस्य संबन्धिनां नैशिकी निशायां भवा अहोरात्रव्यापिन्यशुद्धिः। व्रतादेश उपनयनं ततोऽर्वाक् चूडायाश्चोर्ध्वमतीतस्य त्र्यहमशुद्धिः। अत्र च 'आ दन्तजन्मनः सद्य' इति यद्यप्यविशेषेणाभिधानं तथाप्यग्निसंस्काराभावे द्रष्टव्यम्; 'अदन्तजाते बाले प्रेते सद्य एव शुद्धिर्नास्याग्निसंस्कारो नोदकक्रिया' इति वैष्णवे अग्निसंस्काररहितस्य सद्यः शौचविधानात्। सति त्वग्निसंस्कारे 'अहस्त्वदत्तकन्यासु बालेषु च' (प्रा० २४) इति वक्ष्यमाण एकाहः। तथा च यमः—'अदन्तजाते तनये शिशौ गर्भच्युते तथा। सपिण्डानां तु सर्वेषामहोरात्रमशौचकम्॥' इति। नामकरणात्प्राक्सद्यःशौचमेव नियतम्। 'प्राङ्नामकरणात्सद्यःशुद्धिः' इति शङ्खस्मरणात्। [3]चूडाकर्म

---

1. स्वाम्याशौचेन। 2. ऽनधिकारस्तु। 3. कर्म द्वितीये।

च प्रथमे तृतीये वा वर्षे स्मर्यते—'चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः। प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥' इति स्मरणात्। ततश्च दन्तजननादूर्ध्वं प्रथमवार्षिकचूडाकर्मपर्यन्तमेकाहः। तत्र त्वकृतचूडस्य दन्तजनने सत्यपि त्रिवर्षं यावदेकाह एव। तथा च विष्णुः (२२।२९)—'दन्तजातेऽप्यकृतचूडेऽहोरात्रेण शुद्धिः' इति। तत ऊर्ध्वं प्रागुपनायात् त्र्यहः। यत्तु मनुवचनम् (५।६७)—'नृणामकृतचूडानामशुद्धिर्नैशिकी स्मृता। निर्वृत्तचूडकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥' इति। तस्याप्ययमेव विषयः। यत्तूनद्विवर्षमधिकृत्य तेनैवोक्तम् (५।६९)—'अरण्ये काष्ठवत्त्यक्त्वा [1]क्षिपेयुस्त्र्यहमेव तु' इति। यच्च वसिष्ठवचनम् (४।३५)—'ऊनद्विवर्षे प्रेते गर्भपतने वा सपिण्डानां त्रिरात्रम्' इति,—तत्संवत्सरचूडाभिप्रायेण। यत्तु अङ्गिरोवचनम्—'यद्यप्यकृतचूडो वै जातदन्तश्च संस्थितः। तथापि दाहयित्वैनमाशौचं त्र्यहमाचरेत् ॥' इति,—तद्वर्षत्रयादूर्ध्वं [2]कुलधर्मापेक्षया चूडोत्कर्षे वेदितव्यम्; 'विप्रे न्यूनत्रिवर्षे तु मृते शुद्धिस्तु नैशिकी' इति तेनैवाभिहितत्वात्। नचायमेकाहो दन्तजननाभाव इति शङ्कनीयम्। नहि न्यूनत्रिवर्षस्य दन्तानुत्पत्तिः संभवति। तथा सत्यपि दन्तजनने अकृतचूडस्यैकाहं वदता विष्णुवचनेन विरोधश्च दुष्परिहरः स्यात्। तस्मात्प्राचीनैव व्याख्या ज्यायसी। यत्तु कश्यपवचनम्—'बालानामदन्तजातानां त्रिरात्रेण शुद्धिः' इति,—तन्मातापितृविषयम्; 'निरस्य तु पुमाञ्शुक्रमु[3]पस्पर्शाद्विशुद्ध्यति। बैजिकादभिसंबन्धादनुरुन्ध्यादघं त्र्यहम् ॥' इति जन्यजनकसंबन्धोपाधिकतया त्रिरात्रस्मरणात्। ततश्चायमर्थः—'प्राङ्नामकरणात्सद्यः शौचं तदूर्ध्वं दन्तजननादर्वागग्निसंस्कारक्रियायां एकाहः। इतरथा सद्यः शौचम्। जातदन्तस्य च प्रथमवार्षिकाच्चौलादर्वागेकाहः। प्रथमवर्षादूर्ध्वं त्रिवर्षपर्यन्तं कृतचूडस्य त्र्यहम्। इतरस्य त्वेकाहः। वर्षत्रयादूर्ध्वमकृतचूडस्यापि त्र्यहम्। उपनयनादूर्ध्वं सर्वेषां ब्राह्मणादीनां दशरात्रादिकमिति ॥ २३ ॥

भाषा—दाँत निकलने से पहले ही (बालक की) मृत्यु होने पर तत्काल शुद्धि होती है; चूडाकरणसंस्कार होने से पहले मृत्यु होने पर एक दिनरात आशौच रहता है; उसके उपरान्त व्रतबन्ध होने के पहले (मृत्यु होने पर) तीन दिन रात और उसके बाद (व्रतबन्ध हो चुकने के बाद) मृत्यु हो तो दश दिन आशौच रहता है ॥ २३ ॥

इदानीं स्त्रीषु च वयोवस्थाविशेषेणापवादमाह—

अहस्त्वदत्तकन्यासु बालेषु च विशोधनम्।

---

१. क्षिपेत् तत् त्र्यहमेव। २. कुलवर्णधर्मापेक्षया। ३. मुपस्पृश्य इति।

अदत्ता अपरिणीता याः कन्यास्तासु कृतचूडासु वाग्दानात्प्रागहोरात्रं विशेषेण शुद्धिकारणं सपिण्डानाम्, सापिण्ड्यं च कन्यानां त्रिपुरुषपर्यन्तमेव। 'अप्रत्तानां तु स्त्रीणां त्रिपुरुषी विज्ञायते' (४।१८) इति वसिष्ठस्मरणात्। बालेषु चानुत्पन्नदन्तेषु अग्निसंस्कारे सत्येकाहो विशोधनम्। अकृतचूडायां तु कन्यायां सद्यः शौचम्। 'अचूडायां तु कन्यायां सद्यः शौचं विधीयते' [1]इत्यापस्तम्बस्मरणात्। वाग्दानादूर्ध्वं तु संस्कारात्प्राक्पतिपक्षे पितृपक्षे च त्रिरात्रमेव। यथाऽऽह मनुः (५।७२) 'स्त्रीणामसंस्कृतानां तु त्र्यहाच्छुद्ध्यन्ति बान्धवाः। यथोक्तेनैव कल्पेन शुद्ध्यन्ति तु सनाभयः॥' इति। बान्धवाः पतिपक्षयास्त्रिरात्रेण शुद्ध्यन्ति। सनाभयस्तु पितृपक्षयाः सपिण्डा यथोक्तेनैव कल्पेन 'निर्वृत्तचूडकानाम्' इत्यादिनोक्तेन त्रिरात्ररूपेण, न पुनर्दशरात्ररूपेण; विवाहात्प्राक् तस्यायुक्तत्वात्। अत एव मरीचिः—'वारिपूर्वं प्रदत्ता तु या नैव प्रतिपादिता। असंस्कृता तु सा ज्ञेया त्रिरात्रमुभयोः स्मृतम्॥' इति। उभयोः पतिपितृपक्षयोः। विवाहादूर्ध्वं तु विष्णुना विशेषो दर्शितः (२२।३३, ३४)—'संस्कृतासु स्त्रीषु नाशौचं पितृपक्षे, तत्प्रसवमरणे चेत्पितृगृहे स्यातां तदैकरात्रं त्रिरात्रं च' इति। तत्र प्रसवे एकाहः प्रायणे त्रिरात्रमिति व्यवस्था। इदं च वयोवस्थाशौचं सर्ववर्णसाधारणम्। 'क्षत्रस्य द्वादशाहानि' (प्रा० २२) इति तद्वर्णविशेषोपादानेनाभिधानात्। अत एव मनुना अनुपात्तवर्णविशेषाशौचविधेः साधारण्यप्रतिपादनार्थं चातुर्वर्ण्याधिकारे सत्यपि पुनः 'चतुर्णामपि वर्णानां यथावदनुपूर्वशः' इत्युक्तम्। तथाङ्गिरसाप्युक्तम्—'अविशेषेण वर्णानामर्वाक्संस्कारकर्मणः। त्रिरात्रात्तु भवेच्छुद्धिः कन्यास्वह्ना विधीयते॥' इति व्याघ्रपादवचनं च 'तुल्यं वयसि सर्वेषाम्' इति प्राक् प्रदर्शितम्। अतो यथा 'पिण्डयज्ञावृता देयम्' (प्रा० १६) इत्यादिः पिण्डोदकदानविधिः सर्ववर्णसाधारणः। यथा वा समानोदकाशौचविधिः 'अन्तरा जन्ममरणे' (प्रा० २०) इति संनिपाताशौचविधिश्च [2]यद्वच्च 'गर्भस्रावे मासतुल्या निशा' (प्रा० २०) इति स्रावाशौचविधिः, 'प्रोषिते कालशेषः स्यादशेषे त्र्यहमेव तु' (प्रा० २१) इति विदेशस्थाशौचविधिश्च, यथा वा गुर्वाद्याशौचविधिः सर्ववर्णसाधारणः तथा वयोवस्थानिमित्तमप्याशौचं सर्ववर्णसाधारणमेव भवितुमर्हति। अत एव 'क्षत्रे षड्भिः कृते चौले वैश्ये नवभिरुच्यते। ऊर्ध्वं त्रिवर्षाच्छूद्रे तु द्वादशाहो विधीयते॥' तथा 'यत्र त्रिरात्रं विप्राणामाशौचं संप्रदृश्यते। तत्र शूद्रे द्वादशाहः षण्नव क्षत्रवैश्ययोः॥' इत्यादीनि ऋष्यशृङ्गादिवचनानि विगीतत्वबुद्ध्याऽनाद्रियमाणैर्धारेश्वरविश्वरूपमेधातिथिप्रभृतिभिराचार्यैरयमेव साधारणः पक्षोऽङ्गीकृतः। अविगीतानि चार्तानार्तक्षत्रियादिविषयतया व्याख्येयानि॥

1. इति वसिष्ठस्मरणात्। 2. यदूर्ध्वं।

गुर्वादिष्वतिदेशमाह—

गुर्वन्तेवास्यनूचानमातुलश्रोत्रियेषु च ॥ २४ ॥

गुरुरुपाध्यायः, अन्तेवासी शिष्यः, अनूचानोऽङ्गानां प्रवक्ता, मातुल'ग्रहणेनात्मबन्धवो मातृबन्धवः पितृबन्धवश्च योनिसंबद्धा[1] उपलक्ष्यन्ते। ते च 'पत्नीदुहितरः' (व्य० १३५) इत्यत्र दर्शिताः। श्रोत्रिय एकशाखाध्यायी; 'एकां शाखामधीत्य श्रोत्रियः' इति बौधायनस्मरणात्। एषूपरतेष्वहोरात्रमाशौचम्। यस्तु मुख्यो गुरुः पिता तदुपरमे सपिण्डत्वाद्दशाहमेव। यस्तु पिता पुत्रानुत्पाद्य संस्कृत्य वेदानध्याप्य वेदार्थं ग्राहयित्वा वृत्तिं च विदधाति, तस्य महागुरुत्वात्तदुपरमे द्वादशरात्रं वा। 'महागुरुषु दानाध्ययने वर्जयेरन्' इति आश्वलायनेनोक्तं द्रष्टव्यम्। आचार्योपरमे तु त्रिरात्रमेव। यथाह मनुः (५।८०)—'त्रिरात्रमाहुराशौचमाचार्ये संस्थिते सति। तस्य पुत्रे च पत्न्यां च दिवारात्रमिति स्थितिः ॥' इति। यदा त्वाचार्यादेरन्त्येष्टिं करोति तदा दशरात्रमाशौचम् (५।६५)—'गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरेत्[2]। प्रेताहारैः समं तत्र दशाहेन विशुद्ध्यति ॥' इति तेनैवोक्तत्वात्। श्रोत्रियस्य तु समानग्रामीणस्यैतदाशौचम्; 'एकाहं सब्रह्मचारिणि समानग्रामीणे च श्रोत्रिये' (४।२६,२७) इत्याश्वलायनस्मरणात्। एकाचार्योपनीतः सब्रह्मचारी। एतच्चासंनिधाने द्रष्टव्यम्। संनिहिते तु शिष्यादौ त्रिरात्रादि। यथाह मनुः (५।८१)—'श्रोत्रिये तूपसंपन्ने त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्। मातुले पक्षिणीं रात्रिं शिष्यर्त्विग्बान्धवेषु च ॥' इति। उपसंपन्ने मैत्रीप्रातिवेश्यत्वादिना[3] संबद्धे शीलयुक्ते वा। 'मातुल'ग्रहणं मातृष्वस्रादेरुपलक्षणार्थम्। बान्धवा इत्यात्मबन्धवो मातृबन्धवः पितृबन्धवश्चोच्यन्ते। तथा च बृहस्पतिः—'त्र्यहं मातामहाचार्यश्रोत्रियेष्वशुचिर्भवेत्' इति। तथा प्रचेताः—'मृते चर्त्विजि याज्ये च त्रिरात्रेण विशुद्ध्यति' इति। तथा च वृद्धवसिष्ठः—'संस्थिते पक्षिणीं रात्रिं दौहित्रे भगिनीसुते। संस्कृते तु त्रिरात्रं स्यादिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ पित्रोरुपरमे स्त्रीणामूढानां तु कथं भवेत्। त्रिरात्रेणैव शुद्धिः स्यादित्याह भगवान्यमः ॥ श्वशुरयोर्भगिन्यां च मातुलान्यां च मातुले। पित्रोः स्वसरि तद्वच्च पक्षिणीं क्षपयेन्निशाम् ॥' तथा—'मातुले श्वशुरे मित्रे गुरौ गुर्वङ्गनासु च। अशौचं पक्षिणीं रात्रिं मृता मातामही यदि ॥' तथा च गौतमः (१४।२०)—'पक्षिणीमसपिण्डे योनिसंबद्धे सहाध्यायिनि च इति। योनिसंबद्धा मातुलमातृष्वस्रीयपितृष्वस्रीयादयः। तथा जाबालः—'एकोदकानां तु त्र्यहो गोत्रजानामहः स्मृतम्। मातृबन्धौ गुरौ मित्रे मण्डलाधिपतौ तथा ॥' इति।

---

१. संबन्धा उप। २. समारभेत्। ३. त्वादिसंबन्धे।

विष्णुः (२२।४६)—'असपिण्डे स्ववेश्मनि मृत एकरात्रम्' इति; तथा वृद्धः—'भगिन्यां संस्कृतायां तु भ्रातर्यपि च संस्कृते। मित्रे जामातरि प्रेते दौहित्रे भगिनीसुते॥ शालके तत्सुते चैव सद्यःस्नानेन शुद्ध्यति। ग्रामेश्वरे कुलन्तौ श्रोत्रिये च तपस्विनि। शिष्ये पञ्चत्वमापन्ने शुचिर्नक्षत्रदर्शनात्॥ ग्राममध्यगतो यावच्छवस्तिष्ठति कस्यचित्। ग्रामस्य तावदाशौचं निर्गते शुचितामियात्॥' इत्यादीन्याशौचविशेषप्रतिपादकानि स्मृतिवचनान्यन्वेषणीयानि। ग्रन्थगौरवभयादत्र न लिख्यन्ते। एषु चैकविषयगुरुलघ्वाशौचप्रतिपादकतया परस्परविरुद्धेषु संनिधिविदेशस्थापेक्षया व्यवस्थाऽनुसंधातव्या॥ २४॥

भाषा—अपरिणीता कन्या के वाग्दान के पहले मरने पर एक दिन-रात में ही आशौच की शुद्धि होती है। इसी प्रकार गुरु, शिष्य, वेदाङ्ग के प्रवक्ता, मामा और श्रोत्रिय के मरने पर भी एक दिन-रात में शुद्धि होती है॥ २४॥

अनौरसेषु पुत्रेषु भार्यास्वन्यगतासु च।
निवासराजनि प्रेते[1] तदहः शुद्धिकारणम्॥ २५॥

किंच। अहरित्यनुवर्तते। अनौरसाः क्षेत्रजदत्तकादयः; तेषु जातेषूपरतेषु चाहोरात्रमाशौचम्। तथा स्वभार्यास्वन्यगतास्वन्यं प्रतिलोमव्यतिरिक्तं आश्रितासु अतीतासु चाहोरात्रमेव न पुनः सत्यपि सापिण्ड्ये दशरात्रम्। प्रतिलोमाश्रितासु चाशौचाभाव एव; 'पाखण्डयनाश्रिताः स्तेना' (प्रा० ६) इत्यनेन प्रतिषेधात्। एतच्च 'भार्या-पुत्रत्व'शब्दयोः संबन्धिशब्दत्वात् यत्प्रातियौगिकं भार्यात्वं पुत्रत्वं च तस्यैवेदमाशौचम्। सपिण्डानां त्वाशौचाभाव एव। अत एव प्रजापतिः—'अन्याश्रितेषु दारेषु परपत्नीसुतेषु च। गोत्रिणः स्नानशुद्धाः स्युस्त्रिरात्रेणैव तत्पिता॥' इति। स्वैरिण्याद्यास्तु यमाश्रितास्तस्य तु त्रिरात्रमेव। यथाह विष्णुः (२२।४३)—अनौरसेषु पुत्रेषु जातेषु च मृतेषु च। परपूर्वासु भार्यासु प्रसूतासु मृतासु च॥' इति त्रिरात्रमत्र प्रकृतम्। अनयोश्च त्रिरात्रैकरात्रयोः संनिधिविदेशस्थापेक्षया व्यवस्था। यदा तु पितुस्त्रिरात्रं तदा सपिण्डानामेकरात्रम्; यथाह मरीचिः—'सूतके मृतके चैव त्रिरात्रं परपूर्वयोः। एकाहस्तु सपिण्डानां त्रिरात्रं यत्र वै पितुः॥' इति। किंच, निवसत्यस्मिन्निति निवासः स्वदेश उच्यते; तस्य यो राजा स्वामी विषयाधिपतिः स यस्मिन्नहनि अतीतस्तदहर्मात्रं शुद्धिकारणम्। रात्रौ चेदतीतस्तदा रात्रिमात्रम्। अत एव मनुः (५।८२)—'प्रेते राजनि सज्योतिर्यस्य स्याद्विषये स्थितः' इति। ज्योतिषा सह वर्तते इति सज्योतिराशौचम्। अह्नि चेद्यावत्सूर्यदर्शनं रात्रौ चेद्यावन्नक्षत्रदर्शनमित्यर्थः॥ २५॥

---

1. तदा।

भाषा—औरस के अतिरिक्त अन्य (क्षेत्रज, दत्तक आदि) पुत्रों के जन्म एवं मृत्यु पर, और दूसरे पुरुष पर आश्रित रहने वाली पत्नियों की तथा स्वदेश के राजा की मृत्यु पर एक दिन-रात आशौच होता है ॥ २५ ॥

अनुगमनाशौचमाह—

ब्राह्मणेनानुगन्तव्यो न शूद्रो न द्विजः क्वचित् ।
अनुगम्याम्भसि स्नात्वा [1]स्पृष्ट्वाऽग्निं घृतभुक्शुचिः ॥ २६ ॥

ब्राह्मणेन असपिण्डेन द्विजो विप्रादिः शूद्रो वा प्रेतो नानुगन्तव्यः । यदि स्नेहादिनानुगच्छति तदाऽम्भसि तडागादिस्थे स्नात्वाग्निं स्पृष्ट्वा घृतं प्राश्य शुचिर्भवेत् । अस्य च घृतप्राशनस्य भोजनकार्यविधाने प्रमाणाभावान्न भोजनप्रतिषेधः । इदं समानोत्कृष्टजातिविषयम् । यथाह मनुः (५।१०३)-'अनुगम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव च । स्नात्वा सचैलः स्पृष्ट्वाग्निं घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥' इति । ज्ञातयो मातृसपिण्डाः । इतरेषां तु विहितत्वान्न दोषः । निकृष्टजात्यनुगमने तु स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् । तत्र शूद्रानुगमने—'प्रेतीभूतं तु यः शूद्रं ब्राह्मणो ज्ञानदुर्बलः । अनुगच्छेन्नीयमानं स त्रिरात्रेण शुद्ध्यति ॥ त्रिरात्रे तु ततस्तीर्णे नदीं गत्वा समुद्रगाम् । प्राणायामशतं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥' इति पराशरोक्तम् । क्षत्रियानुगमने त्वहोरात्रम् ; 'मानुषास्थि स्निग्धं स्पृष्ट्वा त्रिरात्रमाशौचं अस्निग्धे त्वहोरात्रं शवानुगमने चैकम्' इति वसिष्ठोक्तम् । वैश्यानुगमने पुनः पक्षिणी । तथा क्षत्रियस्यानन्तरवैश्यानुगमने अहोरात्रं एकान्तरशूद्रानुगमने पक्षिणी वैश्यस्य शूद्रानुगमने एकाह इत्यूहनीयम् ॥ तथा रोदनेऽपि पारस्करेणोक्तम्—'मृतस्य बान्धवैः सार्धं कृत्वा तु परिदेवनम् । वर्जयेत्तदहोरात्रं दानं श्राद्धादिकर्म च ॥' इति । तथालंकरणमपि न कार्यम् ; 'कृच्छ्रपादोसपिण्डस्य प्रेतालंकरणे कृते । अज्ञानादुपवासः स्यादशक्तौ स्नानमिष्यते ॥' इति शङ्खेन प्रायश्चित्तस्याम्नातत्वात् ॥ २६ ॥

भाषा—ब्राह्मण को भिन्नगोत्र के द्विज या शूद्र वर्ण के मृतक के साथ नहीं जाना चाहिए । यदि (स्नेहवश) जावे तो जल में स्नान करके अग्नि का स्पर्श करके तथा घृत खाकर शुद्ध हो जाता है ॥ २६ ॥

सपिण्डाशौचे क्वचिदपवादमाह—

महीपतीनां नाशौचं हतानां विद्युता तथा ।
गोब्राह्मणार्थे संग्रामे यस्य [2]चेच्छति भूमिपः ॥ २७ ॥

यद्यपि 'मही'शब्देन कृत्स्नं भूगोलकमभिधीयते तथाप्यत्र सकलायाः क्षितेरेकभर्तृकत्वानुपपत्तेः 'महीपतीनां' इति बहुवचनानुरोधाच्च तदेकदेशभूतानि

---

१. वह्निस्पृग्घृत । २. चेच्छन्ति पार्थिवा ।

मण्डलानि लक्ष्यन्ते । तत्पालनाधिकृतानां क्षत्रियादीनामभिषिक्तानां नाशौचम् । तैराशौचं न कार्यमित्यर्थः । तथा विद्युद्धतानां गोब्राह्मणरक्षणार्थं विपन्नानां च संबन्धिनो ये सपिण्डास्तैरप्याशौचं न कार्यम् । यस्य च मन्त्रपुरोहितादेर्भूमिपोऽनन्यसाध्यमन्त्राभिचारादिकर्मसिद्ध्यर्थमाशौचाभावमिच्छति तेनापि न कार्यम् । अत्र च महीपतीनां यदसाधारणत्वेन विहितं प्रजापरिरक्षणं तच्चेन दानमानसत्कारव्यवहारदर्शनादिना विना न संभवति तत्रैवाशौचाभावो न पुनः पञ्चमहायज्ञादिष्वपि । तथा च मनुः (५।९५)—'राज्ञो महात्मिके स्थाने सद्यःशौचं विधीयते । प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चात्र कारणम् ॥' इति । गौतमेनाप्युक्तम् (१४।४५)—'राज्ञां च कार्याविघातार्थम्' इति राजभृत्यादेरप्याशौचं न भवति । तथाह प्रचेताः—'कारवः शिल्पिनो वैद्या[2] दासीदासास्तथैव च । राजानो राजभृत्याश्च सद्यःशौचाः प्रकीर्तिताः ॥' इति । कारवः सूपकारादयः । शिल्पिनश्चित्रकारचैलनिर्णेजकादयः । अयं चाशौचाभावः किंविषय इत्यपेक्षायां कर्मनिमित्तैः शब्दैस्तत्तदसाधारणस्य कर्मणो बुद्धिस्थत्वात्तत्रैव द्रष्टव्यः । अत एव विष्णुः (२२।४८-५१)—'न राज्ञां राजकर्मणि न व्रतिनां व्रते न सत्रिणां सत्रे न कारूणां कारुकर्मणि इति प्रतिनियतविषयमेवाशौचाभावं दर्शयति । शातातपीयेऽप्युक्तम्—'मूल्यकर्मकराः शूद्रा दासीदासास्तथैव च । स्नाने शरीरसंस्कारे गृहकर्मण्यदूषिताः ॥' इति । इयं च दासादिशुद्धिरपरिहरणीयतया प्राप्तस्पर्शविषयेत्यनुसंधेयम् । अत एव स्मृत्यन्तरम्—'सद्यःस्पृश्यो गर्भदासो भक्तदासस्त्र्यहाच्छुचिः ।' तथा—'चिकित्सको यत्कुरुते तदन्येन न शक्यते ॥ तस्माच्चिकित्सकः स्पर्शे शुद्धो भवति नित्यशः ॥' इति ॥ २७ ॥

भाषा—राजाओं का, बिजली गिरने से मरे हुए व्यक्तियों का, गौ और ब्राह्मण की रक्षा के लिए युद्ध में मारे गये पुरुषों का आशौच नहीं होता । जिस व्यक्ति का आशौच राजा न होने देना चाहे उसका भी आशौच नहीं होता ॥ २७ ॥

> ऋत्विजां दीक्षितानां च यज्ञियं कर्म कुर्वताम् ।
> सत्रिव्रतिब्रह्मचारिदातृब्रह्मविदां तथा ॥ २८ ॥
> दाने विवाहे यज्ञे च संग्रामे देशविप्लवे ।
> आपद्यपि हि कष्टायां सद्यः शौचं विधीयते ॥ २९ ॥

किंच, ऋत्विजो[3] वरणसंभृता वैतानोपासनाकर्तृविशेषाः । दीक्षया संस्कृता दीक्षितास्तेषां यज्ञियं यज्ञे भवं च कर्म कुर्वतां 'सद्यः शौचं विधीयत' इति

---

१. रक्षार्थं शासनं । २. भृत्या वैद्या दासास्तथैव । ३. वरणकरणसंगता । वरणाभरणसंभृता ।

सर्वत्रानुषङ्गः; दीक्षितस्य 'वैतानोपासनाः कार्या' (प्रा. १७) इत्यनेन सिद्धेऽप्यधिकारे पुनर्वचनं यजमाने स्वयंकर्तृत्वविधानार्थं सद्यःस्नानेन विशुद्ध्यर्थं च; 'सत्रि' ग्रहणेन संततानुष्ठानतुल्यतयान्नसत्रप्रवृत्ता लक्ष्यन्ते; मुख्यानां तु सत्रिणां 'दीक्षित'ग्रहणेनैव सिद्धेः । 'व्रति'शब्देन कृच्छ्रचान्द्रायणादिप्रवृत्ताः स्नातकव्रतप्रायश्चित्तप्रवृत्ताश्चोच्यन्ते; तथा 'ब्रह्मचारि' ग्रहणेन ब्रह्मचर्यादिव्रतयोगिनः श्राद्धकर्तुर्भोक्तुश्च ग्रहणम् , तथा 'स्मृत्यन्तरम्–'नित्यमन्नप्रदस्यापि कृच्छ्रचान्द्रायणादिषु । निर्वृत्ते कृच्छ्रहोमादौ ब्राह्मणादिषु भोजने ॥ गृहीतनियमस्यापि न स्यादन्यस्य कस्यचित् । निमन्त्रितेषु विप्रेषु प्रारब्धे श्राद्धकर्मणि ॥ निमन्त्रितस्य विप्रस्य स्वाध्यायादिरतस्य च । देहे पितृषु तिष्ठत्सु नाशौचं विद्यते क्वचित् ॥ प्रायश्चित्तप्रवृत्तानां दातृब्रह्मविदां तथा ॥' इति । सत्रिणां व्रतिनां सत्रे व्रते च शुद्धिर्न कर्ममात्रे संव्यवहारे वा । तथा च विष्णुः (२२।४९,५०)—'न व्रतिनां व्रते, न सत्रिणां सत्रे' इति ॥ ब्रह्मचार्युपकुर्वाणको नैष्ठिकश्च । यस्तु नित्यं दातैव, न प्रतिग्रहीता स वैखानसो 'दातृ'शब्देनोच्यते । ब्रह्मविद्यतिः । एतेषां च त्रयाणामाश्रमिणां सर्वत्र शुद्धिः; विशेषे प्रमाणाभावात् । दाने च पूर्वसंकल्पितद्रव्यस्य नाशौचम् ; 'पूर्वसंकल्पितं द्रव्यं दीयमानं न दुष्यति' इति क्रतुस्मरणात् । स्मृत्यन्तरे चात्र विशेष उक्तः—'विवाहोत्सवयज्ञादिष्वन्तरा मृतसूतके । शेषमन्नं परैर्देयं दातॄन्भोक्तॄंश्च न स्पृशेत् ॥' इति । यज्ञे वृषोत्सर्गादौ विवाहे च पूर्वसंभृतसंभारे । तथा च स्मृत्यन्तरम्–'यज्ञे संभृतसंभारे विवाहे श्राद्धकर्मणि' इति । सद्यःशौचमत्र प्रकृतम् । 'विवाह'ग्रहणं पूर्वप्रवृत्तचौलोपनयनादिसंस्कारकर्मोपलक्षणम् । 'यज्ञ'ग्रहणं च पूर्वप्रवृत्तदेवप्रतिष्ठारामाद्युत्सवमात्रोपलक्षणम् ।—'न देवप्रतिष्ठोत्सर्गविवाहेषु न देशविभ्रमे नापद्यपि च कष्टायामाशौचम्' (२२।५३–५५) इति विष्णुस्मरणात् संग्रामे युद्धे ।—'संग्रामे समुपोढे राजानं संनाहयेत्' (गृ. सू. ३।१२।१) इत्याश्वलायनाद्युक्तसंनहनविधौ प्रास्थानिकशान्तिहोमादौ च सद्यःशुद्धिः । देशस्य विस्फोटादिभिरुपसर्गैः, राजभयाद्वा विप्लवे तदुपशमनार्थे शान्तिकर्मणि सद्यःशौचम् । विप्लवाभावेऽपि क्वचिद्देशविशेषेण पैठीनसिना शुद्धिरुक्ता—'विवाहदुर्गयज्ञेषु यात्रायां तीर्थकर्मणि । न तत्र सूतकं तद्वत्कर्म यज्ञादि कारयेत् ॥' इति । तथा कष्टायामप्यापदि व्याध्याद्यभिभवेन मुमूर्षावस्थायां दुरितशमनार्थे दाने । तथा संकुचितवृत्तेश्च क्षुत्परिश्रान्तमातापित्रादिबहुकुटुम्बस्य तद्भरणोपयोगिनि प्रतिग्रहे सद्यःशुद्धिः । इयं च शुद्धिर्यस्य सद्यःशौचं विनाऽऽर्त्युपशमो न भवति अश्वस्तनिकस्य तद्विषया ।

---

१. याजमानेषु । २. स्नानविध्यर्थं । स्नानविशुध्यर्थं । ३. तस्मादन्यस्य । ४. प्रवृत्ते । ५. त्रोपलक्षकम् ।

यस्त्वेकाहपर्याप्तसंचितधनस्तस्यैकाहः, यस्त्र्यहोपयोगिसंचयी तस्य त्र्यहः; यस्तु चतुरहार्थमापादितद्रव्यः कुम्भीधान्यस्तस्य चतुरहः, कुसूलधान्यकस्य दशाह इत्येवं यस्य यावत्कालमार्त्यभावस्तस्य तावत्कालमाशौचम् ; आपदुपाधिकत्वादाशौचसंकोचस्य । अत एव मनुना (४।७)—'कुसूलधान्यको वा स्यात्कुम्भीधान्यक एव वा । त्र्यहैहिको वापि भवेदश्वस्तनिक एव वा ॥' इत्यत्र प्रतिपादितचतुर्विधगृहस्थाभिप्रायेण (५।५९)—'दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते । अर्वाक्संचयनादस्थ्नां त्र्यहमेकाहमेव वा ॥' इति कल्पचतुष्टयं प्रतिपादितम् । समानोदकविषयाश्च संकुचिताशौचकल्पाः पक्षिण्येकाहः सद्यःशौचरूपाः स्मृत्यन्तरे दृष्टाः वृत्तिसंकोचोपाधिकतयैव योज्याः । अयं चाशौचसंकोचो येनैव प्रतिग्रहादिना विनार्तिस्तद्विषयो न सर्वत्रेत्यवगन्तव्यम् ॥ मनुः—एकाहाद् ब्राह्मणः शुद्ध्येद्योऽग्निवेदसमन्वितः । त्र्यहात्केवलवेदस्तु विहीनो दशभिर्दिनैः ॥' इत्यादिस्मृत्यन्तरवचनपर्यालोचनयाध्ययनज्ञानानुष्ठानयोगिनामेकाहादिभिः सर्वात्मना शुद्धिरित्येवं कस्मान्नेष्यते ? उच्यते—'दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते' (मनुः ५।५९) इति सामान्यप्राप्तदशाहबाधपुरःसरमेव हि 'एकाहाद् ब्राह्मणः शुद्ध्येत्'इति विधायकं भवति । बाधकस्य चानुपपत्तिनिबन्धनत्वात् यावत्यबाधितेऽनुपपत्तिप्रशमो न भवति तावद्बाधनीयम् । अतः कियदनेन बाध्यमित्यपेक्षायामपेक्षितविशेषसमर्पणक्षमस्य 'अग्निवेदसमन्वित' इति वाक्यविशेषस्य दर्शनादग्निवेदविषयेऽग्निहोत्रादिकर्मणि स्वाध्याये च व्यवतिष्ठते, न पुनर्दानादावपि । एवं चाग्निवेदपदयोः कार्यान्वयित्वं भवति । इतरथा येनाग्निवेदसाध्यं कर्म कृतं तस्यैकाहाच्छुद्धिरिति पुरुषविशेषोपलक्षणत्वमेव स्यात् । नचैवं युक्तम् ; एवं च सति—'प्रत्यूहेन्नाग्निषु क्रियाः । वैतानोपासनाः कार्याः क्रियाश्च श्रुति[1]चोदनात्' ॥ (प्रा० १७) इति । तथा ब्राह्मणस्य च स्वाध्यायादिनिवृत्त्यर्थं सद्यःशौचमित्येवमादिभिर्मन्वादिवचनैरेकवाक्यता भवति । तथा च—'उभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं न भुज्यते' इति दशाहपर्यन्तं भोजनादिकं प्रतिषेधयद्भिर्यमादिवचनैरविरोधोऽपि सिद्ध्यति, अतः क्व[2]चित्कमेवेदमाशौचसंकोचविधानं, न पुनः सर्वसंव्यवहारादिगोचरमित्यलमतिप्रपञ्चेन ॥

इदं च स्वाध्यायविषये सद्यःशौचविधानं बहुवेदस्य [3]ब्रह्मोज्झत्वकृतायामार्तौ द्रष्टव्यम् । इतरस्य तु—'दानं प्रतिग्रहो होमः स्वाध्यायश्च निवर्तते' इति प्रतिषेध एव । एवं ब्राह्मणादिमध्ये यस्य यावत्कालमाशौचमुक्तं स तस्यानन्तरं स्नात्वा शुद्ध्येत्, न तत्कालातिक्रममात्रात् । यथाह मनुः (५।९९)—'विप्रः शुद्ध्यत्यपः स्पृष्ट्वा क्षत्रियो वाहनायुधम् । वैश्यः प्रतोदं रश्मीन्वा यष्टिं शूद्रः

---

१. श्रुतिचोदिताः । २. क्वचित्कर्मविशेषे इदं । ३. ब्रह्मानध्ययनकृतायां ।

कृतक्रियः ॥' इति । अयमर्थः—'कृतक्रियः' इति प्रत्येकमभिसंबध्यते । विप्रोऽनुभूताशौचकालः कृतक्रियः कृतस्नानो हस्तेनापः स्पृष्ट्वा शुद्ध्यति । स्पृष्ट्वेति स्पर्शनक्रियैवोच्यते, न स्नानमाचमनं वा; वाहनादिषु तस्यैवानुषङ्गात् । अथवा कृतक्रियो यावदाशौचं कृतोदकादिक्रियः तदनन्तरं विप्रादिरुदकादि स्पृष्ट्वा शुद्ध्येत् इत्याशौचकालानन्तरभाविस्नानप्रतिनिषिद्धत्वेनोच्यत इति । क्षत्रियादिर्वाहनादिकं स्पृष्ट्वा शुद्ध्येदिति ॥ २८–२९ ॥

भाषा—ऋत्विज, दीक्षित (जिसने यज्ञ में दीक्षा प्राप्त की हो), यज्ञ का काम करने वाले, यज्ञ करने वाले, व्रती, ब्रह्मचारी तथा दाता की दान, विवाह, यज्ञ, युद्ध देश में व्याप्त उत्पात के उपशमन कर्म में और आपत्ति (रोग-व्याधि) में (अकल्याण नाश के लिये दान देने में) तत्काल शुद्धि होती है ॥ २८–२९ ॥

कुलव्यापिनीं शुद्धिमभिधायेदानीं प्रसङ्गात्प्रतिपुरुषव्यापिनीं शुद्धिमाह—

उदक्याशुचिभिः स्नायात्संस्पृष्टस्तैरुपस्पृशेत् ।
अब्लिङ्गानि जपेच्चैव गायत्रीं मनसा सकृत् ॥ ३० ॥

उदक्या रजस्वला, अशुचयः शवचण्डालपतितसूतिकाद्याः शावाशौचिनश्च एतैः संस्पृष्टः स्नायात् । तैः पुनरुदक्याशुचिसंस्पृष्टादिभिः संस्पृष्ट उपस्पृशेत् आचामेत् । आचम्याब्लिङ्गानि 'आपोहिष्ठा' (ऋ० ७।६।५) इत्येवमादीनि त्रीणि मन्त्रवाक्यानि जपेत् । त्रिष्वेव बहुवचनस्य चरितार्थत्वात् । तथा गायत्रीं च सकृन्मनसा जपेत् । ननु उदक्या संस्पृष्टः स्नायादित्येकवचननिर्दिष्टस्य कथं तैरिति बहुवचनपरामर्शः[3]? सत्यमेवम् , किंत्वत्र उदक्यादिसंस्पृष्टव्यतिरिक्तस्नानार्हमात्रस्पर्शेऽप्याचमनविधानार्थं 'तैः'इति बहुवचननिर्देश इत्यविरोधः । ते च स्नानार्हाः स्मृत्यन्तरेवगन्तव्याः । यथाह पराशरः—'दुःस्वप्ने मैथुने वान्ते विरिक्ते क्षुरकर्मणि । चितियूपश्मशानास्थ्नां स्पर्शने स्नानमाचरेत्' इति । तथा च मनुः (५।१४४)—'वान्तो विरिक्तः स्नात्वा तु घृतप्राशनमाचरेत् । आचामेदेव भुक्त्वान्नं स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ॥' इति । मैथुनिनः स्नानमृतुकालविषयम् ; 'अनृतौ तु यदा गच्छेच्छौचं मूत्रपुरीषवत्' इति बृहस्पतिस्मरणात् । अनृतावपि कालविशेषे स्मृत्यन्तरे स्नानमुक्तम्—'अष्टम्यां च चतुर्दश्यां दिवा पर्वणि मैथुनम् । कृत्वा सचैलं स्नात्वा च वारुणीभिश्च मार्जयेत् ॥' इति । तथा च यमः—अजीर्णेऽभ्युदिते वान्ते तथाप्यस्तमिते रवौ । दुःस्वप्ने दुर्जनस्पर्शे स्नानमात्रं विधीयते ॥' इति । तथा च बृहस्पतिः—'मैथुने कटधूमे च

---

१. शुद्ध्यतीति । इत्या । २. उदक्याशौचिभिः । ३. बहुवचनादरः ।
४. पूयश्मशाना ।

सद्यःस्नानं विधीयते' इत्येतदसचैलस्पर्शविषयम् । सचैलेन तु चित्यादिस्पर्शे सचैलमेव स्नानम् । यथाह च्यवनः—'श्वानं श्वपाकं प्रेतधूमं देवद्रव्योपजीविनम् । ग्रामयाजिनं सोमविक्रयिणं यूपं चितिं चितिकाष्ठं च मद्यं मद्यभाण्डं सस्नेहं मानुषास्थि शवस्पृष्टं[1] रजस्वलां महापातकिनं शवं स्पृष्ट्वा सचैलमम्भोऽवगाह्योत्तीर्याग्निमुपस्पृश्य गायत्र्यष्टशतं[2] जपेत् । घृतं प्राश्य पुनः स्नात्वा त्रिराचामेत्' इति । एतच्च बुद्धिपूर्वविषयम् । अन्यत्र स्नानमात्रम् । 'शवस्पृष्टं[3] दिवाकीर्तिं चितिं यूपं[4] रजस्वलाम् । स्पृष्ट्वा त्वकामतो विप्रः स्नानं कृत्वा विशुद्ध्यति ॥' इति बृहस्पतिस्मरणात् । एवमन्यत्रापि वक्ष्यमाणेषु विषयसमीकरणमूहनीयम् ॥ यथाह कश्यपः—'उदयास्तमययोः स्कन्दयित्वा अक्षिस्पन्दने कर्णाक्रोशने चित्यारोहणे यूपसंस्पर्शने च सचैलं स्नात्वा पुनर्माम इति जपेन्महाव्याहृतिभिः सहाज्याहुतीर्जुहुयात्' इति । तथा च स्मृत्यन्तरे—'स्पृष्ट्वा देवलकं चैव सवासा जलमाविशेत् । देवार्चनपरो विप्रो वित्तार्थी वत्सरत्रयम् ॥ असौ देवलको नाम हव्यकव्येषु गर्हितः' ॥ तथा ब्रह्माण्डपुराणे—'शैवान्पाशुपतान्स्पृष्ट्वा लोकायतिकनास्तिकान् । विकर्मस्थान्द्विजाञ्शूद्रान्सवासा जलमाविशेत् ॥' इति । तथा—'अस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा स्याच्छूद्रसंपर्कदूषिता' इति लिङ्गाच्च शूद्रस्पर्शने निषेधः ॥ तथाङ्गिराः—'यस्तु छायां श्वपाकस्य ब्राह्मणो ह्यधिरोहति । तत्र स्नानं प्रकुर्वीत घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥' तथा व्याघ्रपादः—'चण्डालं पतितं चैव दूरतः परिवर्जयेत् । गोवालव्यजनादर्वाक्सवासा जलमाविशेत् ॥' इति । एतदतिसंकटस्थलविषयम् । अन्यत्र तु बृहस्पतिनोक्तम्—'युगं च द्वियुगं चैव त्रियुगं च चतुर्युगम् । चाण्डालसूतिकोदक्यापतितानामधः क्रमात् ॥' इति । तथा पैठीनसिः—'काकोलूकस्पर्शने सचैलस्नानम्, अनुदकमूत्रपुरीषकरणे सचैलस्नानं महाव्याहृतिहोमश्च । अनुदकमूत्रपुरीषकरणे इत्येतच्चिरकालमूत्रपुरीषाशौचाकरणपरम् ।' तथाङ्गिराः—'भासवायसमार्जारखरोष्ट्रं च श्वशूकरान् । अमेध्यानि च संस्पृश्य सचैलो जलमाविशेत् ॥' इति । मार्जारस्पर्शनिमित्तं स्नानमुच्छिष्टसमयेऽनुष्ठानसमये च वेदितव्यं समाचारात् । अन्यदा तु—'मार्जारश्चैव दर्वी च मारुतश्च सदा शुचिः' इति स्नानाभावः । श्वस्पर्शे तु स्नानं नाभेरूर्ध्वं वेदितव्यम् । अधस्तात्तु क्षालनमेव; 'नाभेरूर्ध्वं करौ मुक्त्वा शुना यद्युपहन्यते । तत्र स्नानमधस्ताच्चेत्प्रक्षाल्याचम्य शुद्ध्यति ॥' इति तेनैवोक्तत्वात् ॥ तथा पक्षिस्पर्शे विशेषो जातूकर्ण्येनोक्तः—'ऊर्ध्वं नाभेः करौ मुक्त्वा यदङ्गं संस्पृशेत्खगः । स्नानं तत्र प्रकुर्वीत शेषं प्रक्षाल्य शुद्ध्यति ॥' इति ।

---

१. शवस्पृशं । २. गायत्रीमष्टवारं जपेत् । ३. शवस्पृशं । ४. पूयं ।

अमेध्यस्पर्शेऽपि विष्णुना विशेषो दर्शितः (२२।७७–८०) 'नाभेरधस्तात्प्रबाहुषु च कायिकैर्मलैः सुराभिर्मद्यैर्वोपहतो मृत्तोयैस्तदङ्गं प्रक्षाल्याचान्तः शुद्धयेत् । अन्यत्रोपहतो मृत्तोयैस्तदङ्गं प्रक्षाल्य स्नायात् । तैरिन्द्रियेषूपहतस्तूपोष्य स्नात्वा पञ्चगव्येन दशनच्छदोपहतश्च' इति । एतच्च परकीयामेध्यस्पर्शविषयम् । आत्मीयमलस्पर्शे तु ऊर्ध्वमपि नाभेः क्षालनमेव । यथाह देवलः—'मानुषास्थि वसां विष्ठामार्तवं मूत्ररेतसी । मज्जानं शोणितं वापि परस्य यदि संस्पृशेत् ॥ स्नात्वा प्रमृज्य लेपादीनाचम्य स शुचिर्भवेत् । तान्येव स्वानि संस्पृश्य पूतः स्यात्परिमार्जनात् ॥' इति । तथा च शङ्खः—'रथ्याकर्दमतोयेन ष्ठीवनाद्येन वा तथा । नाभेरूर्ध्वं नरः स्पृष्टः सद्यःस्नानेन शुद्धयति ॥' इति । यमेनाप्यत्र विशेष उक्तः—'सकर्दमं तु वर्षासु प्रविश्य ग्रामसंकरम् । जङ्घयोर्मृत्तिकास्तिस्रः पादयोर्द्विगुणास्ततः ॥' इति ग्रामसंकरं ग्रामसलिलप्रवाहप्रदेशं सकर्दमं प्रविश्येत्यर्थः । मारुतशोषिते तु कर्दमादौ न दोषः । 'रथ्याकर्दमतोयानि स्पृष्टान्यन्त्यश्ववायसैः । मारुतेनैव शुद्धयन्ति पक्वेष्टकचितानि च ॥' (आ० १९७) इति प्रागुक्तत्वात् । अस्थनि मनुना विशेष उक्तः (५।८७)—'नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुद्धयति । आचम्यैव तु निःस्नेहं गां स्पृष्ट्वा वीक्ष्य वा रविम् ॥' इति । इदं द्वैजातास्थिविषयम् । अन्यत्र वसिष्ठोक्तम्—'मानुषास्थि स्निग्धे स्पृष्ट्वा त्रिरात्रमाशौचम् अस्निग्धे त्वहोरात्रम् ।' इति । अमानुषे तु विष्णूक्तम् (२२।७०)—'भक्ष्यवर्ज्यं पञ्चनखशवं तदस्थि च सस्नेहं स्पृष्ट्वा स्नातः पूर्ववस्त्रं प्रक्षालितं बिभृयात्' इति ॥ एवमन्येऽपि स्नानार्हाः स्मृत्यन्तरतोऽवबोद्धव्याः ॥ एवं स्नानार्हाणां बहुत्वात्तदभिप्रायं तैरिति बहुवचनमविरुद्धम् । 'उदक्याशुचिभिः स्नायात्' इत्येतच्च दण्डाद्यचेतनव्यवधानस्पर्शे वेदितव्यम् । चेतनव्यवधाने तु मानवम् (मनुः ५।८५)—'दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा । शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्धयति ॥' इति । तृतीयस्य त्वाचमनमेव । 'तत्स्पृष्टिनं स्पृशेद्यस्तु स्नानं तस्य विधीयते । ऊर्ध्वमाचमनं प्रोक्तं द्रव्याणां प्रोक्षणं तथा ॥' इति संवर्तस्मरणात् । एतच्चाबुद्धिपूर्वकविषयम् मतिपूर्वे तु तृतीयस्यापि स्नानमेव । यथाह गौतमः (१४।३०)—'पतितचण्डालसूतिकोदक्याशवस्पृष्टितत्स्पृष्टयुपस्पर्शने सचैलमुदकोपस्पर्शनाच्छुद्धयेत्' । इति । चतुर्थस्य त्वाचमनम् ; 'उपस्पृश्याशुचिस्पृष्टं तृतीयं वापि मानवः । हस्तौ पादौ च तोयेन प्रक्षाल्याचम्य शुद्धयति ॥' इति देवलस्मरणात् । अशुचीनां[3] पुनरुदक्यादिस्पर्शे देवलेन विशेष उक्तः—'श्वपाकं पतितं व्यङ्गमुन्मत्तं शवहारकम् । सूतिकां साविकां नारीं

---

१. स्वाण्डालाद्यचेतन । २. तमेव तु स्पृशेत् । ३. अशुचिनां पुनः । ४. शवदाहकं ।

रजसा च परिप्लुताम् ॥ श्वकुक्कुटवराहांश्च ग्राम्यान्संस्पृश्य मानवः । सचैलः सशिराः स्नात्वा तदानीमेव शुद्ध्यति ॥' इति । 'अशुद्धान्स्वयमप्येतानशुद्धस्तु यदि स्पृशेत्। विशुद्ध्यत्युपवासेन तथा कृच्छ्रेण वा पुनः ॥' इति । साविका प्रसवस्य कारयित्री । कृच्छ्रः श्वपाकादिविषयः श्वादिषु तूपवास इति व्यवस्था ॥३०॥

भाषा—रजस्वला स्त्री और अशुचि व्यक्ति (शव, चण्डाल, पतित, सूतिका, मृत्यु के कारण आशौची) द्वारा छू जाने पर स्नान करे; इन रजस्वला स्त्री आदि द्वारा स्पृष्ट व्यक्ति से छू जाने पर आचमन करे और 'आपो हिष्ठा' आदि तीन मन्त्रवाक्यों का जाप करके एक बार गायत्री का जप करे ॥३०॥

अधुना कालशुद्धौ दृष्टान्तत्वेन द्रव्यशुद्धिप्रकरणोक्तांस्तथैवात्र प्रकरणे वक्ष्यमाणांश्च शुद्धिहेतूननुक्रामति—

कालोऽग्निः कर्म मृद्वायुर्मनो ज्ञानं तपो जलम् ।
पश्चात्तापो निराहारः सर्वेऽमी शुद्धिहेतवः ॥ ३१ ॥

यथाऽग्न्यादयोऽमी सर्वे स्वविषये शुद्धिहेतवस्तथा कालोऽपि दशरात्रादिकः। शास्त्रगम्यत्वाच्छुद्धिहेतुत्वस्य । अग्निस्तावच्छुद्धिहेतुः । यथाभ्यधायि (आ० १८७) 'पुनःपाकान्महीमयम्' इति । कर्म च शुद्धिनिमित्तं, यथा वक्ष्यति (प्रा० २४४) 'अश्वमेधावभृथस्नानात्' इति । तथा मृदपि शुद्धिकारणं, यथा कथितम् (आ० १८९)—'सलिलं भस्म मृद्वापि प्रक्षेप्तव्यं विशुद्धये' इति । वायुरपि शुद्धिहेतुः, यथोदीरितं (आ० १९७) 'मारुतेनैव शुद्ध्यन्ति' इति । मनोऽपि वाचः शुद्धिसाधनं, यथाम्नायि 'मनसा वा इषिता वाग्वदति' इत्यादि । ज्ञानं चाध्यात्मिकं बुद्धिशुद्धौ निदानं, यथाभिधास्यति (प्रा० ३४) 'क्षेत्रज्ञस्येश्वरज्ञानात्' इति । तपश्च कृच्छ्रादि, यथा वदिष्यति (प्रा० २६०) 'प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रं समो वा गुरुतल्पगः' इत्यादि । तथा जलमपि शरीरादेः, यथा जल्पिष्यति (प्रा० ३३) 'वर्ष्मणो जलम्' इति । पश्चात्तापोऽपि शुद्धिजनकः, यथा गदितं 'ख्यापनेनानुतापेन' इति । निराहारोऽपि शुद्ध्युपादानं, यथा व्याहरिष्यति (प्रा० ३०१) 'त्रिरात्रोपोषितो जप्त्वा' इत्यादि ॥ ३१ ॥

भाषा—काल, अग्नि, कर्म, मिट्टी, वायु, मन, ज्ञान, तपस्या, जल, पश्चाताप और उपवास—ये सभी शुद्धि के कारण होते हैं ॥ ३१ ॥

अकार्यकारिणां दानं वेगो नद्याश्च शुद्धिकृत् ।
शोध्यस्य मृच्च तोयं च संन्यासो[3] वै द्विजन्मनाम् ॥ ३२ ॥
तपो वेदविदां क्षान्तिर्विदुषां वर्ष्मणो जलम् ।
जपः प्रच्छन्नपापानां मनसः सत्यमुच्यते ॥ ३३ ॥

---

१. जले इत्यादि । २. नद्यास्तु । ३. सोऽथ ।

भूतात्मनस्तपोविद्ये बुद्धेर्ज्ञानं विशोधनम्।
क्षेत्रज्ञस्येश्वरज्ञानाद्विशुद्धिः परमा मता ॥ ३४ ॥

किंच, अकार्यकारिणां निषिद्धसेविनां दानमेव मुख्यं शुद्धिकारणं, यथा व्याख्यास्यति 'पात्रे धनं वा पर्याप्तं दत्त्वा' इति। नद्याः निदाघादावल्पतोयाया अमेध्योपहततीरायाः कूलकषवर्षाम्बुप्रवाहवेगः शुद्धिकृत्। 'शोधनीयस्य द्रव्यस्य मृच्च तोयं च शुद्धिकृत्', यथेह भणितम् (आ० १९१)—'अमेध्याक्तस्य मृत्तोयैः शुद्धिर्गन्धापकर्षणात्' इति। संन्यासः प्रव्रज्या द्विजन्मनां मानसापचारे शुद्धिकृत्। तपो वेदाभ्यासो वेदविदां शुद्धिकारणम्। कृच्छ्रादि तु सर्वसाधारणं न वेदविदामेव। क्षान्तिरुपशमो विदुषां वेदार्थविदाम्। वर्ष्मणः शरीरस्य जलम्। प्रच्छन्नपापानामविख्यातदोषाणां अघमर्षणादिसूक्तजपः शुद्धिकारणं शुद्धिसाधनम्। मनः सदसत्संकल्पात्मकं तस्यासत्संकल्पत्वादशुद्धस्य सत्यं साधुसंकल्पः शोधकम्[1]। 'भूत'शब्देन तद्विकारभूतो देहेन्द्रियसंघो[2] लक्ष्यते। तत्र 'स्थूलोऽहं कृशोऽहं काणोऽहं बधिरोऽहम्' इत्येवं तदभिमानित्वेन योऽयमात्मा वर्तते स भूतात्मा, तस्य तपोविद्ये शुद्धिनिमित्ते। 'तपः'शब्देनानेकजन्मस्वेकस्मिन्नपि वा जन्मनि जागरस्वप्नसुषुप्त्यवस्था[3]स्वात्मनो योऽयमन्वयः, शरीरादेश्च व्यतिरेकः सोऽभिधीयते। यथा (तै० उ० ३।२।१) 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' इति पञ्चकोशव्यतिरेकप्रतिपादनपरे वाक्ये। 'विद्या'शब्देन चौपनिषदं 'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्' (बृ० उ० ३।८।८) 'असङ्गो हि' (बृ० उ० २।५।१४) 'अयमात्मा' (बृ० उ० ३।८।८) इत्यादि त्वंपदार्थनिरूपणविषया वाक्यजन्यं ज्ञानमुच्यते। एताभ्यामस्य शुद्धिः। शरीरादिव्यतिरेकबुद्धेः संशयविपर्ययरूपत्वेनाशुद्धायाः प्रमाणरूपं ज्ञानं विशोधनम्। क्षेत्रस्य तपोविद्याविशुद्धस्य त्वंपदार्थभूतस्य [4]'तत्त्वमसि' (छा० उ० ६।८।७) इत्यादिवाक्यजन्यात्साक्षात्काररूपादीश्वरज्ञानात् [5]परमा विशुद्धिर्मुक्तिलक्षणा। यथैताः शुद्धयः परमपुरुषार्थास्तद्वद्युक्ततरा कालशुद्धिरपीत्येवं प्रशंसार्थं भूतात्मादिविशुद्ध्यभिधानम् ॥ ३२-३४ ॥

भाषा—निषिद्ध कार्य करने वालों की शुद्धि का कारण दान होता है, नदियों की शुद्धि करने वाला उनका प्रवाह वेग होता है; अशुद्ध वस्तु की मिट्टी और जल से, द्विजातियों की संन्यास से, वेद जानने वालों की तप (वेदाभ्यास) से, विद्वानों की क्षमा से, शरीर की जल से, गुप्त पापों

---

१. शोधनम्। २. न्द्रियसंबन्धो। ३. जाग्रत्स्वप्न। ४. तत्त्वमसीत्यादि। ५.परमात्मशुद्धिः।

की शुद्धि जप से होती है और मन की शुद्धि का कारण सत्य बताया गया है। भूतात्मा की शुद्धि का कारण तप और विद्या है तथा बुद्धि को शुद्ध करने वाला ज्ञान है। क्षेत्रज्ञ (अर्थात् तप और विद्या द्वारा विशुद्ध) की शुद्धि ईश्वर के ज्ञान से बताई गई है ॥ ३२-३४ ॥

इत्याशौचप्रकरणम् ।

अथापद्धर्मप्रकरणम् २

'आपद्यपि च कष्टायां सद्यःशौचं विधीयते' (प्रा० १९) इत्यापदि मुख्याशौचकल्पानुष्ठानासंभवेन सद्यःशौचाद्यनुकल्पमुक्त्वेदानीं तत्प्रसङ्गादापदि 'प्रतिग्रहोऽधिको विप्रे याजनाध्यापने तथा' (आ० ११८) इत्याद्युक्तयाजनादिमुख्यवृत्त्यसंभवेन वृत्त्यन्तरमाह—

क्षात्रेण कर्मणा जीवेद्विशां वाप्यापदि द्विजः
निस्तीर्य तामथात्मानं पावयित्वा न्यसेत्पथि ॥ ३५ ॥

द्विजो विप्रो बहुकुटुम्बतया स्ववृत्त्या जीवितुमसमर्थः क्षत्रसंबन्धिना कर्मणा शस्त्रग्रहणादिना आपदि जीवेत् । तेनापि जीवितुमशक्नुवन् वैश्यसंबन्धिना कर्मणा वाणिज्यादिना जीवेत्, न तु शूद्रवृत्त्या। तथा च मनुः (१०।८२)—'उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत्। कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद्वैश्यस्य जीविकाम् ॥' इति । तथा आपद्यपि न हीनवर्णेन ब्राह्मी वृत्तिराश्रयणीया किंतु ब्राह्मणेन क्षात्री, क्षत्रियेण वैश्यसंबन्धिनी, वैश्येन च शौद्री, इत्येवं स्वानन्तरहीनवर्णवृत्तिरेव । 'अजीवन्तः स्वधर्मेणानन्तरां पापीयसीं वृत्तिमातिष्ठेरन्नतु कदाचिज्ज्यायसीम्' इति वसिष्ठस्मरणात् । ज्यायसी च ब्राह्मी वृत्तिः । तथा च स्मृत्यन्तरम्—'उत्कृष्टं वाऽपकृष्टं वा तयोः कर्म न विद्यते । मध्यमे कर्मणी हित्वा सर्वसाधारणे हि ते ॥' इति । शूद्रस्योत्कृष्टं ब्राह्मं कर्म न विद्यते । यथा ब्राह्मणस्यापकृष्टं शौद्रं कर्म । मध्यमे क्षत्रवैश्यकर्मणी पुनरापद्गतसर्ववर्णसाधारणे[1] इति । शूद्रश्चापद्गतो वैश्यवृत्त्या शिल्पैर्वा जीवेत्। 'शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा तया जीवन्वणिग्भवेत् । शिल्पैर्वा विविधैर्जीवेद् द्विजातिहितमाचरन् ॥'(आ० १२९) इति प्रागुक्तत्वात् ॥ मनुना चात्र विशेषो दर्शितः (१०।१००)—'यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः । तानि कारुककर्माणि शिल्पानि विविधानि च ॥' इति । अनेनैव न्यायेनानुलोमोत्पन्नानामपि स्वानन्तरा वृत्तिरूहनीया । एवं स्वानन्तरहीनवर्णवृत्त्या आपदं निस्तीर्य प्रायश्चित्ताचरणेनात्मानं पावयित्वा पथि न्यसेत् । स्ववृत्तावात्मानं स्थापयेदित्यर्थः । यद्वाऽयमर्थः—गर्हित-

---

१. साधारणे हि ते इति ।

वृत्त्यार्जितं धनं पथि न्यसेदुत्सृजेदिति । तथा च मनुः (१०।१११)—'जपहोमैरपैत्येनो याजनाध्यापनैः कृतम् । प्रतिग्रहनिमित्तं तु त्यागेन तपसैव तु ॥' इति ॥ ३५ ॥

भाषा—आपत्काल में (अपने वर्ण की वृत्ति द्वारा जीविका चलाने में असमर्थ होने पर) ब्राह्मण क्षत्रिय के कर्म द्वारा अथवा वैश्य के कर्म द्वारा जीवननिर्वाह करे आपत्काल पार कर लेने पर (प्रायश्चित्त द्वारा) अपने को पवित्र करके पुनः अपने वर्ण की वृत्ति अपनावे ॥ ३५ ॥

वैश्यवृत्त्यापि जीवतो ब्राह्मणस्य यदपणनीयं तदाह—

फलोपलक्षौमसोममनुष्यापूपवीरुधः ।
तिलौदनरसक्षारान्दधि क्षीरं घृतं जलम् ॥ ३६ ॥
शस्त्रासवमधूच्छिष्टं मधु लाक्षा च बर्हिषः ।
मृच्चर्मपुष्पकुतपकेशतक्रविषक्षितिः ॥ ३७ ॥
कौशेयनीललवणमांसैकशफसीसकान् ।
शाकार्द्रौषधिपिण्याकपशुगन्धांस्तथैव च ॥ ३८ ॥
वैश्यवृत्त्यापि जीवन्नो विक्रीणीत कदाचन ।

'नो विक्रीणीत' इति प्रत्येकमभिसंबद्ध्यते । फलानि कदलीफलादीनि बदरेङ्गुदव्यतिरिक्तानि; यथाह नारदः—'स्वयंशीर्णानि पर्णानि फलानां बदरेङ्गुदे । रज्जुः कार्पासिकं सूत्रं तच्चेदविकृतं भवेत् ॥' इति । उपलं मणिमाणिक्याद्यश्ममात्रम् । क्षौममतसीसूत्रमयं वस्त्रम्, 'क्षौम'ग्रहणं तान्तवादेरुपलक्षणम् । यथाह मनुः (१०।८७)—'सर्वं च तान्तवं रक्तं शाणक्षौमाविकानि च । अपि चेत्स्युररक्तानि फलमूले तथौषधीः ॥' इति, सोमो लताविशेषः, 'मनुष्य'पदेनाविशेषात्स्त्रीपुंनपुंसकानां ग्रहणम्, अपूपं मण्डकादि भक्ष्यमात्रम्, वीरुधो वेत्रामृतादिलताः, तिलाः प्रसिद्धाः, 'ओदन'ग्रहणं भोज्यमात्रोपलक्षणम्; रसा गुडेक्षुरसशर्करादयः; तथा च मनुः (१०।८८)—'क्षीरं क्षौद्रं दधि घृतं तैलं मधु गुडं कुशान्' इति । क्षारा यवक्षारादयः । 'दधिक्षीरयो'र्ग्रहणं मस्तुपिण्डकिलाटकूर्चिकादीनां तद्विकाराणामुपलक्षणम् । 'क्षीरं सविकारम्' (७।११) इति गौतमस्मरणात् । 'घृत'ग्रहणं तैलादिस्नेहमात्रोपलक्षणम्, जलं प्रसिद्धम्, शस्त्रं खड्गादि, 'आसव'ग्रहणं मद्यमात्रोपलक्षणम्, मधूच्छिष्टं सिक्थकम्, मधु क्षौद्रम्, लाक्षा जतु, बर्हिषः कुशाः, मृत् प्रसिद्धा, चर्माजिनम्, पुष्पं प्रसिद्धम्, अजलोमकृतः कम्बलः कुतपः, केशाश्चमर्यादि-

१. रसक्षारदधि क्षीरघृतं जलम् । २. मधूच्छिष्टमधुलाक्षाः सबर्हिषः । ३. कुतुपकेश । ४. नीली । ५. उपलं माणिक्यादि । ६. अजीर्णलोमकृतः ।

संबद्धाः, तक्रमुदश्वित्, विषं शृङ्ग्यादि, क्षितिर्भूमिः, 'नित्यं भूमिव्रीहियवाः जाव्यश्वर्षभधेन्वनडुहश्चैके' इति सुमन्तुस्मरणात्। कौशेयं कोशप्रभवं वसनम्, नीलं नीलीरसम्, 'लवण'ग्रहणेनैव बिडसौवर्चलसैन्धवसामुद्रसोमककृत्रिमाण्य-विशेषेण गृह्यन्ते। मांसं प्रसिद्धम्, एकशफा हयादयः, 'सीस'ग्रहणं लोहमात्रोपलक्षणम्, शाकं सर्वम्; अविशेषात्, ओषधयः फलपाकान्ताः, 'आर्द्रौषधय' इति विशेषोपादानाच्छुष्केषु न दोषः, पिण्याकः प्रसिद्धः, पशव आरण्याः, 'आरण्यांश्च पशून्सर्वान्दंष्ट्रिणश्च वयांसि च' (१०।८९)—इति मनु-स्मरणात्। गन्धाश्चन्दनागुरुप्रभृतयः, सर्वानेतान्वैश्यवृत्त्या जीवन्ब्राह्मणः। कदाचिदपि न विक्रीणीत; क्षत्रियादेस्तु न दोषः। अत एव नारदेन 'वैश्यवृत्तावविक्रेयं ब्राह्मणस्य पयो दधि' इति ब्राह्मणग्रहणं कृतम् ॥ ३६-३८ ॥

भाषा—फल, उपल (मणि, माणिक्य आदि), अतसी के सूत से निर्मित वस्त्र, सोमलता, मनुष्य, पुआ, बेंत आदि लता, तिल, ओदन (भोज्य पदार्थ, रस (घृत, तेल आदि), क्षार, दही, दूध, घी, जल, शस्त्र, आसव, जूठा मद्य, मधु, लाख, कुश, मिट्टी, चमड़ा, पुष्प, कुतप (बकरे के रोएँ से निर्मित कम्बल), केश (चँवर आदि) तक्र (मट्ठा) विष, भूमि, कौशेयवस्त्र, नील, नमक, मांस, एक खुर वाले पशु (जैसे घोड़ा), सीसा (और लोहा), शाक, आर्द्र औषधि, पिण्याक, जंगली पशु और गन्ध—इन सब वस्तुओं को वैश्य की वृत्ति द्वारा जीवन निर्वाह करते रहने पर भी कभी न बेंचे ॥ ३६-३८ ॥

प्रतिप्रसवमाह—

धर्मार्थं विक्रयं नेयास्तिला धान्येन तत्समाः ॥ ३९ ॥

यद्यावश्यकाः पाकयज्ञादिधर्माः स्वसाधनव्रीह्यादिधान्याभावेन न निष्पद्य-न्ते तर्हि धान्येन तिला विक्रयं नयाः। तत्समाः द्रोणपरिमिता द्रोणपरिमिते-नेत्येवं तेन धान्येन समाः। तथा च मनुः (१०।९०)—'काममुत्पाद्य कृष्यां[2]स्तु स्वयमेव कृषीवलः। विक्रीणीत तिलाञ्शद्धान्धर्मार्थमचिरस्थितान् ॥' इति। 'धर्म'ग्रहणमावश्यकभेषजाद्युपलक्षणम्। अत एव नारदः—'अशक्तौ भेषजस्यार्थे यज्ञहेतोस्तथैव च। यद्यवश्यं तु विक्रेयास्तिला धान्येन तत्समाः ॥' इति यद्य-न्यथा विक्रीणीते तर्हि दोषः। (१०।९१)—'भोजनाभ्यञ्जनाद्दानाद्यदन्यत्कुरुते तिलैः। कृमिर्भूत्वा श्वविष्ठायां पितृभिः सह मज्जति ॥' इति मनुस्मरणात्। सजातीयैः पुनर्विनिमयो भवत्येव। 'रसा रसैर्निमातव्या नत्वेव[3] लवणं रसैः। कृतान्नं च कृतान्नेन तिला धान्येन तत्समाः ॥' (मनुः १०।९४)—इति। कृतान्नं सिद्धान्नम्, तच्च कृतान्नेन परिवर्तनीयम्[4]। 'कृतान्नं चाकृतान्नेन'

---

१. गौतमस्मरणात्। २. कृष्यां तु। ३. नत्वेवं लवणं। ४. नीयमिति यावत्।

इति पाठे तु सिद्धमन्नमकृतान्नेन तण्डुलादिना परिवर्तनीयमिति ॥ ३९ ॥

भाषा—किन्तु धर्मार्थ (औषधादिकार्यार्थ) तिल के बराबर धान्य लेकर तिल बेचना उचित है ॥ ३९ ॥

पूर्वोक्तनिषिद्धातिक्रमे दोषमाह—

लाक्षालवणमांसानि पतनीयानि विक्रये ।
पयो दधि च मद्यं च हीनवर्णकराणि तु ॥ ४० ॥

लाक्षालवणमांसानि विक्रीयमाणानि सद्यःपतनीयानि द्विजातिकर्महानिकराणि । पयःप्रभृतीनि तु हीनवर्णकराणि शूद्रतुल्यत्वापादकानि । एतद्व्यतिरिक्तापण्यविक्रये वैश्यतुल्यता । यथाह मनुः (१०।९२-९३)—'सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च । त्र्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात् ॥ इतरेषामपण्यानां विक्रयादिह कामतः । ब्राह्मणः सप्तरात्रेण वैश्यभावं च गच्छति ॥' इति ॥ ४० ॥

भाषा—लाक्षा (लाख), नमक और मांस बेचने पर पतित हो जाता है और दूध, दही तथा सुरा बेचने पर वह निम्नवर्ण का हो जाता है (अर्थात् शूद्र के समान बन जाता है) ॥ ४० ॥

आपद्गतः संप्रगृह्णन्भुञ्जानो वा यतस्ततः ।
न लिप्येतैनसा विप्रो ज्वलनार्कसमो हि सः ॥ ४१ ॥

किंच, यस्स्वधनोऽवसन्नकुटुम्बतया आपद्गतोऽपि क्षत्रवृत्तिं वैश्यवृत्तिं वा न प्रविविक्षति स यतस्ततो हीनहीनतरहीनतमेभ्यः प्रतिगृह्णंस्तदन्नं भुञ्जानोऽपि वा एनसा पापेन न लिप्यते । यतस्तस्यामापदवस्थायामसत्प्रतिग्रहादावधिकारित्वेन ज्वलनार्कसमः, यथा ज्वलनोऽर्कश्च हीनसंकरेऽपि न दुष्यति 'तथाऽयमापद्गतोऽपि न दुष्यतीत्येतावता तत्साम्यम् । एवं च वदता आपद्गतस्य परधर्माश्रयणाद् द्विगुणमपि स्वधर्मानुष्ठानमेव मुख्यमिति दर्शितं भवति । तथा च मनुः (१०।९७)—'वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः । परधर्माश्रयाद्विप्रः सद्यः पतति जातितः ॥' इति ॥ ४१ ॥

भाषा—आपत्काल में जिस किसी का दान एवं अन्न ग्रहण करने वाले ब्राह्मण को पाप नहीं लगता, क्यों कि वह अग्नि और सूर्य के समान होता है ॥ ४१ ॥

कृषिः शिल्पं भृतिर्विद्या कुसीदं शकटं गिरिः ।
सेवानूपं नृपो भैक्ष्यमापत्तौ जीवनानि तु ॥ ४२ ॥

१. निगच्छति । २. भुञ्जानोऽपि यत । ३. हीनतरस्ततो । ४. वा नैवैनसा । ५. सेवाऽनूपो । ६. भैक्ष्यमापत्तौ ।

किंच, 'आपत्तौ जीवनानि' इति विशेषणात्कृष्यादीनां मध्ये अनापद्व-स्थायां यस्य या वृत्तिः प्रतिषिद्धा तस्य सा वृत्तिरनेनाभ्यनुज्ञायते। तथाऽऽपदि वैश्यवृत्तिः स्वयं कृता कृषिर्विप्रक्षत्रिययोरभ्यनुज्ञायते एवं शिल्पादीन्यप्यस्या-भ्यनुज्ञायन्ते। शिल्पं सूपकरणादि, भृतिः प्रेष्यत्वम्, विद्या भृतकाध्याप-कत्वाद्या, कुसीदं वृद्ध्यर्थं द्रव्यप्रयोगः, तत् स्वयंकृतमभ्यनुज्ञायते, शकटं भाट-केन धान्यादिवहनद्वारेण जीवनहेतुः, गिरिस्तद्गततृणेन्धनद्वारेण जीवनम्, सेवा परचित्तानुवर्तनम्, अनूपं प्रचुरतृणवृक्षजलप्रायः प्रदेशः, तथा नृपो नृपयाचनम्, भैक्षं स्नातकस्यापि, एतान्यापत्तौ जीवनानि। तथा च मनुः (१०।११६)—'विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्षा विपणिः कृषिः। गिरिर्भैक्षं कुसीदं च दश जीवनहेतवः॥' इति॥ ४२॥

भाषा—कृषि, शिल्प (कारीगरी), भृति (मजदूरी), वेतन लेकर विद्याध्यापन, ब्याज के लिये धनप्रयोग, भाड़े पर गाड़ी चलाना, पर्वत (उस पर प्राप्त होने वाले तृण एवं ईंधन), सेवा, अनूप (प्रचुर तृण, वृक्ष और जल से व्याप्त प्रदेश), राजा (राजा से याचना) तथा भिक्षावृत्ति—ये आपत्तिकाल में जीवन के साधन होते हैं॥ ४२॥

यदा कृष्यादीनामपि जीवनहेतूनामसंभवस्तदा कथं जीवनमित्यत आह—

बुभुक्षितस्त्र्यहं स्थित्वा धान्यमब्राह्मणाद्धरेत्।
प्रतिगृह्य तदाख्येयमभियुक्तेन धर्मतः॥ ४३॥

धान्याभावेन त्रिरात्रं बुभुक्षितोऽनश्नन् स्थित्वा अब्राह्मणाच्छूद्रात्तद-भावे वैश्यात् तदभावे क्षत्रियाद्वा हीनकर्मण एकाहपर्याप्तं धान्यं हरेत्। यथाह मनुः (११।१७)—'तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि षडनश्नता। अश्वस्तन-विधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः॥' इति। तथा च प्रतिग्रहोत्तरकालं यदपहृतं तद्धर्मतो यथावृत्तमाख्येयम्। यदि नैरिक्तकेन स्वामिना त्वयेदं किं नामापहृ-तमित्यभियुज्यते। यथाह मनुः (११।१७)—'खलात्क्षेत्रादगाराद्वा यतो वाप्युप-लभ्यते। आख्यातव्यं तु तत्तस्मै पृच्छते यदि पृच्छति॥' इति॥ ४३॥

भाषा—तीन दिन भूखा रहकर अब्राह्मण (शूद्र या शूद्र के अभाव में वैश्य और उसके अभाव में क्षत्रिय) के घर से अन्न चुरावे। पकड़े जाने पर जो कुछ चुराया हो उसे धर्मपूर्वक बता देना चाहिए॥ ४३॥

इदमपरमापत्प्रसङ्गाद्राज्ञो विधीयते—

तस्य वृत्तं कुलं शीलं श्रुतमध्ययनं तपः।
ज्ञात्वा राजा कुटुम्बं च धर्म्यां वृत्तिं प्रकल्पयेत्॥ ४४॥

---

१. न्यप्यनुज्ञायन्ते। २. रूपकरणादि। ३. तथाऽऽप्ये। ४. धान्य-माहरेत्। ५. नाष्टिकेन। ६. ममापहृतमिति।

योऽर्शनायापरीतोऽवसीदेति तस्य वृत्तमाचारं, कुलमाभिजात्यं, शीलमात्मगुणं, श्रुतं शास्त्रश्रवणं, अध्ययनं वेदाध्ययनं, तपः कृच्छ्रादि च परीक्ष्य राजा धर्मादनपेतां वृत्तिं प्रकल्पयेत्, अन्यथा तस्य दोषः; तथा च मनुः (७।१३४)—'यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा। तस्य सीदति तद्राष्ट्रं दुर्भिक्षव्याधिपीडितम्॥' इति ॥ ४४ ॥

भाषा—उसके आचार, कुल, शील, शास्त्रज्ञान, वेदाध्ययन, तप और कुटुम्ब का ज्ञान प्राप्त करके राजा उसके लिए धर्मसम्मत वृत्ति निर्धारित करे ॥ ४४ ॥

इत्यापद्धर्मप्रकरणम्।

अथ वानप्रस्थधर्मप्रकरणम् ३

चतुर्णामाश्रमिणां मध्ये ब्रह्मचारिगृहस्थयोर्धर्माः प्रतिपादिताः। सांप्रतमवसरप्राप्तान्वानप्रस्थधर्मान्प्रतिपादयितुमाह—

सुतविन्यस्तपत्नीकस्तया वाऽनुगतो वनम्।
वानप्रस्थो ब्रह्मचारी साग्निः सोपासनो व्रजेत् ॥ ४५ ॥

वने प्रकर्षेण नियमेन च तिष्ठति चरतीति वनप्रस्थः, वनप्रस्थ एव वानप्रस्थः। संज्ञायां दैर्घ्यम्। भाविनीं वृत्तिमाश्रित्य वनं प्रतिष्ठासुरिति यावत्। असौ सुतविन्यस्तपत्नीकः 'त्वयेयं वरणीया' इत्येवं सुते विन्यस्ता निक्षिप्ता पत्नी येन स तथोक्तः। यदि सा पतिपरिचर्याभिलाषेण स्वयमपि वनं जिगमिषति तदा तयाऽनुगतो वा सहितः। तथा ब्रह्मचारी ऊर्ध्वरेताः साग्निर्वैतानाग्निसंहितः तथा सोपासनो गृह्याग्निसहितश्च वनं व्रजेत्। 'सुतविन्यस्तपत्नीक' इति वदता कृतगार्हस्थ्यो वनवासेऽधिक्रियत इति दर्शितम्। एतच्चाश्रमसमुच्चयपक्षमङ्गीकृत्योक्तम्। इतरथा 'अविप्लुतब्रह्मचर्यो यमिच्छेत्तु तमावसेत्' इत्यकृतगार्हस्थ्योऽपि वनवासेऽधिक्रियत एव। अयं च वनप्रवेशो जराजर्जरकलेवरस्य जातपौत्रस्य वा। यथाऽह मनुः (६।२)—'गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः। अपत्यस्यैव वाऽपत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्॥' इति। अयं च पुत्रेषु पत्नीनिक्षेपो विद्यमानभार्यस्य। मृतभार्यस्याप्यापस्तम्बादिभिः वनवासस्मरणात्। अतो यत् (आ० ८९) 'दाहयित्वाग्निहोत्रेण' इति पुनराधानविधानं,—तदपरिपक्वकषायविषयम्। 'साग्निः सोपासन' इत्यत्रापि यदार्धाधानं कृतं तदा श्रौताग्निभिर्गृह्येण च सहितो वनं व्रजेत्। सर्वाधाने तु

१. योऽशनया। २. राज्ञो दोषः। ३. वानप्रस्थो वनवासे।

श्रौतैरेव केवलम्। यदि कथंचिज्ज्येष्ठभ्रातुरनाहिताग्नित्वादिना श्रौताग्नयोऽनाहितास्तर्हि केवलं सोपासनो व्रजेदित्येवं विवेचनीयम्। अग्निनयनं च तन्निर्वर्त्याग्निहोत्रादिकर्मसिद्ध्यर्थम्। अत एव मनुः (६।९)—'वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि। दर्शमस्कन्दयन्पर्व पौर्णमासं च शक्तितः॥' इति॥ ननु च पुत्रनिक्षिप्तपत्नीकस्य तद्विरहिणः कथमग्निहोत्रादिकर्मानुष्ठानं घटते? पत्न्या सह यष्टव्यम्'इति सहाधिकारनियमात्, सत्यमेवं; किंत्वत्र पत्नीनिक्षेपविधिबलादेव तन्नैरपेक्ष्येणाधिकारः कल्प्यते। यथा हि रजस्वलायां 'यस्य व्रत्येऽहनि पत्न्यनालम्भुका स्यात्तामपरुद्ध्य यजेते'त्यपरोधविधिबलात्तन्निरपेक्षता। यद्वा वनं प्रतिष्ठमानमेव पतिं पत्न्यनुमन्यत इति न विरोधः। नच यथा ब्रह्मचारिणो विधुरस्य वा वनं प्रस्थितस्याग्निहोत्रादिपरिलोपस्तथा निक्षिप्तपत्नीकस्याप्यग्निहोत्राद्यभाव इति शङ्कनीयम्; अपाक्षिकत्वेन श्रवणात्। नच ब्रह्मचारिविधुरयोरप्यग्निसाध्यकर्मस्वनधिकारः। पञ्चममासादूर्ध्वमाहितश्रावणिकाग्नेस्तदधिकारदर्शनात्, 'वानप्रस्थो जटिलश्चीराजिनवासा न फालकृष्टमधितिष्ठेत्; अकृष्टं मूलफलं संचिन्वीत ऊर्ध्वरेताः क्षमाशयो दद्यादेव न प्रतिगृह्णीयादूर्ध्वं पञ्चभ्यो मासेभ्यः श्रावणिकेनाग्नीनाधायाहिताग्निर्वृक्षमूलको दद्याद् देवपितृमनुष्येभ्यः स गच्छेत्स्वर्गमानन्त्यम्' इति वसिष्ठस्मरणात्। चीरं वस्त्रखण्डो, वल्कलं वा। न फालकृष्टमधितिष्ठेत्कृष्टक्षेत्रस्योपरि न निवसेत्। श्रावणिकेन वैदिकेन मार्गेण न लौकिकेनेत्यर्थः॥ ४५॥

भाषा—अपती पत्नी को पुत्रों के संरक्षण में छोड़कर अथवा उसे साथ लेकर, (वैतानिक) अग्नि और उपासना (गृह्याग्नि) सहित वन में जाकर ब्रह्मचर्य धारण करते हुए वानप्रस्थ होवे॥ ४५॥

'साग्निः सोपासनो व्रजेत्' (प्रा० ४५) इत्येतदग्निसाध्यश्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठानार्थमित्युक्तं, तत्र गुणविधिमाह—

अफालकृष्टेनाग्नींश्च पितॄन्देवातिथीनपि।
भृत्यांश्च तर्पयेत् श्मश्रुजटालोमभृदात्मवान्॥ ४६॥

'फाल'ग्रहणं कर्षणसाधनोपलक्षणम्। अकृष्टक्षेत्रोद्भवेन नीवारवेणुश्यामाकादिना अग्नींस्तर्पयेदग्निसाध्यानि कर्माण्यनुतिष्ठेत्। 'च'शब्दाद्भिक्षादानमपि तेनैव कुर्यात्। तथा पितॄन्देवानतिथीन् 'अपि'शब्दाद् भूतान्यपि तेनैव तर्पयेत्। तथा भृत्यान् 'च'शब्दादाश्रमप्राप्तानपि। तथा च मनुः (६।७)—'यद्भक्ष्यं स्यात्ततो दद्याद्बलिं भिक्षां च शक्तितः। अम्मूलफलभिक्षाभिरर्चयेदाश्रमागतान्॥'

---

१. दर्शमास्कन्दयत्। २. तन्निरपेक्षेणाधिकारः। ३. व्रात्येऽहनि। ४. लम्भिका। ५. अवरुध्य यजेतेत्यवरोध। ६. नाग्निमाधाय।

इति। एवं पञ्चमहायज्ञान्कृत्वा स्वयमपि तच्छेषमेव भुञ्जीत। (६।१२)—'देवताभ्यश्च तद्धुत्वा वन्यं मेध्यतरं हविः। शेषमात्मनि युञ्जीत लवणं च स्वयंकृतम्॥' इति मनुस्मरणात्। स्वयं कृतमूषरलवणम्। एवं भोजनार्थे यागार्थे च मुन्यन्ननियमाद् ग्राम्याहारपरित्यागोऽर्थसिद्धः। अत एव मनुः (६।३)—'संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम्' इति। ननु च दर्शपूर्णमासादेर्व्रीह्यादिग्राम्यद्रव्यसाध्यत्वात्कथं तत्परित्यागः? नच वचनीयम् 'अफालकृष्टेनाग्नींश्च' (वसि० ९।३) इति विशेषवचनसामर्थ्याद् व्रीह्यादिबाध इति। विशेषविषयिण्यापि स्मृत्या श्रुतिबाधस्यान्याय्यत्वात्, अफालकृष्टविधेश्च स्मार्ताग्निसाध्यकर्मविषयत्वेनाप्युपपत्तेः। सत्यमेवम्, किंत्वत्र व्रीह्यादेरप्यफालकृष्टत्वसंभवान्न विरोधः। अत एवोक्तं मनुना (६।११)—'वासन्तशारदैर्मेध्यैर्मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः। पुरोडाशांश्चरूंश्चैव विधिवन्निर्वपेत्पृथक्॥' इति॥ नीवारादीनां मुन्यन्नानां स्वयमुत्पन्नानां स्वतो मेध्यत्वे सिद्धेऽपि पुनः 'मेध्य'ग्रहणं यज्ञार्हव्रीह्यादिप्राप्त्यर्थं कृतम्। मेधो यज्ञस्तदर्हं मेध्यमिति। तथा श्मश्रूणि मुखजानि रोमाणि जटारूपांश्च शिरोरुहान्कक्षादीनि च रोमाणि बिभृयात्। 'रोम'ग्रहणं नखानामप्युपलक्षणम्। तथा च मनुः (६।६)—'जटाश्च बिभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखांस्तथा' इति। तथात्मवानात्मोपासनाभिरतः स्यात्॥ ४६॥

भाषा—बिना जुती हुई भूमि पर स्वयं उत्पन्न (नीवार, वेणु, श्यामाक आदि) अन्न से अग्नियों, पितरों, देवों, अतिथियों एवं सेवकों को तृप्त करे (पञ्च महायज्ञ करे), दाढ़ी–मूँछ, जटा और शरीर के रोम बढ़ाये रखे तथा आत्मवान् (उपासना में रत) रहे॥ ४६॥

पूर्वोक्तद्रव्यसंचयनियममाह—

अह्नो मासस्य षण्णां वा तथा संवत्सरस्य वा।
[2]अर्थस्य संचयं कुर्यात्कृतमाश्वयुजे त्यजेत्॥ ४७॥

एकस्याह्नः संबन्धि भोजनयजनादिदृष्टादृष्टकर्मणः पर्याप्तस्यार्थस्य संचयं कुर्यात्। मासस्य वा षण्णां मासानां वा संवत्सरस्य वा संबन्धि कर्मपर्याप्तं संचयं कुर्यात्; नाधिकम्। यद्येवं क्रियमाणमपि कथंचिदतिरिच्यते तर्हि तदतिरिक्तमाश्वयुजे मासि त्यजेत्॥ ४७॥

भाषा—एक दिन, एक मास, छः मास या वर्षभर के लिये धन का संचय करे और जो कुछ शेष बच जाय उसका आश्विन महीने में त्याग कर डाले॥ ४७॥

---

१. अफालकृष्ट। २. अर्थाय।

दान्तस्त्रिषवणस्नायी निवृत्तश्च प्रतिग्रहात् ।
स्वाध्यायवान्दानशीलः सर्वसत्त्वहिते रतः ॥ ४८ ॥

किंच, दान्तो दर्परहितः, त्रिषु सवनेषु प्रातर्मध्यंदिनापराह्णेषु स्नानशीलः । तथा प्रतिग्रहे पराङ्मुखः । 'च'शब्दाद्याजनादिनिवृत्तश्च । स्वाध्यायवान् वेदाभ्यासरतः । तथा फलमूलभिक्षादिदानशीलः सर्वप्राणिहिताचरणनिरतश्च भवेत् ॥ ४८ ॥

भाषा—दान्त (दर्परहित) हो, तीनों सवनों में (प्रातः, मध्याह्न, अपराह्न) स्नान करे; दान न लेवे, स्वाध्याय (वेदाभ्यास) में लगा रहे; दान करे और सभी प्राणियों के हित में रत रहे ॥ ४८ ॥

दन्तोलूखलिकः कालपक्वाशी वाश्मकुट्टकः ।
[1]श्रौत्रं स्मार्तं फलस्नेहैः कर्म [2]कुर्यात्तथा क्रियाः ॥ ४९ ॥

किंच, दन्ता एवोलूखलं निस्तुषीकरणसाधनं दन्तोलूखलं, तद्यस्यास्ति स दन्तोलूखलिकः । कालेनैव पक्वं कालपक्वं नीवारवेणुश्यामाकादि बदरेङ्गुदादि फलं च तदशनशीलः कालपक्वाशी । 'वा'शब्दः 'अग्निपक्वाशनो वा स्यात्कालपक्वभुगेव वा' (मनुः ६।१७) इति मनूक्ताग्निपक्वाशित्वाभिप्रायः । अश्मकुट्टको वा भवेत् । अश्मना कुट्टनमवहननं यस्य स तथोक्तः । तथा श्रौत्रं स्मार्तं च कर्म दृष्टार्थाश्च भोजनाभ्यञ्जनादिक्रियाः लकुचमधूकादिमेध्यतरुफलोद्भवैः स्नेहद्रव्यैः कुर्यात्, न तु घृतादिकैः । तथा च मनुः (६।१३)—'मेध्यवृक्षोद्भवानद्यात्स्नेहांश्च फलसंभवान्' इति ॥ ४९ ॥

भाषा—दाँतों से ही छीलकर खावे, समय से अपने आप पके हुए फल आदि का भोजन करे; अथवा पत्थर पर कूट कर खावे । श्रौत एवं स्मार्त कर्म तथा भोजन, अभ्यञ्जन आदि क्रिया फलों से निकले हुए चिकने तेल से करे (घृत से नहीं) ॥ ४९ ॥

पुरुषार्थतया विहितद्विर्भोजननिवृत्त्यर्थमाह—

चान्द्रायणैर्नयेत्कालं कृच्छ्रैर्वा वर्तयेत्सदा[3] ।
पक्षे गते वाप्यश्नीयान्मासे वाऽहनि वा गते[4] ॥ ५० ॥

चान्द्रायणैर्वक्ष्यमाणलक्षणैः कालं नयेत् । कृच्छ्रैर्वा प्राजापत्यादिभिः कालं वर्तयेत् । यद्वा,-पक्षे पञ्चदशदिनात्मकेऽतीतेऽश्नीयात् । मासे वाऽहनि गते वा नक्तमश्नीयात् । 'अपि'शब्दाच्चतुर्थकालिकत्वादिनापि । यथाह मनुः (६।१९)

१. श्रौतस्मार्तं । २. कुर्यात्क्रियास्तथा । ३. सदा कृच्छ्रैश्च वर्तयेत् । ४. वातेऽन्नमश्नी ।

'नक्तं वाऽन्नं समश्नीयाद्दिवा वाहृत्य शक्तितः । चतुर्थकालिको वा स्यात्स्याद्वाप्यष्टमकालिकः ॥' इति । एतेषां च कालनियमानां स्वशक्त्यपेक्षया विकल्पः ॥५०॥

भाषा—चान्द्रायण व्रत से समय बितावे अथवा सदैव कृच्छ्र व्रत करे । एक पक्ष या एक मास बीतने पर भोजन करे अथवा दिन बीतने पर (रात को) भोजन करे ॥ ५० ॥

स्वप्याद्भूमौ शुची रात्रौ दिवा संप्रपदैर्नयेत् ।
स्थानासनविहारैर्वा योगाभ्यासेन वा तथा ॥ ५१ ॥

किंच, आहारविहारावसरवर्ज्यं रात्रौ शुचिः प्रयतः स्वप्यात् नोपविशेन्नापि तिष्ठेत् । दिवास्वप्नस्य पुरुषमात्रार्थतया प्रतिषिद्धत्वान्न तन्निवृत्तिपरम् । तथाभूमावेव स्वप्यात् । तच्च भूमावेव, न शय्यान्तरितायां मञ्चकादौ वा । दिनं तु संप्रपदैरटनैर्नयेत् । स्थानासनरूपैर्वा विहारैः संचारैः कंचित्कालं स्थानं कंचिच्चोपवेशनमित्येवं वा दिनं नयेत् । योगाभ्यासेन वा । तथा च मनुः (६।२९) 'विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः' इति । आत्मनः संसिद्धये ब्रह्मत्वप्राप्तये । 'तथा'शब्दात्क्षितिपरिलोडनाद्वा नयेत् । 'भूमौ विपरिवर्तेत तिष्ठेद्वा प्रपदैर्दिनम्' (६।२२)—इति मनुस्मरणात् । प्रपदैः पादाग्रैः ॥ ५१ ॥

भाषा—रात्रि को पवित्र होकर (नंगी) भूमि पर सोवे और दिन घूमकर बितावे, अथवा स्थान (खड़े होने) और आसन (बैठने) के विहार से या योगाभ्यास करते हुए दिन बितावे ॥ ५१ ॥

ग्रीष्मे पञ्चाग्निमध्यस्थो वर्षासु स्थण्डिलेशयः ।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते शक्त्या वापि तपश्चरेत् ॥ ५२ ॥

किंच, 'ऋतुः संवत्सरो ग्रीष्मो वर्षा हेमन्तः' इति दर्शनात् ग्रीष्मे चैत्रादिमासचतुष्टये चतसृषु दिक्षु चत्वारोऽग्नयः उपरिष्टादादित्य इत्येवं पञ्चानामग्नीनां मध्ये तिष्ठेत् । तथा वर्षासु श्रावणादिमासचतुष्टये स्थण्डिलेशयः वर्षाधाराविनिवारणविरहिणि भूतले निवसेत् । हेमन्ते मार्गशीर्षादिमासचतुष्टये क्लिन्नं वासो वसीत । एवंविधतपश्चरणे असमर्थः स्वशक्त्यनुरूपं वा तपश्चरेत् । यथा शरीरशोषस्तथा यतेत—'तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद्देहमात्मनः' (६।२४) इति मनुस्मरणात् ॥ ५२ ॥

भाषा—ग्रीष्म ऋतु में पंचाग्नि के बीच बैठे; वर्षा ऋतु में भींगी हुई भूमि पर सोवे; हेमन्त ऋतु में गीले वस्त्र पहन कर रहे अथवा अपनी शक्ति के अनुसार तपस्या करे ॥ ५२ ॥

यः कण्टकैर्वितुदति चन्दनैर्यश्च लिम्पति ।
अक्रुद्धोऽपरितुष्टश्च समस्तस्य च तस्य च ॥ ५३ ॥

१. शुचिर्भूमौ स्वपेद्रात्रौ दिवसं प्र । २. चन्दनैर्यो विलि ।

किंच, यः कश्चित्कण्टकादिभिर्विविधमङ्गानि तुदति व्यथयति तस्मै न क्रुध्येत्। यश्चन्दनादिभिरुपलिम्पति सुखयति तस्य न परितुष्येत्। किंतु तयोरुभयोरपि समः स्यादुदासीनो भवेत्॥ ५३॥

भाषा—जो काटा चुभाता हो और जो चन्दन का लेप करता हो उन पर क्रमशः न क्रुद्ध होवे और न प्रसन्न होवे। इन दोनों पर ही समान दृष्टिकोण रखे (अर्थात् उदासीन होकर रहे)॥ ५३॥

अग्निपरिचर्याक्रमं प्रत्याह—

अग्नीन्वाप्यात्मसात्कृत्वा वृक्षावासो मिताशनः।
वानप्रस्थगृहेष्वेव यात्रार्थं भैक्षमाचरेत्॥ ५४॥

अग्नीनात्मनि समारोप्य वृक्षावासो वृक्ष एव आवासः कुटी यस्य स तथोक्तः। मिताशनः स्वल्पाहारः। 'अपि'शब्दात्फलमूलाशनश्च भवेत्। यथाह मनुः (६।२५)—अग्नीनात्मनि वैतानान्समारोप्य यथाविधि। अनग्निरनिकेतः स्यान्मुनिर्मूलफलाशनः॥' इति। मुनिर्मौनव्रतयुक्तः। फलमूलासंभवे च यावत्प्राणधारणं भवति तावन्मात्रं भैक्षं वानप्रस्थगृहेष्वाचरेत्॥ ५४॥

भाषा—अग्नियों का अपनी आत्मा में ही समारोप करके, वृक्ष को ही आवास बनाकर (अर्थात् वृक्ष के नीचे ही निवास करते हुए) अल्पाहारी होकर और जीवन यात्रा भर के लिये ही अन्न वानप्रस्थों के घर से मांगे॥ ५४॥

यदा तु तदसंभवो व्याध्यभिभवो वा तदा किं कार्यमित्यत आह—

ग्रामादाहृत्य वा ग्रासानष्टौ भुञ्जीत वाग्यतः।

ग्रामाद्वा भैक्षमाहृत्य वाग्यतो मौनी भूत्वा अष्टौ ग्रासान्भुञ्जीत। ग्राम्यभैक्षविधानान्मुन्यन्ननियमोऽर्थलुप्तः। यदा पुनरष्टभिर्ग्रासैः प्राणधारणं न संभवति तदा 'अष्टौ ग्रासा मुनेर्भैक्ष्यं वानप्रस्थस्य षोडश'ेति स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम्॥—

भाषा—अथवा गांव से अन्न लाकर मौन होकर केवल आठ ग्रास (कौर) खावे।

सकलानुष्ठानासमर्थं प्रत्याह—

वायुभक्षः प्रागुदीचीं गच्छेद्वाऽऽवर्ष्मसंक्षयात्॥ ५५॥

अथवा,-वायुरेव भक्षो यस्यासौ वायुभक्षः प्रागुदीचीमैशानीं दिशं गच्छेत्। आ वर्ष्मसंक्षयात् वर्ष्म वपुस्तस्य निपातपर्यन्तमकुटिलगतिर्गच्छेत्। यथाह मनुः (६।३१)—'अपराजितां वास्थाय गच्छेद्दिशमजिह्मगः' इति। महाप्रस्थानेऽप्यशक्तो भृगुपतनादिकं वा कुर्यात्; 'वानप्रस्थो वीराध्वान[1]

1. वीराधानं।

ज्वलनाम्बुप्रवेशनं भृगुपतनं वानुतिष्ठेत्' इति स्मरणात्। स्नानाचमनादिधर्मा ब्रह्मचारिप्रकरणाभिहिताश्चाविरोधिनोऽस्यापि भवन्ति; 'उत्तरेषां चैतदविरोधि' इति गौतमस्मरणात्। एवं प्रागुदितैन्दवाविदीचामहाप्रस्थानपर्यन्तं तनुत्यागान्तमनुतिष्ठन्ब्रह्मलोके पूज्यतां प्राप्नोति। यथाह मनुः (६।३२)—'आसां महर्षिचर्याणां त्यक्त्वान्यतमया तनुम्। वीतशोकभयो विप्रो ब्रह्मलोके महीयते॥' इति। ब्रह्मलोकः स्थानविशेषो नतु नित्यं ब्रह्म। तत्र 'लोक'शब्दस्याप्रयोगात्। तुरीयाश्रममन्तरेण मुक्त्यनङ्गीकाराच्च। नच 'योगाभ्यासेन वा पुनः' (प्रा० ५३) इति ब्रह्मोपासनविध्यनुपपत्त्या तद्भावापत्तिः परिशङ्कनीया। सालोक्यादिप्राप्त्यर्थत्वेनापि तदुपपत्तेः। अत एव श्रुतौ 'त्रयो धर्मस्कन्धा' इत्युपक्रम्य 'यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः, तप एवेति द्वितीयः, ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी तृतीयः। अत्यन्तमाचार्यकुल एवमात्मानमवसादयन्निति गार्हस्थ्यवानप्रस्थनैष्ठिकत्वस्वरूपमभिधाय सर्व एते पुण्यलोका भवन्तीति त्रयाणामाश्रमिणां पुण्यलोकप्राप्तिमभिधाय ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इति पारिशेष्यात्परिव्राजकस्यैव ब्रह्मसंस्थस्य मुक्तिलक्षणामृतत्वप्राप्तिरभिहिता। यदपि 'श्राद्धकृत्सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते' इति गृहस्थस्यापि मोक्षप्रतिपादनं तद्भवान्तरानुभूतपारिव्रज्यस्येत्यवगन्तव्यम् ॥५५॥

भाषा—अथवा वायु का भक्षण करते हुए (उपवास करते हुए) ईशान दिशा की ओर तब तक चलता जाये जब तक शरीर पात नहीं हो जाता ॥ ५५ ॥

इति वानप्रस्थधर्मप्रकरणम्।

अथ यतिधर्मप्रकरणम् ४

वैखानसकर्माननुक्रम्य क्रमप्राप्तान्परिव्राजकधर्मान्सांप्रतं प्रस्तौति[1]—

वनाद् गृहाद्वा कृत्वेष्टिं सार्ववेदसदक्षिणाम्[2]।
प्राजापत्यां तदन्ते तानग्नीनारोप्य चात्मनि ॥ ५६ ॥
अधीतवेदो जपकृत्पुत्रवानन्नदोऽग्निमान्।
शक्त्या च यज्ञकृन्मोक्षे मनः कुर्यात्तु नान्यथा ॥ ५७ ॥

यावता कालेन तीव्रतपःशोषितवपुषो विषयकषायपरिपाको भवति पुनश्च मदोद्भवाशङ्का नोद्भाव्यते तावत्कालं वनवासं कृत्वा तत्समनन्तरं मोक्षे मनः कुर्यात्। 'वन-गृह-शब्दाभ्यां तत्संबन्ध्याश्रमो लक्ष्यते। 'मोक्ष'शब्देन च मोक्षैकफलकश्चतुर्थाश्रमः॥ अथवा, गृहाद् गार्हस्थ्यादनन्तरं मोक्षे मनः कुर्यात्। अनेन च पूर्वोक्तश्चतुराश्रमसमुच्चयपक्षः पाक्षिक इति द्योतयति। तथा

1. वानप्रस्थधर्मान्। 2. सर्वं।

च विकल्पो जाबालश्रुतौ श्रूयते—'ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा' इति। तथा 'गार्हस्थ्योत्तराश्रमबाधश्च गौतमेन दर्शितः (३।३६)—'ऐकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद्गार्हस्थ्यस्य' इति। एतेषां च समुच्चयविकल्पबाधपक्षाणां सर्वेषां श्रुतिमूलत्वादिच्छया विकल्पः। अतो यत्कैश्चित्पण्डितंमन्यैरुक्तम्—'स्मार्तत्वान्नैष्ठिकत्वादीनां गार्हस्थ्येन श्रौतेन बाधः गार्हस्थ्यानधिकृतान्धक्लीबादिविषयता वा' इति तत्स्वाध्यायाध्ययनवैधुर्यनिबन्धनमित्युपेक्षणीयम्। किंच,—यथा विष्णुक्रमणाज्यावेक्षणाद्यक्षमतया पङ्ग्वादीनां श्रौतेष्वनधिकारस्तथा स्मार्तेष्वप्युदकुम्भाहरणभिक्षाचर्यादिष्वक्षमत्वात्कथं पङ्ग्वादिविषयतया नैष्ठिकत्वाद्याश्रमनिर्वाहः अस्मिंश्चाश्रमे ब्राह्मणस्यैवाधिकारः। मनुः (६।२५)—'आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्।' तथा (६।९७)—'एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः' इत्युपक्रमोपसंहाराभ्यां मनुना ब्राह्मणस्याधिकारप्रतिपादनात्। 'ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति' इति श्रुतेश्चाग्रजन्मन एवाधिकारः, न द्विजातिमात्रस्य। अन्ये तु त्रैवर्णिकानां प्रकृतत्वात् 'त्रयाणां वर्णानां वेदमधीत्य चत्वार आश्रमाः' इति सूत्रकारवचनाच्च द्विजातिमात्रस्याधिकारमाहुः॥ यदा च वनाद् गृहाद्वा प्रव्रजति तदा सार्ववेदसदक्षिणां सार्ववेदसी सर्ववेदसंबन्धिनी दक्षिणा यस्याः सा तथोक्ता तां प्रजापतिदेवताकामिष्टिं कृत्वा तदन्ते तान्वैतानानग्नीनात्मनि श्रुत्युक्तविधानेन समारोप्य 'च' शब्दात् 'उदगयने पौर्णमास्यां पुरश्चरणमादौ कृत्वा शुद्धेन कायेनाष्टौ श्राद्धानि निर्वपेत् द्वादश वा' इति बौधायनाद्युक्तं पुरश्चरणादिकं च कृत्वा तथाऽधीतवेदो जपपरायणो जातपुत्रो दीनान्धकृपणार्पितार्थो यथाशक्त्यान्नदश्च भूत्वाऽनाहिताग्निर्ज्येष्ठत्वादिना प्रतिबन्धाभावे कृताधानो नित्यनैमित्तिकान्यज्ञान्कृत्वा मोक्षे मनः कुर्यात्—चतुर्थाश्रमं प्रविशेन्नान्यथा। अनेनानपाकृतर्णत्रयस्य गृहस्थस्य प्रव्रज्यायामधिकारं दर्शयति॥ यथाह मनुः (६।३५)—'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्। अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः॥' इति॥ यदा तु ब्रह्मचर्यात्प्रव्रजति तदा न प्रजोत्पादनादिनियमः; अकृतदारपरिग्रहस्य तत्रानधिकारात् रागप्रयुक्तत्वाच्च विवाहस्य। नच ऋणत्रयापाकरणविधिरेव दारानाक्षिपतीति शङ्कनीयम्; विद्याधनार्जननियमवदन्यप्रयुक्तदारसंभवे तस्यानाक्षेपकत्वात्। ननु 'जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवाञ्जायते ब्रह्मचर्येणर्षिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः' इति जातमात्रस्यैव प्रजोत्पादनादीन्यावश्यकानीति दर्शयति। मैवम्; नहि जातमात्रः अकृतदाराग्निपरिग्रहो

---

१. गृहस्थोत्तराश्रम।

यज्ञादिष्वधिक्रियते तस्मादधिकारी जायमानो ब्राह्मणादिर्यज्ञादीननुतिष्ठेदिति तस्यार्थः। अतश्चोपनीतस्य वेदाध्ययनमेवावश्यकम्। कृतदाराग्निपरिग्रहस्य प्रजोत्पादनमपीति निरवद्यम् ॥ ५६-५७ ॥

भाषा—वानप्रस्थ अथवा गृहस्थाश्रम के उपरान्त सम्पूर्ण वेद से संबद्ध दक्षिणा वाली प्रजापति देवता की इष्टि करके और उसके अन्त में उन्हीं अग्नियों का अपने आत्मा में समारोप करके, वेदों का अध्ययन करके, जप परायण होकर, पुत्रवान् होने पर, (दीन दुःखियों को) यथाशक्ति अन्न देकर, अग्नि में होम और शक्ति के अनुसार यज्ञ करके मोक्षप्राप्ति की (संकल्पपूर्वक) इच्छा करे; अन्यथा (ऐसा न होने पर) मोक्ष की इच्छा न करे ॥ ५६-५७ ॥

एवमधिकारिणं निरूप्य तद्धर्मानाह—

सर्वभूतहितः शान्तस्त्रिदण्डी सकमण्डलुः।
एकारामः परिव्रज्य भिक्षार्थी ग्राममाश्रयेत् ॥ ५८ ॥

सर्वभूतेभ्यः प्रियाप्रियकारिभ्यो हित उदासीनो, न पुनर्हिताचरणः। 'हिंसानुग्रहयोरनारम्भी' (३।२४,२५) इति गौतमस्मरणात्। [1]शान्तो बाह्यान्तःकरणोपरतः, त्रयो दण्डा अस्य सन्तीति त्रिदण्डी। ते च दण्डा वैणवा ग्राह्याः। 'प्राजापत्येष्ट्यनन्तरं त्रीन्वैणवान्दण्डान्मूर्धप्रमाणान्दक्षिणेन पाणिना धारयेत्सव्येन सोदकं कमण्डलुम्' इति स्मृत्यन्तरदर्शनात्। एकं वा दण्डं धारयेत् 'एकदण्डी त्रिदण्डी वा' (३।१०।४०) इति बौधायनस्मरणात्। 'चतुर्थमाश्रमं गच्छेद् ब्रह्मविद्यापरायणः। एकदण्डी त्रिदण्डी वा सर्वसंगविवर्जितः ॥' इति चतुर्विंशतिमते दर्शनाच्च। तथा शिखाधारणमपि वैकल्पिकम्। 'मुण्डः शिखी वा' (३।२२) इति गौतमस्मरणात्। 'मुण्डोऽममोऽक्रोधोऽपरिग्रहः'[2] (१०।६) इति वसिष्ठस्मरणात्। तथा यज्ञोपवीतधारणमपि वैकल्पिकमेव। 'सशिखान्केशान्निकृन्त्य विसृज्य यज्ञोपवीतम्' इति काठकश्रुतिदर्शनात्—'कुटुम्बं पुत्रदारांश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः। केशान्यज्ञोपवीतं च त्यक्त्वा गूढश्चरेन्मुनिः ॥' इति बाष्कलस्मरणाच्च। 'अथ यज्ञोपवीतमप्सु जुहोति भूःस्वाहेति अथ दण्डमादत्ते सखे मां गोपाय' इति परिशिष्टदर्शनाच्च। यद्यशक्तिस्तदा कन्थापि ग्राह्या। 'काषायी मुण्डस्त्रिदण्डी सकमण्डलुपवित्रपादुकासनकन्थामात्रः' इति देवलस्मरणात्। शौचाद्यर्थं कमण्डलुसहितश्च भवेत्। एकारामः प्रव्रजितान्तरेणासहायः संन्यासिनीभिः स्त्रीभिश्च। 'स्त्रीणां चैके' इति बौधायनेन स्त्रीणामपि प्रव्रज्यास्मरणात्। तथा च दक्षः—'एको भिक्षुर्यथोक्तश्च द्वावेव मिथुनं स्मृतम्।

---

१. शान्तः करणोपरतः। २. मनोपरिग्रह।

त्रयो ग्रामः समाख्यात ऊर्ध्वं तु नगरायते ॥ राजवार्तादि तेषां तु भिक्षावार्ता परस्परम् । अपि पैशुन्यमात्सर्यं संनिकर्षान्न संशयः ॥' इति । 'परिव्रज्य परिपूर्वो व्रजतिस्त्यागे वर्तते । अतश्चाहंममाभिमानं तत्कृतं च लौकिकं कर्मनिचयं वैदिकं च नित्यकाम्यात्मकं संत्यजेत् । तदुक्तं मनुना (१२।८८,८९, ९२)-'सुखाभ्युदयिकं चैव नैश्रेयसिकमेव च । प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥ इह वामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते । निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥ यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः । आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान् ॥' इति । अत्र वेदाभ्यासः प्रणवाभ्यासस्तत्र यत्नवान् । भिक्षाप्रयोजनार्थं ग्राममाश्रयेत् प्रविशेत्, न पुनः सुखनिवासार्थम् । वर्षाकाले तु न दोषः; 'ऊर्ध्वं वार्षिकाभ्यां मासाभ्यां नैकस्थानवासी' इति शङ्खस्मरणात् । अशक्तौ पुनर्मासचतुष्टयपर्यन्तमपि स्थातव्यं न चिरमेकत्र वसेदन्यत्र वर्षाकालात्; 'श्रावणादयश्चत्वारो मासा वर्षाकालः' इति देवलस्मरणात् ।—'एकरात्रं वसेद् ग्रामे नगरे रात्रिपञ्चकम् । वर्षाभ्योऽन्यत्र वर्षासु मासांस्तु चतुरो वसेत् ॥' इति काण्वस्मरणात् ॥ ५८ ॥

भाषा—प्रिय और अप्रिय सभी जीवों के प्रति उदासीन होकर, शान्त (बाह्य एवं अन्तःकरण के क्षोभ से रहित) होकर, तीन दण्ड और कमण्डलु धारण करके, सबसे अलग अकेले रहकर, सबका (अहंकार आदि दोष एवं लौकिककर्म का) त्याग करके केवल भिक्षा के लिये गांव में निवास करे ॥ ५८ ॥

कथं भिक्षाटनं कार्यमित्यत आह—

अप्रमत्तश्चरेद्भैक्षं सायाह्नेऽनभिलक्षितः[1] ।
रहिते भिक्षुकैर्ग्रामे यात्रामात्रमलोलुपः ॥ ५९ ॥

अप्रमत्तो वाक्चक्षुरादिचापलरहितो भैक्षं चरेत् । वसिष्ठेनात्र विशेषो दर्शितः (१०।७) 'सप्तागाराण्यसंकल्पितानि चरेद्भैक्षम्' इति । सायाह्ने अह्नः पञ्चमे भागे । तथा च मनुः (६।५६)—'विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने । वृत्ते शरावसंपाते नित्यं भिक्षां यतिश्चरेत् ॥' इति । तथा—'एककालं चरेद्भिक्षां प्रसज्येत[2] न तु विस्तरे । भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति ॥' (६।५५) इति । अनभिलक्षितः ज्योतिर्विज्ञानोपदेशादिना अचिह्नितः । मनुः (६।५०)— 'न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया । नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित् ॥' इति तेनोक्तत्वादिति ॥ यत्पुनर्वसिष्ठवचनम्—'ब्राह्मणकुले वा

---

१. नाभिलक्षित । २. प्रसज्जेत् ।

यन्नभेत्तद्भुञ्जीत सायंप्रातर्मांसवर्ज्यम्' इति,–तदशक्तविषयम्। भिक्षुकैर्भिक्षणशीलैः पाखण्डयादिभिर्वर्जिते ग्रामे। मनुनात्र विशेष उक्तः (६।५१)—'न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः। आकीर्णं भिक्षुकैरन्यैरगारमुपसंव्रजेत्॥' इति। यावता प्राणयात्रा वर्तते तावन्मात्रं भैक्षं चरेत्। तथा च संवर्तः—'अष्टौ भिक्षाः समादाय मुनिः सप्त च पञ्च वा। अद्भिः प्रक्षाल्य ताः सर्वास्ततोऽश्नीयाच्च वाग्यतः॥' इति। अलोलुपो मिष्टान्नव्यञ्जनादिष्वप्रसक्तः॥ ५९॥

भाषा—प्रमादरहित होकर (वाणी, नेत्र आदि इन्द्रियों की चपलता छोड़कर), ज्यौतिष शास्त्र आदि द्वारा विचार न करके, सायंकाल में, जिस गांव में अन्य भिक्षुक न हों उस गांव में लोभरहित होकर केवल जीवन चलाने भर के लिए पर्याप्त भिक्षा ग्रहण करे॥ ५९॥

भिक्षाचरणार्थं पात्रमाह—

यतिपात्राणि मृद्वेणुदार्वलाबुमयानि च।
सलिलं शुद्धिरेतेषां गोवालैश्चावघर्षणम्॥ ६०॥

मृदादिप्रकृतिकानि यतीनां पात्राणि भवेयुः। तेषां सलिलं गोवालावघर्षणं च शुद्धिसाधनम्। इयं च शुद्धिर्भिक्षाचरणादिप्रयोगाङ्गभूता[1], नामेध्याद्युपहतिविषया। तदुपघाते द्रव्यशुद्धिप्रकरणोक्ता द्रष्टव्या। अत एव मनुना (६।५३)—'अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च। तेषामद्भिः स्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वरे॥' इति। चमसदृष्टान्तोपादानेन प्रायोगिकी शुद्धिर्दर्शिता। पात्रान्तराभावे भोजनमपि तत्रैव कार्यम्; 'तद्भैक्ष्यं गृहीत्वैकान्ते तेन पात्रेणान्येन वा तूष्णीं प्राणमात्रं भुञ्जीते'ति देवलस्मरणात्॥ ६०॥

भाषा—मिट्टी, बांस, काठ और अलाबु (लौकी) के बने हुए संन्यासियों के पात्रों की शुद्धि जल से और गोवाल द्वारा मलने से होती है॥६०॥

एवंभूतस्य यतेरात्मोपासनाङ्गं नियमविशेषमाह—

संनिरुध्येन्द्रियग्रामं रागद्वेषौ प्रहाय[2] च।
भयं हित्वा च भूतानाममृतीभवति द्विजः॥ ६१॥

चक्षुरादीन्द्रियसमूहं रूपादिविषयेभ्यः सम्यङ्निरुध्य विनिवर्त्य रागद्वेषौ प्रियाप्रियविषयौ प्रहाय त्यक्त्वा 'च' शब्दादीर्ष्यादीनपि, तथा भूतानामपकारेण[3] भयमकुर्वन् शुद्धान्तःकरणः सन्नद्वैतासाक्षात्कारेणामृतीभवति मुक्तो भवति॥

भाषा—इन्द्रियों को सम्यक् रूप से अपने वश में करके (विषयों से मोड़कर), तथा राग और द्वेष का त्याग करके, प्राणियों को अपकार द्वारा

---

1. भिक्षाहरणप्रयोग। 2 विहाय। 3. अपकारणेन।

भय न उत्पन्न करते हुए (अद्वैत के साक्षात्कार से) मुक्त हो जाता है ॥ ६१ ॥

कर्तव्याशयशुद्धिस्तु भिक्षुकेण विशेषतः ।
ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तत्वात्स्वातन्त्र्यकरणाय च ॥ ६२ ॥

किं च, विषयाभिलाषद्वेषजनितदोषकलुषितस्याशयस्यान्तःकरणस्य शुद्धिः कल्मषक्षयः प्राणायामैः कर्तव्या; तस्याः शुद्धेरात्माद्वैतसाक्षात्काररूपज्ञानोत्पत्तिनिमित्तत्वात् । एवं च सति विषयासक्तितज्जनितदोषात्मकप्रतिबन्धक्षये सत्यात्मध्यानधारणादौ स्वतन्त्रो भवति । तस्माद्भिक्षुकेण त्वेषा शुद्धिर्विशेषतोऽनुष्ठेया; तस्य मोक्षप्रधानत्वात्[1] । मोक्षस्य च शुद्धान्तःकरणतामन्तरेण दुर्लभत्वात् । यथाह मनुः (६।७१)—'दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः । तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषः प्राणस्य निग्रहात् ॥' इति ॥ ६२ ॥

भाषा—संन्यासी को विशेषतया अन्तःकरण की शुद्धि (प्राणायाम द्वारा) करनी चाहिए, क्योंकि वह ज्ञान उत्पन्न करने वाली और (आत्मध्यान एवं धारणा आदि में) स्वतन्त्र बनाने वाली होती है ॥ ६२ ॥

इन्द्रियनिरोधोपायतया संसारस्वरूपनिरूपणमाह—

अवेक्ष्या गर्भवासाश्च कर्मजा गतयस्तथा ।
आधयो व्याधयः क्लेशा जरा रूपविपर्ययः[2] ॥ ६३ ॥
भवो जातिसहस्रेषु प्रियाप्रियविपर्ययः ।

वैराग्यसिद्ध्यर्थं मूत्रपुरीषादिपूर्णनानाविधगर्भवासा अवेक्षणीयाः पर्यालोचनीयाः । 'च'शब्दाज्जनोपरमावपि तथा निषिद्धाचरणादिक्रियाजन्या महारौरवादिनिरयपतनरूपा गतयः । तथा आधयो मनःपीडाः, व्याधयश्च ज्वरातीसाराद्याः शारीराः, क्लेशाः अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च, जरा वलीपलिताद्यभिभवः रूपविपर्ययः खञ्जकुब्जत्वादिना प्राक्तनस्य रूपस्यान्यथाभावः, तथा श्वसूकरखरोरगाद्यनेकजातिषु भव उत्पत्तिः । तथा 'इष्टस्याप्राप्तिः अनिष्टस्य प्राप्तिः' (योगसू० १–२) इत्यादिबहुतरक्लेशावहं संसारस्वरूपं पर्यालोच्य तत्परिहारार्थमात्मज्ञानोपायभूतेन्द्रियजये प्रयतेत ॥ ६३ ॥

भाषा—गर्भवास (के कष्टों) एवं (निषिद्ध) कर्म के करने से उत्पन्न होने वाली गतियों (महारौरव नरक आदि), मानसिक कष्टों, शारीरिक रोगों, वृद्धावस्था, रूप के (लंगड़ा, कुबड़ा आदि होने से) बिगड़ने, क्षुद्र एवं गन्दे जीवों की जाति में जन्म, इष्ट की अप्राप्ति एवं अनिष्ट की प्राप्ति का विचार करना चाहिए ॥ ६३ ॥

---

1. मोक्षप्रसाधनत्वात् । 2. रूपविपर्ययाः ।

एवमवेक्ष्यानन्तरं किं कार्यमित्यत आह—

ध्यानयोगेन [1]संपश्येत्सूक्ष्म आत्मात्मनि स्थितिः ॥ ६४ ॥

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः, आत्मैकाग्रता ध्यानं, तस्या एव बाह्यविषयत्वोपरमः ध्यानयोगेन निदिध्यासनापरपर्यायेण सूक्ष्मशरीरप्राणादिव्यतिरिक्तः क्षेत्रज्ञ आत्मा आत्मनि ब्रह्मण्यवस्थितः इत्येवं तत्त्वं पदार्थयोरभेदं सम्यक् पश्येदपरोक्षीकुर्यात् । अत एव श्रुतौ (बृ० उ० ५।४।५) 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः' इति साक्षात्काररूपं दर्शनमनूद्य तत्साधनत्वेन 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० ५।४।५) इति श्रवणमनननिदिध्यासनानि विहितानि ॥ ६४ ॥

भाषा—और ध्यान (चित्त की एकाग्रता) और ध्यान (चित्तवृत्ति के निरोध) से आत्मा को ब्रह्म में स्थित देखे ॥ ६४ ॥

नाश्रमः कारणं धर्मे क्रियमाणो भवेद्धि सः ।
अतो यदात्मनोऽपथ्यं परेषां न तदाचरेत् ॥ ६५ ॥

किंच, प्राक्तनश्लोकोक्तात्मोपासनाख्ये धर्मे नाश्रमो दण्डकमण्डल्वादिधारणं कारणम् । यस्मादसौ क्रियमाणो भवेदेव नातिदुष्करः । तस्माद्यदात्मनोऽपथ्यमुद्वेगकरं परुषभाषणादि तत्परेषां न समाचरेत् । अनेन ज्ञानोत्पत्तिहेतुभूतान्तःकरणशुद्ध्यापादनत्वेनान्तरङ्गत्वाद्रागद्वेषप्रहाणस्य प्रधानत्वेन प्रशंसार्थमाश्रमनिराकरणं न पुनस्तत्परित्यागाय तस्यापि विहितत्वात् । तदुक्तं मनुना (६।६६)—'दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे वसन् । समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥' इति ॥ ६५ ॥

भाषा—किसी धर्म के आचरण में कोई विशेष आश्रम कारण नहीं है; वह तो करने से होता है । इसलिए अपने को जो न रुचे (उद्वेग कर लगे) वह दूसरो के लिए नहीं करना चाहिये ॥ ६५ ॥

सत्यमस्तेयमक्रोधो ह्रीः शौचं धीर्धृतिर्दमः ।
संयतेन्द्रियता विद्या [2]धर्मः सर्व उदाहृतः ॥ ६६ ॥

किंच, सत्यं यथार्थप्रियवचनम् , अस्तेयं परद्रव्यानपहारः, अक्रोधोऽपकारिण्यपि क्रोधस्यानुत्पादनम् , ह्रीर्लज्जा शौचमाहारादिशुद्धिः, धीर्हिताहितविवेकः, धृतिरिष्टवियोगेऽनिष्टप्राप्तौ प्रचलितचित्तस्य यथापूर्वमवस्थापनम् . दमो मदत्यागः, संयतेन्द्रियता अप्रतिषिद्धेष्वपि विषयेष्वनतिसङ्गः, विद्या आत्मज्ञानम्, एतैः सत्यादिभिरनुष्ठितैः सर्वो धर्मोऽनुष्ठितो भवति । अनेन दण्डकमण्डल्वादिधारणबाह्यलक्षणात् (बृ० उ० ४।५।६) सत्यादीनामात्मगुणानामन्तरङ्गतां द्योतयति ॥ ६६ ॥

---

1. संदश्यः सूक्ष्म । 2. सर्वधर्म उदीरितः ।

भाषा—सत्य, अस्तेय, अक्रोध, लज्जा, विवेक, धैर्य (दुःख में विचलित न होना), दम (मदत्याग), इन्द्रियों का संयम, और विद्या—ये सभी धर्म कहे गये हैं ॥ ६६ ॥

ननु ध्यानयोगेनात्मनि स्थितमात्मानं पश्येदित्ययुक्तम्, जीवपरमात्मनोर्भेदाभावादित्यत आह—

निःसरन्ति यथा लोहपिण्डात्तप्तात्स्फुलिङ्गकाः ।
सकाशादात्मनस्तद्वदात्मानः प्रभवन्ति हि ॥ ६७ ॥

यद्यपि जीवपरमात्मनोः पारमार्थिको भेदो नास्ति तथाप्यात्मनः सकाशादविद्योपाधिभेदभिन्नतया जीवात्मानः प्रभवन्ति हि यस्मात् तस्मादुच्यत एव जीवपरमात्मनोर्भेदव्यपदेशः । यथा हि तप्ताल्लोहपिण्डादयोगोलकाद्विस्फुलिङ्गकास्तेजोवयवा निःसरन्ति निःसृताश्च स्फुलिङ्गव्यपदेशं लभन्ते तद्वत्। अत उपपन्नं आत्मात्मनि स्थितो द्रष्टव्य इति । यद्वाऽयमर्थः—ननु सुषुप्तिसमये प्रलये च सकलक्षेत्रज्ञानां ब्रह्मणि प्रलीनत्वात्कस्यायमात्मोपासनाविधिरित्यत आह—निःसरन्तीत्यादि । यद्यपि सूक्ष्मरूपेण प्रलयवेलायां प्रलीनास्तथाप्यात्मनः सकाशादविद्योपाधिभेदभिन्नतया जीवात्मानः प्रभवन्ति, पुनः कर्मवशात्स्थूलशरीराभिमानिनो जायन्ते, तस्मान्नोपासनाविधिविरोधः, तैजसस्य पृथग्भावसाम्याल्लोहपिण्डदृष्टान्तः ॥ ६७ ॥

भाषा—जिस प्रकार तपाये गये लोहे के पिण्ड से चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार आत्मा (ब्रह्म) से अनेक आत्मा (जीवात्मा) उत्पन्न होते हैं ॥६७॥

ननु चानुपात्तवपुषां क्षेत्रज्ञानां निष्परिस्पन्दतया कथं तन्निबन्धनो जरायुजाण्डजादिचतुर्विधदेहपरिग्रह इत्यत आह—

तत्रात्मा हि स्वयं किंचित्कर्म किंचित्स्वभावतः ।
करोति किंचिदभ्यासाद्धर्माधर्मोभयात्मकम् ॥ ६८ ॥

यद्यपि तस्यामवस्थायां परिस्पन्दात्मकक्रियाभावस्तथापि धर्माधर्माध्यवसायात्मकं कर्म मानसं भवत्येव । तस्य च विशिष्टशरीरग्रहणहेतुत्वमस्त्येव; 'वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम्' (१२।९) इति मनुस्मरणात् । एवं गृहीतवपुः स्वयमेवान्वयव्यतिरेकनिरपेक्षः, स्तन्यपानादिके कृते तृप्तिर्भवत्यकृते न भवतीत्येवंरूपौ यावन्वयव्यतिरेकौ तत्र निरपेक्षं प्राग्भवीयानुभवभावितभावनानुभावोद्भूतकार्यावबोधः किंचित्स्तन्यपानादिकं करोति, किंचित्स्वभावतो यदृच्छया प्रयोजनाभिसंधिनिरपेक्षं पिपीलिकादिभक्षणं करोति, किंचिद्भवान्तराभ्यास-

---

१. स्पन्दतया कथं । २. भयात्मकम् ।

चाधर्माधर्मोभयरूपं करोति । तथा च स्मृत्यन्तरम्—'प्रतिजन्म यदभ्यस्तं दानमध्ययनं तपः । तेनैवाभ्यासयोगेन तदेवाभ्यसते पुनः ॥' इति ॥ एवं जीवानां कर्मवैचित्र्यात्तत्कृतं जरायुजादिदेहवैचित्र्यं युज्यत एव ॥ ६८ ॥

भाषा—इस दशा में आत्मा धर्म और अधर्म दोनों प्रकार के कर्म कुछ तो स्वयं करता है, कुछ स्वभाव के कारण करता है और कुछ अभ्यास के कारण ॥ ६८ ॥

नन्वेवं सति ब्राह्मण एव कथंचिज्जीवव्यपदेशत्वात्तस्य च नित्यत्वादिधर्मत्वात्कथं विष्णुमित्रो जात इति व्यवहार इत्याशङ्क्याह—

निमित्तमक्षरः कर्ता बोद्धा ब्रह्म गुणी वशी ।
अजः शरीरग्रहणात्स जात इति कीर्त्यते ॥ ६९ ॥

सत्यमात्मा सकलजगत्प्रपञ्चाविर्भावेऽविद्यासमावेशवशात्समवाय्यसमवायिनिमित्तमित्येवं स्वयमेव त्रिविधमपि कारणं, न पुनः कार्यकोटिनिविष्टः । यस्मादक्षरोऽविनश्वरः । ननु सत्त्वादिगुणविकारस्य सुखदुःखमोहात्मकस्य कार्यभूते जगत्प्रपञ्चे दर्शनात्तद्गुणवत्याः प्रकृतेरेव जगत्कर्तृतोचिता, न पुनर्निर्गुणस्य ब्रह्मणः । मैवं मंस्थाः,—आत्मैव कर्ता । यस्मादसौ जीवोपभोग्यसुखदुःख[1]हेतुभूतादृष्टादेर्बोद्धा । नह्यचेतनायाः प्रकृतेर्नामरूपव्याकृतविचित्रभोक्तृवर्गभोगानुकूलभोग्यभोगायतनादियोगिजगत्प्रपञ्चरचना घटते । तस्मादात्मैव कर्ता । तथा स एव ब्रह्म बृंहको विस्तारकः । नचासौ निर्गुणः । यतस्तस्य त्रिगुणशक्तिरविद्या प्रकृतिप्रधानाद्यपरपर्याया विद्यते । अतः स्वतो निर्गुणत्वेऽपि शक्तिमुखेन सत्त्वादिगुणयोगी कथ्यते । नचैतावता प्रकृतेः कारणता, यस्मादात्मैव वशी स्वतन्त्रः न प्रकृतिर्नाम स्वतन्त्रं तत्त्वान्तरं, तादृग्विधत्वे प्रमाणाभावात् । नच वचनीयं शक्तिरूपापि सैव कर्तृभूतेति । यतः शक्तिमत्कारकं न शक्तिः, तस्मादात्मैव जगतस्त्रिविधमपि कारणम् । तथा अज उत्पत्तिरहितः । अतस्तस्य यद्यपि साक्षाज्जननं नोपपद्यते तथापि शरीरग्रहणमात्रेण जात इत्युच्यते अवस्थान्तरयोगितयोत्पत्तेर्गृहस्थो जात इतिवत् ॥ ६९ ॥

भाषा—यद्यपि आत्मा (सम्पूर्ण जगत्प्रपञ्च का) निमित्त है, अविनाशी है, कर्ता है, जानने वाला (सुख-दुःखादि का अनुभव करने वाला), ब्रह्म, गुणी, वशी (स्वतन्त्र) और अजन्मा है तथापि शरीर ग्रहण करने पर कहा जाता है कि आत्मा का जन्म हुआ है ॥ ६९ ॥

शरीरग्रहणप्रकारमाह—

सर्गादौ स यथाकाशं वायुं ज्योतिर्जलं महीम् ।
सृजत्येकोत्तरगुणांस्तथादत्ते भवन्नपि ॥ ७० ॥

---

१. हेतुपुण्यापुण्यादेर्बोद्धा ।

सृष्टिसमये स परमात्मा यथाकाशादीन् शब्दैकगुणं गगनं शब्दस्पर्शगुणः पवनः, शब्दस्पर्शरूपगुणं तेजः, शब्दस्पर्शरूपरसगुणवदुदकम्, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा जगतीत्येवमेकोत्तरगुणान् सृजति। तथात्मा जीवभावमापन्नो भवन्नुत्पन्नज्ञानोऽपि स्वशरीरस्यारम्भकत्वेनापि गृह्णाति ॥ ७० ॥

भाषा—जिस प्रकार सृष्टि के आरम्भ में वह परमात्मा आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी की क्रमशः एक-एक अधिक गुण से युक्त बनाकर रचना करता है उसी प्रकार जीवन बन कर इन सबको धारण भी करता है ॥

कथं शरीरारम्भकत्वं पृथिव्यादीनामित्यत आह—

आहुत्याप्यायते सूर्यः सूर्याद् वृष्टिरथौषधिः।
तदन्नं रसरूपेण शुक्रत्वमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

यजमानैः प्रक्षिप्तया आहुत्या पुरोडाशादिरसेनाप्यायते सूर्यः। सूर्याच्च कालवशेन परिपक्वाज्यादिहवीरसाद्वृष्टिर्भवति। ततो व्रीह्याद्यौषधिरूपमन्नम्। तच्चान्नं सेवितं सत् रसरुधिरादिक्रमेण शुक्रशोणितभावमापद्यते ॥ ७१ ॥

भाषा—(यजमान की) आहुतियों से सूर्य पुष्ट होते हैं, सूर्य से वृष्टि होती है और उससे ओषधियाँ (व्रीहि आदि) उत्पन्न होती हैं; उनका अन्न (खाने पर) रस बनकर अन्त में वीर्य बन जाता है ॥ ७१ ॥

ततः किमित्यत आह—

स्त्रीपुंसयोस्तु संयोगे विशुद्धे शुक्रशोणिते।
पञ्चधातून्स्वयं षष्ठ आदत्ते युगपत्प्रभुः ॥ ७२ ॥

ऋतुवेलायां स्त्रीपुंसयोर्योगे शुक्रं च शोणितं च शुक्रशोणितं तस्मिन्परस्परसंयुक्ते विशुद्धे 'वातपित्तश्लेष्मदुष्टग्रन्थिपूयक्षीणमूत्रपुरीषगन्धरेतांस्यबीजानि' इति स्मृत्यन्तरोक्तदोषरहिते स्थित्वा पञ्चधातून् पृथिव्यादिपञ्चमहाभूतानि शरीरारम्भकतया स्वयं षष्ठश्चिद्धातुरात्मा प्रभुः शरीरारम्भकारणादृष्टकर्मयोगितया समर्थो युगपदादत्ते योगायतनत्वेन स्वीकरोति'। तथा च शारीरके (सुश्रुत: ३।३)—'स्त्रीपुंसयोः संयोगे योनौ रजसाभिसंसृष्टं शुक्रं तत्क्षणमेव सह भूतात्मना गुणैश्च सत्त्वरजस्तमोभिः सह वायुना प्रेर्यमाणं गर्भाशये तिष्ठति' इति ॥

भाषा—स्त्री और पुरुष के संयोग से वीर्य और रज के मिलकर शुद्ध होने पर इन पाँच तत्त्वों को छठा प्रभु (आत्मा) स्वयं ही एक साथ ग्रहण करता है ॥ ७२ ॥

---

१. रसवदुदकम्। २. सूर्यस्तस्माद् वृ। ३. शुपगच्छति।
४. रम्भकरणे दुष्ट।

इन्द्रियाणि मनः प्राणो ज्ञानमायुः सुखं धृतिः ।
धारणा प्रेरणं दुःखमिच्छाहंकार एव च ॥ ७३ ॥
प्रयत्न आकृतिर्वर्णः स्वरद्वेषौ भवाभवौ ।
तस्यैतदात्मजं सर्वमनादेरादिमिच्छतः ॥ ७४ ॥

किंच, इन्द्रियाणि ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि वक्ष्यमाणानि, मनश्चोभयसाधारणम् , प्राणोऽपानो व्यान उदानः समान इत्येवं पञ्चवृत्तिभेदभिन्नः शारीरो वायुः प्राणः, ज्ञानमवगमः, आयुः कालविशेषावच्छिन्नं जीवनम् , सुखं निर्वृतिः, धृतिश्चित्तस्थैर्यम् , धारणा प्रज्ञा मेधा च, प्रेरणं ज्ञानकर्मेन्द्रियाणामधिष्ठातृत्वम् , दुःखमुद्वेगः, इच्छा स्पृहा, अहंकारोऽहंकृतिः, प्रयत्न उद्यमः, आकृतिराकारः, वर्णो गौरिमादिः, स्वरः षड्जगान्धारादिः, द्वेषो वैरम् , भवः पुत्रपश्वादिविभवः, अभवस्तद्विपर्ययः, तस्यानादेरात्मनो नित्यस्यादिमिच्छतः शरीरं जिघृक्षमाणस्य सर्वमेतदिन्द्रियादिकमात्मजनितं प्राग्भवीयकर्मबीजजन्यमित्यर्थः ॥ ७३–७४ ॥

भाषा—इन्द्रियाँ, मन, प्राणादि वायु, ज्ञान, आयु, सुख, धैर्य, धारणा (प्रज्ञा, मेधा), प्रेरण (ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का अधिष्ठातृत्व) दुःख, इच्छा, अहंकार, प्रयत्न, आकार, वर्ण, स्वर, द्वेष, भव (पुत्र, पशु आदि की सम्पत्ति), अभव (निर्धनता) ये सब उस अनादि आत्मा के शरीर धारण की इच्छा करने पर प्राप्त होते हैं ॥ ७३–७४ ॥

संयुक्तशुक्रशोणितस्य कार्यरूपपरिणतौ क्रममाह—

प्रथमे मासि संक्लेदभूतो धातुविमूर्च्छितः ।
मास्यर्बुदं द्वितीये तु तृतीयेऽङ्गेन्द्रियैर्युतः ॥ ७५ ॥

असौ चेतनः षष्ठो धातुविमूर्च्छितो धातुषु पृथिव्यादिषु विमूर्च्छितो लोलीभूतः । क्षीरनीरवदेकीभूत इति यावत् । प्रथमे गर्भमासे संक्लेदभूतो द्रवरूपतां प्राप्त एवावतिष्ठते न कठिनतया परिणमते । द्वितीये मास्यर्बुदमीषत्कठिनमांसपिण्डरूपं भवति । अयमभिप्रायः–कौष्ठ्यपवनजठरदहनाभ्यां प्रतिदिनमीषदीषच्छोष्यमाणं शुक्रसंपर्कसंपादितद्रवीभावं भूतजातं त्रिंशद्भिर्दिनैः काठिन्यमापद्यत इति । तथा च सुश्रुते (शा.३।१४)–'द्वितीये शीतोष्णानिलैरभिपच्यमानो भूतसंघातो घनो जायते' इति । तृतीये तु मास्यङ्गैरिन्द्रियैश्च संयुक्तो भवति ॥ ७५ ॥

भाषा—यह (संयुक्त वीर्य और रज अथवा पंचभूतों में षष्ठ धातु के रूप में पड़ा हुआ आत्मा) गर्भ के पहले मास में द्रव के रूप में रहता

---

१. कोष्ठपवन । २. संपर्काद् द्रवीभूतं ।

है; दूसरे मास में अर्बुद (कुछ कठिन मांसपिण्ड) बनता है, और तीसरे मास में अङ्गों एवं इन्द्रियों से युक्त हो जाता है ॥ ७५ ॥

आकाशाल्लाघवं सौक्ष्म्यं शब्दं[1] श्रोत्रं बलादिकम् ।
वायोश्च स्पर्शनं चेष्टां व्यूहनं रौक्ष्यमेव च ॥ ७६ ॥
पित्तात्तु दर्शनं पक्तिमौष्ण्यं रूपं प्रकाशिताम्[2] ।
रसात्तु[3] रसनं शैत्यं स्नेहं क्लेदं समार्दवम् ॥ ७७ ॥
भूमेर्गन्धं तथा घ्राणं गौरवं मूर्तिमेव च ।
आत्मा गृह्णात्यजः सर्वं तृतीये स्पन्दते ततः ॥ ७८ ॥

किंच, 'आत्मा गृह्णाति' इति सर्वत्र संबध्यते । गगनाल्लघिमानं लङ्घनक्रियोपयोगिताम् , सौक्ष्म्यं सूक्ष्मेक्षित्वम् शब्दं विषयम्, श्रोत्रं श्रवणेन्द्रियम्, बलं दार्ढ्यम्; 'आदि' ग्रहणात्सुषिरत्वं विविक्ततां च; 'आकाशाच्छब्दं श्रोत्रं विविक्ततां सर्वच्छिद्रसमूहांश्च' इति गर्भोपनिषद्दर्शनात् , पवनात्स्पर्शेन्द्रियम्, चेष्टां गमनागमनादिकाम्; व्यूहनमङ्गानां विविधं प्रसारणम् , रौक्ष्यं कर्कशत्वं, 'च' शब्दात्स्पर्शं च; पित्तात्तेजसो दर्शनं चक्षुरिन्द्रियम् , पक्तिं भुक्तस्यान्नस्य पचनम्, औष्ण्यमुष्णस्पर्शत्वमङ्गानाम्, रूपं श्यामिकादि, प्रकाशितां भ्राजिष्णुताम्, तथा संतापामर्षादि च; 'शौर्यामर्षतैक्ष्ण्यपक्त्यौष्ण्यभ्राजिष्णुतासंतापवर्णरूपेन्द्रियाणि तैजसानि' इति गर्भोपनिषद्दर्शनात ; एवं रसादुदकाद्रसनेन्द्रियम् , शैत्यमङ्गानाम् , स्निग्धता मृदुत्वसहितं, क्लेदमार्द्रताम् , तथा भूमेर्गन्धं घ्राणेन्द्रियं गरिमाणं मूर्तिं च । सर्वमेतत्परमार्थतो जन्मरहितोऽप्यात्मा तृतीये मासि गृह्णाति । ततश्चतुर्थे मासि स्पन्दते चलति । तथा च शारीरके-'तस्माच्चतुर्थे मासि चलनादावभिप्रायं करोति' इति ॥ ७६-७८ ॥

भाषा—आकाश से लाघव (जो लाँघने की क्रिया के लिये उपयोगी होता है), सूक्ष्मता, शब्द, श्रवणेन्द्रिय और बल आदि ग्रहण करता है, वायु से स्पर्शेन्द्रिय, चेष्टा (गमनागमन), अंगों का फैलाना, कर्कशता; पित्त (तेज) से दृष्टि, पाचनशक्ति, उष्णता, रूप और प्रकाशित करने की शक्ति; रस अर्थात् जल से रसनेन्द्रिय, अङ्गों की शीतलता, स्निग्धता, गीलापन और कोमलता; पृथिवी से गन्ध, घ्राणेन्द्रिय, गुरुता (भारीपन) और आकार-इन सबको जन्मरहित होते हुए भी आत्मा (गर्भ के) तीसरे मास में ग्रहण कर लेता है ॥ ७६-७८ ॥

दौर्हृदस्याप्रदानेन[4] गर्भो दोषमवाप्नुयात् ।
वैरूप्यं मरणं वापि तस्मात्कार्यं प्रियं स्त्रियाः ॥ ७९ ॥

---

१. शब्दश्रोत्रबला । २. प्रकाशताम् । ३. रसेभ्यो । ४. दोहदस्याप्रदानेन ।

किंच, गर्भस्यैकं हृदयं गर्भिण्याश्चापरमित्येवं द्विहृदया[1] तस्याः स्त्रिया यदभिलषितं तत् दौहृदं[2], तस्याप्रदानेन गर्भो विरूपता मरणरूपं वा दोषं प्राप्नोति। तस्मात्तद्दोषपरिहारार्थं गर्भपुष्ट्यर्थं च गर्भिण्याः स्त्रियाः यत्प्रियमभिलषितं तत्संपादनीयम्। तथा च सुश्रुते—'द्विहृदयां नारीं दौहृदिनीमाचक्षते, तदभिलषितं दद्यात्, वीर्यवन्तं चिरायुषं पुत्रं जनयति' इति। तथा च व्यायामादिकमपि गर्भग्रहणप्रभृति तया परिहरणीयम्। 'ततः प्रभृति व्यायामव्यवायातितर्पणदिवास्वप्नरात्रिजागरणशोकभययानारोहणवेगधारणकुक्कुटासनशोणितमोक्षणानि परिहरेत्' इति तत्रैवाभिधानात्। 'गर्भ'ग्रहणं च श्रमादिभिर्लिङ्गैरवगन्तव्यम्। 'सद्योगृहीतगर्भायाः श्रमो ग्लानिः पिपासा [3]सक्थिसदनं शुक्रशोणितयोरवबन्धः[4] स्फुरणं च योनेः' इत्यादि तत्रैवोक्तम् ॥ ७९ ॥

भाषा—दोहद (गर्भिणी द्वारा चाही हुई वस्तु) न देने पर गर्भ में कुरूपता या मरण का दोष आ जाता है; अतएव गर्भिणी स्त्री को जो प्रिय लगे उसे अवश्य करना चाहिए ॥ ७९ ॥

> स्थैर्यं चतुर्थे त्वङ्गानां पञ्चमे शोणितोद्भवः।
> षष्ठे बलस्य वर्णस्य नखरोम्णां च संभवः ॥ ८० ॥

किंच, तृतीये मासि प्रादुर्भूतस्याङ्गसङ्घस्य चतुर्थे मासि स्थैर्यं स्थेमा भवति। पञ्चमे लोहितस्योद्भव उत्पत्तिः। तथा षष्ठे बलस्य वर्णस्य कररुहरोम्णां च संभवः ॥ ८० ॥

भाषा—चौथे महीने में अङ्गों में स्थिरता आती है, पाँचवे मास में रुधिर की उत्पत्ति होती है और छठे महीने में बल, रंग, नाखून एवं रोम आ जाते हैं ॥ ८० ॥

> मनश्चैतन्ययुक्तोऽसौ नाडीस्नायुशिरायुतः।
> सप्तमे चाष्टमे चैवं[5] त्वङ्मांसस्मृतिमानपि ॥ ८१ ॥

किंच, असौ पूर्वोक्तो गर्भः सप्तमे मासि मनसा चेतसा चेतनया च युक्तो नाडीभिर्वाहिनीभिः स्नायुभिरस्थिबन्धनैः शिराभिर्वातपित्तश्लेष्मवाहिनीभिश्च संयुतः। तथाष्टमे मासि त्वचा मांसेन स्मृत्या च युक्तो भवति ॥ ८१॥

भाषा—यह (पूर्वोक्त गर्भ) सातवें मास में मन, चैतन्य, (वायुवाहिनी) नाड़ियों (अस्थि को बाँधने वाली) स्नायुओं एवं (वात-पित्त-श्लेष्मवाहिनी) सिराओं से युक्त होता है, तथा आठवें मास में त्वचा, मांस और स्मरणशक्ति से युक्त होता है ॥ ८१ ॥

---

१. द्विहृदयायाः स्त्रिया। २. दोहदम्। ३. सक्थिसीदनं। ४. स्नुबन्धः। ५. चाऽपि।

[1]पुनर्धात्रीं पुनर्गर्भमोजस्तस्य प्रधावति ।
अष्टमे मास्यतो गर्भो जातः प्राणैर्वियुज्यते ॥ ८२ ॥

किंच, त[2]स्याष्टममासिकस्य गर्भस्यौजः कश्चन गुणविशेषो धात्रीं गर्भं च प्रति पुनःपुनरतितरां चञ्चलतया शीघ्रं गच्छति । अतोऽष्टमे मासि जातो गर्भः प्राणैर्वियुज्यते । अनेनौजःस्थितिरेव जीवनहेतुरिति दर्शयति ॥ ओजःस्वरूपं च स्मृत्यन्तरे दर्शितम्—'हृदि तिष्ठति यच्छुद्धमीषदुष्णं सपीतकम् । ओजः शरीरे संख्यातं तन्नाशान्नाशमृच्छति ॥' इति ॥ ८२ ॥

भाषा—आठ महीने के गर्भ का ओज पुनः पुनः कभी गर्भ की ओर तो कभी माता की ओर शीघ्रता से जाता है । इसलिये आठवें महीने में उत्पन्न होने पर गर्भ से प्राण निकल जाता है ॥ ८२ ॥

नवमे दशमे [3]वापि प्रबलैः सूतिमारुतैः ।
निःसार्यते बाण इव यन्त्रच्छिद्रेण सज्वरः ॥ ८३ ॥

किंच, एवं करचरणचक्षुरादिपरिपूर्णाङ्गेन्द्रियो नवमे दशमे वापि मासे 'अपि'शब्दात्प्राक् सप्तमेऽष्टमे वा अत्यायासादिदोषवत्प्रबलसूतिहेतुप्रभञ्जनप्रेरितः स्नायवस्थिचर्मादिनिर्मितवपुर्यन्त्रस्य छिद्रेण सूक्ष्मसुषिरेण सज्वरो दुःसहदुःखाभिभूयमानो निःसार्यते धनुर्यन्त्रेण सुधन्वप्रेरितो बाण इवातिवेगेन निर्गमसमनन्तरं च बाह्यपवनस्पृष्टो नष्टप्राचीनस्मृतिर्भवति । 'जातः स वायुना स्पृष्टो न स्मरति पूर्वं जन्म मरणं कर्म च शुभाशुभम्' इति निरुक्तस्याष्टादशेऽभिधानात् ॥ ८३ ॥

भाषा—नवें या दसवें मास में प्रबल प्रसूति वायु (प्रसव को प्रेरित करने वाली वायु) द्वारा गर्भ कुछ ज्वर के साथ छिद्र से उस प्रकार बाहर कर दिया जाता है जैसे किसी धनुषरूपी यन्त्र से प्रेरित होकर बाण बाहर निकलता है ॥ ८३ ॥

कायस्वरूपं विवृण्वन्नाह—
तस्य षोढा शरीराणि षट् [4]त्वचो धारयन्ति च ।
षडङ्गानि त[5]थाऽस्थ्नां च सह षष्ट्या शतत्रयम् ॥ ८४ ॥

तस्यात्मनो यानि जरायुजाण्डजशरीराणि तानि प्रत्येकं षट्प्रकाराणि रक्तादिषड्धातुपरिपाकहेतुभूतषडग्निस्थानयोगित्वेन; तथा हि—अन्नरसो जाठराग्निना पच्यमानो रक्ततां प्रतिपद्यते । रक्तं च स्वकोष्ठस्थेनाग्निना पच्यमानं

---

१. पुनर्गर्भं पुनर्धात्री । २. तथाष्टम । ३. मासि । ४. त्वचं । ५. तथास्थीनि सह ।

मांसत्वम् । मांसं च स्वकोशानलपरिपक्वं मेदस्त्वम् , मेदोऽपि स्वकोशवह्निना पक्वमस्थिताम् , अस्थ्यपि स्वकोशशिखिपरिपक्वं मज्जात्वम् , मज्जापि स्वकोशपावकपरिपच्यमानश्चरमधातुतया परिणमते । चरमधातोस्तु परिणतिर्नास्तीति स एवात्मनः प्रथमः कोशः । इत्येवं षट्कोशाग्नियोगित्वात् षट्प्रकारत्वं शरीराणाम् । अन्नरसरूपस्य तु प्रथमधातोरनियतत्वान्न तेन प्रकारान्तरत्वम् । तानि च शरीराणि षट् त्वचो धारयन्ति रक्तमांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राख्याः षड् धातव एव रम्भास्तम्भत्वगिव बाह्याभ्यन्तररूपेण स्थिताः त्वगिवाच्छादकत्वात्त्वचस्ताः षट् त्वचो धारयन्ति । तदिदमायुर्वेदप्रसिद्धम् । तथाङ्गानि च षडेव करयुग्मं चरणयुगलमुत्तमाङ्गं गात्रमिति । अस्थ्नां तु षष्टिसहितं शतत्रयमुपरितनषट्श्लोक्या वक्ष्यमाणमवगन्तव्यम् ॥ ८४ ॥

भाषा—उस आत्मा के (रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा और शुक्र इन छः कोषों की अग्नि के योग से) छः प्रकार के शरीर होते हैं; जो छः त्वचाओं, छः अङ्गों (दो हाथ, दो पैर, मुख और शरीर) तथा तीन सौ साठ अस्थियों को धारण करते हैं ॥ ८४ ॥

स्थालैः सह चतुःषष्टिर्दन्ता वै विंशतिर्नखाः ।
पाणिपादशलाकाश्च तेषां स्थानचतुष्टयम् ॥ ८५ ॥

किंच, स्थालानि दन्तमूलप्रदेशस्थान्यस्थीनि द्वात्रिंशत् , तैः सह द्वात्रिंशद्दन्ताश्चतुःषष्टिर्भवन्ति । नखाः करचरणरुहा विंशतिः, हस्तपादस्थानि शलाकाकाराण्यस्थीनि मणिबन्धस्योपरिवर्तीनि अङ्गुलिमूलस्थानि विंशतिरेव । तेषां नखानां शलाकास्थ्नां च स्थानचतुष्टयं द्वौ चरणौ करौ चेत्येवमस्थ्नां चतुरुत्तरं शतम् ॥ ८५ ॥

भाषा—दाँत के मूल प्रदेश की अस्थियों को लेकर चौंसठ अस्थियाँ दाँतों की, बीस नाखून, बीस हाथ और पैर की शलाका जैसी बीस अस्थियाँ और उनके चार स्थान (दो हाथ और दो पैर)—॥ ८५ ॥

षष्ट्यङ्गुलीनां द्वे पार्ष्ण्योर्गुल्फेषु च चतुष्टयम् ।
चत्वार्यरत्निकास्थीनि जङ्घयोस्तावदेव तु ॥ ८६ ॥

किंच, विंशतिरङ्गुल्यस्तासां एकैकस्यास्त्रीणि त्रीण्येवमङ्गुलिसंबद्धान्यस्थीनि षष्टिर्भवन्ति । पादयोः पश्चिमौ भागौ पार्ष्णी, तयोरस्थीनि द्वे एकैकस्मिन्पादे गुल्फौ द्वावित्येवं चतुर्षु गुल्फेषु चत्वार्यस्थीनि, बाह्वोररत्निप्रमाणानि चत्वार्यस्थीनि, जङ्घयोस्तावदेव चत्वार्येवेत्येवं चतुःसप्ततिः ॥ ८६ ॥

---

१. तासां ।

भाषा—अंगुलियों की साठ, एड़ी की दो, गुल्फों की चार (प्रत्येक पैर में दो-दो), अरत्निका की चार और दोनों जंघों की भी उतनी ही अर्थात् चार अस्थियाँ होती हैं—॥ ८६ ॥

द्वे द्वे जानुकपोलोरुफलकांससमुद्भवे।
अक्षतालूषके श्रोणीफलके च विनिर्दिशेत् ॥ ८७ ॥

किंच, जङ्घोरुसन्धिर्जानुः, कपोलो गल्लः, ऊरुः सक्थि तत्फलकं, अंसो भुजशिरः, अक्षः कर्णनेत्रयोर्मध्ये शङ्खादधोभागः, तालूषकं काकुदं, श्रोणी ककुद्मती तत्फलकं, तेषामेकैकत्रास्थीनि द्वे द्वे विनिर्दिशेत्; इत्येवं चतुर्दशास्थीनि भवन्ति ॥ ८७ ॥

भाषा—घुटने, कपोलों, ऊरुफलक (पट्टे), कंधा, अक्ष (कान और आँखों के मध्य का स्थान), तालूषक और श्रोणी के फलक में प्रत्येक की दो-दो अस्थियाँ—॥ ८७ ॥

भगास्थ्येकं तथा पृष्ठे चत्वारिंशच्च पञ्च च।
ग्रीवा [1]पञ्चदशास्थिः स्याज्जत्र्वेकैकं तथा हनुः ॥ ८८ ॥

किंच, गुह्यास्थ्येकं पृष्ठे पश्चिमभागे पञ्चचत्वारिंशदस्थीनि भवन्ति। ग्रीवा कंधरा, सा पञ्चदशास्थिः स्यात् भवेत्। वक्षोंसयोः सन्धिर्जत्रु, प्रतिजत्र्वस्थि एकैकम्, हनुश्चिबुकम्, तत्राप्येकमस्थीत्येवं चतुःषष्टिः ॥ ८८ ॥

भाषा—भग की एक अस्थि, पीठ में पच्चीस और गर्दन में पन्द्रह होते हैं, प्रत्येक जत्रु (छाती और कंधे के जोड़) में एक-एक तथा चिबुक में एक अस्थि होती है ॥ ८८ ॥

तन्मूले द्वे ललाटाक्षिगण्डे नासा घनास्थिका।
पार्श्वकाः स्थालकैः सार्धमर्बुदैश्च द्विसप्ततिः ॥ ८९ ॥

किंच, तस्य हनोर्मूलेऽस्थिनी द्वे, ललाटं भालं अक्षि चक्षुः, गण्डः कपोलाक्ष्योर्मध्यप्रदेशः, तेषां समाहारो ललाटाक्षिगण्डं, तत्र प्रत्येकमस्थियुगलम्। नासा घनसंज्ञकास्थिमती। पार्श्वकाः कक्षाधःप्रदेशसंबद्धान्यस्थीनि तदाधारभूतानि स्थालकानि, तैः स्थालकैः अर्बुदैश्चास्थिविशेषैः सह पार्श्वका द्विसप्ततिः। पूर्वोक्तैश्च नवभिः सार्धमेकाशीतिर्भवति ॥ ८९ ॥

भाषा—चिबुक के मूल में दो अस्थियाँ, ललाट, आँख और गण्ड (कपोल एवं आँख के बीच का भाग) में भी प्रत्येक में दो दो, नाक में घन नाम की

---

1. पञ्चदशास्थीनि जत्र्वेव च।

एक अस्थि, पार्श्वों (पसलियों में) और उनके आधार स्थानों वाली अर्बुद नाम की अस्थियों को मिलाकर बहत्तर अस्थियाँ होती हैं ॥ ८९ ॥

द्वौ शङ्खकौ कपालानि चत्वारि शिरसस्तथा ।
उरः सप्तदशास्थीनि पुरुषस्यास्थिसंग्रहः ॥ ९० ॥

किंच, भ्रूकर्णयोर्मध्यप्रदेशावस्थिविशेषौ शङ्खकौ, शिरसः संबन्धीनि चत्वारि कपालानि । उरो वक्षः, तत्सप्तदशास्थिकमित्येवं त्रयोविंशतिः । पूर्वोक्तैश्च सह षष्ठ्यधिकं शतत्रयमित्येवं पुरुषस्यास्थिसंग्रहः कथितः ॥ ९० ॥

भाषा—भौंह और कान के बीच की दो अस्थियाँ, शिर के कपाल की चार, वक्ष प्रदेश की सत्रह अस्थियाँ होती हैं—इस प्रकार इन तीन सौ साठ अस्थियों का मनुष्य-शरीर में संग्रह रहता है ॥ ९० ॥

सविषयाणि ज्ञानेन्द्रियाण्याह—

गन्धरूपरसस्पर्शशब्दाश्च विषयाः स्मृताः ।
नासिका लोचने जिह्वा त्वक् श्रोत्रं चेन्द्रियाणि च ॥ ९१ ॥

एते गन्धादयो विषयाः पुरुषस्य बन्धनहेतवः; 'विषय'शब्दस्य 'षिञ् बन्धने' इत्यस्य धातोर्व्युत्पन्नत्वात् । एतैश्च गन्धादिभिर्विषयत्वेन व्यवस्थितैः स्वस्वगोचरसंवित्साधनतयानुमेयानि घ्राणादीनि पञ्चेन्द्रियाणि भवन्ति ॥ ९१ ॥

भाषा—गन्ध, रूप, रस, स्पर्श और शब्द ये इन्द्रियों के विषय हैं; और नाक, आँख, जिह्वा, त्वचा एवं कान ये पाँच इन्द्रियाँ हैं ॥ ९१ ॥

कर्मेन्द्रियाणि दर्शयितुमाह—

हस्तौ पायुरुपस्थं[1] च जिह्वा पादौ च पञ्च वै[2] ।
कर्मेन्द्रियाणि जानीयान्[3]मनश्चैवोभयात्मकम् ॥ ९२ ॥

हस्तौ प्रसिद्धौ, पायुर्गुदं, उपस्थं रतिसंपाद्यसुखसाधनं, जिह्वा प्रसिद्धा, पादौ च, एतानि हस्तादीनि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि आदाननिर्हारानन्दव्याहारविहारादिकर्मसाधनानि जानीयात् । मनोऽन्तःकरणं युगपत् ज्ञानानुत्पत्तिगम्यं तच्च बुद्धिकर्मेन्द्रियसहकारितयोभयात्मकम् ॥ ९२ ॥

भाषा—दोनों हाथ, गुदा, उपस्थ (संभोगेन्द्रिय), जिह्वा और दोनों पैर इन्हें कर्मेन्द्रियाँ समझना चाहिए; मन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों है ॥९२॥

प्राणायतनानि दर्शयितुमाह—

नाभिरोजो गुदं शुक्रं शोणितं शङ्खकौ तथा ।
मूर्धांसकण्ठहृदयं[4] प्राणस्यायतनानि तु ॥ ९३ ॥

---

१. पायुरुपस्थश्च । २. च । ३. जानीत म । ४. हृदयः ।

नाभिप्रभृतीनि दश प्राणस्य स्थानानि । समाननाम्नः पवनस्य सकलाङ्ग-संचारित्वेऽपि नाभ्यादिस्थानविशेषवाचोक्तिः प्राचुर्याभिप्राया[1] ॥ ९३ ॥

भाषा—नाभि, ओज, गुदा, शुक्र, रुधिर, दोनों शङ्खक, मूर्धा, कण्ठ और हृदय ये (दस) प्राण के निवास स्थान हैं ॥ ९३ ॥

प्राणायतनानि प्रपञ्चयितुमाह—

वपा वसावहननं नाभिः क्लोम[2] यकृत्प्लिहा ।
क्षुद्रान्त्रं वृक्कको[3] बस्तिः पुरीषाधानमेव च ॥ ९४ ॥
आमाशयोऽथ हृदयं स्थूलान्त्रं गुद एव च ।
उदरं च गुदौ कोष्ठ्यौ[4] विस्तारोऽयमुदाहृतः ॥ ९५ ॥

वपा प्रसिद्धा, वसा मांसस्नेहः, अवहननं फुप्फुसः, नाभिः प्रसिद्धा, प्लीहा आयुर्वेदप्रसिद्धा, तौ च मांसपिण्डाकारौ स्तः सव्यकुक्षिगतौ ॥ यकृत् कालिका, क्लोम मांसपिण्डस्तौ च दक्षिणकुक्षिगतौ, क्षुद्रान्त्रं ह्रस्वान्त्रम्, वृक्कौ हृदयसमीपस्थौ मांसपिण्डौ, बस्तिर्मूत्राशयः, पुरीषाधानं पुरीषाशयः, आमाशयोऽपक्वाशस्थानम् , हृदयं हृत्पुण्डरीकम् ; स्थूलान्त्रगुदोदराणि प्रसिद्धानि, बाह्याद् गुदवलयादन्तर्गुदवलये द्वे, तौ च गुदौ कोष्ठ्यौ कोष्ठे नाभेरधः-प्रदेशे भवौ । अयं च प्राणायतनस्य विस्तार उक्तः । पूर्वश्लोके तु संक्षेपः । अत एव पूर्वश्लोकोक्तानां केषांचिदिह पाठः ॥ ९४–९५ ॥

भाषा—वपा, वसा, फुप्फुस, नाभि, क्लोम (दाहिनी कोख के मांस-पिण्ड), यकृत् , प्लीहा, क्षुद्रांत्र (हृदय की आँती), दो वृक्कक (हृदय के समीप स्थित मांसपिण्ड), मूत्राशय, मलाशय, आमाशय, हृदय, मोटी आँत, गुदा, उदर, गुदा का भीतरी भाग, (नाभि के नीचे के) दो कोष्ठ—ये प्राण-स्थानों के विस्तार हैं ॥ ९४-९५ ॥

पुनः प्राणायतनप्रपञ्चार्थमाह—

कनीनिके चाक्षिकूटे शष्कुली कर्णपत्रकौ ।
कर्णौ शङ्खौ भ्रुवौ दन्तवेष्टावोष्ठौ[5] ककुन्दरे ॥ ९६ ॥
वङ्क्षणौ वृषणौ वृक्कौ श्लेष्मसंघातजौ[6] स्तनौ ।
उपजिह्वास्फिजौ बाहू जङ्घोरुषु च पिण्डिका[7] ॥ ९७ ॥
तालूदरं बस्तिशीर्षं चिबुके[8] गलशुण्डिके ।
अवटश्चैवमेतानि[9] स्थानान्यत्र शरीरके ॥ ९८ ॥

---

१. भिप्रायेण । २. क्लोमा । ३. वृक्कको । ४. कोष्ठौ विस्तरोऽय ५. दन्तावेष्टावेष्टौ कुकुन्दरे । ६. संघातकौ । ७. पिण्डिकाः । ८. चिबुकं । ९. अवटु ।

अक्षिकर्णचतुष्कं च पद्धस्तहृदयानि च[1] ।
नव च्छिद्राणि तान्येव प्राणस्यायतनानि तु ॥ ९९ ॥

कनीनिके अक्षितारके, अक्षिकूटे अक्षिनासिकयोः सन्धी, शष्कुली कर्णशष्कुली, कर्णपत्रकौ कर्णपाल्यौ, कर्णौ प्रसिद्धौ, दन्तवेष्टौ दन्तपाल्यौ, ओष्ठौ प्रसिद्धौ, ककुन्दरे जघनकूपकौ, वङ्क्षणौ जघनोरुसंधी, वृक्कौ पूर्वोक्तौ, स्तनौ च श्लेष्मसंघातजौ, उपजिह्वा घण्टिका, स्फिजौ कटिप्रोथौ, बाहू प्रसिद्धौ, जङ्घोरुषु च पिण्डिका जङ्घयोरूर्वोश्च पिण्डिका मांसलप्रदेशः, गलशुण्डिके हनुमूलगलयोः सन्धी, शीर्षं शिरः, अवटः शरीरे यः कश्चन निम्नो देशः कण्ठमूलकक्षादिः 'अवटुः' इति पाठे कृकाटिका; तथाक्ष्णोः कनीनिकयोः प्रत्येकं श्वेतं पार्श्वद्वयमिति वर्णचतुष्टयम् । यद्वा अक्षिपुटचतुष्टयम् । शेषं प्रसिद्धम् । एवमेतानि कुत्सिते शरीरे स्थानानि । तथाक्षियुगलं कर्णयुग्मं—नासाविवरद्वयमास्यं पायुरुपस्थमित्येतानि पूर्वोक्तानि नव च्छिद्राणि च प्राणस्यायतनान्येव ॥ ९६-९९ ॥

भाषा—आँख की पुतलियाँ, अक्षिकूट (आँखों एवं नाक की सन्धि), शष्कुली (कानों का भीतरी खण्ड), दोनों कर्णपत्रक (बाहर से दिखाई पड़ने वाले कान), दोनों कान, दोनों शङ्कु, दोनों भौंहें, दोनों दन्तवेष्ट (मसूड़े), दोनों ओठ, ककुन्दर (जघन के दो गड्ढे), दोनों वङ्क्षण (जंघा और ऊरु के जोड़), वृषण (अण्डकोश), दोनों वृक्क, श्लेष्मा से बने हुए दोनों स्तन, उपजिह्वा (घण्टिका), दो स्फिज् (कटिप्रोथ), बाहें, जाँघों और ऊरुओं की पिण्डिका, तालु उदर, पेड़ू, चिबुक (ठुड्डी), गलशुण्डिका, (ठुड्डी और गले का जोड़), शिर, शरीर में निम्न प्रदेश (जैसे कण्ठमूल, कांख आदि), दो आंखों के चार वर्ण, पैर, हाथ और हृदय तथा नौ छिद्र (दो आँखें, दो कान, नाक के दो छिद्र, मुख, पायु, उपस्थ)—ये सभी प्राण के निवासस्थान हैं ॥ ९६–९९ ॥

शिराः शतानि सप्तैव नव स्नायुशतानि च ।
धमनीनां शते द्वे तु पञ्च पेशीशतानि च ॥ १०० ॥

किंच, शिरा नाभिसंबद्धाश्चत्वारिंशत्संख्या वातपित्तश्लेष्मवाहिन्यः सकलकलेवरव्यापिन्यो नानाशाखाः सत्यः सप्तशतसंख्या भवन्ति । तथाङ्गप्रत्यङ्गसंधिबन्धनाः स्नायवो नवशतानि । धमन्यो नाम नाभेरुद्भूताश्चतुर्विंशतिसंख्याः प्राणादिवायुवाहिन्यः शाखाभेदेन द्विशतं भवन्ति । पेश्यः पुनर्मांसलाकारा ऊरुपिण्डकाद्यङ्गसंधिन्यः पञ्चशतानि भवन्ति ॥ १०० ॥

---

1. अक्षिवर्त्मचतुष्कं ।

भाषा—(वात-पित्त-श्लेष्मवाहिनी) शिराएँ सात सौ हैं; अस्थियों की बांधने वाली स्नायुएं, धमनियां (प्राणवाहिनी नाड़ियां) दो सौ और पेशियां पांच सौ होती हैं ॥ १०० ॥

पुनश्चासामेव शिरादीनां शाखाप्राचुर्येण संख्यान्तरमाह—

एकोनत्रिंशल्लक्षाणि तथा नव शतानि च ।
षट्पञ्चाशच्च जानीत शिरा धमनिसंज्ञिताः ॥ १०१ ॥

शिराधमन्यो मिलिताः शाखोपशाखाभेदेन एकोनत्रिंशल्लक्षाणि तथा नवशतानि षट्पञ्चाशच्च भवन्तीत्येवं हे सामश्रवःप्रभृतयः मुनयः ! जानीत ॥१०१॥

भाषा—(हे मुनियो) शिरा और धमनियाँ मिलकर (अपनी शाखाओं एवं उपशाखाओं के भेद से) उन्तीस लाख नौ सौ छप्पन होती हैं, इसे जानिये ॥ १०१ ॥

त्रयो लक्षास्तु विज्ञेयाः श्मश्रुकेशाः शरीरिणाम् ।
सप्तोत्तरं मर्मशतं द्वे च संधिशते तथा ॥ १०२ ॥

किंच, शरीरिणां श्मश्रूणि केशाश्च मिलिताः सन्तस्त्रयो लक्षा विज्ञेयाः । मर्माणि मरणकराणि क्लेशकराणि च स्थानानि तेषां सप्तोत्तरं शतं विज्ञेयम् । अस्थ्नां तु द्वे सन्धिशते स्नायुशिरादिसन्धयः पुनरनन्ताः ॥ १०२ ॥

भाषा—मनुष्यों के दाढ़ी-मूँछ और शिर के केश कुल मिलाकर बालों की संख्या तीन लाख समझनी चाहिए । एक सौ सात मर्मस्थल होते हैं और दो सौ अस्थियों के जोड़ होते हैं ॥ १०२ ॥

सकलशरीरसुषिरादिसंख्यामाह—

रोम्णां कोट्यस्तु पञ्चाशच्चतस्रः कोट्य एव च ।
सप्तषष्टिस्तथा लक्षाः सार्धाः स्वेदायनैः सह ॥ १०३ ॥
वायवीयैर्विगण्यन्ते विभक्ताः परमाणवः ।
यद्यप्येकोऽनुवेत्त्येषां[3] भावनां[4] चैव संस्थितिम् ॥ १०४ ॥

पूर्वोदितशिराकेशादिसहितानां रोम्णां परमाणवः सूक्ष्मसूक्ष्मतररूपा भागाः स्वेदस्रवणसुषिरैः सह चतुःपञ्चाशत्कोट्यः तथा सप्तोत्तरषष्टिलक्षाः सार्धाः पञ्चाशत्सहस्रसहिताः वायवीयैर्विभक्ताः पवनपरमाणुभिः पृथक्कृता विगण्यन्ते । एतच्च शास्त्रदृष्ट्याभिहितम् । चक्षुरादिकरणपथगोचरत्वाभावादस्यार्थस्य । इममतिगहनमर्थं शिरादिभावसंस्थानरूपं हे मुनयः ! भवतां मध्ये यः कश्चिदनुवेत्ति सोऽपि महान् अग्रणी बुद्धिमताम् । अतो यत्नतो बुद्धिमता बोद्धव्या भावसंस्थितिः ॥ १०३–१०४ ॥

---

१. लक्षाश्च । २. केशश्मश्रु शरीरिणाम् । ३. एको नु वेदैषां । ४. वेदैषां ।

भाषा—स्वेदायनों (त्वचा पर पसीना निकालने वाले सूक्ष्म छिद्रों) के रोओं को मिलाकर चौवन करोड़, सड़सठ लाख, पचास हजार रोएँ हैं। इनकी गिनती वायु के परमाणुओं द्वारा पृथक्-पृथक् किये जाने पर ही होती हैं। यदि आप लोगों (मुनियों) में कोई व्यक्ति इसे जानता है तो वह महान् है, क्योंकि इन्हें बुद्धिमान् व्यक्ति ही यत्नपूर्वक जान सकता है ॥१०३-१०४॥

शारीररसादिपरिमाणमाह—

रसस्य नव विज्ञेया जलस्याञ्जलयो दश।
सप्तैव तु पुरीषस्य रक्तस्याष्टौ प्रकीर्तिताः ॥ १०५ ॥
षट् श्लेष्मा पञ्च पित्तं तु चत्वारो मूत्रमेव च।
वसा त्रयो द्वौ तु मेदो मज्जैकोर्ध्वं तु मस्तके ॥ १०६ ॥
श्लेष्मौजसस्तावदेव रेतसस्तावदेव तु।
इत्येतदस्थिरं वर्ष्म यस्य मोक्षाय कृत्यसौ ॥ १०७ ॥

सम्यक्परिणताहारस्य सारो रसस्तस्य परिमाणं नवाञ्जलयः। पार्थिवपरमाणुसंश्लेषनिमित्तस्य जलस्याञ्जलयो दश विज्ञेयाः। पुरीषस्य वर्चस्कस्य सप्तैव। रक्तस्य जाठरानलपरिपाकापादितलौहित्यस्यान्नरसस्याष्टावञ्जलयः प्रकीर्तिताः। श्लेष्मणः कफस्य षडञ्जलयः। पित्तस्य तेजसः पञ्च। मूत्रस्योच्चारणस्य चत्वारः। वसाया मांसस्नेहस्य त्रयः। मेदसो मांससारस्य द्वावञ्जली। मज्जा त्वस्थिगतसुषिरगतस्तस्यैकोऽञ्जलिः। मस्तके पुनरर्धाञ्जलिः मज्जा श्लेष्मौजसः श्लेष्मसारस्य। तथा रेतसश्चरमधातोस्तावदेवार्धाञ्जलिरेव। एतच्च समधातुपुरुषाभिप्रायेणोक्तम्। विषमधातोस्तु न नियमः; 'वैलक्षण्याच्छरीराणामस्थायित्वात्तथैव च। दोषधातुमलानां च परिमाणं न विद्यते ॥' इत्यायुर्वेदस्मरणात्। इतीदृशमस्थिरनात्वाधारभूतमेतदशुचिनिधानं वर्ष्मास्थिरमिति यस्य बुद्धिरसौ कृती पण्डितो मोक्षाय समर्थो भवति। वैराग्यनित्यानित्यविवेकयोर्मोक्षोपायत्वात्, अस्थिमूत्रपुरीषादिप्राचुर्यज्ञानस्य वैराग्यहेतुत्वात्। अत एव व्यासः— 'सर्वाशुचिनिधानस्य कृतघ्नस्य विनाशिनः। शरीरकस्यापि कृते मूढाः पापानि कुर्वते ॥ यदि नामास्य कायस्य यदन्तस्तद्बहिर्भवेत्। दण्डमादाय लोकोऽयं शुनः काकांश्च वारयेत् ॥' इति। तस्मादीदृशकुत्सितशरीरस्यात्यन्तिकविनिवृत्त्यर्थमात्मोपासने प्रयतितव्यम् ॥ १०५-१०७ ॥

भाषा—(शरीर में आहार का सारभूत) रस नौ अञ्जलि समझनी चाहिए, जल दस अञ्जलि, पुरीष सात अञ्जलि और रक्त आठ अञ्जलि बताया गया है। कफ छः, पित्त पाँच, मूत्र चार, वसा तीन, मेदस् दो और मज्जा

१. मज्जैकोऽर्धं। २. च।

(अस्थि की) एक अञ्जलि होती है तथा मस्तक में आधी अञ्जलि मज्जा होती है। श्लेष्म का सार भी उतना ही (आधी अञ्जलि) होता है और वीर्य भी उतना ही (आधी अञ्जलि) होता है। इसप्रकार निर्मित यह शरीर अस्थिर है ऐसी मति वाला व्यक्ति ही मोक्ष-प्राप्ति में समर्थ होता है ॥ १०५–१०७ ॥

उपासनीयात्मस्वरूपमाह—

द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयादभिनिःसृताः।
[1]हिताहिता नाम नाड्यस्तासां मध्ये शशिप्रभम् ॥ १०८ ॥
मण्डलं तस्य मध्यस्थ आत्मा दीप इवाचलः।
स ज्ञेयस्तं विदित्वेह पुनराजायते न तु ॥ १०९ ॥

हृदयप्रदेशादभिनिःसृताः कदम्बकुसुमकेसरवत्सर्वतो निर्गता हिताहितकरत्वेन हिताहितेतिसंज्ञा द्वासप्ततिसहस्राणि नाड्यो भवन्ति। अपरास्तिस्रो नाड्यस्तासामिडापिङ्गलाख्ये द्वे नाड्यौ सव्यदक्षिणपार्श्वगते हृदि विपर्यस्ते नासाविवरसंबद्धे प्राणापानायतने। सुषुम्नाख्या पुनस्तृतीया दण्डवन्मध्ये ब्रह्मरन्ध्रविनिर्गता। तासां नाडीनां मध्ये मण्डलं चन्द्रप्रभं तस्मिन्नात्मा निर्वातस्थदीप इवाचलः प्रकाशमान आस्ते स एवंभूतो ज्ञातव्यः। यतस्तत्साक्षात्करणादिह संसारे न पुनः संसरति अमृतत्वं प्राप्नोति ॥ १०८–१०९ ॥

भाषा—हृदयप्रदेश से निकली हुई हित और अहित नामकी बहत्तर सहस्र नाडियां होती हैं और इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना नाम की तीन नाड़ियां हैं, इन सभी नाड़ियों के बीच चन्द्रमा के प्रकाश के समान ज्योति से प्रकाशित मण्डल है; उसके बीच में आत्मा दीपक के समान अचल होकर स्थित रहता है। उस आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। उसे जानने पर मनुष्य पुनः इस संसार में जन्म नहीं लेता ॥ १०८-१०९ ॥

ज्ञेयं चारण्यकमहं यदादित्यादवाप्तवान्।
योगशास्त्रं च मत्प्रोक्तं ज्ञेयं योगमभीप्सता ॥ ११० ॥

किंच, चित्तवृत्तेर्विषयान्तरतिरस्कारेणात्मनि स्थैर्यं योगस्तत्प्राप्त्यर्थं बृहदारण्यकाख्यमादित्याद्यन्मया प्राप्तं तच्च ज्ञातव्यम्। तथा यन्मयोक्तं योगशास्त्रं तदपि ज्ञातव्यम् ॥ ११० ॥

भाषा—(चित्तवृत्ति के निरोध के लिए) 'बृहदारण्यक' का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, जो मैंने सूर्य देवता से पाया है; और योग की इच्छा रखने वाले को मेरा रचा हुआ योगशास्त्र जानना चाहिए ॥ ११० ॥

---

1. हिता नाम हि ता नाड्यः।

कथं पुनरसावात्मा ध्यातव्य इत्यत आह—

अनन्यविषयं कृत्वा मनोबुद्धिस्मृतीन्द्रियम् ।
ध्येय आत्मा स्थितो योऽसौ हृदये दीपवत्प्रभुः ॥ १११ ॥

आत्मव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनोबुद्धिस्मृतीन्द्रियाणि प्रत्याहृत्य आत्मैकविषयाणि कृत्वा आत्मा ध्येयः। योऽसौ प्रभुर्निर्वातस्थप्रदीपवद्दीप्यमानो निष्प्रकम्पो हृदि तिष्ठति। एतदेव तस्य ध्येयत्वं यच्चित्तवृत्तेर्बहिर्विषयावभासतिरस्कारेणात्मप्रवणता नाम शरावसंपुटनिरुद्धप्रभाप्रतानप्रसरस्येव प्रदीपस्यैकनिष्ठत्वम् ॥ १११ ॥

भाषा—मन, बुद्धि और स्मृति इन्द्रियों को विषयों से मोड़कर एकाग्रचित्त हो आत्मा का ध्यान करना चाहिए; जो हृदय में दीपक के समान स्थित है ॥ १११ ॥

यस्य पुनश्चित्तवृत्तिर्निराकारालम्बनतया समाधौ नाभिरमते तेन शब्दब्रह्मोपासनं कार्यमित्याह—

[1]यथाविधानेन पठन्सामगायमविच्युतम् ।
सावधानस्तदभ्यासात्परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ११२ ॥

स्वाध्यायावगतमार्गानतिक्रमेण सामगायं सामगानम्। साम्नो गानात्मकत्वेऽपि गायमिति विशेषणं प्रगीतमन्त्रव्युदासार्थम्। अविच्युतमस्खलितं सावधानः सामध्वन्यनुस्यूतात्मैकाग्रचित्तवृत्तिः पठंस्तदभ्यासवशात् तत्र निष्णातः शब्दाकारशून्योपासनेन परं ब्रह्माधिगच्छति। तदुक्तम्—'शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति' इति ॥ ११२ ॥

भाषा—(समाधि करने में असमर्थ होने पर) विधिपूर्वक नियमित रूप से एवं सावधान होकर सामगान का पाठ करने वाला एवं उसके अभ्यास में तत्पर रहने वाला ब्रह्म को प्राप्त करता है ॥ ११२ ॥

यस्य पुनर्वैदिक्यां गीतौ चित्तं नाभिरमते तेन लौकिकगीतानुस्मृतात्मोपासनं कार्यमित्याह—

[4]अपरान्तकमुल्लोप्यं मद्रकं प्रकरीं तथा ।
[6]औवेणकं सरोबिन्दुमुत्तरं गीतकानि च ॥ ११३ ॥
ऋग्गाथा पाणिका दक्षविहिता ब्रह्मगीतिका ।
गेयमेतत्तदभ्यासकरणान्मोक्षसंज्ञितम् ॥ ११४ ॥

---

१ यथावधानेन पठन्साम गायत्यविस्वरम् । २. स्तथाभ्यासात्प । ३. अनुस्मृतात्मैक । ४. अपरान्तिक । ५. मकरीं । ६. त्रैवेणुकं सुरात्रिन्दमु । ७. ऋग्गाथाः । ८. ब्रह्मगीतिकाः । ९. गायन्नेतत्त ।

अपरान्तकोल्लोप्यमद्रकप्रकर्यौवेणकानि सरोबिन्दुसहितं चोत्तरमित्येतानि-प्रकरणाख्यानि सप्त गीतकानि । 'च' शब्दादासारितवर्धमानकादिमहागीतानि-गृह्यन्ते । ऋग्गाथाद्याश्चतस्रो गीतिका इत्येतदपरान्तकादिगीतजातमध्यारोपिता-त्मभावं मोक्षसाधनत्वान्मोक्षसंज्ञितं मन्तव्यम् । तदभ्यासस्यैकाग्रतापादनद्वारे-णात्मैकतापत्तिकारणत्वात् ॥ ११३-११४ ॥

भाषा—(सामगान में भी मन न लगने पर) अपरान्तक, उल्लोप्य, मद्रक, प्रकरी, औवेणक तथा सरोविन्दु सहित उत्तर गीतों का, ऋग्गाथा, पाणिका, दक्षविहिता और ब्रह्मगीतिका का गान करे । इनके अभ्यास से मोक्ष का साधन (चित्त की एकाग्रता) की प्राप्ति बताई गयी है ॥ ११३-११४ ॥

वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः ।
तालज्ञश्चाप्रयासेन[1] मोक्षमार्गं नियच्छति ॥ ११५ ॥

किंच, भरतादिमुनिप्रतिपादितवीणावादनतत्त्ववेदी । श्रूयत इति श्रुतिः द्वाविंशतिविधा सप्तस्वरेषु । तथा हि—षड्जमध्यमपञ्चमाः प्रत्येकं चतुःश्रुतयः ऋषभधैवतौ प्रत्येकं त्रिश्रुती गान्धारनिषादौ प्रत्येकं द्विश्रुती इति । जातयस्तु षड्जादयः सप्त शुद्धाः संकरजातयस्त्वेकादशेत्येवमष्टादशविधास्तासु विशारदः प्रवीणः । ताल इति गीतपरिमाणं[2] कथ्यते । तत्स्वरूपज्ञश्च तदनुविद्धब्रह्मोपासन-तया तालादिभङ्गभयाच्चित्तवृत्तेरात्मैकाग्रतायाः सुकरत्वादल्पायासेनैव मुक्तिपथं नियच्छति प्राप्नोति ॥ ११५ ॥

भाषा—(भरत आदि मुनियों द्वारा प्रतिपादित विधि से) वीणा-वादन का मर्मज्ञ, श्रुति (जो सात स्वरों में बाइस प्रकार की होती है), तथा जाति (षड्ज आदि सात शुद्ध और ग्यारह संकर जातियाँ कुल मिलाकर अठारह) में प्रवीण, और ताल का ज्ञान रखने वाला (चित्त की एकाग्रता के सुकर होने से) अल्प प्रयत्न से ही मुक्ति का मार्ग प्राप्त कर लेता है ॥११५॥

चित्तविक्षेपाद्यन्तरायहतस्य गीतज्ञस्य फलान्तरमाह—

गीतज्ञो यदि योगेन[3] नाप्नोति परमं पदम् ।
रुद्रस्यानुचरो[4] भूत्वा तेनैव सह मोदते ॥ ११६ ॥

गीतज्ञो यदि कथंचिद्योगेन परमं पदं नाप्नोति तर्हि रुद्रस्य सचिवो भूत्वा तेनैव सह मोदते क्रीडति ॥ ११६ ॥

भाषा—गीत जानने वाला यदि किसी प्रकार योग द्वारा परम पद नहीं प्राप्त कर पाता तो रुद्र का अनुचर होकर उन्हीं के साथ क्रीडा करता है ॥११६॥

---

१. प्रयत्नेन । २. गीतप्रमाणं कल्प्यते । ३. गीतेन । ४. भूत्वा सह तेनैव ।

पूर्वोक्तमुपसंहरति—

अनादिरात्मा कथितस्तस्यादिस्तु शारीरकम् ।
[1]आत्मनस्तु जगत्सर्वं जगतश्चात्मसंभवः ॥ ११७ ॥

प्रागुक्तरीत्या अनादिरात्मा क्षेत्रज्ञस्तस्य च शरीरग्रहणमेवादिरुद्भवः कथितः 'अजः शरीरग्रहणाद्' (प्रा० ६९) इत्यत्र । परमात्मनश्च सकाशात्पृथिव्यादिसकलभुवनोद्भवः तस्मादुद्भूतेभ्यश्च पृथिव्यादिभूतसंघातेभ्यो जीवानां स्थूलशरीरतया संभवश्च कथितः 'सर्गादौ स यथाकाशं' (प्रा० ७०) इत्यादिना ॥११७॥

भाषा—(उपरोक्त रीति से) आत्मा अनादि हैः उसका शरीर से युक्त होना ही उद्भव कहा गया है । आत्मा (अर्थात् परमात्मा) से ही पृथिवी आदि सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति होती है और पृथिवी आदि जगत्प्रपंच से आत्मा स्थूल शरीर में उत्पन्न होता है ॥ ११७ ॥

एतदेव प्रश्नपूर्वकं विवृणोति—

कथमेतद्विमुह्यामः सदेवासुरमानवम् ।
जगदुद्भूतमात्मा च कथं तस्मिन्वदस्व नः ॥ ११८ ॥

यदेतत्सकलसुरासुरमनुजादिसहितं जगदात्मनः सकाशात्कथमुत्पन्नं, आत्मा च तस्मिन् जगति कथं तिर्यङ्नरसरीसृपादिशरीरभाग्भवतीत्येतस्मिन्नर्थे विमुह्यामः । अतो मोहापनुत्त्यर्थमस्माकं विस्तरशो वदस्व ॥ ११८ ॥

भाषा—(मुनियों ने प्रश्न किया) देवता, असुर और मनुष्य आदि से युक्त यह संसार आत्मा से कैसे उत्पन्न हुआ और उस जगत्प्रपंच में आत्मा किस प्रकार शरीर ग्रहण कर लेता है, इसे हम समझ नहीं पा रहे हैं, कृपया विस्तारपूर्वक बतावें ॥ ११८ ॥

एवं मुनिभिः पृष्टः प्रत्युत्तरमाह—

मोहजालमपास्येह पुरुषो दृश्यते हि यः ।
सहस्रकरपन्नेत्रः सूर्यवर्चाः सहस्रकः ॥ ११९ ॥
स आत्मा चैव यज्ञश्च विश्वरूपः प्रजापतिः ।
विराजः सोऽन्नरूपेण यज्ञत्वमुपगच्छति ॥ १२० ॥

इह जगति यदिदं स्थूलकलेवरादावनात्मन्यात्माभिमानरूपं मोहजालं तदपास्य तद्व्यतिरिक्तो यः पुरुषोऽनेककरचरणलोचनः सूर्यवर्चाः अनन्तरश्मिः सहस्रकः बहुशिरा दृश्यते । एतच्च तत्तद्गोचरशक्त्याधारतयोच्यते; तस्य साक्षात्कारादिसंबन्धाभावात् । स एवात्मा यज्ञः प्रजापतिश्च । यतोऽसौ

---

१. आत्मनश्च । २. संभूताश्च पृथिव्यादिभूतसंघाताः जीवानां । ३. विराट् च ।

विश्वरूपः सर्वात्मकः। वैश्वरूप्यमेव कथमिति चेत्। यस्मादसौ विराजः पुरोडाशाद्यन्नरूपेण यज्ञत्वमुपगच्छति। यज्ञाच्च वृष्ट्यादिद्वारेण प्रजासृष्टिरित्येवं वैश्वरूप्यम् ॥ ११९–१२० ॥

भाषा—(याज्ञवल्क्य मुनि ने उत्तर दिया—) इस संसार में (स्थूल-कलेवर आदि में, जो आत्मा नहीं है, आत्मा का भान करने के) मोहजाल को छोड़कर जो अनेक हाथ, पैर, नेत्र वाला, सूर्य के समान अनन्त किरणों वाला तथा अनेक शिरवाला दिखाई पड़ता है वही आत्म है, यज्ञ और प्रजापति है, वह विश्वरूप है जिससे विराज (पुरोडाश आदि) अन्न के रूप में यज्ञ होता है। (यज्ञ से वृष्टि होती है और उससे प्रजा को सृष्टि होती है) ॥ ११९–१२० ॥

एतदेव प्रपञ्चयति—

यो द्रव्यदेवतात्यागसंभूतो रस उत्तमः।
देवान्संतर्प्य स रसो यजमानं फलेन च ॥ १२१ ॥
संयोज्य वायुना सोमं नीयते रश्मिभिस्ततः।
ऋग्यजुःसामविहितं सौरं धामोपनीयते ॥ १२२ ॥
खमण्डलादसौ सूर्यः सृजत्यमृतमुत्तमम्।
यज्जन्म सर्वभूतानामशनानशनात्मनाम् ॥ १२३ ॥
तस्मादन्नात्पुनर्यज्ञः पुनरन्नं पुनः क्रतुः।
एवमेतदनाद्यन्तं चक्रं संपरिवर्तते ॥ १२४ ॥

द्रव्यस्य चरुपुरोडाशादेर्देवतोद्देशेन त्यागाद्यो रसः अदृष्टरूपमात्मनः परिणत्यन्तरमुत्तमः सकलजगज्जन्मबीजतयोत्कृष्टतमः संभूतः स देवान्संप्रदानकारकभूतान्सम्यक्प्रीणयित्वा यजमानं चाभिलषितफलेन संयोज्य पवनेन प्रेर्यमाणश्चन्द्रमण्डलं प्रति नीयते। ततः शशिमण्डलाद्रश्मिभिर्भानुमण्डलम्। सैषा त्रय्येव विद्या तपतीत्यभेदाभिधानात् ऋग्यजुःसाममयं प्रत्युपनीयते। ततश्च खमण्डलादसौ सूर्योऽमृतरसं वृष्टिरूपमुत्तमं यत्सकलभूतानामशनानशनात्मनां चराचराणां जननिमित्तं तत्सृजति। तस्माद् वृष्टिसंपादितौषधिमयात्प्रजोत्पत्तिहेतोरन्नात्पुनर्यज्ञः, यज्ञाच्च पूर्वाभिहितभङ्ग्या पुनरन्नं, अन्नाच्च पुनः क्रतुरित्येवमेतदखिलं संसारचक्रं प्रवाहरूपेणोत्पत्तिविनाशविरहितं सम्यक्परिवर्तत इत्यनेन क्रमेणात्मनः सकाशादखिलजगदुत्पत्तिः। तत्र चात्मनः स्वकर्मानुरूपविग्रहपरिग्रहः ॥ १२१–१२४ ॥

---

१. त्यागात्संभूतो। २. तन्मण्डलमसौ। ३. प्रत्युपनीयते।
४. भिहितसंज्ञात्पुनरन्नं।

भाषा—जो चरु पुरोडाश आदि द्रव्य को देवताओं के निमित्त अर्पित करने पर उत्तम (सम्पूर्ण जगत् के जन्म का बीज होने से उत्कृष्टतम) उत्पन्न होता है वह रस देवताओं को तृप्त करके और अभिलषित फल से यजमान को युक्त करके, वायु द्वारा प्रेरित हो कर चन्द्रमण्डल में पहुँचता है; वहाँ से वह सूर्य के मण्डल में पहुँचता है, जो, ऋक्, यजुस् और साम तीन वेदों का ही रूप होता है। यह सूर्य अपने मण्डल से उत्तम अमृत (वृष्टि) छोड़ता है, जो सम्पूर्ण चर और अचर भूतों के जन्म का कारण होता है। उस वृष्टि से उत्पन्न अन्न द्वारा पुनः यज्ञ होता है; पुनः अन्न होता है और तब फिर यज्ञ होता है, इस प्रकार यह अनादि और अनन्त चक्र घूमता रहता है ॥ १२१-१२४ ॥

ननु यद्यात्मनः संसरणमनाद्यन्तं तर्ह्यनिर्मुक्तिप्रसङ्ग इत्यत आह—

अनादिरात्मा संभूतिर्विद्यते नान्तरात्मनः।
समवायी तु पुरुषो मोहेच्छाद्वेषकर्मजः ॥ १२५ ॥

यद्यप्यात्मनोऽनादित्वात्संभूतिर्न विद्यते अन्तरात्मनः शरीरव्यापिनः तथापि पुरुषः शरीरेण समवायी भवति भोगायतने सुखदुःखात्मकं भोग्यजातमुपभुङ्क्ते इत्येवंभूतेन संबन्धेन संबन्धी भवत्येव। स च समवायो मोहेच्छाद्वेषजनितकर्मनिर्मेयो नतु निसर्गजातः। तस्य कार्यत्वेन विनाशोपपत्तेर्न निर्मुक्तिः ॥ १२५ ॥

भाषा—यद्यपि आत्मा के अनादि होने से शरीरव्यापी अन्तरात्मा की उत्पत्ति नहीं होती, तथापि पुरुष (आत्मा) शरीर से समवायी होता है (सुख-दुःख आदि का भोग करता है) और यह समवाय मोह, इच्छा और द्वेष जनित कर्मों से उत्पन्न होता है (नैसर्गिक नहीं होता) ॥ १२५ ॥

आत्मनो जगज्जन्मेत्युक्तं तत्प्रपञ्चयितुमाह—

सहस्रात्मा मया यो व आदिदेव उदाहृतः।
मुखबाहूरुपज्जाः स्युस्तस्य वर्णा यथाक्रमम् ॥ १२६ ॥
पृथिवी पादतस्तस्य शिरसो[1] द्यौरजायत।
नस्तः प्राणा दिशः श्रोत्रात्स्पर्शाद्वायुर्मुखाच्छिखी ॥१२७॥
मनसश्चन्द्रमा जातश्चक्षुषश्च दिवाकरः।
जघनादन्तरिक्षं च जगच्च सचराचरम् ॥ १२८ ॥

योऽसौ सकलजीवात्मकतया प्रपञ्चात्मकतया च सहस्रात्मा बहुरूपस्तथा सकलजगद्धेतुतया आदिदेवो मया युष्माकमुदाहृतः तस्य वदनभुजसक्थिचरण-

---

१. शिरस्तो।

जाता यथाक्रममग्रजन्मादयश्चत्वारो वर्णाः । तथा तस्य पादाद् भूमिः, मस्तकात्सुरसद्म, घ्राणात्प्राणाः, कर्णात्ककुभः, स्पर्शात्पवनः, वदनाद्धुतवहः, मनसः शशाङ्कः, नेत्राद् भानुः, जघनाद्गगनं, जङ्गमाजङ्गमात्मकं जगच्च ॥१२६–१२८॥

भाषा—जिस (सकलजीवात्मक) अनेक रूप वाले आदिदेव का मैंने वर्णन किया है, उसके मुख, बाहु, ऊरु और पैर से क्रमशः चारों वर्ण हुए। उसके पैरों से पृथिवी और शिर से द्युलोक उत्पन्न हुआ। नासिका से प्राण, श्रोत्र से दिशाएँ, स्पर्श से वायु और मुख से अग्नि उत्पन्न हुआ। उसके मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ और नेत्रों से सूर्य, उसके जघन से अन्तरिक्ष एवं चर और अचर संसार की उत्पत्ति हुई ॥ १२६–१२८ ॥

अत्र चोदयन्ति—

> यद्येवं स कथं ब्रह्मन्पापयोनिषु जायते ।
> ईश्वरः स कथं भावैरनिष्टैः संप्रयुज्यते ॥ १२९ ॥

हे ब्रह्मन् योगीश्वर ! यद्यात्मैव जीवादिभावं भजते तर्हि कथमसौ पापयोनिषु मृगपक्ष्यादिषु जायते ? अथ मोहरागद्वेषादिदोषदुष्टत्वात्तत्र[1] जन्मेत्युच्यते । तच्च न,-यस्मादीश्वरः स्वतन्त्रः कथमनिष्टैर्मोहरागादिभावैः संयुज्यते ?॥१२९॥

भाषा—हे ब्रह्मन् (योगीश्वर-याज्ञवल्क्य) ! यदि ऐसी बात है तो वह आत्मा (मृग, पक्षी आदि) पाप योनियों में क्यों जन्म लेता है ? वह ईश्वर होकर किस प्रकार (मोह, राग आदि) दुर्भावनाओं से युक्त होता है ? ॥ १२९ ॥

> करणैरन्वितस्यापि[2] पूर्वं[3] ज्ञानं कथं च न ।
> वेत्ति सर्वगतां कस्मात्सर्वगोऽपि[4] न वेदनाम् ॥ १३० ॥

किंच, तथेदमप्यत्र दूषणम् । मनःप्रभृतिज्ञानोपायैः सहितस्यापि तस्यात्मनः पूर्वज्ञानं जन्मान्तरानुभूतविषयं कस्मान्नोत्पद्यते ? तथा सर्वप्राणिगतां वेदनां सुखदुःखादिरूपां स्वयं सर्वगोऽपि सर्वदेहगतोऽपि कस्मान्न वेत्ति ? तस्मादात्मैवेश्वरो जीवादिभावं भजत इत्ययुक्तम् ॥ १३० ॥

भाषा—मन, आदि ज्ञान-प्राप्ति के साधनों से युक्त होने पर भी उस आत्मा का पूर्वज्ञान (पिछले जन्म का अनुभव) क्यों नहीं होता ? स्वयं सभी शरीरों में विद्यमान होने पर भी वह सभी प्राणियों की (सुख-दुःख आदि) वेदना को क्यों नहीं जान पाता ॥ १३० ॥

---

१. तत्तज्जन्मेत्युच्यते । २. करणेनान्वितस्य । ३. पूर्वज्ञानं कथं च न । ४. सर्वज्ञोपि ।

तत्र पूर्वचोद्यस्योत्तरमाह—

अन्त्यपक्षिस्थावरतां मनोवाक्कायकर्मजैः ।
दोषैः प्रयाति जीवोऽयं भवं योनिशतेषु च ॥ १३१ ॥

यद्यपीश्वरः स्वरूपेण सत्यज्ञानानन्दलक्षणः तथाप्यविद्यासमावेशवशान्मोहरागादिभावैरभिभूयमानो नानाहीनयोनिजननसाधनं मानसादित्रिविधं कर्मनिचयमाचरति । तेन चान्त्यादिहीनयोनितामापद्यते । अन्त्याश्चण्डालादयः, पक्षिणः काकादयः, स्थावरा वृक्षादयः तेषां भावोऽन्त्यपक्षिस्थावरता तां यथाक्रमेण मनोवाक्कायारब्धकर्मदोषैर्जन्मसहस्रेष्वयं जीवः प्राप्नोति ॥ १३१ ॥

भाषा—(याज्ञवल्क्य प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हैं) यह जीव (सत्य, ज्ञान और आनन्द स्वरूप ईश्वर होते हुए भी) मन, वाणी और शरीर द्वारा किये गये कर्म से उत्पन्न दोषों के कारण चण्डाल, पक्षी और वृक्ष आदि स्थावर पदार्थों का रूप सैकड़ों योनियों में प्राप्त करता है ॥ १३१ ॥

अनन्ताश्च[1] यथा भावाः शरीरेषु शरीरिणाम् ।
रूपाण्यपि तथैवेह सर्वयोनिषु देहिनाम् ॥ १३२ ॥

किंच, शरीरिणां जीवानां शरीरेषु भावा अभिप्रायविशेषाः सत्वाद्युद्रेकतारतम्याद्यथाऽनन्तास्तथा तत्कार्याण्यपि रूपाणि कुब्जवामनत्वादीनि देहिनां सर्वयोनिषु भवन्ति ॥ १३२ ॥

भाषा—जीवों के अपने-अपने शरीरों में जिस प्रकार के अनन्त भाव होते हैं उसी प्रकार के रूप भी सभी योनियों में देहियों को प्राप्त होते हैं ॥

ननु यदि कर्मजन्यानि कुब्जत्वादीनि तर्हि कर्मानन्तरमेव तैर्भवितव्यमित्याशङ्क्याह—

विपाकः कर्मणां प्रेत्य केषांचिदिह जायते ।
इह[2] वाऽमुत्र वैकेषां भावस्तत्र प्रयोजनम् ॥ १३३ ॥

केषांचिज्ज्योतिष्टोमादिकर्मणां विपाकः फलं प्रेत्य देहान्तरे भवति । केषांचित्कारीर्यादिकर्मणां वृष्ट्यादिफलमिहैव भवति । केषांचिच्चित्राादीनां फलं पश्वादिकमिह देहान्तरे वेत्यनियतम् । नह्यनन्तरमेव कर्मफलेन भवितव्यमिति शास्त्रार्थः । अत्र च कर्मणां शुभाशुभफलजनकत्वे सत्त्वादिभाव एव प्रयोजकभूतस्तदायत्तत्वात्फलतारतम्यस्य ॥ १३३ ॥

भाषा—कुछ (ज्योतिष्टोम आदि) कर्मों के फल मृत्यु के उपरान्त दूसरा शरीर मिलने पर प्राप्त होते हैं और कुछ कर्मों के फल इसी लोक में

---

१. अनन्ता हि । २. इह चामुत्र चैकेषां ।

मिल जाते हैं। कुछ कर्मों का फल इस लोक में या देहान्तर में निश्चित रूप से प्राप्त होता है। कर्मों के शुभाशुभ फल के विषय में सत्त्वादि भाव ही प्रयोजन हैं ॥ १३३ ॥

मनोवाक्कायकर्मजैरन्त्यादियोनीः प्राप्नोतीत्युक्तं, तत्प्रपञ्चयितुमाह—

परद्रव्याण्यभिध्यायंस्तथानिष्टानि चिन्तयन्।
वितथाभिनिवेशी च जायतेऽन्त्यासु योनिषु ॥ १३४ ॥

परधनानि कथमहमपहरेयमित्याभिमुख्येन ध्यायंस्तथाऽनिष्टानि ब्रह्महत्यादीनि हिंसात्मकानि करिष्यामीति चिन्तयन् वितथे असत्यभूते वस्तुनि अभिनिवेशः पुनः पुनः संकल्पस्तद्वांश्च श्वचण्डालाद्यन्त्ययोनिषु जायते ॥ १३४ ॥

भाषा—दूसरे के धन के अपहरण का अवसर ढूंढते रहने वाला, (ब्रह्महत्यादि) पापों का ही चिन्तन करने वाला, तथा असत्य वस्तुओं में पुनः पुनः संकल्प करने वाला कुत्ता, चण्डाल आदि अन्त्ययोनियों में जन्म लेता है ॥ १३४ ॥

पुरुषोऽनृतवादी च पिशुनः परुषस्तथा।
अनिबद्धप्रलापी च मृगपक्षिषु जायते ॥ १३५ ॥

किंच, यस्त्वनृतवदनशीलः पुरुषः पिशुनः कर्णेजपः परुषः परोद्वेगकरभाषी अनिबद्धप्रलापी प्रकृतासङ्गतार्थवादी च बुद्धिपूर्वाबुद्धिपूर्वादितारतम्याद्धीनोत्कृष्टेषु मृगपक्षिषु जायते ॥ १३५ ॥

भाषा—असत्यवादी, पिशुन (चुगलखोर), कठोर वचन कहने वाला और असङ्गत भाषण करने वाला मृग और पक्षी की योनि में जन्म लेता है ॥

अदत्तादाननिरतः परदारोपसेवकः।
हिंसकश्चाविधानेन स्थावरेष्वभिजायते ॥ १३६ ॥

किंच, अदत्तादाननिरतः अदत्तपरधनापहारप्रसक्तः परदारप्रसक्तश्च अविहितमार्गेण प्राणिनां घातकश्च दोषगुरुलघुभावतारतम्यात्तरुलताप्रतानादिस्थावरेषु जायते ॥ १३६ ॥

भाषा—बिना दिए हुए ही दूसरे की वस्तु का अपहरण करने में रत, परस्त्री में आसक्त और (अविहित विधि से यज्ञ-प्रयोजन के बिना ही) प्राणियों की हिंसा करने वाला स्थावर (वृक्ष, लता आदि) की योनियों में उत्पन्न होता है ॥ १३६ ॥

---

१. योनितो प्राप्नोतीति। २. पुरुषस्तथा। ३. पूर्वाबुद्ध्यादि। ४. स्थावरेषूपजायते।

सत्त्वादिगुणपरिपाकमाह—

आत्मज्ञः शौचवान्दान्तस्तपस्वी विजितेन्द्रियः।
धर्मकृद्वेदविद्यावित्सात्त्विको देवयोनिताम्॥ १३७॥

आत्मज्ञो विद्याधनाभिजनाद्यभिमानरहितः, शौचवान् बाह्याभ्यन्तरशौचयुक्तः, दान्त उपशमान्वितः, तपस्वी कृच्छ्रादितपोयुक्तः, तथेन्द्रियार्थेष्वप्रसक्तः, नित्यनैमित्तिकधर्मानुष्ठाननिरतः, वेदार्थवेदी च यः, सात्त्विकः। स च सत्त्वोद्रेकतारतम्य[2]वशादुत्कृष्टोत्कृष्टतरसुरयोनितां प्राप्नोति॥ १३७॥

भाषा—आत्मज्ञानी, पवित्र, शान्त चित्त वाला, तपस्वी, इन्द्रियों को वश में रखने वाला, धर्मनिष्ठ और वेद विद्या का ज्ञान रखने वाला, सत्त्वगुण संपन्न व्यक्ति देव की योनि में जन्म पाता है॥ १३७॥

असत्कार्यरतोऽधीर आरम्भी विषयी च यः।
स राजसो मनुष्येषु मृतो जन्माधिगच्छति॥ १३८॥

किंच, असत्कार्येषु तूर्यवादित्रनृत्यादिष्वभिरतो यः तथा अधीरो व्यग्रचित्तः आरम्भी सदा कार्याकुलो विषयेष्वतिप्रसक्तश्च, स रजोगुणयुक्तः। तद्गुणतारतम्याद्धीनोत्कृष्टमनुष्यजातिषु मरणानन्तरमुत्पत्तिं प्राप्नोति॥ १३८॥

भाषा—जो असत्कार्य (नृत्य, गीत आदि) में रत, अधीर, सदा कार्याकुल और विषयों में लिप्त रहता है वह रजोगुणी मृत्यु के उपरान्त मनुष्य योनि में जन्म पाता है॥ १३८॥

निद्रालुः क्रूरकृल्लुब्धो नास्तिको याचकस्तथा।
प्रमादवान्भिन्नवृत्तो भवेत्तिर्यक्षु तामसः॥ १३९॥

तथा च, यः पुनर्निद्राशीलः, प्राणिपीडाकरो, लोभयुक्तश्च, तथा नास्तिको धर्मादेर्निन्दकः, याचनशीलः, प्रमादवान् कार्याकार्यविवेकशून्यः, विरुद्धाचारश्च; असौ तमोगुणयुक्तस्तत्तारतम्याद्धीनहीनतरपश्वादियोनिषु जायते॥ १३९॥

भाषा—निद्रालु (अधिक सोने वाला), प्राणियों को पीडित करने वाला; लोभी, नास्तिक, याचक, प्रमादी (विवेकहीन) और विरुद्ध आचरण वाला तमोगुणी पशु-पक्षियों की योनि में उत्पन्न होता है॥ १३९॥

पूर्वोक्तमुपसंहरति—

रजसा तमसा चैवं समाविष्टो भ्रमन्निह।
भावैरनिष्टैः संयुक्तः संसारं प्रतिपद्यते॥ १४०॥

---

१. धर्मकृद्वेदविद्याति सात्त्विको। २. तारतम्यादुत्कृष्ट। ३. पुनर्जन्माधिगच्छति।

एवमविद्याविद्धोऽयमात्मा रजस्तमोभ्यां सम्यगाविष्ट इह संसारे पर्यटन् नानाविधदुःखप्रदैर्भावैरभिभूतः पुनः पुनः संसारं देहग्रहणं प्राप्नोतीति । ईश्वरः स कथं भावैरनिष्टैः संप्रयुज्यत इत्यस्य चोद्यस्यानवकाशः ॥ १४० ॥

भाषा—(इस प्रकार अविद्या से युक्त) यह आत्मा रजोगुण एवं तमोगुण से पूर्णतः आविष्ट होकर इस लोक में भटकता हुआ, अनेक दुःखप्रद भावों से युक्त होकर पुनः पुनः संसार में आता है अर्थात् शरीर धारण करता है ॥ १४० ॥

यदपि 'करणैरन्वितस्यापि' (प्रा० १२०) इति द्वितीयं चोद्यं तस्योत्तरमाह—

मलिनो हि यथाऽऽदर्शो रूपालोकस्य न क्षमः ।
तथाऽविपक्वकरण आत्मज्ञानस्य न क्षमः ॥ १४१ ॥

यद्यप्यात्मा अन्तःकरणादिज्ञानसाधनसंपन्नस्तथापि जन्मान्तरानुभूतार्थावबोधे न समर्थः अविपक्वकरणो रागादिमलाक्रान्तचित्तो यस्मात्; यथा दर्पणो मलच्छन्नो रूपज्ञानोत्पादनसमर्थो न भवति ॥ १४१ ॥

भाषा—(दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हैं—) जिस प्रकार मलिन दर्पण रूप का ज्ञान कराने में समर्थ नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा राग आदि दोष से युक्त होने के कारण दूसरे जन्म के अनुभवों का ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ रहता है ॥ १४१ ॥

ननु प्राग्भवीयज्ञानस्याप्यात्मप्रकाशत्वात् तस्य च स्वतःसिद्धत्वान्नानुपलम्भो युक्त इत्याशङ्क्याह—

कट्वेर्वारौ यथाऽपक्वे मधुरः सन्नसोऽपि न ।
प्राप्यते ह्यात्मनि तथा नापक्वकरणे ज्ञता ॥ १४२ ॥

अपक्वे कट्वेर्वारौ तिक्तकर्कटिकायां विद्यमानोऽपि मधुरो रसो यथा नोपलभ्यते तथात्मन्यपक्वकरणे विद्यमानापि ज्ञता ज्ञातृता प्राग्भवीयवस्तुगोचरा न प्राप्यते ॥ १४२ ॥

भाषा—जिस प्रकार कडुई ककड़ी में रस होने पर भी वह विना पके प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा में ज्ञान रहते हुए भी अपक्वकरण की अवस्था में (रागादि विकारों से चित्त के मलिन रहने पर) उसे पूर्वजन्म के अनुभव का ज्ञान नहीं हो पाता ॥ १४२ ॥

---

१. अन्तःकरणादेर्ज्ञान । २ कट्वर्वारौ ।

'वेत्ति सर्वगतां कस्मात्सर्वगोऽपि न वेदनाम्' (प्रा० १३०) इति यदुक्तं, तत्रोत्तरमाह—

सर्वाश्रयां निजे देहे देही विन्दति वेदनाम् ।
योगी मुक्तश्च सर्वासां [1]यो न चाप्नोति वेदनाम् ॥ १४३ ॥

यः पुनर्देही देहाभिमानयुक्तः, स सर्वाश्रयामाध्यात्मिकादि[2]रूपां वेदनां स्वकर्मोपार्जित एव देहे प्राप्नोति, न देहान्तरगतां भोगायतनारम्भादृष्टवैलक्षण्यादेव; यस्तु योगी मुक्तो मुक्ताहंकारादिः सकलक्षेत्रज्ञगतानां सुखदुःखादिसंविदां वेदिता भवति परिपक्वकरणत्वात् ॥ १४३ ॥

भाषा—जो शरीरधारी अपने शरीर के अभिमान से युक्त होता है वह सब प्रकार की (आध्यात्मिक आदि) वेदनाएँ उस शरीर से ही प्राप्त करता है। योगी और मुक्त (अहंकारहीन) सभी प्राणियों की सुख-दुःखादि वेदना का ज्ञाता होता है। (क्योंकि उसका चित्त रागादि मल से आच्छन्न नहीं रहता) ॥ १४३ ॥

नन्वेकस्मिन्नात्मनि सुरनरादिदेहेषु भेदप्रत्ययो न घटत इत्याशङ्क्याह—

आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग्भवेत् ।
तथात्मैको ह्यनेकश्च जलाधारेष्विवांशुमान् ॥ १४४ ॥

यथैकमेव गगनं कूपकुम्भाद्युपाधिभेदभिन्नं नानेवानुभूयते, यथा वा भानुरेकोऽपि भिन्नेषु जलभाजनेषु करकमणिकमल्लिकादिषु नानेवानुभूयते, तथैकोऽप्यात्मा अन्तःकरणोपाधिभेदेन नाना प्रतीयते । द्वितीयदृष्टान्तोपादानमात्मभेदस्यापारमार्थिकत्वद्योतनार्थम् ॥ १४४ ॥

भाषा—जिस प्रकार आकाश एक ही है किन्तु घट आदि पात्रों में पृथक्-पृथक् अनेक प्रतीत होता है एवं जिस प्रकार सूर्य एक होता हुआ भी भिन्न-भिन्न जलपात्रों में अनेक प्रतीत होता है; उसी प्रकार आत्मा भी (समष्टि और व्यष्टि भेद से) एक और अनेक है ॥ १४४ ॥

'पञ्चधातून्स्वयं षष्ठ आदत्ते युगपत्प्रभुः' (प्रा० ७२) इत्याद्युक्तमर्थमुपसंहरन्नाह—

ब्रह्मखानिलतेजांसि जलं भूश्चेति धातवः ।
इमे लोका एष चात्मा तस्माच्च सचराचरम् ॥ १४५ ॥

ब्रह्म आत्मा, खं गगनं, अनिलो वायुः, तेजोऽग्निः, जलं प्रसिद्धं, भूश्चेत्येते वातादिधातव एव शरीरं व्याप्य धारयन्तीति धातवोऽभिधीयन्ते । तत्र खादयः पञ्च धातवः लोक्यन्ते दृश्यन्ते इति लोकाः । जडा इति यावत् । एष चिद्धातुरात्मा एतस्माज्जडाजडसमुदायात्स्थावरजङ्गमात्मकं जगदुत्पद्यते ॥१४५॥

---

१. ज्ञाता नाप्नोति वेदनाम् । यो न वाप्नोति । २. त्मिकादिबहुरुं ।ष्क

भाषा—ब्रह्म (आत्मा), आकाश, वायु, तेज, अग्नि, जल और पृथिवी ये (शरीर को व्याप्त कर धारण करने के कारण) धातु कहे जाते हैं। ये ही (आकाश आदि अवलोकित होने के कारण) लोक (या जग) हैं और यह ज्ञानमय आत्मा होता है; इन्हीं के समुदाय से चर और अचर संसार की उत्पत्ति होती है ॥ १४५ ॥

कथमसावात्मा जगत्सृजतीत्याह—

मृद्दण्डचक्रसंयोगात्कुम्भकारो यथा घटम् ।
करोति तृणमृत्काष्ठैर्गृहं वा गृहकारकः ॥ १४६ ॥
हेममात्रमुपादाय रूपं वा हेमकारकः ।
निजलालासमायोगात्कोशं वा कोशकारकः ॥ १४७ ॥
कारणान्येवमादाय तासु तास्विह योनिषु ।
सृजंत्यात्मानमात्मा च संभूय करणानि च ॥ १४८ ॥

यथा हि कुलालो मृच्चक्रचीवरादिकं कारणजातमुपादाय करकशरावादिकं नानाविधकार्यजातं रचयति, यथा वा वर्धकिस्तृणमृत्काष्ठैः परस्परसापेक्षैः एकं गृहाख्यं कार्यं करोति, यथा वा हेमकारः केवलं हेमोपादाय हेमानुगतमेव कटक-मुकुटकुण्डलादिकार्यमुत्पादयति, यथा वा कोशकारकः कीटविशेषो निजलाल-यारब्धमात्मबन्धनं कोशाख्यमारभते, तथात्मापि पृथिव्यादीनि साधनानि परस्परसापेक्षाणि, तथा करणान्यपि श्रोत्रादीन्युपादाय अस्मिन्संसारे तासु तासु सुरादियोनिषु स्वयमेवात्मानं निजकर्मबन्धबद्धं शरीरितया सृजति ॥ १४६–१४८ ॥

भाषा—जिस प्रकार कुम्हार मिट्टी, डंडे और चाक के संयोग से घड़ा बनाता है; घर बनाने वाला तिनकों, मिट्टी और लकड़ी से घर बना देता है अथवा जिस प्रकार स्वर्णकार केवल सोना लेकर उससे अनेक प्रकार के रूप (आभूषण आदि) बना डालता है अथवा जिस प्रकार अपनी ही लार से मकड़ी अपना जाला बना लेती है उसी प्रकार आत्मा भी पृथिवी आदि साधनों और श्रोत्र आदि इन्द्रियों को लेकर स्वयं ही इस संसार में भिन्न-भिन्न योनियों में शरीरी के रूप में अपनी रचना करता है ॥ १४६–१४८ ॥

किं पुनर्वैषयिकज्ञानेन्द्रियव्यतिरिक्तात्मसद्भावे प्रमाणमित्याशङ्क्याह—

महाभूतानि सत्यानि यथात्मापि तथैव हि ।
कोऽन्यथैकेन नेत्रेण दृष्टमन्येन पश्यति ॥ १४९ ॥
वाचं वा को विजानाति पुनः संश्रुत्य संश्रुताम् ।

---

१. सृजत्यात्मानमात्मैव ।

यथा हि पृथिव्यादिमहाभूतानि सत्यानि प्रमाणागम्यत्वात् तथाऽऽत्मापि सत्यः। अन्यथा यदि बुद्धीन्द्रियव्यतिरिक्तो ज्ञाता ध्रुवो न स्यात्तर्हि एकेन चक्षुरिन्द्रियेण दृष्टं वस्तु अन्येन स्पर्शनेन्द्रियेण को विजानाति 'यमहमद्राक्षं तमहं स्पृशामि' इति ॥ तथा कस्यचित्पुरुषस्य वाचं पूर्वं श्रुत्वा 'पुनः श्रूयमाणां वाचं तस्य वागियमिति कः प्रत्यभिजानाति । तस्मात् ज्ञानेन्द्रियातिरिक्तो ज्ञाता ध्रुव इति सिद्धम् ॥ १४९३ ॥

भाषा—जिस प्रकार पृथिवी आदि महाभूत सत्य हैं उसी प्रकार (विना प्रमाण के भी) आत्मा सत्य है; अन्यथा (यदि बुद्धि, इन्द्रिय से अलग ज्ञाता नहीं होता तो) एक चक्षु इन्द्रिय द्वारा देखी गई वस्तु दूसरी (स्पर्श की) इन्द्रिय से कौन जानता ? अथवा किसी व्यक्ति की पहले सुनी हुई वाणी को पुनः सुनने पर कौन पहचान पाता ? ॥ १४९३ ॥

[1]अतीतार्थस्मृतिः कस्य को वा स्वप्नस्य कारकः ॥१५०॥
जातिरूपवयोवृत्तविद्यादिभिरहंकृतः ।
शब्दादिविषयो[2]द्योगं कर्मणा मनसा गिरा ॥ १५१ ॥

किंच, यद्यात्मा ध्रुवो न स्यात् तर्ह्यनुभूतार्थगोचरा स्मृतिः पूर्वानुभवभावितसंस्कारोद्बोधनिबन्धना कस्य भवेत् ? नह्यन्येन दृष्टे वस्तुन्यन्यस्य स्मृतिरुपपद्यते । तथा कः स्वप्नज्ञानस्य कारकः । नहीन्द्रियाणामुपरतव्यापाराणां तत्कारकत्वम् । तथाहमेवाभिजनस्वादिसंपन्न इत्येवंविधोऽनुसंधानप्रत्ययः कस्य भवति स्थिरात्मव्यतिरिक्तस्य ? तथा शब्दस्पर्शादिविषयोपभोगसिद्ध्यर्थमुद्योगं मनोवाक्कायैः कः कुर्यात् ? तस्मादपि बुद्धीन्द्रियव्यतिरिक्त आत्मा स्थितः ॥ १५०-१५१ ॥

भाषा—(यदि आत्मा सत्य न होता तो) अतीत काल के अनुभव की याद किसे रह पाती ? (एक व्यक्ति द्वारा देखी गई वस्तु दूसरे व्यक्ति की स्मृति में नहीं रहती है), स्वप्न का ज्ञान कौन कराता है ? जाति, रूप, आयु, वृत्त, विद्या आदि का अहंकार करने वाला कौन है ? तथा शब्द स्पर्श आदि विषयों के भोग के लिये कर्म, मन और वाणी से उद्योग कौन करता ? [अतएव बुद्धि से भिन्न आत्मा का अस्तित्व निश्चित है ।] ॥१५०-१५१॥

उपासनाविशेषविध्य[3]र्थं संसारस्य रूपं विवृण्वन्नाह—

स संदिग्धमतिः कर्मफलमस्ति न वेति वा ।
[4]विप्लुतः सिद्धमात्मानमसिद्धोऽपि हि मन्यते ॥ १५२ ॥

---

१. अतीतार्थस्मृतिः । अतीतार्था । २. विषयं सक्तः । ३. सिद्ध्यर्थं ।
४. संप्लुतः ।

योऽसौ पूर्वोक्त आत्मा विप्लुतोऽहंकारदूषितः स सकलकर्मसु फलमस्ति न वेति संदिग्धमतिर्भवति । तथाऽसिद्धोऽप्यकृतार्थोऽपि सिद्धमेव कृतार्थमात्मानं मन्यते ॥ १५२ ॥

भाषा—यह आत्मा अहंकार से दूषित होकर शङ्का करने लगता है कि सभी कर्मों का फल होता है या नहीं, और अकृतार्थ होते हुए भी अपने को कृतार्थ मानने लगता है ॥ १५२ ॥

मम दाराः सुतामात्या अहमेषामिति स्थितिः ।
हिताहितेषु भावेषु विपरीतमतिः सदा ॥ १५३ ॥

किंच, तस्य विप्लुतमतेर्मम कलत्रपुत्रप्रेष्यादयोऽहमेषामित्यतीव ममताकुलस्थितिर्भवति । तथा हिताहितकरे कार्यप्रकरे स विप्लुतमतिर्विपरीतमतिः सदा भवेत् ॥ १५३ ॥

भाषा—उसकी (अहंकार से दूषित आत्मा की) 'ये मेरी पत्नी है' 'ये मेरे पुत्र हैं' 'ये मेरे सेवक हैं' 'मैं इनका हूँ' ऐसी ममताकुल दशा होती है, तथा हित एवं अहित के कार्यों में उसकी सदैव विपरीत बुद्धि होती है ॥ १५३ ॥

[1]ज्ञेयज्ञे प्रकृतौ चैव विकारे चाविशेषवान् ।
[2]अनाशकानलाघातजलप्रपतनोद्यमी ॥ १५४ ॥
एवंवृत्तोऽविनीतात्मा वितथाभिनिवेशवान् ।
कर्मणा द्वेषमोहाभ्यामिच्छया चैव बध्यते ॥ १५५ ॥

किंच, ज्ञेयं जानातीति ज्ञेयज्ञस्तस्मिन्नात्मनि प्रकृतौ चात्मनो गुणसाम्यावस्थायां विकारे चाहंकारादावविशेषवान् विवेकानभिज्ञो भवति । तथानशनहुताशनाम्बुप्रवेशविषाशनादिषु विप्लववशात्कृतप्रयत्नो भवेत् । एवं नानाप्रकाराकार्यप्रवृत्तोऽविनीतात्माऽसंयतात्मा असत्कार्याभिनिवेशयुक्तः सन् तत्कृतकर्मजातेन रागद्वेषाभ्यां मोहेन च बध्यते ॥ १५४–१५५ ॥

भाषा—ज्ञेयज्ञ (ज्ञेय विषयों को जानने वाला) आत्मा प्रकृति में (अपने गुणों की साम्यावस्था में) अहंकारादि विकार से विवेकशून्य हो जाता है और भोजन-त्याग, अग्नि, जल में प्रवेश अथवा गिरकर मरने के कार्य में यत्न करता है । इस प्रकार अनेक कार्यों में प्रवृत्त असंयत आत्मा दुष्कर्म में लगकर (उन कर्मों से उत्पन्न) राग, द्वेष और मोह से पीडित होता है ॥ १५४–१५५ ॥

---

१. ज्ञेये च प्रकृतौ विकारे चावि । २. अनाशकानलापात ।

शरीरग्रहणद्वारेण कथं पुनस्तस्य विलम्भो भवतीत्यत आह—

आचार्योपासनं [1]वेदशास्त्रार्थेषु विवेकिता ।
तत्कर्मणामनुष्ठानं सङ्गः सद्भिर्गिरः शुभाः ॥ १५६ ॥
स्त्र्यालोकालम्भविगमः सर्वभूतात्मदर्शनम् ।
त्यागः परिग्रहाणां च जीर्णकाषायधारणम् ॥ १५७ ॥
विषयेन्द्रियसंरोधस्तन्द्रालस्यविवर्जनम् ।
शरीरपरिसंख्यानं प्रवृत्तिष्वघदर्शनम् ॥ १५८ ॥
नीरजस्तमसा सत्त्वशुद्धिर्निःस्पृहता शमः ।
एतैरुपायैः संशुद्धः [2]सत्त्वयोग्यमृती भवेत् ॥ १५९ ॥

विद्यार्थमाचार्यसेवा, वेदान्तार्थेषु पातञ्जलादियोगशास्त्रार्थेषु च विवेकित्वम् , तत्प्रतिपादितध्यानकर्मणामनुष्ठानम् , सत्पुरुषसङ्गः प्रियहितवचनत्वम् , ललनालोकनालम्भयोः परित्यागः, सर्वभूतेष्वात्मवद्दर्शनं समत्वदर्शनम्, परिग्रहाणां च पुत्रक्षेत्रकलत्रादीनां त्यागः, जीर्णकाषायधारणम् , शब्दस्पर्शादिविषयेषु श्रोत्रादीन्द्रियाणां प्रवृत्तिनिरोधः, तन्द्रा निद्रानुकारिणी, आलस्यमनुत्साहः तयोर्विशेषेण त्यागः, शरीरस्य परिसंख्यानमस्थिराशुचित्वादिदोषानुसंधानम्, तथा सकलगमनादिषु प्रवृत्तिषु सूक्ष्मप्राणिवधादिदोषपरामर्शः, तथा रजस्तमोविधुरता, प्राणायामादिभिर्भावशुद्धिः, निःस्पृहता विषयेष्वनभिलाषः, शमो बाह्यान्तःकरणसंयमः, एतैराचार्योपासनादिभिरुपायैः सम्यक् शुद्धः केवलसत्त्वयुक्तो ब्रह्मोपासनेनामृती भवेत् मुक्तो भवति ॥ १५६–१५९ ॥

भाषा—विद्याप्राप्ति के लिये आचार्य की सेवा, वेदशास्त्रों में (वेदान्त के अर्थ और पातञ्जल आदि योगशास्त्रों में) विवेक, उनमें प्रतिपादित ध्यान कर्म का अनुष्ठान, सत्संगति, प्रिय एवं हितकर वचन, स्त्रियों के दर्शन एवं स्पर्श का परित्याग, सभी प्राणियों पर अपने समान दृष्टि (समदर्शिता), परिग्रह (पुत्र, पत्नी आदि) का त्याग, जीर्ण काषाय वस्त्र का प्रयोग, शब्द, स्पर्श आदि विषयों से इन्द्रियों की प्रवृत्ति का निरोध, तन्द्रा (नींद के बाद की स्थिति) और आलस्य (उत्साहहीनता) का त्याग, शरीर की अपवित्रता आदि दोषों का अन्वेषण, सभी (गमन आदि) प्रवृत्तियों में (सूक्ष्म प्राणियों का वध होने से) पाप देखना रजोगुण एवं तमोगुण का परित्याग, (प्राणायाम आदि द्वारा) भाव की शुद्धि, निःस्पृहता (विषयों में अभिलाषा का अभाव) और शम (बाह्य और अन्तःकरण का संयम)

---

१. वेदशास्त्रस्य च विवेचनम् । २. स च योग्य ।

इन उपायों द्वारा सम्यक् रूप से शुद्ध और केवल सत्त्वगुण सम्पन्न व्यक्ति ही मुक्ति प्राप्त करता है ॥ १५६–१५९ ॥

कथममृतत्वप्राप्तिरित्यत आह—

तत्त्वस्मृतेरुपस्थानात्सत्त्वयोगात्परिक्षयात् ।
कर्मणां संनिकर्षाच्च सतां योगः प्रवर्तते ॥ १६० ॥

आत्माख्यतत्त्वस्मृतेरात्मनि निश्चलतयोपस्थानात् सत्त्वशुद्धियोगात्केवलसत्त्वगुणयोगात्कर्मबीजानां परिक्षयात् सत्पुरुषाणां च संबन्धात् आत्मयोगः प्रवर्तते ॥ १६० ॥

भाषा—आत्मा नाम के तत्त्व का सदा स्मरण करने, आत्मा में निश्चल होकर ध्यान लगाने, केवल सत्त्वगुण के योग से, कर्मरूपी बीज के नष्ट होने से और सत्पुरुषों के संयोग से आत्मयोग प्राप्त होता है ॥ १६० ॥

शरीरसंक्षये यस्य मनः सत्त्वस्थमीश्वरम् ।
अविप्लुतमतिः[1] सम्यक्स[2] जातिस्मरतामियात् ॥ १६१ ॥

किंच, यस्य पुनर्योगिनोऽविप्लुतमतेः शरीरसंक्षयसमये मनः सत्त्वयुक्तं सम्यगेकाग्रतयेश्वरं प्रति व्याप्रियते स यद्युपासनाप्रयोगाप्रवीणतयात्मानं नाधिगच्छति तर्हि विशिष्टसंस्कारपाटववशेन जात्यन्तरानुभूतकृमिकीटादिनानागर्भवासादिसमुद्भूतदुःखस्मरत्वं प्राप्नुयात् । तत्स्मरणेन च जातोद्वेगतस्तद्विच्छेदकारिणि मोक्षे प्रवर्तते ॥ १६१ ॥

भाषा—शरीर-त्याग के समय जिस अविप्लुतमति (अहंकार आदि से जिसकी बुद्धि मलिन नहीं है उस) योगी का मन सत्त्वगुण से युक्त होकर सम्यक्रूप से केवल ईश्वर में लगा होता है वह यदि आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर पाता तो भी उसे पिछले जन्म में अनुभूत दुःखों की स्मृति रहती है (जिससे वह मोक्षप्राप्ति के लिए प्रवृत्त होता है) ॥ १६१ ॥

यस्त्व[3]पटुसंस्कारतया पूर्वां जातिं न स्मरति तस्य का गतिरित्यत्राह—

यथा हि भरतो वर्णैर्वर्णयत्यात्मनस्तनुम् ।
नानारूपाणि कुर्वाणस्तथात्मा कर्मजास्तनूः ॥ १६२ ॥

भरतो नटः, स यथा रामरावणादिनानारूपाणि कुर्वाणः सितासितपीतादिभिर्वर्णैरात्मनस्तनुं वर्णयति रचयति तथैवात्मा तत्तत्कर्मफलोपभोगार्थं कुब्जवामनादिनानारूपाणि कर्मनिमित्तानि कलेवराण्यादत्ते ॥ १६२ ॥

---

१. अविप्लुतस्मृतिः सम्यग्जाति । २. संस्मरतामियात् । ३. यस्त्वयं दुःसंस्कार ।

भाषा—जिस प्रकार नट (नाटक खेलने वाला) अनेक रंगों से अपने शरीर को रंग लेता है उसी प्रकार आत्मा भी अपने कर्मों का फल भोगने के लिए अनेक रूपों वाले शरीर धारण करता है ॥ १६२ ॥

कालकर्मात्मबीजानां दोषैर्मातुस्तथैव च ।
गर्भस्य वैकृतं दृष्टमङ्गहीनादि जन्मनः ॥ १६३ ॥

किंच, न केवलं कर्मैव कुब्जवामनत्वादिनिमित्तं, किंतु कालकर्मणि स्वका-कारणस्वपितृबीजदोषो मातृदोषश्चेति सर्वमेतत्सहकारिकारणम् । एतेन दृष्टादृष्ट-स्वरूपेण कारणकलापेन गर्भस्याङ्गहीनत्वादिविकारो जन्मन आरभ्यानियत-तकालो दृष्टः ॥ १६३ ॥

भाषा—(न केवल पूर्वजन्म के कर्मों से अपितु) काल, कर्म और अपने कारणभूत पिता के वीर्य के दोष से तथा माता के दोष से (इन सभी सहकारी कारणों से भी) जन्म से अङ्गहीन होना आदि गर्भ का विकार दृष्टिगोचर होता है ॥ १६३ ॥

ननु प्राकृतिकप्रलयावसरे महदाद्यखिलविकारविनाशे कर्मणो नाशात्कथं तन्निबन्धनः प्रथमपिण्डपरिग्रह इत्याशङ्क्याह—

अहंकारेण मनसा गत्या कर्मफलेन च ।
शरीरेण च नात्मायं मुक्तपूर्वः कथंचन ॥ १६४ ॥

मनोऽहंकारौ प्रसिद्धौ, गतिः संसरणहेतुभूतो दोषराशिः, कर्मफलं धर्मा-धर्मरूपम्, शरीरं लिङ्गात्मकम्; एतैरहंकारादिभिरयमात्मा कदाचिदपि न मुच्यते यावन्मोक्षः ॥ १६४ ॥

भाषा—अहंकार, मन, गति, धर्म-अधर्म रूप कर्मों का फल और शरीर से यह आत्मा (मोक्ष होने से पूर्व) कदापि मुक्त नहीं रहता है ॥ १६४ ॥

ननु प्रतिनियतकर्मणां जीवानां प्रतिनियतकालमेवोपरतिर्युक्ता, न पुनः संग्रामादौ युगपदकाले प्राणसंक्षय इत्याशङ्क्याह—

वर्त्याधारस्नेहयोगाद्यथा दीपस्य संस्थितिः ।
विक्रियापि च दृष्टैवमकाले प्राणसंक्षयः ॥ १६५ ॥

यथा हि खलु तैलक्लिन्नानेकवर्तिवर्तिनीनां नानाज्वालानां युगपत्संस्थि-तिः तासां च स्थितानां तदुत्तरं दोधूयमानपवनाहतिरूपविपत्तिहेतूपनिपात-यौगपद्याद्युगपदुपरतिर्यथा भवति तथैव रथिसारथिवाजिकुञ्जरादिजीवानां युद्धाख्योपरतिहेतुयौगपद्यादकालेऽपि प्राणपरिक्षयो नानुपपन्नः । एतदुक्तं भवति—प्रतिनियतकालविपत्तिहेतुभूतादृष्टस्य तद्विरुद्धकार्यकरदृष्टहेतूपनिपातेन प्रतिबन्ध इति ॥ १६५ ॥

---

१. जन्मतः । २. स्वपितृकारणबीज । ३. आरभ्यनियत । ४. देह-संक्षयः । ५. नेकवर्तिनीनां । ६. स्थितानां पटुतरदोधूयमान ।

भाषा—जिस प्रकार एक ही दीपक में तेल से भींगी हुई अनेक बत्तियों से कई लौ एक साथ निकलती हैं और वायु का प्रबल झोंका उन सबको एक साथ ही बुझा देता है उसी प्रकार अकाल में भी अनेक मनुष्यों का एक साथ ही प्राण-नाश हो जाता है ॥ १६५ ॥

मोक्षमार्गमाह—

अनन्ता रश्मयस्तस्य दीपवद्यः स्थितो हृदि ।
सितासिताः कर्बुरूपाः कपिला नीललोहिताः ॥ १६६ ॥
ऊर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भित्त्वा सूर्यमण्डलम् ।
ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परां गतिम् ॥ १६७ ॥

योऽसौ हृदि प्रदीपवत्स्थितो जीवस्तस्यानन्ता रश्मयो नाड्यः सुखदुःखहेतुभूताः 'द्वासप्ततिसहस्राणि' (प्रा० १०८) इत्यादिनोक्ताः सितासितकर्बुरादिरूपाः सर्वतः स्थितास्तेषामेको रश्मिरूर्ध्वं व्यवस्थितः योऽसौ मार्तण्डमण्डलं निर्भिद्य हिरण्यगर्भनिलयं चातिक्रम्य वर्तते तेन जीवः परां गतिमपुनरावृत्तिलक्षणां प्राप्नोति ॥ १६६–१६७ ॥

भाषा—हृदय में दीपक के रूप में स्थित जीव की अनन्त रश्मियाँ (सुख-दुःख की हेतुभूत नाडियाँ) श्वेत, कृष्ण, कबरी, कपिला, नीली और लाल वर्ण की होती हैं। उनमें एक नाड़ी ऊपर की ओर स्थित है जो सूर्यमण्डल को भेदकर ब्रह्मलोक के भी पार पहुँचती है; इसके द्वारा ही जीव परम गति प्राप्त करता है ॥ १६६–१६७ ॥

स्वर्गमार्गमाह—

यदस्यान्यद्रश्मिशतमूर्ध्वमेव व्यवस्थितम् ।
तेन देवशरीराणि सधामानि प्रपद्यते ॥ १६८ ॥

यदस्यात्मनो मुक्तिमार्गभूताद्रश्मेरन्यद्रश्मिशतमूर्ध्वाकारमेव व्यवस्थितं तेन सुरशरीराणि तैजसानि सुखैकभोगाधिकरणानि सधामानि कनकरजतरत्नरचितामरपुरसहितानि प्रपद्यते ॥ १६८ ॥

भाषा—इस आत्मा के मुक्ति का मार्गभूत नाडियों से भिन्न ऊपर की ओर जाने वाली सौ नाडियाँ हैं; उनके द्वारा ही देवताओं के लोक और शरीर प्राप्त होते हैं ॥ १६८ ॥

संसरणमार्गमाह—

येऽनेकरूपाश्चाधस्ताद्रश्मयोऽस्य मृदुप्रभाः ।
इह कर्मोपभोगाय तैः संसरति सोऽवशः ॥ १६९ ॥

---

१. कर्बुनीलाः कपिलाः पीतलोहिताः । बभ्रुनीलाः । २. रश्मयश्च । ३. मितप्रभाः ।

ये पुनस्तस्याधस्ताद्रश्मयो मृदुप्रभास्तैरिह फलोपभोगार्थं संसारे संसरति अवशः स्वकृतकर्मपरतन्त्रः ॥ १६९ ॥

भाषा—और जो उन नाड़ियों के नीचे की कम ज्योति वाली नाड़ियाँ हैं उनके द्वारा जीव अपने कर्मों का फल भोगने के लिए बाध्य होकर इस संसार में पुनः आता है ॥ १६९ ॥

भूतचैतन्यवादिपक्षं परिजिहीर्षुराह—

वेदैः शास्त्रैः सविज्ञानैर्जन्मना मरणेन च ।
आर्त्या गत्या तथाऽगत्या सत्येन ह्यनृतेन च ॥ १७० ॥
श्रेयसा सुखदुःखाभ्यां कर्मभिश्च शुभाशुभैः ।
निमित्तशाकुनज्ञानग्रहसंयोगजैः फलैः ॥ १७१ ॥
तारानक्षत्रसंचारैर्जागरैः स्वप्नजैरपि ।
आकाशपवनज्योतिर्जलभूतिमिरैस्तथा ॥ १७२ ॥
मन्वन्तरैर्युगप्राप्त्या मन्त्रौषधिफलैरपि ।
वित्तात्मानं वेद्यमानं[1] कारणं जगतस्तथा ॥ १७३ ॥

वेदैः 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृह. ३।९।२६) इति, 'अस्थूलमनणवह्रस्वमपाणिपादम्' (बृ. ३।८।८) इत्यादिभिः । शास्त्रैश्च मीमांसान्वीक्षिक्या-दिभिः । विज्ञानैश्च 'ममेदं शरीरम्' इत्यादिदेहव्यतिरिक्तात्मानुभवैः । तथा जन्ममरणाभ्यां जन्मान्तरानुष्ठितधर्माधर्मनियताभ्यां देहातिरिक्तात्मानुमानम् । आर्त्या जन्मान्तरगतकर्मानुष्ठातृनियतया, तथा गमनागमनाभ्यां ज्ञानेच्छाप्रयत्नाधारनियताभ्यामपि भौतिकदेहातिरिक्तात्मानुमानम् । नहि देहस्य चैतन्यादि संभवति । यतः कारणगुणप्रक्रमेण[2] कार्यद्रव्ये वैशेषिकगुणारम्भो दृष्टः । न च तत्कारणभूतपार्थिवपरमाण्वादिषु चैतन्यादिसमवायः संभवति । तदारब्धघटस्तम्भकुम्भादिभौतिकेष्वनुपलम्भात् । नच मदशक्तिवदुदकादिद्रव्यान्तरसंयोगज इति वाच्यम् ; शक्तेः साधारणगुणत्वात् । अतो भौतिकदेहातिरिक्तश्चैतन्यादिसमवा-[3]य्यङ्गीकर्तव्यः । सत्यानृते प्रसिद्धे श्रेयो हितप्राप्तिः, सुखदुःखे आमुष्मिके, तथा शुभकर्मानुष्ठानमशुभकर्मपरित्यागः । एतैश्च ज्ञाननियतैर्देहातिरिक्तात्मानुमानम् । निमित्तं भूकम्पादि, शाकुनज्ञानं पिङ्गलादिपतत्त्रिचेष्टालिङ्गकं ज्ञानम् , ग्रहाः सूर्यादयः, तत्संयोगजैः फलैः, तारा अश्विन्यादिव्यतिरिक्तानि ज्योतींषि नक्षत्राण्याश्वयुक्प्रभृतीनि, एतेषां संचारैः, शुभाशुभफलद्योतनैः जागरैर्जागरावस्था-

1. विद्यमानं सर्वस्य जगतस्तथा । 2. कारणगुणक्रमेण । 3. रक्तचैतन्यादि ।

अन्यैश्च सच्छिद्रादित्यादिदर्शनैः, तथा स्वप्नजैः खरवराहयुक्तरथारोहणादिज्ञानैः, तथा आकाशाद्यैश्च जीवोपभोगार्थतया सृष्टैः, तथा मन्वन्तरप्राप्त्या देहेऽनुपपद्यमानतया, तथा मन्त्रौषधिफलैः प्रेक्षापूर्वकैः क्षुद्रकर्माद्यैः साक्षात्परम्परया वा देहेऽनुपपद्यमानैर्वेद्यमानं हे मुनयः! वित्त जानीत ॥ १७०–१७३ ॥

भाषा—वेद, शास्त्र, अनुभव, जन्म, मृत्यु, (जन्मान्तर के कर्मों का फल भोगना निश्चित होने से) पीडा, गति, अगति (न चलना), सत्य, असत्य, श्रेय (हितप्राप्ति), सुख और दुःख, शुभ और अशुभ कर्म, निमित्त (भूकंप आदि), शकुन का ज्ञान, ग्रह और उनके संयोग से उत्पन्न फल, (अश्विनी आदि नक्षत्रों से भिन्न) तारा और नक्षत्रों (अश्वयुज् आदि) की गति, जागते और सोते समय (स्वप्न में) देखी गई वस्तुओं, आकाश, वायु, ज्योति (सूर्य आदि), जल, पृथिवी, मन्वन्तर की प्राप्ति, युग का परिवर्तन, मन्त्रों एवं ओषधियों का फल—इन सबसे (देह से परे) आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है जो सम्पूर्ण जगत् का कारण है; ऐसा आप लोग समझें ॥ १७०–१७३ ॥

अहंकारः स्मृतिर्मेधा द्वेषो बुद्धिः सुखं धृतिः।
इन्द्रियान्तरसंचार इच्छा धारणजीविते ॥ १७४ ॥
स्वर्गः स्वप्नश्च भावानां प्रेरणं मनसो गतिः।
निमेष[1]श्चेतना यत्न आदानं पाञ्चभौतिकम् ॥ १७५ ॥
यत एतानि दृश्यन्ते लिङ्गानि परमात्मनः।
तस्मादस्ति परो देहादात्मा सर्वग ईश्वरः ॥ १७६ ॥

किंच, अहंकृतिरहंकारः, स्मृतिः प्राग्भवीयानुभवभावितसंस्कारोद्बोधनिबन्धना स्तन्यपानादिगोचरा, सुखमैहिकम्, धृतिर्धैर्यम्, इन्द्रियान्तरेण हि दृष्टेऽर्थे इन्द्रियान्तरस्य संचारो 'यमहमद्राक्षं तमहं स्पृशामि' इत्येवमनुसन्धानरूप इन्द्रियान्तरसंचारः, अत्रेच्छाप्रयत्नचैतन्यानां स्वरूपेण लिङ्गत्वम्, पूर्व[4]-श्लोके तु गमनसत्यवचनादिहेतुतया आर्थिकं लिङ्गत्वमित्यपौनरुक्त्यम्, तथा,—धारणं शरीरस्य, जीवितं प्राणधारणम्, स्वर्गो नियतदेहान्तरोपभोग्यः सुखविशेषः, स्वप्नः प्रसिद्धः। पूर्वश्लोके तु स्वप्नस्य शुभफलद्योतनाय लिङ्गत्वम्; अत्र स्वरूपेणेत्यपौनरुक्त्यम्, तथा भावानामिन्द्रियादीनां प्रेरणम्; मनसो गतिश्चेतनाधिष्ठानव्याप्ता, निमेषः प्रसिद्धः, तथा पञ्चभूतानामुपादानम्,

---

१. उन्मेषश्चेतना २. लिङ्गानि दृश्यन्ते ३. सर्वज्ञ ४. श्लोकेऽनुगमन। ५. द्योतकतया।

यस्मादेतानि लिङ्गानि भूतेष्वनुपपन्नानि साक्षात्परम्परया वा परमात्मनो द्योतकानि दृश्यन्ते, तस्मादस्ति देहातिरिक्त आत्मा सर्वग ईश्वर इति सिद्धम् ॥

भाषा—अहंकार, स्मृति, मेधा, द्वेष, बुद्धि, सुख, धैर्य, इन्द्रियान्तरसंचार (एक इन्द्रिय द्वारा दृष्ट अर्थ का दूसरी इन्द्रिय को ज्ञान) इच्छा, शरीरधारण, प्राणधारण, स्वर्ग, स्वप्न, भावना, इन्द्रियों की प्रेरणा, मन की गति, निमेष (पलक गिराना), चेतना, यत्न, और पृथिवी आदि पंचभूतों को धारण करना,—ये प्राणियों में पाये जाने वाले चिह्न परमात्मा के द्योतक दिखाई पड़ते हैं अतएव देह से परे आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है जो सर्वगामी और ईश्वर है ॥ १७४-१७६ ॥

क्षेत्रज्ञस्वरूपमाह—

बुद्धीन्द्रियाणि सार्थानि मनः कर्मेन्द्रियाणि च ।
अहंकारश्च बुद्धिश्च पृथिव्यादीनि चैव हि ॥ १७७ ॥
अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः क्षेत्रस्यास्य निगद्यते ।
ईश्वरः सर्वभूतस्थः सन्नसन्सदसच्च यः ॥ १७८ ॥

बुद्धीन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि सार्थानि शब्दादिविषयसहितानि मनः कर्मेन्द्रियाणि वागादीनि तथाऽहंकारो बुद्धिश्च निश्चयात्मिका पृथिव्यादीनि पञ्चभूतानि अव्यक्तं प्रकृतिरित्येतत् क्षेत्रमस्य योऽसावीश्वरः सर्वगतः अत एव सद्रूपः प्रमाणान्तराग्राह्यत्वात् । असन् अस्पष्टप्रतीतिकत्वात् । सदसद्रूपोऽसावात्मा क्षेत्रज्ञ इति निगद्यते ॥ १७७-१७८ ॥

भाषा—बुद्धि, अपने शब्द आदि विषयों सहित श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ, मन, कर्मेन्द्रियाँ, अहंकार, बुद्धि, पृथिवी आदि पञ्चभूत, अव्यक्त (प्रकृति), ये सब जिस के क्षेत्र हैं वह ईश्वर, सभी प्राणियों में स्थित, सद्, असद् और सदसद् रूप आत्मा क्षेत्रज्ञ कहलाता है ॥ १७७-१७८ ॥

बुद्ध्यादेरुत्पत्तिमाह—

बुद्धेरुत्पत्तिरव्यक्तात्ततोऽहंकारसंभवः ।
तन्मात्रादीन्यहंकारादेकोत्तरगुणानि च ॥ १७९ ॥

सत्त्वादिगुणसाम्यमव्यक्तम् । ततस्त्रिप्रकारायाः सत्त्वरजस्तमोमय्या बुद्धेरुत्पत्तिः, तस्याश्च वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति त्रिविधोऽहंकार उत्पद्यते । तत्र तामसाद्भूतादिसंज्ञकादहंकारात्तन्मात्राणि, 'आदि'ग्रहणाद्गगनादीनि तानि चैकोत्तरगुणान्युत्पद्यन्ते । 'च'शब्दाद्वैकारिकतैजसाभ्यां बुद्धिकर्मेन्द्रियाणामुत्पत्तिः ॥

भाषा—अव्यक्त (सत्त्व, रज और तमस् इन तीन गुणों की साम्यावस्था) से त्रिगुणात्मकबुद्धि की उत्पत्ति होती है; उस बुद्धि से (त्रिविध) अहंकार की उत्पत्ति होती है; अहंकार से आकाश आदि एक एक गुण की वृद्धि द्वारा उत्पन्न होते हैं ॥ १७९ ॥

गुणस्वरूपमाह—

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ।
यो यस्मान्निःसृतश्चैषां स तस्मिन्नेव लीयते ॥ १८० ॥

तेषां गगनादिपञ्चभूतानां एकोत्तरवृद्ध्या पञ्च शब्दादयो गुणा वेदितव्याः । एषां च बुद्ध्यादिविकाराणां मध्ये यो यस्मात्प्रकृत्यादेरुत्पन्नः स तस्मिन्नेव सूक्ष्मरूपेण प्रलयसमये प्रलीयते ॥ १८० ॥

भाषा—शब्द, स्पर्श रूप, रस और गन्ध (उन आकाश आदि पञ्चभूतों के) गुण हैं । इन (बुद्धि आदि) में जो जिससे उत्पन्न होता है वह प्रलय के समय उसी में विलीन हो जाता है ॥ १८० ॥

प्रकरणार्थमुपसंहरन्नाह—

यथात्मानं सृजत्यात्मा तथा वः कथितो मया ।
विपाकात्त्रिप्रकाराणां कर्मणामीश्वरोऽपि सन् ॥ १८१ ॥
सत्त्वं रजस्तमश्चैव गुणास्तस्यैव[1] कीर्तिताः ।
रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवद् भ्राम्यते ह्यसौ[2] ॥ १८२ ॥
अनादिरादिमांश्चैव स एव पुरुषः परः ।
लिङ्गेन्द्रियग्राह्यरूपः सविकार उदाहृतः ॥ १८३ ॥

मानसादित्रिप्रकारकर्मणां विपाकादीश्वरोऽपि सन्नात्मा यथात्मानं सृजति तथा युष्माकं कथितः । सत्त्वाद्या गुणास्तस्यैवाविद्याविशिष्टस्य[3] कीर्तिताः । तथा स एव रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवदिह संसारे भ्राम्यतीत्यपि कथितम् । स एवानादिः परमपुरुषः शरीरग्रहणेनादिमान् कुब्जवामनादिविकारसहितस्तथा स्थूलाकारतया परिणतो लिङ्गैरिन्द्रियैश्च ग्राह्यस्वरूप उदाहृतः ॥ १८१-१८३ ॥

भाषा—जिस प्रकार ईश्वर होते हुए भी मानस आदि तीन प्रकार के कर्मों के फल से आत्मा स्वयं को उपजाता है वह मैंने कह दिया । सत्त्व, रज और तमस् गुण उसी (अविद्या से युक्त आत्मा) के हैं । रजोगुण और तमोगुण से युक्त होकर यह (आत्मा) चक्र के समान इस संसार में घूमता रहता है । उसी को अनादि, (शरीर ग्रहण करने से) आदिमान् , परमपुरुष,

---

१. स्तस्य प्रकीर्तिताः । २. हि सः । ३. तस्यैवाविशिष्टस्य ।

शरीर के विकार से युक्त होने तथा स्थूल आकार का होने से इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य बताया गया है ॥ १८१–१८३ ॥

स्वर्गमार्गमाह—

पितृयानोऽजवीथ्याश्च यदगस्त्यस्य चान्तरम् ।
तेनाग्निहोत्रिणो यान्ति स्वर्गकामा दिवं प्रति ॥ १८४ ॥

अजवीथ्यमरमार्गः तस्यागस्त्यस्य च यदन्तरमसौ पितृयानस्तेनाग्निहोत्रिणः स्वर्गकामाः दिवं यान्ति स्वर्गं प्राप्नुवन्ति ॥ १८४ ॥

भाषा—अजवीथी (देवताओं के मार्ग) और अगस्त्य के बीच पितृयान (पितरों का मार्ग) है, इस मार्ग की इच्छा लेकर अग्निहोत्र करने वाले स्वर्ग में पहुँचते हैं ॥ १८४ ॥

ये च दानपराः सम्यगष्टाभिश्च गुणैर्युताः ।
तेऽपि तेनैव मार्गेण सत्यव्रतपरायणाः ॥ १८५ ॥

किंच, ये च दानादिस्मार्तकर्मपराः सम्यग्दम्भरहिताः तथाऽष्टाभिरात्मगुणैः 'दयाक्षान्तिरनसूयाशौचमनायासो मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहा' (८।२३) इति गौतमादिप्रतिपादितैर्युक्ताः । तथा ये च सत्यवचननिरतास्तेऽपि तेनैव पितृयानेनैव सुरसदनमाप्नुवन्ति ॥ १८५ ॥

भाषा—जो दान (स्मार्त कर्मों) में तत्पर रहते हैं, सम्यक् (अहंकाररहित होकर) आत्मा के आठ गुणों से युक्त और सत्यवादी होते हैं के उसी पितृयान से देवलोक को जाते हैं ॥ १८५ ॥

ननु नैमित्तिकादिप्रतिसंचरेऽखिलाध्यापकप्रलयादविदितवेदास्तस्योपरितना जनाः कथमग्निहोत्रादिकं कर्म करिष्यन्ति कथंतरां चाकृतकर्माणः स्वर्गमार्गमधिरोचयन्तीत्यत आह—

तत्राष्टाशीतिसाहस्रमुनयो गृहमेधिनः ।
पुनरावर्तिनो बीजभूता धर्मप्रवर्तकाः ॥ १८६ ॥

तत्र पितृयानेऽष्टाशीतिसहस्रसंख्या मुनयो गृहस्थाश्रमिणः पुनरावृत्तिधर्माणः सर्गादौ वेदस्योपदेशकतया धर्मतरुप्रादुर्भावे बीजभूताः सन्तोऽग्निहोत्रादिधर्मप्रवर्तकाः, अतो न प्रागुदितदोषसमासङ्गः ॥ १८६ ॥

भाषा—उस पितृयान में अट्ठासी हजार गृहस्थ मुनि निवास करते हैं ; जो (सृष्टि के आरम्भ में) पुनः पुनः वेद का उपदेश करने से धर्मरूपी वृक्ष की उत्पत्ति के निमित्त बीज के समान होते हैं ॥ १८६ ॥

---

१. सत्यवदन । २. अष्टाशीतिसहस्राणि । ३. पुनरावृत्तिनो. । ४. समागमः ।

सप्तर्षिनागवीथ्यन्तर्देवलोकं समाश्रिताः ।
तावन्त एव मुनयः सर्वारम्भविवर्जिताः ॥ १८७ ॥
तपसा ब्रह्मचर्येण सङ्गत्यागेन मेधया ।
तत्र गत्वावतिष्ठन्ते यावदाभूतसंप्लवम् ॥ १८८ ॥

किंच, सप्तर्षयः प्रसिद्धाः, नागवीथी ऐरावतपन्थाः, तदन्तराले तावन्त एव अष्टाशीतिसहस्रसंख्या मुनयः सर्वारम्भविवर्जिताः केवलज्ञाननिष्ठाः तपोब्रह्मचर्ययुक्ताः तथा सङ्गत्यागिनो देवलोकं समाश्रिताः आभूतसंप्लवं प्राकृतप्रलयपर्यन्तमवतिष्ठन्ते । तत्र च स्थिताः सृष्ट्यादावाध्यात्मिकधर्माणां प्रवर्तकाः ॥ १८७-१८८ ॥

भाषा—सप्तर्षियों और नागवीथी (ऐरावतपथ) के बीच उतने ही मुनि सभी क्रियाओं से विरत होकर (केवल ज्ञाननिष्ठ होकर), तपस्या और ब्रह्मचर्य से युक्त होकर, संग त्याग कर, मेधा से युक्त होकर, देवलोक का आश्रय लेकर महाप्रलय तक स्थित रहते हैं ॥ १८७-१८८ ॥

कथंभूतास्ते मुनय इत्यत आह—

यतो वेदाः पुराणानि विद्योपनिषदस्तथा ।
श्लोकाः सूत्राणि भाष्याणि यच्च किंचन वाङ्मयम् ॥१८९॥

यतो द्विविधादपि मुनिसमूहाच्चत्वारो वेदाः पुराणाङ्गविद्योपनिषदश्च नित्यभूता एवाध्येतृपरम्परायाताः प्रवृत्तास्तथा श्लोका इतिहासात्मकाः सूत्राणि च शब्दानुशासनमीमांसागोचराणि भाष्याणि च सूत्रव्याख्यारूपाणि यदन्यदायुर्विद्यादिकं वाङ्मयं, तदपि यत्सकाशात्प्रवृत्तं तथाविधास्ते मुनयो धर्मप्रवर्तकाः । एवं सति वेदस्यापि नानित्यतादोषप्रसङ्गः ॥ १८९ ॥

भाषा—जिन मुनियों से वेद, पुराण, अङ्गविद्याएँ, उपनिषद्, इतिहासात्मक श्लोक, सूत्र, भाष्य और सभी दूसरे (आयुर्वेद आदि) वाङ्मय प्रचलित हुए हैं ॥ १८९ ॥

ततः किमित्यत आह—

वेदानुवचनं यज्ञो ब्रह्मचर्यं तपो दमः ।
श्रद्धोपवासः स्वातन्त्र्यमात्मनो ज्ञानहेतवः ॥ १९० ॥

वेदस्य नित्यत्वे सति तत्प्रामाण्यबलाद्वेदानुवचनादयः सत्वशुद्ध्यापादनद्वारेणात्मज्ञानस्य हेतव इत्युपपन्नं भवति ॥ १९० ॥

---

१. सप्तर्षिनागवीथ्यन्ते । २. यच्चान्यद्वाङ्मयं क्वचित् ।

भाषा—वेद सम्मत वचन, यज्ञ, ब्रह्मचर्य, तप, दम (इन्द्रियों का दमन), श्रद्धा, उपवास और (विषयासक्ति के दोष का नाश होने पर ध्यान और धारणा में) आत्मा की स्वतन्त्रता—ये ज्ञान के हेतु हैं ॥ १९० ॥

स ह्याश्रमैर्विजिज्ञास्यः समस्तैरेवमेव तु ।
द्रष्टव्यस्त्वथ मन्तव्यः श्रोतव्यश्च द्विजातिभिः ॥ १९१ ॥
य एनमेवं विन्दन्ति ये वारण्यकमाश्रिताः ।
उपासते द्विजाः सत्यं श्रद्धया परया युताः ॥ १९२ ॥

किंच, यस्मान्नित्यतयात्मप्रमाणभूतो वेदस्तस्मादसावुक्तमार्गेण सकलाश्रमिभिर्नानाप्रकारं जिज्ञासितव्यः। तमेव प्रकारं दर्शयति—द्विजातिभिर्द्रष्टव्योऽपरोक्षीकर्तव्यः। तत्रोपायं दर्शयति—श्रोतव्यो मन्तव्य इति। प्रथमतो वेदान्तश्रवणेन निर्णेतव्यः, तदनन्तरं मन्तव्यः युक्तिभिर्विचारयितव्यः, ततोऽसौ ध्यानेनापरोक्षी भवति। ये द्विजातयोऽतिशयश्रद्धायुक्ताः सन्तो निर्जनप्रदेशमाश्रिताः सन्त एवमुक्तेन मार्गेण एनमात्मानं सत्यं परमार्थभूतमुपासते ते आत्मानं विदन्ति लभन्ते प्राप्नुवन्ति ॥ १९१–१९२ ॥

भाषा—द्विजाति सभी आश्रमों में उस आत्मा के विषय में जिज्ञासा करें, (वेदान्त) श्रवण द्वारा उसका निर्णय करें, पुनः उस पर मनन अर्थात् युक्तियों द्वारा विचार करें और तब ध्यान द्वारा उसका साक्षात्कार करें। जो द्विज अत्यन्त श्रद्धा से युक्त होकर निर्जन प्रदेश में निवास करते हुए उपरोक्त विधि से इस परमार्थभूत आत्मा की उपासना करते हैं वे ही इसे प्राप्त करते हैं ॥ १९१–१९२ ॥

प्राप्तिमार्गं देवयानमाह—

क्रमात्ते संभवन्त्यर्चिरहः शुक्लं तथोत्तरम् ।
अयनं देवलोकं च सवितारं सवैद्युतम् ॥ १९३ ॥
ततस्तान्पुरुषोऽभ्येत्य मानसो ब्रह्मलौकिकान् ।
करोति पुनरावृत्तिस्तेषामिह न विद्यते ॥ १९४ ॥

ते विदितात्मानः क्रमादग्न्याद्यभिमानिदेवतास्थानेषु मुक्तिमार्गभूतेषु विश्रम्य तैः प्रस्थापिताः परमपदं प्राप्नुवन्ति। अर्चिर्वह्निः, अहर्दिनं, शुक्लपक्षः, तथोत्तरायणं, सुरसद्म, सविता सूर्यः, वैद्युतं च तेजः; तान् एवं क्रमादर्चिरादिस्थानगतान्मानसः पुरुषो ब्रह्मलोकभाजः करोति। तेषामिह संसारे पुनरावृत्तिर्न विद्यते, किंतु प्राकृतप्रतिसंचरावसरे त्यक्तलिङ्गशरीराः परमात्मन्येकीभवन्ति ॥१९३-१९४॥

१. समग्रैरेवमेव । २. य एवमेनं ।

भाषा—वे आत्मज्ञानी क्रमशः अग्नि, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण, देवलोक, सवितृ और तेज के लोक में जाते हैं। तब उन्हें मानस पुरुष ब्रह्मलोक में पहुँचाता है और उनका इस संसार में पुनः जन्म नहीं होता (अर्थात् वे परमात्मा में विलीन हो जाते हैं) ॥ १९३–१९४ ॥

पूर्वोक्तपितृयानमाह—

यज्ञेन तपसा दानैर्ये हि स्वर्गजितो नराः।
धूमं निशां कृष्णपक्षं दक्षिणायनमेव च ॥ १९५ ॥
पितृलोकं चन्द्रमसं वायुं वृष्टिं जलं महीम्।
क्रमात्ते संभवन्तीह पुनरेव व्रजन्ति च ॥ १९६ ॥
एतद्यो न विजानाति मार्गद्वितयमात्मवान्।
दन्दशूकः पतङ्गो वा भवेत्कीटोऽथवा कृमिः ॥ १९७ ॥

ये पुनर्विहितैर्मार्गैर्यज्ञदानतपोभिः स्वर्गफलभोक्तारस्ते क्रमाद्धूमादिचन्द्रपर्यन्तपदार्थाभिमानिनीर्देवताः प्राप्य पुनरेव वायुवृष्टिजलभूमीः प्राप्य व्रीह्याद्यन्नरूपेण शुक्रत्वमवाप्य संसारिणो योनिं व्रजन्ति। एतन्मार्गद्वयममत्तो यो न विजानाति मार्गद्वयमत्तो यो न विजानाति मार्गद्वयोपायभूतधर्मानुष्ठानं न करोति असौ दन्दशूको भुजङ्गः, पतङ्गः शलभः, कृमिः कीटो वा भवेत् ॥ १९५–१९७ ॥

भाषा—यज्ञ, तपस्या और दान से जो मनुष्य स्वर्ग प्राप्त करते हैं वे धूम, निशा, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन, पितृलोक और चन्द्रलोक के देवताओं में जा पहुँचते हैं और फिर वायु, वृष्टि, जल और पृथिवी को प्राप्त कर (व्रीहि-आदि अन्न से शुक्र बनकर) क्रमशः इस संसार में पुनः जन्म लेते हैं। जो प्रमत्त व्यक्ति इन दोनों मार्गों को नहीं जानता है (इन दोनों मार्गों के उपायभूत धर्म का अनुष्ठान नहीं करता है) वह दन्दशूक साँप, पतिंगा, कीड़ा अथवा कृमि का जन्म पाता है ॥ १९५–१९७ ॥

उपासनाप्रकारमाह—

ऊरुस्थोत्तानचरणः सव्ये न्यस्योत्तरं करम्[1]।
उत्तानं किंचिदुन्नाम्य मुखं विष्टभ्य चोरसा ॥ १९८ ॥
निमीलिताक्षः सत्त्वस्थो दन्तैर्दन्तानसंस्पृशन्।
तालुस्थाचलजिह्वश्च संवृतास्यः सुनिश्चलः ॥ १९९ ॥
संनिरुद्ध्येन्द्रियग्रामं नातिनीचोच्छ्रितासनः।
द्विगुणं त्रिगुणं वापि प्राणायाममुपक्रमेत् ॥ २०० ॥

---

१. न्यस्येतरं करम्।

ततो ध्येयः स्थितो योऽसौ हृदये दीपवत्प्रभुः।
धारयेत्तत्र चात्मानं धारणां धारयन्बुधः॥ २०१॥

ऊरुस्थावुत्तानौ चरणौ यस्य स तथोक्तः बद्धपद्मासनः, तथोत्ताने सव्यकरे दक्षिणमुत्तानं न्यस्य मुखं किंचिदुन्नाम्योरसा च विष्टभ्य स्तम्भयित्वा तथा निमीलिताक्षः, सत्त्वस्थः कामक्रोधादिरहितः, दन्तैर्दन्तानसंस्पर्शयन् तथा तालुनि स्थिता अचला जिह्वा यस्य स तथोक्तः, तथा संवृतास्यः पिहिताननः, सुनिश्चलो निष्प्रकम्पः, तथा सम्यगिन्द्रियसमूहं विषयेभ्यः प्रत्याहृत्य नातिनीचासनो नात्युच्छ्रितासनो यथा चित्तविक्षेपो न भवति तथोपविष्टः सन् , द्विगुणं त्रिगुणं वा प्राणायामाभ्यासमुपक्रमेत्। ततो वशीकृतपवनेन योगिना योऽसौ हृदये दीपवदप्रकम्पः प्रभुः स्थितोऽसौ ध्यातव्यः। तत्र च हृदि आत्मानं मनोगोचरतया धारयेत्। तथा धारणां च धारयेत्। धारणास्वरूपं च जान्वग्रभ्रमणेनच्छोटिकादानकालो मात्रा, ताभिः—पञ्चदशमात्राभिरधमः प्राणायामः, त्रिंशद्भिर्मध्यमः, पञ्चचत्वारिंशद्भिरुत्तम इति। प्राणायामत्रयात्मिकैका धारणा, तास्तिस्रो 'योग'शब्दवाच्यास्ताश्च धारयेत्। यथोक्तमन्यत्र—'संभ्रम्य च्छोटिकां दद्यात्कराग्रं जानुमण्डले। मात्राभिः पञ्चदशभिः प्राणायामोऽधमः स्मृतः॥ मध्यमो द्विगुणः श्रेष्ठस्त्रिगुणो धारणा तथा। त्रिभिस्त्रिभिः स्मृतैकैका ताभिर्योगस्तथैव च॥' इति॥ १९८-२०१॥

भाषा—पद्मासन लगाकर (जंघों के ऊपर चरणों को उलटा रखकर) बायें हाथ में दाहिने हाथ को उत्तान रखकर, मुख को कुछ ऊपर उठाकर और वक्षस्थल से रोक कर, आँखों को बन्दकर, काम, क्रोध आदि का त्याग करके, दाँतों को विना मिलाये हुए, तालु स्थान में जिह्वा को निश्चल रखकर, मुँह बन्द करके, अत्यन्त निश्चल होकर (विना हिले डुले), इन्द्रियों को विषयों से पूर्णतः मोड़कर तथा न अधिक नीचे और न अधिक ऊँचे आसन पर बैठकर दुगुना या तिगुना प्राणायाम करने का अभ्यास करे। तदुपरान्त हृदय में निश्चल दीप के समान स्थित प्रभु का ध्यान करना चाहिए और तब धारणा (जो तीन प्राणायामों की होती है) करते हुए उस हृदय में आत्मा को धारण करे॥ १९८-२०१॥

धारणात्मकयोगाभ्यासे प्रयोजनमाह—

अन्तर्धानं स्मृतिः कान्तिर्दृष्टिः श्रोत्रज्ञता तथा।
निजं शरीरमुत्सृज्य परकायप्रवेशनम्॥ २०२॥

---

१. धारणामवधारयन्। २. सिद्धेश्च; सिद्धिर्हि।

अर्थानां छन्दतः सृष्टिर्योगसिद्धेर्हि लक्षणम् ।
सिद्धे योगे त्यजन्देहममृतत्वाय कल्पते ॥ २०३ ॥

अणिमप्राप्त्या[1] परैरदृश्यत्वमन्तर्धानम् , स्मृतिरतीन्द्रियेष्वर्थेषु मन्वादेरिव स्मरणम्, कान्तिः कमनीयता, दृष्टिरतीतानागतेष्वप्यर्थेषु, तथा श्रोत्रज्ञता अतिदवीयसि देशेऽभिव्यज्यमानतया श्रोत्रपथमनासेदुषामपि शब्दानां ज्ञातृता, निजशरीरत्यागेन परशरीरप्रवेशनम् , स्ववाञ्छावशेनार्थानां करणनिरपेक्षतया[2] सृष्टिः, इत्येतद्योगस्य सिद्धेर्लक्षणं लिङ्गम् । नचैतावदेव प्रयोजनं, किंतु सिद्धे योगे त्यजन्देहममृतत्वाय कल्पते ब्रह्मत्वप्राप्तये च प्रभवति ॥ २०२–२०३ ॥

भाषा—अन्तर्धान होना (दूसरों द्वारा न देखा जाना), स्मृति (अतीन्द्रिय विषयों का स्मरण), शोभा, दृष्टि (भूत और भविष्यत् का ज्ञान), अपना शरीर छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश, अपनी इच्छा के अनुसार वस्तुओं की सृष्टि—ये सभी योग की सिद्धि के लक्षण हैं । योग की सिद्धि हो जाने पर शरीर का परित्याग करके योगी ब्रह्मत्व-प्राप्ति में समर्थ होता है ॥ २०२–२०३ ॥

यज्ञदानाद्यसंभवे सत्त्वशुद्धावुपायान्तरमाह—

अथवाप्यभ्यसन्वेदं न्यस्तकर्मा वने वसन् ।
अयाचिताशी मितभुक्परां सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ २०४ ॥

अथवा त्यक्तकाम्यनिषिद्धकर्मा अन्यतमं वेदमभ्यसन् , एकान्तशीलोऽयाचितमिताशनापादितसत्त्वशुद्धिरात्मोपासनेन परां मुक्तिलक्षणां सिद्धिं प्राप्नोति ॥ २०४ ॥

भाषा—अथवा (यज्ञ, दान आदि न कर सकने पर) सभी काम्य निषिद्ध कर्मों का त्याग करके, किसी वेद का अभ्यास करते हुए, वन में रहकर (वानप्रस्थाश्रम में), विना माँगे ही मिले हुए अन्न का भोजन करने वाला, अल्पाहारी व्यक्ति परम सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त करता है ॥ २०४ ॥

न्यायागतधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः ।
श्राद्धकृत्सत्यवादी च गृहस्थोऽपि हि मुच्यते ॥ २०५ ॥

किंच, सत्प्रतिग्रहादिन्यायेनोपार्जितधनः अतिथिपूजातत्परः नित्यनैमित्तिकश्राद्धानुष्ठाननिरतः सत्यवदनशीलः सदात्मतत्त्वध्याननिरतो गृहस्थोऽपि हि यस्मान्मुक्तिमवाप्नोति तस्मान्न केवलमैहिकपारिव्राज्यपरिग्रह[3] एव मुक्तिसाधनम् ॥ २०५ ॥

---

1. अणिमाप्राप्त्या । 2. कारणनिरपेक्ष । 3. पारिव्रज्य ।

भाषा—धर्मपूर्वक धनोपार्जन करने वाला, अतिथिसत्कार में तत्पर (नित्यनैमित्तिक) श्राद्ध अनुष्ठान में रत, सत्यवादी और आत्मतत्त्व के ध्यान में लीन रहने वाला गृहस्थ भी मुक्ति प्राप्त कर लेता है ॥ २०५ ॥

इत्यध्यात्मप्रकरणम् ।

अथ प्रायश्चित्तप्रकरणम् ५

(१) कर्मविपाकः

'वर्णाश्रमेतराणां नो ब्रूहि धर्मानशेषतः' (आ० १) इत्यत्र प्रतिपाद्यतया प्रतिज्ञातषड्विधधर्ममध्ये पञ्चप्रकारं धर्ममभिधायाधुनाऽवशिष्टं नैमित्तिकं धर्मजातं प्रायश्चित्तपदाभिलप्यं प्रारिप्सुः प्रथमतस्तत्प्ररोचनार्थमधिकारिविशेष-प्रदर्शनार्थं चार्थवादरूपं कर्मविपाकं तावदाह—

> महापातकजान्घोरान्नरकान्प्राप्य दारुणान् ।
> कर्मक्षयात्प्रजायन्ते महापातकिनस्त्विह ॥ २०६ ॥

ब्रह्महत्यादिपञ्चकस्य महापातकसंज्ञा 'ब्रह्महा मद्यपः' (प्रा० २२७) इत्यत्र वक्ष्यते तद्योगिनो महापातकिनस्ते महापातकजनितांस्तामिस्रादिनरकान्स्वज-नितदुष्कृतानुरूपान् घोरानतितीव्रवेदनापादकत्वेनातिभयंकरान्दारुणान्दुःखैक-भोगनिलयान् प्राप्य कर्मक्षयात् कर्मजन्यनरकदुःखोपभोगक्षयादनन्तरं कर्मशे-षात्पुनरिह संसारे दुःखबहुलश्वसृगालादितिर्यग्योनिषु प्रकर्षेण भूयो भूयो जायन्ते । 'महापातकि'ग्रहणमितरेषामप्युपपातक्यादीनामुपलक्षणम् । तेषां च तिर्यगादियोनिप्राप्तेर्वक्ष्यमाणत्वात् ॥ २०६ ॥

भाषा—(ब्रह्महत्या आदि) महापातकों से उत्पन्न तामिस्र आदि घोर नरकों को (अपने कर्म के अनुसार) भोगकर कर्मों का क्षय होने पर महा-पातकी पुनः-पुनः इस संसार में (दुःख से व्याप्त योनियों में, जो आगे उल्लिखित हैं) जन्म लेते हैं ॥ २०६ ॥

महापातकिनां संसारप्राप्तिमुक्त्वा तद्विशेषकथनायाह—

> मृग(गा)श्वसूकरोष्ट्राणां ब्रह्महा योनिमृच्छति ।
> खरपुल्कसवेनानां[1] सुरापो नात्र संशयः ॥ २०७ ॥
> कृमिकीटपतङ्गत्वं स्वर्णहारी समाप्नुयात् ।
> तृणगुल्मलतात्वं च क्रमशो गुरुतल्पगः ॥ २०८ ॥

---

१. वेणानां ।

मृगा हरिणादयः, श्वसूकरोष्ट्राः प्रसिद्धाः, तेषां योनिं ब्रह्महा स्वकर्मशेषेण प्राप्नोति। खरो रासभः, पुल्कसः प्रतिलोमनिषादेन शूद्रयां जातः वैदेहकेनाऽम्बष्ठयां जातो वेनः, तेषां योनिं[1] सुरापः प्राप्नोति। कृमयः सजातीयसंभोगनिरपेक्षा मांसविष्ठागोमयादिजन्याः, ततः किंचित्स्थूलतराः पक्षास्थिरहिताः सजातीयसंभोगनिरपेक्षाः पिपीलिकादयः कीटाः, पतङ्गः शलभः, तेषां योनिं ब्राह्मणस्वर्णहारी प्राप्नुयात्। तृणं काशादि, गुल्मलते प्रागुक्ते; तज्जातीयतां क्रमेण गुरुतल्पगः प्राप्नोति। एतच्चाकामकृतविषयम्, कामकारकृते त्वन्यास्वपि दुःखबहुलयोनिषु संसरन्ति; यथाह मनुः (१२।५५-५८)—'श्वसूकरखरोष्ट्राणां गोऽजा[2]विमृगपक्षिणाम्। चाण्डालपुल्क[3]सानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति॥ कृमिकीटपतङ्गानां विड्भुजां चैव पक्षिणाम। हिंस्राणां चैव सत्त्वानां सुरापो ब्राह्मणो व्रजेत्॥ लूताऽहिसरठानां च तिरश्चां चाम्बुचारिणाम्। हिंस्राणां च पिशाचानां स्तेनो विप्रः सहस्रशः॥ लूता ऊर्णनाभः। सरठः कृकलासः।—' तृणगुल्मलतानां च क्रव्यादां दंष्ट्रिणामपि। क्रूरकर्मकृतां चैव शतशो गुरुतल्पगः॥' इति॥ २०७-२०८॥

भाषा—ब्रह्महत्या करने वाला हरिण, कुत्ता, सूअर और ऊँट का जन्म पाता है, सुरा पीने वाला गधा, पुल्कस (निषाद द्वारा शूद्रा से उत्पन्न पुरुष) और वेण (वैदेहक द्वारा अम्बष्ठा से उत्पन्न) की योनि पाता है; इसमें सन्देह नहीं। (ब्राह्मण का) सोना चुराने वाला कृमि (मांस, विष्ठा आदि में उत्पन्न होने वाले कीड़े), कीट (चींटी आदि) और पतिंगों की योनि प्राप्त करता है। गुरुपत्नी से व्यभिचार करने वाला क्रमशः तृण, गुल्म (छोटी लता) और लता का जन्म पाता है॥ २०७-२०८॥

एवं च तिर्यक्त्वादुत्तीर्णानां मानुष्ये रोगादि लक्षणानि भवन्तीत्याह—

> ब्रह्महा क्षयरोगी स्यात्सुरापः श्यावदन्तकः।
> हेमहारी तु कुनखी दुश्चर्मा गुरुतल्पगः॥ २०९॥
> यो येन संवसत्येषां स तल्लिङ्गोऽभिजायते।

किंच, एवं रौरवादिनरकेषु श्वसूकरखरादियोनिषु च दारुणं दुःखमनुभूयानन्तरं दुरितशेषेण जननसमय एव क्षयरोगादिलक्षणयुक्ताः। प्रचुरेषु मानवशरीरेषु संसरन्ति। तत्र ब्रह्महा क्षयरोगी राजयक्ष्मी भवेत्। निषिद्धसुरापी स्वभावतः कृष्णदशनः, ब्राह्मणहेम्नो हर्ता कुत्सितनखत्वम्, गुरुदारगामी दुश्चर्मत्वं कुष्ठिताम्। एतेषां ब्रह्महादीनां मध्ये येन पतितेन यः पुरुषः संवसति संवसति स तल्लिङ्गोऽभिजायते॥ २०९½॥

---

१. योनीः। २. गोवाजिमृगपक्षिणाम्. ३. पुक्कसानां च।

भाषा—(मनुष्य का जन्म पाने पर) ब्राह्मण की हत्या करने वाले राजयक्ष्मा का रोगी होते हैं; सुरा पीने वाले के दाँत स्वभावतः काले होते हैं; (ब्राह्मण का) सोना चुराने वाले के नख भद्दे होते हैं और गुरुपत्नी का भोग करने वाला कोढ़ी होता है। इन ब्रह्महा आदि महापातकियों में जिसके साथ कोई निवास करता है वह भी उसी के समान महापातकी होता है ॥ २०९३ ॥

अन्नहर्ताऽऽमयावी स्यान्मूको वागपहारकः ॥ २१० ॥
धान्यमिश्रोऽतिरिक्ताङ्गः पिशुनः पूतिनासिकः ।
तैलहृत्तैलपायी स्यात्पूतिवक्त्रस्तु सूचकः ॥ २११ ॥

किंच, अन्नस्यापहर्ता आमयावी अजीर्णान्नः । वागपहारकोऽननुज्ञाताध्यायी पुस्तकापहारी च मूको वागिन्द्रियविकलो भवेत् । धान्यमिश्रोऽतिरिक्ताङ्गः षडङ्गुल्यादिः पिशुनो विद्यमानपरदोषप्रख्यापनशीलः । पूतिनासिकः दुर्गन्धनासिकः, तैलस्य हर्ता तैलपायी कीटविशेषो भवति । सूचकोऽसद्दोषसंकीर्तनो दुर्गन्धिवदनो जायते। एतच्च तिर्यक्त्वप्राप्त्युत्तरकालं मानुषशरीरप्राप्तौ द्रष्टव्यम् (१२।६८)—'यद्वा तद्वा परद्रव्यमपहृत्य बलान्नरः । अवश्यं याति तिर्यक्त्वं जग्ध्वा चैवाहुतं हविः ॥' इति मनुस्मरणात् ॥ २१०–२११ ॥

भाषा—अन्न चुराने वाले को अजीर्ण का रोग होता है और वाणी (अर्थात् पुस्तक) चुराने वाला गूँगा होता है। धान्य में मिलावट करने वाले का कोई अंग (अंगुली आदि) बड़ा होता है और पिशुन (दूसरों का दोष कहने वाले चुगलखोर) की नाक दुर्गन्धयुक्त रहती है ॥२१०–२११॥

परस्य योषितं हृत्वा ब्रह्मस्वमपहृत्य च ।
अरण्ये निर्जले देशे भवति ब्रह्मराक्षसः ॥ २१२ ॥

किंच, यः परदारानपहरति, ब्रह्मस्वं च सुवर्णव्यतिरिक्तमपहरति, असावरण्ये निर्जले देशे ब्रह्मराक्षसो भूतविशेषो जायते ॥ २१२ ॥

भाषा—परायी स्त्री का और ब्राह्मण के धन का अपहरण करने वाला वन में निर्जल स्थान पर ब्रह्मराक्षस होकर जन्म लेता है ॥ २१२ ॥

हीना जातौ प्रजायेत पररत्नापहारकः ।
पत्रशाकं शिखी हृत्वा गन्धाञ्छुच्छुन्दरी शुभान् ॥२१३॥

किंच, हीनजातौ हेमकाराख्यायां पक्षिजातौ पररत्नाद्यपहारको जायते । तथा च मनुः (१२।६१)—'मणिमुक्ताप्रवालानि हृत्वा लोभेन मानवः । विविधानि च रत्नानि जायते हेमकर्तृषु ॥' इति । पत्रात्मकं शाकं हृत्वा मयूरः । शुभान्गन्धानपहृत्य छुच्छुन्दरी राजदुहिताख्या मूषिका जायते ॥ २१३ ॥

भाषा—दूसरे के रत्न को चुराने वाला हेमकार नाम के निम्न कोटि के पक्षियों की योनि में जन्म लेता है; पत्तों वाला शाक चुराने पर मयूर और सुंगधद्रव्यों को चुराने पर छुछुन्दर का जन्म मिलता है ॥ २१३ ॥

मूषको धान्यहारी स्याद्यानमुष्ट्रः कपिः फलम् ।
जलं प्लवः पयः काको गृहकारी ह्युपस्करम् ॥ २१४ ॥
मधु दंशः पलं गृध्रो गां गोधाग्निं बकस्तथा ।
श्वित्री वस्त्रं श्वा रसं तु चीरी लवणहारकः ॥ २१५ ॥

किंच, धान्यहारी आखुः, यानं हृत्वोष्ट्रः, फलं वानरः, जलं प्लवः, शकटविलाख्यः पक्षी, पयः क्षीरं, काको ध्वाङ्क्षः, गृहोपस्करं मुसलादि हृत्वा गृहकारी [1]चटकाख्यः कीटविशेषः, मधु हृत्वा दंशाख्यः कीटः, पलं मांसं तद्धृत्वा गृध्राख्यः पक्षी, गां हृत्वा गोधाख्यः प्राणिविशेषः, अग्निं हृत्वा बकाख्यः पक्षी, वस्त्रं हृत्वा श्वित्री, इक्ष्वादिरसं हृत्वा सारमेयः. लवणहारी चीर्याख्यः उच्चैःस्वरः कीटः ॥ २१४–२१५ ॥

भाषा—धान्य चुराने वाला चूहा होता है और यान (सवारी) चुराने वाला ऊँट तथा फल चुराने वाला बन्दर होता है। जल चुराने वाला शकटविल पक्षी का, दूध चुराने वाला कौए का और मूसल आदि जैसे गृहस्थी का उपकरण चुराने पर गृहकारी (चटक) पक्षी का जन्म मिलता है। मधु चुराने वाला दंश (मच्छर), मांस चुराने वाले गृध्र, गाय चुराने वाला गोह, अग्नि चुराने वाला बक पक्षी, वस्त्र चुराने वाला कुष्ठी, ईख आदि का रस चुराने वाला कुत्ता और नमक चुराने वाला चीरी कीड़ा होकर जन्म लेता है ॥ २१४–२१५ ॥

एवं प्रदर्शनार्थं किंचिदुक्त्वा प्रतिद्रव्यं [2]पृष्टाकोटन्यायेन वक्तुमशक्तेरेकोपाधिना कर्मविपाकं दर्शयितुमाह—

प्रदर्शनार्थमेतत्तु मयोक्तं स्तेयकर्मणि ।
द्रव्यप्रकारा हि यथा तथैव प्राणिजातयः ॥ २१६ ॥

द्रव्यस्यापह्रियमाणस्य यादृशाः प्रकारास्तादृशा एव प्राणिजातयः स्तेयकर्मण्यपहर्तारो भवन्ति । यथा कांस्यहारी हंस इति । अथवा यत्फलसाधनं द्रव्यमपहरति तत्साधनविकलः–यथा पङ्गुतामश्वहारक इति ॥ शङ्खेन क्वचिद्विशेषो दर्शितः । 'ब्रह्महा कुष्ठी, तैजसापहारी मण्डली, देवब्राह्मणाक्रोशकः खलतिः, गरदाग्निदावुन्मत्तौ, गुरुं प्रतिहन्तापस्मारी, गोघ्नश्चान्धः,

---

1. वरटाख्यः । 2. पृष्टाकोटेन ।

धर्मपत्नीं त्यक्त्वान्यत्र प्रवृत्तः शब्दवेधी प्राणिविशेषः, कुण्डाशी भगभक्षी देवब्रह्मस्वापहारी[1] पाण्डुरोगी, न्यासापहारी च काणः, स्त्रीपण्योपजीवी षण्ढः, कौमारदारत्यागी दुर्भगः, मिष्टैकाशी[2] वातगुल्मी, अभक्ष्यभक्षको गण्डमाली, ब्राह्मणीगामी निर्बीजी, क्रूरकर्मा वामनः, वस्त्रापहारी पतंगः, शय्यापहारी क्षपणकः, शङ्खशुक्त्यपहारी कपाली, दीपापहारी कौशिकः, मित्रध्रुक् क्षयी, मातापित्रोराक्रोशः खञ्जक[3]' इति ॥ गौतमोऽपि कंचिद्विशेषमाह—अनृतवागुत्कलः मुहुर्मुहुः संलग्नवाक् , दारत्यागी जलोदरी, कूटसाक्षी श्लीपदी उच्छृङ्खलब्रह्माचरणः[4], विवाहविघ्नकर्ता छिन्नोष्ठः, अवगूरणः[5] छिन्नहस्तः, मातृघ्नोऽन्धः, स्नुषागामी वातवृषणः, चतुष्पथे विण्मूत्रविसर्जने मूत्रकृच्छ्री, कन्यादूषकः षण्ढः, ईर्ष्यालुर्मशकः, पित्रा विवदमानोऽपस्मारी, न्यासापहारी अनपत्यः, रत्नापहारी अत्यन्तदरिद्रः, विद्याविक्रयी पुरुषमृगः, वेदविक्रयी द्वीपी, बहुयाजको जलप्लवः, अयाज्ययाजको वराहः, अनिमन्त्रितभोजी वायसः, मृष्टैकभोजी[6] वानरः, यतस्ततोऽश्नन्मार्जारः, कक्षवनदहनात्खद्योतः, दारकाचार्यो मुखविगन्धिः, पर्युषितभोजी कृमिः, अदत्तादायी बलीवर्दः, मत्सरी भ्रमरः, अग्न्युत्सादी मण्डलकुष्ठी, शूद्राचार्यः श्वपाकः, गोहर्ता सर्पः, स्नेहापहारी क्षयी, अन्नापहारी अजीर्णी, ज्ञानापहारी मूकः, चण्डालीपुल्कसीगमने अजगरः, प्रव्रजितागमने मरुपिशाचः, शूद्रीगमने दीर्घकीटः, सवर्णाभिगामी दरिद्रः, जलहारी मत्स्यः, क्षीरहारी बलाकः, वार्धुषिकोऽङ्गहीनः, अविक्रेयविक्रयी गृध्रः, राजमहिषीगामी नपुंसकः, राजाक्रोशको गर्दभः, गोगामी मण्डूकः, अनध्यायाध्ययने सृगालः, परद्रव्यापहारी परप्रेष्यः, मत्स्यवधे गर्भवासी, इत्येतेऽतूर्ध्वगमना इति ॥ स्त्रियोऽप्येतेषु निमित्तेषु पूर्वोक्तास्वेव जातिषु स्त्रीत्वमनुभवन्ति । यथाह मनुः (१२।६९)—'स्त्रियोऽप्येतेन कल्पेन कृत्वा[7] दोषमवाप्नुयुः । एतेषामेव जन्तूनां भार्यात्वमुपयान्ति ताः ॥' इति । एतच्च क्षयित्वादिलक्षणकथनं प्रायश्चित्तोन्मुखीभूतब्रह्महाद्युद्वेगजननार्थं न पुनः क्षयित्वादिलक्षणयुक्तानां द्वादशवार्षिकादिव्रतप्राप्त्यर्थं संसर्गनिवृत्त्यर्थं च । तथा हि—पापक्षयार्थं प्रायश्चित्तम् । न च[8] प्रायश्चित्तेन प्रारब्धफलपापापूर्वविनाशे किंचन प्रयोजनमस्ति । नहि कार्मुकनिर्मुक्तो बाणो लक्ष्यवेधे वेद्धुस्तद्व्यापारस्य वा सत्तान्तरं पुनरपेक्षते[9] । न च तदारब्धफलनाशार्थी पूर्वनाशोऽन्वेषणीयः । नहि [10]निमित्तकारणीभूतचक्रचीवरादिविनाशेन तदारब्धकरकादिविनाशः । नच नैसर्गिकं कौनख्यादिकं प्रत्यानेतुं शक्यते । किंच नरकतिर्यग्योन्यादिजन्यदुःखपरम्परामनुभूतस्य[11] हि कौनख्यादिको विकारश्चरमं फलम् ।

---

१. ब्रह्मस्वहरः । २. मृष्टैकाशी ३. खण्डकारः । ४. अस्थूलजङ्घ । ५. अवगूरणी । ६. मिष्टैकभोजी । ७. हत्वा दोषं । ८. न च प्रारब्ध । ९. सत्ता पुनरपेक्षते । १०. कारणभूत । ११. मनुभूय तस्य ।

तेन चोत्पन्नमात्रेण स्वकारणापूर्वनाशो जन्यते मन्थनजनिताशुशुक्षणिनेवारणिनिचयः। तस्मान्न पापविनाशार्थं व्रतपरिचर्या, नापि संव्यवहारार्थम्। नहि शिष्टाः कुनख्यादिभिः सह संबन्धं परिहरन्ति। प्राचीनंन्नयात्पापनाशेन संव्यवहार्यत्वस्यापि सिद्धेर्नार्थो व्रतचर्यया॥ यत्तु वसिष्ठेनोक्तम् (२०६)—'कुनखी श्यावदन्तश्च कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरेत्' इति तत्त्वामवस्यादिवन्नैमित्तिकमात्रं न पुनः पापक्षयार्थं संव्यवहार्यत्वसिद्ध्यर्थं वेति मन्तव्यम्॥ २१६॥

भाषा—इतना मैंने उदाहरण के लिये कहा है। दूसरे का द्रव्य चुराने पर तो जिस प्रकार का द्रव्य होता है उसी प्रकार की योनि (चोरी करने वाला) प्राप्त करता है।

यथाकर्म[3] फलं प्राप्य तिर्यक्त्वं कालपर्ययात्।
जायन्ते लक्षणभ्रष्टा दरिद्राः पुरुषाधमाः॥ २१७॥

किंच, यथाकर्म स्वकृतदुष्कृतानतिक्रमेण तदनुरूपं नरकादि फलं तिर्यक्त्वं च प्राप्य कालक्रमेण क्षीणे कर्मणि दुष्टलक्षणा दरिद्राश्च पुरुषेषु निकृष्टा जायन्ते॥

भाषा—अपने किए हुए कर्म के अनुसार नरक आदि फल और पशु पक्षियों की योनि प्राप्त करके (कालक्रम से कर्म के क्षीण होने पर) वे कुरूप दरिद्र और पुरुषों में निकृष्ट होकर जन्म लेते हैं॥ २१७॥

ततो निष्कल्मषीभूताः कुले महति भोगिनः।
जायन्ते विद्ययोपेता धनधान्यसमन्विताः॥ २१८॥

किंच, ततो दुर्लक्षणमनुष्यजन्मानन्तरं निष्कल्मषीभूता नरकाद्युपभोगद्वारेण क्षीणपापाः प्राग्भवीयसुकृतशेषेण महाकुले भोगसंपन्नाः विद्याधनधान्यसंपन्ना जायन्ते॥ २१८॥

भाषा—तब (इस प्रकार के मनुष्य) जन्म-जन्मान्तर में नरक आदि के भोग द्वारा पापों के क्षीण होने पर भोगसंपन्न उच्च कुल में धनधान्य से युक्त और विद्या से सम्पन्न होकर जन्म लेते हैं॥ २१८॥

एवं प्रायश्चित्तेषु प्ररोचनार्थं कर्मविपाकमभिधायाधुना तेष्वेवाधिकारिणं निरूपयितुमाह—

विहितस्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात्।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति॥ २१९॥
तस्मात्तेनेह कर्तव्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये।
एवमस्यान्तरात्मा च लोकश्चैव प्रसीदति॥ २२०॥

---

१. प्राचीननयात्। २. संव्यवहारार्थत्वस्यापि। ३. यथा कर्म।

विहितमिति यदावश्यकं संध्योपासनाग्निहोत्रादिकं नित्यमशुचिस्पर्शादौ नैमित्तिकत्वेन चोदितं स्नानादिकं च तदुभयमुच्यते तस्याकरणात्, निन्दितस्य निषिद्धस्य सुरापानादेः करणात्, इन्द्रियाणामनिग्रहाच्च नरः पतनमृच्छति प्राप्नोति। प्रत्यवायी भवतीति यावत्॥ ननु 'इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः' (मनुः ४।१६) इतीन्द्रियप्रसक्तेरपि निषिद्धत्वात् 'निन्दित' ग्रहणेनैव गतार्थत्वात्किमर्थं 'अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणाम्' इति पृथगुपादानम्? अत्रोच्यते,—इन्द्रियप्रसक्तिनिषेधस्य नैकान्ततः प्रतिषेधरूपता स्नातकव्रतमध्येऽस्य पाठात्तत्र च 'व्रतानीमानि धारयेत्' (मनुः ४।१३) इति 'व्रत'शब्दाधिकाराच्छ्रवणाच्चेन्द्रियप्रसक्तिप्रतिषेधकः संकल्पो विधीयते। स [1]चोभयरूप इति पृथगुपादानम्॥ ननु विहिताकरणात् प्रत्यवैतीति कुतोऽवसितम्? न तावदग्निहोत्रादिचोदना पुरुषप्रवर्तनात्मिकाऽननुष्ठानस्य प्रत्यवायहेतुतामाक्षिपति। विषयानुष्ठानस्य पुरुषार्थत्वावगतिमात्रपर्यवसायिनी हि सा तावन्मात्रेण प्रवृत्त्युपपत्तेर्न पुनरकरणस्य प्रत्यवायहेतुत्वमपि वक्ति; क्षीणशक्तित्वादनुपपत्तेः। किंच, य[2]द्यनुपपत्त्युपशमेऽपि प्रवृत्तिसिद्ध्यर्थमर्थान्तरं कल्प्यते तर्हि निषिध्यमानक्रियाजन्यप्रत्यवायपरिहारार्थतयैव तद्वर्जनस्य पुरुषार्थत्वसिद्धावपि फलान्तरं कल्प्येत। नचैतत्कस्यचिदपि संमतम्॥ ननु यथा निषिद्धेष्वर्थवादावगतप्रत्यवायपरिहार्थतयैव पुरुषार्थत्वं तथा विहितेष्वप्यर्थवादावगताकरणजन्यप्रत्यवायपरिहारार्थता कस्मान्न स्यात्? मैवम्; नहि सर्वत्राग्निहोत्रादिषु तादृग्विधार्थवादाः सन्ति। न च 'विहितस्याननुष्ठानान्नरः पतनमृच्छति' इतीयं स्मृतिरेव वाक्यशेषस्थानीयेति चतुरस्रम्। नहि वाक्यान्तरप्रमिते कार्ये वाक्यान्तरेणार्थवादः संभवति। भवतु वा कथंचिदेकवाक्यतयार्थवादस्तथापि [3]नाभावरूपं विहिताकरणे कार्यान्तरं जनयितुं क्षमते। ननु 'ज्वरे चैवातिसारे च लङ्घनं परमौषधम्' इत्यायुर्वेदवचनाद्भोजनाभावरूपं लङ्घनं ज्वरशान्तिं जनयतीति यथावगम्यते तथात्रापि भवतु। मैवम्; यतो नात्रापि लङ्घनाज्ज्वरशान्तिः, किं तर्हि ज्वरनाशप्रतिबन्धकभोजनाभावे सति जठरानलपरिपाक[4]जनिताद्धातुसाम्यादिति मन्तव्यम्। तस्मात् 'विहितस्याननुष्ठानान्नरः पतनमृच्छति' इति कथमस्याः स्मृतेर्गतिरिति वाच्यम्। उच्यते,—अग्निहोत्रादिविषयाधिकारासिद्धिरूपप्रत्यवायाभिप्रायेणेति न दोषः। ननु (१२।७१।७२)—'वान्ताश्युल्कामुखः प्रेतो [5]विप्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः। अमेध्यकुणपाशी च क्षत्रियः कटपूतनः॥ मैत्राक्षज्योतिकः प्रेतो वैश्यो भवति पूयभुक्। चैलाशकस्तु भवति

---

१. च भावरूप। २. यद्यप्यनुप। ३. नाभावरूपविहिताकरणं। ४. परिपाकजननाद्धातु। ५. विप्रो भवति विच्युतः।

शूद्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः ॥' इत्येतानि विहिताकरणप्रत्यवायपराणि मनुवचनानि कथं घटन्ते ? उच्यते,—यथा वान्तमश्नत उल्कया वा दह्यमानमुखस्य दुःखं तथास्यापि विहितमकुर्वतः पुरुषस्य पुरुषार्थासिद्धेरित्यकरणनिन्दनमनुष्ठानप्ररोचनार्थमित्यविरोधः । यद्वा,—प्राग्भवीयनिषिद्धाचरणाक्षिप्तविहितानुष्ठानविरोधिरागालस्यादिजन्यवान्ताश्युल्कामुखप्रेतत्वादिरूपमिति न क्वचिदभावस्य कारणतेति मन्तव्यम् ॥ ननु पुंश्चलीवानरखरदष्ट(श्वदष्ट)मिथ्याभिशस्तादौ विहिताकरणादिनिमित्तानामन्यतमस्याप्यभावात्कथं प्रत्यवायिता ? कथं च तदभावे प्रायश्चित्तविधानम् ? उच्यते,—अस्मादेव पापक्षयार्थप्रायश्चित्तविधानाज्जन्मान्तराचरितनिषिद्धसेवादिजन्यपापापूर्वं समाक्षिप्तमित्यभिशापादिकं तन्निमित्तप्रायश्चित्तापनोद्यमनेनानुष्ठितमिति कल्प्यते; पुरुषप्रयत्ननैरपेक्ष्येण कार्यरूपपापोत्पत्त्यनुपपत्तेः । नच पुंश्चल्यादिगतप्रयत्नेन पुरुषान्तरे पापोत्पत्तिः, कर्तृसमवायित्वनियमाद्धर्माधर्मयोः, तस्माद्युक्तैव प्रायश्चित्ते निमित्तत्रयपरिगणना । तथा च मनुः (११।४४)—'अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् । प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥' इति । 'नर'ग्रहणं प्रतिलोमजातानामपि प्रायश्चित्ताधिकारप्राप्त्यर्थम्, तेषामप्यहिंसादिसाधारणधर्मव्यतिक्रमसंभवात्, यस्मादेवं निषिद्धाचरणादिना प्रत्यवैति तस्मात्तेन कृतनिषिद्धसेवादिना पुरुषेण प्रायश्चित्तं कर्तव्यमिह लोके परत्र च विशुद्ध्यर्थम् । प्रायश्चित्तशब्दश्चायं पापक्षयार्थे नैमित्तिके कर्मविशेषे रूढः । एवं प्रायश्चित्ते कृते अस्यान्तरात्मा शुद्धतया प्रसीदति लोकश्च संव्यवहर्तुं[2] प्रसीदति । एवं वदतैतद्दर्शितम्—नैमित्तिकोऽयं प्रायश्चित्ताधिकारः, तथा चार्थवादगतदुरितक्षयोऽपि जातेष्टिन्यायेन साध्यतया स्वीक्रियते । नच दुरितपरिजिहासुनानुष्ठीयत इत्येतावता कामाधिकार[3]शङ्का कार्या । यस्मात् (मनुः ११।५३)—'चरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये । निन्द्यैर्हि लक्षणैर्युक्ता जायन्तेऽनिष्कृतैनसः ॥' इत्यकरणे दोषश्रवणेनावश्यकत्वावगमात् ॥ २१९-२२० ॥

भाषा—नित्य, नैमित्तिक आदि विहित कर्मों के न करने से तथा सुरापान आदि निषिद्ध कर्म करने से और इन्द्रियों का निग्रह न करने से मनुष्य पतित हो जाता है । इस लिये मनुष्य की शुद्धि के लिये प्रायश्चित्त करना चाहिए और इस प्रकार उसकी अन्तरात्मा और लोक सभी प्रसन्न होते हैं ॥

प्रायश्चित्ताकरणे दोषमाह—

प्रायश्चित्तमकुर्वाणाः पापेषु निरता नराः ।
[4]अपश्चात्तापिनः कष्टान्नरकान्यान्ति दारुणान् ॥ २२१ ॥

---

१. प्रायश्चित्तनिमित्त । २. लोकश्चायं संव्यव । ३. धिकारशङ्का ।
४. अपश्चात्तापिनो यान्ति नरकानतिदारुणान् ।

पापेषु शास्त्रार्थव्यतिक्रमजनितेषु प्रसक्ताः पुरुषाः अपश्चात्तापिनो मया दुष्कृतं कृतमित्येवमुद्वेगरहिताः प्रायश्चित्तमकुर्वाणाः दुःसहान्नरकान्प्राप्नुवन्ति ॥ २२१ ॥

भाषा—पापकर्मों में निरत रहने वाले मनुष्य प्रायश्चित्त न करने (किये हुए कर्म) पर पश्चात्ताप न करने पर अत्यन्त भयंकर एवं कष्टमय नरकों में जाते हैं ॥ २२१ ॥

नरकस्वरूपं विवृण्वन्नाह—

तामिस्रं लोहशङ्कुं च महानिरयशाल्मली[2] ।
रौरवं कुड्मलं पूतिमृत्तिकं कालसूत्रकम् ॥ २२२ ॥
संघातं लोहितोदं च सविषं संप्रपातनम् ।
महानरककाकोलं संजीवनमहापथम्[3] ॥ २२३ ॥
अवीचिमन्धतामिस्रं कुम्भीपाकं तथैव च ।
असिपत्रवनं चैव [4]तापनं चैकविंशकम् ॥ २२४ ॥
महापातकजैर्घोरैरुपपातकजैस्तथा ।
अन्विता यान्त्यचरितप्रायश्चित्ता नराधमाः ॥ २२५ ॥

तामिस्रप्रभृतींस्तापनपर्यन्तानेकविंशतिनरकानन्वर्थसंज्ञाद्योतितावान्तरभेदान्महापातकोपपातकजनितभयंकरदुरितैरन्विता अनाचरितप्रायश्चित्ताः पुरुषाधमाः प्राप्नुवन्ति ॥ २२२–२२५ ॥

भाषा—तामिस्र, लोहशङ्कु, महानिरय, शाल्मली, रौरव, कुड्मल, पूतिमृत्तिक, कालसूत्रक, संघात, लोहितोद, सविष, संप्रपातन, महानरक, काकोल, संजीवन, महापथ, अवीचि, अन्धतामिस्र, कुम्भीपाक, असिपत्रवन, तापन ये इक्कीस नरक हैं। घोर महापातकों एवं उपपातकों से युक्त अधम मनुष्य प्रायश्चित्त न करने पर इन नरकों को प्राप्त करते हैं ॥ २२२–२२५ ॥

उपात्तदुरितनिरासार्थं प्रायश्चित्तमित्युक्तं, तत्र विशेषमाह—

प्रायश्चित्तैरपैत्येनो यदज्ञानकृतं भवेत् ।
कामतो व्यवहार्यस्तु वचनादिह जायते ॥ २२६ ॥

प्रायश्चित्तैर्वक्ष्यमाणलक्षणैरज्ञानाद्यदेनः पापं कृतं तदपैति गच्छति, न कामतः कृतम् । किंतु तत्र प्रायश्चित्तविधायकवचनबलादिह लोके व्यवहार्यो जायते । अत्र च प्रायश्चित्तैरपैत्येनो यदज्ञानकृतम्' इत्युपक्रमात्तत्प्रतियोगितया 'ज्ञानत' इति वक्तव्ये यत् 'कामतः' इत्युक्तं, तत् ज्ञानकामयोस्तुल्यत्वप्रदर्शनार्थम् । तथा हि–'विहितं यदकामानां कामात्तद्-द्विगुणं भवेत् ।' तथाऽबुद्धि-

१. दुःखदान् । २. महारौरवशाल्मलिम् । ३. नदीपथम् । ४. तपनम् ।

पूर्वक्रियायामर्धं प्रायश्चित्तम् । तथा 'म्लेच्छेनाधिगतः शूद्रस्त्वज्ञानात्तु कथंचन । कृच्छ्रत्रयं प्रकुर्वीत ज्ञानात्तु द्विगुणं भवेत् ॥' इत्यादिभिर्वचनैर्ज्ञानकामनयोस्तुल्यप्रायश्चित्तदर्शनात्तुल्यफलतैव । किंच, स्वतन्त्रप्रवृत्तिविषयज्ञानकामनाभ्यां नियता; तयोरन्यतरापायेऽपि तस्या असंभवादतः 'कामत' इत्युक्तम् ; 'ज्ञानाज्ञानत' इत्युक्तेऽपि कामः प्राप्नोत्यविनाभावात् । नच चौरादिभिर्बलात्प्रवर्त्यमानस्य सत्यपि विषयज्ञाने कामनाभावान्नाविनाभाव इति वाच्यम् । यतोऽत्र विद्यमानस्यापि ज्ञानस्य प्रवृत्तिहेतुत्वाभावेनासत्समत्वम् ॥ यत्तु–शुष्केऽपि पिपतिषोर्भ्रान्त्या कर्दमपतनं, तत्रापि वास्तवज्ञानाभावात्तद्विषयकामनायाश्चाभाव एव । एवमज्ञानाकामनयोरप्यव्यभिचार एव ॥ ननु 'प्रायश्चित्तैरपैत्येनः' इति न युक्तम् ; फलविनाश्यत्वात्कर्मणः । मैवम् ; यथा पापोत्पत्तिः शास्त्रगम्या तथा तत्परिक्षयोऽपीति नात्र प्रमाणान्तरं क्रमते । अतएव गौतमेन पूर्वोत्तरपक्षभङ्ग्या अयमर्थो दर्शितः । तत्र प्रायश्चित्तं कुर्यान्न कुर्यादिति मीमांसन्ते । न कुर्यादित्याहुर्न हि कर्म क्षीयते इति । कुर्यादित्यपरे । 'पुनःस्तोमेनेष्ट्वा पुनःसवनमायान्तीति विज्ञायते । व्रात्यस्तोमेनेष्ट्वा तरति सर्वं पाप्मानं तरति भ्रूणहत्यां योऽश्वमेधेन यजते' इति पुनःसवनमायान्ति इति सवनसंपाद्यज्योतिष्टोमादिद्विजातिकर्मणि योग्यो भवतीत्यर्थः । न चेदमर्थवादमात्रम् ; अधिकारिविशेषणाकाङ्क्षायां रात्रिसत्रन्यायेनार्थवादिकफलस्यैव कल्पनाया न्याय्यत्वात्, अतो युक्तं 'प्रायश्चित्तैरपैत्येनः' इति ॥ ननु कामकृते प्रायश्चित्ताभावात्कथं व्यवहार्यत्वं तदभावश्च 'अनभिसंधिकृतेऽपराधे प्रायश्चित्तम्' इति (२०।१) वसिष्ठवचनात् ॥ 'इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याकामतो द्विजम् । कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते ॥' इति (११।८९) मनुवचनाच्चावगम्यते । नैतत् ; 'यः कामतो महापापं नरः कुर्यात्कथंचन । न तस्य निष्कृतिर्दृष्टा भृग्वग्निपतनादृते ॥' इति । तथा—'विहितं यदकामानां कामात्तद्द्विगुणं भवेत्' इति च कामकृतेऽपि प्रायश्चित्तदर्शनात् । यत्तु वसिष्ठवचनं 'तस्याप्यकामकृतेऽपराधे प्रायश्चित्तं शुद्धिकरम्' इत्यभिप्रायो न पुनः कामकृते प्रायश्चित्ताभाव इति ॥ यत्तु मनुवचनं–'इयं विशुद्धिरुदिता' इत्यादि, तदपीयमिति सर्वनामपरामृष्टद्वादशवार्षिकादिव्रतपर्याया एव । 'कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते' इत्यनेन प्रतिषेधो न पुनः प्रायश्चित्तमात्रस्य; मरणान्तिकादेः प्रायश्चित्तस्य दर्शितत्वात् ॥ ननु यदि कामकृतेऽपि प्रायश्चित्तमस्ति तर्हि पापक्षयोऽपि कस्मान्न स्यादविशेषाद्यदि पाप-

---

१. धिगता शूद्रा स्वज्ञानात्तु । २. ज्ञानात्तद्द्विगुणं, ज्ञाने तु द्विगुणं । ३. इत्याद्यपूर्ववचनैः । ४. अन्यतराभावेऽपि । ५. विद्यमानस्याप्रवृत्ति । ६. नेष्ट्वा ब्रह्मचर्यं चरेदुपनयनत इति सर्वं पाप्मानं ।

क्षयोऽपि नास्ति तर्हि व्यवहार्यतापि कथं भवति ? उच्यते,—उभयत्र प्रायश्चित्ताविशेषेऽपि फलविशेषः शास्त्रतोऽवगम्यते। अज्ञानकृते तु सर्वत्र पापक्षयः। यत्र तु 'ब्रह्महसुरापगुरुतल्पगमातृपितृयोनिसंबन्धसंबद्धावागमस्तेन नास्तिकनिन्दितकर्माभ्यासिपतितात्याग्यपतितत्यागिनः पतिताः पातकसंयोजकाश्च' (२०।१२) इति गौतमोक्तमहापातकादौ व्यवहार्यत्वं निषिद्धं, तस्मिन्पतनीये कर्मणि कामतः कृते व्यवहार्यत्वमात्रं न पापक्षय इति। नच पापक्षयाभावे व्यवहार्यत्वमनुपपन्नम्। द्वे हि पापस्य शक्ती नरकोत्पादिका व्यवहारनिरोधिका चेति। तत्रेतरशक्त्यविनाशेऽपि व्यवहारनिरोधिकायाः शक्तेर्विनाशो नानुपपन्नस्तस्मात्पापानपगमेऽपि व्यवहार्यत्वं नानुपपन्नम्। यत्तु मनुवचनम् (११।४५)—'अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः। कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात्॥' इति,—तदपि कामकृते प्रायश्चित्तप्राप्त्यर्थं, न पुनः पापक्षयप्रतिपादनपरम्। अपतनीये पुनः कामकृतेऽपि प्रायश्चित्तेन पापक्षयो भवत्येव; 'अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुद्ध्यति। कामतस्तु कृतं मोहात्प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः॥ इति (११।४६) मनुस्मरणात्। पतनीयेऽपि कर्मणि कामकृते मरणान्तिकप्रायश्चित्तेषु कल्मषक्षयो भवत्येव। फलान्तराभावात्। नास्यास्मिँल्लोके प्रत्यापत्तिर्विद्यते कल्मषं तु निहन्यते' (१।२४—२६) इत्यापस्तम्बस्मरणात्॥ २२६॥

भाषा—जो पापकर्म अज्ञानवश किया गया होता है वह प्रायश्चित्त से दूर होता है। जानबूझ कर पापकर्म करके प्रायश्चित्त करने पर (वह पाप दूर तो नहीं होता किन्तु) प्रायश्चित्त के वचन द्वारा लोक में व्यवहार की योग्यता प्राप्त होती है॥ २२६॥

निषिद्धाचरणादिकं प्रायश्चित्ते निमित्तमित्युक्तं तत्प्रपञ्चयितुमाह—

ब्रह्महा मद्यपः स्तेनस्तथैव गुरुतल्पगः।
एते महापातकिनो यश्च तैः सह संवसेत्॥ २२७॥

हन्तिरयं प्राणवियोगकरे व्यापारे रूढः, यद्व्यापारसमनन्तरं कालान्तरे वा कारणान्तरनिरपेक्षः प्राणवियोगो भवति सः, ब्राह्मणं हतवानिति ब्रह्महा, मद्यपो निषिद्धसुरायाः पाता, स्तेनः ब्राह्मणसुवर्णस्य हर्ता, 'ब्राह्मणसुवर्णापहरणं महापातकं' इत्यापस्तम्बस्मरणात्। गुरुतल्पगो गुरुभार्यागामी। 'तल्प'-शब्देन शयनवाचिना साहचर्याद्भार्या लक्ष्यते। एते ब्रह्महादयो महापातकिनः। पातयन्तीति पातकानि ब्रह्महत्यादीनि। महच्छब्देन तेषां गुरुत्वं

---

१. ब्रह्महा सुरापो गुरुतल्पगो मातृपितृ। २. संबन्धावगम। ३. पापक्षयं प्रति प्रतिपादन। ४. नास्यास्मिँल्लोके। ५. संविवेत्समाम्। ६. वियोगकरणे।

ख्याप्यते तद्योगिनो महापातकिन इति लाघवार्थं संज्ञाकरणम्। यश्च तैर्ब्रह्महादिभिः प्रत्येकं सह संवसति 'एभिस्तु संवसेद्यो वै वत्सरं सोऽपि तत्समः' (प्रा० २६६) इति वक्ष्यमाणन्यायेन सोऽपि महापातकी। 'तथा'शब्दः प्रकारवचनोऽनुग्राहकप्रयोजकादिकर्तृसंग्रहार्थः। अनुग्राहकश्च यः पलायमानममित्रं उपरुन्धन् परेभ्यश्च हन्तारं परिरक्षन्हन्तुर्दृढिमानमुपजनयन्नुपकरोति स उच्यते। अत एव मनुनानुग्राहकस्य हिंसाफलसंबन्धो दर्शितः—'बहूनामेककार्याणां सर्वेषां शस्त्रधारिणाम्। यद्येको घातयेत्तत्र सर्वे ते घातकाः स्मृताः॥' इति। तथा प्रयोजकादीनामप्यापस्तम्बेन फलसंबन्ध उक्तः—'प्रयोजितानुमन्ता कर्ता चेति स्वर्गनरकफलेषु कर्मसु भागिनो यो भूय आरभते तस्मिन्फलविशेषः' इति तत्राप्रवृत्तस्य प्रवर्तकः प्रयोजकः। स च त्रिप्रकारः—आज्ञापयिताभ्यर्थयमान उपदेष्टेति। तत्राज्ञापयिता नाम स्वयमुच्चः सन्नीचं भृत्यादिकं यः प्रेरयति मदीयममित्रं जहीति स उच्यते। अभ्यर्थयमानस्तु यः स्वयमसमर्थः सन् प्रार्थनादिना मच्छत्रुं व्यापादयेस्त्वमुच्चं प्रवर्तयति सोऽभिधीयते। अनयोश्च स्वार्थसिद्ध्यर्थमेव प्रयोक्तृत्वम्। उपदेष्टा पुनरत्वं शत्रुमित्थं व्यापादयेति मर्मोद्घाटनाद्युपदेशपुरःसरं प्रेरयन्कथ्यते। तत्र च प्रयोज्यगतमेव फलमिति तेषां भेदः। अनुमन्ता तु प्रवृत्तस्य प्रवर्तकः[1]। स द्विप्रकारः—कश्चित्स्वार्थसिद्ध्यर्थमनुजानाति कश्चित्परार्थमिति॥ नन्वनुमननस्य कथं हिंसाहेतुत्वं, न तावत्प्राणवियोगोत्पादनेन; तस्य साक्षात्कर्तृव्यापारजन्यत्वात्। नापि प्रयोजकस्येव; साक्षात्कर्तृप्रवृत्त्युत्पादनद्वारेण प्रवृत्तस्य प्रवर्तकत्वात्। नच साधु त्वयाध्यवसितमिति प्रवृत्तमेवानुमन्यत इति शङ्कनीयम्। तादृशस्यानुमननस्य[2] हिंसां प्रत्यहेतुत्वाद्व्यर्थत्वाच्च। उच्यते,—यत्र हि राजादिपारतन्त्र्यात्स्वयं मनसा प्रवृत्तोऽपि प्रवृत्तिविच्छेदभयादागामिदण्डभयाद्वा शिथिलप्रयत्नो राजाद्यनुमतिमपेक्षते तत्रानुमतिर्हन्तुः प्रवृत्तिमुपोद्बलयन्ती हिंसाफलं प्रति हेतुतां प्रतिपद्यते। तथा[3] योऽपि भर्त्सनताडनधनापहारादिना परान्कोपयति सोऽपि मरणहेतुभूतमन्यूत्पादनद्वारेण हिंसाहेतुर्भवत्येव। अत एव विष्णुनोक्तम्—'आक्रुष्टस्ताडितो वापि धनैर्वा विप्रयोजितः। यमुद्दिश्य त्यजेत्प्राणांस्तमाहुर्ब्रह्मघातकम्॥' इति तथा—'ज्ञातिमित्रकलत्रार्थं सुहृत्क्षेत्रार्थमेव च। यमुद्दिश्य त्यजेत्प्राणांस्तमाहुर्ब्रह्मघातकम्॥' इति। नच कृतेष्वप्याक्रोशनादिषु कस्यचिन्मन्यूत्पत्त्यदर्शनादकारणतेति शङ्कनीयम्; पुरुषस्वभाववैचित्र्यात्। ये अल्पतरेणापि निमित्तेन जातमन्यवो भवन्ति तेष्वव्यभिचार इति नाकारणता। एतेषां चानुग्राहकप्रयोजकादीनां प्रत्यासत्तिव्य-

---

१. समर्थं प्रवर्तयति। २. तादृशमननस्य। ३ तथान्योपि।

वधानापेक्षया व्यापारगतगुरुलाघवापेक्षया च फलं गुरुलाघवात् प्रायश्चित्तगुरुलाघवं बोद्धव्यम्; 'यो भूय आरभते तस्मिन्फलविशेषः' इति वचनात्। तथा अनुग्राहकस्य तावत्स्वयमेव हिंसायां प्रवृत्तत्वेन स्वतन्त्रकर्तृत्वे सत्यपि साक्षात्प्राणवियोगफलकखड्गप्रहारादिव्यापारयोगित्वाभावेन साक्षात्कर्तृवद्भूयो हिंसारम्भकत्वाभावादल्पफलत्वमल्पप्रायश्चित्तत्वं च। प्रयोजकस्य तु स्वतन्त्रकर्तृप्रवृत्तिजनकत्वेन व्यवहितत्वात्ततोऽल्पफलत्वम्। प्रयोजकानां मध्ये परार्थप्रवृत्तत्वेनोपदेष्टुरल्पफलत्वम्॥ ननु प्रयोजकहस्तस्थानीयत्वात्प्रयोज्यस्य न फलसंबन्धो युक्तः। यदि परप्रयुक्तत्या प्रवर्तमानस्यापि फलसंबन्धस्तर्हि स्थपतितडागखनितृप्रभृतीनामपि मूल्येन प्रवर्तमानानां स्वर्गादिफलप्राप्तिप्रसङ्गः। उच्यते, शास्त्रोक्तं फलं प्रयोक्तरीति न्यायेनाधिकारिकर्तृगतफलजनका देवकूपतडागनिर्माणादयः[1]। नच स्थपतितडागखनित्रादयो[2] देवकूपतडागकरणादिष्वधिकारिणः, स्वर्गकामित्वात्[3]। अत्र पुनः परप्रयुक्तत्या प्रवर्तमानानामप्यहिंसाधामधिकारित्वाद्भवत्येव तद्व्यतिक्रमनिबन्धनो दोषः। अनुमन्तुस्तु प्रयोजकादप्यल्पफलत्वं प्रयोजकव्यापाराद्बहिरङ्गत्वात्सुघुत्वाच्चानुमननस्य। निमित्तकर्तुः पुनराक्रोशकादेः प्रवृत्तिहेतुभूतमन्युजनकत्वेन व्यवहितत्वान्मरणानुसंधानं विना प्रवृत्तत्वाच्चानुमन्तुः सकाशादप्यल्पफलत्वम्[4]॥ ननु यदि व्यवहितस्यापि कारणत्वं तर्हि मातापित्रोरपि हन्तृपुरुषोत्पादनद्वारेण हननकर्तृत्वप्रसङ्गः। उच्यते,—नहि पूर्वभावित्वमात्रेण कारणत्वम्; कारणतयापि तथाभावित्वोपपत्तेः। यत्खलु स्वरूपातिरिक्तकार्योत्पत्त्यनुगुणव्यापारयोगि भवति तद्धि कारणम्। यदि रथन्तरसामा सोमः स्यादैन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान् गृह्णीयादिति रथन्तरसामतैव क्रतोरैन्द्रवायवाग्रतायां कारणम्[5]। नहि तत्र सोमयागः स्वरूपेण कारणं; व्यभिचारात्। नच पित्रोस्तादृग्विधकारणलक्षणयोगित्वमिति नातिप्रसङ्गः[6]। अनेनैव न्यायेन धर्माभिसंधिना निर्मितकूपवाप्यादौ प्रमादपतितब्राह्मणादिमरणे खानयितुर्दोषाभावः। नहि कूपोऽनेन खानितः अतोऽहमात्मानं व्यापादयामीत्येवं कूपखनननिमित्तं व्यापादनं यथाक्रोशादौ। अतः कूपकर्तुरपि कारणत्वमेव, न पुनर्हिंसाहेतुत्वमिति मातापितृतुल्यतैव। तथा क्वचित्सत्यपि हिंसानिमित्तयोगित्वे परोपकारार्थप्रवृत्तौ वचनाद्दोषाभावः। यथाह संवर्तः—'बन्धने गोश्चिकित्सार्थे मूढगर्भविमोचने। यत्ने कृते विपत्तिश्चेत्प्रायश्चित्तं न विद्यते॥ औषधं स्नेहमाहारं ददद्गोब्राह्मणादिषु। दीयमाने विपत्तिः स्यान्न स पापेन लिप्यते॥ दाहच्छेदशिराभेदप्रयत्नैरुपकुर्वताम्। प्राणसंत्राणसिद्ध्यर्थं प्रायश्चित्तं न विद्यते॥' इति।—एतच्चादानिदाननिपुणभिषग्विषयम्।

---

१. फलगुरु। २. देवकुलतडाग। ३. तडागकर्त्रादयो। ४. दृष्यफलत्वम्। ५. प्रता कारणम्। ६. नास्ति प्रसंगः।

इतरस्य तु 'भिषङ्मिथ्याचरन्दाप्यः' (व्य० १४२) इत्यत्र [illegible]
यत्तु मन्युनिमित्ताक्रोशनादिकमकुर्वतोऽपि नाम गृहीत्वोन्मादादिनात्मानं व्यापादयति तत्रापि न दोषः; 'अकारणं तु यः कश्चिद् द्विजः प्राणान्परित्यजेत् । तस्यैव तत्र दोषः स्यान्न तु यं परिकीर्तयेत् ॥' इति स्मरणात् ॥ तथा यत्र क्रोशकादिजनितमन्युरात्मानं[1] खड्गादिना प्रहृत्य मरणादर्वागाक्रोशनादिकर्त्रा[2] [illegible]दानादिना संतोषितो यदि जनसमक्षमुच्चैः श्रावयति नात्राक्रोशकस्यापराध इति, तत्रापि वचनान्न दोषः । यथाह विष्णुः—'उद्दिश्य कुपितो हत्वा तोषितः श्रा[illegible]त्पुनः । तस्मिन्मृते न दोषोऽस्ति द्वयोरुच्छ्रावणे कृते[3] ॥ इति । एतेषां च प्र[illegible]कादीनां दोषगुरुलघुभावपर्यालोचनया प्रायश्चित्तविशेषं वक्ष्यामः ॥ २२७ ॥

भाषा—ब्राह्मण की हत्या करने वाला, सुरा पीनेवाला, (ब्राह्मण का) स्वर्ण चुराने वाला तथा गुरुपत्नी से भोग करनेवाला—ये महापातकी होते हैं और इनके साथ निवास करने वाले भी महापातकी होते हैं ॥ २२७ ॥

ब्रह्महत्यासमान्याह—

> गुरूणामध्यधिक्षेपो वेदनिन्दा सुहृद्वधः ।
> ब्रह्महत्यासमं ज्ञेयमधीतस्य च नाशनम् ॥ २२८ ॥

गुरूणामाधिक्येनाधिक्षेपः अनृताभिशंसनम् । 'गुरोरनृताभिशंसनानि[illegible] महापातकसमानि' (२११०) इति गौतमस्मरणात् । एतच्च लोका[illegible]भिशंसनविषयम् । 'दोषं बुद्ध्वा न पूर्वः परेषां समाख्याता स्यात्संव्यवहारे चैनं परिहरेत्' (१।२१।२०) इत्यापस्तम्बस्मरणात् । नास्तिक्याभिनिवेशेन वेदकुत्सनम् । सुहृन्मित्रं तस्याब्राह्मणस्यापि वधः । अधीतस्य वेदस्यासच्छास्त्रविनोदेनालस्यादिना वा नाशनं विस्मरणम् । एतानि प्रत्येकं ब्रह्महत्यासमानि । यत्पुनः 'स्वाध्यायाग्निसुतत्यागः' (प्रा० २३९) इत्युप[illegible] पातकमध्ये परिगणनं, तत्कथंचित्कुटुम्बभरणाकुलतयाऽसच्छास्त्रश्र[illegible] विस्मरणे द्रष्टव्यम् ॥ २२८ ॥

भाषा—गुरु पर मिथ्या दोषारोपण, वेद की निन्दा, मित्र की हत्या और पठित वेद एवं शास्त्र का आलस्यवश विस्मरण—इन सबको ब्रह्महत्या के समान ही समझना चाहिए ॥ २२८ ॥

सुरापानसमान्याह—

> निषिद्धभक्षणं जैह्म्यमुत्कर्षे[4] च वचोऽनृतम् ।
> रजस्वलामुखास्वादः सुरापानसमानि तु ॥ २२९ ॥

---

१. मन्युनात्मानम् । २. कर्ता धनदाना । ३. ततः । ४. मुत्कर्षं च ।

निषिद्धं लशुनादिकं, तस्य मतिपूर्वं भक्षणम्। अत एव मनुः (५।१९)— छत्राकं विड्वराहं च लशुनं ग्रामकुक्कुटम्। पलाण्डुं गृञ्जनं चैव मत्या जग्ध्वा पतेन्नरः॥' इति। अमतिपूर्वे तु प्रायश्चित्तान्तरम् (५।२०)—'अमत्यैतानि षड् जग्ध्वा कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत्। यतिचान्द्रायणं वापि शेषेषूपवसेदहः॥' इति तेनैवोक्तत्वात्। जैह्म्यं कौटिल्यं, अन्याभिसंधानेनान्यवादित्वमन्यकर्तृत्वं च। अत्र च जैह्म्यमिति यद्यपि सामान्येनोक्तं, तथापि प्रायश्चित्तस्य गुरुत्वान्निमित्तस्यापि गुरुविषयं जैह्म्यमिति गौरवं गम्यते। अस्ति च नैमित्तिकपर्यालोचनया निमित्तस्य विशेषावगतिः। यथा 'यस्योभावग्नी अनुगतौ स्यातां दुष्टौ भवेतामभिनिम्लोचेद्वा पुनराधेयं तत्र प्रायश्चित्तिः' इत्यत्रोभावित्यस्य निमित्तविशेषणत्वेन हविरुभयत्वादविवक्षितत्वेऽप्यग्निद्वयनिष्पादकपुनराधेयरूपनैमित्तिकविधिबलादग्निद्वयानुगतिरेव निमित्तमिति कल्प्यते; तथात्रापीति युक्तं निमित्तगौरवकल्पनम्। तथा समुत्कर्षनिमित्तं राजकुलादावचतुर्वेद एव चतुर्वेदोऽहमित्यनृतभाषणम्। रजस्वलाया (कामवशेन) वक्त्रासवसेवनम्, एतानि सुरापानसमानि॥

भाषा—निषिद्ध (लहसुन आदि) पदार्थ का जानबूझ कर भक्षण, कुटिलता, उत्कर्ष प्राप्ति के लिए असत्य भाषण और रजस्वला स्त्री के मुख का चुम्बन—ये सुरापान के समान ही होते हैं॥ २२९॥

सुवर्णस्तेयसमान्याह—

अश्वरत्नमनुष्यस्त्रीभूधेनुहरणं तथा।
निक्षेपस्य च सर्वं हि सुवर्णस्तेयसंमितम्॥ २३०॥

अश्वादीनां ब्राह्मणसंबन्धिनां, निक्षेपस्य च सुवर्णव्यतिरिक्तस्यापहरणमेतत्सर्वं सुवर्णस्तेयसमं वेदितव्यम्॥ २३०॥

भाषा—(ब्राह्मण के) घोड़ा, रत्न, मनुष्य, स्त्री, भूमि और गाय तथा निक्षेप का अपहरण—'ये सभी सोने की चोरी के समान ही होते हैं॥ २३०॥

गुरुतल्पसमान्याह—

सखिभार्याकुमारीषु स्वयोनिष्वन्त्यजासु च।
सगोत्रासु सुतस्त्रीषु गुरुतल्पसमं स्मृतम्॥ २३१॥

सखा मित्रं, तस्य भार्या; कुमार्युत्तमजातीया कन्यका, तासु 'सकामास्वनुलोमासु न दोषस्त्वन्यथा दमः। दूषणे तु करच्छेद उत्तमायां वधस्तथा॥' (व्य० २८८) इति तत्रैव दण्डविशेषप्रतिपादनात्प्रायश्चित्तगुरुत्वं युक्तम्।

---

१. द्विज। २. विषयं यज्जैह्म्यमिति। ३. विशेषत्वेन।

स्वयोनिर्भगिनी, अन्त्यजा चाण्डाली, सगोत्रा समानगोत्रा, सुतस्त्री स्नुषा, एतासां गमनं प्रत्येकं गुरुतल्पसमम् । एतच्च रेतःसेकादूर्ध्वं वेदितव्यम्; अर्वाङ्निवृत्तौ तु न गुरुतल्पसमत्वं, किंत्वल्पमेव प्रायश्चित्तम् । 'रेतःसेकः स्वयोनीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च । सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु गुरुतल्पसमं विदुः ॥' (११।५८) इति मानवे 'रेतःसेक' इति विशेषणोपादानात् । 'सगोत्रा'ग्रहणेनैव सिद्धे पुनः 'सुतस्त्री'ग्रहणं प्रायश्चित्तगौरवप्रतिपादनार्थम् । अत्र च ब्रह्महत्यादिसमत्ववचनं गुर्वधिक्षेपादेस्तत्तन्निमित्तप्रायश्चित्तोपदेशार्थम् । ननु वेदनिन्दादौ दोषस्य लघुत्वाद् गुरुतरं ब्रह्महत्यादिप्रायश्चित्तं न युज्यते । नैवम्; गुरुप्रायश्चित्तोपदेशबलादेव दोषगुरुत्वावगतेः । न च ब्रह्महत्यादिप्रायश्चित्तातिदेशार्थमेवेदं वचनं भवति, किंतु दोषगौरवमात्रप्रतिपादनपरमित्याशङ्कनीयम् । यतस्तावन्मात्रप्रतिपादनपरत्वे ब्रह्महत्यासममिदं गुरुतल्पसममित्यादिभेदेन समत्वाभिधानं नोपपद्यते । तच्च प्रायश्चित्तं 'सम'शब्देनोपदिश्यमानं ब्रह्महत्यादिप्रायश्चित्तेभ्यः किंचिन्न्यूनमेवोपदिश्यते । 'लोके राजसमो मन्त्री' इत्यादिवाक्येषु 'सम'शब्दस्य किंचिद्धीने प्रयोगदर्शनात्, महतः पातकस्येतरस्य च तुल्यत्वस्यायुक्तत्वाच्च । एवं च सति याज्ञवल्क्येन ब्रह्महत्यासमत्वेनोक्तानामपि ब्रह्मोज्झत्ववेदनिन्दासुहृद्वधानां मनुना यत्सुरापानसाम्यम् (११।५६)—'ब्रह्मोज्झता वेदनिन्दा कौटसाक्ष्यं सुहृद्वधः । गर्हितान्नाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट् ॥' इत्युक्तं, तत्प्रायश्चित्तविकल्पार्थम् । एवमन्येष्वपि वचनेषु विरोधः परिहर्तव्यः । यत्तु वसिष्ठेन—'गुरोरलीकनिर्बन्धे कृच्छ्रं द्वादशरात्रकं चरित्वा सचैलः स्नातो गुरुप्रसादात् पूतो भवति' इति लघुप्रायश्चित्तमुक्तं, तदमतिपूर्वं सकृदनुष्ठाने च वेदितव्यम् ॥ २३१ ॥

भाषा—मित्र की पत्नी, (उत्तम जाति की) अविवाहित कन्या, भगिनी, चाण्डाली, समानगोत्रवाली स्त्री और पुत्रवधू (पतोहू)—इनके साथ संभोग गुरुपत्नीभोग के समान कहा गया है ॥ २३१ ॥

गुरुतल्पातिदेशमाह—

> पितुः स्वसारं मातुश्च मातुलानीं स्नुषामपि ।
> मातुः सपत्नीं भगिनीमाचार्यतनयां तथा ॥ २३२ ॥
> आचार्यपत्नीं स्वसुतां गच्छंस्तु गुरुतल्पगः ।
> लिङ्गं छित्त्वा वधस्तस्य सकामायाः स्त्रिया अपि ॥ २३३ ॥

---

१. गुरुत्वमवगम्यते । २. गर्हितान्नाद्ययोः । ३. गच्छंश्च । ४. वधस्तत्र । ५. स्तथा ।

पितृष्वस्रादयः प्रसिद्धाः, ता गच्छन् गुरुतल्पगः, तस्य लिङ्गं छित्त्वा राज्ञा वधः कर्तव्यो दण्डार्थं[1], प्रायश्चित्तं च तदेव। 'च' शब्दाद्राज्ञीप्रव्रजितादीनां ग्रहणम्। यथाह नारदः (१२।७३-७५)—'माता मातृष्वसा श्वश्रूर्मातुलानी पितृष्वसा। पितृव्यसखिशिष्यस्त्री भगिनी तत्सखी स्नुषा॥ दुहिताचार्यभार्या च सगोत्रा शरणागता। राज्ञी प्रव्रजिता धात्री साध्वी वर्णोत्तमा च या॥ आसामन्यतमां गच्छन्गुरुतल्पग उच्यते। शिश्नस्योत्कर्तनात्तत्र नान्यो दण्डो विधीयते॥' इति। राज्ञी राज्यस्य कर्तुर्भार्या, न क्षत्रियस्यैव; तद्गमने प्रायश्चित्तान्तरोपदेशात्। धात्री मातृव्यतिरिक्ता स्तन्यदानादिना पोषयित्री, साध्वी व्रतचारिणी, वर्णोत्तमा ब्राह्मणी। अत्र 'मातृ'ग्रहणं दृष्टान्तार्थम्। अयं च लिङ्गच्छेदवधात्मको दण्डो ब्राह्मणव्यतिरिक्तस्य; 'न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्ववस्थितम्' इति तस्य वधनिषेधात् वधस्यैव प्रायश्चित्तरूपत्वात्। अस्य च विषयं गुरुतल्पप्रायश्चित्तप्रकरणे प्रपञ्चयिष्यामः। अत्र स्नुषाभगिन्योः पूर्वश्लोकेन गुरुतल्पसमीकृतयोः पुनर्ग्रहणं प्रायश्चित्तविकल्पार्थम्। यदा पुनरेताः स्त्रियः सकामाः सत्य एतानेव पुरुषान्वशीकृत्योपभुञ्जन्ते तदा तासामपि पुरुषवद्वध एव दण्डः प्रायश्चित्तं च। एतानि गुर्वधिक्षेपादितनयागमपर्यन्तानि महापातकातिदेशविषयाणि सद्यःपतनहेतुत्वात्पातकान्युच्यन्ते। यथाह यमः—'मातृष्वसा मातृसखी दुहिता च पितृष्वसा। मातुलानी स्वसा श्वश्रूर्गत्वा सद्यः पतेन्नरः॥' इति गौतमेन पुनरन्येषामपि पातकत्वमुक्तम् (२१।१२)—'मातृपितृयोनिसंबद्धाङ्गस्तेननास्तिकनिन्दितकर्माभ्यासिपतितात्याग्यपतितत्यागिनः पतिताः पातकसंयोजकाश्च' इति। तेषां च महापातकोपपातकमध्यपाठान्महापातकान्न्यूनत्वमुपपातकाच्च गुरुत्वमवगम्यते। तदुक्तम्—'महापातकतुल्यानि पापान्युक्तानि यानि तु। तानि पातकसंज्ञानि तन्न्यूनमुपपातकम्॥' इति। तथा चाङ्गिराः—'पातकेषु सहस्रं स्यान्महत्सु द्विगुणं तथा उपपापे तुरीयं स्यान्नरकं वर्षसंख्यया[2]॥' इति॥ २३२-२३३॥

भाषा—पिता की बहन (बुआ), माता, मामी, स्नुषा (पतोहू), सौतेली माता, बहन, आचार्य की पुत्री, आचार्य की पत्नी, या अपनी पुत्री से संभोग करने वाला गुरुपत्नीभोगी के समान होता है; उसका लिङ्ग काटकर वध कर देना चाहिए; और यदि ये स्त्रियाँ स्वेच्छा से संभोग कराती हैं तो उनके लिए भी वध का दण्ड प्रायश्चित्त होता है॥ २३२-२३३॥

एवं महापातकानि तत्समानि च पातकानि परिगणय्योपपातकानि परिगणयितुमाह—

गोवधो व्रात्यता स्तेयमृणानां चानपाक्रिया[3]।

---

१. दण्डार्थः। २. वर्षसंख्यात्। ३. चानपक्रिया।

अनाहिताग्निताऽपण्यविक्रयः परिवेदनम् ॥ २३४ ॥
भृतादध्ययनादानं भृतकाध्यापनं तथा ।
पारदार्यं पारिवित्त्यं वार्धुष्यं लवणक्रिया ॥ २३५ ॥
स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधो निन्दितार्थोपजीवनम् ।
नास्तिक्यं व्रतलोपश्च सुतानां चैव विक्रयः ॥ २३६ ॥
धान्यकुप्यपशुस्तेयमयाज्यानां च याजनम् ।
पितृमातृसुतत्यागस्तडागारामविक्रयः ॥ २३७ ॥
कन्यासंदूषणं चैव परिविन्दकयाजनम् ।
कन्याप्रदानं तस्यैव कौटिल्यं व्रतलोपनम् ॥ २३८ ॥
आत्मनोऽर्थे क्रियारम्भो मद्यपस्त्रीनिषेवणम् ।
स्वाध्यायाग्निसुतत्यागो बान्धवत्याग एव च ॥ २३९ ॥
इन्धनार्थं द्रुमच्छेदः स्त्रीहिंसौषधजीवनम् ।
हिंस्रयन्त्रविधानं च व्यसनान्यात्मविक्रयः ॥ २४० ॥
शूद्रप्रेष्यं हीनसख्यं हीनयोनिनिषेवणम् ।
तथैवानाश्रमे वासः परान्नपरिपुष्टता ॥ २४१ ॥
असच्छास्त्राधिगमनमाकरेष्वधिकारिता ।
भार्याया विक्रयश्चैषामेकैकमुपपातकम् ॥ २४२ ॥

गोवधो गोपिण्डव्यापादनम्, कालेऽनुपनीतत्वं व्रात्यता, ब्राह्मणसुवर्णतत्सम-व्यतिरिक्तपरद्रव्यापहरणं स्तेयम्, गृहीतस्य सुवर्णादेरप्रदानमृणानामनपाकरणम्, तथा देवर्षिपितृणां संबन्ध्यृणस्यानपाकरणं च। सत्यधिकारेऽनाहिताग्नित्वम् ॥ ननु ज्योतिष्टोमादिकामश्रुतयः स्वाङ्गभूताग्निनिष्पत्त्यर्थमाधानं प्रयुञ्जत इति मीमांसकप्रसिद्धिः, अतश्च यस्याग्निभिः प्रयोजनं तस्य तदुपायभूताधाने प्रवृत्तिर्व्रीह्याद्यर्थिन इव धनार्जने । यस्य पुनरग्निभिः प्रयोजनं नास्ति तस्याप्रवृत्तिरिति कथमनाहिताग्निता दोषः ? उच्यते,—अस्मादेवाधानस्यावश्यकत्ववचनान्नित्यश्रुतयोऽपि साधिकारित्वाविशेषादाधानस्य प्रयोजिका इति स्मृतिकाराणामभिप्रायो लक्ष्यत इत्यदोषः । तथा अपण्यस्य लवणादेर्विक्रयः, सहोदरस्य ज्येष्ठस्य तिष्ठतः कनीयसो भ्रातुर्दाराग्निसंयोगः परिवेदनम्, पणपूर्वाध्यापकादध्ययनग्रहणम्, पणपूर्वाध्यापनम्, परदारसेवनं गुरुदारतत्समव्यतिरेकेण, पारिवित्त्यं कनीयसि कृतविवाहे ज्येष्ठस्य विवाहराहित्यम्, वार्धुष्यं प्रतिषिद्धवृद्ध्युपजीवनम्, लवणक्रिया लवणस्योत्पादानम्, स्त्रिया वधः आत्रेयी सगर्भा ऋतु-

---

१. परिवेदक । २. संबन्ध्यर्णस्या । ३. साधिकारत्वाविशेषां । ४. वृत्त्युपजीवित्वम् ।

मती, अत्रिगोत्रपरिणीता वा ब्राह्मण्या अप्यात्रेयीव्यतिरेकेण, शूद्रवधः, अदीक्षितविट्क्षत्रियवधः । निन्दितार्थोपजीवनमराजस्थापितार्थोपजीवनम्, नास्तिक्यं 'नास्ति परलोकः' इत्याद्यभिनिवेशः, व्रतलोपो ब्रह्मचारिणः स्त्रीप्रसङ्गः, सुतानामपत्यानां विक्रयः, धान्यं व्रीह्यादि, कुप्यमसारद्रव्यं त्रपुसीसादि, पशवो गवादयः, तेषामपहरणम्; 'गोवधो व्रात्यता स्तेयम्' (प्रा. २३४) इत्यनेन स्तेयग्रहणेनैव सिद्धे पुनर्धान्यकुप्यादिस्तेयग्रहणं नित्यार्थम्। अतो धान्यादिव्यतिरिक्तद्रव्यस्तेये नावश्यमेतदेव प्रायश्चित्तम्, अपि तु ततो न्यूनमपि भवत्येव । एतेन 'बान्धवत्याग'ग्रहणेनैव सिद्धे पुनः 'पित्रादित्याग'ग्रहणं व्याख्यातम् । अयाज्यानां जातिकर्मदुष्टानां शूद्रव्रात्यादीनां याजनम् । पितृमातृसुतानामपतितानां त्यागो गृहान्निष्कासनम् । तडागस्यारामस्य चोद्यानोपवनादेर्विक्रयः । कन्यायाः संदूषणमङ्गुल्यादिना योनिविदारणम्, नतु भोगः । तस्य 'सखिभार्याकुमारीषु' (प्रा० २३९) इति गुरुतल्पगसमत्वस्योक्तत्वात् । परिविन्दकयाजनं, तस्य च कन्याप्रदानम् । कौटिल्यं गुरोरन्यत्र, गुरुविषयस्य तु कौटिल्यस्य सुरापानसमत्वमुक्तम् । पुन'र्व्रतलोप' ग्रहणं शिष्टाप्रतिषिद्धेष्वपि श्रीहरिचरणकमलप्रेक्षणात् प्राक् ताम्बूलादिकं न भक्षयामीत्येवंरूपेषु प्राप्त्यर्थं, नतु स्नातकव्रतप्राप्त्यर्थम्। 'स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम्' (११।२०३) इति मनुना लघुप्रायश्चित्तस्य प्रतिपादितत्वात् ॥ तथाऽऽत्मार्थं च पाकलक्षणक्रियारम्भः; 'अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्' (मनुः ३।११८) इति तस्यैव प्रतिषिद्धत्वात् । क्रियामात्रविषयत्वे तु प्रतिषेधकल्पनया गौरवं स्यात् । मद्यपायाः स्त्रियाः जायाया अपि निषेवणमुपभोगः, स्वाध्यायत्यागो व्याख्यातः, अग्नीनां च श्रौतस्मार्तानां त्यागः, सुतत्यागः संस्काराद्यकरणम्, बान्धवानां पितृव्यमातुलादीनां त्यागः सति विभवे अपरिरक्षणम् । पाकादिदृष्टप्रयोजनसिद्ध्यर्थमार्द्रद्रुमच्छेदो न त्वाहवनीयपरिरक्षणार्थमपि । स्त्रिया हिंसया औषधेन च वर्तनं जीवनं स्त्रीहिंसौषधजीवनम् । तत्र स्त्रीजीवनं नाम भार्यां पण्यभावेन प्रयोज्य तल्लब्धोपजीवनम्, स्त्रीधनेनोपजीवनं वा । हिंसया जीवनं प्राणिवधेन जीवनम् । औषधजीवनं वशीकरणादिना । हिंस्रयन्त्रस्य तिलेक्षुपीडाकारस्य प्रवर्तनम् । व्यसनानि मृगयादीन्यष्टादश । आत्मविक्रयो द्रव्यग्रहणेन परदास्यकरणम् । शूद्रसेवनं हीनेषु मैत्रीकरणम् । अनूढसवर्णदारस्य केवलहीनवर्णदारोपयमनं साधारणस्त्रीसंभोगश्च । अनाश्रमवासः अगृहीताश्रमित्वं सत्यधिकारे । परान्नपरिपुष्टता परपाकरतित्वम् । असच्छास्त्रस्य चार्वाकादिग्रन्थस्याधिगमः । सर्वाकरेषु सुवर्णाद्युत्पत्तिस्थानेषु राजाज्ञयाधिकारित्वम् ।

---

१. प्रतिषेधे । २. करणेन ।

भार्याया विक्रयः, 'च'शब्दान्मन्त्राद्युक्ताभिचारामतिपूर्वलशुनादिभक्षणादेर्ग्रहणम् । एषां गोवधादीनां प्रत्येकमुपपातकसंज्ञा वेदितव्या । मनुना पुनरन्यान्यपि निमित्तानि जातिभ्रंशकरसंकरीकरणापात्रीकरणमलिनीकरणसंज्ञानि परिगणितानि । (मनुः ११ । ६७–७०)—'ब्राह्मणस्य रुजःकृत्या घ्रातिरघ्रेयमद्ययोः । जैह्म्यं पुंसि[1] च मैथुन्यं जातिभ्रंशकरं स्मृतम् ॥ खराश्वोष्ट्रमृगेभानामजाविकवधस्तथा । संकरीकरणं ज्ञेयं मीनाहिमहिषस्य च ॥ निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं शूद्रसेवनम् । अपात्रीकरणं ज्ञेयमसत्यस्य च भाषणम् । कृमिकीटवयोहत्या मद्यानुगतभोजनम् । फलैधःकुसुमस्तेयमधैर्यं च मलावहम् ॥' इति ॥ अतोऽन्यन्निमित्तजातं प्रकीर्णकं कथ्यते ॥ वृहद्विष्णुना च समस्तानि प्रायश्चित्तनिमित्तान्युत्तरोत्तरलघीयांसि पृथक्संज्ञाभेदभिन्नानि दर्शितानि— 'ब्रह्महत्या सुरापानं ब्राह्मणसुवर्णापहरणं गुरुदारगमनमिति महापातकानि तत्संयोगश्च । मातृगमनं दुहितृगमनं स्नुषागमनमित्यतिपातकानि । यागस्थक्षत्रियवधो वैश्यस्य च रजस्वलायाश्चान्तर्वत्न्याश्चात्रिगोत्रायाश्चाविज्ञातस्य गर्भस्य शरणागतस्य च घातनं ब्रह्महत्यासमानि । कौटसाक्ष्यं सुहृद्वध इत्येतौ सुरापानसमौ । ब्राह्मणभूमिहरणं सुवर्णस्तेयसमम् । पितृव्यमातामहमातुलनृपपत्न्यभिगमनं गुरुदारगमनसमम् । पितृष्वसृमातृष्वसृगमनं श्रोत्रियर्त्विगुपाध्यायमित्रपत्न्यभिगमनं च । स्वसुः सख्याः सगोत्राया[2] उत्तमवर्णाया रजस्वलायाः शरणागतायाः प्रव्रजितायाः निक्षिप्तायाश्च गमनमित्येतान्यनुपातकानि । अनृतवचनं समुत्कर्षे राजगामि च पैशुनम्[3] । गुरोश्चालीकनिर्बन्धो वेदनिन्दा अधीतस्य त्यागोऽग्निपितृमातृसुतदाराणां च अभोज्यान्नभक्षणं परस्वापहरणं परदारानुगमनमयाज्यानां च याजनं व्रात्यता भृतादध्यापनं भृतकाध्ययनादानं सर्वाकरेष्वधिकारो महायन्त्रप्रवर्तनं द्रुमगुल्म[4]वल्लीलतौषधीनां हिंसया जीवमभिचारमूलकर्मसु च प्रवृत्तिरात्मार्थक्रियारम्भः अनाहिताग्निता देवर्षिपितृणामृणस्या[5]नपाक्रिया असच्छास्त्राधिगमनं नास्तिकता कुशीलता मद्यपस्त्रीनिषेवणमित्युपपातकानि । ब्राह्मणस्य रुजःकरणमघ्रेयमद्ययोर्घ्रातिर्जैह्म्यं पशुषु पुंसि च मैथुनाचरणमित्येतानि जातिभ्रंशकराणि । ग्राम्यारण्यपशूनां हिंसनं संकरीकरणम् । निन्दितेभ्यो धनादानं, वाणिज्यं, कुसीदजीवनं, असत्यभाषणं, शूद्रसेवनमित्यपात्रीकरणानि । पक्षिणां जलचराणां जलजानां च घातनं कृमिकीटघातनं मद्यानुगतभोजनमिति मलावहानि । यदनुक्तं तत्प्रकीर्णकम्' इति ॥ कात्यायनेन तु महापातकसमानां विष्णुनाप्युपपातकत्वेनो[6]क्तानां पातकसंज्ञा दर्शिता—'महापापं चातिपापं तथा

१. च मैथुनं पुंसि । २. श्चासगोत्रायाः । ३. पैशुन्यम् । ४. गुल्मलतौषधीनां । ५. स्यानपक्रिया । ६. नुपातकत्वेन ।

पातकमेव च । प्रासङ्गिकं चोपपापमित्येवं पञ्चको गणः ॥' इति ॥ ननूपपातकादीनां कथं पातकत्वं ? पतनहेतुत्वाभावात् । यदि तेषामपि पतनहेतुत्वं तर्हि 'मातृपितृयोनिसंबद्धाङ्गः' इत्यादिपरिगणनमनर्थकम् । अथैवमुच्येत—यद्यपि महापातकतत्समेष्विव सद्यःपातित्यहेतुत्वं नास्ति, तथाप्यभ्यासापेक्षया पातित्यहेतुत्वमविरुद्धम् ; 'निन्दितकर्माभ्यासी' (२१।१) इति गौतमवचनादिति । नैवम् ; अभ्यासस्यानिरूप्यमाणत्वात् द्विः शतकृत्वो वेति तत्राविशेषेऽङ्गीक्रियमाणे योऽपि द्विर्दिवा स्वपिति, यः शतकृत्वो वा गोवधं करोति, तयोरविशेषेण पातित्यं स्यात् । अत्रोच्यते, यत्रार्थवादे प्रत्यवायविशेषः श्रूयते, प्रायश्चित्तबहुत्वं वा तस्मिन्निन्दितकर्मणि यावत्यभ्यस्यमाने महापातकतुल्यत्वं भवति—तावानभ्यासः पातित्यहेतुः । दिवास्वप्नादौ तु सहस्रकृत्वोऽप्यभ्यस्यमाने न महापातकतुल्यत्वं भवतीति न तत्र पातित्यम् , अतो युक्तमुपपातकादेरभ्यासापेक्षया पतनहेतुत्वम् ॥ २३४-२४२ ॥

भाषा—गौ का वध, व्रात्यता (पतितसावित्री), स्तेय (चोरी), ऋण न लौटाना, (अधिकारी होने पर भी) अग्निहोत्र न करना, न बेचने योग्य वस्तु (नमक आदि) बेचना, सहोदर जेठे भाई के अविवाहित रहते स्वयं विवाह करना, वेतन लेने वाले अध्यापक से पढ़ना तथा वेतन लेकर पढ़ाना, परस्त्री का भोग, सहोदर छोटे भाई के विवाहित होने पर स्वयं अविवाहित रहना, नमक बनाना, वार्धुष्य (निषिद्ध ब्याज लेना), स्त्री (ब्राह्मणी और रजस्वला के अतिरिक्त) का वध, शूद्र का वध, (अदीक्षित) वैश्य और क्षत्रिय का वध, निषिद्ध धन का उपार्जन, नास्तिकता, व्रतलोप (ब्रह्मचारी होकर स्त्रीप्रसङ्ग आदि), पुत्रों को बेचना, (व्रीहि आदि) धान्य, (कांसा, सीसा आदि) कुप्य और पशुओं की चोरी, (जाति और कर्म से दूषित शूद्र और व्रात्य जैसे) अयाज्य व्यक्तियों के यहाँ यज्ञ कराना, निर्दोष पिता, माता, पुत्र का त्याग करना, तालाब और उद्यान, उपवन आदि बेचना, किसी कन्या का संदूषण (अङ्गुली से उसकी योनि का विदारण), परिविन्दक (जिसने सहोदर जेठे भाई के अविवाहित रहते अपना विवाह किया हो) का यज्ञ कराना, (गुरु के अतिरिक्त अन्य के साथ) कुटिलता, व्रत (स्नातक व्रत) का लोप, केवल अपने ही लिए भोजन आदि बनाना, सुरा पीने वाली स्त्री का उपभोग, स्वाध्याय का त्याग, (श्रौत, स्मार्त) अग्नियों का त्याग पुत्र का त्याग (संस्कार न करना), चाचा, मामा आदि बान्धवों का त्याग, (धन होते हुए भी उनका पालन न करना), भोजनार्थ ईंधन के लिए (अग्निहोत्र के लिए नहीं) हरे वृक्ष को काटना, स्त्री की हिंसा और औषध से जीविका

चलाना, घातक हथियार बनाना, व्यसन (मृगया आदि), स्वयं को बेचना, शूद्र की सेवा, नीच व्यक्ति से मित्रता, (विवाहिता सवर्णा स्त्री के रहते) हीन कोटि की स्त्री का उपभोग, किसी आश्रम में न रहना, दूसरे के अन्न से जीवन चलाना, निन्दित शास्त्रों (चार्वाकों आदि के ग्रन्थों) का अध्ययन, सोने आदि की खान पर अधिकार, और पत्नी का विक्रय—इन सब में प्रत्येक को उपपातक समझना चाहिए ॥ २३४–२४२ ॥

एवं व्यवहारार्थं संज्ञाभेदसहितं प्रायश्चित्तनिमित्तपरिगणनं कृत्वा नैमित्तिकानि प्रदर्शयितुमाह—

शिरःकपाली ध्वजवान्भिक्षाशी कर्म वेदयन् ।
ब्रह्महा द्वादशाब्दानि मितभुक्शुद्धिमाप्नुयात् ॥ २४३ ॥

शिरसः कपालमस्यास्तीति शिरःकपाली, तथा ध्वजवान् 'कृत्वा शवशिरोध्वजम्' (११।७२)—इति मनुस्मरणात् । अन्यच्छिरःकपालं दण्डाग्रसमारोपितं ध्वजशब्दवाच्यं गृह्णीयात् । तच्च कपालं स्वव्यापादितब्राह्मणशिरःसंबन्धि ग्राह्यम् । 'ब्राह्मणो ब्राह्मणं घातयित्वा तस्यैव शिरःकपालमादाय तीर्थान्यनुसंचरेत्' इति शातातपस्मरणात् । तदलाभेऽन्यस्यैव ब्राह्मणस्यैव ग्राह्यम् । एतदुभयं पाणिनैव ग्राह्यम् । 'खट्वाङ्गकपालपाणिः' (२२।४) इति गौतमस्मरणात् । 'खट्वाङ्ग'शब्देन दण्डारोपितशिरःकपालात्मको ध्वजो गृह्यते; न पुनः खट्वैकदेशः, 'महोक्षः खट्वाङ्गं परशुः' इत्यादिव्यवहारेषु तस्यैव प्रसिद्धेः । एतच्च कपालधारणं चिह्नार्थं, न पुनर्भोजनार्थं भिक्षार्थं वा; 'मृन्मयकपालपाणिर्भिक्षार्थं ग्रामं प्रविशेत्' (२२।४) इति गौतमस्मरणात् । तथा वनवासिना च तेन भवितव्यम् । 'ब्रह्महा[1] द्वादशाब्दानि कुटीं कृत्वा वने वसेत्' (११।७२) इति मनुस्मरणात् । ग्रामसमीपादौ वा । (मनुः ११।७८)—'कृतवापनो वा निवसेद् ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा । आश्रमे वृक्षमूले वा गोब्राह्मणहिते[2] रतः ॥' इति तेनैवोक्तत्वात् । 'कृतवापनो वा' इति विकल्पाभिधानाज्जटी वेति लक्ष्यते । अत एव संवर्तः—'ब्रह्महा द्वादशाब्दानि बालवासा[3] जटी ध्वजी' इति तथा भिक्षाशनशीलश्च भवेत् । भिक्षा च लोहितकेन मृन्मयखण्डशरावेण ग्राह्या; 'लोहितकेन खण्डशरावेण ग्रामं भिक्षार्थं प्रविशेत्' (१२४।१४) इति आपस्तम्बस्मरणात् । सप्तागाराण्येवा[4]न्नमिष्टं लभ्येत वानवेक्ष्येवमसंकल्पितानि भिक्षार्थं प्रविशेत्; 'सप्तागाराण्यसंकल्पितानि चरेद्भैक्षम्' (१०।७) इति वसिष्ठस्मरणात् । तथै[5]ककाल एव सा ग्राह्या; 'एककालाहारः' इति तेनैवोक्त-

---

१. ब्रह्महा द्वादशसमा । २. सर्वभूतहिते । ३. चीरवासा जटी । ४. ण्येवात्र मृष्टं लभ्यते नात्रेक्ष्येवमसंकल्पितानि । ५. तथा सायंकाल एव ।

त्वात्। एतच्च भैक्षं ब्राह्मणादिवर्णेष्वेव कार्यम्; 'चातुर्वर्ण्ये चरेद्भैक्षं खट्वाङ्गी संयतात्मवान्' इति संवर्तस्मरणात्। तथा 'ब्रह्महाऽस्मि' इति स्वकर्म ख्यापयन् द्वारि स्थितो भिक्षां याचेत्; 'वेश्मनो द्वारि तिष्ठामि भिक्षार्थी ब्रह्मघातकः' इति पराशरस्मरणात्। अयं च भैक्षाशित्वनियमो वन्यैर्जीवनाशक्तौ द्रष्टव्यः; 'भिक्षायै प्रविशेद् ग्रामं वन्यैर्यदि न जीवति' इति संवर्तस्मरणात्। तथा ब्रह्मचर्यादियुक्तेन च तेन भवितव्यम्। खट्वाङ्गकपालपाणिर्द्वादशवत्सरान्ब्रह्मचारी भिक्षायै ग्रामं प्रविशेत्कर्माचक्षाणः। यथोपक्रामेत्स संदर्शनादार्यस्य ('उत्थितस्तु दिवा तिष्ठेदुपविष्टस्तथा निशि। एतद्वीरासनं नाम सर्वपापप्रणाशनम्॥')—'स्थानासनाभ्यां विहरेत्सवनेषूदकोपस्पर्शी शुद्ध्येत्' (२१।६) इति गौतमस्मरणात्। 'ब्रह्मचारिग्रहणं 'वर्जयेन्मधुमांसगन्धमाल्यदिवास्वप्नाञ्जनाभ्यञ्जनोपानच्छत्रकामक्रोधलोभमोहहर्षनृत्यगीतपरिवादनभयानि' इति ब्रह्मचारिप्रकरणोक्ताविरुद्धधर्मप्राप्त्यर्थम्। अत एव शङ्खः—'स्थानवीरासनी मौनी मौञ्जी दण्डकमण्डलुः। भिक्षाचर्याग्निकार्यं च कूष्माण्डीभिः सदा जपः॥' इति, तस्य भवेदिति शेषः। अत्र सवनेषूदकस्पर्शीति स्नानविधानात्तदङ्गभूतमन्त्रादिप्राप्तिरप्यवगम्यते। तथा 'शुचिना कर्म कर्तव्य'मित्यस्य सर्वकर्मसाधारणत्वाद् व्रतचर्याङ्गभूतशौचसंपत्त्यर्थं स्नानवत्संध्योपासनमपि कार्यम्। तस्यापि शौचापादनद्वारेण सर्वकर्मशेषत्वात्। तथा च दक्षः—'संध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु। यत्किंचित्कुरुते कर्म न तस्य फलभाग्भवेत्॥' इति। न च 'द्विजातिकर्मभ्यो हानिः पतनम्' इति वचनात् संध्योपासनायाश्च द्विजातिकर्मत्वादप्राप्तिरिति शङ्कनीयम्। यस्मात्पतितस्यैव व्रतचर्योपदेशात्तदङ्गतयैव संध्योपासनादिप्राप्तिः। अतो 'द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानं ब्राह्मणस्याधिकाः प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाः' इत्यादीनामेव द्विजातिकर्मणां व्रतचर्यानङ्गभूतानां हानिर्न सर्वेषाम्; तावन्मात्रबाधेन हानिवचनस्य चरितार्थत्वात्। इयं च मनुयाज्ञवल्क्यगौतमादिप्रतिपादिता द्वादशवार्षिकव्रतचर्यैकैव न पुनर्भिन्ना। परस्परसापेक्षत्वादविरोधाच्च। तथा हि—भिक्षाशी कर्म वेदयन्नित्युक्ते किं भिक्षापात्रं केषां वा गृहेषु कतिषु वेत्याकाङ्क्षा जायेतैव। तत्र 'लोहितकेन खण्डशरावेण' (१।२४।१४) इत्यापस्तम्बादिवचनैः परिपूरणमविरुद्धम्। अतः सर्वैरेककल्पोपदेशात्कैश्चिदुक्तं मनुगौतमाद्युक्तेतिकर्तव्यतायाः परस्परसापेक्षत्वेऽपि विकल्प इति तदनिरूप्यैवोक्तमिति मन्तव्यम्। एवं द्वादशवर्षाणि व्रतचर्यामाचर्य ब्रह्महा शुद्धिमाप्नुयात्। इयं चाकामकृतब्रह्मवधविषया (११।८९)—'इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याकामतो द्विजम्। कामतो ब्राह्मणवधे

---

१. संयतः पुमान्। २. भिक्षां चरेत्। ३. खट्वाङ्गपाणिः। ४. स्थानाशनाभ्याम्। ५. साधारणस्मरणत्वात्।

निष्कृतिर्न विधीयते ॥' इति मनुस्मरणात्। अत्रेदं चिन्तनीयम्—किं द्वित्रि[1]ब्राह्मणवधे प्रायश्चित्तस्य तन्त्रत्वमुतावृत्तिरिति। तत्र केचिन्मन्यते ब्रह्महा द्वादशाब्दानीत्यत्र ब्रह्मशब्दस्यैकस्मिन्द्वयोर्बहुषु साधारणत्वादेकस्मिन्ब्राह्मणवधे यत्प्रायश्चित्तं तदेव द्वितीये तृतीयेऽपि। तत्रैकब्राह्मणवधनिमित्तैकप्रायश्चित्तानुष्ठाने सतीदं कृतमिदं नेति न शक्यते वक्तुम्। देशकालकर्तॄणां प्रयोगानुबन्धभूतानामभेदेनागृह्यमाणविशेषत्वात्तन्त्रानुष्ठानेनैव पापक्षयलक्षणकार्यनिष्पत्तिर्युक्ता। यथा तन्त्रानुष्ठितैः प्रयाजादिभिराग्नेयादिषु तन्त्रेणैवानेकोपकारलक्षणकार्याणां निष्पत्तिः। नचैवं वाच्यम् 'द्वित्रि[2]ब्राह्मणवधे पापस्य गुरुत्वादेनसि गुरुणि गुरूणि लघुनि लघूनि' (१९।१९) इति, गौतमवचनादावृत्तमेव प्रायश्चित्तानुष्ठानं युक्तम्, विलक्षणकार्ययोस्तन्त्रेण निष्पत्त्यनुपपत्तेरिति। यतो नेदं वचनमावृत्तिविधायकं किंतूपदिष्टानां गुरुलघुकल्पानां व्यवस्थाप्रतिपादनपरम्। नच द्वितीयब्राह्मणवधे पापस्य गुरुत्वं, प्रमाणाभावात्। यच्च मनुदेवलाभ्यामुक्तम्—'विधेः प्राथमिकादस्माद् द्वितीये द्विगुणं भ[3]वेत्। तृतीये त्रिगुणं प्रोक्तं चतुर्थे नास्ति निष्कृतिः ॥' इति,-तदपि 'प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकं[4]शास्त्रमावर्तते' इति न्यायेन, द्वित्रब्राह्मणवधगोचरनैमित्तिकशास्त्रावृत्त्यनुपादेन चतुर्थे तदभावविधिपरम्, न पुनर्द्वितीयब्रह्मवधे प्रायश्चित्तानुष्ठानद्वैगुण्यविधिपरम[5]पि; वाक्यभेदप्रसंगात्। तस्माद् द्वित्रब्राह्मणवधेऽपि सकृदेव द्वादशवार्षिकाद्यनुष्ठानं युक्तम्, यथा अग्नये क्षामवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपे'दित्यादिगृहदाहादिनिमित्तेषु चोदितानां क्षामवत्यादीनां युगपदनेकेष्वपि गृहदाहादिनिमित्तेषु सकृदेवानुष्ठानम्। अत्रोच्यते—नहि वचनविरोधे न्यायः प्रभवति। वचनं च विधेः प्राथमिकादित्यादिकं द्वित्रब्राह्मणवधे प्रायश्चित्तानुष्ठानावृत्तिविधिपरम्। एवं सति न्यायलभ्यतन्त्रानुष्ठानबाधेनावृत्तिविधाविदं वचनं प्रवृत्तिविशेषकरं स्यात्। इतरथा शास्त्रतः प्राप्त्यनुवादकत्वेनानर्थकं स्यात्। नच वाक्यभेदः। चतुर्थादिब्रह्मवधपर्युदासेनेतरत्रावृत्त[6]प्रायश्चित्तविधानेनैकार्थत्वात्। किंच, 'चतुर्थे नास्ति निष्कृति'रिति लिङ्गदर्शनाद्धन्यमानब्राह्मणसंख्योत्कर्षे दोषगौरवं गम्यते। तथा देवलादिवचनाच्च 'यस्त्यादनभिसंधाय पापं कर्म सकृत्कृतम्। तस्येयं निष्कृतिर्दृष्टा धर्मविद्भिर्मनीषिभिः ॥' इति। नच विलक्षणयोर्गुरुलघुदोषयोः क्षयस्तन्त्रेण निष्पद्यते। अत एवंविधेषु दोषगुरुत्वेन कार्यवैलक्षण्यादपि प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकस्यावृत्तिर्युक्ता। क्षामवत्यादिषु पुनः कार्यस्यावैलक्षण्याद्युक्तस्तन्त्रभाव इत्यलं प्रपञ्चेन। यच्चेदं 'चतुर्थे नास्ति निष्कृति'रिति, तदपि महापातकविषयम्; पापस्यातिगुरुत्वेन प्रायश्चित्ताभावप्रतिपादनपरत्वात्। अतः शूद्रान्नसेवनादौ बहुशोऽभ्यस्ते तदनुगुणप्राय-

१. किं तत्र द्वित्रिब्राह्मणवधे। २. द्वित्रिब्राह्मण। ३. द्विगुणं चरेत्। ४. नैमित्तिकमावर्तते। ५. परममिति। परमेव। ६. वृत्तिप्रायश्चित्त।

श्चित्तावृत्तिः कल्पनीया, न पुनः प्रायश्चित्ताभावः। अत एवोक्तं मनुना (११। १४०)—'पूर्णे चानस्यनस्थ्नां तु शूद्रहत्याव्रतं चरेत्' इति। इदं च द्वादशवार्षिकं व्रतं साक्षाद्धन्तुरेव; ब्रह्महेति तस्यैवाभिधानात्। अनुग्राहकप्रयोजकादेस्तु तत्तद्दोषानुसारेण प्रायश्चित्ततारतम्यं कल्पनीयम्। तत्रानुग्राहको यत्प्रायश्चित्तभाजं पुरुषमनुगृह्णाति स तत्प्रायश्चित्तं पादोनं कुर्यात्। अतस्तस्य द्वादशवार्षिके पादोनं नववार्षिकं प्रयोजकस्त्वर्धोनं षड्वार्षिकं कुर्यात्। अनुमन्ता पुनः सार्धपादं सार्धचतुर्वार्षिकं निमित्ती त्वेकपादं त्रिवार्षिकम्। अत एव सुमन्तुः—'तिरस्कृतो यदा विप्रो हत्वाऽऽत्मानं मृतो यदि। निर्गुणः साहसात्क्रोधाद् गृहक्षेत्रादिकारणात्॥ त्रैवार्षिकं व्रतं कुर्यात्प्रतिलोमां सरस्वतीम्। गच्छेद्वाऽपि विशुद्ध्यर्थं तत्पापस्येति निश्चितम्॥ अत्यर्थं निर्गुणो विप्रो ह्यत्यर्थं निर्गुणोपरि। क्रोधाद्वै म्रियते यस्तु निर्निमित्तं तु भर्त्सितः। वत्सरत्रितयं कुर्यान्नरः कृच्छ्रं विशुद्धये॥' इति। यदा पुनर्निमित्त्यत्यन्तगुणवान् आत्मघाती चात्यन्तनिर्गुणस्तदैकवर्षमेव ब्रह्महत्याव्रतं कुर्यात्; केशश्मश्रुनखादीनां कृत्वा तु वपनं वने। ब्रह्मचर्यं चरन्विप्रो वर्षेणैकेन शुद्ध्यति॥' इति तेनैवोक्तत्वात्॥ अनयैव दिशाऽनुग्राहकप्रयोजकादीनां येऽनुग्राहकप्रयोजकादयस्तेषामपि प्रायश्चित्तं कल्प्यम्। अस्यां च कल्पनायां प्रयोजयिताऽनुमन्ता कर्ता चेति स्वर्गनरकफलेषु कर्मसु भागिनो[2] यो भूय आरभते तस्मिन्फलविशेषः' (२।२९।१) इत्यापस्तम्बीयं वचनं मूलम्। तथा प्रोत्साहकादीनामपि दण्डप्रायश्चित्ते कल्प्ये। यथाह पैठीनसिः–'हन्ता मन्त्रोपदेष्टा च तथा संप्रतिपादकः। प्रोत्साहकः सहायश्च तथा मार्गानुदेशकः॥ आश्रयः शस्त्रदाता च भक्तदाता विकर्मिणाम्। उपेक्षकः शक्तिमांश्चेद्दोषवक्ताऽनुमोदकः॥ अकार्यकारिणस्त्वेषां प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत्। यथाशक्त्यनुरूपं च दण्डं चैषां प्रकल्पयेत्॥' इति। तथा बालवृद्धादीनां साक्षात्कर्तृत्वेऽप्यर्धमेव 'अशीतिर्यस्य वर्षाणि बालो वाऽप्यूनषोडशः। प्रायश्चित्तार्धमर्हन्ति स्त्रियो रोगिण एव च॥' इत्यङ्गिरःस्मरणात्। तथा[3] सुमन्तुः—'अर्वाक्तु द्वादशाद्वर्षादशीतेरूर्ध्वमेव वा। अर्धमेव भवेत्पुंसां तुरीयं तत्र योषिताम्॥' इति॥ तथाऽनुपनीतस्यापि बालकस्य पादमात्रमेव प्रायश्चित्तम्; 'स्त्रीणामर्धं प्रदातव्यं वृद्धानां रोगिणां तथा। पादो बालेषु दातव्यः सर्वपापेष्वयं विधिः॥' इति विष्णुस्मरणात्। अतश्च यच्छङ्खेन—'ऊनैकादशवर्षस्य पञ्चवर्षात्परस्य च। प्रायश्चित्तं चरेद् भ्राता पिता वाऽन्यः सुहृज्जनः॥' इति प्रतिपाद्योक्तम्,–'अतो बालतरस्यास्य नापराधो न पातकम्। राजदण्डो न तस्यास्ति प्रायश्चित्तं न विद्यते॥' इति,–तदपि संपूर्णप्रायश्चित्ताभावप्रतिपादनपरं, न पुनः सर्वात्मना तदभावप्रतिपादनपरम्। आश्रमविशेषनिरपेक्षेण श्रूयमाणेषु 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' 'तस्माद् ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां

---

१. वर्षेणैकेन विशुद्ध्यति। २. भागिनो भूय। ३. तथार्वाक्तु।

पिबेत्' इत्येवमादिष्वनपेक्षितवयोविशेषस्यैवाधिकारात् । अतश्च तदीयमपि प्रायश्चित्तं पित्रादिभिरेवाचरणीयम्; 'पुत्रानुत्पाद्य संस्कृत्य वेदमध्याप्य वृत्तिं विदध्यात्' इति तस्यैव पुत्रादिहिताचरणेऽधिकृतत्वात् । यत्र पुनः कस्मिंश्चिद् ब्रह्मवधे प्रयोजकभावमापन्नस्यान्यस्मिन्साक्षात्कर्तृत्वे गुरुलघुप्रायश्चित्तसंपातस्तत्र द्वादशवार्षिकादिगुरुप्रायश्चित्तान्तःपातिनः प्रयोजकसंबन्धिलघुप्रायश्चित्तप्रसङ्गात्कार्यसिद्धिः । नचैवं सत्यविशेषाल्लघुकल्पेन महतोऽपि सिद्धिः स्यादित्याशङ्कनीयम् । अत्र ह्यन्तःपातितयाऽनुष्ठाने विशेषानवगमात्प्रसङ्गात्कार्यसिद्धिरवगम्यते । नच लघ्वन्तःपाती महाकल्प इति कुतः प्रसङ्गाशङ्का ? नच चैत्रवधजनितकल्मषक्षयार्थमनुष्ठितेन कथं विष्णुमित्रवधोत्पाद्यपापनिवृत्तिरिति वाच्यम् ; चैत्राद्युद्देशस्यातन्त्रत्वात् । अतो यथा काम्यनियोगनिष्पत्त्यर्थं स्वर्गार्थं वाऽनुष्ठितैराग्नेयादिभिर्नित्यनियोगनिष्पत्तिस्तद्वल्लघुप्रायश्चित्तस्यापि कार्यसिद्धिः । यत्पुनर्मध्यमाङ्गिरोवचनम्—'गवां सहस्रं विधिवत्पात्रेभ्यः प्रतिपादयेत् । ब्रह्महा विप्रमुच्येत सर्वपापेभ्य एव च ॥'इति,–तत्सवनस्थगुणवद्ब्राह्मणविषयम् । एतच्च 'द्विगुणं सवनस्थे तु ब्राह्मणे व्रतमादिशेत्' इत्येतद्वाक्यविहितद्विगुणद्वादशवार्षिकव्रतचर्याशक्तस्य वेदितव्यम्; प्रायश्चित्तस्यातिगुरुत्वात् । न त्वनावृत्तद्वादशवार्षिकविषयम् । तत्र हि द्वादशदिनान्येकैकप्राजापत्यमिति गणनायां प्राजापत्यानां षष्ट्यधिकशतत्रयं भवति । यद्यपि प्राजापत्यस्यान्ते त्र्यहमुपवासोऽधिकस्तथाऽप्यत्र वनवासजटाधारणवन्याहारत्वादिरूपतपोविशेषयुक्तत्वादुपवासाभावेऽप्येकैकस्य द्वादशाहस्य प्राजापत्यतुल्यत्वम् । ततश्च 'प्राजापत्यक्रियाशक्तौ धेनुं दद्याद्विचक्षणः । गवामभावे दातव्यं तन्मूल्यं वा न संशयः ॥' इत्यनेन न्यायेन प्रतिप्राजापत्यमेकैकस्यां धेन्वां दीयमानायां धेनूनामपि षष्ट्यधिकं शतत्रयं भवति, न पुनः सहस्रम् । अतो यथोक्त एव विषयो युक्तः । यदपि शङ्खवचनम्—'पूर्ववदमतिपूर्वं चतुर्षु वर्णेषु विप्रं प्रमाप्य द्वादशवत्सरान्षट् त्रीन्सार्धं संवत्सरं च व्रतान्यादिशेत्तेषामन्ते गोसहस्रं तदर्धं तस्यार्धं तदर्धं च दद्यात्सर्वेषां वर्णानामानुपूर्व्येणे'ति द्वादशवार्षिकगोसहस्रयोः समुच्चयविधिपरं, तदाचार्यादिहननविषयं द्रष्टव्यम्; तस्यातिगुरुत्वात् । तथा च दक्षः—'सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे । आचार्ये शतसाहस्रं श्रोत्रिये दत्तमक्षयम् ॥' इति प्रतिपाद्योक्तवान्—'समं द्विगुणसाहस्रमानन्त्यं च यथाक्रमम् । दाने फलविशेषः स्याद्धिंसायां तद्वदेव हि ॥' इति । तथाऽऽपस्तम्बेन (१।२४।२४) द्वादशवार्षिकमुक्त्वोक्तमस्मिन्नेव विषये—'गुरुं हत्वा श्रोत्रियं वा एतदेव व्रतमोत्तमादुच्छ्वासाच्चरेत्' इति, तत्र यावज्जीवमावर्तमाने व्रते यदा

---

१. पुत्रहिताचरणे । २. प्रयोजकाभावापन्न । ३. सिद्धिरुच्यते ।
४. मनुष्ठेयेन । ५. रूपतया विशेष. ६. समुच्चयपरम् । ७. चोक्तत्वात् ।

त्रैगुण्यं चातुर्गुण्यं वा संभाव्यते तदा तत्राऽसमर्थस्य बहुधनस्यार्थं दानतपसोः समुच्चयो द्रष्टव्यः। द्वादशवार्षिकव्यतिरिक्तानां तु सुमन्तुपराशराद्युक्तानां प्रायश्चित्तानामुत्तरत्र व्यवस्थां वक्ष्यामः। ननु द्वादशवार्षिकादिकल्पानां व्यवस्था कुतोऽवसिता ? न तावद् द्वादशवार्षिकादिविधायकवाक्यैरिति युक्तम्; तत्राप्रीतेः। नच वाच्यं प्रमाणावगतगुरुलघुकल्पानां बाधो मा प्रसाङ्क्षीदिति व्यवस्था कल्प्यत इति। विकल्पसमुच्चयाङ्गाङ्गिभावानामन्यतमाश्रयणेनापि बाधस्य सुपरिहरत्वात्। अत्रोच्यते—न तावद् द्वादशवार्षिकसेतुदर्शनादीनां विषमकल्पानां विकल्पोऽवकल्प्यते; विकल्पाश्रयणे गुरुकल्पानामनुष्ठानासंभवेनानर्थक्यप्रसङ्गात्। नच षोडशिग्रहणाग्रहणवद्विषमयोरपि विकल्पोपपत्तिरिति वाच्यम्। यतस्तत्रापि सति संभवे ग्रहणमेवेति युक्तं कल्पयितुम्। यद्वा षोडशिग्रहणानुगृहीतेनातिरात्रेण क्षिप्रं स्वर्गादिसिद्धिरतिशयितस्य वा स्वर्गस्येति कल्पनीयम्। इतरथा ग्रहणविधेरानर्थक्यप्रसङ्गात्। नापि समुच्चयः। उपदेशातिदेशप्राप्तिमन्तरेण समुच्चयो न संभवति; उपदेशावगतनैरपेक्ष्यस्य बाधप्रसङ्गात्। नचाङ्गाङ्गिभावः, श्रुत्यादिविनियोजकानामभावात्। श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानि विनियोजकानि। अतः परस्परोपमर्दपरीहारार्थं विषयव्यवस्थाकल्पनैवोचिता। सा च जातिशक्तिगुणाद्यपेक्षया कल्पनीया; 'जातिशक्तिगुणापेक्षं सकृद् बुद्धिकृतं तथा। अनुबन्धादिविज्ञाय प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत्॥' इति देवलस्मरणात्॥ २४३॥

भाषा—ब्राह्मण की हत्या करने वाला महापातकी (उसी हत ब्राह्मण के) सिर की खोपड़ी हाथ में लेकर और दूसरी खोपड़ी बास के डंडे के ऊपर बाँधकर, अपने किये हुए कर्म को सबसे बताते हुए अल्प भोजन करते हुए बारह वर्ष व्यतीत करने पर शुद्ध होता है॥ २४३॥

पूर्वोक्तस्य ब्रह्महत्यादिप्रायश्चित्तस्य नैमित्तिकसमाप्त्यवधिमाह[1]—

ब्राह्मणस्य परित्राणाद्गवां द्वादशकस्य च।
तथाऽश्वमेधावभृथस्नानाद्वा शुद्धिमाप्नुयात्॥ २४४॥

यश्चौरव्याघ्रादिभिर्व्यापाद्यमानस्य ब्राह्मणस्यैकस्याप्यात्मप्राणानन्तरे कृत्वा प्राणत्राणं करोति गवां द्वादशकस्यासावसंपूर्णेऽपि[2] द्वादशवार्षिके शुद्ध्येत्। यद्यपि प्राणत्राणे प्रवृत्तस्तदकृत्वैव म्रियते तथाऽपि शुद्ध्यत्येव। अत एव मनुना (११।७९)—'ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा सद्यः प्राणान्परित्यजन्। मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता गोर्ब्राह्मणस्य च॥' इति। ब्राह्मणरक्षणं तदर्थं मरणं च पृथगुपात्तम्। तथा परकीयाश्वमेधावभृथाख्यकर्माङ्गभूतस्नानसमये स्वयमपि स्नात्वा ब्रह्महत्यायाः शुद्धिं प्राप्नुयात्। स्नानं[3] च स्वकल्मषं विख्याप्य कुर्यात्। तथा

१. समस्त्यावधि। २. कस्य वासंपूर्णोऽपि। ३. स्नाने च।

च मनुः (११।८२)—'शिष्ट्वा वा भूमिदेवानां नरदेवसमागमे । स्वमेनोऽव-भृथे स्नात्वा हयमेधे विमुच्यते ॥' इति । भूमिदेवा ब्राह्मणा ऋत्विजस्तेषां राज्ञा नरदेवेन यजमानेन राज्ञा समवाये स्वीयमेनः शिष्ट्वा विख्याप्याश्वमेधाव-भृथे स्नात्वा शुद्ध्यति यदि तैरनुज्ञातो भवति; 'अश्वमेधावभृथं गत्वा तत्रानु-ज्ञातः स्नातः सद्यः पूतो भवति' इति शङ्खस्मरणात् । अश्वमेधावभृथग्रहणम-ग्निष्टुन्मध्यानां पञ्चदशरात्रादिक्रत्वन्तराणामग्निष्टुत्समाप्तिकानां च सर्वमेधादी-नामुपलक्षणम् । 'अश्वमेधावभृथे वाऽन्ययज्ञेऽप्यग्निष्टुदन्तश्चेत्' (२२।९, १०) इति गौतमस्मरणात् । अयं च प्रक्रान्तद्वादशवार्षिकस्य कथंचिद्ब्राह्मणप्राणत्रा-णादिकं कुर्वतो व्रतसमाप्त्यवधिरुच्यते । यथा सारस्वते सत्रे प्लाक्षं प्रस्रवणं प्राप्योत्थानमृषभैकशतानां वा गवां सहस्रमभावे सर्वस्वदानं गृहपतिमरणे चेति । न पुनः स्वतन्त्रं प्रायश्चित्तान्तरम् । तथाच शङ्खः—'द्वादशे वर्षे शुद्धिं प्राप्नोत्यन्तरा वा ब्राह्मणं मोचयित्वा, गवां द्वादशानां परित्राणात्सद्य एवाश्व-मेधावभृथस्नानाद्वा पूतो भवति' इति । अत एव मनुना (११।७८ —'कृत-वापनो वा निवसेत्' इति द्वादशवार्षिकस्य गुणविधिं प्रक्रम्य (११।७९)—'ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा सद्यः प्राणान्परित्यजन् । मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता गोर्ब्रा-ह्मणस्य च ॥' इत्यादिना मध्ये ब्राह्मणत्राणादिकमभिधाय (११।८१)—'एवं दृढव्रतो नित्यं ब्रह्मचारी समाहितः । समाप्ते द्वादशे वर्षे ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥' इति द्वादशवार्षिकमेवोपसंहृतम् । ननु ब्रह्महत्यायाः शुद्धिमाप्नुयादिति ब्राह्म-णत्राणादीनां द्वादशवार्षिकेण सहैकफलत्वावगमात्स्वातन्त्र्यमेव युक्तं न पुनर-ङ्गत्वम् , किंच प्रधानविरोधित्वादपि नाङ्गत्वम् । प्रधानानुग्राहकं ह्यङ्गं भवति । नच प्रारब्धद्वादशवार्षिकस्येदं विधानम् । येन तत्कार्ये विधानं गम्यते । यथा 'सत्रायावगूर्य विश्वजिता यजेत' इति सत्रप्रयोगप्रवृत्तस्य तत्परिसमापनाक्षमस्य विश्वजिद्विधानमतोऽपि स्वातन्त्र्यमेव युक्तम् । यथाऽग्निप्रवेशलक्ष्यभावादीनाम् । नच तेषामपि द्वादशवार्षिकोपक्रमोपसंहारमध्यपठितत्वेन तदङ्गत्वमिति शङ्कनी-यम् । यतः सत्यपि मध्यपाठे निर्ज्ञातप्रयोजनत्वेन प्रयोजनाकाङ्क्षाविरहान्न पर-स्परमङ्गाङ्गित्वं युक्तम् । यथा सामिधेनीप्रकरणमध्यवर्तिनां निविंत्पदानामग्नि-समिन्धनप्रकाशत्वेन सामिधेनीभिः सहैककार्याणां न सामिधेन्यङ्गत्वम् । न चैकान्ततोऽग्निप्रवेशादीनां द्वादशवार्षिकमध्ये पाठः वसिष्ठगौतमादिभिरेषां द्वाद-शवार्षिकप्रक्रमात्प्रागेव पठितत्वात् । इदमेव स्वातन्त्र्यं प्रकटयितुं मनुना (११।-७३)—'लक्ष्यं शस्त्रभृतां वा स्यात्' 'प्रास्येदात्मानमग्नौ वा' इति प्रतिवाक्यं

---

१. विशुद्ध्यति । २. स्नात्वा शुद्ध्येत् । ३. सर्वस्वजान्यां, सर्वस्व-याऽव्याभ्याम् । ४. भोजयित्वा । ५. वर्तिनामग्निविदामग्नि ।

'वा'शब्दः पठितः। तथा प्रतिप्रायश्चित्तमेवोपसंहृतम्—'अतोऽन्यतममास्थाय विधिं विप्रः समाहितः। ब्रह्महत्याकृतं पापं व्यपोहत्यात्मशुद्धये॥' (मनुः ११।८६) इति। अतोऽग्निप्रवेशादीनां स्वातन्त्र्यमेव युक्तम्। अतश्च ब्राह्मणत्राणादेरप्येकफलत्वान्नाङ्गत्वमिति। उच्यते,—परिहृतमेतत् 'अन्तरा ब्राह्मणं मोचयित्वे'त्यादिना शङ्खवचनेनाङ्गत्वावगमात्। अङ्गस्यैव सतः प्रधानद्वारेण फलसंबन्धः। न च प्रधानविरोधः यतो ब्राह्मणत्राणावधिकस्यैव व्रतानुष्ठानस्य फलसाधनत्वं विधीयत इति न विरोधः॥ २४४॥

भाषा—(व्याघ्र आदि द्वारा मारे जाते हुए) किसी ब्राह्मण का प्राण बचाने, अथवा बारह गायों की प्राणरक्षा करने पर तथा अश्वमेधयज्ञ में अवभृथ स्नान करने पर (बारह वर्ष के पहले भी) ब्रह्महत्या के दोष से शुद्ध हो जाता है॥ २४४॥

दीर्घतीव्रामयग्रस्तं ब्राह्मणं गामथापि वा।
दृष्ट्वा पथि निरातङ्कं कृत्वा तु ब्रह्महा शुचिः॥ २४५॥

किंच, दीर्घेण बहुकालव्यापिना तीव्रेण दुःसहेनामयेन कुष्ठादिव्याधिना ग्रस्तं पीडितं ब्राह्मणं गां वा तथाविधां पथि दृष्ट्वा निरातङ्कं नीरुजं कृत्वा ब्रह्महा शुचिर्भवति। ननु 'ब्राह्मणस्य परित्राणाद्' (प्रा० २४४) इत्यत्र यदुक्तं ब्राह्मणरक्षणं तदेव किमर्थं पुनरुच्यते,—'ब्राह्मणं गामथापि वा' इति? सत्यमेवम्; किंत्वात्मप्राणपरित्यागेनाधस्तनवाक्ये ब्राह्मणरक्षणमुक्तमधुना पुनरौषधदानादिनेति विशेषः। अमुनैवाभिप्रायेणोक्तं मनुना (११।८०)—'विप्रस्य तन्निमित्ते वा प्राणलाभे विमुच्यते' इति॥ २४५॥

भाषा—बहुत दिनों से किसी दुःसह रोग से पीड़ित ब्राह्मण को अथवा गौ को मार्ग में देखने पर उसको नीरोग करने पर भी ब्रह्महत्या का पातकी शुद्ध हो जाता है॥ २४५॥

आनीय विप्रसर्वस्वं हृतं घातित एव वा।
तन्निमित्तं क्षतः शस्त्रैर्जीवन्नपि विशुद्ध्यति॥ २४६॥

किंच, विप्रस्यापहृतसर्वस्वतयावसीदतः संबन्धि द्रव्यं भूहिरण्यादिकं चौरैर्हृतं साकल्येनानीय रक्षणं यः करोति स विशुद्ध्यति। आनयने प्रवृत्तः स्वयं चौरैर्घातितो वा, यदि वा तन्निमित्त ब्राह्मणसर्वस्वानयनार्थं तत्र युध्यमानः शस्त्रैः क्षतो मृतकल्पो जीवन्नपि विशुद्ध्यति। 'शस्त्रैः' इति बहुवचनं क्षतबहुत्वप्राप्त्यर्थम्। अत एव मनुना (११।८०)—'त्र्यवरं प्रतिरोद्धा वा सर्वस्वमवजित्य वा' इति 'त्र्यवर'ग्रहणं कृतम्। एतस्य श्लोकद्वयोक्तकल्पपञ्चकस्य

२. वा। ३. त्रिवारम्।

ब्राह्मणरक्षणरूपत्वेनान्तरा वा 'ब्राह्मणं मोचयित्वा' इत्यनेन शङ्खवचनेन क्रोडीकृतत्वाद् द्वादशवार्षिकसमाप्त्यवधित्वेनेतरग्रहणे विनियोगाच्च स्वातन्त्र्यम् ॥२४६॥

भाषा—किसी ब्राह्मण का छीना गया सभी धन अपहरणकर्ता से (युद्ध करके) चोट खाकर भी छुड़ाकर ला देते हैं और उसके निमित शस्त्रों से घायल होकर भी जीवित रहता है तो ब्रह्महत्या के पातक से शुद्ध हो जाता है ॥ २४६ ॥

प्रायश्चित्तान्तरमाह—

> लोमभ्यः [1]स्वाहेत्येवं हि लोमप्रभृति वै तनुम् ।
> म[2]ज्जान्तां जुहुयाद्वाऽपि मन्त्रैरेभिर्यथाक्रमम् ॥ २४७ ॥

'लोमभ्यः स्वाहा' इत्येवमादिभिर्मन्त्रैर्लोमप्रभृतिमज्जान्तां तनुं जुहुयात् । 'इति'शब्दः करणत्वनिर्देशार्थः । 'एवं'शब्दः प्रकारसूचनार्थः । 'हि'शब्दः स्मृत्यन्तरप्रसिद्धत्वगादीनां प्रभृतिशब्देनाक्षिप्यमाणानां द्योतनार्थः । ततश्च लोमादीनि होमद्रव्याणि चतुर्थ्या निर्दिश्यन्ते स्वाहाकारं पठित्वा तैर्मन्त्रैर्जुहुयात् । ते च हूयमानद्रव्याणां लोमत्वग्लोहितमांसमेदःस्नाय्वस्थिमज्जानामष्टसंख्यत्वादष्टौ मन्त्रा भवन्ति । तथा च वसिष्ठः—'ब्रह्महा[3]ऽग्निमुपसमाधाय जुहुयाल्लोमानि मृत्योर्जुहोमि लोमभिर्मृत्युं वासय' इति प्रथमाम् । १ । 'त्वचं मृत्योर्जुहोमि त्वचा मृत्युं वासय' इति द्वितीयाम् । २ । 'लोहितं मृत्योर्जुहोमि लोहितेन मृत्युं वासय' इति तृतीयाम् । ३ । 'मांसानि मृत्योर्जुहोमि मांसैर्मृत्युं वासय' इति चतुर्थीम् । ४ । 'मेदो मृत्योर्जुहोमि मेदसा मृत्युं वासय' इति पञ्चमीम् । ५ । 'स्नायूनि मृत्योर्जुहोमि स्नायुभिर्मृत्युं वासय' इति षष्ठीम् । ६ । 'अस्थीनि मृत्योर्जुहोमि अस्थिभिर्मृत्युं वासय' इति सप्तमीम् । ७ । 'मज्जां मृत्योर्जुहोमि मज्जाभिर्मृत्युं वासय' इत्यष्टमीम् । ८ ॥' इति । अत्र च लोमप्रभृति तनुं जुहुयादिति लोमादीनां होमद्रव्यत्वावगमाल्लोमभ्यः स्वाहेति सत्यपि चतुर्थीनिर्देशे लोमादीनां न देवतात्वं कल्प्यते; द्रव्यप्रकाशनेनैव मन्त्राणां होमसाधनत्वोपपत्तेः । किंतु 'लोमभिर्मृत्युं वासय' इत्यादिवसिष्ठमन्त्रपर्यालोचनया मृत्योरेव हविःसंबन्धावगमाद्देवतात्वं कल्प्यते । अतश्च लोमादीनि सामर्थ्यात्स्वधितिनावदाय मृत्यूद्देशेनाष्टौ होमान्कृत्वाऽन्ते तनुं प्रक्षिपेत् । अतो यत्कैश्चिदुक्तमनादिष्टद्रव्यत्वादाज्यहविष्का होमा[4] इति,—तदनिरूप्यैवोक्तमित्युपेक्षणीयम् । जुहुयादित्यनेनाग्नौ सिद्धे भ्रूणहाग्निमुपसमाधायेति पुनरग्निग्रहणं लौकिकाग्निप्राप्त्यर्थम् । युक्तं चैतत्; पतिताग्नीनां प्रतिपत्तिविधानात्—'आहिताग्निस्तु

---

१. स्वाहेति हि । २. मज्जान्तम् । ३. भ्रूणहाग्निम् ४. हविष्कामो होम इति ।

यो विप्रो महापातकभाग्भवेत् । प्रायश्चित्तैर्न शुद्धयेत तदग्नीनां तु का गतिः ॥ वैतानं प्रक्षिपेत्तोये शालाऽग्निं शमयेद् बुधः ॥'इत्युशनःस्मरणात् । तथा—'महापातकसंयुक्तो दैवात्स्यादग्निमान्यदि । पुत्रादिः पालयेदग्नीन्युक्तश्चादोषसंक्षयात् ॥ प्रायश्चित्तं न कुर्याद्यः कुर्वन्वा म्रियते यदि । गृह्यं निवार्पयेच्छ्रौतमप्स्वस्येत्सपरिच्छदम् ॥' इति कात्यायनस्मरणात् । तनुप्रक्षेपश्चोत्थायोत्थाय त्रिरधोमुखेन कर्तव्यः । यथाह मनुः (११।७३)—'प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक्शिराः' इति । गौतमेनाप्यत्र विशेषो दर्शितः (२२।१,२)—'प्रायश्चित्तमग्नौ सक्तिर्ब्रह्मघ्नस्त्रिरवच्छातस्य' इति । अवच्छातस्य अनशनकर्शितकलेवरस्येत्यर्थः । तथा च काठकश्रुतिः—'अनशनेन कर्शितोऽग्निमारोहेत्' इति । इदं च मरणान्तिकं प्रायश्चित्तं कामकारविषयम् । यथाह मध्यमाङ्गिराः—'प्राणान्तिकं च यत्प्रोक्तं प्रायश्चित्तं मनीषिभिः । तत्कामकारविषयं विज्ञेयं नात्र संशयः ॥' इति । तथा—'यः कामतो महापापं नरः कुर्यात्कथंचन । न तस्य शुद्धिर्निर्दिष्टा भृग्वग्निपतनादृते ॥' इति । एतच्च प्रायश्चित्तं स्वतन्त्रमेव न ब्राह्मणत्राणादिवद् द्वादशवार्षिकान्तर्भूतमित्युक्तं प्राक् ॥ २४७ ॥

भाषा—अथवा 'लोमभ्यः स्वाहा' आदि मन्त्र से क्रमशः लोम से लेकर मज्जा तक (लोम, त्वचा, रक्त, मांस, मेदस् , स्नायु, अस्थि, मज्जा) अपने शरीर का होम करे (तो ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त हो जाता है) ॥ २४७ ॥

संग्रामे वा हतो लक्ष्यभूतः शुद्धिमवाप्नुयात् ।
मृतकल्पः प्रहारार्तो जीवन्नपि विशुद्धयति ॥ २४८ ॥

किंच, अथवा संग्रामे युद्धभूमावुभयबलप्रेरितशरसंपातस्थाने लक्ष्यभूतो मृतः शुद्धिमवाप्नुयात् । गाढमर्मप्रहारजनिततीव्रवेदनो मृतकल्पो मूर्च्छितो जीवन्नपि विशुद्धयति । लक्ष्यभावश्च प्रायश्चित्तो अयमित्येवं विदुषां धनुर्विद्याविदां संग्रामे स्वेच्छया कर्तव्यो न तु राज्ञा बलात्कारयितव्यः । यथाह मनुः (११।१७)—'लक्ष्यं शस्त्रभृतां वा स्याद्विदुषामिच्छयात्मनः' इति । इदं च मरणान्तिकत्वात्साक्षात्कर्तुः क्षत्रियस्य कामकारविषयम् । 'अपि'शब्दादश्वमेधादिनाऽपि विशुद्धयति । यथाह मनुः (११।७४)—'यजेत वाऽश्वमेधेन स्वर्जिता गोसवेन च । अभिजिद्विश्वजिद्भ्यां वा त्रिवृताऽग्निष्टुताऽपि वा ॥'इति । अश्वमेधानुष्ठानं सार्वभौमक्षत्रियस्यैव ।—'यजेत वाऽश्वमेधेन क्षत्रियस्तु महीपतिः' इति पराशरस्मरणात्, 'नासार्वभौमो यजेत' इत्यसार्वभौमस्य प्रतिषेधदर्शनाच्च । इदं चाश्वमेधानुष्ठानं सार्वभौमस्य कामकारकृते मरणान्तिकस्थाने द्रष्टव्यम् ; 'महापातककर्तारश्चत्वारो मतिपूर्वकम् । अग्निं प्रविश्य शुद्धयन्ति स्थित्वा वा महति

---

१. गृह्यं वा निर्वपेच्छ्रौतम् ।

क्रतौ ॥' इति यमेन मरणकालाग्निप्रवेशतुल्यतया महाक्रतोरश्वमेधस्य निर्दिष्टत्वात्। स्वर्जितादयश्च त्रैवर्णिकस्याहिताग्नेरिष्टप्रथमयज्ञस्य द्वादशवार्षिकेण सह विकल्पन्ते। नच स्वर्जिताद्यर्थमाधानं प्रथमयज्ञानुष्ठानं वा कार्यम्; पतितस्य द्विजातिकर्मस्वनधिकारात्। नच संध्योपासनवदविरोध इति युक्तम्; आधानादेरुत्तरक्रतुशेषत्वाभावात्। ते च दक्षिणान्यूनाधिक्याश्रयणेन द्वादशवार्षिकाद्यर्हेषु साक्षाद्धन्त्रादिषु व्यवस्थापनीयाः ॥ २४८ ॥

भाषा—अथवा युद्ध भूमि में (दोनों पक्षों से बाण चलते रहने पर बीच में खड़ा होकर) बाणों का लक्ष्य होकर मर जाने पर शुद्ध होता है; कठिन प्रहार की वेदना से घायल होकर जीवित रहने पर भी वह ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त हो जाता है ॥ २४८ ॥

अरण्ये नियतो जप्त्वा त्रिर्वै वेदस्य संहिताम्।
शुद्ध्येत[2] वा मिताशित्वात्प्रतिस्रोतः सरस्वतीम् ॥ २४९ ॥

किंच, अरण्ये निर्जनप्रदेशे नियतो नियताहारः—'जपेद्वा नियताहारः' (११।७७) इति मनुस्मरणात्। त्रिवारं मन्त्रब्राह्मणात्मकं वेदं जपित्वा शुद्ध्यति। 'संहिता'ग्रहणं पदक्रमव्युदासार्थम्। यद्वा मिताशनो भूत्वा प्लाक्षात् प्रस्रवणादारभ्य पश्चिमोदधेः प्रतिस्रोतः स्रोतःस्रोतः प्रति सरस्वतीं इत्वा गत्वा विशुद्ध्यति। अशनं च हविष्येण कार्यम्—'हविष्यभुग्वाऽनुचरेत्प्रतिस्रोतः सरस्वतीम्' (११।७७) इति मनुस्मरणात्। अयं च वेदजपो विदुषो हन्तुर्निर्धनस्यात्यन्तगुणवतो निर्गुणव्यापादने प्रमादकृते द्रष्टव्यः। सरस्वतीगमनं तु तादृश एव विषये विद्याविरहिणो द्रष्टव्यम्। निमित्तनश्च—'तिरस्कृतो यदा विप्रो निर्गुणो म्रियते यदि' इति सुमन्तुवचनस्य दर्शितत्वात्। यत्पुनर्मनुवचनम् (११।७५)—'जपित्वाऽन्यतमं वेदं योजनानां शतं व्रजेत्' इति तदपि 'अरण्ये नियतो जप्त्वा' इत्येतस्यैव विषयेऽशक्तस्य द्रष्टव्यम् ॥ २४९ ॥

भाषा—निर्जन स्थान में परिमित भोजन करता हुआ तीन बार सम्पूर्ण वेदों की संहिता का जप करने पर अथवा अल्पाहार करते हुए सरस्वती नदी के किनारे-किनारे पश्चिम समुद्र तक जाने पर शुद्ध होता है ॥ २४९ ॥

पात्रे धनं वा पर्याप्तं दत्त्वा शुद्धिमवाप्नुयात्।
आदातुश्च विशुद्ध्यर्थमिष्टिर्वैश्वानरी स्मृता ॥ २५० ॥

किंच, 'न विद्यया केवलया' (आ० २००) इत्याद्युक्तलक्षणे पात्रे गोभूहिरण्यादिकं जीवनपर्याप्तं समर्थं धनं दत्त्वा शुद्धिमवाप्नुयात्। तद्धनं यः प्रति-

---

१. द्वादशवार्षिकषड्वार्षिकत्रैवार्षिकादिषु साक्षाद्धन्त्रादिषु। २. शुध्यत्यथ मिताशी वा।

गृह्णाति तस्य वैश्वानरदैवत्येष्टिः शुद्ध्यर्थं कर्तव्या ।—एतच्चाहिताग्निविषयम् । अनाहिताग्नेस्तु तद्दैवत्यश्चरुर्भवति; य एवाहिताग्नेर्धर्मः स एवौपासनिकस्येति गृह्यकारवचनात् । 'वा'शब्दात् सर्वस्वं सपरिच्छदं वा गृहं दद्यात् । यथाह मनुः (११।७६)—'सर्वस्वं वा वेदविदे ब्राह्मणायोपपादयेत । धनं वा जीवनायालं गृहं वा सपरिच्छदम् ॥' इति । इदं च पात्रे धनदानं निर्गुणस्य धनवतो हन्तुर्निर्गुणव्यापादने द्रष्टव्यम् । तत्रैव विषये अविद्यमानान्वयस्य सर्वस्वदानं सान्वयस्य तु सोपस्करगृहदानमिति व्यवस्था । यदपि पराशरेणोक्तम्—'चातुर्विद्योपपन्नस्तु विधिवद् ब्रह्मघातके । समुद्रसेतुगमनं प्रायश्चित्तं विनिर्दिशेत् ॥ सेतुबन्धपथे भिक्षां चातुर्वर्ण्यात्समाहरेत । वर्जयित्वा विकर्मस्थाञ्छत्रोपानद्विवर्जितः ॥ अहं दुष्कृतकर्मा वै महापातककारकः । गृहद्वारेषु तिष्ठामि भिक्षार्थी ब्रह्मघातकः ॥ गोकुलेषु च गोष्ठेषु ग्रामेषु नगरेषु च । तपोवनेषु तीर्थेषु नदीप्रस्रवणेषु च ॥ एतेषु ख्यापयेदेनः पुण्यं गत्वा तु सागरम् । ब्रह्महाऽपि[1] प्रमुच्येत स्नात्वा तस्मिन्महोदधौ ॥ ततः पूतो गृहं प्राप्य कृत्वा ब्राह्मणभोजनम् । दत्त्वा वस्त्रं पवित्राणि पूतात्मा प्रविशेद् गृहम् ॥ गवां वाऽपि शतं दद्याच्चातुर्विद्याय दक्षिणाम् । एवं शुद्धिमवाप्नोति चातुर्विद्यानुमोदितः ॥' इति ।—तदपि 'पात्रे धनं वा पर्याप्तम्' इत्यनेन समानविषयम् । यच्च सुमन्तुवचनम्—'ब्रह्महा संवत्सरं कृच्छ्रं चरेदधःशायी त्रिषवणी कर्मावेदको भैक्षाहारो दिव्यनदीपुलिनसंगमाश्रमगोष्ठपर्वतप्रस्रवणतपोवनविहारी स्यात् स्थानवीरासनी[2] संवत्सरे पूर्णे हिरण्यमणिगोधान्यतिलभूमिसर्पींषि ब्राह्मणेभ्यो ददत्पूतो भवति'इति तदपि हन्तुर्मूर्खस्य धनवतो जातिमात्रव्यापादने द्रष्टव्यम् । यत्पुनर्वसिष्ठवचनम्—'द्वादशरात्रमभक्तो द्वादशरात्रमुपवसेत्' इति तन्मनसाऽध्यवसितब्रह्महत्यस्य स्वत एवोपरतजिघांसस्य वेदितव्यम् । यत्पुनः—'षण्ढं तु ब्राह्मणं हत्वा शूद्रहत्याव्रतं चरेत् । चान्द्रायणं च कुर्वीत पराकद्वयमेव च ॥' इति षट्त्रिंशन्मतवचनं तदप्रत्यानेयपुंस्त्वस्य सप्रत्ययवधे द्रष्टव्यम् । अत्रैव विषये अप्रत्ययवधे बृहस्पतिराह—'अरुणायाः सरस्वत्याः संगमे लोकविश्रुते । शुद्ध्येत्त्रिषवणस्नायी त्रिरात्रोपोषितो द्विजः ॥' इति । एवमन्यान्यपि स्मृतिवचनान्यन्विष्य विषमाणां व्यवस्था विज्ञेया । समानां तु विकल्पः । एतानि च द्वादशवार्षिकादिधनदानपर्यन्तानि ब्राह्मणस्यैव । क्षत्रियादेस्तु द्विगुणादिकम् । यथाहाङ्गिराः—'पर्षद्या ब्राह्मणानां तु सा राज्ञां द्विगुणा मता । वैश्यानां त्रिगुणा प्रोक्ता पर्षद्वच्च व्रतं स्मृतम् ॥' इति । एवं च ब्राह्मणानां येन हन्तृहन्यमानगतगुणविशेषेण यः प्रायश्चित्तविशेषो व्यवस्थितः स एव तद्गुणविशिष्टे क्षत्रियादौ हन्तरि द्विगुणस्त्रिगुणो वेदितव्यः । अनयैव दिशा क्षत्रियवैश्यादावपि हीनेनोत्कृष्टवधे दोषगौरवात्प्रायश्चित्तस्यापि द्वैगुण्यादि कल्प-

---

१. ब्रह्महा विप्रमुच्येत । २. वीरासनेन संवत्सरे ।

नीयम् । दोषगौरवं च दण्डगौरवादवगम्यते । यथोक्तम्—'प्रतिलोमापवादेषु द्विगुणस्त्रिगुणो दमः । वर्णानामानुलोम्येन तस्मादर्धार्धहानितः ॥' इति । यत्तु चतुर्विंशतिमतवचनम्—'प्रायश्चित्तं यदाम्नातं ब्राह्मणस्य महर्षिभिः । पादोनं क्षत्रियः कुर्यादर्धं वैश्यः समाचरेत् ॥ शूद्रः समाचरेत्पादमशेषेष्वपि पाप्मसु ॥' इति,-तत्प्रतिलोमानुष्ठितचतुर्विधसाहसव्यतिरिक्तविषयम् । तथा मूर्धावसिक्तादीनामप्यनुलोमोत्पन्नानां दण्डवत्प्रायश्चित्तमूहनीयम् । दर्शितं दण्डतारतम्यम्—'दण्डप्रणयनं कार्यं वर्णजात्युत्तराधरैः' इति । ततश्च मूर्धावसिक्तस्य ब्राह्मणवधे ब्राह्मणादतिरिक्तं क्षत्रियान्न्यूनमध्यर्धं द्वादशवार्षिकं भवति । अनयैव दिशा प्रतिलोमोत्पन्नानामपि प्रायश्चित्तगौरवमूहनीयम् । तथा आश्रमिणामपि अङ्गिरसा विशेषो दर्शितः—'गृहस्थोक्तानि पापानि कुर्वन्त्याश्रमिणो यदि । शौचवच्छोधनं कुर्युरर्वाग्ब्रह्मनिदर्शनात् ॥' इति शौचवदिति–'एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम् । त्रिगुणं तु वनस्थानां यतीनां तु चतुर्गुणम् ॥' (मनुः–५।१३७) इति वचनाद्यथा ब्रह्मचार्यादीनां शौचं द्वैगुण्यादिक्रमेण वर्धते, तथा शोधनं प्रायश्चित्तमपि भवतीत्यर्थः । ब्रह्मचारिणस्तु प्रायश्चित्तद्वैगुण्यं षोडशवर्षादूर्ध्वमेव । अर्वाक्तु पुनः 'बालो वाप्यूनषोडशः; प्रायश्चित्तार्धमर्हन्ति' इति षोडशवर्षादर्वाचीनस्यार्धप्रायश्चित्ताभिधानात् । नच द्वादशवार्षिके चतुर्गुणे क्रियमाणे मध्ये विपत्तिशङ्कया समाप्त्यनुपपत्तेः प्रवृत्तिरेव नोपपद्यत इति शङ्कनीयम् । यतः प्रक्रान्तप्रायश्चित्तस्य मध्ये विपत्तावपि पापक्षयो भवत्येव । यथाह हारीतः—'प्रायश्चित्ते व्यवसिते कर्ता यदि विपद्यते । पूतस्तदहरेवासाविह लोके परत्र च ॥' इति । व्यासोऽप्याह—'धर्मार्थं यतमानस्तु न चेच्छक्नोति मानवः । प्राप्तो भवति तत्पुण्यमत्र वै नास्ति संशयः ॥' इति ॥ २५० ॥

भाषा—अथवा पात्र (योग्य) व्यक्ति को गौ, भूमि और सोना आदि पर्याप्त धन देने पर ब्रह्महत्या का पापी शुद्ध होता है और दान लेने वाले की शुद्धि के लिये वैश्वानरी इष्टि करने का विधान है ॥ २५० ॥

अधुना निमित्तान्तरेषु ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तस्यातिदेशमाह—

यागस्थक्षत्रविड्घाती चरेद् ब्रह्महणि व्रतम् ।
गर्भहा च यथावर्णं तथात्रेयीनिषूदकः ॥ २५१ ॥

दीक्षणीयाद्युदवसानीयापर्यन्ते सोमयागप्रयोगे वर्तमानौ क्षत्रियवैश्यौ यो व्यापादयति असौ ब्रह्महणि पुरुषे यद्ब्रह्महत्याव्रतमुपदिष्टं द्वादशवार्षिकादि तच्चरेत् । यद्यपि 'याग'शब्दः सामान्यवचनस्तथाऽप्यत्र सोमयागमभिधत्ते । 'सवनगतौ च राजन्यवैश्यौ' इति वसिष्ठेन सवनत्रयसंपाद्यस्य सोमयागस्यैव निर्दिष्टत्वात् । अत्र च गुरुलघुभूतानां द्वादशवार्षिकादिब्रह्महत्याव्रतानां जातिश-

---

१, हन्ता ।

क्तिगुणाद्यपेक्षया प्रागुक्तवद् व्यवस्था वेदितव्या । एवं गर्भवधादिष्वपि। मरणान्तिकं तु नातिदिश्यते; व्रतग्रहणात् । अतः कामतो यागस्थक्षत्रियादिवधे व्रतस्यैव द्वैगुण्यम् । एतच्च व्रतं संपूर्णमेव कर्तव्यम्,-'पूर्वयोर्वर्णयोर्वेदाध्यायिनं हत्वा' (धर्म. १।२४,६,५) इति प्रक्रम्यापस्तम्बेन द्वादशवार्षिकाभिधानात् । गर्भं च विज्ञासु संभूतं हत्वा यथावर्णं यद्वर्णपुरुषवधे यत्प्रायश्चित्तमुक्तं तद्वर्णगर्भवधे तच्चरेत् । एतच्चानुपजातस्त्रीपुंनपुंसकव्यञ्जनगर्भविषयम्; 'हत्वा गर्भमविज्ञातम्' (११।८७) इति मानवे विशेषदर्शनात् । अत्र च यद्यपि ब्राह्मणगर्भस्य ब्राह्मणत्वादेव तद्वधनिमित्तव्रतप्राप्तिस्तथाऽपि स्त्रीत्वस्यापि संभवात्—'स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवध–' (प्रा० २३६) इत्युपपातकत्वेन तत्प्रायश्चित्तप्राप्तिरपि स्यात्, अतः स्त्रीपुंनपुंसकत्वेनाविज्ञातेऽपि ब्राह्मणगर्भत्वमात्रप्रयुक्तं 'ब्रह्महत्याव्रतं कुर्यात्' इत्यर्थवदतिदेशवचनम् । उपजाते स्त्रीपुंसादिविशेषव्यञ्जने यथायथमेव प्रायश्चित्तम् । यश्चात्रेय्या निषूदको व्यापादकः सोऽपि तथा व्रतं चरेत् । हन्यमानात्रेयीवर्णानुरूपं व्रतं चरेदित्यर्थः । 'आत्रेयी'शब्देनर्तुमत्युच्यते 'रजस्वलामृतुस्नातामात्रेयीमाहुर्यत्र ह्येतदपत्यं भवति' इति वसिष्ठस्मरणात् । अत्रिगोत्रजा च ।—'अत्रिगोत्रां वा नारीम्' (५०।९) इति विष्णुस्मरणात् । एतदुक्तं भवति-ब्राह्मणगर्भवधे ब्राह्मण्यात्रेयीवधे च ब्रह्महत्याव्रतम् । क्षत्रियगर्भवधे क्षत्रियात्रेयीवधे च क्षत्रहत्याव्रतम्, एवमन्यत्रापीति । 'च'शब्दात्साक्ष्ये अनृतवचनादिष्वपि । तथाह मनुः (११।८८)—'उक्त्वा चैवानृतं साक्ष्ये प्रतिरुध्य गुरुं तथा । अपहृत्य च निक्षेपं कृत्वा च स्त्रीसुहृद्वधम् ॥' इति । यत्र व्यवहारे असत्यवचनेन प्राणिनां वधप्राप्तिस्तद्विषयमेतत्; प्रायश्चित्तस्यातिगुरुत्वात् । प्रतिरोधः क्रोधावेशः । निक्षेपश्च ब्राह्मणसंबन्धी । स्त्री चाहिताग्निभार्या पतिव्रतात्वादिगुणयुक्तोच्यते सवनस्था च । यथाहाङ्गिराः—'आहिताग्नेर्द्विजाग्र्यस्य हत्वा पत्नीमनिन्दिताम् । ब्रह्महत्याव्रतं कुर्यादात्रेयीघ्नस्तथैव च ॥' इति । 'सवनस्थां स्त्रियं हत्वा ब्रह्महत्याव्रतं चरेत् ॥' इति पराशरस्मरणात् । एवं च सवनस्याग्निहोत्रिण्यात्रेयीवधे ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तातिदेशात्तद्व्यतिरिक्तस्त्रीवधस्य 'स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवध-'(प्रा० २३६) इत्युपपातकमध्यपाठादुपपातकत्वमेव ॥ ननु 'ब्राह्मणो न हन्तव्य' इत्यत्र निषेधेऽनुपादेयगतत्वेन लिङ्गवचनयोरविवक्षितत्वाद् ब्राह्मणजातेश्च स्त्रीपुंसयोर्विशेषात्तदतिक्रमनिमित्तप्रायश्चित्तविधेः—'ब्रह्महा द्वादशाब्दानि' (प्रा० २४३) इत्यस्योभयत्र प्राप्तत्वात्किमर्थं 'तथात्रेयीनिषूदक' इत्यतिदेशवचनम् ? उच्यते,—सत्यपि ब्राह्मणत्वेऽनात्रेय्या वधस्य च महापातकप्रायश्चित्तनिराकरणार्थंअतस्तस्यापि पातकमध्यपाठादुपपातकप्रायश्चित्तमेव । आतिदेशिकेषु च प्रायश्चित्तस्यैवातिदेशो न पातित्यस्य । अतः पतितत्यागादिकार्यमत्र न भवति ॥ २५१ ॥

१. रविपर्ययात् । २. कार्यमात्रम् ।

भाषा—यज्ञ में (दीक्षणीया और उदयनीया पर्यन्त सोमयाग में वर्तमान) क्षत्रिय और वैश्य की हत्या करने वाला ब्रह्महत्या वाला व्रत करे; गर्भपात कराने वाले और रजस्वला स्त्री की हत्या करने वाला वर्ण के अनुसार (जिस वर्ण का गर्भ या स्त्री हो) हत्या का प्रायश्चित्त करे ॥२५१॥

चरेद् व्रतमहत्वाऽपि घातार्थं चेत्समागतः ।
द्विगुणं सवनस्थे तु ब्राह्मणे व्रतमादिशेत् ॥ २५२ ॥

किंच, यथावर्णमित्यनुवर्तते; ब्राह्मणादिहनने कृतनिश्चयस्तद्व्यापादनार्थं समभ्यागत्य शस्त्रादिप्रहारे कृते कथंचित्प्रतिबन्धवशादसौ न मृतस्तदा अहत्वाऽपि यथावर्णं ब्रह्महत्यादि व्रतं चरेत्। तथा च गौतमः (२२।११)–'सृष्टश्चेद् ब्राह्मणवधे अहत्वाऽपि' इति । ननु हनने तदभावे चैकप्रायश्चित्तता न युक्ता–सत्यम् ; अत एवौपदेशिकेभ्यो न्यूनत्वादातिदेशिकानां पादोनान्येव ब्रह्महत्यादिव्रतानि द्वादशवार्षिकादीनि भवन्ति । एतच्च प्रपञ्चितं प्राक्। किंच, यस्तु सवनसंपाद्यं सोमयागमनुतिष्ठन्तं ब्राह्मणं व्यापादयति तस्मिन्द्वादशवार्षिकादिव्रतं द्विगुणं समादिशेत् । तेषां च व्रतानां गुरुलघुभूतानां जातिशक्तिगुणाद्यपेक्षया सत्यपि सवनस्थत्वस्याविशेषे पूर्ववदेव व्यवस्थाऽवगन्तव्या । ब्रह्महत्यासमानां तु गुर्वधिक्षेपादीनामातिदेशिकेभ्योऽपि न्यूनत्वादर्धोनं द्वादशवार्षिकादिप्रायश्चित्तमित्युक्तम् ॥ २५२ ॥

भाषा—वध करने के लिए आकर (किसी कारणवश) वध न होने पर भी (वर्ण के अनुसार ब्रह्महत्या आदि का) व्रत करे। सोमयाग के अनुष्ठान में लगे हुए ब्राह्मण को मारने पर दूना (दोहरा चौबीस वर्ष का) व्रत करे ॥ २५२ ॥

इति ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

अथ क्रमप्राप्तं सुरापानप्रायश्चित्तं प्रक्रमते—

सुराम्बुघृतगोमूत्रपयसामग्निसंनिभम् ।
सुरापोऽन्यतमं पीत्वा मरणाच्छुद्धिमृच्छति ॥ २५३ ॥

सुरादीनां मध्येऽन्यतममग्निसंनिभं क्वाथापादिताग्निस्पर्शदाहशक्तिकं कृत्वा पीत्वा सुरापो मरणाच्छुद्धिं प्राप्नोति । गोमूत्रसाहचर्याद्गव्ये एव घृतपयसी ग्राह्ये । घृतपयःसाहचर्याच्च स्त्रैणमेव गोमूत्रम् । एतच्चार्द्रवाससा कार्यम् । 'सुराप आर्द्रवासाश्च अग्निवर्णां सुरां पिबेत्' इति पैठीनसिस्मरणात् । तथा–'लौहेन पात्रेण सुरापोऽग्निवर्णां सुरामायसेन पात्रेण ताम्रेण वा पिबेत्'

---

१. माप्नुयात् ।

इति प्रचेतःस्मरणात् । एतच्च सकृत्पानमात्रे; 'सुरापानं सकृत्कृत्वाऽग्निवर्णां सुरां पिबेत्' इत्यङ्गिरःस्मरणात् । यत्तु वसिष्ठवचनम्—'अभ्यासे तु सुरायाश्च अग्निवर्णां पिबेद् द्विजः' इति,–तत्सुराव्यतिरिक्तमद्यपानविषयम् । एतच्च कामकारविषयम् ; 'सुरापाने कामकृते ज्वलन्तीं तां विनिक्षिपेत् । मुखे तया विनिर्दग्धे मृतः शुद्धिमवाप्नुयात् ॥' इति बृहस्पतिस्मरणात् । यत्तु 'सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिबेत्' (११।९०) इति मनुना मोहग्रहणं कृतं, तच्छास्त्रार्थापरिज्ञानाभिप्रायेण । अत्रेदं चिन्तनीयम्—किं 'सुरा'शब्दो मद्यमात्रे रूढ उत तिसृष्वेव गौडीमाध्वीपैष्टीष्वाहोस्वित्पैष्टयामेवेति । तत्र केचिन्मद्यमात्रे रूढ इति वर्णयन्ति; 'अभ्यासे तु सुरायाः' (२०।२२) इति वासिष्ठे पैष्टयादित्रयव्यतिरिक्तेऽपि मद्यमात्रे सुराशब्दप्रयोगदर्शनात् । न चासौ गौणः प्रयोग इति शङ्कनीयम् । मदजननशक्तिमत्त्वोपाधिकतया[1] सर्वत्र मुख्यत्वोपपत्तौ गौणत्वकल्पनाया अन्याय्यत्वादिति,—तदयुक्तम् ; 'पानसं द्राक्षं माधूकं खार्जूरं तालमैक्षवम् । मधूत्थं सैरमारिष्टं मैरेयं नालिकेरजम् ॥ समानानि विजानीयान्मद्यान्येकादशैव तु । द्वादशं तु सुरामद्यं सर्वेषामधमं स्मृतम् ॥' इति पुलस्त्येन मद्यविशेषत्वेन सुराया निर्दिष्टत्वात् । अतश्च मद्यमात्रे सुराशब्दप्रयोगो गौणः । अन्ये पुनः पैष्टयादिषु तिसृषु 'सुरा'शब्दस्य रूढिं मन्यन्ते । तथा हि—यद्यप्यनेकत्र सुराशब्दप्रयोगो दृश्यते तथाऽपि कुत्रानादित्वमिति संदेहे—'गौडी माध्वी च पैष्टी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा' (११।९४) इति मनुवचनाद्गुडमधुपिष्टविकारेष्वनादित्वनिर्धारणात्तत्रैव मुख्यत्वं युक्तम् । नचानेकत्र[2] शक्तिकल्पना दोषः; मदशक्तेरुपाधित्वाश्रयणेन तस्य सुपरिहरत्वात् । नच तालादिरसेष्वप्युपाधेर्विद्यमानत्वादतिप्रसङ्गः; पङ्कजादिशब्दवद्योगरूढत्वाश्रयणात् । अतश्च—'यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः' (मनुः ११।९४) इति तिसृणां सुराणां समानदोषत्वप्रतिपादनपरं न पुनरनयोर्गौडीमाध्व्योः पैष्टीसुरासमत्वप्रतिपादनपरम् । 'द्विजोत्तम'ग्रहणं द्विजात्युपलक्षणम्,—एतदप्ययुक्तम् ; 'द्वादशं तु सुरामद्यं सर्वेषामधमं स्मृतम्' इति पुलस्त्यवचने गौडीमाध्वीभ्यामपि सुरामद्यस्यातिरेकदर्शनात्[3] । तथा—'सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते' (मनुः ११।९३) इति । अन्नविकारस्यैव सुरात्वनिर्देशादन्नशब्दस्य च 'अन्नेन व्यञ्जनम्' इत्यादिषु व्रीह्यादिविकार एव प्रयोगदर्शनाद् गुडमधुनोश्च रसरूपत्वात्तथा सौत्रामणिग्रहेषु चान्नविकारे एव 'सुरा'शब्दस्य श्रुतत्वात् पैष्टयेव सुरा मुख्योच्यते । इतरयोस्तु सुराशब्दो गौणः; यत्तूक्तम्—'गौडी माध्वी' इति मनुवचनात्तिसृष्वप्यौत्पत्तिकत्वनिर्धारणेति,–तदप्ययुक्तम् ; यतो नेदं शब्दानुशासनवच्छब्दार्थसंबन्धानादित्वप्रतिपादनपरं,

---

१. पाधिकत्वेन । २. नेकशक्ति । ३. मद्यस्य व्यतिरेक ।

किंतु कार्यप्रतिपादनपरम् । अतो गुरुप्रायश्चित्तनिमित्ततया गौडीमाध्व्योर्गौणः 'सुरा'शब्दयोगः । एवं च नानेकशक्तिकल्पनादोषो नाप्युपाध्याश्रयणं कृतम् । न चात्र 'द्विजोत्तम'ग्रहणस्योपलक्षणत्वम् । अतश्च—'सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते । तस्माद् ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥' (मनुः ११।९३) इति पैष्ट्या एव वर्णत्रयसंबन्धित्वेन निषेधः । गौड्यादीनां तु मद्यानां ब्राह्मणसंबन्धित्वेनैव निषेधः, न क्षत्रियवैश्ययोः; 'यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम् । तद्ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविः ॥' (११। ९५) इति मानवे ब्राह्मणेनेति विशेषोपादानात् । बृहद्विष्णुनाऽपि ब्राह्मणस्यैव मद्यप्रतिषेधो दर्शितः—'माधूकमैक्षवं सैरं तालं खार्जूरपानसम् । मधूत्थं चैव माध्वीकं मैरेयं नालिकेरजम् ॥ अमेध्यानि दशैतानि मद्यानि ब्राह्मणस्य तु ॥' इति ॥ बृहद्याज्ञवल्क्येनापि क्षत्रियवैश्ययोर्दोषाभावो दर्शितः—'कामादपि हि राजन्यो वैश्यो वाऽपि कथंचन । मद्यमेव सुरां पीत्वा न दोषं प्रतिपद्यते ॥' इति । व्यासेनापि तयोर्माध्वीपानमनुज्ञातम्—'उभौ मध्वासवक्षीबावुभौ चन्दनचर्चितौ । एकपर्यङ्करथिनौ दृष्टौ मे केशवार्जुनौ ॥' इति । एवं ब्राह्मण-संबन्धित्वेन मद्यमात्रनिषेधे सत्यपि—'गौडी माध्वी च पैष्टी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा । यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः ॥' (मनुः ११। ९४) इति गौडीमाध्व्योः पृथङ्निषेधवचनं दोषगुरुत्वेन सुरासमत्वप्रतिपाद-नपरम् । अयं च सुरानिषेधोऽनुपनीतस्यानूढायाश्च कन्याया भवत्येव; 'तस्माद् ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत्' (मनुः ११।९३)—इति जातिमा-त्रावच्छेदेन निषेधात् । अतश्च 'सुरां पीत्वा द्विजो मोहात्' (११।९०) इति प्रायश्चित्तविधिवाक्ये मनुना यद्द्विजग्रहणं कृतं तद्वर्णत्रयोपलक्षणार्थम् ; निमि-त्तभूतनिषेधसापेक्षत्वान्नैमित्तिकविधेर्निषेधे च वर्णमात्रस्यावच्छेदकत्वात् । यथा 'यस्य हविर्निरुप्तं पुरस्ताच्चन्द्रमा अभ्युदेति' इति निमित्तवाक्ये हविर्मात्राभ्यु-दयस्य निमित्तत्वावगतौ तत्सापेक्षनैमित्तिकवाक्ये श्रूयमाणमपि 'त्रेधा तन्दुला-न्विभजेत्' इति तन्दुलग्रहणं तन्दुलादिरूपहविर्मात्रोपलक्षणम् । इयांस्तु विशेषः—'पादो बालेषु दातव्यः सर्वपापेष्वयं विधिः' इति वचनात्कामकारेऽपि, न मर-णान्तिकं किंतु पादमेव द्विगुणीकृत्य षड्वार्षिकं देयम् ; 'विहितं यदकामानां कामात्तद्द्विगुणं चरेत्' इत्यङ्गिरःस्मरणात् । एवं वृद्धातुरादिष्वपि योज्यम् । तथा 'तद्ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविः' (मनुः ११।९५)—इति मद्यस्यापि जातिमात्रावच्छेदेन निषिद्धत्वादनुपनीतेनापि न पेयम् । ननु कथ-मनुपनीतस्य दोषः ? 'प्रागुपनयनात्कामचारकामवादकामभक्षाः' (२।१) इति

---

१. निन्दितत्वावगतौ ।

गौतमवचनात्, तथा—'मद्यमूत्रपुरीषाणां भक्षणे नास्ति कश्चन । दोषस्त्वाऽऽपञ्च-माद्वर्षादूर्ध्वं पित्रोः सुहृद्गुरोः ॥' इति कुमारवचनाच्च दोषाभावावगतेः । उच्यते,—सुरामद्ययोर्निषेधवाक्ये जातिमात्रस्यावच्छेदकत्वश्रवणादप्रतिहतैव निषेधप्रवृत्तिः । अत एव स्मृत्यन्तरे निषेधवचनम्—'सुरापाननिषेधस्तु जात्याश्रय इति स्थितिः' इति । अतः 'पादो बालेषु दातव्यः सर्वपापेष्वयं विधिः' इति । 'सर्वपापेषु सुरापानादिष्वपि' इति वचनात्पाद एव सुरापाने प्रायश्चित्तम् । तथा जातूकर्ण्येन मद्यपानेऽपि प्रायश्चित्तमुक्तम्—'अनुपेतस्तु यो बालो मद्यं मोहात्पिबेद्यदि । तस्य कृच्छ्रत्रयं कुर्यान्माता भ्राता तथा पिता ॥' इति । अतो गौतमवचनं सुरादिव्यतिरिक्तशुक्तपर्युषितादिविषयम् । कुमारवचनं तु स्वल्पदोषख्यापनपरम् । अत एव प्रागुपनयनात्कृतदोषस्योपनयनमेव प्रायश्चित्तमित्युक्तं मनुना (२।२७)—'गार्भैर्होमैर्जातकर्मचूडामौञ्जीनिबन्धनैः । बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥' इति । अयमत्रार्थः- त्रैवर्णिकानामुत्पत्तिप्रभृति पैष्टीप्रतिषेधः । ब्राह्मणस्य मद्यमात्रनिषेधोऽप्युत्पत्तिप्रभृत्येव । राजन्यवैश्ययोस्तु न कदाचिदपि गौड्यादिमद्यप्रतिषेधः । शूद्रस्य न सुराप्रतिषेधो नापि मद्यप्रतिषेधः ॥ २५३ ॥

भाषा—सुरा पीने वाला महापातकी सुरा, जल, घृत, गोमूत्र और दूध में किसी एक को खूब खौलाकर पीए और उससे उसकी मृत्यु हो जाय तब वह शुद्ध होता है ॥ २५३ ॥

प्रायश्चित्तान्तरमाह—

> वालवासा जटी वाऽपि ब्रह्महत्याव्रतं चरेत्[1] ।
> पिण्याकं वा कणान्वाऽपि भक्षयेत्त्रिसमा निशि[2] ॥ २५४ ॥

गोछागादिलोमनिर्मितवस्त्रप्रावृतो वालवासाः, 'वालवासो'ग्रहणं चीरवल्कलयोरुपलक्षणार्थम् ; 'सुरापगुरुतल्पगौ चीरवल्कलवाससौ ब्रह्महत्याव्रतं चरेयाताम्' इति प्रचेतःस्मरणात् । 'जटि'ग्रहणं मुण्डित्वनिराकरणार्थम् । 'ब्रह्महत्याव्रतं चरेत्' इत्यनेनैव सिद्धे यद्वालवसनादिग्रहणं तदन्यत्र संभवि[3] स्वयं मारितशिरःकपालादिनिवृत्त्यर्थम् । इदमकामतो जलबुद्ध्या यः सुरां पिबति तद्विषयम् ; 'इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याऽकामतो द्विजम्' (मनुः ११।८९)—इत्यकामोपाधित्वेन विहितस्यैव द्वादशवार्षिकस्यातिदेशात् । अत्र च सुरापानस्य महापातकत्वात्सत्यप्यातिदेशिकत्वे संपूर्णमेव द्वादशवार्षिकं कुर्यान्न पादोनम् । अत एव वृद्धहारीतः—'द्वादशभिर्वर्षैर्महापातकिनः पूयन्ते' इति ।

---

१. चरेद् ब्रह्महणि व्रतम् । २. भक्षयेत्तु समां निशि । ३. संभवे श्रूयमाणत्वसंबन्धि स्वयम् ।

अथवा पिण्याकं पिण्डितं त्रिसमा वर्षत्रयपर्यन्तं रात्रौ भक्षयेत् । कणा-स्तन्दुललवास्तान्वा पूर्ववद्भक्षयेत् ।-एतच्च सकृदेव कार्यम्; 'कणान्वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं वा सकृन्निशि' (११।९२) इति मनुस्मरणात् । अस्य च पिण्याकादिभक्षणस्य भोजनकार्ये विहितत्वादशनानन्तरपरित्यागः । एतच्चोदकबुद्धया सुरापाने छर्दनोत्तरकाले वेदितव्यम्; 'एतदेव व्रतं कुर्यान्मद्यपच्छर्दने कृते । पञ्चगव्यं च तस्योक्तं प्रत्यहं कायशोधनम् ॥' इति व्यासवचनात् । नच सुरासंसृष्टेष्वनुपलभ्यमानतद्गन्धरसोदकपानविषयमिदमिति सुन्दरम् । संसर्गेऽपि सुरात्वस्यानपायात् । यथाऽऽज्यत्वस्य पृषदाज्ये । अत एव 'आज्यपा इति निगमाः कार्याः न पृषदाज्यपाः' इत्येवमुक्तं न्यायविद्भिः । यत्पुनरापस्तम्बवचनम् (१।२५)—'स्तेयं कृत्वा सुरां पीत्वा गुरुदारान्गत्वा ब्रह्महत्यां च कृत्वा चतुर्थं कालं मितभोजनोऽभ्युपेयात्सवनानुकल्पं स्थानासनाभ्यां विहरंस्त्रिभिर्वर्षैः पापं व्यपनुदति' इति । यच्चाङ्गिरोवचनम्—'महापातकसंयुक्ता वर्षैः शुद्धयन्ति ते त्रिभिः' इति, तदुभयमपि 'पिण्याकं वा कणान्वा' इत्यनेनैकविषयम् । यदपि यमेन प्रायश्चित्तद्वयमुक्तम्—'बृहस्पतिसवेनेष्ट्वा सुरापो ब्राह्मणः पुनः । समत्वं ब्राह्मणैर्गच्छेदित्येषा वैदिकी श्रुतिः ॥ भूमिप्रदानं यः कुर्यात्सुरां पीत्वा द्विजोत्तमः । पुनर्न च पिबेत्तां तु संस्कृतः स विशुद्धयति ॥' इति,-तदुभयमपि पूर्वेण सहैकविषयम् । यद्वा अतिरिक्तदक्षिणाकल्पाश्रयणाद् द्वादशवार्षिकेण सह विकल्पते । अत्रापि बालवृद्धादीनां सार्धैकवर्षीयमनुपनीतानां तु नवमासिकमित्येवं कल्पना कार्या । यत्तु मनुवचनम् (११।९२)—'कणान्वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं वा सकृन्निशि । सुरापानापनुत्त्यर्थं वालवासा जटी ध्वजी ॥' इति,-तत्तालुमात्रसंयोगे सुराया अबुद्धिपूर्वे द्रष्टव्यम् । ननु च द्रवद्रव्यस्याभ्यवहरणं पानमित्युच्यते । अभ्यवहरणं च कण्ठादधोनयनं न ताल्वादिसंयोगमात्रं, अतः कथं तत्र पाननिमित्तं प्रायश्चित्तम्? उच्यते—येन ताल्वादिसंयोगेन विना पानक्रिया न निर्वर्तते सोऽपि पानक्रियाप्रतिषेधेन प्रतिषिद्धः । अतो यद्यपि मुख्यपानाभावान्न महापातकत्वं तथापि तत्प्रतिषेधेन तदङ्गभूताव्यभिचारिताल्वादिसंयोगस्यापि प्रतिषिद्धत्वेन दोषस्य विद्यमानत्वाद्भवत्येव प्रायश्चित्तम् ।-'चरेद् व्रतमहत्वाऽपि घातार्थं चेत्समागतः' इति । यथा हननप्रतिषेधेन तदङ्गभूताध्यवसायादेरपि प्रतिषिद्धत्वात्प्रायश्चित्तविधानम् । यत्तु बौधायनीयम्—'त्रैमासिकममत्या सुरापाने कृच्छ्राब्दपादं चरित्वा पुनरुपनयनम्' इति; यच्च याम्यम्—'सुरां पीत्वा द्विजं हत्वा रुक्मं हृत्वा द्विजन्मनः । संयोगं पतितैर्गत्वा द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति; यदपि बार्हस्पत्यम्—'गौडीं माध्वीं सुरां पैष्टीं पीत्वा विप्रः समाचरेत् ।

---

१. पिण्याकपिण्डान् । २. तंदुलाणवस्तान्वा ।

तत्कृच्छ्रं पराकं च चान्द्रायणमनुक्रमात् ॥' इति,-तत्त्रितयमप्यनन्यौषधसाध्यव्याध्युपशमार्थे पाने वेदितव्यम् ; प्रायश्चित्तस्याल्पत्वात्। यदा तु सुरासंसृष्टं शुष्करसमेवान्नं भक्षयति तदा पुनरुपनयनम्। यथाह मनुः (११।१५०)—'अज्ञानात्प्राश्य विण्मूत्रं सुरासंसृष्टमेव च। पुनः संस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥' इति। यदा च शुष्कसुराभाण्डस्थोदकं पिबति तदा शातातपोक्तं कुर्यात्—'सुराभाण्डोदकपाने छर्दनं घृतप्राशनमहोरात्रोपवासश्च' इति। यत्तु बौधायनीयम् (२।१।२१)-'सुरापानस्य यो भाण्डेष्वापः पर्युषिताः पिबेत्। शङ्खपुष्पीविपक्वं तु क्षीरं सर्पिः पिबेत्त्र्यहम् ॥' इति,-तत्पर्युषितत्वादधिकम्। अकामतोऽभ्यासे पुनर्मनुनोक्तम् (११।१४७)—'अपः सुराभाजनस्था मद्यभाण्डस्थितास्तथा। पञ्चरात्रं पिबेत्पीत्वा शङ्खपुष्पीश्रृतं पयः ॥' इति; यत्तु विष्णूक्तम् (५२।२३)-'अपः सुराभाजनस्थाः पीत्वा सप्तरात्रं शङ्खपुष्पीश्रृतं पयः पिबेत्' इति,-तन्मतिपूर्वकपाने। ज्ञानतोऽभ्यासे तु वृद्धयम आह—'सुराभाण्डे स्थितं तोयं यदि कश्चित्पिबेद्द्विजः। स द्वादशाहं क्षीरेण पिबेद् ब्राह्मीं सुवर्चलाम् ॥' इति। सुरापस्य मुखगन्धघ्राणे तु मानवम् (११।१४९)—'ब्राह्मणस्तु सुरापस्य गन्धमाघ्राय सोमपः। प्राणानप्सु त्रिरायम्य घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥' इति,-तत्सोमयाजिन एवामतिपूर्वे; मतिपूर्वे तु द्विगुणम्। अपीतसोमस्य तु कल्प्यम् ; साक्षात्सुरागन्धघ्राणस्य तु 'घ्रातिरघ्रेयमद्ययोः' इति जातिभ्रंशकरत्वात्—'जातिभ्रंशकरं कर्म कृत्वान्यतममिच्छया। चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं प्राजापत्यमनिच्छया ॥' (११।१२४) इति मनूक्तं द्रष्टव्यम् ॥ २५४ ॥

भाषा—अथवा बकरा आदि के बाल से बना हुआ वस्त्र धारण कर एवं जटा रख के ब्रह्महत्या के लिए विहित व्रत करे। अथवा तीन वर्ष तक केवल रात्रि को पिण्याक (पिण्डी) या कण का भोजन करे ॥ २५४ ॥

एवं मुख्यसुरापाने प्रायश्चित्तमुक्त्वा मद्यपाने प्रायश्चित्तमाह—

अज्ञानात्तु सुरां पीत्वा रेतो विण्मूत्रमेव च।
पुनःसंस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥ २५५ ॥

यः पुनरज्ञानादुदकबुद्ध्या सुरां मद्यं ब्राह्मणः पिबति, ये च ब्राह्मणादयो रेतो विण्मूत्राणि प्राश्नन्ति, ते त्रयोऽपि द्विजातयो वर्णास्तप्तकृच्छ्रपूर्वकं पुनरुपनयनं प्रायश्चित्तमर्हन्ति। अत्र मद्यपाने योऽयं पुनः संस्कारः स ब्राह्मणस्यैव; क्षत्रियविशोस्तदभ्यनुज्ञानस्य दर्शितत्वात्। 'सुरा'शब्दश्चात्र मद्यपरः; प्रायश्चित्तस्यातिलघुत्वात्, अज्ञानतो मुख्यसुरापाने द्वादशवार्षिकस्य विहितत्वाच्च। अत

---

१ अज्ञानाद्वारुणीं पीत्वा।

एव गौतमेनात्र मद्यशब्दः प्रयुक्तः (२३।२)—'अमत्या मद्यपाने पयो घृतमुदकं वा त्र्यहं तप्तानि पिबेत्स तप्तकृच्छ्रस्ततोऽस्य संस्कारो मूत्रपुरीषकुणपरेतसां प्राशने च' इति । यदप्यस्मिन्नेव विषये मनुनोक्तम् (११।१४६)—'अज्ञानाद्वारुणीं पीत्वा संस्कारेण विशुद्ध्यति' इति,–तदपि तप्तकृच्छ्रपूर्वकमेव गौतमवाक्यानुरोधात् । पुनःसंस्कारश्च पुनरुपनयनम् । तच्चाश्वलायनाद्युक्तक्रमेण कर्तव्यम् । यथोक्तम्—'अथोपेतपूर्वस्य कृताकृतं केशवपनं मेधाजननं चानिरुक्तं परिदानं कालश्च तत्सवितुर्वृणीमह इति सावित्रीम्' इति । मतिपूर्वमद्यपाने वसिष्ठोक्तं द्रष्टव्यम्—'मत्या मद्यपाने त्वसुरायाः सुरायाश्चाज्ञाने कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ घृतप्राशनं पुनः संस्कारश्च' इति । चान्द्रायणं वा शङ्खोक्तम्—'असुरामद्यपायी चान्द्रायणं चरेत्' इति । मुखमात्रप्रवेशे तु मद्यस्यापस्तम्बीयं षड्रात्रम्—'अभक्ष्याणामपेयानामलेह्यानां च भक्षणे । रेतोमूत्रपुरीषाणां प्रायश्चित्तं कथं भवेत् । पद्मोदुम्बरबिल्वानां पलाशस्य कुशस्य च । एतेषामुदकं पीत्वा षड्रात्रेण विशुद्ध्यति ॥' इति ।–एतच्च तालादिमद्यविषयम् । गौडीमाध्व्योः पुनरज्ञानतः पाने 'असुरायाः सुरायाश्चाज्ञानतः' इति वसिष्ठोक्तः कृच्छ्रातिकृच्छ्रसहितः पुनः संस्कारो घृतप्राशश्च द्रष्टव्यः । तयोर्मतिपूर्वपाने तु 'पिण्याकं वा कणान्वा' (प्रा० २५४) इति त्रैवार्षिकम् । कामतस्तु तत्पानाभ्यासे 'अभ्यासे तु सुराया अग्निवर्णां सुरां पिबेन्मरणात्पूतो भवति' इति वासिष्ठं मरणान्तिकं द्रष्टव्यम् । नात्र 'सुरा'शब्दः पैष्टयभिप्रायः; तस्याः सकृत्पानेऽपि मरणान्तिकस्य दर्शितत्वात् । मद्यवासितशुष्कभाण्डस्थोदकस्याज्ञानतः पाने बृहद्यमेनोक्तम्–'मद्यभाण्डस्थितं तोयं यदि कश्चित्पिबेद् द्विजः । कुशमूलविपक्केन त्र्यहं क्षीरेण वर्तयेत् ॥' इति । अज्ञानतोऽभ्यासे तु वसिष्ठेनोक्तम्—'मद्यभाण्डस्थितं तोयं यदि कश्चित्पिबेद् द्विजः । पद्मोदुम्बरबिल्वानां पलाशस्य कुशस्य च ॥ एतेषामुदकं पीत्वा त्रिरात्रेण विशुद्ध्यति ॥' इति । ज्ञानतः पाने तु विष्णूक्तम्—'मद्यभाण्डस्थितं तोयं पीत्वा पञ्चरात्रं शङ्खपुष्पीश्रृतं पयः पिबेत्' इति । ज्ञानतोऽभ्यासे तु शङ्खेनोक्तम्—'मद्यभाण्डस्थितं तोयं पीत्वा सप्तरात्रं गोमूत्रयावकं पिबेत्' इति । अत्यन्ताभ्यासे तु हारीतोक्तम्—'मद्यभाण्डस्थितं तोयं यदि कश्चित्पिबेद् द्विजः । द्वादशाहं तु पयसा पिबेद् ब्राह्मीं सुवर्चलाम् ॥' इति । एषु च वाक्येषु 'द्विज'ग्रहणं ब्राह्मणाभिप्रायम् ; क्षत्रियवैश्ययोरप्रतिषेधादिति दर्शितं प्राक् । इदं च गौडीमाध्वीभाण्डस्थजलपानविषयं गुरुत्वात्प्रायश्चित्तस्य । तालादिमद्यभाण्डोदकपाने तु कल्प्यम् ॥ २५५ ॥

भाषा—अज्ञान से सुरा, वीर्य, विष्ठा या मूत्र पीने पर तीनों द्विजाति वर्ण पुनः संस्कार करने योग्य हो जाते हैं । (सुरापान में पुनः संस्कार केवल ब्राह्मण का ही होता है) ॥ २५५ ॥

द्विजातिभार्यां प्रत्याह—

पतिलोकं न सा याति ब्राह्मणी या सुरां पिबेत् ।
इहैव सा शुनी गृध्री सूकरी चोपजायते ॥ २५६ ॥

या द्विजातिभार्या सुरां पिबति सा कृतपुण्याऽपि सती पतिलोकं न याति किंत्विहैव लोके श्वगृध्रसूकरलक्षितां तिर्यग्योनिं क्रमेण प्राप्नोति । 'ब्राह्मणी' ग्रहणं चात्र 'तिस्रो वर्णानुपूर्व्येण' (आ० ५७) इति न्यायेन यस्य द्विजातेर्यावत्यो भार्यास्तासामुपलक्षणम् । अत एव मनुः—'पतत्यर्धं शरीरस्य यस्य भार्या सुरां पिबेत् । पतितार्धशरीरस्य निष्कृतिर्न विधीयते ॥' इति । धर्मार्थकामेषु सहाधिकाराद्दम्पत्योरेकशरीरत्वमेव, अतो यस्य द्विजातेर्भार्या सुरां पिबति तस्य भार्यारूपमर्धं शरीरं पतति । पतितस्य च भार्यारूपस्यार्धशरीरस्य निष्कृतिर्न विधीयते । तस्माद् द्विजातिभार्यया ब्राह्मण्याद्यया न सुरा पेया । 'तस्माद् ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत्' इति निषेधविधौ लिङ्गस्याविवक्षितत्वेन वर्णत्रयभार्याणामपि प्रतिषेधे सिद्धे पुनर्वचनं द्विजातिभार्यायाः शूद्राया अपि सुराप्रतिषेधप्राप्त्यर्थम् । अतो द्विजातिभार्याभिः सुरापाने प्रायश्चित्तस्यार्धं कार्यम् ; शूद्रभार्यायास्तु शूद्रायाः शूद्रवदेव न प्रतिषेधः । सुरापानसमेषु तु निषिद्धभक्षणादिषु सुरापानप्रायश्चित्तार्धमित्युक्तं प्राक् ॥ २५६ ॥

भाषा—जो ब्राह्मणी स्त्री सुरापान करती है वह पतिलोक नहीं प्राप्त करती है; वह इसी लोक में कुतिया, गिद्धनी और सूकरी होकर जन्म लेती है ॥२५६॥

इति सुरापानप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

क्रमप्राप्तं सुवर्णस्तेयप्रायश्चित्तमाह—

ब्राह्मणस्वर्णहारी तु राज्ञे मुसलमर्पयेत् ।
स्वकर्म ख्यापयंस्तेन हतो मुक्तोऽपि वा शुचिः ॥ २५७ ॥

ब्राह्मणस्वामिकं सुवर्णं योऽपहरत्यसौ सुवर्णस्तेयं मया कृतमित्येवं स्वकर्म ख्यापयन् राज्ञे मुसलं समर्पयेत् । मुसलसमर्पणस्य दृष्टार्थत्वात्तेन मुसलेन राजा तं हन्यात् । तेन राज्ञा हतो मुक्तो वा शुद्धो भवति । 'अपहरण'शब्देन च समक्षं परोक्षं वा बलाच्चौर्येण वा क्रयादिस्वत्वहेतुं विना ग्रहणमुच्यते । 'मुसलं समर्पयेत्'इति यद्यपि सामान्येनोक्तं तथापि तस्य हननार्थत्वात् तत्समर्थस्यायोमयादेर्ग्रहणम् । अत एव मनुनोक्तम् (८।३१५)—स्कन्धेनादाय मुसलं लकुटं वापि खादिरम् । असिं चोभयतस्तीक्ष्णमायसं दण्डमेव वा ॥' इति । शङ्खेनाप्यत्र विशेष उक्तः (११।१००)—'सुवर्णस्तेनः प्रकीर्णकेश आर्द्रवासा आयसं

---

१. शक्तिं चोभयतस्तीक्ष्णामा ।

मुसलमादाय राजानमुपतिष्ठेत् 'इदं मया पापं कृतमनेन मुसलेन मां घातयस्व' इति स राज्ञा शिष्टः सन्पूतो भवति' इति । हननं चावृत्तिविधानाभावात्सकृदेव कार्यम् । अत एव मनुनोक्तम् (११।१००)—'ततो मुसलमादाय सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम्' इति । एवं सकृत्ताडनेन राज्ञा हतो मृतः शुद्धयेत्, मुक्तो वा मरणाज्जीवन्नपि विशुद्धयेदिति यावत् । तथा च संवर्तेनोक्तम्–'ततो मुसलमादाय सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम् । यदि जीवति स स्तेनस्ततः स्तेयाद्विशुद्धयति ॥' इति ॥ यथोक्तं ब्राह्मणवधे—'मृतकल्पः प्रहारार्तो जीवन्नपि विशुद्धयति' इति । नन्वताडित एव राज्ञा मुक्तः स्तेनः शुद्धयेदित्ययमर्थः कस्मान्नेष्यते ? उच्यते,–'अनघ्नन्नेनस्वी राजा' इति गौतमीये ताडनमकुर्वतो राज्ञो दोषाभिधानात् । भवतु राज्ञो दोषस्तथाप्यतिक्रान्तनिषेधेन राज्ञा स्नेहादिना मुक्तः स्तेनः कथं न शुद्धयेदिति चेत्,–उच्यते—एवं च सति अकारणिका शुद्धिरापतेत् । अथोच्यते—मोक्षोत्तरकालं द्वादशवार्षिकाद्यनुष्ठानेन शुद्धयङ्गीकरणान्नाकारणिकेति,—तदप्यसुन्दरम् ; मुक्तः 'शुचिः' इति मोक्षस्यैव शुद्धिहेतुत्वाभिधानात् । अतः प्राच्येव व्याख्या ज्यायसी । मुक्तो वा मरणाज्जीवन्नपि विशुद्धयेदिति यावत् । इदं च मरणान्तिकं सार्ववर्णिकस्यापहर्तुर्न तु ब्राह्मणस्यैव । ब्राह्मणस्वर्णहारीति नैमित्तिकवाक्ये विशेषानुपादानात् क्षत्रियादीनां च महापातकित्वाविशेषात्प्रायश्चित्तान्तरस्यानाम्नानाच्च । यत्पुनर्मानवे (११।९९)—'सुवर्णस्तेयकृद्विप्रः' इति 'विप्र'ग्रहणं तन्नरमात्रोपलक्षणम् । 'प्रायश्चित्तीयते नर' इति तस्यैव प्रकृतत्वात्, 'ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः' (मनुः ११।५४) इति निमित्तवाक्ये विशेषानुपादानाच्च । तत्सापेक्षनैमित्तिकवाक्ये 'सुवर्णस्तेयकृद्विप्रः' (११।९९) इत्यत्र श्रूयमाणमप्युपलक्षणमेव युक्तम् । यथा 'अभ्युदितेष्टयां यस्य हविः'इति वाक्ये 'तन्दुल'ग्रहणं हविर्मात्रस्य । इदं च राज्ञा हननं ब्राह्मणव्यतिरिक्तस्य; 'न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम्' (८ ३८०) इति मानवे ब्राह्मणवधस्य निषिद्धत्वात् । यदि कथंचिदतिक्रान्तनिषेधे राज्ञा हन्यते तथाऽपि शुद्धो भवति; 'वधेन शुद्धयति स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव वा' (मनुः ११।१००) इति ब्राह्मणस्यापि वधेन शुद्धयभिधानात् । नच 'तपसैव वा' इत्येवकारेण वधनिषेधः; तस्य केवलतपसाऽपि शुद्धयभिधानपरत्वात् । यदि वधो निषिद्धस्तर्हि 'तपसैव वा' इति विकल्पाभिधानमनुपपन्नम् । नच दण्डाभिप्रायं विकल्पाभिधानम् ; तस्यानिर्दिष्टत्वात् । किंच 'एकार्थास्तु विकल्पेरन्' इति न्यायेनैकार्थानामेव विकल्पो व्रीहियवयोरिव । नच दण्डतपसोरेकार्थत्वम् ; दण्डस्य दमनार्थत्वात्तपसश्च पापक्षयहेतुत्वात् । नच 'वधेन शुद्धयति स्तेन' इति सामान्यविषयेण वधेन ब्राह्मणस्तपसैव वेति विशिष्टविषयस्य तपसो विकल्पोपपत्तिः । नहि भवति 'ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां तक्रं कौण्डिन्याय च'

इति विकल्पस्तस्माद् द्वयोरपि सामान्यविषयत्वमेव। यद्वा क्षत्रियस्यापि न निषेधः; मनुना—'सुवर्णस्तेयकृद्विप्र' (११।९९) इत्यभिधाय—'गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम्।' (११।१००) इति सर्वनाम्ना प्रकृतब्राह्मणपरामर्शेनैव हननविधानात्—'न जातु ब्राह्मणं हन्यात्' इत्यस्य प्रायश्चित्तव्यतिरिक्तदण्डरूपहननविषयत्वेनाप्युपपत्तेः।—एतच्च मरणान्तिकं मतिपूर्वसुवर्णस्तेयविषयम्। 'मरणान्तिकं हि यत्प्रोक्तं प्रायश्चित्तं मनीषिभिः। यत्तु कामकृते पापे विज्ञेयं नात्र संशयः॥' इति मध्यमाङ्गिरःस्मरणात्। अत्र च 'सुवर्ण'शब्दः परिमाणविशिष्टहेमद्रव्यवचनो न जातिमात्रवचनः। 'जालसूर्यमरीचिस्थं त्रसरेणू रजः स्मृतम्। तेऽष्टौ लिक्षा तु तास्तिस्रो राजसर्षप उच्यते॥ गौरस्तु ते त्रयः षड्भिर्यवो माषस्तु ते त्रयः। कृष्णलः पञ्च ते माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश॥' इति षोडशमाषपरिमिते हेमनि 'सुवर्ण'शब्दस्य परिभाषितत्वात्। अतो 'ब्राह्मणसुवर्णापहरणं महापातकम्' इत्यादिप्रयोगेषु कृतपरिमाणस्यैव सुवर्णस्य ग्रहणं युक्तम्; परिमाणकरणस्य दृष्टार्थत्वात्। न ह्यदृष्टार्थपरिमाणस्मरणम्। नापि लोकव्यवहारार्थम्; अतत्परत्वात्स्मृतिकारप्रवृत्तेः। अत एवोक्तं न्यायविद्भिः—'कार्यकाले संज्ञापरिभाषयोरुपस्थानम्' इति। तथा नामानि गुणफलोपबन्धेनार्थवदित्युक्तं 'पञ्चदशान्याज्यानि' इत्यत्र। नच दण्डमात्रोपयोगिपरिमाणस्मरणमित्युक्तमिति युक्तम्; तावन्मात्रार्थत्वे प्रमाणाभावात्। अतोऽविशेषात्सर्वशेषत्वमेव युक्तम्। किंच, दण्डस्य दमनार्थत्वाद्दमनस्य च परिमाणविशेषमन्तरेणापि सिद्धेर्नातीव परिमाणस्मरणमुपयुज्यते। शब्दैकसमधिगम्ये तु महापातकित्वादावेकान्ततः स्मरणमुपयुज्यते। अतः षोडशमाषात्मकसुवर्णपरिमितहेमहरण एव महापातकित्वं तन्निमित्तं मरणान्तिकादिप्रायश्चित्तविधानं च। द्वित्रादिमाषात्मकहेमहरणं तु क्षत्रियादिहेमहरणवदुपपातकमेवेति युक्तम्। किंच, सुवर्णान्न्यूनपरिमाणहेमहरणे प्रायश्चित्तान्तरोपदेशात्तत्परिमाणस्यैव हेम्नो हरणे मरणान्तिकादिप्रायश्चित्तमिति युक्तम्। तथा चोक्तं षट्त्रिंशन्मते—'वालाग्रमात्रेऽपहृते प्राणायामं समाचरेत्। लिक्षामात्रेऽपि च तथा प्राणायामत्रयं बुधः॥ राजसर्षपमात्रे तु प्राणायामचतुष्टयम्। गायत्र्यष्टसहस्रं च जपेत्पापविशुद्धये॥ गौरसर्षपमात्रे च सावित्रीं वै दिनं जपेत। यवमात्रे सुवर्णस्य प्रायश्चित्तं दिनद्वयम्॥ सुवर्णकृष्णलं ह्येकमपहृत्य द्विजोत्तमः। कुर्यात्सान्तपनं कृच्छ्रं तत्पापस्यापनुत्तये॥ अपहृत्य सुवर्णस्य माषमात्रं [1]द्विजोत्तमः। गोमूत्रयावकाहारस्त्रिभिर्मासैर्विशुद्ध्यति॥ सुवर्णस्यापहरणे वत्सरं यावकी भवेत्। ऊर्ध्वं प्राणान्तिकं ज्ञेयमथवा ब्रह्महव्रतम्॥' इदं च वत्सरं यावकाशनं किंचिन्न्यूनसुवर्णापहारविषयम्; सुवर्णापहारे मन्वादिमहा-

---

१. द्विजाधमः।

स्मृतिषु द्वादशवार्षिकविधानात्। 'बलाद्ये कामकारेण गृह्णन्ति स्वं नराधमाः। तेषां तु बलहर्तॄणां प्राणान्तिकमिहोच्यते ॥' सुवर्णपरिमाणादर्वागपीत्यभिप्रेतम्। इदं च स्तेयप्रायश्चित्तमपहृतधनं तत्स्वामिने दत्त्वैव कार्यम्। 'स्तेये ब्रह्मस्वभूतस्य सुवर्णादेः कृते पुनः। स्वामिनेऽपहृतं देयं हर्त्रा त्वेकादशाधिकम् ॥' इति स्मरणात्। तथा—'चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं तन्निर्यात्यात्मशुद्धये' (११। १६४) इति मनुस्मरणाच्च। दण्डप्रकरणेऽप्युक्तम्—'शेषेऽप्येकादशगुणं दाप्यस्तस्य च तद्धनम्।' इति। यद्वाऽत्यशक्त्या राजा हन्तुमसमर्थस्तदा वसिष्ठोक्तं द्रष्टव्यम्—'स्तेनः प्रकीर्णकेशो राजानमभियाचेत्। ततस्तस्मै राजौदुम्बरं शस्त्रं दद्यात्तेनात्मानं प्रमापयेत् मरणात्पूतो भवतीति विज्ञायते' इति। औदुम्बरं ताम्रमयम्। यदपि द्वितीयं प्रायश्चित्तं तेनोक्तम्—'निष्कालको गोघृताक्तो गोमयाग्निना पादप्रभृत्यात्मानं प्रमापयेन्मरणात्पूतो भवतीति विज्ञायते' इति,—तदपि गुरुश्रोत्रिययागस्थादिविप्रद्रव्यापहारविषयं क्षत्रियाद्यपहर्तृविषयं वा। तत्र 'निष्कालक' इति निर्गतकेशश्मश्रुलोमाभिधीयते, तथाश्वमेधाद्यनुष्ठानेन वा। तथा प्रचेतसा मरणान्तिकमभिधायोक्तम्—'इष्ट्वा वाऽश्वमेधेन गोसवेन वा विशुद्ध्येत्' इति।—एतच्च विट्क्षत्रियाद्यपहर्तृविषयम् ॥ २५७ ॥

भाषा—ब्राह्मण का सोना चुराने वाला अपने कर्म को बतलाते हुए राजा के हाथ में मूसल दे; राजा द्वारा (मूसल से) मारे जाने पर अथवा मुक्त कर दिये जाने पर भी वह शुद्ध हो जाता है ॥ २५७ ॥

प्रायश्चित्तान्तरमाह—

अनिवेद्य नृपे शुद्ध्येत्सुरापव्रतमाचरन्।
आत्मतुल्यं सुवर्णं वा दद्याद्वा विप्रतुष्टिकृत् ॥ २५८ ॥

स्वीयं स्तेयं राजन्यनिवेद्य सुरापव्रतं द्वादशवार्षिकमाचरन् शुद्ध्येत्। शवशिरोध्वजे तत्कपालधारणनिराकरणार्थं सुरापव्रतमित्युक्तम्।—एतच्चाकामकारविषयम्; 'इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याकामतो द्विजम्' (मनुः ११।८९)—इत्यकामतो विहितस्यैव द्वादशवार्षिकस्यातिदेशात्। नन्वकामतोऽपहार एव न संभवतीति कथं तद्विषयत्वम्? उच्यते,—यदा वस्त्रप्रान्तग्रथितं सुवर्णादिकमज्ञानादपहरति रजतादिद्रव्यान्तरबुद्ध्या वा हृत्वाऽनन्तरमेवान्यस्मै दत्तं नाशितं वा न पुनः स्वामिने प्रत्यर्पितं तदा संभवत्येवाकामतोऽपहारः। यस्तु ताम्रादिकस्य रसवेधाद्यापादितसुवर्णरूपस्यापहारो न तत्रेदं प्रायश्चित्तम्। मुख्यजातिसमवायाभावात्। नच मुख्यसादृश्यमात्रेण गौणे मुख्यधर्मा भवन्ति। यद्यपीदृशमेवासुवर्णं सुवर्णभ्रान्त्यापहरति, तथाऽपि नेदं प्रायश्चित्तम्। असुवर्णा-

---

१. तन्निर्दाप्यात्मशुद्धये। २. द्वे विप्रतुष्टिदम्।

पहारित्वादेव। नच 'मृष्टश्चेद् ब्राह्मणवधे अहत्वाऽपी'तिवदत्रापि दोष इति वाच्यम्, असुवर्णे प्रवृत्तत्वादेव। न ह्यब्राह्मणः सृष्टश्चेदित्यस्य विषयः। यच्चेदं 'मनसा पापं ध्यात्वा प्रणवपूर्वकं व्याहृतीर्मनसा जपेत्। व्याहृत्या प्राणायामं त्रिराचरेत्। प्रवृत्तौ कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरेत्' इति,-तदपि सम्यगर्थप्रवृत्तिविषयम्। अतो नेदृशमज्ञानतः स्वर्णापहारः प्रायश्चित्तस्य निमित्तं, किंतु रजतादिबुद्ध्या पूर्वोक्त एव स्वर्णापहारः। अस्मिन्नेव विषये यदाऽपहर्ताऽत्यन्तमहाधनः तदात्मतुलितं सुवर्णं दद्यात्। अथ तावद्धनं नास्ति तपश्चर्यायां चाशक्तस्तदा विप्रतुष्टिकृद्विप्रस्य यावज्जीवं कुटुम्बभरणपर्याप्ततया तुष्टिकरं धनं दद्यात्। यदा तु निर्गुणस्वामिकं द्रव्यमपहरति, तदा 'एतदेव व्रतं स्तेनः पादन्यूनं समाचरेत्' इति व्यासेनोक्तं नववार्षिकं द्रष्टव्यम्। यदा पुनरीदृशमेव क्षुत्क्षामकुटुम्बपरिरक्षणार्थमपहरति तदा अत्रिप्रतिपादितं षड्वार्षिकं 'स्वर्जिदादिं वा क्रतुं कुर्यात्तीर्थयात्रां वा', 'षडब्दं वाचरेत्कृच्छ्रं यजेद्वा क्रतुना द्विजः। तीर्थानि वा अमन्विद्वांस्ततः स्तेयाद्विमुच्यते ॥' इति। यदा त्वपहारसमनन्तरमेव हा कष्टं मया कृतमिति जातानुतापः प्रत्यर्पयति त्यजति वा तदापस्तम्बीयं चतुर्थकालमिताशनेन त्रिवर्षमवस्थानमाङ्गिरसं वा वज्राख्यं त्रैवार्षिकं द्रष्टव्यम्। ननु प्रत्यर्पणे त्यागे वाऽपहारधात्वर्थस्य निष्पन्नत्वात्कथं प्रायश्चित्ताल्पत्वम्? अथानिष्पन्नस्तदा प्रायश्चित्ताभाव एव स्यान्नतु प्रायश्चित्ताल्पत्वम्,-मैवम्; अपहारस्योपभोगादिफलपर्यन्तत्वादुपभोगात्प्राङ्निवृत्तौ च पुष्कलस्यापहारार्थस्याभावाद्युक्तमेव प्रायश्चित्ताल्पत्वं पीतवान्त इवापेयद्रव्ये। नन्वेवं सति चौरहस्ताद्बलादाकृष्य ग्रहणेऽपि तस्योपभोगलक्षणफलाभावात्प्रायश्चित्ताल्पत्वप्रसङ्गः। मैवम्; तस्य त्यागे स्वतःप्रवृत्त्यभावात्, फलपर्यन्तेऽपहारे स्वतः प्रवृत्तत्वाच्च। यस्तु रजतताम्रादिसंसृष्टसुवर्णापहारी, न तत्रेदं लघुप्रायश्चित्तम्; यतः संसर्गेऽपि सुवर्णत्वं नापैति आज्यत्वमिव पृषदाज्ये। अतस्तत्र द्वादशवार्षिकमेवेति युक्तम्। अथ सुवर्णसदृशं द्रव्यान्तरमेवेति लघुप्रायश्चित्तमुच्यते। तर्हि न तरां तत्र त्रैवार्षिकादिलघुप्रायश्चित्तादिविषयता असुवर्णत्वादेव, किंतूपपातकप्रायश्चित्तमेव। यदप्यपरमापस्तम्बोक्तम्—'स्तेयं कृत्वा सुरां पीत्वा कृच्छ्रं सांवत्सरं चरेत्' इति,-तत्सुवर्णपरिमाणादर्वाङ्माषाच्चाधिकपरिमाणद्रव्यविषयम्। यत्तूक्तं सुमन्तुना—'सुवर्णस्तेयी मासं सावित्र्याऽष्टसहस्रमाज्याहुतीर्जुहुयात्। प्रत्यहं त्रिरात्रमुपवासं तप्तकृच्छ्रेण च पूतो भवति' इति, तत्पूर्वोक्तमाषपरिमाणसुवर्णापहारप्रायश्चित्तेन सह विकल्प्यते। यदप्यपरं तेनैवोक्तम्—'सुवर्णस्तेयी द्वादशरात्रं वायुभक्षः पूतो भवति'इति,-तन्मनसापहारे प्रवृत्तस्य स्वत एवोपरतापजिहीर्षस्य वेदितव्यम्। अत्रापि स्त्रीबालवृद्धादिष्वर्धमेव प्रायश्चित्तं वेदितव्यम्। यानि

१. न तर्ह्यनन्तरम्।

च 'अश्वरत्नमनुष्यस्त्रीभूधेनुहरणं तथा' इत्यादिना सुवर्णस्तेयसमत्वेन प्रतिपादितानि, तेष्वर्धमेव कार्यम् । यत्पुनश्चतुर्विंशतिमतवचनम्—'रूप्यं हृत्वा द्विजो मोहा[1]च्चरेच्चान्द्रायणव्रतम् । गद्याणदशकादूर्ध्वमाशताद् द्विगुणं चरेत् ॥ आ सहस्रात्तु त्रिगुणमूर्ध्वं हेमविधिः स्मृतः । सर्वेषां धातुलोहानां पराकं तु समाचरेत् ॥ धान्यानां हरणे कृच्छ्रं तिलानामैन्दवं स्मृतम् । रत्नानां हरणे विप्रश्चरेच्चान्द्रायणव्रतम् ॥' इति,—तदपि गद्याणसहस्राधिकरजतहरणे सुवर्णस्तेयसमप्रायश्चित्तप्रतिपादनार्थं न पुनस्तन्निवृत्त्यर्थम् । यदपि रत्नापहारे चान्द्रायणमुक्तं, तदपि गद्याणसहस्राद्धीनमूल्यरत्नापहारे द्रष्टव्यम् । ऊर्ध्वं पुनः सुवर्णस्तेयसमम् ॥२५८॥

भाषा—यदि राजा से निवेदन नहीं करता है तो सुरापान करने वाले महापातकी के लिये विहित व्रत का आचरण करते हुए अपने बराबर या जितने से ब्राह्मण सन्तुष्ट हो जाय उतना सोना दान देनेपर पातक से शुद्ध हो जाता है ॥ २५८ ॥

इति सुवर्णस्तेयप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

उद्देशक्रमप्राप्तं गुरु[2]तल्पप्रायश्चित्तमाह—

तप्तेऽयःशयने सार्धमायस्या योषिता स्वपेत्[3] ।
गृहीत्वोत्कृत्य वृषणौ नैर्ऋत्यां चोत्सृजेत्तनुम् ॥ २५९ ॥

'समा वा गुरुतल्पग' (प्रा० २६०) इति वक्ष्यमाणश्लोकगतं गुरुतल्पगपदमत्र संबध्यते । तप्तेऽयःशयने यथा मरणक्षमं भवति तथा तप्ते अग्निवर्णे कृते कार्ष्णायसे शयने अयोमय्या स्त्रीप्रतिकृत्या तप्तया सह गुरुतल्पगः स्वप्यात् । एवं सुप्त्वा तनुं देहम् उत्सृजेत्, म्रियेतेति यावत् । शयनं च 'गुर्वङ्गनागमनं मया कृतम्' इत्येवं स्वकर्म विख्याप्य कुर्यात्; 'गुरुतल्प्यभिभाष्यैनः' (११। १०३)—इति मनुस्मरणात् । तथा स्त्रियमालिङ्ग्य कार्यम्—'गुरुतल्पगो मृन्मयीमायसीं वा स्त्रियः प्रतिकृतिमग्निवर्णां कृत्वा कार्ष्णायसशयने (अयोमय्या स्त्रीप्रतिकृत्या कृत्वा) तामालिङ्ग्य पूतो भवति' इति वृद्धहारीतस्मरणात् । तथा मुण्डितलोमकेशेन घृताभ्यक्तेन च कर्तव्यम्—'निष्कालको घृताभ्यक्तस्तप्तां तां सूर्मीं मृन्मयीं वा परिष्वज्य मरणात्पूतो भवतीति विज्ञायते' इति वसिष्ठस्मरणात् । न च (११।१०३)—'गुरुतल्प[4]भिभाष्यैनस्तप्ते स्वप्यादयोमये । सूर्मीं ज्वलन्तीं स्वाश्लिष्येन्मृत्युना स विशुद्ध्यति ॥' इति मनुवाक्यानुरोधेन तप्तलोहशयनं तप्तलोहयोषिदालिङ्गनं च निरपेक्षप्रायश्चित्तद्वयमित्याशङ्कनीयम् । आयस्या योषिता स्वपेत् । कुत्रेत्याकाङ्क्षायां तप्तेऽयःशयन इति परस्परसापेक्ष-

1. लोभात् । 2. गुरुतल्पगमन । 3. सुप्यादायस्या । 4. तल्पोऽभिभाष्यैनः ।

तयैकत्वावगमादेककल्पत्वमेव युक्तम् । अथवा वृषणौ सलिङ्गौ स्वयमुत्कृत्य छित्त्वाऽञ्जलिना गृहीत्वा नैर्ऋत्यां दक्षिणप्रतीच्यां दिशि देहपातान्तमकुटिलगतिर्गत्वा तनुमुत्सृजेत् । यथाह मनुः (११।१०४)—'स्वयं वा शिश्नवृषणावुत्कृत्याधाय चाञ्जलौ । नैर्ऋतीं दिशमातिष्ठेदानिपातादजिह्मगः ॥' इति । गमनं पृष्ठतोऽनीक्षमाणेन कर्तव्यम् ; 'क्षुरेण शिश्नवृषणावुत्कृत्यानवेक्षमाणो व्रजेत्' इति शङ्खलिखितस्मरणात् । एवं गच्छन् यत्र कुड्यादिना प्रतिबध्यते तत्रैव मरणान्तं तिष्ठेत् । 'सवृषणं शिश्नमुत्कृत्याञ्जलावाधाय दक्षिणाभिमुखो गच्छेद्यत्रैव प्रतिहतस्तत्रैव तिष्ठेदाप्रलयात्' (२०।१३) इति वसिष्ठस्मरणात् । दण्डोऽप्ययमायमेव । यथाह नारदः (१२।७५)—'आसामन्यतमां गच्छन्गुरुतल्पग उच्यते । शिश्नस्योत्कर्तनात्तत्र नान्यो दण्डो विधीयते ॥' एवं दण्डार्थमपि लिङ्गाद्युत्कर्तनं पापक्षयार्थमपि भवति । इदमेव मरणान्तिकदण्डमभिप्रेत्योक्तं मनुना (८।३१८)—'राजभिर्धृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः । निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥' इति । धनदण्डेन पुनः प्रायश्चित्तं भवत्येव ; 'प्रायश्चित्तं तु कुर्वाणाः सर्वे वर्णा यथोदितम् । नाङ्क्या राज्ञा ललाटे स्युर्दाप्यास्तूत्तमसाहसम् ॥' (९।२४०) इति तेनैवोक्तत्वात् । अनयोश्च मरणान्तिकयोरन्यतरानुष्ठानेन गुरुतल्पगः शुद्ध्येत् । 'गुरु'शब्दश्चात्र मुख्यया वृत्त्या पितरि वर्तते ; 'निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि । संभावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥' (२।१४२) इति मनुना गुरुत्वप्रतिपादनपरे वाक्ये निषेकादिकर्तुर्जनकस्यैव गुरुत्वाभिधानात् । योगीश्वरेण च निषेकादिकर्माभिप्रायेणोक्तम् । 'स गुरुर्यः क्रियां कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति' (आ० ३४) इति । ननु 'गुरु'शब्दस्यान्यत्रापि प्रयोगो दृश्यते । 'उपनीय गुरुः शिष्यम्'इत्यादिनाचार्ये (मनुः २।१४९)—'स्वल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः । तमपीह गुरुं विद्यात्' इत्युपाध्याये । व्यासेनाप्यन्यत्र प्रयोगो दर्शितः—'गुरवो मातृपितृपत्न्याचार्यविद्यादातृज्येष्ठभ्रातर ऋत्विजो भयत्रातान्नदाता च' इति । न चानेकार्थकल्पनादोषः; 'गुरु'शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तभूतायाः पूजार्हतायाः सर्वत्रानुस्यूतेः । दर्शितं च तस्याः प्रवृत्तिनिमित्तत्वं योगीश्वरेण (आ० ३५)—'एते मान्या यथापूर्वमेभ्यो माता गरीयसी' इति 'मान्या' इत्युपक्रम्य 'गरीयसी' इत्युपसंहारं कुर्वता । नच 'उपाध्यायाद्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता' (मनुः २।१४५) इत्युपाध्यायादधिकाचार्यात्पितुरतिशयितत्ववचनात्स एव मुख्य इति वाच्यम् ; आचार्येऽप्यतिशयितत्वस्याविशिष्टत्वात् । 'उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता' (मनुः २।१४६)—इति गौतमेनाप्युक्तम् (२।५०)—'आचार्यः श्रेष्ठो गुरूणाम्' इति । किंच, यद्यतिशयितत्वमात्रेण मुख्यत्वमुच्यते तर्हि 'सहस्रम्' इति वचनान्मातुरेव गुरुत्वं स्यात् । तस्मात्सर्वे गुरवस्तत्पत्नी-

गमनं गुर्वङ्गनागमनमिति युक्तम् । उच्यते,—'निषेकादीनि' (२।१४२) इति मनुवचनं निषेकादिकर्तुर्जनकस्य गुरुत्वप्रतिपादनपरम् ; अनन्यपरत्वात् । यत्पुनर्व्यासगौतमवचनं, तत्परिचर्यापूजादिविधिशेषतया स्तुत्यर्थत्वेनान्यपरम् । अतो गुरुत्वप्रतिपादनपरान्निषेकादीति मनुवचनात्पितुरेव मुख्यं गुरुत्वमिति स्थितम् । अत एव वसिष्ठेन (२०।१५)—'आचार्यपुत्रशिष्यभार्यासु चैवम्' इत्याचार्यदारेष्वातिदेशिकं गुरुतल्पप्रायश्चित्तमुक्तम् । तथा जातूकर्ण्यादिभिरप्युक्तम्—'आचार्यादेस्तु भार्यासु गुरुतल्पव्रतं चरेत्' इत्यादि । आचार्यादेर्मुख्यगुरुत्वे तूपदेशत एव व्रतप्राप्तेरतिदेशोऽनर्थक एव स्यात् । किंच,—संवर्तेन स्पष्टमेव पितृदारग्रहणं कृतम्—'पितृदारान्समारुह्य मातृवर्ज्यं नराधमः' इति । षट्त्रिंशन्मतेऽपि—'पितृभार्यां तु विज्ञाय सवर्णां योऽधिगच्छति' इति । अतोऽपि निषेकादिकर्ता पितैव मुख्यो गुरुः । तच्च गुरुत्वं वर्णचतुष्टयेऽप्यविशिष्टम् ; निषेकादिकर्तृत्वस्याविशेषात् । अतः–'स विप्रो गुरुरुच्यते' इति 'विप्र'ग्रहणमुपलक्षणम् । अतः पितृपत्नीगमनमेव महापातकम् । गमनं च चरमधातुविसर्गपर्यन्तं कथ्यते । अतस्ततोऽर्वाङ्निवृत्तौ न महापातकित्वम् । तत्र चेदं 'तप्तेऽयःशयने सार्धमायस्या' सार्धमायस्या' इत्याद्युक्तं मरणान्तिकं प्रायश्चित्तद्वयम् ।–तच्च जनन्यामकामकृते, तत्सपत्न्यां तु सवर्णायामुत्तमवर्णायां कामकृते द्रष्टव्यम् । 'पितृभार्यां तु विज्ञाय सवर्णां योऽधिगच्छति । जननीं चाप्यविज्ञाय नामृतः शुद्धिमाप्नुयात् ॥' इति षट्त्रिंशन्मतेऽभिधानात् । जनन्यां तु कामकृते वासिष्ठं 'निष्कालको घृताभ्यक्तो गोमयाग्निना पादप्रभृत्यात्मानमवदाहयेत्' इति द्रष्टव्यम् । अकामतोऽभ्यासेऽप्येतदेव । ननु च 'मातुः सपत्नीं भगिनीमाचार्यतनयां तथा । आचार्यपत्नीं स्वसुतां गच्छंस्तु गुरुतल्पगः ॥' (प्रा० २३२) इत्यतिदेशाभिधानान्मातृसपत्नीगमने त्वौपदेशिकं प्रायश्चित्तमयुक्तम् । उच्यते,—'पितृभार्यां सवर्णाम्' इत्यस्मादेव वचनात्सवर्णग्रहणाद्धीनवर्णसपत्नीविषयमिदमातिदेशिकमिति न विरोधः । इदं च मुख्यस्यैव पुत्रस्य । इतरेषां पुनः पुत्रकार्यकरत्वमेव न पुत्रत्वम् । यथाह मनुः (९।१८०)—'क्षेत्रजादीन्सुतानेतानेकादश यथोचितान् । पुत्रप्रतिनिधीनाहुः क्रियालोपान्मनीषिणः ॥' इति । तत्रोभयेच्छातः प्रवृत्तौ 'तप्तेऽयःशयने' इति प्रथमं प्रायश्चित्तम् । स्वेन प्रोत्साहने तु 'गृहीत्वोत्कृत्य वृषणौ' इति द्वितीयम् ; अनुबन्धातिशयेन प्रायश्चित्तगुरुत्वस्योक्तत्वात्[1] । तया प्रोत्साहितस्य तु मानवं तप्तलोहशयनज्वलत्सूर्मालिङ्गनयोरन्यतरं द्रष्टव्यम् । यत्तु शङ्खेन द्वादशवार्षिकमुक्तम्—'अधःशायी जटाधारी पर्णमूलफलाशनः । एककालं समश्नीत[2] वर्षे तु द्वादशे गते ॥ रुक्मस्तेयी सुरापश्च ब्रह्महा गुरुतल्पगः । व्रतेनैतेन शुद्ध्यन्ति महा-

१. गुरुत्वस्येष्टत्वात् । २. समश्नन्वै ।

पातकिनस्त्विमे ॥' इति,–तत्समवर्णोत्तमवर्णपितृदारगमने अकामकृते वा द्रष्टव्यम्। तत्रैव कामतः प्रवृत्तस्य रेतःसेकात् प्राङ्निवृत्तौ षड्वार्षिकम्; अकामतस्तु त्रैवार्षिकम्। जनन्यां तु कामतः प्रवृत्तस्य रेतःसेकात्प्राङ्निवृत्तौ द्वादशवार्षिकम्। अकामतस्तु षड्वार्षिकमिति कल्प्यम्। यत्तु संवर्तेन—'पितृदारान्समारुह्य मातृवर्ज्यं नराधमः' इत्यादिना समारोहणमात्रे तप्तकृच्छ्र उक्तः, स हीनवर्णगुरुदारेषु रेतःसेकादर्वाग्द्रष्टव्यः ॥ २५९ ॥

भाषा—गुरु-पत्नी का भोग करने वाला तप्त होकर लाल बनी हुई लोहे की शय्या पर जलती हुई लोहे की स्त्रीमूर्ति के साथ सोवे, अथवा लिङ्ग और अण्डकोष को काटकर हाथ में लेकर नैर्ऋत्य दिशा को चलता-चलता शरीर त्याग दे (तो शुद्ध होता है) ॥ २५९ ॥

प्रायश्चित्तान्तरमाह—

प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रं समा वा गुरुतल्पगः।
चान्द्रायणं वा त्रीन्मासानभ्यसेद्वेदसंहिताम् ॥ २६० ॥

अथवा प्राजापत्यं कृच्छ्रं वक्ष्यमाणलक्षणं समाः वर्षत्रयं चरेत्। एतच्च ब्राह्मणीपुत्रस्य शूद्रजातीयगुरुभार्यागमने मतिपूर्वे द्रष्टव्यम्। यदा तु गुरुपत्नीं सवर्णां व्यभिचारिणीमबुद्धिपूर्वं गच्छति तदा वेदजपसहितं चान्द्रायणत्रयं कुर्यात्। तत्रैव कामतः प्रवृत्तावौशनसं–'गुरुतल्पाभिगामी संवत्सरं ब्रह्महव्रतं षण्मासान्वा तप्तकृच्छ्रं चरेत्' इति। क्षत्रियागमने तु मतिपूर्वे याज्ञवल्कीयं (प्रा० २३२)—'मातुः सपत्नीं भगिनीमाचार्यतनयां तथा'.इति गुरुतल्पव्रतातिदेशान्नववार्षिकम्। इदं चातिदेशिकं सवर्णगुरुभार्यागमनविषयं न भवति; तत्र कामतो मरणान्तिकस्याकामतो द्वादशवार्षिकस्य विहितत्वात्। अतः क्षत्रियादिविषयमेवेति युक्तम्। तत्रैव कामतोऽभ्यासे मरणान्तिकम्; 'मत्या गत्वा पुनर्भार्यां गुरोः क्षत्रसुतां द्विजः। अण्डाभ्यां रहितं लिङ्गमुत्कृत्य स मृतः शुचिः ॥' इति कण्वस्मरणात्। अत्रैव विषये प्रायश्चित्तं यदा न चिकीर्षति तदा 'छित्वा लिङ्गं वधस्तस्य सकामायाः स्त्रियास्तथा' इति याज्ञवल्कीयो वधदण्डः प्रायश्चित्तस्थाने द्रष्टव्यः। वैश्यायां तु गुरुभार्यायां कामतो गमने षड्वार्षिकम्। अत एव स्मृत्यन्तरम्—ब्राह्मणीपुत्रस्य क्षत्रियायां मातरि गमने पादहान्या द्वादशवार्षिकम्। एवमन्यवर्णास्वपि। अयमर्थः–ब्राह्मणीपुत्रस्य क्षत्रियायां मातुः सपत्न्यां गमने पादन्यूनं द्वादशवार्षिकं, नववार्षिकमिति यावत्। तस्यैव तथाभूतायां वैश्यायां षड्वार्षिकम्; शूद्रायां तु त्रैवार्षिकं प्रायश्चित्तमिति। एवं क्षत्रियापुत्रस्य वैश्यायां मातरि नववार्षिकम्; शूद्रायां तु षड्वार्षिकम्। एवमेव वैश्यापुत्रस्यापीति; वैश्यायां तु कामतोऽ-

१. समाम्।

भ्यासे मरणान्तिकमेव; 'गुरोर्भार्यां तु यो वैश्यां मत्या गच्छेत्पुनः पुनः। लिङ्गाग्रं छेदयित्वा तु ततः शुद्ध्येत्स किल्बिषात् ॥' इति लौगाक्षिस्मरणात्। शूद्रायां तु कामतोऽभ्यासे द्वादशवार्षिकम्; 'पुनः शूद्रां गुरोर्गत्वा बुद्ध्या विप्रः समाहितः। ब्रह्मचर्यमदुष्टात्मा संचरेद् द्वादशाब्दिकम् ॥' इत्युपमन्युस्मरणात्। क्षत्रियायां तु गुरुभार्यायामबुद्धिपूर्वगमने यमोक्तं त्रैवार्षिकमष्टमकालाशनं द्रष्टव्यम्। 'कालेऽष्टमे वा भुञ्जानो ब्रह्मचारी सदा व्रती। स्थानासनाभ्यां विहरंस्त्रिरह्नोऽभ्युपयन्नपः। अधःशायी त्रिभिर्वर्षैस्तदपोहेत पातकम् ॥' इति। अत्रैवाभ्यासे जातूकर्ण्योक्तं—'गुरोः क्षत्रसुतां भार्यां पुनर्गत्वा स्वकामतः। अण्डमात्रं समुत्कृत्य शुद्ध्येज्जीवन्मृतोऽपि वा ॥' इति। वैश्यायां स्वकामतो गमने 'प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रम्' (प्रा० २६०) इत्येतदेव याज्ञवल्कीयम्। तथा च वृद्धमनुः—'गमने गुरुभार्यायाः पितृभार्यागमे तथा। अब्दत्रयमकामात्तु कृच्छ्रं नित्यं समाचरेत् ॥' इति। तत्रैवाभ्यासे हारीतोक्तं मरणान्तिकं ब्रह्मचर्यम्—'अध्यस्य विप्रो वैश्यायां गुरोरज्ञानमोहितः। षडङ्गं ब्रह्मचर्यं च स चरेद्यावदायुषम् ॥' इति। गुरुभार्यायां शूद्रायां स्वमतिपूर्वे मानवम् (११।१०५)—'खट्वाङ्गी चीरवासा वा श्मश्रुलो विजने वने। प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रमब्दमेकं समाहितः ॥' इति। अथवा 'गुरुदाराभिगामी संवत्सरं कण्टकिनीं शाखां परिष्वज्याधःशायी त्रिषवणी भैक्षाहारः पूतो भवति' इति सुमन्तूक्तं कुर्यात्। तत्रैवाभ्यासे मानवम् (११।१०६)—'चान्द्रायणं वा त्रीन्मासानभ्यसेन्नियतेन्द्रियः' इति। क्षत्रियायां कामतः प्रवृत्तस्य रेतःसेकादर्वाङ्निवृत्तौ व्याघ्रोक्तम्—'कृच्छ्रं चैवातिकृच्छ्रं च तथा कृच्छ्रातिकृच्छ्रकम्। चरेन्मासत्रयं विप्रः क्षत्रियागमने गुरोः ॥' इति। अत्रेयं व्यवस्था-तया प्रोत्साहितस्य त्रैमासिकं प्राजापत्यचरणम्। उभयेच्छातः प्रवृत्तस्यातिकृच्छ्रचरणं तावदेव। स्वेन प्रोत्साहितायां पुनःकृच्छ्रातिकृच्छ्रानुष्ठानं च तावदेवेति। तत्रैव कामतः प्रवृत्तस्य रेतःसेकात्पूर्वं कण्वोक्तं द्रष्टव्यम्—'चान्द्रायणं तप्तकृच्छ्रमतिकृच्छ्रं तथैव च। सकृद्गत्वा गुरोर्भार्यामज्ञानात्क्षत्रियां द्विजः ॥' इति। तथा प्रोत्साहितस्यातिकृच्छ्रः, उभयेच्छातः प्रवृत्तस्य तप्तकृच्छ्रः, स्वेन प्रोत्साहितायां तु चान्द्रायणम्। वैश्यायां कामतः प्रवृत्तस्य रेतःसेकात्पूर्वं निवृत्तौ कण्वोक्तम्—'तप्तकृच्छ्रं पराकं च तथा सान्तपनं गुरोः। भार्यां वैश्यां सकृद्गत्वा बुद्ध्या मासं चरेद् द्विजः ॥' इति। अत्रोभयोरिच्छातः प्रवृत्तौ तप्तकृच्छ्रः, स्वेन प्रोत्साहितायां पराकः, तया प्रोत्साहितस्य सान्तपनम्। अत्रैवाकामतः प्रवृत्तस्य प्रजापतिराह—'पञ्चरात्रं तु नाश्नीयात्सप्ताष्टौ वा तथैव च। वैश्यां भार्यां गुरोर्गत्वा सकृदज्ञानतो द्विजः ॥' इति। तथा प्रोत्साहितस्य तु पञ्चरात्रम्। उभयेच्छातः प्रवृत्तौ सप्तरात्रम्। स्वेन प्रोत्साहितायामष्टरात्रम्। शूद्रायां तु कामतः प्रवृत्तस्य रेतःसेकात्पूर्वं निवृत्तौ जाबालिराह—'अतिकृच्छ्रं तप्तकृच्छ्रं पराकं वा तथैव च। गुरोः

शूद्रां सकृद्गत्वा बुद्ध्या विप्रः समाचरेत् ॥' इति । तथा प्रोत्साहितस्यातिकृच्छ्रः, उभयेच्छातः प्रवृत्तौ तप्तकृच्छ्रः, स्वेन प्रोत्साहितायां पराकः । तत्रैवाकामतः प्रवृत्तस्य दैर्घतमसम्–'प्राजापत्यं सान्तपनं सप्तरात्रोपवासकम् । गुरोः शूद्रां सकृद्गत्वा चरेद्विप्रः समाहितः ॥' इति । तथा प्रोत्साहितस्य प्राजापत्यम् । उभयोरिच्छातः प्रवृत्तौ सान्तपनम् । स्वेन प्रोत्साहितायां सप्तरात्रोपवास इति । अनयैव दिशाऽन्येषामपि स्मृतिवचसां विषयव्यवस्थोहनीया । पुरुषवच्च स्त्रीणामप्यत्र महापातकित्वमविशिष्टम् । तथा हि कात्यायनः—'एवं दोषश्च शुद्धिश्च पतितानामुदाहृता । स्त्रीणामपि प्रसक्तानामेष एव विधिः स्मृतः ॥' इति । अतस्तस्या अपि कामतः प्रवृत्तौ मरणान्तिकमविशिष्टम् । अत एव पुरुषस्य मरणान्तिकमुक्त्वा स्त्रिया अपि योगीश्वरेण मरणान्तिकं दर्शितम् (प्रा० २३३)—'छित्त्वा लिङ्गं वधस्तस्य सकामायाः स्त्रियास्तथा' इति । अकामतस्तु मनुनोक्तम्—(११।१८८) 'एतदेव व्रतं कार्यं योषित्सु पतितास्वपि' इति । द्वादशवार्षिकमे[1]वार्धकल्पनया कार्यम् । यानि पुनर्गुरुतल्पसमानि–'सखिभार्याकुमारीषु स्वयोनिष्वन्त्यजासु च । सगोत्रासु सुतस्त्रीषु गुरुतल्पसमं स्मृतम् ॥' इति प्रतिपादितानि, यानि चातिदेशविषयभूतानि 'पितुः स्वसारं मातुश्च मातुलानीं स्नुषामपि । मातुः सपत्नीं भगिनीमाचार्यतनयां तथा ॥ आचार्यपत्नीं स्वसुतां गच्छंस्तु गुरुतल्पगः ॥' इति प्रतिपादितानि,-तेष्वेकरात्राद[2]ूर्ध्वमकामतोऽभ्यस्तेषु यथाक्रमेण षड्वार्षिकं नववार्षिकं च प्रायश्चित्तं विज्ञेयम् । अस्मिन्नेव विषये कामतोऽत्यन्ताभ्यासे मरणान्तिकम् । तथा च बृहद्यमः–'रेतः सिक्त्वा कुमारीषु स्वयोनिष्वन्त्यजासु च । सपिण्डापत्यदारेषु प्राणत्यागो विधीयते ॥' इति । अन्त्यजाश्चात्र–'चण्डालः श्वपचः क्षत्ता सूतो वैदेहिकस्तथा । मागधायोगवौ चैव सप्तैतेऽन्त्यावसायिनः ॥' इति मध्यमाङ्गिरोदर्शिता ज्ञातव्याः । नतु 'रजकश्चर्मकारश्च' इत्यादिप्रतिपादिताः; तेषु लघुप्रायश्चित्तस्योक्तत्वात् । तथा—'चाण्डालान्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च । पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात्साम्यं तु गच्छति ॥' (११।१७५) इति चाण्डालादिसाम्यं प्रतिपादयता मनुनाऽपि कामतोऽत्यन्ताभ्यासे मरणान्तिकं दर्शितम् । तथा हि–अज्ञानतश्चाण्डालीगमनाभ्यासे पतति, अतः पतितप्रायश्चित्तं द्वादशवार्षिकं कुर्यात् । कामतोऽत्यन्ताभ्यासे चण्डालैः साम्यं गच्छति । अतो द्वादशवार्षिकाधि[3]कं मरणान्तिकं कुर्यात् ।–एतच्च बहुकालाभ्यासविषयम् । एकरात्राभ्यासे तु वर्षत्रयम् । यथाह मनुः (११।१७८)—'यत्करोत्येकरात्रेण वृषलीसेवनाद् द्विजः । तद्भैक्ष्यभुग्जपन्नित्यं त्रिभिर्वर्षैर्व्यपोहति ॥' इति । अत्र 'वृषली'शब्देन चण्डाल्यभिधीयते—'चण्डाली बन्धकी वेश्या रजःस्था या च कन्यका । ऊढा या च सगोत्रा

१. मेवात्र कल्पनया । २. दूर्ध्वं कामतो । ३. धिकारान्मरणा ।

स्याद् वृषल्यः पञ्च कीर्तिताः ॥' इति स्मृत्यन्तरे चण्डाल्यां 'वृषली'शब्दप्रयोगदर्शनात्। बन्धकी स्वैरिणी। कथं पुनरत्राभ्यासावगमः? उच्यते,—'यत्करोत्येकरात्रेण' इत्यत्यन्तसंयोगापवर्गवाचिन्यास्तृतीयाया दर्शनात्। एकरात्रेण चात्यन्तसंयोगो गमनस्याभ्यासं विनाऽनुपपन्न इति गमनाभ्यासोऽवगम्यते। अत एवैकरात्राद्बहुकालाभ्यासविषयं प्रागुक्तं द्वादशवर्षादिगुरुतल्पव्रतातिदेशिकं मरणान्तिकं च। यदा पुनर्ज्ञानतोऽज्ञानतो वा चण्डालाद्याः[1] सकृद्गच्छति तदा 'चण्डालपुल्कसानां तु भुक्त्वा गत्वा च योषितम्। कृच्छ्राब्दमाचरेज्ज्ञानादज्ञानादैन्दवद्वयम् ॥' इति यमाद्युक्तं संवत्सरं कृच्छ्रानुष्ठानं चान्द्रायणद्वयं यथाक्रमेण द्रष्टव्यम्। 'स्वयोनिष्वन्त्यजासु च' इत्येकवाक्यसमभिव्याहाराद्भगिन्यादिष्वपीयमेव व्यवस्था वेदितव्या। मरणान्तिकं चात्राग्निप्रवेशनम्। 'जनन्यां च भगिन्यां च स्वसुतायां तथैव च। स्नुषायां गमनं चैव विज्ञेयमतिपातकम् ॥ अतिपातकिनस्त्वेते प्रविशेयुर्हुताशनम् ॥' इति कात्यायनस्मरणात्। जनन्यां सकृद्गमने भगिन्यादिषु चासकृद्गमने अग्निप्रवेश इति द्रष्टव्यम्; महापातकस्य जननीगमनस्य तदतिदेशविषयभूतातिपातकस्य भगिन्यादिगमनस्य च तुल्यत्वायोगात्। यत्तु बृहद्यमेनोक्तम्—'चाण्डालीं पुल्कसीं म्लेच्छीं स्नुषां च भगिनीं सखीम्। मातापित्रोः स्वसारं च निक्षिप्तां शरणागताम् ॥ मातुलानीं प्रव्रजितां स्वगोत्रां नृपयोषितम्। शिष्यभार्यां गुरोर्भार्यां गत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति; यच्चाङ्गिरोवचनम्—'पतितान्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च। मासोपवासं कुर्वीत चान्द्रायणमथापि वा ॥' इति,—तदुभयमपि गुरुतल्पातिदेशविषयेषु कामतः प्रवृत्तस्य रेतःसेकादर्वाङ्निवृत्तौ द्रष्टव्यम्; यदपि संवर्तवचनम्—'भगिनीं मातुराप्तां च स्वसारं चान्यमातृजाम्। एता गत्वा स्त्रियो मोहात्तप्तकृच्छ्रं समाचरेत् ॥' इति,—तदनन्तरोक्त एव विषये अकामतः प्रवृत्तस्य रेतःसेकादर्वाङ्निवृत्तौ द्रष्टव्यम्। यदा पुनरेता एवात्यन्तव्यभिचारिणीर्गच्छति तदापीदमेव प्रायश्चित्तयुगलं चान्द्रायणतप्तकृच्छ्रात्मकं क्रमेण कामतोऽकामतश्च प्रवृत्तौ द्रष्टव्यम्; साधारणस्त्रीषु तु गुरुणोपभुक्तास्वपि गमने गुरुतल्पत्वदोषो नास्ति। 'जात्युत्कं पारदार्यं च कन्यादूषणमेव च। साधारणस्त्रियां नास्ति गुरुतल्पत्वमेव च ॥' इति व्याघ्रस्मरणात्। एवमन्यान्यपि स्मृतिवचनान्युच्चावचप्रायश्चित्तप्रतिपत्तिपराण्यन्विष्य विषयव्यवस्थोहनीया, ग्रन्थगौरवभयान्न लिख्यन्ते ॥ २६० ॥

भाषा—अथवा गुरुपत्नी का भोग करने वाला तीन वर्ष तक प्राजापत्य कृच्छ्र व्रत करे अथवा तीन मास तक वेदसंहिता का जप करता हुआ चान्द्रायण व्रत करे ॥ २६० ॥

इति गुरुतल्पप्रायश्चित्तप्रकरणम्।

---

1. चाण्डालाद्याम्।

एवं ब्रह्महादिमहापातकिप्रायश्चित्तमभिधायावसरप्राप्तं तत्संसर्गिप्रायश्चित्तमाह—

एभिस्तु संवसेद्यो वै वत्सरं सोऽपि तत्समः ।

एभिः पूर्वोक्तैर्ब्रह्महादिभिरेकं संवत्सरं योऽत्यन्तं संवसति सहाचरति सोऽपि तत्समः । यो येन सहाचरति सोऽपि तदीयमेव प्रायश्चित्तं कुर्यादिति तदीयप्रायश्चित्तातिदेशार्थं तत्समग्रहणम् , न पुनः पातकत्वातिदेशार्थम् । तस्य 'यश्च तैः सह संवसेत्' (प्रा० २२३) इत्युपदेशात एव सिद्धत्वात् । अत्र च सत्यत्यतिदेशत्वे कृत्स्नमेव द्वादशवार्षिकं कार्यम्, साक्षान्महापातकित्वात्संसर्गिणः । 'अपि'-शब्दाच्च केवलं महापातकिसंयोगी तत्समः किंत्वतिपातकीपातक्युपपातक्यादीनां मध्ये यो येन सह संसर्गं करोति, सोऽपि तत्सम इति तदीयमेव प्रायश्चित्तं कुर्यादिति दर्शयति अत एव मनुना सकलं प्रायश्चित्तजातमध्यायान्तेऽभिधायाभिहितम् (११।१८१)—'यो येन पतितेनैषां संसर्गं याति मानवः । स तस्यैव व्रतं कुर्यात्तत्संसर्गविशुद्धये ॥' इति । विष्णुनापि सामान्येनोपपातक्यादेनस्विमात्रसंसर्गे तत्प्रायश्चित्तभावत्वं दर्शितम्—'पापात्मना येन सह यः संसृज्येत स तस्यैव व्रतं कुर्यात्' इति । अत एव मनुना सामान्येनैनस्विमात्रप्रतिषेधः कृतः (११।१८९)—'एनस्विभिरनिर्णिक्तैर्नार्थं कंचित्समाचरेत्' इति । तथा—'न संसर्गं भजेत्सद्भिः प्रायश्चित्ते कृते सति' इति च ।—एतच्च द्वादशवार्षिकादिपतितप्रायश्चित्तं बुद्धिपूर्वसंसर्गविषयम् ; 'पतितेन सहोषित्वा जानन्संवत्सरं नरः । मिश्रितस्तेन सोऽब्दान्ते स्वयं च पतितो भवेत् ॥' इति देवलस्मरणात् । अज्ञानतः संसर्गे पुनर्वसिष्ठोक्तम् (१९।४५,४६)—'पतितसंप्रयोगे तु ब्राह्मेण यौनेन वा स्रौवेण वा यास्तेभ्यः सकाशान्मात्रा उपलब्धास्तासां परित्यागस्तैश्च न संवसेदुदीचीं दिशं गत्वाऽनश्नन्संहिताध्ययनमधीयानः पूतो भवतीति विज्ञायते' इति । तथा—'ब्रह्महा मद्यपः स्तेनस्तथैव गुरुतल्पगः । एते महापातकिनो यश्च तैः सह संवसेत् ॥' इति, तैरिति तृतीयया सर्वनामपरामृष्टप्रकृतब्रह्महादिचतुष्टयसंसर्गिण एव महापातकित्ववचनात्तत्संसर्गिणो न महापातकित्वम् । ननु महापातकिसंसर्ग एव महापातकित्वे हेतुर्न ब्रह्महादिविशेषसंसर्गः; तस्य व्यभिचारात् । अतोऽत्र ब्रह्महादिसंसर्गिसंसर्गिणोऽपि महापातकिसंसर्गो विद्यत इति तस्यापि महापातकित्वं स्यान्न च प्रतिषेधः । उच्यते,—स्यादेवं यदि प्रमाणान्तरगम्यं महापातकित्वं स्यात् । शब्दैकसमधिगम्ये तु तस्मिन्नैवं भवितुमर्हतीति । तैरिति प्रकृतविशेषपरामर्शिना सर्वनाम्ना ब्रह्महादिविशेषसंसर्गस्यैव महापातकित्वहेतुत्वस्यावगमितत्वात् । एवं च सति प्रतिषेधाभावोऽप्यहेतुः प्राप्त्यभावादेव ।

---

१. पातकित्वा । २. अतिदेशकत्वे । ३. इति सर्वं निरवद्यम् । ४. तैरिति सर्वनाम । ५. तस्मिन्नेव ।

अतः संसर्गिसंसर्गिणां द्विजातिकर्मभ्यो हानिर्न भवति, प्रायश्चित्तं तु भवत्येव। न च संसर्गिसंसर्गिणः पातित्याभावे कथं प्रायश्चित्तमिति वाच्यम्; 'एनस्विभिरनिर्णिक्तैर्नार्थं कंचित्समाचरेत्' (११।१८९) इति सामान्येनैनस्विमात्रप्रतिषेधेन महापातकिसंसर्गिसंसर्गस्यापि प्रतिषिद्धत्वात्पातित्याभावेऽपि युक्तमेव प्रायश्चितम्। तच्च पादहीनम्; 'यो येन संवसेद्वर्षं सोऽपि तत्समतामियात्। पादहीनं चरेत्सोऽपि तस्य तस्य व्रतं द्विजः॥' इति व्यासोक्तं द्रष्टव्यम्। एवं चतुर्थपञ्चमयोरपि कामतः संसर्गिणोरर्धहीनं त्रिपादोनं च द्रष्टव्यम्। अतः साक्षाद् ब्रह्महादिसंसर्गिण एव तदीयप्रायश्चित्ताधिकारो न संसर्गिसंसर्गिण इति सिद्धम्। अत्र च ब्रह्महादिषु यद्यपि कामतो मरणान्तिकमुपदिष्टं तथापि संसर्गिणस्तन्नातिदिश्यते। 'स तस्यैव व्रतं कुर्यात्' इति व्रतस्यैवातिदेशात्, मरणस्य च 'व्रत' शब्दवाच्यत्वाभावात्। अतोऽत्र कामकृतेपि संसर्गे द्वादशवार्षिकमकामतस्तु तदर्धम्। संसर्गश्च स्वनिबन्धनकर्मभेदादनेकधा भिद्यते। यथाह वृद्धबृहस्पतिः— 'एकशय्यासनं पङ्क्तिर्भाण्डं पक्वान्नमिश्रणम्। याजनाध्यापने योनिस्तथा च सहभोजनम्॥ नवधा संकरः प्रोक्तो न कर्तव्योऽधमैः सह॥' इति। देवलोऽपि— 'संलापस्पर्शनिःश्वाससहयानासनाशनात्। याजनाध्यापनाद्यौनात्पापं संक्रमते नृणाम्॥' इति। एकशय्यासनमेकखट्वासनमेकपङ्क्तिभोजनमेकभाण्डपचनमन्नेन मिश्रणं संसर्गस्तदीयान्नभोजनमिति यावत्। याजनं पतितस्य स्वस्य वा तेन, अध्यापनं तस्य स्वस्य वा तेन, यौनं तस्मै कन्यादानं तत्सकाशाद्वा कन्यायाः प्रतिग्रहः, सहभोजनमेकामत्रभोजनम्, संलापः संभाषणम्, स्पर्शो गात्रसंमर्दः, निःश्वासः पतितमुखवायुसंपर्कः, सहयानमेकतुरगाद्यारोहणम्, एतेषां मध्ये केन कर्मणा कियता कालेन पातित्यमित्यपेक्षायां बृहद्विष्णुनोक्तम्—'संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन्नेकयानभोजनासनशयनै, यौनस्रौवमुख्यैस्तु संबन्धैः सद्य एव' इति। अत्रैकभोजनमेकपङ्क्तिभोजनम्। एकामत्रभोजने तु सद्यःपातित्यम्; 'याजनं योनिसंबन्धं स्वाध्यायं सहभोजनम्। कृत्वा सद्यः पतत्येव पतितेन न संशयः॥' इति देवलस्मरणात्। 'स्रौव'शब्देन याजनमभिधीयते। 'मुख्य'शब्देन मुखभवत्वेनाध्यापनम्। यौनस्रौवमुख्यैरिति सत्यपि द्वन्द्वनिर्देशे प्रत्येकमेव तेषां सद्यःपतनहेतुत्वम्; 'यः पतितैः सह यौनमुख्यस्रौवानां 'संबन्धानामन्यतमं संबन्धं कुर्यात्तस्याप्येतदेव प्रायश्चित्तम्' इति सुमन्तुस्मरणात्। एकयानादिचतुष्टयस्य तु समुदितस्यैव पतनहेतुत्वम्; 'एकयानभोजनासनशयनैः' इति इतरेतरयुक्तानां निर्देशात्। प्रत्येकानुष्ठानस्य तु पतनहेतुत्वाभावेऽपि दोषहेतुत्वमस्त्येव; 'आसनाच्छयनाद्यानात्संभाषात्सहभोजनात्। संक्रामन्ति हि पापानि तैलबिन्दुरिवाम्भसि॥' इति पराशरवचनेन निरपेक्षाणामपि पापहेतुत्वावगमात्। संलापस्पर्शनिःश्वासानां तु यानादिचतुष्टयेनानपेक्षि-

कतया समुच्चितानामेव पतनहेतुत्वं न पृथग्भूतानामल्पत्वात्, पापहेतुत्वं पुनरस्त्येव; 'संलापस्पर्शनिःश्वास' इति देवलवचनस्य दर्शितत्वात्। अतः संलापादिरहिते सहयानादिचतुष्टये कृते पञ्चमभागोनं द्वादशवार्षिकं प्रायश्चित्तं कुर्यात्। तत्सहिते तु पूर्णम्। एवं च सति एभिस्तु[1]रुंवसेद्यो वै वत्सरं सोऽपि तत्समः'इति योगीश्वरवचनमपि सहयानादिचतुष्टयपरमेव युक्तम्। यतः संलापादीनां पृथक्पातित्यहेतुत्वं नास्ति। अत एव मनुना (११।१८०)—'संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन्। याजनाध्यापनाद्यौनान्न तु यानासनाशनात्॥' इति यानादिचतुष्टयस्यैव संवत्सरेण[2]पातित्यहेतुत्वमुक्तम्। अत्र 'आसन'ग्रहणं शयनस्याप्युपलक्षणम्। अत्र च 'संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन्।' 'यानाशनासनात्' इति व्यवहितेन संबन्धः; प्राग्दर्शितविष्णुवचनानुरोधात्, तथा—'संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन्। भोजनासनशय्यादि कुर्वाणः सार्वकालिकम्॥' इति देवलवचनाच्च। न चानन्वयदोषः; यानासनाशनादिहेतोराचरन्नाचारं कुर्वन्निति भेदविवक्षया संबन्धोपपत्तेः। यथा एतया पुनराधेयसंमितयेष्ट्येष्ट्वेति। यद्वा'आचरन्' इति शत्रा हेत्वर्थस्य गमितत्वात्। यानाशनासनादिति द्वितीयार्थे पञ्चमी। याजनाध्यापनाद्यौना (त्सहभोजना) न्न तु संवत्सरेण पतति, किंतु सद्य एव प्राचीनवचननिचयानुरोधादेव। अतो यौनादिचतुष्टयेन सद्यः पतति यानादिचतुष्टयेन तु संवत्सरं निरन्तराभ्यासेनेति युक्तं 'वत्सरं सोऽपि तत्समः' इति अत्यन्तसंयोगवाचिन्या द्वितीयया दर्शनादन्तरितदिवसगणना कार्या। यथा षष्ट्यधिकशतत्रयदिवसव्यापित्वं संसर्गस्य भवति, ततो न्यूने तु न पतितप्रायश्चित्तं, किंत्वन्यदेव। यथाह पराशरः—'संसर्गमाचरन्विप्रः पतितादिष्वकामतः। पञ्चाहं वा दशाहं वा द्वादशाहमथापि वा॥ मासार्धं मासमेकं वा मासत्रयमथापि वा। अब्दार्धमेकमब्दं वा भवेदूर्ध्वं तु तत्समः॥ त्रिरात्रं प्रथमे पक्षे द्वितीये कृच्छ्रमाचरन्। चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं तृतीये पक्ष एव तु। चतुर्थे दशरात्रं स्यात्पराकः पञ्चमे ततः। षष्ठे चान्द्रायणं कुर्यात्सप्तमे त्वैन्दवद्वयम्॥ अष्टमे च तथा पक्षे षण्मासान्कृच्छ्रमाचरेत्॥' इति। कामतः संसर्गे पुनर्विशेषः स्मृत्यन्तरेऽभिहितः—सुमन्तुः—'पञ्चाहे तु चरेत्कृच्छ्रं दशाहे तप्तकृच्छ्रकम्। पराकस्त्वर्धमासे स्यान्मासे चान्द्रायणं चरेत्॥' इति। 'मासत्रये प्रकुर्वीत कृच्छ्रं चान्द्रायणोत्तरम्। षाण्मासिके तु संसर्गे कृच्छ्रं त्वब्दार्धमाचरेत्॥ संसर्गे त्वाब्दिके कुर्यादब्दं चान्द्रायणं नरः॥' इति। अत्र चाब्दिके संसर्गे इति किंचिन्न्यून इति द्रष्टव्यम्; पूर्णे तु वत्सरे मन्वादिभिर्द्वादशवार्षिकस्मरणात्। यत्तु बार्हस्पत्यं वचनम्—'षाण्मासिके तु संसर्गे याजनाध्यापनादिना। एकत्रासनशय्याभिः प्रायश्चित्तार्धमाचरेत्॥'इति,

१. व्यस्तेनेति। २. मर्धकृत्या।

याजनाध्यापनयौनैकपात्रभोजनानां षण्मासात्पातित्यवचनमेतदकामतोऽत्यन्तापदि पञ्चमहायज्ञादिप्राये याजनेऽङ्गाध्यापने दुहितृभगिनीव्यतिरिक्ते च योनिसंबन्धे द्रष्टव्यम्; प्रकृष्टयाजनादिभिः सद्यःपातित्यस्योक्तत्वात् । एतद्दिगवलम्बनेनैव दुहितृभगिनीस्नुषागाम्यतिपातकिसंसर्गिणां कामतो नववार्षिकं, अकामतः सार्धचतुर्वार्षिकं कल्पनीयम् । सखिपितृव्यदारादिगामिपातकिसंसर्गिणां कामतः षड्वार्षिकम्, अकामतस्त्रैवार्षिकम् । अथोपपातक्यादिसंसर्गिणामपि कामतस्तदीयमेव त्रैमासिकम्, अकामतोऽर्धमित्यूहनीयम् । पुरुषवत्स्त्रीणामपि महापातक्यादिसंसर्गात्पातित्यमविशिष्टम् । यथाह शौनकः—'पुरुषस्य यानि पतननिमित्तानि स्त्रीणामपि तान्येव ।' ब्राह्मणी हीनवर्णसेवायामधिकं पततीति; अतस्तासामपि महापातकिप्रभृतीनां मध्ये येन सह संसर्गस्तदीयमेव प्रायश्चित्तमर्धं क्लृप्त्या योजनीयम् । एवं बालवृद्धातुराणामपि कामतोऽर्धम् , अकामतः पादः । तथानुपनीतस्यापि बालस्य कामतः पादोऽकामतस्तदर्धमित्येषा दिक् ॥

पतितसंसर्गप्रतिषेधेन प्रतिषिद्धस्य यौनसंबन्धस्य क्वचित्प्रतिप्रसवमाह—

कन्यां समुद्वहेदेषां सोपवासामकिंचनाम् ॥ २६१ ॥

एषां पतितानां कन्यां पतितावस्थायामुत्पन्नां सोपवासां कृततत्संसर्गकालोचितप्रायश्चित्तामकिंचनामगृहीतवस्त्रालंकारादिपितृधनामुद्वहेत् । 'कन्यां समुद्वहेत्'इति वदन्स्वयमेव कन्यां त्यक्तपतितसंसर्गां समुद्वहेन्न पुनः पतितहस्तात्प्रतिगृह्णीयादिति दर्शयति । एवं च सति पतितयौनसंसर्गप्रतिषेधविरोधोऽपि परिहृतो भवति । अयं चार्थो बृहद्धारीतेन स्पष्टीकृतः—'पतितस्य तु कुमारीं विवस्त्रामहोरात्रोषितां प्रातः शुक्लेनाहतेन वाससाच्छादितां नाहमेतेषां न ममैते इति त्रिरुच्चैरभिदधानां तीर्थे स्वगृहे वोद्वहेत्' इति । तथा 'एषां कन्यां समुद्वहेद्' इति वचनात्स्त्रीव्यतिरिक्ततदीयापत्यस्य संसर्गानर्हतां दर्शयति । अत एव वसिष्ठः —'पतितेनोत्पन्नः पतितो भवति अन्यत्र स्त्रियाः, सा हि परगामिनी तामरिक्थामुपेयात्' इति ॥ २६१ ॥

भाषा—इन महापातकियों के साथ जो एक वर्ष तक निवास करता है वह भी इनके समान महापातकी हो जाता है । इन पातकियों की कन्या से उन्हें उपवास करा के पिता का (वस्त्रादि) कुछ भी न लेते हुए विवाह किया जा सकता है ॥ २६१ ॥

इति संसर्गप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

निषिद्धसंसर्गं प्रायश्चित्तप्रसङ्गान्निषिद्धसंसर्गोत्पन्नप्रतिलोमवधे प्रायश्चित्तमाह—

चान्द्रायणं चरेत्सर्वानवकृष्टान्निहत्य तु ।

अवकृष्टाः सूतमागधादयः प्रतिलोमोत्पन्नास्तेषां प्रत्येकं हनने चान्द्रायणम् । तथा च शङ्खः—'सर्वेषामवकृष्टानां वधे प्रत्येकं चान्द्रायणम्' इति । यद्वा-

ङ्गिरसोक्तम्—'सर्वान्त्यजानां गमने भोजने संप्रमापणे। पराकेण विशुद्धिः स्यादित्याङ्गिरसभाषितम् ॥' इति पराकं कुर्यात्। तत्र कामतः सूतादिवधे चान्द्रायणम्, अकामतस्तु सूतवधे पराकः, वैदेहकवधे पादोनम्, चण्डालवधे द्विपादः, मागधवधे पादोनः पराकः, क्षत्तरि द्विपादः, आयोगवे च पादद्वयम्, अनयैव दिशा चान्द्रायणस्यापि तारतम्यं कल्प्यम्। यत्तु ब्रह्मगर्भवचनम्—'प्रतिलोमप्रसूतानां स्त्रीणां मासावधिः स्मृतः। अन्तरप्रभवानां च सूतादीनां चतुर्द्विषट् ॥' इति,-तदावृत्तिविषयम्। तत्र सूतवधे षण्मासाः, वैदेहकवधे चत्वारः, चण्डालवधे द्वाविति योग्यतयान्वयः। तथा मागधवधे चत्वारः, क्षत्तरि द्वैमासिकं, आयोगवे च द्वैमासिकमिति व्यवस्था।

नैमित्तिकव्रतानां जपादिसाध्यत्वाद्विद्याविरहिणां च शूद्रादीनां तदनुपपत्तेराज्यावेक्षणादिसाध्येष्विवान्धानामनधिकारमाशङ्क्याह—

शूद्रोऽधिकारहीनोऽपि कालेनानेन शुद्ध्यति ॥ २६२ ॥

यद्यपि शूद्रो जपाद्यधिकारहीनस्तथाप्यनेन द्वादशवार्षिकादिकालसंपाद्येन व्रतेन शुद्ध्यति। 'शूद्र'ग्रहणं स्त्रीणां प्रतिलोमजानां चोपलक्षणम्। यद्यपि तस्य गायत्र्यादिजपासंभवस्तथापि नमस्कारमन्त्रजपो भवति। अत एव स्मृत्यन्तरेऽभिहितम्—'उच्छिष्टं चास्य भोजनमनुज्ञातोऽस्य नमस्कारो मन्त्रः' इति। यद्वा वचनबलाज्जपादिरहितमेव व्रतं कुर्यात्—'तस्माच्छूद्रं समासाद्य सदा धर्मपथे स्थितम्। प्रायश्चित्तं प्रदातव्यं जपहोमविवर्जितम् ॥' इत्यङ्गिरःस्मरणात्। तथाऽपरमपि तेनैवोक्तम्—'शूद्रः कालेन शुद्ध्येत गोब्राह्मणहिते रतः। दानैर्वाऽप्युपवासैर्वा द्विजशुश्रूषया तथा ॥' इति। यत्तु मानवम् (४।८०)—'न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमाचरेत्' इति शूद्रस्य व्रतोपदेशनिषेधपरं वचनं,-तदनुपसन्नशूद्राभिप्रायम्। यदपि स्मृत्यन्तरवचनम्—'कृच्छ्राण्येतानि कार्याणि सदा वर्णत्रयेण तु। कृच्छ्रेष्वेतेषु शूद्रस्य नाधिकारो विधीयते ॥' इति,-तत्काम्यकृच्छ्राभिप्रायम्। अतः स्त्रीशूद्रयोः प्रतिलोमजानां च त्रैवर्णिकवद् व्रताधिकार इति सिद्धम्। यत्तु गौतमवचनम् (४।२५)—'प्रतिलोमा धर्महीनाः' इति,-तदुपनयनादिविशिष्टधर्माभिप्रायम् ॥ २६२ ॥

भाषा—सभी अवकृष्टों (सूत, मागध आदि उच्चवर्ण की स्त्री से निम्नवर्ण के पुरुष द्वारा उत्पन्न) में किसी की हत्या करने पर चान्द्रायण व्रत करे। यद्यपि शूद्र को जप आदि करने का अधिकार नहीं होता तथापि वह निर्धारित समय तक व्रत करने पर पाप से शुद्ध हो जाता है ॥ २६२ ॥

इति महापातकप्रायश्चित्तप्रकरणम्।

महापातकादिपञ्चकमध्ये महापातकातिपातकानुपपातकप्रायश्चित्तान्युक्त्वा-ऽधुनोपपातकप्रायश्चित्तानि व्याचक्षाणः पाठक्रमप्राप्तं गोवधप्रायश्चित्तं तावदाह—

पञ्चगव्यं पिबेद्गोघ्नो मासमासीत संयतः।
गोष्ठेशयो गोऽनुगामी गोप्रदानेन शुद्ध्यति ॥ २६३ ॥
कृच्छ्रं चैवातिकृच्छ्रं च[1] चरेद्वापि समाहितः।
दद्यात्त्रिरात्रं चोपोष्य[2] वृषभैकादशास्तु गाः ॥ २६४ ॥

गां हन्तीति गोघ्नः, मूलविभुजादित्वात्कप्रत्ययः। असौ मासं समाहित आसीत। किं कुर्वन्? पञ्च च तानि गव्यानि गोमूत्रगोमयक्षीरदधिघृतानि यथा-विधि मिश्रितानि पिबन्, आहारान्तरपरित्यागेन भोजनकार्ये तस्य विधानात्। तथा गोष्ठेशयः। प्राप्तशयनानुवादेन गोष्ठविधानाद्दिवा च स्वापप्रतिषेधाद्रात्रौ गोशालायां शयानः। गा अनुगच्छति तदस्य व्रतमिति गोऽनुगामी। व्रते णिनिः। अतश्च यासां गोष्ठे शेते सन्निधानात्ता एव गाः प्रातर्वनं प्रतिचरन्तीरनु-गच्छेत्। अनुगच्छेदिति वचनाद्यदा ता गच्छन्ति तदैव स्वयमनुगच्छेत्। यदा तु तिष्ठन्त्यासते वा तदा पश्चाद्गमनस्याशक्यकरणत्वात्स्वयमपि तिष्ठेदासीत वेति गम्यते। अनुगमनविधानादेव ताभिः सायं गोष्ठं व्रजन्तीभिः सह गोष्ठप्रवेशोऽ-प्यर्थसिद्धः। एवं कुर्वन्मासान्ते गोप्रदानेन एकां गां दत्त्वा तावता शास्त्रार्थस्य संपत्तेर्गोहत्यायाः शुद्ध्यतीत्येकं व्रतम्। मासं गोष्ठेशयो गोऽनुगामीति चानुव-र्तते। पञ्चगव्याहारस्य तु निवृत्तिः कृच्छ्रविधानादेव। अतश्च मासं निरन्तरं कृच्छ्रं समाहितश्चरेदित्यपरम्। अत एव जाबालेन मासं प्राजापत्यस्य पृथक् प्रायश्चित्त-त्वमुक्तम्—'प्राजापत्यं चरेन्मासं गोहन्ता चेदकामतः। गोहितो गोऽनुगामी स्याद्गोप्रदानेन शुद्ध्यति ॥' (प्रा० २६०) इति। अतिकृच्छ्रं वा तथैव समाच-रेदित्यन्यत्। कृच्छ्रातिकृच्छ्रयोर्लक्षणमुत्तरत्र वक्ष्यते। अथवा त्रिरात्रमुपवासं कृत्वा वृषभ एकादशो यासां गवां ता दद्यादिति व्रतचतुष्टयम्। तत्राकामकृते जातिमात्रब्राह्मणस्वामिकगोमात्रवधे उपवासं कृत्वा वृषभैकादशगोदानसहितस्त्रि-रात्रोपवासो द्रष्टव्यः। विशिष्टस्वामिकाया विशिष्टगुणवत्याश्च वधे गुरुप्रायश्चि-त्तस्य वक्ष्यमाणत्वात्। क्षत्रियसंबन्धिन्यास्तु तादृग्विधे व्यापादने मासं पञ्चगव्या-शित्वं प्रथमं प्रायश्चित्तम्। अत्र मासपञ्चगव्याशनस्यातिस्वल्पत्वात्तन्मासोपवासतु-ल्यत्वम्। ततश्च षड्भिः षड्भिरुपवासैरेकैकप्राजापत्यकल्पनया पञ्चकृच्छ्राणां प्रत्या-म्नायेन पञ्च धेनवो मासान्ते च दीयमाना गौरेकेति षट् धेनवो भवन्तीति वृष-भैकादशगोदानसहितत्रिरात्रव्रताल्लघीयस्त्वम्। कथं पुनर्ब्राह्मणगवीनां गुरुत्वम्? 'देवब्राह्मणराज्ञां तु विज्ञेयं द्रव्यमुत्तमम्' इति नारदेन तद्द्रव्यस्योत्तमत्वाभिधा-

---

1. प्राजापत्यं वाऽतिकृच्छ्रम्। 2. वोपोष्य।

नात्, गोषु ब्राह्मणसंस्थास्विति दण्डभूयस्त्वदर्शनाच्च। वैश्यसंबन्धिन्यास्तु तादृग्विधे व्यापादने मासमतिकृच्छ्रं कुर्यात्। अतिकृच्छ्रे त्वाद्ये त्रिरात्रत्रये पाणिपूरान्नभोजनमुक्तम्। अन्त्ये त्रिरात्रेऽनशनम्। अतोऽतिकृच्छ्रधर्मेण मासव्रते क्रियमाणे षड्रात्रमुपवासो भवति। चतुर्विंशत्यहे च पाणिपूरान्नभोजनम्। ततश्च कृच्छ्रप्रत्याम्नायकल्पनया किंचिन्न्यूनं धेनुपञ्चकं भवतीति पूर्वस्माद् व्रतद्वयाल्लघिष्ठत्वेन वैश्यस्वामिकगोवधविषयता युक्ता। तादृश एव विषये शूद्रस्वामिकगोहत्यायां मासं प्राजापत्यव्रतं द्वितीयम्। तत्र च सार्धप्राजापत्यद्वयात्मकेन प्रत्याम्नायेन किंचिदधिकं धेनुद्वयं भवतीति पूर्वेभ्यो लघुतमत्वाच्छूद्रविषयतोचिता। अथ चैतत्प्रायश्चित्तचतुष्टयं साक्षात्कर्त्रनुग्राहकप्रयोजकानुमन्तृषु गुरुलघुभावतारतम्यापेक्षया पूर्वोक्त एव विषये योजनीयम्। यत्तु वैष्णवं व्रतत्रयम्—'गोघ्नस्य पञ्चगव्येन मासमेकं पलत्रयम्। प्रत्यहं स्यात्पराको वा चान्द्रायणमथापि वा॥' इति, यच्च काश्यपीयम्—'गां हत्वा तच्चर्मणा प्रावृतो मासं गोष्ठेशयस्त्रिषवणस्नायी नित्यं पञ्चगव्याहारः' इति, यच्च शातातपीयम्—'मासं पञ्चगव्याहारः' इति, तत्पञ्चकमपि याज्ञवल्कीयपञ्चगव्याहारसमानविषयम्। यच्च शङ्खप्रचेतोभ्यामुक्तम्—'गोघ्नः पञ्चगव्याहारः पञ्चविंशतिरात्रमुपवसेत्सशिखं वपनं कृत्वा गोचर्मणा प्रावृतो गाश्चानुगच्छन् गोष्ठेशयो गां च दद्यात्' इति। एतच्च याज्ञवल्कीयमासातिकृच्छ्रव्रतसमानविषयम्। 'दद्यात्त्रिरात्रं चोपोष्य' इत्येतद्विषयं वाऽत्यन्तगुणिनो हन्तुर्वेदितव्यम्। अत्रैव विषये पञ्चगव्याशक्तस्य तु द्वितीयं काश्यपीयं 'मासं पञ्चगव्येने'ति प्रतिपाद्य 'षष्ठे काले पयोभक्षो वा गच्छन्तीष्वनुगच्छेत्तासु सुखोपविष्टासु चोपविशेन्नातिप्लवं गच्छेन्नातिविषमेणावतारयेन्नाल्पोदके पाययेदन्ते ब्राह्मणान्भोजयित्वा तिलधेनुं दद्यात्' इति द्रष्टव्यम्। अत्राप्यशक्तस्य 'गोघ्नो मासं यवागूं प्रसृतितन्दुलश्टतं भुञ्जानो गोभ्यः प्रियं कुर्वन् शुद्ध्यति' इति पैठीनसिनोक्तं वेदितव्यम्। यत्तु सौमन्तम्—'गोघ्नस्य गोप्रदानं गोष्ठे शयनं द्वादशरात्रं पञ्चगव्याशनं गवानुगमनं च' इति; यच्च संवर्तेनोक्तम्—'सक्तुयावकभैक्षाशी पयो दधि घृतं सकृत्। एतानि क्रमशोऽश्नीयान्मासार्धं सुसमाहितः॥ ब्राह्मणान्भोजयित्वा तु गां दद्यादात्मशुद्धये॥' इति; यच्च बार्हस्पत्यम्—'द्वादशरात्रं पञ्चगव्याहारः' इति तत्त्रितयमपि याज्ञवल्कीयमासप्राजापत्येन समानविषयं, मृतकल्पगोहत्याविषयं वा, विषमप्रदेशत्रासेन[1] जनितव्याधितो मरणविषयं वा वेदितव्यम्।-तदिदं सर्वं प्रागुक्तमकामविषयम्। यदा पुनरीदृग्विधामविशिष्टविप्रस्वामिकामविशिष्टां गां कामतः प्रमापयति तदा मनुना मासं यवागूपानं, मासद्वयं हविष्येण चतुर्थकालभोजनं,

---

१. प्रदेशाशनजनित।

मासत्रयं वृषभैकादशगोदानयुक्तं शाकादिना वर्तनमिति व्रतत्रितयमाम्नातम्। यथाह (११।१०८–११६)—'उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो मासं यवान्पिबेत्। कृतवापो वसेद्गोष्ठे चर्मणार्द्रेण[1] संवृतः। चतुर्थकालमश्नीयादक्षारलवणं मितम्। गोमूत्रेण चरेत्स्नानं द्वौ मासौ नियतेन्द्रियः॥ दिवानुगच्छेत्ता गास्तु तिष्ठन्नूर्ध्वं रजः पिबेत्। शुश्रूषित्वा नमस्कृत्य रात्रौ वीरासनं वसेत्॥ तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेत्तु व्रजन्तीष्वप्यनुव्रजेत्। आसीनासु तथासीनो नियतो वीतमत्सरः॥ आतुरामभिशस्तां वा चौरव्याघ्रादिभिर्भयैः। पतितां पङ्कलग्नां वा सर्वोपायैर्विमोचयेत्॥ उष्णे वर्षति शीते वा मारुते वाति वा भृशम्। न कुर्वीतात्मनस्त्राणं गोरकृत्वा तु शक्तितः॥ आत्मनो यदि वाऽन्येषां गृहे क्षेत्रेऽथवा खले। भक्षयन्तीं न कथयेत्पिबन्तं चैव वत्सकम्॥ अनेन विधिना यस्तु गोघ्नो गा अनुगच्छति। स गोहत्याकृतं पापं त्रिभिर्मासैर्व्यपोहति॥ वृषभैकादशा गाश्च दद्यात्सुचरितव्रतः। अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भ्यो निवेदयेत्॥' (११।१०८–११६) इति, एतत्त्रितयं याज्ञवल्कीयमासप्राजापत्यमासपञ्चगव्याशनवृषभैकादशगोदानयुक्तत्रिरात्रोपवासरूपव्रतत्रितयविषयं यथाक्रमेण द्रष्टव्यम्। यत्त्वङ्गिरसा मानवेतिकर्तव्यतायुक्तं त्रैमासिकमभिधायाधिकमभिहितम्—'अक्षारलवणं रूक्षं षष्ठे कालेऽस्य भोजनम्। गोमतीं वा जपेद्विद्यामोङ्कारं वेदमेव च॥ व्रतवद्धारयेद्दण्डं समन्त्रां चैव मेखलाम्॥' इति, तन्मानवविषयम्। एवं पुष्टितारुण्यादिकिंचिद्गुणातिशययोगिन्यां द्रष्टव्यम्। 'अतिबालामतिकृशामतिवृद्धां च रोगिणीम्। हत्वा पूर्वविधानेन चरेदर्धं व्रतं द्विजः॥' इति पुष्टितारुण्यादिरहितायां गव्यर्धप्रायश्चित्तदर्शनात्। यदा तु याज्ञवल्कीयमासातिकृच्छ्रव्रतनिमित्तभूतां गामविशिष्टस्वामिकां जातिमात्रयोगिनीं कामतो व्यापादयति तदा 'विहितं यदकामानां कामात्तद् द्विगुणं चरेत्' इति न्यायेन पूर्वोक्तमेवाकामविहितं मासातिकृच्छ्रव्रतं द्विगुणं कुर्यात्। यत्तु हारीतेन—'गोघ्नस्तच्चर्मोर्ध्ववालं परिधाय' इत्यादिना मानवीमितिकर्तव्यतामभिधायोक्तम्—'वृषभैकादशाश्च गा दत्त्वा त्रयोदशे मासे पूतो भवति' इति तत्सवनस्थश्रोत्रियगोवधे अकामकृते द्रष्टव्यम्। यत्तु वसिष्ठेन—'गां चेद्धन्यात्तस्याश्चर्मणार्द्रेण परिवेष्टितः षण्मासान् कृच्छ्रतप्तकृच्छ्रान्वातिष्ठेदृषभवेहतौ दद्यात्' इति षाण्मासिकं कृच्छ्रतप्तकृच्छ्रानुष्ठानमुक्तम्, यदपि देवलेन—'गोघ्नः षण्मासांस्तच्चर्मपरिवृतो गोग्रासाहारो गोव्रजनिवासी गोभिरेव सह चरन् प्रमुच्यते' इति,–तद् द्वयमपि हारीतीयेन समानविषयम्। तत्रैव कामकारकृते कात्यायनीयं त्रैवार्षिकम्—'गोघ्नस्तच्चर्मसंवीतो वसेद्गोष्ठेऽथवा पुनः। गाश्चानुगच्छेत्सततं मौनी वीरासनादिभिः॥ वर्षशीतातपक्लेशवह्निपङ्कभयादिना [illegible]-

---

१. तेन। २. अग्नि। ३. सर्वप्राणैर्विमोषयन्।

र्वयत्नेन पूयते वत्सरैस्त्रिभिः ॥' इति द्रष्टव्यम् । यच्च शाङ्खं त्रैवार्षिकम्—'पादं तु शूद्रहत्यायामुदक्यागमने तथा । गोवधे च तथा कुर्यात्परस्त्रीगमने तथा ॥' इति,—तदपि कात्यायनीयव्रतसमानविषयम् । यत्तु यमेनाङ्गिरसीमितिकर्तव्यतामभिधाय 'गोसहस्रं शतं वापि दद्यात्सुचरितव्रतः । अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भ्यो निवेदयेत् ॥' इति गोसहस्रयुक्तं गोशतयुक्तं च द्वैमासिकं व्रतद्वयमभिहितम् , तत्र यदा सवनस्थश्रोत्रियादिदुर्गतबहुकुटुम्बिब्राह्मणसंबन्धिनीं कपिलां कर्माङ्गभूतां गर्भिणीं बहुक्षीरतरुणिमादिगुणशालिनीं निर्गुणो धनवान्सप्रयत्नं खड्गादिना व्यापादयति तदा गोसहस्रयुक्तं त्रैमासिकं कुर्यात् ; 'गर्भिणीं कपिलां दोग्ध्रीं होमधेनुं च सुव्रताम् । खड्गादिना घातयित्वा द्विगुणं व्रतमाचरेत् ॥' इति विशिष्टायां गवि बार्हस्पत्ये प्रायश्चित्तविशेषदर्शनात् । अत एव प्रचेतसा—'स्त्रीगर्भिणीगोगर्भिणीबालवृद्धवधेषु भ्रूणहा भवति' इति । ईदृग्विधमेव गोवधमभिसंधाय ब्रह्महत्याव्रतमतिदिष्टम् । द्वितीयं तु याम्यं गोशतदानयुक्तं त्रैमासिकं व्रतं कात्यायनीयव्रतविषये धनवतो द्रष्टव्यम् । यत्तु गौतमेन (२२।१८) वृषभैकशतगोदानसमुचितं त्रैवार्षिकं प्राकृतं ब्रह्मचर्यं वैश्यवधेऽभिधाय गोवधेऽतिदिष्टम्—'गां च हत्वा वैश्यवत्' इति । एतच्च त्रैवार्षिकव्रतप्रत्याम्नायभूतनवतिधेनुभिः सार्धं वृषभैकशता गावो नवन्यूनं द्विशतं भवतीति गोसहस्रयुक्तत्रैमासिकव्रतान्न्यूनत्वात्पूर्वोक्तविषये एव कामतो वधे । यद्वा तत्रैव विषये गर्भरहितायाः कामतो वधे द्रष्टव्यम् । तादृग्विधाया एव गर्भरहितायास्त्वकामतो हननेऽपि कात्यायनीयमेव त्रैवार्षिकं कल्प्यम् । यत्तु यमेनोक्तम्—'काष्ठलोष्टाश्मभिर्गावः शस्त्रैर्वा निहता यदि । प्रायश्चित्तं कथं तत्र शस्त्रेऽशस्त्रे विधीयते ॥[2] काष्ठे सान्तपनं कुर्यात्प्राजापत्यं तु लोष्टके । तप्तकृच्छ्रं तु पाषाणे शस्त्रे चाप्यतिकृच्छ्रकम् ॥ प्रायश्चित्ते ततश्चीर्णे कुर्याद् ब्राह्मणभोजनम् । त्रिंशद्वा वृषभं चैकं दद्यात्तेभ्यश्च दक्षिणाम् ॥' इति,—तत्पूर्वोक्तगोसहस्रशतादिदानत्रैवार्षिकादिव्रतविषयेष्वेव काष्ठादिसाधनविशेषजनितवधनिमित्तसान्तपनादिपूर्वकत्वप्रतिपादनपरं, नतु निरपेक्षं ; लघुत्वाद् व्रतस्य । तथा वयोविशेषादपि प्रायश्चित्तविशेष उक्तः—'अतिवृद्धामतिकृशामतिबालां च रोगिणीम् । हत्वा पूर्वविधानेन चरेदर्धव्रतं द्विजः ॥ ब्राह्मणान्भोजयेच्छक्त्या दद्याद्धेम तिलांस्तथा ॥' इति । नीरोगादिवधे यद्विहितं तस्यार्धम् । बृहत्प्रचेतसाप्यत्र विशेष उक्तः—'एकवर्षे हते वत्से कृच्छ्रपादो विधीयते । अबुद्धिपूर्वे पुंसः स्याद् द्विपादस्तु द्विहायने ॥ त्रिहायने त्रिपादः स्यात्प्राजापत्यमतःपरम् ॥' इति । तथा गर्भिण्या वधे यदा गर्भोऽपि निहतो भवति तदा 'प्रतिनिमित्तं

---

१. सप्रतिज्ञम् । २. प्रायश्चित्तं पृथक्तत्र धर्मशास्त्रे विधीयते ।

नैमित्तिकमावर्तते' इति न्यायेनाविशेषेण द्विगुणव्रतप्राप्तौ षट्त्रिंशन्मते विशेष उक्तः—पाद उत्पन्नमात्रे तु द्वौ पादौ दृढतां गते। पादोनं व्रतमुद्दिष्टं हत्वा गर्भमचेतनम् ॥ अङ्गप्रत्यङ्गसंपूर्णे गर्भे चेतःसमन्विते। त्रिगुणं गोव्रतं कुर्यादेषा गोघ्नस्य निष्कृतिः ॥' इति। बहुकर्तृके तु हनने संवर्तापस्तम्बौ विशेषमाहतुः—'एका चेद्बहुभिः काचिद्दैवाद्व्यापादिता क्वचित्। पादं पादं तु हत्यायाश्चरेयुस्ते पृथक्पृथक् ॥' इति। यादृग्विधगोहत्यायां यद्व्रतमुपदिष्टं तत्पादं प्रत्येकं कुर्युर्वचनात्। 'एका चेत्' इत्युपलक्षणम्; अतो बहुभिर्द्वयोर्बहूनां च व्यापादने प्रतिपुरुषं पादद्वयं पादोनं वा कल्पनीयम्। —एतच्चाकामतो वधे द्रष्टव्यम्; दैवादिति विशेषणोपादानात्। कामकारे तु बहूनामपि प्रत्येकं कृत्स्नदोषसंबन्धात्कृत्स्नव्रतसंबन्धो युक्तः, सत्रिणामिव प्रतिपुरुषं कृत्स्नव्यापारसमवायात्, 'एकं घ्नतां बहूनां तु यथोक्ताद् द्विगुणो दमः' इति प्रत्येकं दण्डे द्वैगुण्यदर्शनाच्च। यदा त्वेकेनैव रोधनादिव्यापारेण बहवो गावो व्यापादितास्तत्र संवर्तापस्तम्बौ विशेषमाहतुः—'व्यापन्नानां बहूनां तु रोधने बन्धनेऽपि वा। भिषङ्मिथ्योपचारे च द्विगुणं गोव्रतं चरेत् ॥' इति। बहुष्वपि व्यापन्नेषु न प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकानुष्ठानं, नापि तन्त्रेण किंतु वचनबलाद् द्विगुणमेव। तथा भिषगपि विरुद्धौषधदानेनैकस्या अप्यकामतो व्यापादने द्विगुणं गोव्रतं कुर्यात्। भिषग्व्यतिरिक्तस्य केवलम् उपकारार्थं प्रवृत्तस्य त्वकामतः प्रतिकूलौषधदाने व्यास आह—'औषधं लवणं चैव पुण्यार्थमपि भोजनम्। अतिरिक्तं न दातव्यं काले स्वल्पं तु दापयेत् ॥ अतिरिक्ते विपत्तिश्चेत्कृच्छ्रपादो विधीयते ॥' इति ॥ यत्त्वापस्तम्बेनोक्तम्—'पादमेकं चरेद्रोधे द्वौ पादौ बन्धने चरेत्। योजने पादहीनं स्याच्चरेत्सर्वं निपातने ॥' इति,—तद्व्यवहितव्यापारिणो निमित्तकर्तुर्विज्ञेयं, न साक्षात्कर्तुः। साक्षात्कर्तृनिमित्तिनोश्च भेदस्तेनैव दर्शितः—'पाषाणैर्लकुटैर्वापि शस्त्रेणान्येन वा बलात्। निपातयन्ति ये गास्तु कृत्स्नं कुर्युर्व्रतं हि ते ॥ तथैव बाहुजङ्घोरुपार्श्वग्रीवाङ्घ्रिमोटनैः ॥' इति। एतदुक्तं भवति—पाषाणखड्गादिभिर्ग्रीवामोटनादिना वा येऽङ्गानि पातयन्ति ते साक्षाद्धन्तारस्तेष्वेव कृत्स्नं प्रायश्चित्तम्। ये तु व्यवहितरोधबन्धादिव्यापारयोगिनस्ते निमित्तिनस्तेषां न कृत्स्नव्रतसंबन्धः किंतु तदवयवैरेव पादद्विपादादिभिरिति। तत्र च रोधादिना व्यवहितव्यापारत्वाविशेषेऽपि वचनात्क्वचित्पादः, क्वचिद् द्विपादः, पादोनं क्वचिदिति युक्तम्। अत्राह पराशरः—'गवां बन्धनयोक्त्रैस्तु भवेन्मृत्युरकामतः। अकामकृतपापस्य प्राजापत्यं विनिर्दिशेत् ॥ प्रायश्चित्ते ततश्चीर्णे कुर्याद् ब्राह्मणभोजनम्। अनडुत्सहितां गां च दद्याद्विप्राय दक्षिणाम् ॥' इति। अयं

---

१. बन्धनादि। २. बन्धने तथा। ३. लगुडैर्वापि। ४. तत्रावरोधादिना।

च प्राजापत्यो यदि रोधादिकं कृत्वा तज्जन्यप्रमादपरिजिहीर्षया प्रत्यवेक्षमाण आस्ते तदा द्रष्टव्यः; 'अकामकृतपापस्य' इति विशेषणोपादानात्। यदा तु न प्रमादसंसरणं[1] करोति, तदा 'पादमेकं चरेद्रोधे द्वौ पादौ बन्धने चरेत्। योजने पादहीनं स्याच्चरेत्सर्वं निपातने ॥' इत्यङ्गिरोदृष्टं त्रैमासिकपादं किंचिदधिकं वा[2] विंशत्यहर्गोवधव्रतं कुर्यात्। आपस्तम्बेनापि विशेष उक्तः—'अतिदोहाति-[3]वाहाभ्यां नासिकाच्छेदने तथा। नदीपर्वतसंरोधे मृते पादोनमाचरेत् ॥' इति। लक्षणमात्रोपयोगिनि तु दाहे न दोषः; 'अन्यत्राङ्कनलक्षाभ्यां वाहने मोचने[4] तथा। सायं संगोपनार्थं च न दुष्येद्रोधबन्धने ॥' इति पराशरस्मरणात्। अङ्कनं स्थिरचिह्नकरणम्, लक्षणं सांप्रतोपलक्षणम्। वाहने शास्त्रोक्तमार्गेण रक्षणार्थमपि नालिकेरादिभिर्बन्धने भवत्येव दोषः; 'न नालिकेरेण न शाणवा-लैर्न चापि मौञ्जेन[5] न बन्धशृङ्खलैः। एतैस्तु गावो न निबन्धनीया बद्ध्वा तु तिष्ठेत्परशुं गृहीत्वा ॥ कुशैः काशैश्च बध्नीयात्स्थाने दोषविवर्जिते ॥' इति व्यास-स्मरणात्। तथान्योऽपि विशेषस्तेनैवोक्तः—'घण्टाभरणदोषेण विपत्तिर्यत्र गोर्भवेत्। कृच्छ्रार्धं[6] तु भवेत्तत्र भूषणार्थं हि तत्स्मृतम् ॥ अतिदोहेऽतिदमने[7] संघाते चैव योजने। बद्ध्वा शृङ्खलपाशैश्च मृते पादोनमाचरेत् ॥' इति। पालनाकरणा-दिनोपेक्षायां क्वचित्प्रायश्चित्तविशेषस्तेनैवोक्तः,—'जलौघपल्वले मग्ना मेघविद्यु-द्धतापि वा। श्वभ्रे वा पतिताऽकस्माच्छ्वापदेनापि[8] र्दिता ॥ प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रं गोस्वामी व्रतमुत्तमम्। शीतवाताहता वा स्याद्बुद्बन्धनहर्तापि वा ॥ शून्यागार उपेक्षायां प्राजापत्यं विनिर्दिशेत् ॥' इति। इदं तु कार्यान्तरविरहेऽप्युपेक्षायां वेदितव्यम्। कार्यान्तरव्यप्रतयोपेक्षायां त्वर्धम्—'पल्वलौघमृगव्याघ्रश्वापदा-दिनिपातने। श्वभ्रप्रपातसर्पाद्यैर्मृते कृच्छ्रार्धमाचरेत् ॥ अपालत्वात्तु कृच्छ्रं स्याच्छून्यागार उपप्लवे ॥' इति विष्णुस्मरणात्। तथा सत्यपि व्यापादने क्वचि-दुपकारार्थप्रवृत्तौ वचनाद्दोषाभावः। यथाह संवर्तः—'यन्त्रणे गोचिकित्सार्थे मूढगर्भविमोचने[9]। यत्ने कृते विपत्तिः स्यान्न स पापेन लिप्यते ॥' इति। यन्त्रणं [10]व्याध्यादिनिर्यातनार्थं संदंशाङ्कुशादिप्रवेशनम्। तथा—'औषधं स्नेहमाहारं दद‍द्गोब्राह्मणे द्विजः। दीयमाने विपत्तिश्चेन्न स पापेन लिप्यते ॥ ग्रामघाते शरौघेण वेश्मभङ्गान्निपातने। दाहच्छेदशिराभेदप्रयोगैरुपकुर्वताम् ॥ द्विजानां गोहितार्थं च प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥' अत्र पराशरोऽप्याह—'ग्रामघाते शरौघेण वेश्मभङ्गान्निपातने। अतिवृष्टिहतानां च प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥'

---

१. संरक्षणम्। २. द्वाविंशत्यहः। ३. अविदोहा। ४. मोचनेऽपि वा। ५. मौञ्जैर्न च शृङ्खलैश्च। ६. गोकृच्छ्रार्धं भवेत्। ७. अतिदोहातिदमने। ८. मृतापि वा। ९. गूढगर्भे। १०. व्याघ्रादि।

इति । तथा—'कूपखाते च धर्मार्थे गृहदाहे च या मृता । ग्रामदाहे तथा घोरे प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥' इति । इदं तु बन्धनरहितस्यैव पशोः कथंचिद् गृहादिदाहेन मृतविषयम् । इतरथा त्वापस्तम्बेनोक्तम्—'कान्तारेष्वथ दुर्गेषु गृहदाहे खलेषु च । यदि तत्र विपत्तिः स्यात्पाद एको विधीयते ॥' इति । तथाऽस्थ्यादिभङ्गे मरणाभावेऽपि क्वचित्प्रायश्चित्तमुक्तम्—'अस्थिभङ्गं गवां कृत्वा लाङ्गूलच्छेदनं तथा । पाटनं दन्तशृङ्गाणां मासार्धं तु यवान्पिबेत् ॥' इति । यत्त्वाङ्गिरसम्—'[1]शृङ्गदन्तास्थिभङ्गे वा चर्मनिर्मोचनेऽपि वा । दशरात्रं पिबेद्वज्रं स्वस्थापि यदि गौर्भवेत् ॥' इति 'वज्र'शब्दवाच्यं क्षीरादिवर्तनमुक्तं तदशक्तविषयम् । इदं च प्रायश्चित्तं गोस्वामिने व्यापन्नगोसदृशीं गां दत्त्वैव कार्यम् । यथाह पराशरः—'प्रमापणे प्राणभृतां दद्यात्तत्प्रतिरूपकम् । तस्यानुरूपं मूल्यं वा दद्यादित्यब्रवीद्यमः ॥' इति । मनुरपि (८।२८८)—'यो यस्य हिंस्याद् द्रव्याणि ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा । स तस्योत्पादयेत्तुष्टिं राज्ञे दद्याच्च तत्समम् ॥' इति । एतच्च पूर्वोक्तप्रायश्चित्तजातं ब्राह्मणस्यैव हन्तुर्वेदितव्यम् ; क्षत्रियादेस्तु हन्तुर्बृहद्विष्णुना विशेषोऽभिहितः—'विप्रे तु सकलं देयं पादोनं क्षत्रिये स्मृतम् । वैश्येऽर्धं पाद एकस्तु शूद्रजातिषु शस्यते ॥' इति । यत्त्वङ्गिरोवचनम्—'पर्षद्या ब्राह्मणानां तु सा राज्ञां द्विगुणा मता । वैश्यानां त्रिगुणा प्रोक्ता पर्षद्वच्च व्रतं स्मृतम् ॥' इति,—तत्प्रातिलोम्येन वाग्दण्डपारुष्यादिविषयम् । तथा स्त्रीबालवृद्धादीनां त्वर्धं, अनुपनीतस्य बालस्य पाद इति च प्रागुक्तमनुसंधेयम् । स्त्रीणां पराशरेण विशेषोऽभिहितः—'वपनं नैव नारीणां नानुव्रज्या जपादिकम् । न गोष्ठे शयनं तासां न वसीरन्गवाजिनम् ॥ सर्वान्केशान्समुद्धृत्य छेदयेदङ्गुलद्वयम् । सर्वत्रैवं हि नारीणां शिरसो मुण्डनं स्मृतम् ॥' इति । पुरुषेषु च विशेषः संवर्तेन दर्शितः—'पादेऽङ्गरोमवपनं द्विपादे श्मश्रुणोऽपि च । त्रिपादे तु शिखावर्जं सशिखं तु निपातने ॥' इति । पादप्रायश्चित्तार्हस्य कण्ठादधस्तनाङ्गरोम्णामेव वपनम् । अर्धप्रायश्चित्तार्हस्य तु श्मश्रूणामपि । पादोनप्रायश्चित्तार्हस्य पुनः शिरोगतानामपि शिखावर्जितानाम् । पादचतुष्टयार्हस्य तु सशिखस्य सकलकेशजातस्येति । एवमेतद्विगवलम्बनेनान्येषामपि स्मृतिवचसां विषयो निरूपणीयः ॥ २६३-२६४ ॥

भाषा—गाय की हत्या करने वाला पञ्चगव्य (गोमूत्र, गोबर, दूध, दही, घृत) पीवे और एक मास तक संयम के साथ रहे । वह गोशाला में सोना, गायों के पीछे चलने (सेवा करने) और (मास के अन्त में) एक गौ का दान करने पर शुद्ध होता है । अथवा सावधान होकर (एक मास तक)

---

१. शृङ्गभङ्गेऽस्थिभङ्गे वा । २. द्रव्याणि हिंस्याद्यो यस्य ।

कृच्छ्र और अतिकृच्छ्र व्रत करे और तीन दिन-रात तक उपवास करके दस गायों और एक साँड का दान करे ॥ २६३–२६४ ॥

इति गोवधप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

अधुनाऽन्येषामुपपातकानां प्रायश्चित्तमाह—

उपपातकशुद्धिः स्यादेवं चान्द्रायणेन वा ।
पयसा वापि मासेन पराकेणाथवा पुनः ॥ २६५ ॥

एवमुक्तेन गोवधव्रतेन मासं पञ्चगव्याशनादिनान्येषां व्रात्यतादीनामुपपातकानां शुद्धिर्भवेत् । चान्द्रायणेन वा वक्ष्यमाणलक्षणेन मासं पयोव्रतेन वा पराकेण वा शुद्धिर्भवेत् । अत्रातिदेशसामर्थ्याद्गोचर्मवसनगोपरिचर्यादिभिर्गोवधासाधारणैः कतिपयैर्न्यूनत्वमवगम्यते ।–एतच्च व्रतचतुष्टयमकामकारे शक्त्यपेक्षया विकल्पितं द्रष्टव्यम् ; कामकारे तु 'एतदेव व्रतं कुर्युरुपपातकिनो द्विजाः । अवकीर्णिवर्ज्यं शुद्ध्यर्थं चान्द्रायणमथापि वा ॥' (मनुः ११।११७) इति मनूक्तं त्रैमासिकं द्रष्टव्यम् । अत एव वचनादयं प्रायश्चित्तातिदेशः सर्वेषामुपपातकगणपठितानामुक्तप्रायश्चित्तानामनुक्तप्रायश्चित्तानां चावकीर्णिवर्जितानामविशेषेण वेदितव्यः । अवकीर्णिनस्तु प्रतिपदोक्तमेव । नन्वनुक्तप्रायश्चित्तविषयतयैवातिदेशस्य युक्ता; इतरथा प्रतिपदोक्तप्रायश्चित्तबाधसापेक्षत्वप्रसङ्गात् । मैवम् ; तथा सत्युक्तनिष्कृतीनामुपपातकगणपाठोऽनर्थकः स्यात् । यदि परमुपपातकमध्ये सामान्यतः पठितस्यान्यत्र विशेषतः प्रायश्चित्तान्तरमुच्यते । यथा—'अयाज्यानां च याजनम् । त्रीन्कृच्छ्रानाचरेद् व्रात्ययाजकोऽविचरन्नपि ॥' इति स एव विषयः केवलं परिह्रियेत न पुनर्विशेषतः पठितस्यैवान्यत्रापि विशेषत एव यत्र प्रायश्चित्तमुच्यते सोऽपि यथा 'इन्धनार्थं द्रुमच्छेदः' 'वृक्षगुल्मलतावीरुच्छेदने जप्यमृक्शतम्' इति । अतो व्रात्यतादिषु अस्मिन् शास्त्रे शास्त्रान्तरे वा दृष्टैः प्रायश्चित्तैः सह 'उपपातकशुद्धिः स्यादेवम्' इत्यादिना प्रतिपादितव्रतचतुष्टयस्य समविषयताकल्पनेन विकल्पो विषयविभागो वाश्रयणीयः । तानि च स्मृत्यन्तरदृष्टप्रायश्चित्तानि पाठक्रमेण व्रात्यतादिषु योजयिष्यामः । तत्र व्रात्यतायां मनुनेदमुक्तम् (११।१९१) —'येषां द्विजानां सावित्री नानूच्येत यथाविधि । तांश्चारयित्वा त्रीन्कृच्छ्रान्यथाविध्युपनाययेत् ॥' इति, यच्च यमेनोक्तम् (११।१११)—'सावित्री पतिता यस्य दश वर्षाणि पञ्च च । सशिखं वपनं कृत्वा व्रतं कुर्यात्समाहितः ॥ एकविंशतिरात्रं च पिबेत्प्रसृतियावकम् । हविषा भोजयेच्चैव ब्राह्मणान्सप्त पञ्च च ॥ ततो यावकशुद्धस्य तस्योपनयनं स्मृतम् ॥' इति,–तदुभयमपि याज्ञवल्कीयमासपयोव्रतविषयम् । यत्तु वसिष्ठेनोक्तम्—'पतितसावित्रीक उद्दालकव्रतं चरेद् द्वौ मासौ यावकेन वर्तयेन्मासं पयसा पक्षमामिक्षयाऽष्टरात्रं घृतेन षड्रात्रमयाचितेन त्रिरात्रम-

ऽभग्नोऽहोरात्रमुपवसेदश्वमेधावभृथं गच्छेद् व्रात्यस्तोमेन वा यजेत' इति । अत्रेयं व्यवस्था—यस्योपनेत्राद्यभावेन[1] तत्कालातिक्रमस्तस्य याज्ञवल्कीयव्रतानामन्यतमं शक्त्यपेक्षया भवति । अनापद्यतिक्रमे तु मानवं त्रैमासिकम् । तत्रैव पञ्चदश-वर्षादूर्ध्वमपि कियत्कालातिक्रमे तूद्दालकव्रतं व्रात्यस्तोमो वेति । येषां तु पित्राद-योऽप्यनुपनीतास्तेषामापस्तम्बोक्तम् (ध० ११।३२, ५;१।२।५।६)—'यस्य पितापितामहावनुपेतौ स्यातां तस्य संवत्सरं त्रैविद्यकं ब्रह्मचर्यम् । यस्य प्रपिता-महादेर्नानुस्मर्यत उपनयनं तस्य द्वादशवर्षाणि त्रैविद्यकं ब्रह्मचर्यम्' इति व्रात्यता । तथा स्तेयेऽप्युपपातकसाधारणप्राहन्ननचतुष्टयापवादकं प्रायश्चित्तं मनुनोक्तम् (११।१६२)—'धान्यान्नधनचौर्याणि कृत्वा कामाद् द्विजोत्तमः । सजातीयगृहा-देव कृच्छ्रार्धेन[2] विशुद्ध्यति ॥' इति । द्विजोत्तमस्य सजातीयो ब्राह्मण एवातो विप्रपरिग्रहे ब्राह्मणस्य हर्तुरिदम् । क्षत्रियादेस्त्वल्पं कल्प्यम् । 'अष्टापाद्यं[3] स्तेय-किल्बिषं शूद्रस्य द्विगुणोत्तराणीतरेषां प्रतिवर्णं विदुषोऽतिक्रमे दण्डभूयस्त्वम्' (१३।१५-१७) इति क्षत्रियादेरपहर्तुर्दण्डाल्पत्वस्य दर्शनात् । तथा—'विप्रे तु सकलं देयं पादोनं क्षत्रिये स्मृतम्' इति पादपादहान्या प्रायश्चित्तदर्शनात् । तथा क्षत्रियादिपरिग्रहेणापि दण्डानुसारेण प्रायश्चित्ताल्पत्वं कल्प्यम् । अतः क्षत्रि-यपरिग्रहे चौर्ये षाण्मासिकम् । वैश्यपरिग्रहे त्रैमासिकं गोवधव्रतम् । शूद्रपरिग्रहे चान्द्रायणं कल्प्यम् । एवमुत्तरत्राप्यूहनीयम् ।–इदं च दशकुम्भधान्यापहारवि-षयम् । अधिके तु—'धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतो[4] दम उत्तमः । पलसहस्रा-दधिके वधः' इति वधदर्शनात् । कुम्भश्च पञ्चसहस्रपलपरिमाणः । धान्यसाहच-र्यादन्नधने चैतावद्धान्यपरिमिते वेदितव्ये । 'अन्न'शब्देन तन्दुलादिकमभिधीयते । 'धन'शब्देन ताम्ररजतादिकम् । इदं तु प्रायश्चित्तं कामकारविषयम् । अकामतस्तु त्रैमासिकं गोवधव्रतम् । तथा—'मनुष्याणां च हरणे स्त्रीणां क्षेत्रगृहस्य च । कूपवापीजलानां च शुद्धिश्चान्द्रायणेन तु ॥' (मनुः ११।१६३) इति । सार्धश-तद्वयपणलभ्यजलापहार इदं चान्द्रायणं प्राप्तमपीतरगोवधव्रतनिवृत्त्यर्थं विधीयते; 'तावन्मूल्यजलापहारे पानीयस्य तृणस्य च । तन्मूल्याद् द्विगुणो दण्डः' इति पञ्चशतदण्डविधानात्तावत्परिमाणदण्डचान्द्रायणयोर्गोवधादौ सहचरितत्वात् । तथा 'कृच्छ्रातिकृच्छ्रैन्दवयोः पणपञ्चशतं तथा' इति चान्द्रायणविषये पञ्चशतप-णदण्डविधानाच्च । एतच्च क्षत्रियादिद्रव्यापहारे द्रष्टव्यम् ; ब्राह्मणसंबन्धिद्रव्या-पहारे तु 'निक्षेपस्यापहरणे नराश्वरजतस्य च । भूमिवज्रमणीनां च रुक्म-स्तेयसमं स्मृतम् ॥' (मनुः ११।५७) इति द्रष्टव्यम् । तथा—'द्रव्याणामल्प-

१. यस्योपनयने आपद्भावेन । २. कृच्छ्राब्देन विशुद्ध्यति । ३. अष्टपादम् । ४. हरतोऽभ्यधिको वधः ।

साराणां स्तेयं कृत्वाऽन्यवेश्मतः। चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं तन्निर्यात्यात्मशुद्धये ॥' (मनुः ११।१६४) इत्यनेनाल्पप्रयोजनत्रपुसीसादिद्रव्यापहारविशेषेण स्तेनसामान्योपपातकप्रायश्चित्तापवादः। इदं च चान्द्रायणनिमित्तभूतार्धतृतीयशतमूल्यस्य पञ्चदशांशार्धत्रपुसीसाद्यपहारे प्रायश्चित्तम्, चान्द्रायणपञ्चदशांशत्वात्तस्य। तथा द्रव्यविशेषेणाप्युपपातकसामान्यप्राप्तव्रतापवादः—'भक्ष्यभोज्यापहरणे यानशय्यासनस्य च। पुष्पमूलफलानां च पञ्चगव्यं विशोधनम् ॥' (मनुः ११।१६५) इति। एकवारभोजनपर्याप्तभक्ष्यभोज्यापहार इदम्। द्वित्रिवारभोजनपर्याप्ताहारे त्रिरात्रम्। यथाह पैठीनसिः—'भक्ष्यभोज्यान्नस्योदरपूरणमात्रहरणे त्रिरात्रमेकरात्रं वा पञ्चगव्याहरता' इति। यानादीनामप्येतत्साहचर्यादेतावन्मूल्यानामेवापहरणे एतावत्प्रायश्चित्तम्। सर्वत्रापि ह्रियमाणद्रव्यन्यूनाधिकभावेन प्रायश्चित्तस्यापि लघुगुरुभावः कल्पनीयः। यथा 'तृणकाष्ठद्रुमाणां च शुष्कान्नस्य गुडस्य च। तैलचर्मामिषाणां च त्रिरात्रं स्यादभोजनम् ॥' (मनुः ११।१६६) इति। एषां च तृणादीनां भक्ष्यादित्रिगुणत्रिरात्रप्रायश्चित्तस्य दर्शनात् तत्त्रिगुणमूल्यार्घाणा[1]मेतत्प्रायश्चित्तम्। तथा—'मणिमुक्ताप्रवालानां ताम्रस्य रजतस्य च। अयस्कांस्योपलानां च द्वादशाहं कं[2]दन्नता ॥' (मनुः ११।१६७) इति। अत्रापि भक्ष्यादिद्वादशगुणप्रायश्चित्तदर्शनात् तन्मूल्यद्वादशगुणमूल्यमणिमुक्ताद्यपहार एतत्प्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम्। तथा—'कार्पासकीटजौर्णानां द्विखुरैकखुरस्य च। पक्षिगन्धौषधीनां च रज्ज्वाश्चैवं त्र्यहं पयः ॥' (मनुः ११।१६८) इति। अत्रापि भक्ष्यादित्रिगुणप्रायश्चित्तदर्शनात्तत्त्रिगुणमूल्यानामपहार एवैतत्प्रायश्चित्तं ज्ञेयम्। ह्रियमाणद्रव्यन्यूनाधिकभावेन प्रायश्चित्ताल्पत्वमहत्त्वं कल्प्यमेव। इदं च स्तेयप्रायश्चित्तमपहृतद्रव्यदानोत्तरकालमेव द्रष्टव्यम्। यथाह विष्णुः—'दत्त्वैवापहृतं द्रव्यं स्वामिने व्रतमाचरेत्' इति। इति स्तेयम्। ऋणापाकरणे च 'पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयम्' (व्य० ५०) इति विहितं तस्यानपाकरणे, तथा वैदिकस्य च 'जायमानो वै ब्राह्मणः' इत्येतद्वाक्येनर्णसंस्तुतयज्ञादिकरणे च 'उपपातकशुद्धिः स्यादेवम्' (प्रा० २६५) इत्यादिनोपपातकसामान्यविहितं व्रतचतुष्टयं शक्त्यपेक्षया योज्यम्। प्रायश्चित्तान्तरमप्यत्र मनुनोक्तम् (११। २७)—'इष्टिं वैश्वानरीं चैव निर्वपेदब्दपर्यये। लु[3]प्तानां पशुसोमानां निष्कृत्यर्थमसंभव ॥' इति। अब्दपर्यये संवत्सरान्ते। इति ऋणानपाकरणम्।

तथाधिकृत्यस्यानाहिताग्नित्वेऽप्येतदेव व्रतचतुष्टयं वत्सरादूर्ध्वमापदि शक्त्यपेक्षया योज्यम्। अनापदि तु मानवं त्रैमासिकम्। अर्वाक्पुनर्वत्सरात् कार्ष्णाजिनिर्विशेषमाह—'काले त्वाधाय कर्माणि कुर्याद्विप्रो विधानतः। तदकुर्वंस्त्रिरा-

१. र्घाणामेव। २. कृणान्नता। ३. क्लृप्तानाम्।

त्रेण मासि मासि विशुद्धयति ॥ अनाहिताग्नौ पित्रादौ यक्ष्यमाणः सुतो यदि । स हि व्रात्येन पशुना यजेत्तन्निष्क्रयाय तु ॥' इति । एकाग्नेरपि विशेषस्तेनैवोक्तः—'कृतदारो गृहे ज्येष्ठो यो नादध्यादुपासनम् । चान्द्रायणं चरेद्वर्षं प्रतिमासमहोऽपि वा ॥' इति । अनाहिताग्निता ।

(विक्रये[1] यद् व्रतं प्रोक्तं हरणे द्विगुणं हि तद् । सुराविक्रये सोम्ये चतुष्टयं लाक्षालवणमांसगव्याश्वतिलहेमानां चान्द्रायणत्रयं पयःपायसापूपदधीक्षुरसगुडखण्डादिस्नेहपक्वादिषु पराकः । सिद्धान्नविक्रये प्राजापत्यम् । पनसस्य त्रिदिनम् । कदलीनारिकेरजम्बीरबीजपूरकनारङ्गानां पादकृच्छ्रम् । कस्तूरिकाविक्रये गन्धानां च कृच्छ्रम् । कर्पूरेऽर्धं हिंग्वादिविक्रये दिनमुपवासः । शुक्लकृष्णपीतवस्त्रविक्रये त्रिदिनम् । अजानामैन्दवम् । खराश्वतरकरभाणां पराकः । शुनां द्विगुणम् । एकाहाद्वेदविक्रये चान्द्रम् । अङ्गानां पराकः । स्मृतीनां कृच्छ्रम् । इतिहासपुराणानां सांतपनम् । रहस्यानां कृच्छ्रम् । गाथानां शिशिरातत्त्वविद्यानां पादम् ।) तथा अपण्यानां विक्रये च स्मृत्यन्तरे प्रायश्चित्तविशेष उक्तः । यथाह हारीतः—'गुडतिलपुष्पमूलफलपक्वान्नविक्रये सोमापानं सौम्यः कृच्छ्रः । लाक्षालवणमधुमांसतैलक्षीरदधितक्रघृतगन्धचर्मवाससामन्यतमविक्रये चान्द्रायणम् । तथा ऊर्णाकेशकेसरिभूधेनुवेश्माश्मशस्त्रविक्रये च । भक्ष्यमांसस्नाय्वस्थिशृङ्गनखशुक्तिविक्रये तप्तकृच्छ्रः । हिङ्गुगुग्गुलुहरितालमनःशिलाञ्जनगैरिकक्षारलवणमणिमुक्ताप्रवालवैणवमृन्मयेषु च तप्तकृच्छ्रः । आरामतडागोदपानपुष्करिणीसुकृतविक्रये त्रिषवणस्नाय्यधःशायी चतुर्थकालाहारो दशसहस्रं जपन्संवत्सरेण पूतो भवति । हीनमानोन्मानसंकरसंकीर्णविक्रये[2] चेति । एवमन्यैरपि शङ्खविष्ण्वाद्युक्तवचनैर्यत्र प्रायश्चित्तविशेषो नोक्तस्तत्रानापदि मानवमुपपातकसाधारणतः प्राप्तं त्रैमासिकम् । आपदि तु याज्ञवल्कीयं व्रतचतुष्टयं शक्त्यपेक्षया योज्यम् । इति अपण्यविक्रयः । तथा परिवेत्तरि च वसिष्ठेन प्रायश्चित्तविशेष उक्तः (२०।८)—'परिविविदानः कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चरित्वा तस्मै दत्त्वा पुनर्निविशेत तां चैवोपयच्छेत' इति । परिविविदानः परिवेत्तोच्यते । तत्स्वरूपं च प्राग् व्याख्यातम् । असौ कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चरित्वा तस्मै ज्येष्ठाय तां स्वोढां दत्त्वा ब्रह्मचर्याहतभैक्षवद्गुरुपरिभवपरिहारार्थं निवेद्य पुनरुद्वहेत् । कामित्यपेक्षायामुक्तं 'तामेवोपयच्छेत' इति । तामेव स्वोढां ज्येष्ठाय निवेदितां तेन चानुज्ञातामुद्वहेत् । यत्तु हारीतेनोक्तम्—ज्येष्ठेऽनिविष्टे कनीयान्निविशमानः परिवेत्ता भवति, परिवित्तिर्ज्येष्ठः, परिवेदनी कन्या, परिदायी दाता, परियष्टा याजकस्ते सर्वे पतिताः संवत्सरं प्राजापत्येन कृच्छ्रेण पावयेयुः' इति । यद्यपि शङ्खेनोक्तम्—

१. अधिकमिदम् । २. मानोन्नतसंकीर्ण ।

'परिवृत्तिः परिवेत्ता च संवत्सरं ब्राह्मणगृहेषु भैक्षं चरेयाताम्' इति तदुभयमपि कामकारेण कन्यापित्राद्यननुज्ञातोद्वाहविषयम्। प्रायश्चित्तस्य गुरुत्वात्। यदा पुनः कामतः कन्यां पित्रादिदत्तामेव परिणयति तदा मानवं त्रैमासिकम्। पूर्वोक्तौ कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ याज्ञवल्कीयं च व्रतचतुष्टयमज्ञातविषयम्। यमेनाप्यत्र विशेष उक्तः—'कृच्छ्रौ द्वयोः परिवेद्ये कन्यायाः कृच्छ्र एव च। अतिकृच्छ्रं चरेद्दाता होता चान्द्रायणं चरेत्॥' इति। एतच्च पर्याहिताग्न्यादीनामपि समानम्। एकयोगनिर्देशात्। यथाह गौतमः (१५।१८)—'परिवित्तिपरिवेत्तृपर्याहितपर्याधात्रग्रेदिधिषूपतीनां संवत्सरं प्राकृतं ब्रह्मचर्यम्' इति। अत एव वसिष्ठेनाग्रेददिधिषूपत्यादाविदमेव प्रायश्चित्तमुक्तम् (२०।९, १०) 'अग्रेदिधिषूपतिः कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा निविशेत तां चैवोपयच्छेत। दिधिषूपतिः कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चरित्वा तस्मै दत्तां पुनर्निविशेत' इति। अग्रेदिधिष्वादेर्लक्षणं स्मृत्यन्तरेऽभिहितम्—'ज्येष्ठायां यद्यनूढायां कन्यायामूह्यतेऽनुजा। या साऽग्रेदिधिषूर्ज्ञेया पूर्वा तु दिधिषूः स्मृता॥' इति। तत्राऽग्रेदिधिषूपतिः प्राजापत्यं कृत्वा तामेव ज्येष्ठां पश्चादन्येनोढामुद्वहेत्। दिधिषूपतिस्तु कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ कृत्वा स्वोढां ज्येष्ठां कनीयस्याः पूर्वविवोढ्रे दत्त्वाऽन्यामुद्वहेदिति परिवेदनम्। तथा भृतकाध्यापकभृतकाध्यापितयोश्च पयसा ब्रह्मसुवर्चलां पिबेदित्यधिकृत्य विष्णुनोक्तम्—'भृतकाध्यापनं कृत्वा भृतकाध्यापितस्तथा। अनुयोगप्रदानेन त्रीन्पक्षान्नियतः पिबेत्॥' इति। उत्कर्षहेतोरधीयानस्य[1] किं पठसि नाशितं त्वयेत्येवं पर्यनुयोगोऽनुयोगप्रदानम्। अत एव स्मृत्यन्तरे—'दत्तानुयोगानध्येतुः पतितान्मनुरब्रवीत्' इत्युक्तम्। अत्रापि पूर्वोक्तव्रतैः सहास्य शक्त्यपेक्षया विकल्पः।

इति भृतकाध्यापकभृतकाध्यापितप्रकरणम्।

तथा पारदार्येऽप्युपपातकसामान्यप्राप्तमानवत्रैमासिकस्य याज्ञवल्क्यव्रतचतुष्टयस्यापि गुरुदारादावपवाद उक्तः। तथाऽन्यत्रापि गौतमादिभिः पारदार्यविशेषेणापवाद उक्तः। यथाह गौतमः—'द्वे पारदार्ये त्रीणि श्रोत्रियस्य' इति। तथा वार्षिकं प्राकृतं ब्रह्मचर्यं प्रस्तुत्य तेनैवेदमभिहितम् 'उपपातकेषु चैवम्' इति। तत्रेयं व्यवस्था—ऋतुकाले कामतो जातिमात्रब्राह्मणीगमने वार्षिकं प्राकृतं ब्रह्मचर्यम्। तस्मिन्नेव काले कर्मसाधनत्वादिगुणशालिन्या ब्राह्मण्या गमने द्वे वर्षे प्राकृतं ब्रह्मचर्यम्। तादृश्या एव श्रोत्रियभार्याया गमने त्रीणि वर्षाणि प्राकृतं ब्रह्मचर्यम्। यद्वा, श्रोत्रियपत्न्यां गुणवत्यां ब्राह्मण्यां त्रैवार्षिकम्। तादृग्विधायामेव क्षत्रियायां द्वैवार्षिकम्। तादृश्यामेव वैश्यायां वार्षिकमिति व्यवस्था। एतत्स-

---

१. अधीयानस्य नाशितम्।

मानदृष्ट्या शूद्रायां षाण्मासिकं प्राकृतं ब्रह्मचर्यं कल्पनीयम् । अत एव शङ्खेन 'वैश्यामवकीर्णः संवत्सरं ब्रह्मचर्यं त्रिषवणं चानुतिष्ठेत्, क्षत्रियायां द्वे वर्षे, त्रीणि ब्राह्मण्यां वैश्यावच्च शूद्रायां ब्राह्मणपरिणीतायाम्' इति वर्णक्रमेण ह्रासो दर्शितः। एवं क्षत्रियस्यापि क्षत्रियादिषु स्त्रीषु क्रमेण द्विवार्षिकैकवार्षिकैकषाण्मासिकानि पूर्वोक्त एव विषये योजनीयानि । वैश्यस्य च वैश्याशूद्रयोर्वार्षिकषाण्मासिके । शूद्रस्य शूद्रयां परभार्यायां षाण्मासिकमेव । यत्त्वापस्तम्बीयम्—'सवर्णायामनन्यपूर्वायां सकृत्संनिपाते पादः, पतत्येवमभ्यासे पादः, पादश्चतुर्थे सर्वम्' इति, तद्गौतमीयत्रिवार्षिकेण समानविषयम् । अन्यपूर्विकायां चतुरभ्यासे द्वादशवार्षिकप्रायश्चित्तविधानादेकस्यामेव गमनाभ्यासे नेदं प्रायश्चित्तं, किंतु प्रतिगमनं पादपादन्यूनं कल्प्यम् । एतत्सर्वं कामकारविषयम् । अकामतः पुनरेतदेवार्धक्लृप्त्या पूर्वोक्तविषये योजनीयम् । अनृतुकाले तु जातिमात्रब्राह्मण्यां कामतो गमने मानवं त्रैमासिकम् । जातिमात्रक्षत्रियादिस्त्रीषु पुनरस्मिन्नेव विषये तदीयान्येव द्वैमासिकचान्द्रायणमासिकानि योजनीयानि । क्षत्रियादीनां च क्षत्रियादिस्त्रीषु द्वैमासिकादीन्येव । अकामतः पुनरेतासु क्षत्रियादित्रैवर्णिकानां याज्ञवल्कीयमृषभैकादशगोदानं मासं पञ्चगव्याशनं मासं प्राजापत्याचरणं च क्रमेण द्रष्टव्यम् । शूद्रागमने तु कामतो विहितं मासव्रतमेवार्धक्लृप्त्या योजनीयम् । अत एव संवर्तः—'शूद्रां तु ब्राह्मणो गत्वा मासं मासार्धमेव वा । गोमूत्रयावकाहारस्तिष्ठेत्तत्पापमुक्तये ॥' इति । अकामतोऽर्धमासिकमित्यभिप्रेतम् । 'ब्राह्मणश्चेदं प्रेक्षापूर्वकं ब्राह्मणदारानभिगच्छेत्तन्निवृत्तधर्मकर्मणः कृच्छ्रोऽनिवृत्तधर्मकर्मणोऽतिकृच्छ्र' इति तद्ब्राह्मणभार्यायां शूद्रायां द्रष्टव्यम् । द्विजातिस्त्रीषु च विप्रोढासु द्विस्त्रिर्व्यभिचारितासु अबुद्धिपूर्वगमने वा । तथा च संवर्तः—'विप्रामस्वजनां गत्वा प्राजापत्यं समाचरेत्' इति । कामतस्तु—'राज्ञीं प्रव्रजितां धात्रीं साध्वीं वर्णोत्तमामपि । कृच्छ्रद्वयं प्रकुर्वीत सगोत्रामभिगम्य च ॥' इति यमोक्तं कृच्छ्रद्वयं द्रष्टव्यम् । चतुराद्यभ्यासे तु 'व्यभिचारस्य स्वैरिण्यां वृषल्यामवकीर्णः सचैलस्नात उदकुम्भं दद्याद् ब्राह्मणाय, वैश्यायां च चतुर्थकालाहारो ब्राह्मणान्भोजयेद्यवसभारं च गोभ्यो दद्यात्, क्षत्रियायां त्रिरात्रोपोषितो यवाढकं दद्यात् । ब्राह्मण्यां त्रिरात्रोपोषितो गां दद्याद्गोष्ववकीर्णः प्राजापत्यं चरेत् । 'अनूढायामवकीर्णः पलालभारं सीसमाषकं च दद्यात्' इति शङ्खोक्तं वेदितव्यम् । चतुराद्यभ्यासविषयत्वं चास्य 'चतुर्थे स्वैरिणी प्रोक्ता पञ्चमे बन्धकी मता' इति स्मृत्यन्तरादवगम्यते । अत्रैव विषये षट्त्रिंशन्मतेऽप्युक्तम्—'ब्राह्मणीं बन्धकीं

१. मवकीर्णो । २. द्विवार्षिकवार्षिकषाण्मासिकानि । ३. त्रैवार्षिकाणाम् । ४. तिष्ठेत्तत्पापमोक्षतः इति । ५. भार्यायां द्रष्टव्यम् ।

गत्वा किंचिद्दद्याद्द्विजातये । राजन्यां चेद्धनुर्दद्याद्वैश्यां गत्वा तु चैलकम् ॥ शूद्रां गत्वा तु वै विप्र उदकुम्भं द्विजातये । दिवसोपोषितो वा स्याद्दद्याद्विप्राय भोजनम् ॥' इति (अनुलोमव्यवाये गर्भे द्विगुणं, यदि सा अतिदूषिता न प्रतिलोमगा भवति तदैव । अन्यजातिगमने द्वैगुण्यं, प्रतिलोमदूषितासु अन्त्यावसायिस्त्रीषु च चाण्डालीगर्भे यथा गुरुतल्पत्वं तथा किंचिन्न्यूनं तारतम्यं कल्प्यम् । चाण्डालीगमने वार्षिकम् । गर्भे गुरुतल्पत्वं तथैव ज्ञेयम् ।) इदं प्रायश्चित्तजातं गर्भानुत्पत्तिविषयम् । तदुत्पत्तौ तु यद्विशेषेण यत्प्रायश्चित्तमुक्तं तदेव तत्र द्विगुणं कुर्यात् ।—'गमने तु व्रतं यत्स्याद्गर्भे तद्द्विगुणं चरेत्' इत्युशनःस्मरणात् । शूद्रायां गर्भमादधतश्चतुर्विंशतिमते विशेष उक्तः—'वृषल्यामभिजातस्तु त्रीणि वर्षाणि चतुर्थकालसमये नक्तं भुञ्जीत' इति । यत्तु मनुवचनम् (३।१७)—'शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम् । जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते ॥' इति,–तत्पापगौरवख्यापनपरम् । प्रातिलोम्यव्यवाये तु सर्वत्र पुरुषस्य वध एव—'प्रातिलोम्ये वधः पुंसो नार्याः कर्णादिकर्तनम्' इति वचनात् ॥ यत्तु वृद्धप्रचेतोवचनम्—'शूद्रस्य ब्राह्मणीं मोहाद्गच्छतः शुद्धिमिच्छतः । पूर्णमेतद् व्रतं देयं माता यस्माद्धि तस्य सा ॥ पादहान्याऽन्यवर्णासु गच्छतः सार्ववर्णिकम् ॥' इति । द्वादशवार्षिकातिदेशकं, तत्स्वभार्याभ्रान्त्या गच्छतो वेदितव्यम् ; मोहादिति विशेषणोपादानात् । यत्तु संवर्तवचनम्–'कथंचिद् ब्राह्मणीं गच्छेत्क्षत्रियो वैश्य एव वा । कृच्छ्रं सान्तपनं वा स्यात्प्रायश्चित्तं विशुद्धये ॥ शूद्रस्तु ब्राह्मणीं गच्छेत्कथंचित्काममोहितः । गोमूत्रयावकाहारो मासेनैकेन शुद्ध्यति ॥' इति,–तदत्यन्तव्यभिचरितब्राह्मणीविषयम् । अन्त्यजागमनेऽपि प्रायश्चित्तं बृहत्संवर्तेनोक्तम्—'रजकव्याधशैलूषवेणुचर्मोपजीविनीः । एतास्तु ब्राह्मणो गत्वा चरेच्चान्द्रायणद्वयम् ॥' इति । इदं ब्राह्मणस्य कामतः सकृद्गमनविषयम् , क्षत्रियादीनां तु पादपादहीनं कल्प्यम् । अत्रैवापस्तम्बेनोक्तम्—'म्लेच्छी नटी चर्मकारी रजको बुरुडी[2] तथा । एतास्तु गमनं कृत्वा चरेच्चान्द्रायणद्वयम् ॥' इति । अन्त्यजाश्च तेनैव दर्शिताः—'रजकश्चर्मकारश्च नटो बुरुड एव च । कैवर्तमेदभिल्लाश्च सप्तैते अन्त्यजाः स्मृताः ॥' इति । ये तु चाण्डालादयोऽन्त्यावसायिनस्तत्स्त्रीगमने गुरुतरं प्रायश्चित्तं गुरुतल्पप्रकरणे दर्शितम् । एतासां चान्त्यजस्त्रीणां मध्ये यदेकस्यां व्यवाये प्रायश्चित्तमभिहितं तत्सर्वासु भवति; सर्वासां सदृशत्वात् । यथाहोशनाः—'बहूनामेकधर्माणामेकस्यापि यदुच्यते । सर्वेषां तद्भवेत्कार्यमेकरूपा हि ते स्मृताः ॥' इति । अकामतस्तु गमने—'चण्डालमेदश्वपचकपालव्रतचारिणाम् । अकामतः स्त्रियो गत्वा पराक-

१. कोष्ठान्तर्गतःक्वचिन्नास्ति । २. वरुडी तथा ।

व्रतमाचरेत् ॥' इत्यापस्तम्बोक्तं द्रष्टव्यम्। यच्च संवर्तवचनम्—'रजकव्याधशैलूष-वेणुचर्मोपजीविनाम्। स्त्रियो विप्रो यदा गच्छेत्कृच्छ्रं चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति,—तदन्यकामविषयम्। यत्तु शातातपेनोक्तम्—'कैवर्तीं रजकीं चैव वेणुचर्मोपजीविनीम्। प्राजापत्यविधानेन कृच्छ्रेणैकेन शुद्ध्यति ॥' इति,—तद्रेतःसेकात्प्राङ्निवृत्ति-विषयम्। यत्तूशनसोक्तम्—'कापालिकान्नभोक्तॄणां तन्नारीगामिनां तथा। ज्ञाना-त्कृच्छ्राब्दमुद्दिष्टमज्ञानादैन्दवद्वयम् ॥' इति,—तदभ्यासविषयम्। यदा तु चाण्डा-ल्यादिषु गच्छतो गर्भो भवति, तदा 'चाण्डाल्यां गर्भमारोप्य गुरुतल्पव्रतं चरेत्' इत्युशनसोक्तं द्वादशवार्षिकं द्रष्टव्यम्। यत्तु—'अन्त्यजायां प्रसूतस्य निष्कृतिर्न विधीयते। निर्वासनं कृताङ्कस्य तस्य कार्यमसंशयम् ॥' इत्यापस्तम्बवचनं, तत्कामकारविषयम्। स्त्रीणामपि सवर्णानुलोमव्यवाये यत्पुरुषस्योक्तं त्रैवार्षिकादि तदेव भवति। 'यत्पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद् व्रतम् ॥' (११।१७६)—इति मनुस्मरणात्। प्रातिलोम्येन व्यवाये एव परस्त्रीपुंसयोः प्रायश्चित्तभेदः। यथाह वसिष्ठः (२१।२,३)—'शूद्रश्चेद् ब्राह्मणीमभिगच्छेद्वीरणैर्वेष्टयित्वा शूद्रमग्नौ प्रास्येत्, ब्राह्मण्याः शिरसि वपनं कारयित्वा सर्पिषाऽभ्यज्य नग्नां खरमारोप्य महा-पथमनुव्राजयेत्पूता भवतीति विज्ञायते' इति। तथा-'वैश्यश्चेद् ब्राह्मणीमभिगच्छेल्लो-हितदर्भैर्वेष्टयित्वा वैश्यमग्नौ प्रास्येद् ब्राह्मण्याः शिरसि वपनं कारयित्वा सर्पिषा-ऽभ्यज्य नग्नां गौरखरमारोप्य महापथमनुसंव्राजयेत्पूता भवतीति विज्ञायते' इति। तथा 'राजन्यश्चेद् ब्राह्मणीमभिगच्छेच्छरपत्रैर्वेष्टयित्वा राजन्यमग्नौ प्रास्येत् ब्राह्मण्याः शिरसि वपनं कारयित्वा सर्पिषाऽभ्यज्य नग्नां गौरखरमारोप्य महापथमनुसंव्राजये-त्पूता भवतीति विज्ञायत' इति। एवं वैश्यो राजन्यां शूद्रश्च राजन्यावैश्ययोरिति। पूता भवतीति वचनाद्राजवीथिपरिव्राजनमेव दण्डरूपं प्रायश्चित्तान्तरनिरपेक्षं शुद्धिसाधनमिति दर्शयति।

ब्राह्मण्याः प्रातिलोम्येन द्विजातिव्यवाये प्रायश्चित्तान्तरमप्युक्तं संवर्तेन—'ब्राह्मण्यकामा गच्छेच्चेत्क्षत्रियं वैश्यमेव वा। गोमूत्रयावकैर्मासात्तदर्धाच्च विशु-द्ध्यति ॥' इति। कामतस्तु तद्द्विगुणं कर्तव्यम्। 'कामात्तद्द्विगुणं भवेत्' इति वच-नात्। षट्त्रिंशन्मतेऽपि 'ब्राह्मणी क्षत्रियवैश्यसेवायामतिकृच्छ्रं कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चरेत्। क्षत्रिययोषितां ब्राह्मणराजन्यवैश्यसेवायां कृच्छ्रार्धं प्राजापत्यमतिकृच्छ्रम्। वैश्ययोषितां ब्राह्मणराजन्यवैश्यसेवायां कृच्छ्रपादं कृच्छ्रपादं कृच्छ्रार्धं प्राजापत्यम्। शूद्रायाः शूद्रसेवने प्राजापत्यम्। ब्राह्मणराजन्यवैश्यसेवायां त्वहोरात्रं त्रिरात्रं कृच्छ्रार्धम्' इति। शूद्रसेवायां तु विशेषो बृहत्प्रचेतसोक्तः—'विप्रा शूद्रेण संपृक्ता न चेत्तस्मात्प्रसूयते। प्रायश्चित्तं स्मृतं तस्याः कृच्छ्रं चान्द्रायणत्रयम् ॥' एतदनिच्छन्त्यां स्वप्रतिभ्रान्त्या वा वेदितव्यम्। 'चान्द्रायणे द्वे कृच्छ्रश्च विप्राया वैश्यसेवने।

---

१. चैन्दवं स्मृतम्। २. वैश्यसंगमे।

कृच्छ्रचान्द्रायणे स्यातां तस्याः क्षत्रियसंगमे ॥ क्षत्रिया शूद्रसंपर्के कृच्छ्रं चान्द्रायणद्वयम्। चान्द्रायणं सकृच्छ्रं तु चरेद्वैश्येन संगता ॥ शूद्रं गत्वा चरेद्वैश्या कृच्छ्रं चान्द्रायणोत्तरम् । आनुलोम्ये प्रकुर्वीत कृच्छ्रं पादावरोपितम् ॥' इति । प्रजातायांस्तु चतुर्विंशतिमते विशेष उक्तः—'विप्रगर्भे पराकः स्यात्क्षत्रियस्य तथैन्दवम् । ऐन्दवश्च पराकश्च वैश्यस्याकामकारतः ॥ शूद्रगर्भे भवेत्त्यागश्चाण्डालो जायते यतः । गर्भस्रावे धातुदोषैश्चरेच्चान्द्रायणत्रयम् ॥' इति । 'अकामकारतः' इति विशेषणोपादानात् कामकारे पुनः पराकादिकं द्विगुणं कुर्यात् । यदा त्वनिःसृतगर्भैव दशमासं स्थित्वा प्रजायते तदा प्रायश्चित्ताभावः। 'ब्राह्मणक्षत्रियविशां भार्याः शूद्रेण संगताः । अप्रजाता विशुद्ध्यन्ति प्रायश्चित्तेन नेतराः ॥' इति वसिष्ठस्मरणात् । यदा त्वाहितगर्भैव पश्चाच्छूद्रादिभिर्व्यभिचरति तदा गर्भपातशङ्कया प्रसवोत्तरकालमेव प्रायश्चित्तं कुर्यात् ; 'अन्तर्वत्नी तु या नारी समेताक्रम्य कामिना । प्रायश्चित्तं न कुर्यात्सा यावद्गर्भो न निःसृतः ॥ जाते गर्भे व्रतं पश्चात्कुर्यान्मासं तु यावकम् । न गर्भदोषस्तस्यास्ति संस्कार्यः स यथाविधि ॥' इति स्मृत्यन्तरदर्शनात् । यदा त्वौद्धत्यात्प्रायश्चित्तं न कुर्वन्ति, तदा नार्याः कर्णादिकर्तनमिति द्रष्टव्यम् । अन्त्यजादिगमनेऽपि स्त्रीणां स्मृत्यन्तरे प्रायश्चित्तं दर्शितम्—'रजकव्याधशैलूषवेणुचर्मोपजीविनः । ब्राह्मण्येतान्यदा गच्छेदकामा-[1]दैन्दवत्रयम् ॥' इति । तथा चाण्डालस्याद्यन्त्यावसायिगमनेऽपि—'चाण्डालं पुल्कसं म्लेच्छं श्वपाकं पतितं तथा । ब्राह्मण्यकामतो गत्वा चान्द्रायणचतुष्टयम् ॥' इति 'अकामत' इति वचनात्कामतो द्विगुणं कल्प्यम् । तथा—'चाण्डालेन तु संपर्कं यदि गच्छेत्कथंचन । सशिखं वपनं कुर्याद्भुञ्जीयाद्यावकौदनम् ॥ त्रिरात्रमुपवासः स्यादेकरात्रं जले वसेत् । आत्मना [2]संमिते कूपे गोमयोदककर्दमे ॥ तत्र स्थित्वा निराहारा सा त्रिरात्रं ततः क्षिपेत् । शङ्खपुष्पीलता मूलं पत्रं वा कुसुमं फलम् । क्षीरं सुवर्णसंमिश्रं क्वाथयित्वा ततः पिबेत् ॥ एकभक्तं चरेत्पश्चाद्यावत्पुष्पवती भवेत् । बहिस्तावच्च निवसेद् यावच्चरति तद्व्रतम् ॥ प्रायश्चित्ते ततश्चीर्णे कुर्याद् ब्राह्मणभोजनम् । गोद्वयं दक्षिणां दद्याच्छुद्ध्यै स्वायंभुवोऽब्रवीत् ॥' इति ।—एतदप्यकामविषयमेव; 'यदि गच्छेत्कथंचन' इति वचनात् । अन्त्य-शूद्रेणाप्यनन्त्यव्यवाये प्रायश्चित्तान्तरमुक्तम्—'संपृक्ता स्यादथान्त्यैर्या सा कृच्छ्राब्दं समाचरेत्' इति ।—कामतः सकृद्गमने इदम् । यदा त्वाहितगर्भाया एव पश्चाच्चाण्डालादिव्यवायस्तदा तेनैव विशेष उक्तः—'अन्तर्वत्नी तु युवतिः संपृक्ता चान्त्ययोनिना । प्रायश्चित्तं न सा कुर्याद्यावद्गर्भो न निःसृतः ॥ न प्रचारं गृहे कुर्यान्न चाङ्गेषु प्रसाधनम् । न शयीत समं भर्त्रा न वा भुञ्जीत

1. एकामावैन्दवद्वयम् । 2. संमिते कर्दमे ।

बान्धवैः ॥ प्रायश्चित्तं गते गर्भे विधिं कृच्छ्रादिकं चरेत् । हिरण्यमथवा धेनुं दद्याद्विप्राय दक्षिणाम् ॥' इति । यदा तु कामतोऽत्यन्तसंपर्कं करोति तदा—'अन्त्यजेन तु संपर्के भोजने मैथुने कृते । प्रविशेत्संप्रदीप्तेऽग्नौ मृत्युना सा विशुद्ध्यति ॥' इत्युशनसोक्तं द्रष्टव्यम् । यदा तूक्तं प्रायश्चित्तं न करोति तदा पुंल्लिङ्गेनाङ्कनीया, वध्या वा भवेत् । 'हीनवर्णोपभुक्ता या साऽङ्क्या वध्याऽथवा भवेत्' इति पराशरस्मरणात् । इति पारदार्यप्रकरणम् । तथा परिवित्तिप्रायश्चित्तानामपि परिवेत्तृप्रायश्चित्तवद्व्यवस्था विज्ञेया । इयांस्तु विशेषः—'परिवेत्तुर्यस्मिन्विषये कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ तत्र परिवित्तेः प्राजापत्यमिति । परिवित्तिः कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा पुनर्निविशेत् तां चैवोपयच्छेत्' इति वसिष्ठस्मरणात् । इति परिवित्तिप्रकरणम् । वार्धुष्यलवणक्रययोस्तु मनुयोगीश्वरोक्तसामान्योपपातकप्रायश्चित्तानि जातिशक्तिगुणाद्यपेक्षया योज्यानि ॥ २६५ ॥

भाषा—उपपातकों की भी शुद्धि इसी प्रकार (गोवध के प्रायश्चित्त से) अथवा चान्द्रायण व्रत से या एक मास तक केवल दूध पीकर रहने या पराक व्रत करने से होती है ॥ २६५ ॥

लवणक्रयानन्तरं 'स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवध' (प्रा० २३६) इत्युपपातकमध्ये पठितं तत्र प्रायश्चित्तान्तरमप्याह—

ऋषभैकसहस्रा[1] गा दद्यात्क्षत्रवधे पुमान् ।
ब्रह्महत्याव्रतं वापि वत्सरत्रितयं चरेत् ॥ २६६ ॥
वैश्यहाब्दं चरेदेतद्दद्याद्वैकशतं गवाम् ।
षण्मासाच्छूद्रहाप्येतद्धेनूर्दद्याद् दशाथवा ॥ २६७ ॥

एकमधिकं यस्मिन्सहस्रे तदेकसहस्रं, तस्य पूरण एकसहस्रः, ऋषभ एकसहस्रो यासां गवां ताः ऋषभैकसहस्रास्ताः क्षत्रवधे दद्यात् । अथवा वृहत्प्रायश्चित्तं ब्रह्महत्याव्रतं वर्षत्रयं कुर्यात् । [2]वैश्यघाती पुनरेतत् ब्रह्महत्याव्रतमेकवर्षं चरेत् । गवामृषभैकशतं वा दद्यात् । शूद्रघाती तु ब्रह्महत्याव्रतं षण्मासं चरेत् । यद्वा दशधेनूरचिरप्रसूताः सवत्सा दद्यात् । इदमकामतो जातिमात्रक्षत्रियादिवधविषयम् ; 'अकामतस्तु राजन्यं विनिपात्य' (मनुः ११।१२७) इति प्रक्रम्यैतेषामेव प्रायश्चित्तानां मानवेऽभिधानात् । दानतपसोश्च शक्त्यपेक्षया व्यवस्था । ईषद्वृत्तस्थयोस्तु विट्शूद्रयोः—'तुरीयो ब्रह्महत्यायाः क्षत्रियस्य वधे स्मृतः । वैश्येऽष्टमांशो वृत्तस्थे शूद्रे ज्ञेयस्तु षोडश ॥' (११।१२६) इति मनूक्तं द्रष्टव्यम् । वृत्तस्थे क्षत्रिये तु सार्धचतुर्वार्षिकं कल्प्यम् । 'वृत्त'शब्देन चात्र गुणादिकमुच्यते । 'गुरुपूजा घृणा शौचं सत्यमिन्द्रियनिग्रहः । प्रवर्तनं

---

१. वृषभैकसहस्रा । २. वैश्यहा त्वेतत् । ३. [illegible] ।

हितानां च तत्सर्वं वृत्तमुच्यते ॥' इति मनुस्मरणात् । यत्तु वृद्धहारीतवचनम्—'ब्राह्मणः क्षत्रियं हत्वा षड्वर्षाणि व्रतं चरेत् । वैश्यं हत्वा चरेदेवं व्रतं त्रैवार्षिकं द्विजाः ॥ शूद्रं हत्वा चरेद्वर्षं वृषभैकादशाश्च गाः ॥' इति,—तत्कामकारविषयम् । श्रोत्रियक्षत्रियादिवधे तु—'तुरीयोनं क्षत्रियस्य वधे ब्रह्महणि व्रतम् । अर्धं वैश्यवधे कुर्यात्तुरीयं वृषलस्य तु ॥' इति वृद्धहारीतोक्तं द्रष्टव्यम् । यत्तु वसिष्ठवचनम्—'ब्राह्मणो राजन्यं हत्वाऽष्टौ वर्षाणि व्रतं चरेत् , षड् वैश्यं, त्रीणि शूद्रम्' इति,—तदपि हारीतीयेन समानविषयम् । क्षत्रिये स्त्रीषद्गुणन्यून इत्येतावान् विशेषः । यदा तु श्रोत्रियो वृत्तस्थश्च भवति तदा—'पूर्वयोर्वर्णयोर्वेदाध्यायिनं हत्वा' (ध० १।२४।६) इत्यापस्तम्बोक्तं द्वादशवार्षिकं द्रष्टव्यम् । प्रारब्धयागे त्वश्रोत्रिये क्षत्रियादौ व्यापादिते 'यागस्थक्षत्रविड्घाती चरेद् ब्रह्महणि व्रतम्' इति द्रष्टव्यम् । श्रोत्रिये पुनर्यागस्थे क्षत्रियादौ 'ब्राह्मणस्य राजन्यवधे षड्वार्षिकं प्राकृतं ब्रह्मचर्यमृषभैकसहस्राश्च गा दद्यात् , वैश्यवधे त्रिवार्षिकमृषभैकशताश्च गा दद्यात् , शूद्रवधे सांवत्सरिकमृषभैकादशाश्च गा दद्यात्' (२२।१४–१६) इति गौतमोक्तो दानतपसोः समुच्चयो द्रष्टव्यः । एतच्चामतिपूर्वविषयम् । 'पूर्ववदमतिपूर्वं चतुर्षु वर्णेषु प्रमाप्य द्वादश षट् त्रीन् संवत्सरं च व्रतान्यादिशेत्, तेषामन्ते गोसहस्रं च ततोऽर्धं तस्यार्धमर्धं च दद्यात्; सर्वेषामानुपूर्व्येण'इति स्मरणात् । इदं च द्वादशवार्षिकं गौतमीयविषयमेव, किंचिन्न्यूनगुणे क्षत्रिये गुणाधिकयोर्वैश्यशूद्रयोश्च द्रष्टव्यम् । 'स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवध' इत्युपपातकमध्ये विशेषत एव पठितत्वेनोत्सर्गापवादन्यायगोचरत्वादुपपातकसामान्यप्राप्तान्यपि प्रायश्चित्तान्यत्र योजनीयानि । तत्र दुर्वृत्तक्षत्रियादौ कामतो व्यापादिते मानवं त्रैमासिकं द्वैमासिकं चान्द्रायणं च वर्णक्रमेण योज्यम् । अकामतस्तु योगीश्वरोक्तं त्रिरात्रोपवाससहितमृषभैकादशगोदानं मासं पञ्चगव्याशनं मासिकं च पयोव्रतं यथाक्रमेण योज्यम् । एतच्च प्रागुक्तं व्रतजातं ब्राह्मणकर्तृके क्षत्रियादिवधे द्रष्टव्यम् ।—'अकामतस्तु राजन्यं विनिपात्य द्विजोत्तमः । तथा ब्राह्मणराजन्यवधे षड्वार्षिकं तथा ॥ ब्राह्मणः क्षत्रियं हत्वा' (११।१२७) इत्यादिषु मनुगौतमहारीतवसिष्ठवाक्येषु 'ब्राह्मण'ग्रहणात् । क्षत्रियादिकर्तृके तु क्षत्रियादिवधे पादन्यूनं द्रष्टव्यम् ; 'विप्रे तु सकलं देयं पादोनं क्षत्रिये स्मृतम् । वैश्येऽर्धमेकपादस्तु शूद्रजातिषु शस्यते ॥' इति वृद्धविष्णुस्मरणात् । 'यत्तु पर्षदा ब्राह्मणानां तु सा राज्ञां द्विगुणा मता । वैश्यानां त्रिगुणा प्रोक्ता पर्षद्वच्च व्रतं स्मृतम् ॥' इत्याङ्गिरोवचनं तत्प्रातिलोम्येन वाग्दण्डपारुष्यविषयमित्युक्तं गोवधप्रकरणे । मूर्धावसिक्तादीनां वधे एतत्प्रायश्चित्तजातं न भवति; तेषां क्षत्रियादित्वाभावात् ।

१–२. वृद्धहारीतोक्तम् ।

अतो दण्डानुसारेणैव तद्वधे पूर्वोक्तव्रतकदम्बस्य वृद्धिह्रासौ कल्पनीयौ। दण्डस्य च वृद्धिह्रासौ दर्शितौ—'दण्डप्रणयनं कार्यं वर्णजात्युत्तराधरैः' (व्य० २०६) इत्यत्र ॥ २६६–२६७ ॥

भाषा—क्षत्रिय का वध करने पर प्रायश्चित्त कर्ता पुरुष एक साँड़ (प्रौढ़ बछुवा) के साथ एक हजार गौओं का दान करे अथवा ब्रह्महत्याव्रत तीन वर्षों तक करे। वैश्य का वध करने वाला एक वर्ष तक ब्रह्महत्याव्रत करे अथवा एक साँढ़ के साथ एक सौ गौओं का दान करे। शूद्र का वध करने वाला छै मास तक ब्रह्महत्याव्रत करे अथवा एक साँढ़ के साथ नई ब्यायी दस सवत्सा गौवों का दान करे ॥ २६६–२६७ ॥

इति क्षत्रियादिवधप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

स्त्रीवधे प्रायश्चित्तमाह—

[1]दुर्वृत्तब्रह्मविट्क्षत्रशूद्रयोषाः प्रमाप्य तु ।
दृतिं धनुर्बस्तमविं क्रमाद्दद्याद्विशुद्धये ॥ २६८ ॥

ब्राह्मणादिभार्या दुर्वृत्ताः स्वैरिणीः प्रमाप्य क्रमेण दृतिं जलाधारचर्मकोशं, धनुः कार्मुकं, बस्तं छागं, अविं मेषं च, विशुद्धये दद्यात्। इदं च प्रातिलोम्येनान्त्यजातिप्रसूतानां ब्राह्मण्यादीनामकामतो वधविषयम्। कामतस्तु ब्रह्मगर्भ आह—'प्रतिलोमप्रसूतानां स्त्रीणां मासावधिः स्मृतः। अन्तरप्रभवानां च सूतादीनां चतुर्द्विषट् ॥' इति। ब्राह्मण्यादिवधे षण्मासाः क्षत्रियायाश्चत्वारो वैश्याया द्वावित्येवं यथार्हतयान्वयः। यदा तु वैश्यकर्मणा जीवन्तीं[2]व्यापादयति तदा किंचिद्देयम्। 'वैशिकेन किंचित्' (२२।२७) इति गौतमस्मरणात्। वैशिकेन वैश्यकर्मणा जीवन्त्यां व्यापादितायां किंचिदेव देयं तच्च जलम्। 'कोशं कूपेऽथ विप्रे वा ब्राह्मण्याः प्रतिपादयेत्। वधे धेनुः क्षत्रियाया बस्तो वैश्यावधे स्मृतः॥ शूद्रायामाविकं वैश्यां हत्वा दद्याजलं नरः॥' इत्यङ्गिरःस्मरणात्। यदा पुनः क्षत्रियादिभिः प्रातिलोम्येन व्यभिचरिता ब्राह्मणाद्या व्यापाद्यन्ते तदा गोवधप्रायश्चित्तानि यथार्हं योज्यानि ॥ २६८ ॥

भाषा—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र को व्यभिचारिणी स्त्री का वध करने पर प्रायश्चित्त कर्ता यथाक्रम (वर्णानुक्रम) से जल भरने वाला चमड़े का मशक, धनुष, बकरा तथा भेड़ का दान करे ॥ २६८ ॥

---

१. दुर्वृत्ता ब्रह्मनृपविट्शूद्रयोषाः। २. व्यापादितास्तदा॥

ईषद्व्यभिचरितब्राह्मण्यादिवधे विशेषमाह—

अप्रदुष्टां स्त्रियं हत्वा शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ।

यदा स्वप्रकर्षेण दुष्टामीषद्व्यभिचारिणीं ब्राह्मण्यादिकां व्यापादयति तदा शूद्रहत्याव्रतं षाण्मासिकं कुर्यात् । यद्वा,–दशधेनूर्दद्यात् । इदं च षाण्मासिकमकामतो ब्राह्मण्या व्यापादने, क्षत्रियावधे च कामकृते द्रष्टव्यम् । कामतो वैश्यावधे दशधेनूर्दद्यात् । कामतः शूद्रावधे तु उपपातकसाधारणप्राप्तं मासं पञ्चगव्याशनम् । यदा कामतो ब्राह्मणीं व्यापादयति, तदा द्वादशमासिकम् । क्षत्रियादीनां त्वकामतो व्यापादने त्रैमासिकं सार्धमासं सार्धद्वाविंशत्यहानि । यथाह प्रचेताः—'अनृतुमतीं ब्राह्मणीं हत्वा कृच्छ्राब्दं षण्मासान्वेति । क्षत्रियां हत्वा षण्मासान्मासत्रयं वेति वैश्यां हत्वा मासत्रयं सार्धमासं वेति शूद्रां हत्वा सार्धमासं सार्धद्वाविंशत्यहानि वा' इति । यत्तु हारीतेन 'षड्वर्षाणि राजन्ये प्राकृतं ब्रह्मचर्यं त्रीणि वैश्ये, सार्धं शूद्रे' इति प्रतिपाद्योक्तं 'क्षत्रियवद् ब्राह्मणीषु वैश्यवत्क्षत्रियायां शूद्रवद्वैश्यायां शूद्रां हत्वा नव मासान्' इत्युक्तं,–तदपि कर्मसाधनत्वादिगुणयोगिनीनां कामतो व्यापादने द्रष्टव्यम्; अकामतस्तदर्धं कल्प्यम् । आत्रेय्यां तु प्रागुक्तम् ।

भाषा—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की ईषद् व्यभिचारिणी स्त्री का वध करने पर प्रायश्चित्त कर्ता पूर्वोक्त शूद्रहत्या-विषयक व्रत करे अथवा नई ब्यायी दस सवत्सा गौवों का दान करे ।

इति स्त्रीवधप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

हिंसाप्रायश्चित्तप्रसङ्गात्प्रकीर्णकपदाभिधेयानुपपातकप्राणिवधेऽपि प्रायश्चित्तमाह—

अस्थिमतां सहस्रं तु तथाऽनस्थिमतामनः ॥ २६९ ॥

अस्थिमतां प्राणिनां कृकलासप्रभृतीनामनुक्तनिष्कृतीनां सहस्रं हत्वा, अनस्थिमतां च यूकामत्कुणदंशमशकप्रभृतीनाम्, अनः शकटं तत्परिपूर्णमात्रं हत्वा शूद्रहत्याव्रतं षाण्मासिकं प्राकृतं ब्रह्मचर्यं चरेद्दशधेनूर्वा दद्यात् । 'सहस्रम्' इति परिमाणनियमात्ततोऽधिकवधे त्वतिरिक्तं कल्प्यम् । अर्वाक्पुनः प्रत्येकवधे तु 'किंचित्सास्थिवधे देयं प्राणायामस्त्वनस्थिके' (प्रा० २७५) इति वक्ष्यति । 'तथाऽनस्थिमतामन' इति,–एतच्च यूकादिनिर्दिष्टजन्तुविषयम् । स्थविष्ठानस्थिघुणादिजन्तुवधे तु 'कृमिकीटवयोहत्या' (११।७०) इत्यादिना मलिनीकरणीयान्यभिधाय 'मलिनीकरणीयेषु तप्तः स्याद्यावकस्त्र्यहम्' इति मनूक्तं द्रष्टव्यम् ॥

भाषा—गिरगिट आदि हड्डी वाले एक हजार जन्तुओं का वध होने पर तथा जूँ, खटमल, डाँस एवं मच्छर आदि बिना हड्डी वाले एक बैलगाड़ी प्रमाण (असंख्य) जन्तुओं का वध हो जाने पर प्रायश्चित्तकर्ता पूर्वोक्त शूद्रहत्याव्रत अर्थात् प्राकृत ब्रह्मचर्य अथवा नयी ब्यायी दस सवत्सा गौओं का दान करे ॥ २६९ ॥

मार्जारगोधानकुलमण्डूकांश्च पतत्रिणः।
हत्वा त्र्यहं पिबेत्क्षीरं कृच्छ्रं वा पादिकं चरेत् ॥ २७० ॥

किंच, मार्जारादयः प्रसिद्धाः, पतत्रिणश्चाषकाकोलूकाः, तान् हत्वा त्रिरात्रं पयः पिबेत् पादकृच्छ्रं वा चरेत्। 'वा' शब्दाद्योजनगमनादिकं वा कुर्यात् ॥ यथाह मनुः (११।१३२)—'पयः पिबेत्त्रिरात्रं वा योजनं वाऽध्वनो व्रजेत्। अपः[1] स्पृशेत्स्रवन्त्यां वा सूक्तं वाऽब्दैवतं जपेत् ॥' इति।—इदं च प्रत्येकवध-विषयम्। समुदितवधे तु (११।१३१)—'मार्जारनकुलौ हत्वा चाषं मण्डूक-मेव च। श्वगोधोलूककाकांश्च शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥' इति मनूक्तं षाण्मासिकं द्रष्टव्यम् ॥ यत्पुनर्वसिष्ठेनोक्तम्—'श्वमार्जारनकुलमण्डूकसर्पदहरमूषिकान्हत्वा कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरेत्किंचिद्दद्यात्' इति, तत्कामतोऽभ्यासविषयं वेदितव्यम्। दहरोऽल्पमूषकश्छुच्छुन्दरी वा ॥ २७० ॥

भाषा—बिलाव, गोह, नेवला, मेढ़क, चाष, कौवा, उल्लू, आदि पक्षियों का वध हो जाने पर तीन अहोरात्रि केवल दूध पीवे अथवा पादकृच्छ्र (एक योजन तक पैदल चलना रूपी) व्रत करे ॥ २७० ॥

गजे नीलवृषाः पञ्च शुके वत्सो द्विहायनः।
खराजमेषेषु वृषो देयः क्रौञ्चे त्रिहायनः ॥ २७१ ॥

किंच, दन्तिनि व्यापादिते पञ्च नीलवृषा देयाः। शुके पक्षिणि द्विवर्षो वत्सः। रासभच्छागैडकेषु व्यापादितेषु प्रत्येकमेको वृषः। क्रौञ्चे पक्षिणि त्रिहायनो वत्सः। 'देय' इति सर्वत्रानुषङ्गः। मनुनाप्यत्र विशेष उक्तः (११। १३६)—'वासो दद्याद्धयं हत्वा पञ्च नीलान्वृषान्गजम्। अजमेषावनड्वाहं खरं हत्वैकहायनम् ॥' इति ॥ २७१ ॥

भाषा—हाथी का वध हो जाने पर पाँच नील बैल, सुग्गा (तोता) पक्षी का वध हो जाने पर दो वर्षों का बछड़ा, एवं गदहा, बकरा तथा भेड़ के वध हो जाने पर एक-एक बैल, और क्रौञ्च पक्षी का वध हो जाने पर तीन वर्षों के बछड़े का दान करे ॥ २७१ ॥

---

1. उपस्पृशेत्।

हंसश्येनकपिक्रव्याज्जलस्थलशिखण्डिनः ।
भासं च हत्वा दद्याद् गामक्रव्यादस्तु वत्सिकाम् ॥२७२॥

किंच, क्रव्यमपक्वं मांसमत्तीति क्रव्याद् व्याघ्रसृगालादिर्मृगविशेषः वानरसाहचर्यात्, तथा हंसश्येनसमभिव्याहारात् कङ्कगृध्रादिः पक्षिविशेषश्च गृह्यते; 'जल'शब्देन जलचरा बकादयो गृह्यन्ते; 'स्थल'शब्देन स्थलचरा बलाकादयः, शिखण्डी मयूरः; भासः पक्षिविशेषः, शेषाः प्रसिद्धाः, एषां प्रत्येकं वधे गामेकां दद्यात्। अक्रव्यादस्तु हरिणादिमृगान् खञ्जरीटादिपक्षिविशेषान्हत्वा वत्सतरीं दद्यात्। तथा च मनुः (११।१३५-१३७)—'हत्वा हंसं बलाकां च बकं बर्हिणमेव च। वानरं श्येनभासौ च स्पर्शयेद् ब्राह्मणाय गाम् ॥ क्रव्यादस्तु मृगान्हत्वा धेनुं दद्यात्पयस्विनीम्। अक्रव्यादो वत्सतरीमुष्ट्रं हत्वा तु कृष्णलम् ॥' इति ॥ २७२ ॥

भाषा—हंस, बाज, बन्दर एवं मांसभोजी—व्याघ्र, स्यार आदि तथा कंक, गृध्र, आदि एवं जल-चर बगुला तथा स्थलचर (बलाका आदि), मयूर, भास आदि पशु-पक्षी के वध हो जाने पर एक गौ का दान करे। और मांस नहीं खाने वाले हरिण आदि तथा खंजरीट आदि पक्षियों के वध हो जाने पर एक बछिया का दान करे ॥ २७२ ॥

उरगेष्वायसो दण्डः पण्डके त्रपु सीसकम् ।
कोले घृतघटो देय उष्ट्रे गुञ्जा हयेऽशुकम् ॥ २७३ ॥

किंच, सरीसृपेषु व्यापादितेषु अयोमयो दण्डस्तीक्ष्णप्रान्तो देयः। पण्डके नपुंसके व्यापादिते त्रपु सीसकं च माषपरिमितं दद्यात्, पलालभारं वा। 'पण्डकं हत्वा पलालभारं त्रपु सीसकं वा दद्यात्' इति स्मृत्यन्तरदर्शनात्। यद्यपि 'पण्डको लिङ्गहीनः स्यात्संस्कारार्हश्च नैव सः' इति देवलवचनेन सामान्येनैव स्त्रीपुंलिङ्गरहितो निर्दिष्टस्तथापि न गोब्राह्मणरूपस्येह विवक्षा; गोब्राह्मणवधनिषेधस्य जात्यवच्छेदेन प्रवृत्तेः, लिङ्गविरहिणि च पण्डे जातिसमवायाविशेषात्तन्निमित्तमेव लघुप्रायश्चित्तमुक्तम्। तस्मान्मृगपक्षिण एव विवक्षिताः। मृगपक्षिसमभिव्याहाराच्च कोले सूकरे व्यापादिते घृतकुम्भो देयः। उष्ट्रे गुञ्जा देया। वाजिनि विनिपातितेऽशुकं वस्त्रं देयम्। तथा च मनुः (११।१३३)—'अभ्रिं कार्ष्णायसीं दद्यात्सर्पं हत्वा द्विजोत्तमः। पलालभारकं षण्ढे सैसकं चैव माषकम् ॥' इति ॥ २७३ ॥

भाषा—साँप मारने पर नुकीली लोहे की छड़ी, पण्डक (नपुंसक पशु-पक्षी) को मारने पर पीतल और सीसा, सूअर मारने पर एक घड़ा घी, ऊँट मारने पर गुञ्जा और घोड़ा मारने पर वस्त्र का दान देना चाहिए ॥ २७३ ॥

---

१. क्रव्यादे तु वत्सिकाम्। २. बकादयः।

तित्तिरौ तु तिलद्रोणं गजादीनामशक्नुवन्।
दानं दातुं चरेत्कृच्छ्रमेकैकस्य विशुद्धये ॥ २७४ ॥

किंच, तित्तिरौ पतत्त्रिणि व्यापादिते तिलद्रोणं दद्यात्। 'द्रोण'शब्दश्च परिमाणविशेषवचनः। 'अष्टमुष्टि भवेत्किंचित्किंचिदष्टौ तु पुष्कलम्। पुष्कलानि तु चत्वारि आढकः परिकीर्तितः॥ चतुराढको भवेद् द्रोण इत्येतन्मानलक्षणम्॥' इति स्मरणात्॥ पूर्वोक्तानां गजादीनां व्यापादने निर्धनत्वेन नीलवृषपञ्चकादि-दानं कर्तुमशक्नुवन् प्रत्येकं कृच्छ्रं चरेद्विशुद्ध्यर्थम्। 'कृच्छ्र'शब्दश्चात्र लक्षणया क्लेशसाध्ये तपोमात्रे द्रष्टव्यः। तपांसि च गौतमेन दर्शितानि (१९।१७-१९)—'संवत्सरः षण्मासाश्चत्वारस्त्रयो द्वावेकश्चतुर्विंशत्यहो द्वादशाहः षडह-स्त्र्यहोऽहोरात्र इति कालः। एतान्येवानादेशे विकल्पेन क्रियेरन्नेनसि गुरुणि गुरूणि लघुनि लघूनि' इति। यदि 'कृच्छ्र'शब्देन मुख्योऽर्थो गृह्यते, तर्हि गजे शुके वा विशेषेण प्राजापत्य एव स्यात्। नच तद्युक्तम्; तपोमात्रपरत्वे तु दान-गुरुलघुभावाकलनया तपसोऽपि गुरुलघुभावो युज्यते। ततश्च गजे द्विमासिकं यावकाशनं शुके तूपवास इति। एवमन्यत्रापि दानानुसारेण प्रायश्चित्तं कल्प्यम्॥ २७४॥

भाषा—तित्तिर पक्षी को मारने पर एक द्रोण तिल का दान करे हाथी का वध करने पर पाँच नीलवृषों का दान न कर सकने पर शुद्धि के लिए एक कृच्छ्र व्रत करे ॥ २७४ ॥

किंचाह—

फलपुष्पान्नरसजसत्त्वघाते घृताशनम्।

उदुम्बरादौ फले मधूकादौ च कुसुमे चिरस्थितभक्तासक्त्वाद्यन्ने च रसे गुडादौ च यानि सत्त्वानि प्राणिनो जायन्ते तेषां घाते घृतप्राशनं शुद्धि-साधनम्। इदं च घृतप्राशनं भोजनकार्ये एव विधीयते; प्रायश्चित्तानां तपोरूपत्वात्। दर्शितं च तपोरूपत्वमाङ्गिरसे 'प्रायश्चित्त'पदनिर्वचनव्याजेन—'प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते। तपोनिश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तं तदुच्यते॥' इति॥

प्रतिप्राणिप्रायश्चित्तस्यानन्त्यात् पृष्ठाकोटेनापि वक्तुमशक्यत्वात्सामान्येन प्राय-श्चित्तमाह—

किंचित्सास्थिवधे देयं प्राणायामस्त्वनस्थिके ॥ २७५ ॥

अस्थिमतां कृकलासादिप्राणिनां न्यूनसहस्रसंख्यानां प्रत्येकं वधे किंचित्स्वल्पं धान्यहिरण्यादि देयम्। अनस्थिके त्वेकः प्राणायामः। तत्र किंचिदिति यदा हिरण्यं दीयते तदा पणमात्रम्; 'अस्थिमतां वधे पणो देयः' इति सुमन्तु-

स्मरणात् । यदा तु धान्यं देयं तदाऽष्टमुष्टि देयम् ; 'अष्टमुष्टि भवेत्किंचित्' इति स्मरणात् ।–एतच्चानुक्तनिष्कृतिप्राणिवधविषयम् । यत्र तु प्रायश्चित्तविशेषः श्रूयते, तत्र स एव भवति; यथाह पराशरः—'हंससारसचक्राह्वक्रौञ्चकुक्कुटघातकः । मयूरमेषौ हत्वा च एकभक्तेन शुद्ध्यति ॥ मद्गुं च टिट्टिभं चैव शुकं पारावतं तथा । आडिकां च बकं हत्वा शुद्ध्येद्द्वै नक्तभोजनात् ॥ चाषकाककपोतानां सारीतित्तिरघातकः । अन्तर्जले उभे संध्ये प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥ गृध्रश्येनविहङ्गानामुलूकस्य च घातकः । अपक्वाशी दिनं तिष्ठेद् द्वौ कालौ मारुताशनः ॥ हत्वा मूषिकमार्जारसर्पाजगरडुण्डुभान् । प्रत्येकं[1] भोजयेद्विप्रांल्लोहदण्डश्च दक्षिणा ॥ सेधाकच्छपगोधानां शशशल्यक[2]घातकः । वृन्ताकफलगुञ्जाशी अहोरात्रेण शुद्ध्यति ॥ मृगरोहिवराहाणामविकाबस्तघातने । वृकजम्बूकऋक्षाणां तरक्षूणां च घातकः ॥ तिलप्रस्थं त्वसौ दद्याद्वायुभक्षो दिनत्रयम् । गजमेषतुरङ्गोष्ट्रगवयानां निपातने ॥ प्रायश्चित्तमहोरात्रं त्रिसंध्यं चावगाहनम् । खरवानरसिंहानां चित्रकव्याघ्रघातकः ॥ शुद्धिमेति त्रिरात्रेण ब्राह्मणानां च भोजनैः ॥' इति ॥ एवमन्येषामपि स्मृतिवचसां देशकालाद्यपेक्षया विषयव्यवस्था कल्पनीया ॥ २७५ ॥

भाषा—फल, फूल, अन्न और रस में पड़े हुए (उत्पन्न हुए) क्षुद्र जीवों को मारने पर घी खाकर शुद्ध होवे । अस्थिवाले जीवों का (एक हजार से कम संख्या में) वध करने पर कुछ धान्य, सोना आदि का दान देना चाहिए, बिना अस्थिवाले जीवों को मारने पर एक प्राणायाम करे ॥ २७५ ॥

इति हिंसाप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

'इन्धनार्थं द्रुमच्छेद' (प्रा० २४०) इत्युपपातकोद्देशे पठितं, हिंसाप्रसङ्गलोभेन तद्व्युत्क्रमपठितमप्यपकृष्य तत्र प्रायश्चित्तमाह—

[3]वृक्षगुल्मलतावीरुच्छेदने जप्यमृक्शतम् ।
स्यादोषधिवृथाच्छेदे क्षीराशी गोऽनुगो दिनम् ॥ २७६ ॥

फलदानां आम्रपनसादीनां च वृक्षाणां गुल्मादीनां च यज्ञाद्यदृष्टार्थं विना छेदने ऋचां गायत्र्यादीनां शतं जप्तव्यम् । ओषधीनां तु ग्राम्यारण्यानां वृथैव छेदने दिनं कृत्स्नमहर्गवां परिचर्यामनुगम्यान्ते क्षीरं पिबेदाहारान्तरपरित्यागेन । पञ्चयज्ञार्थं तु न दोषः । एतच्च फलादिद्वारेणोपयोगिषु द्रष्टव्यम् । (मनुः ११।१४२)—'फलदानां तु वृक्षाणां छेदने जप्यमृक्शतम् । गुल्मवल्ली-

---

१. कृसरं भोजयेत् । २. शशशल्लक । ३. वृक्षगुल्मलतानां च छेदने ।

लतानां च पुष्पितानां च वीरुधाम् ॥' इति मनुस्मरणात् । दृष्टार्थत्वेऽपि कर्षणाङ्गभूतहलाद्यर्थत्वे न दोषः । 'फलपुष्पोपगान्पादपान्न हिंस्यात्कर्षणकरणार्थं चोपहन्यात्' इति वसिष्ठस्मरणात् । यत्र तु स्थानविशेषाद्दण्डाधिक्यं तत्र प्रायश्चित्ताधिक्यमपि कल्पनीयम् । तदुक्तम्—'चैत्यश्मशानसीमासु पुण्यस्थाने सुरालये । जातद्रुमाणां द्विगुणो दमो वृक्षेऽथ विश्रुते ॥' इति ।-अयं च ऋक्शतजपो द्विजातिविषयः, न पुनः शूद्रादिविषयः; तेषां जपेऽनधिकारात् । अतस्तेषां दण्डानुसारेण[1] द्विरात्रादिकं कल्पनीयम् । उपपातकमध्ये विशेषतः पाठस्यानर्थक्यपरिहारार्थमुपपातकसाधारणप्रायश्चित्तमप्यत्र[2] भवति । तच्च गुरुत्वादभ्यासविषयं कल्प्यम् ॥ २७६ ॥

भाषा—(विना यज्ञ कार्य के) वृक्ष, गुल्म, लता और विरवा काटने पर गायत्री आदि ऋचा का सौ बार जप करे। ओषधियों (वनस्पतियों) को निष्प्रयोजन काटने पर दिन भर दूध पीकर रहे और गाय की सेवा करे ॥ २७६ ॥

पुंश्चलीवानरादिवधप्रायश्चित्तप्रसङ्गात्तद्दंशनिमित्तं प्रायश्चित्तमाह—

पुंश्चलीवानरखरैर्दष्टश्वोष्ट्रादिवायसैः[3] ।
प्राणायामं जले कृत्वा घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥ २७७ ॥

पुंश्चल्यादयः प्रसिद्धाः, एतैर्दष्टः पुमानन्तर्जले प्राणायामं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुध्यति । 'आदि'ग्रहणाच्छृगालादीनां ग्रहणम् । यथाह मनुः (११।१९९)—'श्वसृगालखरैर्दष्टो ग्राम्यैः क्रव्याद्भिरेव च । नराश्वोष्ट्रवराहैश्च प्राणायामेन शुध्यति ॥' इति । अयं च घृतप्राशो भोजनप्रत्याम्नायो द्रष्टव्यः; प्रायश्चित्तानां तपोरूपत्वेन शरीरसंतापनार्थत्वात् ।-एतदशक्तविषयम् ; 'श्वसृगालमृगमहिषाजाविकखरकरभनकुलमार्जारमूषकप्लव[4]बककाकपुरुषदष्टानामापोहिष्ठेत्यादिभिः स्नानं प्राणायामत्रयं च ॥' इति यत् सुमन्तुवचनं, तन्नाभेरधःप्रदेश ईषद्दष्टविषयम् । यत्वङ्गिरोवचनम्—'ब्रह्मचारी शुना दष्टस्त्र्यहं सायं पिबेत्पयः । गृहस्थश्चेद् द्विरात्रं तु एकाहं योऽग्निहोत्रवान् ॥ नाभेरूर्ध्वं तु दष्टस्य तदेव द्विगुणं भवेत् । स्यादेतत्त्रिगुणं वक्त्रे मस्तके तु चतुर्गुणम् ॥' इति,-तत्सम्यग्दष्टविषयम् । क्षत्रियवैश्ययोस्तु पादपादन्यूनं कल्पनीयम् । शूद्रस्य तु—'शूद्राणां चोपवासेन शुद्धिर्दानेन वा पुनः । गां वा दद्याद् वृषं चैकं ब्राह्मणाय विशुद्धये[5] ॥' इति बृहदङ्गिरसोक्तं द्रष्टव्यम् । यत्तु वसिष्ठवचनम्—'ब्राह्मणस्तु शुना दष्टो नदीं गत्वा समुद्रगाम् । प्राणायामशतं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥' (२३।३१) इति,-तदुत्तमाङ्ग-

---

१. दण्डानुसारात् । २. साधारणप्राप्तं प्रायश्चित्तं । ३. दष्टश्वोष्ट्रादि । ४. मूषिकाप्लव । ५. विशुध्यति ।

दंशविषयम् ॥ स्त्रीणां तु—'ब्राह्मणी तु शुना दष्टा जम्बुकेन वृकेण वा । उदितं ग्रहनक्षत्रं दृष्ट्वा सद्यः शुचिर्भवेत् ॥' इति पराशरोक्तं द्रष्टव्यम् । कृच्छ्रादिव्रतस्थायाः पुनस्तेनैव विशेषो दर्शितः—'त्रिरात्रमेवोपवसेच्छुना दष्टा तु [1]सुव्रता । सघृतं यावकं भुक्त्वा व्रतशेषं समापयेत् ॥' इति ॥ रजस्वलायामपि विशेषः पुलस्त्येन दर्शितः—'रजस्वला यदा दष्टा शुना जम्बुकरासभैः । पञ्चरात्रं निराहारा पञ्चगव्येन शुध्यति ॥ ऊर्ध्वं तु द्विगुणं नाभेर्वक्त्रे तु त्रिगुणं तथा । चतुर्गुणं स्मृतं मूर्ध्नि दृष्टेष्वन्यत्राप्लुतिर्भवेत् ॥' इति । अन्यत्राऽरजस्वलावस्थायाम् । यस्तु श्वादिभिर्घ्राणादिनोपहन्यते तस्य शातातपेन विशेष उक्तः—'शुना घ्रातावलीढस्य नखैर्विलिखितस्य च । अद्भिः प्रक्षालनं शौचमग्निना चोपकूलनम्[2]' इति । उपकूलनं तापनम् ॥ यदा तु श्वादिदंशशस्त्रघातादिजनितव्रणे कृमय उत्पद्यन्ते तदा मनुना विशेष उक्तः—'ब्राह्मणस्य व्रणद्वारे पूयशोणितसंभवे । कृमिरुत्पद्यते यस्य प्रायश्चित्तं कथं भवेत् ॥ गवां मूत्रपुरीषेण त्रिसंध्यं स्नानमाचरेत् । त्रिरात्रं पञ्चगव्याशी त्वधोनाभ्या विशुध्यति ॥ नाभिकण्ठान्तरोद्भूते व्रणे चोत्पद्यते कृमिः । षड्रात्रं[3] तु त्र्यहं पञ्चगव्याशनमिति स्मृतम् ॥' तत्र श्वादिदंशव्रणे तद्दंशप्रायश्चित्तानन्तरमिदं कर्तव्यम् । शस्त्रादिजनितव्रणे त्वेतदेव, त्र्यहं पञ्चगव्याशनादिकमिति शेषः । क्षत्रियादिषु तु प्रतिवर्णं पादपादह्रासः कल्पनीयः ॥ २७७ ॥

भाषा—व्यभिचारिणी स्त्री, बन्दर, गदहा, ऊँट, घोड़ा (सियार आदि), कौआ द्वारा दाँत या चोंच से काटे जाने पर जल में खड़ा होकर प्राणायाम करने और घी खाने पर शुद्धि होती है ॥ २७७ ॥

शारीरत्वग्धातुविच्छेदकदंशप्रायश्चित्तप्रसङ्गाच्छारीरचरमधातुविच्छेदकस्कन्दने प्रायश्चित्तमाह—

> यन्मेऽद्य रेत इत्याभ्यां[4] स्कन्नं रेतोऽभिमन्त्रयेत् ।
> स्तनान्तरं [5]भ्रुवोर्मध्यं तेनाऽनामिकया स्पृशेत् ॥ २७८ ॥

यदि कथंचित्स्त्रीसंभोगमन्तरेणापि हठाच्चरमधातुर्विसृष्टस्तदा तत्स्कन्नं रेतो 'यन्मेऽद्य रेतः पृथिवीं', 'पुनर्मामैत्विन्द्रियम्' इत्याभ्यां मन्त्राभ्यामभिमन्त्रयेत् । तेन चाभिमन्त्रितेन रेतसा स्तनयोर्भ्रुवोश्च मध्यमुपकनिष्ठिकया स्पृशेत् ॥ अन्ये तु स्कन्नस्य रेतसोऽशुचित्वेन स्पर्शकर्मण्ययोग्यत्वात्तेनेत्यनामिकासाहचर्यात्स्वबुद्धिस्थाङ्गुष्ठपरत्वेन व्याचक्षते । तेनाङ्गुष्ठेनानामिकया चेति

---

१. सव्रता । २. चोपचूलनं । ३. षड्रात्रं च तदा प्रोक्तं प्राजापत्यं विशोधनं । ४. एताभ्यां स्कन्नं रेतोऽनुमन्त्रयेत् । ५. भ्रुवोर्वाऽपि तथा नामिकया ।

'अङ्गुष्ठ'पदग्रहणे वृत्तभङ्गप्रसङ्गात्तेनेति निर्दिष्टमिति,-तदसत्; अङ्गुष्ठस्याबुद्धिस्थत्वात्। नच शब्दसंनिहितपरित्यागेनार्थाद् बुद्धिस्थस्यान्वयो युक्तः। तदुक्तम्—'गम्यमानस्य चार्थस्य नैव दृष्टं विशेषणम्। शब्दान्तरैर्विभक्त्या वा धूमोऽयं ज्वलतीतिवत्॥' इति। नच रेतसोऽशुचित्वेन स्पर्शायोग्यत्वम्। विधानादेव प्रायश्चित्तार्थरूपस्पर्शे योग्यत्वमवगम्यते प्रायश्चित्तरूपपान इव सुरायाः। इदं च प्रायश्चित्तं गृहस्थस्यैवाकामतः स्कन्नविषयम्। ब्रह्मचारिणः स्वप्ने जागरणावस्थायां च गुरुप्रायश्चित्तस्य दर्शनात्[1]। यत्तु यमवचनम्—'गृहस्थः कामतः कुर्याद्रेतसः स्कन्दनं भुवि। सहस्रं तु जपेद् देव्याः प्राणायामैस्त्रिभिः सह॥' इति,-तत्कामकारविषयम्॥ २७८॥

भाषा—(स्वप्नदोष होने पर) 'यन्मेऽद्य रेतः पृथिवीमस्कन्त् पुनर्मामैत्विन्द्रियम्' इन मंत्रों से वीर्य का अभिमन्त्रण करे और उससे दोनों छाती, और दोनों भौहों के मध्यभाग का कनिष्ठिका अँगुली द्वारा स्पर्श करे॥ २७८॥

> मयि तेज इति च्छायां स्वां दृष्ट्वाऽम्बुगतां जपेत्[2]।
> सावित्रीमशुचौ दृष्टे चापल्ये चानृतेऽपि च[3]॥ २७९॥

किंच, स्वीयं प्रतिबिम्बमम्बुगतं दृष्टं चेत् तदा 'मयि तेज इन्द्रियम्' इतीमं मन्त्रं जपेत्। अशुचिद्रव्यदर्शने पुनः सावित्रीं सवितृदैवत्यां 'तत्सवितुः' इत्यादिकामृचं जपेत्। तथा वाक्पाणिपादादिचापल्यकरणे तामेव जपेत्, अनृतवचने च।-एतत्कामकारे द्रष्टव्यम्; अकामकृते तु 'सुप्त्वा भुक्त्वा च क्षुत्वा च निष्ठीव्योक्त्वानृतानि च। पीत्वाऽपोऽध्येष्यमाणश्च आचामेत्प्रयतोऽपि सन्॥' इति मनूक्तमाचमनं द्रष्टव्यम्॥ यत्तु संवर्तवचनम्—'क्षुते निष्ठीवने[4] चैव दन्तश्लिष्टे तथानृते। पतितानां च संभाषे दक्षिणं श्रवणं स्पृशेत्॥' इति,-तदल्पप्रयोजने जलाभावे वा द्रष्टव्यम्॥ स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधानन्तरं 'निन्दितार्थोपजीवनं' पठितं, तत्र च मनुयोगीश्वरप्रोक्तान्युपपातकप्रायश्चित्तानि जातिशक्तिगुणाद्यपेक्षया वेदितव्यानि। नास्तिक्येऽपि तानि प्रायश्चित्तानि तथैव प्रयोज्यानि, 'नास्तिक्य'-शब्देन च वेदादिनिन्दनं तेन जीवनमुच्यते; तत्रोभयत्रापि वसिष्ठेन प्रायश्चित्तान्तरमप्युक्तम्—'नास्तिकः कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा विरमेन्नास्तिक्यान्नास्तिकवृत्तिस्त्वतिकृच्छ्रम्' (२१।२९) इति।-एतच्च सकृत्करणविषयम्। उपपातकप्रायश्चित्तान्यभ्यासविषयाणि। यच्च शङ्खेनोक्तम्—'नास्तिको नास्तिकवृत्तिः कृतघ्नः कूटव्यवहारी मिथ्याभिशंसी इत्येते पञ्चसंवत्सरं ब्राह्मणगृहे भैक्षं चरेयुः' इति।

---

१. वक्ष्यमाणत्वात्। २. दृष्ट्वाऽम्बुनि वै जपेत्। ३. चापले वाऽनृतेऽपि च। ४. निष्ठीविते।

यच्च हारीतेन-'नास्तिको नास्तिकवृत्तिः' इति प्रक्रम्य 'पञ्चतपोऽभ्रावकाशजलशयनान्यनुतिष्ठेयुर्ग्रीष्मवर्षाहेमन्तेषु' इति,-तदुभयमत्यन्ताभिनिवेशेन बहुकालाभ्यासविषयम् ॥ २७९ ॥

भाषा—जल में पड़ी हुई अपनी छाया को देख कर 'मयि तेज इन्द्रियम्' मन्त्र का जप करे; अपवित्र मनुष्य को देखने पर, (वाणी, हाथ, पैर आदि की) चपलता करने पर और असत्यभाषण करने पर गायत्री का जप करे ॥ २७९ ॥

नास्तिक्यानन्तरं 'व्रतलोपश्च' इत्युक्तं, तत्रावकीर्णस्याप्रसिद्धत्वात्तल्लक्षणकथनपूर्वकं प्रायश्चित्तमाह—

अवकीर्णी भवेद् गत्वा ब्रह्मचारी तु योषितम् ।
गर्दभं पशुमालभ्य नैर्ऋतं स विशुध्यति ॥ २८० ॥

ब्रह्मचार्युपकुर्वाणको नैष्ठिकश्चासौ योषितं गत्वाऽवकीर्णी भवति । चरमधातोर्विसर्गोऽवकीर्णं तद्यस्यास्ति सोऽवकीर्णी, स निर्ऋतिदैवत्येन गर्दभपशुना यागं कृत्वा विशुध्यति । गर्दभस्य पशुत्वे सिद्धेऽपि पुनः 'पशु'ग्रहणं 'अथ पशुकल्पः' (१।११।१) इत्याश्वलायनादिगृह्योक्तपशुधर्मप्राप्त्यर्थम् । एतच्चारण्ये चतुष्पथे लौकिकेऽग्नौ कार्यम् । 'ब्रह्मचारी चेत्स्त्रियमुपेयादरण्ये चतुष्पथे लौकिकेऽग्नौ रक्षोदैवतं गर्दभं पशुमालभेत' (२३।१) इति वसिष्ठस्मरणात् ॥ तथा रात्रावेकाक्षिविकलेन यष्टव्यम् । तथा च मनुः (११।११८)—'अवकीर्णी तु काणेन रासभेन चतुष्पथे । पाकयज्ञविधानेन यजेत निर्ऋतिं निशि ॥' इति । पशोरभावे चरुणा यष्टव्यम् । 'निर्ऋतिं वा चरुं निर्वपेत् तस्य जुहुयात्-कामाय स्वाहा, कामकामाय स्वाहा, निर्ऋत्यै स्वाहा, रक्षोदेवताभ्यः स्वाहा' (२३।२।३) इति वसिष्ठस्मरणात् ।-एतच्चाशक्तविषयम् । शक्तस्य पुनर्गर्दभेनावकीर्णी निर्ऋतिं चतुष्पथे यजेत् । 'तस्याजिनमूर्ध्ववालं परिधाय लोहितपात्रः सप्तगृहान् भैक्षं चरेत्कर्माचक्षाणः संवत्सरेण शुध्यति' (२३।१७-१९) इति गौतमोक्तो वार्षिकतपःसमुचितः पशुयागश्चरुर्वा द्रष्टव्यः । तथा त्रिषवणस्नानमेककालभोजनं च द्रष्टव्यम् । (११।१२२-१२३)—'एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते वसित्वा गर्दभाजिनम् । सप्तागारं चरेद्भैक्षं स्वकर्म परिकीर्तयन् ॥ तेभ्यो लब्धेन भैक्षेण वर्तयन्नेककालिकम् । उपस्पृशंस्त्रिषवणमब्देन स विशुध्यति ॥' इति मनुस्मरणात् ॥ इदं च वार्षिकमश्रोत्रियब्राह्मणपत्न्यां वैश्यायां श्रोत्रियपत्न्यां च द्रष्टव्यम् ॥-यदा तु गुणवत्योर्ब्राह्मणीक्षत्रिययोः श्रोत्रियभार्ययोरवकिरति तदा त्रिवार्षिकं द्विवार्षिकं च क्रमेण योज्यम् ॥ यथाहतुः शङ्खलिखितौ—'गुप्तायां वैश्यायामवकीर्णः संवत्सरं

त्रिषवणमनुतिष्ठेत् । क्षत्रियायां तु द्वे वर्षे ब्राह्मण्यां त्रीणि वर्षाणि' इति । यत्पुनरङ्गिरोवचनम्—'अवकीर्णनिमित्तं तु ब्रह्महत्याव्रतं चरेत् । चीरवासास्तु षण्मासांस्तथा मुच्येत किल्बिषात् ॥' इति,—तदकामतो मानवाब्दिकविषयमीषद्व्यभिचारिणीविषयं वा ॥ अत्यन्तव्यभिचारिणीषु पुनः 'स्वैरिण्यां वृषल्यामवकीर्णः सचैलं स्नात उदकुम्भं दद्याद् ब्राह्मणाय । वैश्यायां चतुर्थकालाहारो ब्राह्मणान्भोजयेत्, यवसभारं च गोभ्यो दद्यात् । क्षत्रियायां त्रिरात्रमुपोषितो घृतपात्रं दद्यात् । ब्राह्मण्यां षड्रात्रमुपोषितो गां च दद्यात् । गोष्ववकीर्णः प्राजापत्यं चरेत् । षण्ढायामवकीर्णः पलालभारं सीसमाषकं च दद्यात्' इति शङ्खलिखितोदितं वेदितव्यम् । एतच्चावकीर्णिप्रायश्चित्तं त्रैवर्णिकस्यापि ब्रह्मचारिणः समानम् । 'अवकीर्णी द्विजो राजा वैश्यश्चापि खरेण तु । इष्ट्वा भैक्षाशिनो नित्यं शुद्ध्यन्त्यब्दात्समाहिताः ॥' इति शाण्डिल्यस्मरणात् । यदा स्त्रीसंभोगमन्तरेण कामतश्चरमधातुं विसृजति, दिवा च स्वप्ने वा विसृजति, तदा नैर्ऋतयागमात्रं द्रष्टव्यम्; 'एतदेव रेतसः प्रयत्नोत्सर्गे दिवा स्वप्ने च' (२३।५) इति वसिष्ठेन यागमात्रस्यातिदिष्टत्वात् । व्रतान्तरेषु कृच्छ्रचान्द्रायणाद्यतिदिष्टब्रह्मचर्येषु स्कन्दने सत्येतदेव यागमात्रम् । व्रतान्तरेषु चैव'मिति तेनैवातिदिष्टत्वात् । स्वप्नस्कन्दने तु मनूक्तं द्रष्टव्यम् (२।१८१)—'स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः । स्नात्वार्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्यृचं जपेत् ॥' इति । वानप्रस्थादीनां चेदमेव ब्रह्मचर्यखण्डने अवकीर्णिव्रतं कृच्छ्रत्रयाधिकं भवति; 'वानप्रस्थो यतिश्चैव स्कन्दने सति कामतः । पराकत्रयसंयुक्तमवकीर्णी व्रतं चरेत् ॥' इति शाण्डिल्यस्मरणात् ॥ यदा गार्हस्थ्यपरिग्रहेण संन्यासात्प्रच्युतो भवति तदा संवर्तोक्तं द्रष्टव्यम्; 'संन्यस्य दुर्मतिः कश्चित्प्रत्यापत्तिं व्रजेद्यदि । स कुर्यात्कृच्छ्रमश्रान्तः षण्मासात्प्रत्यनन्तरम् ॥' इति । प्रत्यापत्तिर्गार्हस्थ्यपरिग्रहः । अत एव वसिष्ठः—'यस्तु प्रव्रजितो भूत्वा पुनः सेवेत मैथुनम् । षष्टिवर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः ॥' इति । तथा च पराशरः—'यः प्रत्यवसितो विप्रः प्रव्रज्यातो विनिर्गतः । अनाशकनिवृत्तश्च गार्हस्थ्यं चेच्चिकीर्षति ॥ स चरेत्त्रीणि कृच्छ्राणि त्रीणि चान्द्रायणानि च । जातकर्मादिभिः सर्वैः संस्कृतः शुद्धिमाप्नुयात्' ॥ तत्र ब्राह्मणस्य षाण्मासिकः कृच्छ्रः पुनः संन्याससंस्कारश्च क्षत्रियस्य चान्द्रायणत्रयम् । वैश्यस्य कृच्छ्रत्रयमिति व्यवस्था । अथवा ब्राह्मणस्यैव शक्तिसकृदभ्यासाद्यपेक्षाया व्यवस्थितं प्रायश्चित्तत्रयं द्रष्टव्यम् ॥ ('चितिभ्रष्टा तु या नारी मोहाद्विचलिता क्वचित् । प्राजापत्येन शुद्ध्येत्तु तस्मादेवापकर्मणः ॥' चितिभ्रष्टा भर्तुरनुगमने आपस्तम्बस्मरणात् क्वचिदित्युक्तम् ।) तथा मरणसंन्यासिनामपि यमेन प्रायश्चित्तमुक्तम्–

---

१. गार्हस्थ्यसंबन्धः परिग्रहः । २. अयं चतुर्विंशतो माषोऽधिकः ।

'जलाग्न्युद्बन्धनभ्रष्टाः प्रव्रज्यानाशकच्युताः । विषप्रपतनप्रायशस्त्रघातच्युताश्च ये ॥ नैव ते प्रत्यवसिताः सर्वलोकबहिष्कृताः । चान्द्रायणेन शुद्ध्यन्ति तप्तकृच्छ्रद्वयेन वा ॥' इति ॥ इदं च चान्द्रायणं तप्तकृच्छ्रद्वयात्मकं प्रायश्चित्तद्वयं शक्त्याद्यपेक्षया व्यवस्थितं विज्ञेयम् । यदा तु 'शस्त्रघातहताश्च' इति पाठः, तदात्मत्यागाद्यशास्त्रीयमरणनिमित्तस्तत्पुत्रादेरुपदेशो द्रष्टव्यः ॥ यत्पुनर्वसिष्ठेनोक्तम्—'जीवन्नात्मत्यागी कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरेत्, त्रिरात्रं चोपवसेत्' (२३।१९) इति,—तदप्यध्यवसिताशास्त्रीयमरणस्यैव कथंचिज्जीवने शक्त्यपेक्षया द्रष्टव्यम् । अथवा—अध्यवसायमात्रे त्रिरात्रं, शस्त्रादिघातस्य द्वादशरात्रमिति व्यवस्था । इदं चावकीर्णिप्रायश्चित्तं गुरुदारतल्पमव्यतिरिक्तागम्यागमनविषयम् । तत्र गुरुतरप्रायश्चित्तस्य दर्शितत्वात् । नच लघुनाऽवकीर्णिव्रतेन द्वादशवार्षिकापनोद्यमहापातकदोषनिबर्हणमुचितम् । नच ब्रह्मचारित्वोपाधिकं लघुप्रायश्चित्तविधानमिति युक्तम्; आश्रमान्तराणां द्वैगुण्यादिवृद्धेर्ब्रह्महत्याप्रकरणे दर्शितत्वात् । न चात्रागम्यागमनप्रायश्चित्तं पृथक्कर्तव्यम्; ब्रह्मचारिणो योषिति ब्रह्मचर्यस्खलनस्यागम्यागमनेनान्तरीयकत्वात्, अतोऽन्यत्रापि यस्मिन्निमित्ते यन्निमित्तान्तरं समं न्यूनं वाऽवश्यंभाविनः । तत् पृथक् नैमित्तिकं प्रयुङ्क्ते । यथा (मनुः ११।२०८)—'अवगूर्य चरेत्कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं निपातने । कृच्छ्रातिकृच्छ्रोऽसृक्पाते कृच्छ्रोऽभ्यन्तरशोणिते ॥' इत्यत्र शोणितोत्पादननिमित्तेऽवगूरणनिपातलक्षणं निमित्तद्वयमवश्यंभावित्वेन स्वनैमित्तिकं कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं च न प्रयुङ्क्ते, एवमन्यत्राप्यूहनीयम् । यत्र पुनर्निमित्तानामन्तर्भावनियमो नास्ति, तत्र पुनर्नैमित्तिकानि पृथक्प्रयुज्यन्ते । निमित्तानि यथा—'यदा पर्वणि परभार्यां रजस्वलां तैलाभ्यक्तो दिवा जले गच्छति' इति ॥ ननु ब्रह्मचारिणो योषिति ब्रह्मचर्यस्खलनस्यागमनान्तरीयकत्वं नास्त्येव; पुत्रिकागमनेऽगम्यागमनदोषाभावात् । तथा हि—न तावत्पुत्रिका कन्या; अक्षतयोनित्वात्, नापि परभार्या; प्रदानाभावात्, नापि वेश्या; अतद्वृत्तित्वात्, नापि विधवा; भर्तृमरणाभावात्, अतः पुत्रिकायाः क्वाप्यनन्तर्भावादप्रतिषिद्धेति तत्रैव विप्लुतस्य केवलमवकीर्णिव्रतम् । अन्यत्र विप्लुतस्य तु निमित्तान्तरसंनिपातादवकीर्णिव्रतं नैमित्तिकान्तरमपि प्रयोक्तव्यमिति,—तदसत्; पुत्रिकाया अपि परभार्यास्वन्तर्भावात् । प्रदानाभावेऽपि विवाहसंस्कारेण संस्कृतत्वात् गान्धर्वादिविवाहपरिणीतावत् । नच 'यस्यास्तु न भवेद् भ्राता न विज्ञायेत वा पिता । नोपयच्छेत्तु तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया ॥' इति प्रतिषेधात्सगोत्रास्विव भार्यात्वं नोत्पद्यत इति वाच्यम् । दृष्टार्थत्वात् प्रतिषेधस्य व्यङ्गाद्यादिप्रतिषेधवत् । दृष्टार्थत्वं

१. भाविनस्तत्र । २. अवगोरण । ३. प्रयुक्तं अत एव ।

च पुत्रिकाधर्मशङ्कयेति हेतूपादानात्। नच पुत्रार्थमेव परिणयनं, अपि तु धर्मार्थमपि, अतश्चोत्पादितपुत्रस्य मृतभार्यस्य धर्मार्थं पुत्रिकापरिणयने को विरोधः? प्रपञ्चितं चैतत्पुरस्तादित्यलमतिप्रसङ्गेन। तस्माद् ब्रह्मचारिणो योषिति ब्रह्मचर्यस्खलनस्यागम्यागमनान्तरीयकत्वान्न पृथङ्नैमित्तिकं प्रयोक्तव्यमिति सुष्ठूक्तम् ॥ २८० ॥

भाषा—ब्रह्मचारी किसी स्त्री का भोग करने पर अवकीर्णी हो जाता है, वह निर्ऋति देवता के लिए गदहे द्वारा पशुयज्ञ करने पर शुद्ध होता है ॥ २८० ॥

ब्रह्मचारिप्रायश्चित्तप्रसङ्गादन्यदप्यनुपातकप्रायश्चित्तमाह—

> भैक्षाग्निकार्ये त्यक्त्वा तु सप्तरात्रमनातुरः।
> कामावकीर्ण इत्याभ्यां जुहुयादाहुतिद्वयम् ॥ २८१ ॥
> उपस्थानं ततः कुर्यात्सं मा सिञ्चन्त्वनेन तु।

यस्त्वनातुर एव ब्रह्मचारी निरन्तरं सप्तरात्रं भैक्षमग्निकार्यं वा त्यजति असौ 'कामावकीर्णोऽस्म्यवकीर्णोऽस्मि कामकामाय स्वाहा। कामावपन्नोऽस्म्यवपन्नोऽस्मि कामकामाय स्वाहा' इत्येताभ्यां मन्त्राभ्यामाहुती हुत्वा 'सं मा सिञ्चन्तु मरुतः समिन्द्रः सं बृहस्पतिः। संमायमग्निः सिञ्चन्तां यशसा ब्रह्मवर्चसेन ॥' इत्यनेन मन्त्रेणाग्निमुपतिष्ठेत् ॥ एतच्च गुरुपरिचर्याविगुरुतरकार्यव्यग्रतया अकरणे द्रष्टव्यम्। यदा त्वव्यग्र एवोभे भैक्षाग्निकार्ये त्यजति, तदा 'अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम्। अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत् ॥' (मनु० २।१८७) इति मानवं द्रष्टव्यम् ॥ यज्ञोपवीतविनाशे तु हारीतेन प्रायश्चित्तमुक्तम्—'मनोव्रतपतीभिश्चतस्र आज्याहुतीर्हुत्वा पुनर्यथार्थं प्रतीयादसक्षैक्षभोजनेऽभ्युदितेऽभिनिर्मुक्ते वान्ते दिवा स्वप्ने नग्नस्त्रीदर्शने नग्नस्वापे श्मशानमाक्रम्य हयादींश्चारुह्य पूज्यातिक्रमे चैताभिरेव जुहुयादग्निसमिन्धने स्थावरसरीसृपादीनां वधे "यद्देवादेवहेडनम्" इति कूष्माण्डीभिराज्यं जुहुयात्, मणिवासोगवादीनां प्रतिग्रहे सावित्र्यष्टसहस्रं जपेत्' इति। मनोव्रतपतीभिरिति मनोज्योतिरित्यादिमनोलिङ्गाभिः 'त्वमग्ने व्रतपा असि' इत्यादिव्रतलिङ्गाभिरित्यर्थः। यथार्थं प्रतीयादिति, उपनयनोक्तमार्गेण समन्त्रकं गृह्णीयादित्यर्थः। यज्ञोपवीतं विना भोजनादिकरणे तु—'ब्रह्मसूत्रं विना भुङ्क्ते विण्मूत्रं कुरुतेऽथवा। गायत्र्यष्टसहस्रेण प्राणायामेन शुध्यति ॥' इति मरीच्युक्तं द्रष्टव्यम् ॥ २८१½ ॥

---

१. हुत्वा चाऽऽज्याहुतिद्वयम्। उपस्थानद्वयं कुर्यात्। २. समायमग्नि। ३ हयादीनारुह्य। वासोगृहादीनां।

भाषा—बिना अस्वस्थता के सात दिन तक भिक्षाटन और अग्निकर्म छोड़ने पर 'कामावकीर्ण' आदि (कामावकीर्णोऽस्म्यवकीर्णोऽस्मि कामकामाय स्वाहा । कामावपन्नोऽस्म्यवपन्नोऽस्मि कामकामाय स्वाहा' इन दोनों मन्त्रों से दो आहुति करके 'संमा सिंचन्तु मरुतः समिन्द्रः संबृहस्पतिः । समायमग्निः सिंचन्तां यशसा ब्रह्मवर्चसेन ।' मन्त्र से पुनः अग्नि का उपस्थान करे ॥ २८१½ ॥

मधुमांसाशने कार्यः कृच्छ्रः शेषव्रतानि च ॥ २८२ ॥
प्रतिकूलं गुरोः कृत्वा प्रसाद्यैव विशुध्यति ।

किंच, ब्रह्मचारिणा अमत्या मधुमांसभक्षणे कृच्छ्रः कार्यः । तदनन्तरमवशिष्टानि व्रतानि समापयेत् ।-एतच्च शिष्टभोजनार्हशशादिमांसभक्षणविषयम् । 'ब्रह्मचारी चेन्मांसमश्नीयाच्छिष्टभोजनीयं कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा व्रतशेषं समापयेत्' (२३।११) इति वसिष्ठस्मरणात् । 'द्वादशरात्र'ग्रहणं तु मतिपूर्वाभ्यासापेक्षयाऽतिकृच्छ्रपराकादेरपि प्राप्त्यर्थम् । यदा तु मांसैकापनोद्यव्याध्यभिभूतस्तदा मांसं गुरोरुच्छिष्टं कृत्वा भक्षणीयम् । 'स चेद्व्याधितः कामं गुरोरुच्छिष्टं भैषज्यार्थं सर्वं प्राश्नीयात्' (२३।९) इति तेनैवोक्तत्वात् । 'सर्व'-ग्रहणं मांसलशुनाद्यभक्ष्यमात्रसंग्रहार्थम् । तद्भक्षणेन चापगतव्याधिरादित्यमुपतिष्ठेत । तथा च बौधायनः (२।१।२६-२७)—'येनेच्छेत्तु चिकित्सितुं तु यथाऽगदो भवति तदोत्थायादित्यमुपतिष्ठेत' 'हंसः शुचिषत्' इति । मधुनोऽप्यज्ञानतः प्राशनोपपत्तौ न दोषः । 'अकामोपनतं मधु वाजसनेयके न दुष्यति' (२३।१४) इति वसिष्ठस्मरणात् । अन्यसूतकान्नादिभक्षणप्रायश्चित्तं स्वभक्ष्यप्रायश्चित्तप्रकरणे वक्ष्यामः । आज्ञाप्रतिघातादिना गुरोः प्रतिकूलमाचरन् पादप्रणिपातादिना गुरुं प्रसाद्य विशुध्यति ॥ २८२½ ॥

भाषा—मधु और मांस खाने पर कृच्छ्र और अवशिष्ट व्रत करे । गुरु के विपरीत कार्य करने पर उन्हें प्रसन्न करने पर ही (ब्रह्मचारी) शुद्ध होता है ॥ २८२½ ॥

ब्रह्मचारिप्रायश्चित्तप्रसङ्गाद् गुरोरपि प्रायश्चित्तमाह—

कृच्छ्रत्रयं गुरुः कुर्यान्म्रियते[2] प्रहितो यदि ॥ २८३ ॥

यस्तु गुरुश्चौरोरगव्याघ्रादिभयाकुलप्रदेशे सान्द्रतरान्धकाराकुलितनिशीथावसरे कार्यार्थं शिष्यं प्रेरयति, स च गुरुणा प्रेरितो दैवान्मृतस्तदा स गुरुः कृच्छ्राणां प्राजापत्यादीनां त्रयं कुर्यात्, न पुनस्त्रयः प्राजापत्याः, तथा सति पूर्वोक्त[3]निवेशिनी संख्यानुपपन्ना स्यात् । न च 'एकादश प्रयाजान्यजति' इतिवदावृत्त्यपेक्षा संख्येति चतुरस्रम् ; स्वरूपपृथक्त्वे संभवत्यावृत्त्यपेक्षया अन्याय्य-

१. केचो छन्दांसि । २. प्रहितो म्रियते यदि । ३. पूर्वक्रमनिवेशिनी ।

स्यात्। यदियमुत्पन्नगता संख्या स्यात्तदा स्यादपि कथंचिदावृत्त्यपेक्षा, किंतू-त्पत्तिगतेयम्; अतः 'तिस्र आज्याहुतीर्जुहोति' इतिवत् स्वरूपपृथक्त्वापेक्षयैव त्रित्वसंख्याघटना युक्ता ॥ २८३ ॥

भाषा—किसी कार्य पर भेजे गये (और उस कार्य के सम्पादन के लिये) शिष्य की मृत्यु होने पर (हिंसक पशु आदि द्वारा मारे जाने पर) गुरु तीन कृच्छ्र व्रत करे ॥ २८३ ॥

सकलहिंसाप्रायश्चित्तापवादमाह—

क्रियमाणोपकारे तु मृते विप्रे न पातकम्।
[विपाके[1] गोवृषाणां तु भेषजाग्निक्रियासु च ॥]

आयुर्वेदोपदेशानुसारेणौषधपथ्यान्नप्रदानादिभिश्चिकित्सादिना क्रियमाण उपकारो यस्य ब्राह्मणादेस्तस्मिन्दैवात्कथंचिन्मृतेऽपि पातकं नैव भवति। 'विप्र'ग्रहणं प्राणिमात्रोपलक्षणार्थम्। अत एव 'यन्त्रणे गोचिकित्सार्थे[2] गूढगर्भ-विमोचने। यत्ने कृते विपत्तिः स्यान्न स पापेन लिप्यते ॥' इत्यादि संवर्तादि-रुक्तम्। एतच्च प्रपञ्चितं प्राक् ॥—

भाषा—औषध आदि द्वारा उपकार करते समय ब्राह्मण की मृत्यु हो जाने पर पातक नहीं लगता। [गाय और वृष की चिकित्सा और अग्निकार्य में प्राणनाश हो तो पाप नहीं लगता।] ॥

मिथ्याभिशंसिनः प्रायश्चित्तविवक्षया तदुपयोग्यर्थवादं तावदाह—

मिथ्याभिशंसिनो दोषो द्विः समो भूतवादिनः ॥ २८४ ॥
मिथ्याभिशस्तदोषं च समादत्ते मृषा वदन्।

यस्तु परोत्कर्षेर्ष्याजनितरोषकलुषितान्तःकरणो जनसमक्षं मिथ्यैवाभि-शापं 'ब्रह्महत्यादिकमनेन कृतम्' इत्यारोपयति, तस्य तदेव द्विगुणं भवति। यस्तु विद्यमानमेव दोषमलोकविदितं जनसमक्षं प्रकाशयति, तस्यापि तत्पा-तकिसमदोषभाक्त्वम्; तथा चापस्तम्बः (१।२१।२०)—'दोषं बुद्ध्वा न पूर्वः परेभ्यः पतितस्य समाख्याता[3] स्यात् परिहरेच्चैनं धर्मेषु' इति न केवलं मिथ्याभिशंसो द्विगुणदोषभाक्, अपि तु मिथ्याभिशस्तस्य यदन्यद् दुरितजातं तदपि समादत्त इति वक्ष्यमाणप्रायश्चित्तेऽर्थवादः, न पुनः पापद्वैगुण्यादि-प्रतिपादनमत्र विवक्षितम्; निमित्तस्य लघुत्वाल्लघुप्रायश्चित्तस्योपदेक्ष्यमाणत्वात् कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गाच्च ॥ २८४३ ॥

---

1. इदमर्धं पुस्तक एवाधिकमस्ति। 2. गोश्चिकित्सार्थे। 3. समा-ख्याये।

भाषा—(ईर्ष्या आदि के कारण) दूसरे पर झूठे ही (ब्रह्महत्या आदि का) दोष कहने वाला तथा वास्तविक दोष को भी कहता फिरने वाला इन दोनों को दूना दोष लगता है। मिथ्या दोष कहने वाला न केवल दूने दोष से युक्त होता है अपितु जिस पर दोष लगता है उसके सभी पाप भी उसे लग जाते हैं ॥ २८४½ ॥

तत्र प्रायश्चित्तमाह—

महापापोपपापाभ्यां योऽभिशंसेन्मृषा परम् ।
अब्भक्षो मासमासीत स जापी नियतेन्द्रियः ॥ २८५ ॥

यस्तु महापापेन ब्रह्महत्यादिना गोवधाद्युपपापेन वा मृषैव परमभिशंसति स मासं यावज्जलाशनो जपशीलो जितेन्द्रियश्च भवेत् । तपश्च शुद्धवतीनां कार्यः । 'ब्राह्मणमनृतेनाभिशस्य पतनीयेनो[१]पपातकेन वा मासमब्भक्षः शुद्धवतीरावर्तयेदश्वमेधावभृथं वा गच्छेत्' (२४।३९-४०) इति वसिष्ठस्मरणात् । 'महापापोपपाप'ग्रहणमन्येषामप्यतिपातकादीनामुपलक्षणम् । एतच्च ब्राह्मणस्यैव ब्राह्मणेनाभिशंसने कृते द्रष्टव्यम् । यदा तु ब्राह्मणः क्षत्रियादेरभिशंसनं करोति, क्षत्रियादिर्वा ब्राह्मणस्य तदा—'प्रतिलोमापवादेषु द्विगुणस्त्रिगुणो दमः । वर्णानामानुलोम्येन तस्मादर्धार्धहानितः ॥' इति दण्डानुसारेण प्रायश्चित्तस्य वृद्धिह्रासौ कल्पनीयौ । भूताभिशंसिनस्तु पूर्वोक्तार्थवादानुसारेण दण्डानुसारेण च तदर्धं कल्पनीयम् । तथाऽतिपातकाभिशंसिन एतदेव व्रतं पादोनम् , पातकाभिशंसिनस्त्वर्धम् , उपपातकाभिशंसिनस्तु पादः; 'तुरीयो ब्रह्महत्यायाः क्षत्रियस्य वधे स्मृतः' (मनुः ११।१२६)—इत्युपपातकभू[२]तक्षत्रियादिवधे महापातकप्रायश्चित्ततुरीयांशस्य दर्शनात् । एवं प्रकीर्णाभिशंसिनोऽपि उपपातकान्न्यूनं कल्पनीयम् । 'शक्तिं चावेक्ष्य पापं च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत्' इति स्मरणात् । यत्तु शङ्खलिखिताभ्यां 'नास्तिकः कृतघ्नः कूटव्यवहारो ब्राह्मणवृत्तिघ्नो मिथ्याभिशंसी चेत्येते षड्वर्षाणि ब्राह्मणगृहेषु भैक्षं चरेयुः, संवत्सरं धौतभैक्षमश्नीयुः, षण्मासान्वा गा अनुगच्छेयुः' इति गुरुप्रायश्चित्तमुक्तं,—तदभ्यासतारतम्यापेक्षया योजनीयम् ॥ २८५ ॥

भाषा—जो दूसरे पर झूठा महापातक या पातक लगाता है वह एक मास तक जल पीकर रहे, जप करता रहे और इन्द्रियों का सम्यक् रूप से संयम रखे ॥ २८५ ॥

---

१. गोपपतनीयेन वा । २. गोपि तथो न्यूनं ।

अभिशंसिप्रायश्चित्तप्रसङ्गादभिशस्तप्रायश्चित्तमाह—

अभिशस्तो मृषा कृच्छ्रं चरेदाग्नेयमेव वा।
[1]निर्वपेत्तु पुरोडाशं वायव्यं पशुमेव वा ॥ २८६ ॥

यः पुनर्मिथ्याभिशस्तः स कृच्छ्रं प्राजापत्यं चरेत्। अग्निदैवत्येन वा पुरोडाशेन यजेत। वायुदैवत्येन वा पुरोडाशेन यजेत। वायुदैवत्येन वा पशुना। एषां च पक्षाणां शक्तिसंभवापेक्षया व्यवस्था। यत्तु वसिष्ठेन 'मासमब्भक्षणमुक्तमेतेनैवाभिशस्तो व्याख्यातः' (२४।३७) इति,-तदभिशस्तस्यैव किंचित्कालमकृतप्रायश्चित्तस्य सतो द्रष्टव्यम्; 'संवत्सराभिशस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो दमः' इति दण्डातिरेकदर्शनात्। यत्तु पैठीनसिनोक्तम्—'अनृतेनाभिशस्यमानः कृच्छ्रं चरेन्मासं पातकेषु महापातकेषु द्विमासम्' इति,-तदपि वासिष्ठेन समानविषयम्। यत्तु बौधायनेनोक्तम्—'पातकाभिशंसिने कृच्छ्रस्तदर्धमभिशस्तस्य' (२।१।६०।१) इति,-तदुपपातकादिविषयं अशक्तविषयं वा। एवमन्येषामप्युच्चावचप्रायश्चित्तानामभिशस्तविषयाणां कालशक्त्याद्यपेक्षया व्यवस्था विज्ञेया। यथाह मनुः (११।२००)—'षष्ठान्नकालता मासं संहिताजप एव वा। होमाश्च शाकला नित्यमपाङ्क्तानां विशोधनम् ॥' इति। अपाङ्क्तानां मध्ये अभिशस्तादयः पठिताः। यद्यप्यत्राभिशस्तस्य निषिद्धाचरणं नोपलभ्यते तथापि मिथ्याभिशस्तत्वलिङ्गानुमितप्राग्भवीयनिषिद्धाचरणापूर्वनिबन्धनमिदं प्रायश्चित्तं कृमिदष्टानामिवेति न विरोधः ॥ २८६ ॥

भाषा—जिस पर झूठा दोषारोपण किया गया हो वह कृच्छ्र व्रत करे अथवा अग्नि देवता का पुरोडाश से यज्ञ करे अथवा वायु के लिये पुरोडाश से यज्ञ करे अथवा वायु के लिये पुरोडाश से या एक पशु से यज्ञ करे ॥ २८६ ॥

अनियुक्तो भ्रातृजायां गच्छंश्चान्द्रायणं चरेत्।

किंच, यस्तु नियोगं विना भ्रातुर्ज्येष्ठस्य कनिष्ठस्य वा भार्यां गच्छति स चान्द्रायणं चरेत्।-एतच्च सकृदमतिपूर्वविषयं द्रष्टव्यम्। यत्तु शङ्खवचनम्—'परिवित्तिः परिवेत्ता च संवत्सरं ब्राह्मणगृहेषु भैक्षं चरेयातां ज्येष्ठभार्यामनियुक्तो गच्छंस्तदेव कनिष्ठभार्यां च' इति,-तत्कामकारविषयम् ॥—

भाषा—विना नियोग के (श्रेष्ठ जनों की आज्ञा के विना ही) जेठे या छोटे भाई की पत्नी से भोग करने वाला चान्द्रायण व्रत करे।

किंचाह—

त्रिरात्रान्ते घृतं प्राश्य गत्वोदक्यां विशुध्यति ॥ २८७ ॥

यः पुनरुदक्यां रजस्वलां स्वभार्यामपि गच्छति स त्रिरात्रमुपोष्यान्ते घृतं

---

1. निर्वपेत पुरोडाशं वायव्यं पशुमेव वा।

मास्य विशुध्यति ।–इदमकामतः सकृद्गमनविषयम् । तत्रैवाभ्यासे 'रजस्वला-गमने सप्तरात्रम्' इति [illegible] 'कं [illegible] । कामतः सकृद्गमनेऽप्येतदेव । यत्तु बृहत्संवर्त्तेनोक्तम्—'र[illegible] तु यो गच्छेद्गर्भिणीं पतितां तथा । तस्य पापविशुद्ध्यर्थमतिकृच्छ्रं विशोधनम् ॥' इति,–तत्कामतोऽभ्यासविषयम् । यत्पुनः शङ्खेन त्रिवार्षिकमुक्तम्—'पादस्तु शूद्रहत्यायामुदक्यागमने तथा' इति, तत्कामतोऽत्यन्तानवच्छिन्नाभ्यासविषयम् । रजस्वलायास्तु रजस्वलादिस्पर्शे प्रायश्चित्तं स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् । तथा च बृहद्वसिष्ठः—'स्पृष्टे रजस्वलेऽन्योन्यं सवर्णे[1] त्वेकभर्तृके । कामादकामतो[2] वापि सद्यः स्नानेन शुध्यतः ॥' इति । असपत्न्योस्तु सवर्णयोरकामतः स्नानमात्रम्–'उदक्या तु सवर्णा या स्पृष्टा चेत्स्यादुदक्यया । तस्मिन्नेवाहनि स्नात्वा शुद्धिमाप्नोत्यसंशयम् ॥' इति मार्कण्डेयस्मरणात् ॥ यत्तु कश्यपवचनम्—'रजस्वला तु संस्पृष्टा ब्राह्मण्या ब्राह्मणी यदि । एकरात्रं निराहारा पञ्चगव्येन शुध्यति ॥' इति,–तत्कामकारविषयम् । असवर्णास्पर्शे तु बृहद्वसिष्ठेन विशेषो दर्शितः—'स्पृष्ट्वा रजस्वलाऽन्योन्यं ब्राह्मणी शूद्रजापि च । कृच्छ्रेण शुध्यते पूर्वा शूद्री दानेन शुध्यति ॥' दानेनेति पादकृच्छ्रप्रत्याम्नायभूतनिष्कचतुर्थांशदानेन शुध्यतीति । 'स्पृष्ट्वा रजस्वलाऽन्योन्यं ब्राह्मणी वैश्यजापि च । पादहीनं चरेत्पूर्वा पादकृच्छ्रं तथोत्तरा ॥ स्पृष्ट्वा रजस्वलाऽन्योन्यं ब्राह्मणी क्षत्रिया तथा । कृच्छ्रार्धाच्छुध्यते पूर्वा तूत्तरा च तदर्धतः ॥ स्पृष्ट्वा रजस्वलाऽन्योन्यं क्षत्रिया शूद्रजापि च । उपवासैस्त्रिभिः पूर्वा त्वहोरात्रेण चोत्तरा ॥ स्पृष्ट्वा रजस्वलाऽन्योन्यं क्षत्रिया वैश्यजापि च । त्रिरात्राच्छुध्यते पूर्वा त्वहोरात्रेण चोत्तरा[3] ॥ स्पृष्ट्वा रजस्वलाऽन्योन्यं वैश्या शूद्रा तथैव च । त्रिरात्राच्छुध्यते पूर्वा तूत्तरा च दिनद्वयात् ॥ वर्णानां कामतः स्पर्शे शुद्धिरेषा पुरातनी ॥' इति ॥ अकामतस्तु बृहद्विष्णुमोक्तं स्नानमात्रम्—"रजस्वला हीनवर्णां रजस्वला स्पृष्ट्वा न तावदश्नीयाद्यावन्न शुद्धा स्यात् । सवर्णामधिकवर्णां वा स्पृष्ट्वा सद्यः स्नात्वा विशुध्यति' इति ॥ चण्डालादिस्पर्शे तु बृहद्वसिष्ठेन विशेष उक्तः—'पतितान्त्यश्वपाकेन संस्पृष्टा चेद्रजस्वला । तान्यहानि व्यतिक्रम्य प्रायश्चित्तं समाचरेत् ॥ प्रथमेऽह्नि त्रिरात्रं स्याद् द्वितीये द्व्यहमेव तु । अहोरात्रं तृतीयेऽह्नि परतो नक्तमाचरेत् ॥ शूद्रयोच्छिष्टया स्पृष्टा शुना चेद् द्व्यहमाचरेत् ॥' इति । तान्यहानि व्यतिक्रम्य अनाशकेन नीत्वेति यावत् ।–एतत्कामतः स्पर्शविषयम् । अकामतस्तु—'रजस्वला तु संस्पृष्टा चाण्डालान्त्यश्ववायसैः । तावत्तिष्ठेन्निराहारा यावत्कालेन शुध्यति ॥' इति बौधायनेनोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ यत्पुनस्तेनैवोक्तम्—'रजस्वला तु संस्पृष्टा ग्रामकुक्कुटसूकरैः । श्वभिः स्नात्वा क्षिपेत्तावद्यावच्चन्द्रस्य दर्शनम् ॥' इति,–[illegible] ॥ यदा तु [illegible] स्पर्शो भवति तदा

---

1. [illegible] । 2. कामतोऽकामतो वापि । 3. [illegible] ।

स्मृत्यन्तरे विशेष उक्तः—'रजस्वला तु भुञ्जाना श्वान्त्यजादीन्स्पृशेद्यदि । गोमूत्रयावकाहारा षड्रात्रेण विशुध्यति ॥ अशक्तौ काञ्चनं दद्याद्विप्रेभ्यो वापि भोजनम् ॥' इति ॥ यदा तूच्छिष्टयोः परस्परस्पर्शनं भवति तदा—'उच्छिष्टोच्छिष्टया स्पृष्टा कदाचित्स्त्री रजस्वला । कृच्छ्रेण शुध्यते पूर्वा शूद्रा दानैरुपोषिता ॥' इत्यत्रिणोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ यदा तूच्छिष्टान्द्विजान्रजस्वला स्पृशति, तदा 'द्विजान्कथंचिदुच्छिष्टान्रजःस्था यदि संस्पृशेत् । अधोच्छिष्टे त्वहोरात्रमूर्ध्वोच्छिष्टे ऽयहं क्षिपेत् ॥' इति मार्कण्डेयोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ एवमवकीर्णिप्रायश्चित्तप्रसङ्गात्कानिचिदनुपातकप्रायश्चित्तान्यपि उक्त्वाधुना प्रकृतमनुसरामः । तत्रावकीर्णानन्तरं 'सुतानां चैव विक्रयः' (प्रा० २३६) इत्युक्तं, तत्र मनुयोगीश्वरोक्तानि 'त्रैमासिकादीनि' कामाकामजातिशक्त्याद्यपेक्षया पूर्ववद् व्यवस्थापनीयानि ॥ यत्तु शङ्खवचनम्—'देवगृहप्रतिश्रयोद्यानारामसभाप्रपातडागपुण्यसेतुसुतविक्रयं कृत्वा तप्तकृच्छ्रं चरेत्' इति, यच्च पराशरेणोक्तम्—'विक्रीय कन्यकां गां च कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत्' इति,—तदुभयमप्यकामतो द्रष्टव्यम् ॥ कामतस्तु—'नारीणां विक्रयं कृत्वा चरेच्चान्द्रायणव्रतम् । द्विगुणं पुरुषस्यैव व्रतमाहुर्मनीषिणः ॥' इति चतुर्विंशतिमतोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ यत्तु पैठीनसिनोक्तम्—'आरामतडागोदपानपुष्करिणीसुकृतसुतविक्रये त्रिषवणस्नाय्यधःशायी चतुर्थकालाहारः संवत्सरेण पूतो भवति' इति,—तदेकपुत्रविषयम् । तदनन्तरं 'धान्यकुप्यपशुस्तेयम्' (प्रा० २३७) इत्युक्तं,—तत्प्रायश्चित्तानि च स्तेयप्रकरणे प्रपञ्चितानि ॥ २८७ ॥

भाषा—(अपनी पत्नी के भी) रजस्वला होने पर संभोग करे तो तीन दिन उपवास करके और घृत खाकर शुद्ध होवे ॥ २८७ ॥

अनन्तरं 'अयाज्यानां च याजनम्' (प्रा० २३७) इत्युक्तं, तत्र प्रायश्चित्तमाह—

त्रीन्कृच्छ्रानाचरेद् व्रात्ययाजकोऽभिचरन्नपि ।
वेदप्लावी यवाश्यब्दं त्यक्त्वा च शरणागतम् ॥ २८८ ॥

यस्तु सावित्रीपतितानां याजनं करोति स प्राजापत्यप्रभृतींस्त्रीन्कृच्छ्रानाचरेत् , एतेषां च गुरुलघुभूतानां कृच्छ्राणां निमित्तगुरुलघुभावेन कल्पनीयम् ॥ तथा अभिचरन्नपीदमेव प्रायश्चित्तं कुर्यात् । एतच्चाग्निदाद्याततायिव्यतिरेकेण 'षट्स्वभिचरन्न पतति' इति वसिष्ठस्मरणात् ॥ 'अपि'शब्दो हीनयाजकान्त्येष्टियाजकयोः संग्रहार्थः । अत एवोक्तं मनुना (११।१९७)—'व्रात्यानां याजनं

---

१. त्रीणि कामजाति ।

कृत्वा परेषामन्त्यकर्म च । अभिचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहति ॥' इति । 'परेषामन्त्यकर्म' इत्यत्यन्ताभ्यासविषयं शूद्रान्त्यकर्मविषयं वा; प्रायश्चित्तस्य गुरुत्वात् । अहीनो द्विरात्रादिर्द्वादशाहपर्यन्तोऽहर्गणयागः । यत्तु शातातपेनोक्तम्—'पतितमाविस्त्रीकाश्चोपनयेन्नाध्यापयेन्न याजयेत् य एतानुपनयेदध्यापयेद्याजयेद्वा स उद्दालकव्रतं चरेत्' इति,—तत्कामकारविषयम् । उद्दालकव्रतं च प्राग्दर्शितम् । एतच्च कृच्छ्रत्रयं साधारणोपपातकप्रायश्चित्तस्यापवादकम्, अत उपपातकसाधारणप्रायश्चित्तं शूद्राद्ययाज्ययाजने व्यवतिष्ठते । तत्र कामतस्त्रैमासिकम् । अकामतस्तु योगीश्वरोक्तं मासव्रतादि । यत्तु प्रचेतसा शूद्रयाजकादीन्पठित्वोक्तम्—'एते पञ्चतपोऽभ्रावकाशजलशयनान्यनुतिष्ठेयुः । क्रमेण ग्रीष्मवर्षाहेमन्तेषु मासं गोमूत्रयावकमश्नीयुः' इति,—तत्कामतोऽभ्यासविषयम् । यत्तु यमेनोक्तम्—'पुरोधाः शूद्रवर्णस्य ब्राह्मणो यः प्रवर्तते । स्नेहाद्दर्थप्रसङ्गाद्वा तस्य कृच्छ्रो विशोधनम् ॥' इति,—तदशक्तविषयम् । यच्च पैठीनसिनोक्तम्—'शूद्रयाजकः सर्वद्रव्यपरित्यागात्पूतो भवति प्राणायामसहस्रेषु दशकृत्वोऽभ्यस्तेषु' इति,—तदप्यकामतोऽभ्यासविषयम् । यत्तु गौतमेनोक्तम्—'निषिद्धमन्त्रप्रयोगे सहस्रवागुपतिष्ठेत्' (२२।२३) इति निषिद्धानां पतितादीनां याजनाध्यापनात्मके मन्त्रप्रयोगे बहुशोऽभ्यस्ते प्राकृतं ब्रह्मचर्यमुपदिष्टं,—तत्कामतोऽभ्यासविषयम् । यः स्ववेदं विप्लावयति यश्च, रक्षणक्षणोऽपि तस्करव्यतिरिक्तं शरणागतमुपेक्षते, सोऽपि संवत्सरं यवोदनं भुञ्जानः शुध्यति । तत्र विप्लवो नाम पर्वचाण्डालश्रोत्रावकाशाद्यनध्यायेष्वध्ययनम् । उत्कर्षहेतोरधीयानस्य किं पठसि नाशितं त्वयेत्येवं पर्यनुयोगदानं वा विप्लावनमुच्यते । अत एवोक्तं स्मृत्यन्तरे—'दत्तानुयोगानध्येतुः पतितान्मनुरब्रवीत्' इति । यत्तु वसिष्ठेनोक्तम्—'पतितचाण्डालशवश्रावणे त्रिरात्रं वाग्यता अनश्नन्त आसीरन् सहस्रपरमं वा तदभ्यस्यन्तः पूता भवन्तीति विज्ञायते' (२३।२४-२५) इति, 'एतेनैव गर्हिताध्यापकयाजका व्याख्याताः दक्षिणात्यागाच्च पूता भवन्तीति विज्ञायते' (२३।२६) इति,—तद्बुद्धिपूर्वविषयम् । यत्तु षट्त्रिंशन्मतेऽभिहितम्—'चाण्डालश्रोत्रावकाशे श्रुतिस्मृतिपाठे एकरात्रमभोजनम्' इति,—तदबुद्धिपूर्वविषयम् ॥ यदा सर्पाद्यन्तरागमनमात्रं भवति न पुनस्तत्राधीते तदापि प्रायश्चित्तं यमेनोक्तम्—'सर्पस्य नकुलस्याथ अजमार्जारयोस्तथा ॥ मूषकस्य तथोष्ट्रस्य मण्डूकस्य च योषितः ॥ पुरुषस्यैडकस्यापि शुनोऽश्वस्य खरस्य च । अन्तरागमने सद्यः प्रायश्चित्तमिदं शृणु ॥ त्रिरात्रमुपवासश्च त्रिरह्नश्चाभिषेचनम् । ग्रामान्तरं वा गन्तव्यं जानुभ्यां नात्र संशयः ॥' इति ॥ पितृमातृसुतत्यागतडागारामविक्रयेषु मनुयोगीश्वरोक्तोपपातकसाधारणप्रायश्चित्तानि पूर्ववज्जाति-

---

१. नाध्यापयेत्र एता । २. यस्तु वेदं ।

शक्तिगुणाद्यपेक्षया योज्यानि। तत्र पितृमात्रादित्यागस्य 'अकारणे परित्यक्ता मातापित्रोर्गुरोस्तथा' इत्यपाङ्क्तमध्यपाठात्तन्निमित्तमपि प्रायश्चित्तं भवति। यथाह मनुः (११।२७०)—'षष्ठान्नकालता मासं संहिताजप एव वा। होमाश्च शाकला नित्यमपाङ्क्तानां विशोधनम्॥' इति। अपाङ्क्ताश्च श्राद्धकाण्डे 'ये स्तेनपतितक्लीबाः' इत्यादिवाक्यैर्दर्शिताः। तडागारामविक्रयेषु च कतिचिद्विशेषप्रायश्चित्तानि सविषयाणि सुतविक्रयप्रायश्चित्तकथनावसरे कथितानि॥ अनन्तरं 'कन्याया दूषणम्' इत्युक्तं, तत्र च त्रैमासिकद्वैमासिकचान्द्रायणादीनि वर्णानां सवर्णाविषये योज्यानि। आनुलोम्ये पुनर्मासिकपयोशनं प्राजापत्यं वा—'सकामास्वनुलोमासु न दोषस्त्वन्यथा दमः' (व्य० २८८) इति दण्डाल्पत्वदर्शनात्॥ यत्तु शङ्खेनोक्तम्—'कन्यादूषी सोमविक्रयी च कृच्छ्रमब्दं[2] व्रतं चरेयाताम्' इति, यच्च हारीतवचनम्—'कन्यादूषी सोमविक्रयी वृषलीपतिः कौमारदारत्यागी सुरामद्यपः शूद्रयाजको गुरोः प्रतिहन्ता नास्तिको नास्तिकवृत्तिः कृतघ्नः कूटव्यवहारी[3] ब्राह्मणवृत्तिघ्नो मिथ्याभिशंसी पतितसंव्यवहारी मित्रध्रुक् शरणागतघाती प्रतिरूपकवृत्तिरित्येते पञ्चतपोऽवकाशजलशयनान्युतिष्ठेयुर्ग्रीष्मवर्षाहेमन्तेषु मासं गोमूत्रयावकमश्नीयुः' इति,—तदुभयमपि क्षत्रियवैश्ययोः प्रातिलोम्येन दूषणे योज्यम्। शूद्रस्य तु वध एव। 'दूषणे तु करच्छेद उत्तमायां वधस्तथा' (व्य० २८८) इति वधदर्शनात्। परिविन्दकस्य[4] याजनकन्याप्रदानयोः कौटिल्ये पितृप्रतिषिद्धव्रतलोपे आत्मार्थपाकक्रियारम्भे मद्यपस्त्रीनिषेवणे च साधारणोपपातकप्रायश्चित्तं प्राग्वद्व्यवस्थापनीयम्। आद्ययोस्तु विशेषप्रायश्चित्तानि परिवेदनायाज्ययाजनप्रायश्चित्तकथनप्रस्तावे दर्शितानि। अनन्तरं 'स्वाध्यायाग्निसुतत्यागः' (प्रा० २३९) इत्युक्तं, तत्र व्यसनासक्तया त्यागे अधीतस्य च नाशनमिति ब्रह्महत्यासमप्रायश्चित्तमुक्तम्। शास्त्रश्रवणाद्याकुलतया त्यागे तु त्रैमासिकाद्युपपातकप्रायश्चित्तानि जातिशक्त्यपेक्षया योज्यानि[6]। यत्तु वसिष्ठेनोक्तम्—'ब्रह्मोज्झः कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा पुनरुपयुञ्जीत वेदमाचार्यात्' इति,—तदत्यन्तापद्विषयम्। अग्नित्यागेऽपि तेनैव विशेषो दर्शितः—'योऽग्नीनपविध्येत्स कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा पुनराधेयं कारयेत्' इति। 'द्वादशरात्र' ग्रहणमुत्सन्नकालापेक्षया प्राजापत्यादिगुरुलघुकृच्छ्राणां प्रदर्शनार्थम्। तत्र मासद्वये प्राजापत्यं, मासचतुष्टयेऽतिकृच्छ्रः, षण्मासोपिच्छन्ने पराकः, षण्मासादूर्ध्वं योगीश्वरोक्तान्युपपातकसामान्यप्रायश्चित्तानि कालाद्यपेक्षया योज्यानि। संवत्सरादूर्ध्वं तु मानवं त्रैमासिकं द्वैमासिकमिति

---

१. श्राद्धप्रकरणे। २. कृच्छ्रमब्दं। ३. कूटव्यवहारी मित्रध्रुक्।
४. परिविन्दकयाजन। ५. शक्तिगुणापेक्षया। ६. व्यवस्थापनीयानि।

व्यवस्था।—एतच्च नास्तिक्येन त्यागविषयम्। तथा च व्याघ्रः—'योऽग्निं त्यजति नास्तिक्यात्प्राजापत्यं चरेद् द्विजः' इति। यदा तु प्रमादात्त्यजति तदा भारद्वाजगृह्ये विशेष उक्तः—'प्राणायामशतमात्रिरात्रादुपवासः स्याद्वा-विंशतिरात्राद् अत ऊर्ध्वमाषष्टिरात्रात्तिस्रो रात्रीरुपवसेदत ऊर्ध्वमासंवत्स-रात् प्राजापत्यं चरेत्, अत ऊर्ध्वं कालबहुत्वे दोषगुरुत्वम्' इति। यदा त्वाल-स्यादिना त्यजति तदापि तेनैव विशेष उक्तः—'द्वादशाहातिक्रमे त्र्यहमुपवासः, मासातिक्रमे द्वादशाहमुपवासः, संवत्सरातिक्रमे मासोपवासः पयोभक्षणं वा' इति। संवत्सरादूर्ध्वं तु वृद्धहारीतेन विशेष उक्तः—'संवत्सरोत्सन्नेऽग्निहोत्रे चान्द्रायणं कृत्वा पुनरादध्यात्। द्विवर्षोत्सन्ने चान्द्रायणं सोमायनं च कुर्यात्। त्रिवर्षोत्सन्ने संवत्सरं कृच्छ्रमभ्यस्य पुनरादध्यात्' इति। सोमायनं च कृच्छ्र-काण्डे वक्ष्यते। शङ्खेनापि विशेष उक्तः—'अग्न्युत्सादी संवत्सरं प्राजापत्यं चरेद्गां च दद्यात्' इति॥ सुतत्यागे बन्धुत्यागे च त्रैमासिकं गोवधव्रतं कामतः। अकामतस्तु योगीश्वरोक्तं व्रतचतुष्टयं शक्त्याद्यपेक्षया योज्यम्। द्रुमच्छेदे प्रायश्चित्तं प्रागुक्तम्। स्त्रीप्राणिवधवशीकरणादिभिर्जीवने तिलेक्षुयन्त्रप्रवर्तने च तान्येव प्रायश्चित्तानि तथैव योज्यानि। व्यसनेषु च द्यूतमृगयादिषु तान्येव व्रतानि तथैव योज्यानि। यत्तु बौधायनेन—'अथाशुचिकराणि द्यूतमभिचा-रोऽनाहिताग्नेरुञ्छवृत्तिः समावृत्तस्य च भैक्षचर्या तस्य च गुरुकुले वास ऊर्ध्वं चतुर्भ्यो मासेभ्यो यश्च तमध्यापयति नक्षत्रनिर्देशनं चेति द्वादशमा-सान्द्वादशार्धमासान्द्वादशाहान्द्वादशषडहान्द्वादशत्र्यहांश्च त्र्यहमेकाहमित्यशुचि-करनिर्देशः' इति द्यूते वार्षिकव्रतमुक्तं,—तदभ्यासविषयम्। यत्तु प्रचेतसोक्तम्—'अनृतवाक् तस्करो राजभृत्यो वृक्षारोपकवृत्तिर्गरदोऽग्निदोऽश्वरथगजारोहण-वृत्ती रङ्गोपजीवी श्वागणिकः शूद्रोपाध्यायो वृषलीपतिर्माण्डिको नक्षत्रोपजीवी श्ववृत्तिर्ब्रह्मजीवी चिकित्सको देवलकः पुरोहितः कितवो मद्यपः कूटकारकोऽप-त्यविक्रयी मनुष्यपशुविक्रेता चेति तानुद्धरेत्समेत्य न्यायतो ब्राह्मणव्यवस्थया सर्वद्रव्यत्यागे चतुर्थकालाहाराः संवत्सरं त्रिषवणमुपस्पृशेयुस्तस्यान्ते देवपितृ-तर्पणं गवाह्निकं चेत्येवं व्यवहार्याः।' इति,—तदपि बौधायनेन समानविष-यम्। श्वागणिको यः श्वगणेन जीवति। माण्डिको बन्दिव्यतिरिक्तो राज्ञां तूर्या-दिस्वनैः प्रबोधयिता; बन्दिनः पृथगुपादानात्। श्ववृत्तिः सेवकः, ब्रह्मजीवी ब्राह्म-णकार्येषु मूल्येन परिचारकः। मनूक्तान्यपपात्रीकरणपावश्चित्तानि 'षष्ठान्नकालता मासम्' (११।२००) इत्यादीन्यपि जात्याद्यपेक्षया योज्यानि; तदुक्तापात्रीकरण-मध्येऽपि कितवादिव्यसनिनां पठितत्वात्। आत्मविक्रये शूद्रसेवायां च सामा-

---

१. द्विजकार्येषु।

न्यप्रायश्चित्तानि प्राग्वदेव योज्यानि ॥ यत्तु बौधायनेनोक्तम्—'समुद्रयानं ब्राह्मणस्य न्यासापहरणं सर्वापण्यैर्व्यवहरणं भूम्यनृतं शूद्रसेवा यश्च शूद्रायामभिजायते, तदपत्यं च भवति तेषां तु निर्देशः 'चतुर्थकालं मितभोजिनः स्युरपोऽभ्युपेयुः सवनानुकल्पम् । स्थानासनाभ्यां विहरन्त एतैस्त्रिवर्षैस्तदपहरन्ति पापम् ॥' इति,—तद्बहुकालसेवाविषयम् ॥ हीनजातिभिः सख्ये तूपपातकसामान्यप्रायश्चित्तान्येव ॥ यत्तु प्रचेतसोक्तम्—'मित्रभेदनकरणादहोरात्रमनश्नन् हुत्वा पयः पिबेत्' इति,—तदहीनसख्यभेदनविषयम् ॥ हीनयोनिनिषेवणेऽप्युपपातकसामान्यप्रायश्चित्तानि योज्यानि ॥ यत्तु शातातपेनोक्तम्—'ब्राह्मणो राजन्यापूर्वीं कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा निर्विशेत्तां चोपयच्छेत्, वैश्यापूर्वीं तु तप्तकृच्छ्रं शूद्रापूर्वीं तु कृच्छ्रातिकृच्छ्रं राजन्यश्चेद्वैश्यापूर्वीं कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा निर्विशेत्तां चोपयच्छेत्, शूद्रापूर्वीं त्वतिकृच्छ्रं, वैश्यापूर्वीं कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा निर्विशेत्तां चोपयच्छेत्, शूद्रापूर्वीं त्वतिकृच्छ्रं, वैश्यश्चेच्छूद्रापूर्वीं त्वतिकृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा तां चोपयच्छेत्' इति, तत्र निर्विशेत्तां चोपयच्छेदिति कृच्छ्रानुष्ठानोत्तरकालं सवर्णापरिणयनादूर्ध्वं तां च राजन्यादिकामुपयच्छेदित्यर्थः । —इदं चाज्ञानविषयम् । ज्ञानतस्तूपपातकसामान्यप्रायश्चित्तं व्यवस्थितमेव द्रष्टव्यम् ।—साधारणस्त्रीसंभोगे च 'हीनयोनिनिषेवणम्'[1] (प्रा० २४१) इत्युक्तं, तत्रापि 'पशुवेश्याभिगमने प्राजापत्यं विधीयते' इति संवर्तोक्तमकामतो द्रष्टव्यम् । कामतस्तु यमेनोक्तं द्रष्टव्यम्—'वेश्यागमनजं पापं व्यपोहन्ति द्विजातयः । पीत्वा सकृत्सकृत्तप्तं सप्तरात्रं कुशोदकम् ॥' इति । उपपातकसामान्यप्रायश्चित्तानि च कामाकामतोऽभ्यासापेक्षया योज्यानि । तत्र मत्याभ्यासे तु 'प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकमावर्तते' इति न्यायात्प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकावृत्तौ प्रसक्तायां लौगाक्षिणा विशेष उक्तः—'अभ्यासेऽहर्गुणा वृद्धिर्मासादर्वाग् विधीयते । ततो मासगुणा वृद्धिर्यावत्संवत्सरं भवेत् ॥ ततः संवत्सरगुणा यावत्पापं समाचरेत् ॥' इति ।—इदं मतिपूर्वविषयम् । अमतिपूर्वावृत्तौ तु चतुर्विंशतिमते विशेष उक्तः—'सकृत्कृते तु यत्प्रोक्तं त्रिगुणं तत्त्रिभिर्दिनैः । मासात्पञ्चगुणं प्रोक्तं षण्मासाद्दशधा भवेत् ॥ संवत्सरात्पञ्चदशं व्यब्दाद्विंशगुणं भवेत् । ततोऽप्येवं प्रकल्प्यं स्याच्छातातपवचो यथा ॥' इति ॥ यत्पुनः 'विधेः प्राथमिकादस्माद् द्वितीये द्विगुणं चरेत्' इति प्रतिनिमित्तमावृत्तिविधायकं,—तन्महापातकविषयमित्युक्तं प्राक् । यत्तु यमेन साधारणस्त्रीगमनमधिकृत्य गुरुतल्पव्रतमतिदिष्टम् 'गुरुतल्पव्रतं केचित्केचिच्चान्द्रायणव्रतम् । गोघ्नस्येच्छन्ति केचित्तु केचिदेवावकीर्णिनः ॥' इति ।—एतच्च जन्मप्रभृतिसातुबन्धानवच्छिन्नाभ्यासविषयम् । अनन्तरं 'तथैवानाश्रमे वासः'[2]

---

१. हीनस्त्रीनिषेवण । २. पूर्वाभ्यासे ।

(प्रा० २४१) इत्युक्तं तत्र हारीतेन विशेष उक्तः—'अनाश्रमी संवत्सरं प्राजापत्यं कृच्छ्रं चरित्वाश्रममुपेयात् । द्वितीयेऽतिकृच्छ्रं तृतीये कृच्छ्रातिकृच्छ्रमत ऊर्ध्वं चान्द्रायणम्' इति ।–एतदसंभवविषयम् । संभवे तु सामान्येनोपपातकप्रायश्चित्तानि कामाकामतो व्यवस्थापनीयानि । परपाकरुचित्वासच्छास्त्राधिगमनाकराधिकारभार्याविक्रयेषु च मनुयोगीश्वरप्रतिपादितोपपातकसामान्यप्रायश्चित्तानि जातिशक्तिगुणाद्यपेक्षया व्यवस्थापनीयानि ॥ २८८ ॥

भाषा—व्रात्य (पतित सावित्री) को यज्ञ कराने वाला और अभिचार कर्म करने वाला तीन कृच्छ्र व्रत करे । अपने वेद का विप्लावन करने वाला (चण्डाल आदि के समक्ष और अनध्याय में पढ़ने वाला), तथा शरण में आये हुए व्यक्ति की (समर्थ होने पर भी) रक्षा न करने वाला एक वर्ष तक जौ का भात खाने पर शुद्ध होता है ॥ २८८ ॥

'भार्याया विक्रयश्चैषाम्' (प्रा० २४२) इत्यत्र 'च'शब्दो मन्वाद्युक्तासत्प्रतिग्रहनिन्दिताद्यादनादीनामुपलक्षणार्थमित्युक्तम् । तत्रासत्प्रतिग्रहे प्रायश्चित्तविशेषमाह—

गोष्ठे वसन्ब्रह्मचारी मासमेकं पयोव्रतः ।
गायत्रीजाप्यनिरतः शुद्धयतेऽसत्प्रतिग्रहात् ॥ २८९ ॥

यस्त्वसत्प्रतिग्रहं निषिद्धप्रतिग्रहं करोति स ब्रह्मचर्ययुक्तो गोष्ठे वसन् गायत्रीजाप्यनिरतो गायत्रीजपशीलो मासं पयोव्रतेन शुद्धयतीति । प्रतिग्रहस्य चासत्त्वं दातुर्जातिकर्मनिबन्धनं यथा चाण्डालादेः पतितादेश्च । तथा देशकालनिबन्धनं च यथा कुरुक्षेत्रोपरागादौ तथा प्रतिग्राह्यद्रव्यनिबन्धनं च यथा सुरामेषीमृतशय्योभयतोमुख्यादेः ॥ यदा तु पतितादेर्मेष्यादिकं प्रतिगृह्णाति, तदैतद्गुरुप्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम् ; व्यतिक्रमद्वयदर्शनेन निमित्तस्य गुरुत्वात् । तत्र जपे मनुना संख्याविशेष उक्तः (११।१९४)—'जपित्वा त्रीणि सावित्र्याः सहस्राणि समाहितः । मासं गोष्ठे पयः पीत्वा मुच्यतेऽसत्प्रतिग्रहात् ॥' इति प्रत्यहं त्रिसहस्रजपो द्रष्टव्यः; 'मासम्' इति द्वितीयया त्रिसहस्रसंख्याकस्य जपस्य प्रतिदिवसव्यापित्वावगमात् । यदा तु न्यायवर्तिब्राह्मणादेः सकाशान्निषिद्धं मेषादिकं गृह्णाति, पतितादेर्वा भूम्यादिकमनिषिद्धं तदा षट्त्रिंशन्मतोक्तं द्रष्टव्यम्—'पवित्रेष्ट्या विशुद्धयन्ति सर्वे घोराः प्रतिग्रहाः । ऐन्दवेन मृगारेष्ट्या, कदाचिन्मित्रविन्दया ॥ देव्या लक्षजपेनैव शुद्धयन्ते दुष्प्रतिग्रहात् ॥' इति । यत्तु बृहद्धारीतवचनम्—'राज्ञः प्रतिग्रहं कृत्वा मासमप्सु सदा वसेत् । षष्ठे

---

१. जप्यनिरतः । २. निरतो मुच्यतेऽसत्प्रति । ३. दिकं गृह्णाति ।

काले पयोभक्षः पूर्णे मासे विशुद्ध्यति ॥ तर्पयित्वा द्विजान्कामैः सततं नियतव्रतः ॥' इति,—तत्पूर्वोक्तविषयेऽभ्यासे द्रष्टव्यम्। अथवा,—पतितादेः कुरुक्षेत्रोपरागादौ कृष्णाजिनादिप्रतिग्रहविषयम्। तथा प्रतिग्राह्यद्रव्याल्पतया प्रायश्चित्ताल्पत्वम्। यथाह हारीतः—'मणिवासोगवादीनां प्रतिग्रहे सावित्र्यष्टसहस्रं जपेत्' इति। तथा षट्त्रिंशन्मतेऽपि—'भिक्षामात्रं[2] गृहीते तु पुण्यं मन्त्रमुदीरयेत्। प्रतिग्रहेषु सर्वेषु षष्ठमंशं प्रकल्पयेत् ॥' इतीदं च प्रायश्चित्तजातं द्रव्यत्यागोत्तरकालं द्रष्टव्यम्। (११।१९३)—'यद्गर्हितेनार्जयन्ति कर्मणा ब्राह्मणा धनम्। तस्योत्सर्गेण शुद्ध्यन्ति जप्येन तपसैव च ॥' इति मनुस्मरणात्। एवमन्यान्यपि स्मृतिवाक्यानि द्रव्यसाराल्पत्वमहत्त्वाभ्यां विषयेषु व्यवस्थापनीयानि ॥

इत्युपपातकप्रायश्चित्तप्रकरणम्।

जात्याश्रयादिदोषेण निन्द्यान्नादेश्च शब्दतः।
योगीन्द्रोक्तव्रतव्रातः सांप्रतं तु प्रतन्यते ॥

तत्र जातिदुष्टपलाण्ड्वादिभक्षणे कामतः सकृत्कृते 'पलाण्डुं विड्वराहं च' (आ० १७६) इत्यादिना चान्द्रायणमुक्तम्। कामतोऽभ्यासे तु 'निषिद्धभक्षणं जैह्म्यं' (प्रा० २२९) इत्यादिनोक्तं सुरापानसमप्रायश्चित्तम्। अकामतः सकृद्भक्षणे सान्तपनम्। तत्रैवाभ्यासे यतिचान्द्रायणम्।—'अमत्यैतानि षड् जग्ध्वा कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत्। यतिचान्द्रायणं वापि शेषेषूपवसेदहः' (५।२०) इति मनुस्मरणात्। यत्तु बृहद्यमेनोक्तम्—'खट्ववार्ताककुम्भीकव्रश्चनप्रभवाणि च। भूतृणं शिग्रुकं चैव खुखुण्डं कवकानि च ॥ एतेषां भक्षणं कृत्वा प्राजापत्यं चरेद् द्विजः ॥' इति, तत्कामतोऽभ्यासविषयम्। 'मत्स्यांश्च कामतो जग्ध्वा सोपवासस्त्र्यहं क्षिपेत्' इति योगीश्वरेण कामतः सकृद्भक्षणे त्र्यहस्योक्तत्वात्। खट्वाख्यः पक्षी। कुसुम्भमित्यन्ये। कवकं राजसर्षपाख्यं शाकम्। खुखुण्डं तद्विशेषो गोबलीवर्दन्यायेन निर्दिष्टः। यत्तु यमेनोक्तम्—'तन्दुलीयककुम्भीकव्रश्चनप्रभवांस्तथा। नालिकां नारिकेलीं च श्लेष्मातकफलानि च ॥ भूतृणं शिग्रुकं चैव खट्वाख्यं कवकं तथा। एतेषां भक्षणं कृत्वा प्राजापत्यं व्रतं चरेत् ॥' इति,—तदपि मतिपूर्वाभ्यासविषयम्। नालिका नारिकेली च शाकविशेषौ। खट्वाख्यश्च। अकामतः सकृद्भक्षणे तु 'शेषेषूपवसेदहः' (५।२०) इति मनूक्तं द्रष्टव्यम्। तत्रैवाभ्यासे त्वावृत्तिः कल्प्या। अत्यन्ताभ्यासे तु—'संसर्गदुष्टं यच्चान्नं क्रियादुष्टमकामतः। भुक्त्वा स्वभावदुष्टं च तप्तकृच्छ्रं समाचरेत् ॥' इति प्रचेतोभिहितं द्रष्टव्यम्। नीच्यारख-

---

१. पूर्णे मासे प्रमुच्यते। २. मात्रे गृहीत्वा तु।

कामतः सकृद्भक्षणे चान्द्रायणम्—'भक्षयेद्यदि नीलीं तु प्रमादाद् ब्राह्मणः क्वचित् । चान्द्रायणेन शुद्धिः स्यादापस्तम्बोऽब्रवीन्मुनिः ॥' इति आपस्तम्बस्मरणात् । कामतोऽभ्यासे चावृत्तिः कल्प्या ॥ यदपि षट्त्रिंशन्मतेऽभिहितम्—'शणपुष्पं शाल्मलं च करनिर्मथितं दधि । बहिर्वेदिपुरोडाशं जग्ध्वा नाद्यादहर्निशम् ॥' इति,-तदप्यकामविषयम् । यत्तु सुमन्तुनोक्तम्—'लशुनपलाण्डुगृञ्जनकवकभक्षणे सावित्र्यष्टसहस्रेण मूर्ध्नि संपातान्नयेत्, इति,-तद्बलात्कारेणानिच्छतो भक्षणविषयम् । तदेकसाध्यव्याध्युपशमार्थं वा भक्षणे द्रष्टव्यम् । अत एवानन्तरं तेनैवोक्तम्—'एतान्येव व्याधितस्य भिषक्क्रियायामप्रतिषिद्धानि भवन्ति । यानि चैवंप्रकाराणि तेष्वपि न दोषः' इति । संपातान्नयेदुदकबिन्दून्प्रक्षिपेत् ॥

अथ जातिदुष्टसंधिन्यादिक्षीरपाने प्रायश्चित्तम् । तत्र चाकामतः सकृत्पाने (५।८-१०)—'अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमेकशफं तथा । आविकं संधिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः ॥ आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां महिषीं विना । स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्यानि सर्वशुक्तानि चैव हि ॥ दधि भक्ष्यं च शुक्तेषु सर्वं च दधिसंभवम्' इत्युक्त्वा 'शेषेषूपवसेदहः' (५।२०) इति मनूक्त उपवासो द्रष्टव्यः । कामतस्तु योगीश्वरोक्तस्त्रिरात्रोपवासो द्रष्टव्यः ॥ यत्तु पैठीनसिनोक्तम्—'अविखरोष्ट्रमानुषीक्षीरप्राशने तप्तकृच्छ्रः पुनरुपनयनं च । अनिर्दशाहगोमहिषीक्षीरप्राशने षड्रात्रमभोजनम् । सर्वासां द्विस्तनीनां क्षीरपानेऽप्यजावर्जमेतदेव' इति । यच्च शङ्खेन—'क्षीराणि यान्यभक्ष्याणि तद्विकाराशने बुधः । सप्तरात्रव्रतं कुर्यात्प्रयत्नेन समाहितः ॥' इति यावकव्रतमुक्तं, तदुभयमपि कामतोऽभ्यासविषयम् । यत्तु शङ्खेन—संधिन्यमेध्यभक्षयोः क्षीरप्राशने पक्षव्रतमुक्तम्—'संधिन्यमेध्यभक्षयोर्भुक्त्वा पक्षव्रतं चरेत् इति,-तदप्यभ्यासविषयम् । 'सकृत्पाने गोऽजामहिषीवर्ज्यं सर्वाणि पयांसि प्राश्योपवसेत् । अनिर्दशाहं तान्यपि संधिनीयमसूस्यन्दिनीविवत्साक्षीरं चामेध्यभुजश्च' इति विष्णुनोपवासस्योक्तत्वात् । तथा वर्णनिबन्धनश्च प्रतिषेधः—'क्षत्रियश्चापि वृत्तस्थो वैश्यः शूद्रोऽथवा पुनः । यः पिबेत्कपिलाक्षीरं न ततोऽन्योऽस्त्यपुण्यकृत् ॥' इत्येवमादौ च यत्र प्रतिपदोक्तं प्रायश्चित्तं न दृश्यते तत्र 'शेषेषूपवसेदहः' इति (५।२०) साधारणप्रायश्चित्तं मनूक्तं द्रष्टव्यम् ॥

अथ स्वभावदुष्टमांसादिभक्षणे प्रायश्चित्तमुक्तम् । तत्र कामतः सकृद्भक्षणे 'शेषेषूपवसेदहः' इति मनूक्तं साधारणं प्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम् । कामतस्तु—'चाषांश्च रक्तपादांश्च सौनं वल्लूरमेव च । मत्स्यांश्च कामतो जग्ध्वा सोपवासस्त्र्यहं वसेत् ॥' इति योगीश्वरोक्तं द्रष्टव्यम् । कामतोऽभ्यासे तु (११।१५२)—'जग्ध्वा मांस-

---

१. अप्रमादात् ।

मभक्षयं तु 'सप्तरात्रं यवान्पिबेत्' इति मनूक्तं द्रष्टव्यम् । इदं च विट्सूकरादिमांसव्यतिरिक्तविषयम् (११।१५६)—'क्रव्याद्विट्सूकरोष्ट्राणां कुक्कुटानां च भक्षणे नरकाकखराश्वानां तप्तकृच्छ्रं विशोधनम् ॥' इति मनुना जातिविशेषेण प्रायश्चित्तविशेषस्योक्तत्वात् । एतन्मूत्रपुरीषप्राशनेऽप्येतदेव ।—'वराहैकशफानां च च काककुक्कुटयोस्तथा । क्रव्यादानां च सर्वेषामभक्ष्या ये च कीर्तिताः ॥ मांसमूत्रपुरीषाणि प्राश्य गोमांसमेव च । श्वगोमायुकपीनां च तप्तकृच्छ्रं विधीयते ॥ उपोष्य वा द्वादशाहं कूष्माण्डैर्जुहुयाद्घृतम् ॥' इति बृहद्यमस्मरणात् । तत्र कामतस्तप्तकृच्छ्रः, अभ्यासे तु कूष्माण्डसहितः पराक इति व्यवस्था ॥ तथा प्रचेतसाप्युक्तम्—'श्वसृगालकाककुक्कुटपार्षतवानरचित्रकचाषक्रव्यादखरोष्ट्रगजवाजिविड्वराहगोमानुषमांसभक्षणे तप्तकृच्छ्रमादिशेदेषां मूत्रपुरीषभक्षणे त्वतिकृच्छ्रम्' इति ।–इदं च कामकारविषयम् । यत्तूशनसो वचनम्—'नरमांसं श्वमांसं वा गोमांसं चाश्वमेव च । भुक्त्वा पञ्चनखानां च महासान्तपनं चरेत् ॥' इति,–तदकामविषयम् ॥ यत्त्वङ्गिरोवचनम्—'बलाकाभासगृध्राखुखरवानरसूकरान् । दृष्ट्वा चैषाममेध्यानि स्पृष्ट्वाचम्य विशुद्ध्यति ॥ इच्छयैषाममेध्यानि भक्षयित्वा द्विजातयः । कुर्युः सान्तपनं कृच्छ्रं प्राजापत्यमनिच्छया ॥' इति'–तद्भक्षितोद्गारितविषयम् । 'सान्तपन'शब्देन चात्र महासान्तपनमुच्यते । अकामतः प्राजापत्यविधानात् । यत्पुनरङ्गिरोवचनम्—'नरकाकखराश्वानां जग्ध्वा मांसं गजस्य च । एषां मूत्रपुरीषाणि द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति । यच्च बृहद्यमेनोक्तम्—'शुष्कमांसाशने विप्रो व्रतं चान्द्रायणं चरेत्' इति । तदुभयमपि कामतोऽभ्यासविषयम् । यत्पुनः शङ्खेनोक्तम्—'भुक्त्वा चोभयतो दंतांस्तथा चैकशफानपि । औष्ट्रं गव्यं[3] तथा जग्ध्वा षण्मासान्व्रतमाचरेत् ॥' इति,–तत्कामतोऽत्यन्ताभ्यासविषयम् । यत्तु स्मृत्यन्तरोक्तम्—'जग्ध्वा मांसं नराणां च विड्वराहं खरं तथा । गवाश्वकुञ्जरोष्ट्राणां सर्वं पाञ्चनखं तथा । क्रव्यादं कुक्कुटं ग्राम्यं कुर्यात्संवत्सरव्रतम् ॥' इति,–तदत्यन्तानवच्छिन्नाभ्यासविषयम् । अत्र प्रकरणे 'मूत्रपुरीष'ग्रहणं वसाशुक्रासृङ्मज्जानामुपलक्षणम् । कर्णविट्प्रभृतिमलषट्के त्वर्धं कल्पनीयम् ॥

केशादिषु पुनः षट्त्रिंशन्मते विशेष उक्तः—'अजाविमहिषमृगाणां आममांसभक्षणे केशनखरुधिरप्राशने बुद्धिपूर्वे त्रिरात्रमज्ञानादुपवास' इति । यत्तु प्रचेतसोक्तम्–'नखकेशमृल्लोष्टभक्षणेऽहोरात्रमभोजनाच्छुद्धिः' इति,–तदप्यकामतः सकृत्प्राशनविषयम् । यत्तु स्मृत्यन्तरवचनम्—'केशकीटनखं प्राश्य मत्स्यकण्टकमेव च । हेमतप्तं घृतं पीत्वा तत्क्षणादेव शुद्ध्यति ॥' इति,–तन्मुखमात्रप्रवेशविषयम् ॥ यदा तु भाजनस्थमन्नं केशादिदूषितं भवति तदा—'अन्ने भोजनकाले तु मक्षि-

---

१. सप्तरात्रं पयः पिबेदिति । २. खराणां च । ३. गव्यं मांसम् ।

काकेशदूषिते । अनन्तरं स्पृशेदापस्तच्चान्नं भस्मना स्पृशेत् ॥' इति प्रचेतसाभिहितं वेदितव्यम् । प्रासङ्गिकोऽयं श्लोकः ॥ सूक्ष्मतरकृमिकीटास्थिभक्षणे पुनर्हारीतेन विशेष उक्तः—'कृमिकीटपिपीलिकाजलौकःपतङ्गास्थिप्राशने गोमूत्रगोमयाहारस्त्रिरात्रेण विशुद्ध्यति' इति । जलौको मत्स्यादिः । एवं च पशुपतत्रिजलचरनरमांसादिप्राशने संक्षेपतः प्रायश्चित्तानि प्रदर्शितानि, ग्रन्थगौरवभयात्प्रतिव्यक्ति न लिख्यते ॥

अथाशुचिसंस्पृष्टभक्षणे प्रायश्चित्तं तत्र तावदुच्छिष्टाभक्ष्यभक्षणे वक्ष्यते । तत्र मनुः । (११।१५९)—'बिडालकाकाखूच्छिष्टं जग्ध्वा श्वनकुलस्य च । केशकीटावपन्नं च पिबेद् ब्राह्मीं सुवर्चलाम् ॥' इति कालविशेषानुपादानादेकरात्रम् । इदं च कामतो द्रष्टव्यम् । यत्तु विष्णुनोक्तम्—'पक्षिश्वापदजग्धस्य रसस्यान्नस्य भूयसः । संस्काररहितस्यापि भोजने कृच्छ्रपादकम् ॥' इति,—तत्कामकारविषयम् । संस्कारश्च[1] 'देवद्रोण्या'मित्यादिना द्रव्यशुद्धिप्रकरणोक्तो द्रष्टव्यः । यत्तु शातातपेनोक्तम्—'श्वकाकाद्यवलीढशूद्रोच्छिष्टभोजने त्वतिकृच्छ्रम्' इति,—तदकामतोऽभ्यासविषयम् । यत्तु शङ्खेन—'शुनामुच्छिष्टकं भुक्त्वा मासमेकं व्रती भवेत् । काकोच्छिष्टं गवा घ्रातं भुक्त्वा पक्षं व्रती भवेत् ॥' इति यावकव्रतमुक्तं,—तत्कामतोऽभ्यासविषयम् । ब्राह्मणाशुच्छिष्टभोजने तु बृहद्विष्णुनोक्तं—'ब्राह्मणः शूद्रोच्छिष्टाशने सप्तरात्रं पञ्चगव्यं पिबेत् ,—वैश्योच्छिष्टाशने पञ्चरात्रं राजन्योच्छिष्टाशने त्रिरात्रं ब्राह्मणोच्छिष्टाशने त्वेकाहम्' इति,—तत्कामकारविषयम् । यत्तु यमवचनम्—'भुक्त्वा सह ब्राह्मणेन प्राजापत्येन शुद्ध्यति । भूभुजा सह भुक्त्वान्नं तप्तकृच्छ्रेण शुद्ध्यति ॥ वैश्येन सह भुक्त्वान्नमतिकृच्छ्रेण शुद्ध्यति । शूद्रेण सह भुक्त्वान्नं चान्द्रायणमथाचरेत् ॥' इति,- तत्कामतोऽभ्यासविषयम् ॥ यत्पुनः शङ्खवचनम्—'ब्राह्मणोच्छिष्टाशने महाव्याहृतिभिरभिमन्त्र्यापः पिबेत् , क्षत्रियोच्छिष्टाशने ब्राह्मीरसविपक्केनाऽहं क्षीरेण वर्तयेत् , वैश्योच्छिष्टाशने त्रिरात्रोपोषितो ब्राह्मीं सुवर्चलां पिबेत् , शूद्रोच्छिष्टभोजने षड्रात्रमभोजनम्' इति,—तदकामविषयम् । तत्राभ्यासे द्वैगुण्यादिकं कल्प्यम् । एतच्च पित्रादिव्यतिरेकेण; 'पितुर्ज्येष्ठस्य च भ्रातुरुच्छिष्टं भोज्यम्'(४।११) इत्यापस्तम्बस्मरणात् । यत्तु बृहद्व्यासवचनम्-'माता वा भगिनी वापि भार्या वाऽन्याश्च योषितः । न ताभिः सह भोक्तव्यं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति,—तत्सहभोजनविषयम् । उच्छिष्टमात्रभोजने तु 'शूद्रोच्छिष्टभोजने सप्तरात्रमभोजनं स्त्रीणां च' (१।२६।४-५) इत्यापस्तम्बोक्तं द्रष्टव्यम् । यत्त्वङ्गिरोवचनम्—'ब्राह्मण्या सह योऽश्नीयादुच्छिष्टं वा कदाचन । तत्र दोषं न मन्यन्ते सर्व एव मनीषिणः ॥' इति,—तद्विवाहविषयमापद्विषयं वा । अन्त्योच्छिष्टभोजने तु—

---

१. संस्कारश्च देवद्रोण्यां ।

'अन्त्यानां भुक्तशेषं तु भक्षयित्वा द्विजातयः। चान्द्रं कृच्छ्रं तदर्धं च ब्रह्मक्षत्रविशां विधिः॥' इत्यापस्तम्बोक्तं द्रष्टव्यम्। अत्र चान्द्रं चान्द्रायणम्। अन्तेवसाय्युच्छिष्टभोजने तु—'चाण्डालपतितादीनामुच्छिष्टान्नस्य भक्षणे। चान्द्रायणं चरेद्विप्रः क्षत्रः सान्तपनं चरेत्॥ षड्रात्रं च त्रिरात्रं च वर्णयोरनुपूर्वशः॥' इत्यङ्गिरोभिहितं सान्तपनमत्र महासान्तपनं द्रष्टव्यम्। आपदि तु—'आपत्काले तु विप्रेण भुक्तं शूद्रगृहे यदि। मनस्तापेन शुद्ध्येत्तु द्रुपदानां शतं जपेत्॥' इति पराशरोक्तं वेदितव्यम्॥ यत्तु बृहच्छातातपेनोक्तम्—'पीतशेषं तु यत्किंचिद्भाजने मुखनिःसृतम्। अभोज्यं तद्विजानीयाद् भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्॥' इति,-तदभ्यासविषयम्; निमित्तस्यातिलघुत्वात्।—'पीतोच्छिष्टं च पानीयं पीत्वा तु ब्राह्मणः क्वचित्। त्रिरात्रं तु व्रतं कुर्याद्वामहस्तेन वा पुनः॥' इति,-एतद्बुद्धिपूर्वविषयम्। अकामतस्त्वर्धं कल्प्यम्। दीपोच्छिष्टे तु—'दीपोच्छिष्टं तु यत्तैलं रात्रौ रथ्याहृतं च यत्। अभ्यङ्गाच्चैव यच्छिष्टं भुक्त्वा नक्तेन शुद्ध्यति॥' इति षट्त्रिंशन्मतोक्तं द्रष्टव्यम्॥

अथाशुचिद्रव्यसंस्पृष्टभक्षणे प्रायश्चित्तम्। तत्राह संवर्तः—'केशकीटावपन्नं च नीलीलाक्षोपघातितम्। स्नाय्वस्थिचर्मसंस्पृष्टं भुक्त्वा तूपवसेदहः॥' इति। तथाह शातातपः—'केशकीटावपन्नं च रुधिरमांसास्पृश्यस्पृष्टभ्रूणघ्नावेक्षितपतत्र्यवलीढश्वसूकरगवाघ्रातशुक्तपर्युषितवृथापक्वदेवान्नहविषां भोजने उपवासः पञ्चगव्याशनं च॥' इति,-एतच्चोभयमपि अकामविषयम्। कामतस्तु 'मृद्वारिकुसुमादींश्च फलकन्देक्षुमूलकान्। विण्मूत्रदूषितान्प्राश्य कृच्छ्रपादं समाचरेत्॥ संनिकृष्टेऽर्धमेव स्यात्कृच्छ्रः स्याच्छुचिशोधनम्॥' इति विष्णूक्तं वेदितव्यम्। अल्पसंसर्गे पादो महासंसर्गेऽर्धकृच्छ्र इति व्यवस्था। यत्तु व्यासेनोक्तम्—'संसर्गदुष्टं यच्चान्नं क्रियादुष्टं च कामतः। भुक्त्वा स्वभावदुष्टं च तप्तकृच्छ्रं समाचरेत्॥' इति, एतच्च संसृष्टामेध्यादिरसोपलब्धौ वेदितव्यम्। रजस्वलादिस्पर्शे तु शङ्खोक्तम्-'अमेध्यपतितचाण्डालपुल्कसरजस्वलावधूतकुणिकुष्ठिनखिसंस्पृष्टानि भुक्त्वा कृच्छ्रं चरेत्' इति। कुणिर्हस्तविकलः।-एतत्कामकारविषयम्। अकामतोऽर्धम्। 'भुक्त्वास्पृश्यैस्तथाशौचिकेशकीटैश्च दूषितम्। कुशोदुम्बरबिल्वाद्यैः पनसाम्बुजपत्रकैः। शङ्खपुष्पीसुवर्चादिक्वाथं पीत्वा विशुद्ध्यति॥'इति यद्विष्णुनोक्तं,-तदशक्तविषयं, रजकादिस्पृष्टविषयं वा। शूद्राद्युपहते तु हारीतोक्तं विज्ञेयम्—'शूद्रेणोपहतं भोज्यं कीटैर्वाऽमेध्यसेविभिः। भुञ्जानेषु वा यत्र शूद्र उपस्पृशेदनर्हस्त्वास्स पङ्क्तौ तु भुञ्जानेषु वा यत्रोत्थायोच्छिष्टं प्रयच्छेदाचामेद्वा कुत्सित्वा वा यत्रान्नं दद्युस्तत्र

---

१. तद्द्विजस्याहुर्भुक्त्वा। २. शुष्कपर्युषित। ३. शुचिभोजने। ४. पुष्कस।

प्रायश्चित्तमहोरात्रम्' इति। उच्छिष्टपङ्क्तिभोजनेऽप्येतदेव—'यस्तु भुङ्क्ते द्विजः पङ्क्त्यामुच्छिष्टायां कदाचन। अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुद्ध्यति ॥' इति क्रतुस्मरणात्। वामकरनिर्मुक्तपत्रभोजने तु—'समुत्थितस्तु यो भुङ्क्ते यो भुङ्क्ते मुक्तभाजने। एवं वैवस्वतः प्राह भुक्त्वा सान्तपनं चरेत् ॥' इति षट्त्रिंशन्मतोक्तं [1]वेदितव्यम् ॥ तथा पराशरेणाप्यत्रोक्तम्—'एकपङ्क्त्युपविष्टानां विप्राणां सहभोजने। यद्येकोऽपि त्यजेत्पात्रं शेषमन्नं न भोजयेत् ॥ मोहाद् भुञ्जीत यस्तत्र पङ्क्त्यामुच्छिष्टभोजनः। प्रायश्चित्तं चरेद्विप्रः कृच्छ्रं सान्तपनं तथा ॥' इति ॥ शवादिसंपृक्तकूपाद्युदकपाने तु विष्णुराह—'मृतपञ्चनखात्कूपादत्यन्तोपहताद्वोदकं पीत्वा ब्राह्मणस्त्र्यहमुपवसेत् द्व्यहं राजन्य एकाहं वैश्यः शूद्रो नक्तं सर्वे चान्ते पञ्चगव्यं पिबेयुः' इति। अत्यन्तोपहताद्वेति मूत्रपुरीषादिभिर्वे[3]त्यभिप्रेतम्। यदा तु तत्रैव शवमुच्छू[4]नतयोच्छिन्नं भवति तदा हारीतो विशेषमाह—'क्लिन्ने भिन्ने शवे तोयं तत्रस्थं यदि चेत्पिबेत्। शुद्ध्यै चान्द्रायणं कुर्यात्तप्तकृच्छ्रमथापि वा ॥ यदि कश्चित्ततः स्नायात्प्रमादेन द्विजोत्तमः। जपंस्त्रिषवणस्नायी अहोरात्रेण शुद्ध्यति ॥' इति। इदं चान्द्रायणं कामतो मानुषशवोपहतकूपजलपानविषयम्। अकामतस्तु षड्रात्रम्—'क्लिन्नं भिन्नं शवं चैव कूपस्थं यदि दृश्यते[5]। पयः पिबेत्त्रिरात्रेण मानुषे द्विगुणं स्मृतम् ॥' इति देवलस्मरणात्। यदा चाण्डालकूपादिगतं जलं पिबति तदापस्तम्बोक्तं द्रष्टव्यम्—'चाण्डालकूपभाण्डस्थं नरः कामाज्जलं पिबेत्। प्रायश्चित्तं कथं तत्र वर्णे वर्णे विनिर्दिशेत् ॥ चरेत्सान्तपनं विप्रः प्राजापत्यं च भूमिपः। तदर्धं तु चरेद्वैश्यः शूद्रे पादं विनिर्दिशेत् ॥' (२।३-५) इति। इदं च कामकारविषयम्। अकामतस्तु—'चाण्डालकूपभाण्डस्थमज्ञानादुदकं पिबेत्। स तु त्र्यहेण शुद्ध्येत शूद्रस्त्वेकेन शुद्ध्यति ॥' इति देवलोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ चाण्डालादिसंबद्धाल्पजलाशयेष्वपि कूपवच्छुद्धिः—'जलाशयेष्वथाल्पेषु स्थावरेषु महीतले। कूपवत्कथिता शुद्धिर्महत्सु तु न दूषणम् ॥' इति विष्णुस्मरणात्। पुष्करिण्यादिषु पुनः—'म्लेच्छादीनां जलं पीत्वा पुष्करिण्यां ह्रदेऽपि वा। जानुदघ्नं शुचि ज्ञेयमधस्तादशुचि स्मृतम् ॥ तत्तोयं यः पिबेद्विप्रः कामतोऽकामतोऽपि वा। अकामान्नक्तभोजी स्यादहोरात्रं तु कामतः ॥' इत्यापस्तम्बोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ रजकादिभाण्डगततोये तु—'भाण्डस्थमन्त्यजानां तु जलं दधि पयः पिबेत्। ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रश्चैव प्रमादतः ॥ ब्रह्मकूर्चोपवासेन द्विजातीनां तु निष्कृतिः ॥ शूद्रस्य चोपवासेन तथा दानेन शक्तितः ॥' इति पराशरोक्तं वेदितव्यम्। कामतस्तु द्विगुणम्—

---

१. द्रष्टव्यम्। २. संस्पृष्ट। ३. भिर्वेत्यभिहितम्। ४. उच्छूनतयाभिन्नं। ५. जायते।

'अन्त्यजैः खानिताः कूपास्तडागा वाप्य एव वा। एषु स्नात्वा च पीत्वा च प्राजापत्येन शुद्ध्यति ॥' इति आपस्तम्बोक्तमभ्यासविषयं वेदितव्यम् ॥ यत्त्वा-पस्तम्बेन चण्डालकूपादिजलपाने पञ्चगव्यमात्रमुक्तम्—'प्रपास्वरण्ये घटके च सौरे द्रोण्यां जलं कोशविनिर्गतं च। श्वपाकचण्डालपरिग्रहेषु पीत्वा जलं पञ्चगव्येन शुद्ध्येत ॥' इति, तदशक्तविषयम्। 'प्रपां गतो विना तोयं शरीरं यो निषिञ्चति। एकाहक्षपणं कृत्वा सचैलं स्नानमाचरेत् ॥ सुराघटप्रपातोये पीत्वा नाव्यं जलं तथा। अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्यं जलं पिबेत् ॥' इति ॥

अथ भावदुष्टभक्षणे प्रायश्चित्तम्—भावदुष्टं च यद्वर्णत आकारतो वा विस्रदृशतया जुगुप्सितशारीरमलादिवासनां जनयति तदुच्यते। अरिप्रयुक्तगरलादिशङ्कायां वा। तत्र च पराशरः—'वाग्दुष्टं भावदुष्टं च भाजने भावदूषिते। भुक्त्वान्नं ब्राह्मणः पश्चात्त्रिरात्रेण विशुद्ध्यति ॥' इति।—एतत्कामकारविषयम्। यत्तु गौतमेन भावदुष्टं केवलः इत्यादि प्राक्पञ्चनखेभ्यः पठित्वा प्रायश्चित्तमुक्तम्—'प्राक् पञ्चनखेभ्यश्छर्दनं घृतप्राशनं च' इति, तदकामविषयम् ॥ शङ्कायां तु—'शङ्कास्थाने समुत्पन्ने अभोज्याभक्ष्यसंज्ञिते। आहारशुद्धिं वक्ष्यामि तन्मे निगदतः शृणु ॥ अक्षारलवणां रूक्षां पिबेद्ब्राह्मीं सुवर्चलाम्। त्रिरात्रं शङ्खपुष्पीं वा ब्राह्मणः पयसा सह ॥ पलाशबिल्वपत्राणि कुशान्पद्ममुदुम्बरम्। अपः पिबेत्क्काथयित्वा त्रिरात्रेण विशुद्ध्यति ॥' इति वसिष्ठोक्तं द्रष्टव्यम्। मनुनाप्यभोज्यभोजनशङ्कायामुक्तम् (५।२१)—'संवत्सरस्यैकमपि चरेत्कृच्छ्रं द्विजोत्तमः। अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं ज्ञातस्य तु विशेषतः ॥' इति ॥

अथ कालदुष्टभक्षणे प्रायश्चित्तम्—'कालदुष्टं च पर्युषितानिर्दशगोक्षीरादि। तत्र चाकामतः 'शेषेषूपवसेदहः' इति मनूक्तं वेदितव्यम्। कामतस्तु—'केवलानि च शुक्तानि तथा पर्युषितं च यत्। ऋजीषपक्वं भुक्त्वा च त्रिरात्रं तु व्रती भवेत् ॥' इति शङ्खोक्तं वेदितव्यम्। केवलान्यस्नेहोक्तानि। अनिर्दशगोक्षीरादिषु प्रायश्चित्तं प्राक् प्रदर्शितम्। नवोदकपाने तु पञ्चगव्यप्राशनम्—'शृङ्गास्थिदन्तजैः पात्रैः शङ्खशुक्तिकपर्दकैः। पीत्वा नवोदकं चैव पञ्चगव्येन शुद्ध्यति ॥' इति बृहद्याज्ञवल्क्यस्मरणात् ॥ कामतस्तूपवासः कर्तव्यः—'काले नवोदकं शुद्धं न पिबेच्च त्र्यहं हि तत्। अकाले तु दशाहं स्यात्पीत्वा नाद्यादहर्निशम् ॥' इति स्मृत्यन्तरदर्शनात्। ग्रहणकाले भोजने तु चान्द्रायणम्—'नवश्राद्धग्रामयाजकाक्षसग्रहभोजने। नारीणां प्रथमे गर्भे भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति शातातपस्मरणात् ॥ यदा तु सग्रहादन्यत्र निषिद्धकाले भुङ्क्ते, तदाह मार्कण्डेयः—'चन्द्रस्य यदि वा भानोर्यस्मिन्नहनि भार्गव। ग्रहणं तु भवेत्तस्मिन् पूर्वं भोजन-

---

१. कोशविनिःसृतं वा।

क्रियाम् ॥ नाचरेत्सग्रहे चैव तथैवास्तमुपागते । यावत्स्यान्नोदयस्तस्य नाश्नीयात्तावदेव तु ॥' तथा—'ग्रहणं तु भवेदिन्दोः प्रथमादधियामतः । भुञ्जीतावर्तनात्पूर्वं प्रथमे प्रथमादधः ॥' तथा—'अपराह्णे न मध्याह्ने सायाह्ने न तु सङ्गवे । भुञ्जीत सङ्गवे चेत्स्यान्न पूर्वं भोजनक्रिया ॥' (४।५५) इति । यच्च मनुनोक्तम्—'नाश्नीयात्संधिवेलायां नातिप्रगे नाति सायमित्येवमादि' । यच्च बृहच्छातातपेनोक्तम्—'धाना दधि च सक्तूंश्च श्रीकामो वर्जयेन्निशि । भोजनं तिलसंबद्धं स्नानं चैव विचक्षणः ॥' इत्येवमादिष्वनादिष्टप्रायश्चित्तेषु—'प्राणायामशतं कार्यं सर्वपापापनुत्तये । उपपातकजातानामनादिष्टस्य चैव हि ॥' इति योगीश्वरोक्तं प्राणायामशतं द्रष्टव्यम् ॥ अकामतस्तु 'शेषेपूपवसेदहः' (५।२०) इति मनूक्तोपवासो द्रष्टव्यः ॥

अथ गुणदुष्टशुक्तादिभक्षणे प्रायश्चित्तम् । तत्र मनुः (११।१५३)—'शुक्तानि च कषायांश्च पीत्वाऽमेध्यान्यपि द्विजः । तावद्भवत्यप्रयतो यावत्तन्न व्रजत्यधः ॥' इति अत्राकामतः 'शेषेपूपवसेदहः' इत्युपवासो द्रष्टव्यः । कामतस्तु—'केवलानि च शुक्तानि तथा पर्युषितं च यत् । ऋजीषपक्वं भुक्त्वा च त्रिरात्रं तु व्रती भवेत् ॥' इति शङ्खोक्तं द्रष्टव्यम् । एतच्चामलकादिफलयुक्तकाञ्जिकादिव्यतिरेकेण द्रष्टव्यम् । 'कुण्डिका सफला येषु गृहेषु स्थापिता भवेत् । तस्यास्तु काञ्जिका ग्राह्या नेतरस्याः कदाचन ॥' इति स्मरणात् ॥ उद्धृतस्नेहादिषु तु 'उद्धृतस्नेहविलयनपिण्याकमथितप्रभृतीनि चात्तवीर्याणि नाश्नीयात्' इत्युक्त्वा 'प्राक्पञ्चनखेभ्यश्छर्दने घृतप्राशनं च' इति गौतमोक्तं द्रष्टव्यम् । विलयनं घृतादिमलम् । अनाहुताद्यन्नभोजने तु लिखित आह—'तस्य चाग्नौ न [1]क्रियते यस्य चान्नं न दीयते । न तद्भोज्यं द्विजातीनां भुक्त्वा चोपवसेदहः ॥ वृथा कृसरसंयावपायसापूपशष्कुलीः । आहिताग्निर्द्विजो भुक्त्वा प्राजापत्यं समाचरेत् ॥' इति ॥ अनाहिताग्नेस्तु 'शेषेषूपवसेदहः' इत्युपवासो द्रष्टव्यः ॥ भिन्नभाजनादिषु तु भोजने संवर्तेनोक्तम्—'शूद्राणां भाजने भुक्त्वा भुक्त्वा वा भिन्नभाजने । अहोरात्रोषितो भुक्त्वा पञ्चगव्येन शुद्ध्यति ॥' इति । तथा स्मृत्यन्तरेऽप्युक्तम् 'वटार्काश्वत्थपत्रेषु कुम्भीतिन्दुकपत्रयोः । कोविदारकरञ्जेषु भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति तथा—'पलाशपद्मपत्रेषु गृही भुक्त्वैन्दवं चरेत् । वानप्रस्थो यतिश्चैव लभते चान्द्रिकं फलम् ॥' इति ॥

अथ हस्तदानादिक्रियादुष्टाभोज्यभक्षणे प्रायश्चित्तम् । तत्र पराशरः—'माक्षिकं फाणितं शाकं गोरसं लवणं घृतम् । हस्तदत्तानि भुक्त्वा तु दिनमेकमभोजनम् ॥' इति । कामतस्तु—'हस्तदत्तभोजने अब्राह्मणसमीपे भोजने दुष्ट-

---

१. क्षिपते । २. चाग्रं । ३. दुष्टान्नभोजने ।

पङ्क्तिभोजने पङ्क्त्यग्रतो भोजनेऽभ्यक्तमूत्रपुरीषकरणे मृतसूतकशूद्रान्नभोजने शूद्रैः सह स्वप्ने त्रिरात्रमभोजनम्' इति हारीतोक्तं विज्ञेयम्। पर्यायान्नदानदुष्टे तु—'ब्राह्मणान्नं ददच्छूद्रः शूद्रान्नं ब्राह्मणो ददत्। द्वयमेतदभोज्यं स्याद्भुक्त्वा-तूपवसेदहः ॥' इति वृद्धयाज्ञवल्क्योक्तमवगन्तव्यम्। शूद्रहस्तेन भोजने तु—'शूद्रहस्तेन यो भुङ्क्ते पानीयं वा पिबेत्क्वचित्। अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्च-गव्येन शुद्ध्यति' इति क्रतूक्तं विज्ञेयम्। धमनदुष्टेऽपि—'आसनारूढपादो वा वस्त्रार्धप्रावृतोऽपि वा। मुखेन धमितं भुक्त्वा कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ॥' इति तेनैवोक्तम्। पित्राद्युद्देशेन त्यक्तान्नभोजने तु 'भुङ्क्ते चेत्पार्वणश्राद्धे प्राणायामा-न्षडाचरेत्। उपवासस्त्रिमासादिवत्सरान्तं प्रकीर्तितः ॥ प्राणायामत्रयं वृद्धाव-होरात्रं सपिण्डने। असरूपे स्मृतं नक्तं व्रतं पारणके तथा ॥ द्विगुणं क्षत्रियस्यै-तत्त्रिगुणं वैश्यभोजने। स्यात्ताच्चतुर्गुणं ह्येतत्स्मृतं शूद्रस्य भोजने ॥ अतिथौ तिष्ठति द्वारि ह्यपः प्राश्नन्ति ये द्विजाः। रुधिरं तद्भवेद्वारि भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति भारद्वाजोक्तमवगन्तव्यम्। हारीतेनाप्युक्तम्—'एकादशाहे भुक्त्वान्नं भुक्त्वा संचयने तथा। उपोष्य विधिवत्स्नात्वा कूष्माण्डैर्जुहुयाद्-घृतम् ॥' इति। विष्णुनाप्युक्तम्—'प्राजापत्यं नवश्राद्धे पादोनं चाद्यमासिके। त्रैपक्षिके तदर्धं तु पञ्चगव्यं द्विमासिके ॥' इति।–इदं चापद्विषयम्। अनापदि तु—'चान्द्रायणं नवश्राद्धे प्राजापत्यं तु मिश्रके। एकाहस्तु पुराणेषु प्राजापत्यं विधीयते ॥' इति हारीतोक्तं द्रष्टव्यम्। 'प्राजापत्यं तु मिश्रके' इत्येतदाद्यमासि-कविषयं द्रष्टव्यम्। द्वितीयादिषु तु—'प्राजापत्यं नवश्राद्धे पादोनं चाद्यमासिके। त्रैपक्षिके तदर्धं स्यात्पादो द्वैमासिके तथा। पादोनकृच्छ्रमुद्दिष्टं षण्मासे च तथा-ब्दिके। त्रिरात्रं चान्यमासेषु प्रत्यहं चेदहः स्मृतम् ॥' इति षट्त्रिंशन्मतोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ क्षत्रियादिश्राद्धभोजने त्वनापदि तत्रैव विशेष उक्तः—'चान्द्रायणं नवश्राद्धे पराको मासिके स्मृतः। त्रैपक्षिके सान्तपनं कृच्छ्रं मासद्वये स्मृतम् ॥ क्षत्रियस्य नवश्राद्धे व्रतमेतदुदाहृतम्। वैश्यस्यार्धाधिकं प्रोक्तं क्षत्रियात्तु-मनीषिभिः ॥ शूद्रस्य तु नवश्राद्धे चरेच्चान्द्रायणद्वयम्। सार्धं चान्द्रायणं मासे त्रिपक्षे त्वैन्दवं स्मृतम् ॥ मासद्वये पराकः स्यादूर्ध्वं सान्तपनं स्मृतम् ॥' इति। यत्तु शंखवचनम्—'चान्द्रायणं नवश्राद्धे पराको मासिके स्मृतः। पक्षत्रयेऽ-तिकृच्छ्रः स्यात्षण्मासे कृच्छ्र एव तु ॥ आब्दिके पादकृच्छ्रः स्यादेकाहः पुन-राब्दिके। अत ऊर्ध्वं न दोषः स्याच्छंखस्य वचनं यथा ॥' इति, तत्सर्पादिहित-विषयम्; 'ये स्तेनाः पतिताः क्लीबा' इत्याद्यपाङ्क्तेयविषयं वा ॥ 'चाण्डालादुद-कात्सर्पाद् ब्राह्मणाद्वैद्युतादपि। दंष्ट्रिभ्यश्च पशुभ्यश्च मरणं पापकर्मणाम् ॥ पतना-

१. मासिके। २. प्रायश्चित्तं। ३. द्विरात्रम्।

नाशकैश्चैव विषोद्बन्धनकैस्तथा । भुक्त्वैषां षोडशश्राद्धे कुर्यादिन्दुव्रतं द्विजः ॥' इति, तथा—'अपाङ्क्तेयान्यदुद्दिश्य श्राद्धमेकादशेऽहनि । ब्राह्मणस्तत्र भुक्त्वान्नं शिशुचान्द्रायणं चरेत् ॥' इति, 'आमश्राद्धे तथा भुक्त्वा तप्तकृच्छ्रेण शुद्ध्यति । संकल्पिते तथा भुक्त्वा त्रिरात्रं क्षपणं भवेत् ॥' इति भरद्वाजेन गुरुप्रायश्चित्ताभिधानात् ॥

ब्रह्मचारिणस्तु बृहद्यमो विशेषमाह—'मासिकादिषु योऽश्नीयादसमाप्तव्रतो द्विजः । त्रिरात्रमुपवासोऽस्य प्रायश्चित्तं विधीयते ॥ प्राणायामत्रयं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥' इति ।–इदमज्ञानविषयम् । कामतोऽपि स एवाह—'मधु मांसं च योऽश्नीयाच्छ्राद्धे सूतक एव वा । प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रं व्रतशेषं समापयेत् ॥' इति । आमश्राद्धे तु सर्वत्रार्धम्—'आमश्राद्धे तदर्धं तु प्रायश्चित्तं तु सर्वदा' इति षट्त्रिंशन्मतेऽभिधानात् । यत्तूशनसोक्तम्—'दशकृत्वः पिबेच्चापो गायत्र्या श्राद्धभुग्द्विजः । ततः संध्यामुपासीत शुद्ध्येत्तु तदनन्तरम् ॥' इति,–तदनुक्तप्रायश्चित्तश्राद्धविषयम् ॥ संस्काराङ्गभूतश्राद्धभोजने तु व्यासेन विशेष उक्तः—'निर्वृत्तचूडाहोमे तु प्राङ्नामकरणात्तथा । चरेत्सान्तपनं भुक्त्वा जातकर्मणि चैव हि ॥ अतोऽन्येषु तु भुक्त्वान्नं संस्कारेषु द्विजोत्तमः । नियोगादुपवासेन शुद्ध्यते निन्द्यभोजने ॥' इति ॥ सीमन्तोन्नयनादिषु पुनर्धौम्यो विशेषमाह—'ब्रह्मौदने च सोमे च सीमन्तोन्नयने तथा । जातश्राद्धे नवश्राद्धे द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति । अत्र ब्रह्मौदनाख्यं कर्माधानाङ्गभूतं; सोमसाहचर्यात् ॥

अथ परिग्रहाभोज्यभोजने प्रायश्चित्तम्—'यत्स्वरूपतोऽनिषिद्धमपि विशिष्टपुरुषस्वामिकतयाऽभोज्यं भण्यते तत्परिग्रहाशुचि ।' तत्र योगीश्वरेण—'अदत्तान्यग्निहीनस्य नान्नमद्यादनापदि' इत्यारभ्य सार्धपञ्चभिः श्लोकैरभोज्यान्नाः प्रतिपादिताः । मनुनापि त एव किंचिदधिकाः प्रतिपादिताः । (४।२०५–२१७)—'नाश्रोत्रियतते यज्ञे ग्रामयाजिहुते तथा । स्त्रिया क्लीबेन च हुते भुञ्जीत ब्राह्मणः क्वचित् ॥ मत्तक्रुद्धातुराणां च न भुञ्जीत कदाचन । गणान्नं गणिकान्नं च विदुषां च जुगुप्सितम् ॥ स्तेनगायकयोश्चान्नं तक्ष्णो वार्धुषिकस्य च । दीक्षितस्य कदर्यस्य बद्धस्य निडगस्य च ॥ अभिशस्तस्य षण्ढस्य पुंश्चल्या दाम्भिकस्य च । चिकित्सकस्य मृगयोः क्रूरस्योच्छिष्टभोजिनः ॥ उग्रान्नं सूतिकान्नं च पर्याचान्तमनिर्दशम् । अनर्चितं वृथामांसमवीरायाश्च योषितः ॥ द्विषदन्नं नगर्यन्नं पतितान्नमवक्षुतम्[1] । पिशुनानृतिनोश्चैव क्रतुविक्रयिणस्तथा ॥ शैलूषतन्तुवायान्नं कृतघ्नस्यान्नमेव च । कर्मारस्य निषादस्य रङ्गावतरणस्य च । सुवर्णकर्तुर्वेणस्य सोमविक्रयिणस्तथा । श्ववतां शौण्डिकानां च चैलनिर्णे-

1. पतितान्नमवेक्षितम् ।

जकस्य च ॥ रजकस्य नृशंसस्य यस्य चोपपतिर्गृहे । मृष्यन्ति ये चोपपतिं स्त्रीजितानां च सर्वशः ॥ अनिर्दशं च प्रेतान्नमतुष्टिकरमेव च ॥' इति ॥ अत्र च पदार्था अभक्ष्यकाण्डे व्याख्याताः । अत्र प्रायश्चित्तमाह (मनुः ४।२२२)—'भुक्त्वातोऽन्यतमस्यान्नममत्या क्षपणं त्र्यहम् । मत्या भुक्त्वा चरेत्कृच्छ्रं रेतो विण्मूत्रमेव च ॥' इति । पैठीनसिनाप्यकामतस्त्रिरात्रमेवोक्तम्—'कुनखी-श्यावदन्तः पित्रा विवदमानः स्त्रीजितः कुष्ठी पिशुनः सोमविक्रयी वाणिजको ग्रामयाजकोऽभिशस्तो वृषल्यामभिजितः परिवृत्तिः परिविन्दानो दिधिषूपतिः पुनर्भूपुत्रश्चौरः काण्डपृष्ठः सेवकश्चेत्यभोज्यान्ना अपाङ्क्त्येया अश्राद्धार्हाः एषां भुक्त्वा दत्त्वा चाऽविज्ञानात्त्रिरात्रम्' इति ॥ शंखेन त्वेतानेव किंचिदधिकानप-ठित्वा चान्द्रायणमुक्तं,—तदभ्यासविषयम् ॥ गौतमेन पुनः 'उच्छिष्टपुंश्चल्य-भिशस्ता' इत्यादिना अभोज्यान्पठित्वा 'प्राक्पञ्चनखेभ्यश्छर्दनं घृतप्राशनं च' इति प्रायश्चित्तमुक्तं,—तदापद्विषयम् ॥ यस्तु बलात्कारेण भोज्यते तस्यापरतन्त्वेन विशेष उक्तः—'बलाद्दासीकृता ये तु म्लेच्छचण्डालदस्युभिः । अशुभं कारिताः कर्म गवादिप्राणिहिंसनम् ॥ उच्छिष्टमार्जनं चैव तथोच्छिष्टस्य भोजनम् । खरोष्ट्र-विड्वराहाणामामिषस्य च भक्षणम् ॥ तत्स्त्रीणां च तथा सङ्गस्ताभिश्च सह भोजनम् । मासोषिते द्विजातौ तु प्राजापत्यं विशोधनम् ॥ चान्द्रायणं त्वाहिताग्नेः पराकस्त्वथवा भवेत् । चान्द्रायणं पराकं च चरेत्संवत्सरोषितः ॥ संवत्सरोषितः शूद्रो मासार्धं यावकं पिबेत् । मासमात्रोषितः शूद्रः कृच्छ्रपादेन शुद्ध्यति ॥ ऊर्ध्वं संवत्सरात्कल्प्यं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमैः । संवत्सरैस्त्रिभिश्चैव तद्भावं स निगच्छति' इति ॥

आशौचिपरिगृहीतान्नभोजने तु छागलेय आह—'अज्ञानाद् भुञ्जते विप्राः सूतके मृतके तथा ॥ प्राणायामशतं कृत्वा शुद्ध्यन्ते शूद्रसूतके ॥ वैश्ये षष्टिर्भ-वेद्राज्ञि विंशतिर्ब्राह्मणे दश । एकाहं च त्र्यहं पञ्च सप्तरात्रमभोजनः ॥ ततः शुद्धिर्भवत्येषां पञ्चगव्यं पिबेत्ततः ॥' इति ब्राह्मणादिक्रमेणैकाहत्र्यहादयो योज्याः ।—इदमकामविषयम् ॥ कामतस्तु मार्कण्डेय आह—'भुक्त्वा तु ब्राह्मणाशौचे चरेत्सान्तपनं द्विजः । भुक्त्वा तु क्षत्रियाशौचे तथा कृच्छ्रो विधीयते ॥ वैश्याशौचे तथा भुक्त्वा महासान्तपनं चरेत् । शूद्रस्यैव तथा भुक्त्वा त्रिमासान्व्रतमाचरेत् ॥ यत्तु शंखेनोक्तम्—'शूद्रस्य सूतके भुक्त्वा षण्मासान्व्रतमाचरेत् । वैश्यस्य तु तथा भुक्त्वा त्रीन्मासान्व्रतमाचरेत् ॥ क्षत्रियस्य तथा भुक्त्वा द्वौ मासौ व्रतमाचरेत् । ब्राह्मणस्य तथाऽशौचे भुक्त्वा

१. तथा तस्यैव भोजनं । २. अज्ञानाद्भोजने । ३. शुचिर्भवेद्विप्रः पञ्चगव्यं पिबेन्नरः इति । ४. द्विजश्चान्द्रायणं चरेदिति ।

मासव्रती भवेत् ॥' इति ।-इदमभ्यासविषयम् । एतच्च प्रायश्चित्तमाशौचानन्तरं वेदितव्यम् । 'ब्राह्मणादीनामाशौचे यः सकृदेवान्नमश्नाति तस्य तावदाशौचं यावत् तेषामाशौचम् , व्यपगमे तु प्रायश्चित्तं कुर्यात्' इति विष्णुस्मरणात् ॥

अपुत्राद्यन्नभोजने तु लिखित आह—'भुक्त्वा वार्धुषिकस्यान्नमव्रतस्यासुतस्य च । शूद्रस्य च तथा भुक्त्वा त्रिरात्रं स्यादभोजनम् ॥' तथा—'परपाकनिवृत्तस्य परपाकरतस्य च । अपचस्य च भुक्त्वान्नं द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति ।–एतच्चाभ्यासविषयम् ॥ परपाकेन निवृत्तादेर्लक्षणं च तेनैवोक्तम्—'गृहीत्वाग्निं समारोप्य पञ्चयज्ञान्न निर्वपेत् । परपाकनिवृत्तोऽसौ मुनिभिः परिकीर्तितः ॥ पञ्चयज्ञांस्तु[1] यः कृत्वा परान्नादुपजीवति । सततं प्रातरुत्थाय परपाकरतस्तु सः ॥ गृहस्थधर्मवृत्तौ यो ददाति परिवर्जितः । ऋषिभिर्धर्मतत्त्वज्ञैरपचः संप्रकीर्तितः ॥'इति । यत्तु ब्रह्मचर्याद्यन्नभोजने वृद्धयाज्ञवल्क्य आह–'यतिश्च ब्रह्मचारी च पक्वान्नस्वामिनावुभौ । तयोरन्नं न भोक्तव्यं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति, यच्च पार्वणश्राद्धाद्यकर्तुरन्नभोजने भरद्वाज आह—'पक्षे वा यदि वा मासे यस्य नाश्नन्ति देवताः ॥ भुक्त्वा दुरात्मनस्तस्य द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति,–तदुभयमप्यभ्यासविषयम् ॥ पूर्वपरिगणितातिरिक्ता ये निषिद्धाचरणशीलास्तदन्नभोजने तु—'निराचारस्य विप्रस्य निषिद्धाचरणस्य च । अन्नं भुक्त्वा द्विजः कुर्याद्दिनमेकमभोजनम् ॥' इति षट्त्रिंशन्मतोक्तं द्रष्टव्यम् । अत्रैव संवत्सराभ्यासे षट्त्रिंशन्मत एवोक्तम्—'उपपातकयुक्तस्य अब्दमेकं निरन्तरम् । अन्नं भुक्त्वा द्विजः कुर्यात्पाराकं तु विशोधनम् ॥' इति ।–इदं चाभक्ष्यभक्षणप्रायश्चित्तकाण्डगतमविशेषोदितव्रतकदम्बकं हि द्विजाग्रस्यैव । क्षत्रियादीनां तु पादपादहान्या भवति; 'विप्रे तु सकलं देयं पादोनं क्षत्रिये स्मृतम् । वैश्येऽर्धं पाद एकस्तु शूद्रजातिषु शस्यते ॥' इति विष्णुस्मरणात् ॥

इत्यभक्ष्यभक्षणप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

निमित्तपरिगणनवेलायामुपपातकानन्तरं जातिभ्रंशकरादीनि परिगणितानि, तत्र प्रायश्चित्तान्युच्यन्ते । तत्र मनुः (११।१२४-१२५)—'जातिभ्रंशकरं कर्म कृत्वाऽन्यतममिच्छया । चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं प्राजापत्यमनिच्छया ॥ संकरापात्रकृत्यासु मासं शोधनमैन्दवम् । मलिनीकरणीयेषु तप्तः स्याद्यावकस्त्र्यहम् ॥' इति । अन्यतममिति सर्वत्र संबध्यते । यमेनाप्यत्र विशेष उक्तः—'संकरीकरणं कृत्वा मासमश्नाति यावकम् । कृच्छ्रातिकृच्छ्रमथवा प्रायश्चित्तं समाचरेत् ॥ अपात्रीकरणं कृत्वा तप्तकृच्छ्रेण शुद्ध्यति ॥ शीतकृच्छ्रेण वा शुद्धिर्महासान्तपनेन

---

१. पञ्चयज्ञान्स्वयं कृत्वा परान्नमुपजीवति ।

च । मलिनीकरणीयेषु तप्तकृच्छ्रं विशोधनम् ॥' इति ॥ बृहस्पतिनापि जातिभ्रंशकरे विशेष उक्तः—'ब्राह्मणस्य रुजः कृत्वा रासभादिप्रमापणम् । निन्दितेभ्यो धनादानं कृच्छ्रार्धं व्रतमाचरेत् ॥' इति । एतेषां च जातिभ्रंशकरादिप्रायश्चित्तानां मन्वाद्युक्तानां जातिशक्त्याद्यपेक्षया विषयो विभजनीयः । एवं योगीन्द्रहद्व्रतमभक्ष्यभक्षणादिप्रायश्चित्तं संक्षेपतो दर्शितम् ॥ २८९ ॥

भाषा—निषिद्ध दान लेने पर ब्रह्मचारी होकर, केवल दूध पीते हुए, गोशाला में निवास करते हुए और गायत्री के जप में रत होकर एक मास व्यतीत करने पर शुद्ध होता है ॥ २८९ ॥

अधुना प्रकृतमनुसरामः–'महापातकमतिपातकमनुपातकमुपपातकं प्रकीर्णकमिति पञ्चविधं पापजातमुक्तम् । तत्र चतुर्विधं प्रायश्चित्तमभिधाय क्रमप्राप्तं प्रकीर्णकं प्रायश्चित्तमाह—

[1]प्राणायामी जले स्नात्वा खरयानोष्ट्रयानगः ।
नग्नः स्नात्वा च भुक्त्वा च गत्वा चैव दिवा स्त्रियम् ॥२९०॥

खरयुक्तं यानं खरयानम्, उष्ट्रयुक्तं यानमुष्ट्रयानं, रथगन्त्र्यादि तेनाध्वगमनं कृत्वा दिगम्बरः स्नात्वाऽभ्यवहृत्य दिवा वासरे च निजाङ्गनासंभोगं कृत्वा च तडागतरङ्गिण्यादाववगाह्य कृतप्राणायामः शुद्ध्यति ।–इदं च कामकारविषयम् ।–'उष्ट्रयानं समारुह्य खरयानं तु कामतः स[2]वासा जलमाप्लुत्य प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥' (११।२०१) इति मनुस्मरणात् अकामतः स्नानमात्रं कल्प्यम् । साक्षात्खरारोहणे तु द्विगुणावृत्तिः कल्पनीया; तस्य गुरुत्वात् ॥२९०॥

भाषा—गदहे से खींची जाने वाली सवारी अथवा ऊँट-गाड़ी पर चढ़ने, नंगे होकर नहाने और खाने तथा दिन से (अपनी ही स्त्री से) स्त्री-संभोग करने पर जल में प्रवेश कर प्राणायाम करने एवं स्नान करने से शुद्धि होती है ॥ २९० ॥

[3]गुरुं हुंकृत्य त्वंकृत्य विप्रं निर्जित्य वादतः ।
बद्ध्वा वा वाससा क्षिप्रं प्रसाद्योपवसेद्दिनम् ॥ २९१ ॥

किंच, गुरु जनकादिकं त्वंकृत्य त्वमेवमात्थ त्वयैवं कृतमित्येकवचनान्तयुष्मच्छब्दोच्चारणेन निर्भर्त्स्य विप्रं वा ज्यायांसं समं कनीयांसं वा सक्रोधं हुं तूष्णीमास्स्व, हुं मा बहुवादीः, इत्येवमाक्षिप्य जल्पवितण्डाभ्यां जयफलाभ्यां विप्रं निर्जित्य कण्ठे वाससा मृदुस्पर्शेनापि बद्ध्वा क्षिप्रं पादप्रणिपातादिना प्रसाद्य

---

१. प्राणायामं जले । २. स्नात्वा तु विप्रो दिग्वासा । ३. गुरुं त्वंकृत्य हुंकृत्य विप्रं ।

क्रोधं त्याजयित्वा दिनमुपवसेत्। अनश्नन्कृत्स्नं वासरं नयेत् ॥ यत्तु यमेनोक्तम् - 'वादेन ब्राह्मणं जित्वा प्रायश्चित्तविधित्सया। त्रिरात्रोपोषितः स्नात्वा प्रणिपत्य प्रसादयेत् ॥' इति,–तदभ्यासविषयम् ॥ २९१ ॥

भाषा—गुरु (पिता आदि श्रेष्ठ जनों) को 'तू' कहने पर (भर्त्सना करने पर) अथवा क्रोध से ब्राह्मण को डाँटने पर, उसके गले में वस्त्र बाँधने पर शीघ्र उनके पैरों पर गिर कर उन्हें प्रसन्न करे ॥ २९१ ॥

विप्रदण्डोद्यमे कृच्छ्रस्त्वतिकृच्छ्रो निपातने।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रोऽसृक्पाते कृच्छ्रोऽभ्यन्तरशोणिते ॥ २९२ ॥

विप्रजिघांसया दण्डाद्युद्यमे कृच्छ्रः शुद्धिहेतुः, निपातने ताडने अतिकृच्छ्रः, असृक्पाते रुधिरस्रावणे पुनः कृच्छ्रातिकृच्छ्रः, अभ्यन्तरशोणितेऽपि कृच्छ्रः शुद्धिहेतुः ॥ बृहस्पतिनाप्यत्र विशेष उक्तः—'काष्ठादिना ताडयित्वा त्वग्भेदे कृच्छ्रमाचरेत्। अस्थिभेदेऽतिकृच्छ्रः स्यात्पराकस्त्वङ्गकर्तने ॥' इति। पादप्रहारे तु यम आह—'पादेन ब्राह्मणं स्पृष्ट्वा प्रायश्चित्तविधित्सया। दिवसोपोषितः स्नात्वा प्रणिपत्य प्रसादयेत् ॥' इति ॥ मनुना त्वन्यानि प्रकीर्णकप्रायश्चित्तानि दर्शितानि (११।२०२)—'विनाद्भिरप्सु वाप्यार्तः शारीरं [1]संनिषेव्य तु। [2]सचैलो बहिराप्लुत्य गामालभ्य विशुद्ध्यति ॥' इति। विनाद्भिरित्यसंनिहितास्वपीत्यर्थः। शारीरं मूत्रपुरीषादि।–इदमकामविषयम्। कामतस्तु—'आपद्गतो विना तोयं शारीरं यो निषेवते। एकाहं क्षपणं कृत्वा सचैलो जलमाविशेत् ॥' इति यमोक्तं वेदितव्यम् ॥ यत्तु सुमन्तुवचनम्—'अप्स्वग्नौ वा मेहतस्तप्तकृच्छ्रम्' इति,–तदनार्तविषयमभ्यासविषयं वा ॥ नित्यश्रौतादिकर्मलोपे तु मनुराह (११।२०३)–'वेदोदितानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे। स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम् ॥' इति। श्रौतेषु दर्शपौर्णमासादिकर्मसु स्मार्तेषु च नित्यहोमादिषु प्रतिपदोक्तेष्ट्यादिप्रायश्चित्तैरुपवासस्य समुच्चयः। स्नातकव्रतानि च–'न जीर्णमलवद्वासा भवेच्च विभवे सति' इत्येवमादीनि प्रागुक्तानि। स्नातकव्रतमधिकृत्य क्रतुनाप्युक्तम्—'एतेषामाचाराणामेकैकस्य व्यतिक्रमे गायत्र्यष्टशतं जप्यं कृत्वा पूतो भवति' इति ॥ पञ्चमहायज्ञाकरणे तु बृहस्पतिराह—'अनिर्वर्त्य महायज्ञान् यो भुङ्क्ते प्रत्यहं गृही। अनातुरः सति धने कृच्छ्रार्धेन विशुद्ध्यति ॥ आहिताग्निरुपस्थानं न कुर्याद्यस्तु पर्वणि। ऋतौ न गच्छेद्भार्यां वा सोऽपि कृच्छ्रार्धमाचरेत् ॥' इति। द्वितीयादिभार्योपरमे तु देवल आह—'मृतां द्वितीयां यो भार्यां दहेद्वैतानिकाग्निभिः। जीवन्त्यां प्रथमायां तु

---

१. संनिवेश्य च। २. सचेलः स्नानमाचरेत्।

सुरापानसमं हि तत् ॥' इति । स्वभार्याभिशंसने तु यम आह—'स्वभार्यां तु यदा क्रोधादगम्येति नरो वदेत् । प्राजापत्यं चरेद्विप्रः क्षत्रियो दिवसान्नव ॥ षड्रात्रं तु चरेद्वैश्यस्त्रिरात्रं शूद्र आचरेत् ॥' इति ॥

अस्नानभोजनादौ हारीत आह—'वहन्कमण्डलुं रिक्तमस्नातोऽश्नंश्च भोजनम् । अहोरात्रेण शुद्धिः स्याद्दिनजप्येन चैव हि ॥' इति । एकपङ्क्त्युपविष्टानां स्नेहादिना वैषम्येण दानादौ यम आह—'न पङ्क्त्यां विषमं दद्यान्न याचेत न दापयेत् । (याचको दापको दाता न वै स्वर्गस्य गामिनः ॥) प्राजापत्येन कृच्छ्रेण मुच्यते कर्मणस्ततः ॥ नदीसंक्रमहन्तुश्च कन्याविघ्नकरस्य च ॥ समे विषमकर्तुश्च निष्कृतिर्नोपपद्यते[1] ॥ त्रयाणामपि चैतेषां प्रत्यापत्तिं च मार्गताम्[2] । भैक्षलब्धेन चान्नेन द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति । संक्रम उदकावतरणमार्गः । समे विषमकर्ता पूजादौ ॥ इन्द्रधनुर्दर्शनादावृष्यशृङ्ग आह—'इन्द्रचापं पलाशाग्निं यद्यन्यस्य प्रदर्शयेत् । प्रायश्चित्तमहोरात्रं धनुर्दण्डश्च दक्षिणा ॥' पतितादिसंभाषणे तु गौतम आह—'न म्लेच्छाशुच्यधार्मिकैः सह संभाषेत । संभाष्य पुण्यकृतो मनसा ध्यायेत् । ब्राह्मणेन सह वा संभाषेत तल्पान्नधनलाभवधे पृथग्वर्षाणि' इति । भार्यान्नधनानां लाभस्य वधे विघ्नकरणे प्रत्येकं संवत्सरं प्राकृतं ब्रह्मचर्यम् ॥ तथा—ब्रह्मसूत्रं विना विण्मूत्रोत्सर्गादौ स्मृत्यन्तरे प्रायश्चित्तमुक्तम्—'विना यज्ञोपवीतेन यद्युच्छिष्टो भवेद् द्विजः । प्रायश्चित्तमहोरात्रं गायत्र्यष्टशतं तु वा ॥' तत्र ऊर्ध्वोच्छिष्टे उपवासः, अधरोच्छिष्टस्योदकपानादिषु गायत्रीजप इति व्यवस्था । अकामतस्तु—'पिबेत् मेहतश्चैव भुञ्जतोऽनुपवीतिनः । प्राणायामत्रिकं षट्कं नक्तं च त्रितयं क्रमात् ॥' इति स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ भुक्त्वा शौचाचमनमकृत्वोत्थाने तु—'यद्युत्तिष्ठत्यनाचान्तो भुक्त्वा वाऽनशनात्ततः । सद्यःस्नानं प्रकुर्वीत सोऽन्यथा पतितो भवेत् ॥' इति स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ चौराद्युत्सर्गादौ वसिष्ठ आह—'दण्ड्योत्सर्गे राजैकरात्रमुपवसेत्त्रिरात्रं पुरोहितः कृच्छ्रमदण्ड्यदण्डने पुरोहितस्त्रिरात्रं राजा कुनखी श्यावदन्तश्च कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वोद्धरेयाताम्' इति । उद्धरेयातां कुत्सितानां दन्तानां नखानां चोद्धरणं कुर्यातामित्यर्थः । स्तेनपतितादिपङ्क्तिभोजने तु मार्कण्डेय आह—'अपाङ्क्तेयस्य यः कश्चित्पङ्क्तौ भुङ्क्ते द्विजोत्तमः । अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुद्ध्यति ॥' इति ॥

नीलीविषये स्वापस्तम्ब आह—'नीलीरक्तं यदा वस्त्रं ब्राह्मणोऽङ्गेषु धारयेत् । अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुद्ध्यति ॥ रोमकूपैर्यदा गच्छेद्रसो नील्यास्तु

---

१. निष्कृतिर्न विधीयते । २. प्राजापत्यं तु मार्गणम् ।

कर्हिचित् । त्रिषु वर्णेषु सामान्यं तप्तकृच्छ्रं विशोधनम् ॥ पालनं विक्रयश्चैव तद्वृत्त्या चोपजीवनम् । पातनं च भवेद्विप्रैस्त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहति ॥ नीलीदारु यदा भिन्द्याद् ब्राह्मणस्य शरीरतः । शोणितं दृश्यते यत्र द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥ स्त्रीणां क्रीडार्थसंभोगे शयनीये न दुष्यति ॥' इति । भृगुणाप्युक्तम्––'स्त्रीधृता शयने नीली ब्राह्मणस्य न दुष्यति । नृपस्य वृद्धौ वैश्यस्य पर्वंवर्ज्यं विधारणम्' इति ॥ तथा वस्त्रविशेषकृतश्च प्रतिप्रसवः—'कम्बले पट्टसूत्रे च नीलीरागो न दुष्यति ॥' इति स्मरणात् ॥ ब्रह्मतरुनिर्मितखट्वाद्यारोहणे शङ्ख आह— 'अध्यस्य शयनं यानमासनं पादके तथा । द्विजः पलाशवृक्षस्य त्रिरात्रं तु व्रती भवेत् ॥ क्षत्रियस्तु रणे पृष्ठं दत्त्वा प्राणपरायणः । संवत्सरं व्रतं कुर्याच्छित्त्वा वृक्षं फलप्रदम् ॥ द्वौ विप्रौ ब्राह्मणाग्नी वा दम्पती गोद्विजोत्तमौ । अन्तरेण यदा गच्छेत्कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ॥ होमकाले तथा दोहे स्वाध्याये दारसंग्रहे । अन्तरेण यदा गच्छेद् द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥' इति । दोहे सान्नाय्याद्यङ्गभूते ।–एतच्चाभ्यासविषयम् । सच्छिद्रादित्याद्यरिष्टदर्शनादौ शङ्ख आह—'दुःस्वप्नारिष्टदर्शनादौ घृतं सुवर्णं च दद्यात् ॥' इति ।

क्वचिद् देशविशेषगमनेऽपि देवल आह—'सिन्धुसौवीरसौराष्ट्रांस्तथा प्रत्यन्तवासिनः । अङ्गवङ्गकलिङ्गान्ध्रान् गत्वा संस्कारमर्हति ॥' एतच्च तीर्थयात्राव्यतिरेकेण द्रष्टव्यम् ॥ स्वपुरीषदर्शनादौ यम आह—'प्रत्यादित्यं न मेहेत न पश्येदात्मनः शकृत् । दृष्ट्वा सूर्यं निरीक्षेत गामग्निं ब्राह्मणं तथा ॥' इति । शङ्खोऽप्याह—'पादप्रतपनं कृत्वा कृत्वा वह्निमधस्तथा । कुशैः प्रमृज्य पादौ तु दिनमेकं व्रती भवेत् ॥' इति ॥ क्षत्रियाद्युपसंग्रहे हारीत आह—'क्षत्रियाभिवादनेऽहोरात्रमुपवसेत्, वैश्याभिवादने द्विरात्रम्, शूद्रस्याभिवादने त्रिरात्रमुपवासः' इति ॥ तथा 'शय्यारूढपादुकोपानहारोपितपादोच्छिष्टान्धकारस्थश्राद्धकृज्जपदेवपूजानिरताभिवादने त्रिरात्रमुपवासः स्यादन्यत्र निमन्त्रितेनान्यत्र भोजनेऽपि त्रिरात्रम्' इति ॥

समित्पुष्पादिहस्तस्याभिवादनेऽप्येतदेव—'समित्पुष्पकुशाज्याम्बुमृदन्नाक्षतपाणिकम् ; जपं होमं च कुर्वाणं नाभिवादेत वै द्विजम् ॥' इत्यापस्तम्बीये जपादिभिः समभिव्याहारात् । अभिवादकस्यापीदमेव प्रायश्चित्तम्—'नोदकुम्भहस्तोऽभिवादयेत् न भैक्षं चरन्न पुष्पाज्यादिहस्तो नाशुचिर्न जपन्न देवपितृकार्यं कुर्वन्न शयानः' इति तस्यापि शङ्खेन प्रतिषेधात् । एवमन्यान्यपि वचांसि स्मृत्यन्तरतोऽन्वेष्याणि, ग्रन्थगौरवभयादत्र न लिख्यन्ते ॥ २९२ ॥

---

१. त्रिवर्णेषु च सामान्यम् । २. भवेद्विप्रे त्रिभिः । ३. अङ्गवङ्गकलिङ्गांश्च ।

भाषा—किसी ब्राह्मण को मारने की इच्छा से डंडा उठाने पर कृच्छ्र व्रत से और डंडा मार देने पर अतिकृच्छ्र व्रत से, मारकर रुधिर निकाल देने पर कृच्छ्रातिकृच्छ्र व्रत से और उसके चोट के स्थान पर रुधिर आ जाने पर कृच्छ्र व्रत से शुद्धि होती है ॥ २९२ ॥

इति प्रकीर्णकप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

निमित्तानामानन्त्यात्प्रतिव्यक्तिप्रायश्चित्तस्य[1] वक्तुमशक्यत्वात्सामान्यतयोपदिष्टानुपदिष्टविषये प्रायश्चित्तविशेषज्ञानार्थमिदमाह—

देशं कालं वयः शक्तिं पापं चावेक्ष्य[2] यत्नतः ।
प्रायश्चित्तं प्रकल्प्यं स्याद्यत्र चोक्ता[3] न निष्कृतिः ॥२९३॥

यदुक्तं प्रायश्चित्तजातं वक्ष्यमाणं वा तद्देशादिकमवेक्ष्य यथा कर्तुः प्राणविपत्तिर्न भवति तथा विषयविशेषे कल्पनीयम्; इतरथा प्रधाननिवृत्तिप्रसङ्गात् । तथा च वक्ष्यति—'वायुभक्षो दिवा तिष्ठन् रात्रिं नीत्वाप्सु सूर्यदृक्' इति, तत्र यदि हिमवद्गिरिनिकटवर्तिनामुदकवास[4] उपदिश्यते अतिशीताकुलिते वा शिशिरादिकाले तदा प्राणवियोगो भवेदिति तद्देशकालपरिहारेणोदकवासः कल्पनीयः । तथा वयोविशेषादपि यदि नवतिवार्षिकादेरपूर्णद्वादशवार्षिकस्य वा द्वादशाब्दिकं[5] प्रायश्चित्तमुपदिश्यते 'तदा प्राणा विपद्येरन्' इति ततोऽन्यवयस्के तत्प्रायश्चित्तं कल्प्यम् । अत एव स्मृत्यन्तरे 'क्वचिदर्धं क्वचित्पादः' इति वृद्धादिषु प्रायश्चित्तस्य ह्रासोऽभिहितः, तच्च प्राक्पञ्चितम् । तथा धनदानतपश्चरणादिशक्त्यपेक्षया च नहि निर्धनस्य पात्रे धनं वा पर्याप्तमित्याद्युपपद्यते । तथोद्रिक्तपित्तादेर्वा पराकादिकं नापि स्त्रीशूद्रादेर्जपादिकम् । अत एव 'गजादीनामशक्नुवन् । दानं दातुं चरेत्कृच्छ्रमेकैकस्य विशुद्धये' इत्युक्तम् । तथा 'प्रायश्चित्तार्धमर्हन्ति स्त्रियो रोगिण एव च' इति तपस्यशक्तस्य स्मृत्यन्तरे प्राक् प्रायश्चित्तस्य ह्रासोऽभिहितः । तथा पापं च महापातकादिरूपेण सप्रत्ययाप्रत्ययसकृदभ्यासादिरूपेण चावेक्ष्य यत्नतः सकलधर्मशास्त्रपर्यालोचनया प्रायश्चित्तं कल्पनीयम् । तत्राकामतो यद्विहितं तदेव कामकृते द्विगुणं, कामतोऽभ्यासे चतुर्गुणमित्येवं स्मृत्यन्तरानुसारेण कल्पनीयम् । तथा—'महापापोपपापाभ्यां योऽभिशंसेन्मृषा परम् । अब्भक्षो माससासीत' इत्युक्तं, तत्र महापापोपपापयोस्तुल्यप्रायश्चित्तस्यायुक्तत्वान्महापापापेक्षयोपपातके मासिकव्रतस्य ह्रासः कल्पनीयः । यत्र च हसितजृम्भिताक्रन्दितास्फालनादिना[6] कस्मात्कुर्यात्तथा । 'नोद्गच्छतोऽम्भसि स्नायान्न च श्मश्रूवादि कर्तयेत् । अन्तर्व-

---

१. प्रायश्चित्तनिमित्तस्य । २. चापेक्ष्य । ३. नोक्ता च । ४. उदवास । ५. द्वादशवार्षिकादिकम् । ६. जृम्भितास्फोटनानि ।

न्याः पतिः कुर्वन्नप्रजा भवति ध्रुवम् ॥' इत्यादौ प्रायश्चित्तं नोपदिष्टं, तत्रापि देशाद्यपेक्षया प्रायश्चित्तं कल्प्यम् । ननु किंचिदपि निमित्तजातमनुक्तनिष्कृतिकमुपलभ्यते; 'प्राणायामशतं कार्यं सर्वपापापनुत्तये । उपपातकजातानामनादिष्टस्य चैव हि ॥' इत्यनुक्तनिष्कृतिष्वपि प्रायश्चित्तस्य वक्ष्यमाणत्वात् । गौतमेनाप्येतान्येवानादेशे विकल्पेन क्रियेरन्नित्येकाहादयः प्रतिपादिताः । उच्यते,–सत्यमस्त्येव सामान्यतः प्रायश्चित्तोपदेशस्तथापि सर्वत्र देशकालादीनामपेक्षितत्वादस्त्येव कल्पनावसरः । नच हसितादिषु सर्वत्र प्राणायामशतं युक्तम्; निमित्तस्य लघुत्वात् । अतः पापापेक्षया ह्रासः कल्पनीयः प्रायश्चित्तान्तरं वा । ननु कथं पापस्य लघुत्वं ? येन प्रायश्चित्तस्य ह्रासकल्पना स्यात् । नच प्रायश्चित्ताल्पत्वादिति वाच्यम् । अनुक्तनिष्कृतित्वादेव । सत्यम्,–किंतु अर्थवादसंकीर्तनाद् बुद्धिपूर्वाबुद्धिपूर्वानुबन्धाद्यपेक्षया च सुबोध एव दोषस्य गुरुलघुभावः । तथा दण्डह्रासवृद्ध्यपेक्षया च प्रायश्चित्तगुरुलघुभावः । यथा ब्राह्मणावगोरणादौ सजातीयविषये प्राजापत्यादिकमुक्तम् , तत्र यदा चानुलोम्येन प्रातिलोम्येन चावगोरणादि क्रियते, यदा वा मूर्धावसिक्तादिभिस्तदा दण्डस्य तारतम्यदर्शनादेव दोषाल्पत्वमहत्त्वावगमात्प्रायश्चित्तस्यापि गुरुलघुभावः कल्पनीयः । दर्शितश्च दण्डस्य गुरुलघुभावः 'प्रतिलोमापवादेषु द्विगुणस्त्रिगुणो दमः' इत्यादिना ॥

भाषा—देश, समय, आयु, शक्ति और पाप का सावधानी से निरीक्षण करके ही अन्य प्रायश्चित्तों की कल्पना कर लेनी चाहिए जिनका विधान नहीं किया गया है ॥ २९३ ॥

इति पतितत्यागविधिः ।

एवं महापातकादिभिः पतितस्य प्रायश्चित्तमुक्तं, यस्त्वौद्धत्यादेतन्न चिकीर्षति तस्य किं कार्यमित्यत आह—

दासीकुम्भं बहिर्ग्रामान्निनयेरन्स्वबान्धवाः ।
पतितस्य बहिः कुर्युः सर्वकार्येषु चैव तम् ॥ २९४ ॥

जीवत एव पतितस्य ये स्वा ज्ञातयो बान्धवाः पितृमातृपक्षास्ते सर्वे संनिपत्य दासी प्रेष्या तया सपिण्डादिप्रेषितया आनीतमपां पूर्णं कुम्भं घटं ग्रामाद्बहिर्निनयेयुः । एतच्चतुर्थ्यादिरिक्तातिथिष्वह्नः पञ्चमे भागे गुर्वादिसंनिधौ कार्यम् । (११।१८२)—'पतितस्योदकं कार्यं सपिण्डैर्बान्धवैर्बहिः । निन्दितेऽहनि सायाह्ने ज्ञात्यृत्विग्गुरुसन्निधौ ॥' इति मनुस्मरणात् ॥ अथवा दास्येव सपिण्डादिप्रयुक्ता निनयेत् । यथाह मनुः (११।१८३)—'दासी घटमपां पूर्णं पर्य-

---

१. दर्शनाद्दोषाल्पत्व । २. बहिर्ग्रामान्निनयेयुः । ३. बान्धवैः सह ।

स्येत्प्रेतवत्पदा। अहोरात्रमुपासीरन्नाशौचं बान्धवैः सह ॥' इति। प्रेतवदिति दक्षिणामुखापसव्ययोः प्राप्त्यर्थम्।—एतच्च निनयनमुदकपिण्डदानादिप्रेतक्रियोत्तरकालं द्रष्टव्यम्। 'तस्य विद्यागुरुयोनिसंबन्धाश्च संनिपात्य सर्वाण्युदकादीनि प्रेतकर्माणि कुर्युः, पात्रं चास्य विपर्यस्येयुः। दासः कर्मकरो वाऽवकरात् पात्रमानीय दासीघटान् पूरयित्वा दक्षिणाभिमुखः पदा विपर्यस्येदिदम्। अमुमनुदकं करोमि इति नामग्राहं तं सर्वेऽन्वालभेरन् प्राचीनावीतिनो मुक्तशिखा विद्यागुरवो योनिसंबन्धाश्च वीक्षेरन् अप उपस्पृश्य ग्रामं प्रविशेयुः' (१९।५।७) इति गौतमस्मरणात्। अयं च त्यागो यदि बन्धुभिः प्रेर्यमाणोऽपि प्रायश्चित्तं न करोति तदा द्रष्टव्यः। तस्य गुरोर्बान्धवानां राज्ञश्च समक्षं दोषानभिख्याप्यानुभाष्य पुनः पुनराचारं लभस्वेति, स यद्येवमप्यनवस्थितमतिः स्यात्ततोऽस्य पात्रं विपर्यस्येदिति शङ्खस्मरणात्। ततस्तं लब्धोदकं पतितं सर्वकार्येषु संभाषणसहासनादिषु बहिः कुर्युर्वर्जयेयुः। तथा च मनुः (११।१८४)—'निवर्तेरंस्ततस्तस्मात्संभाषणसहासने। दायाद्यस्य प्रदानं च यात्रामेव च लौकिकीम् ॥' इति। यदि स्नेहादिना संभाषणं करोति तदा प्रायश्चित्तं कार्यम्। 'अत ऊर्ध्वं तेन संभाष्य तिष्ठेदेकरात्रं जपन्सावित्रीमज्ञानपूर्वं चेत्त्रिरात्रम्' इति ॥ २९४ ॥

भाषा—पतित व्यक्ति के जाति वाले और बान्धव सभी दासी के द्वारा (उसके नाम से) जल से भरा हुआ घड़ा गाँव से बाहर निकलवा दें और सभी कार्यों से उसका बहिष्कार करें ॥ २९४ ॥

यदा तु बन्धुत्यागादन्यथा वा जातवैराग्यः प्रायश्चित्तं च कृतं, तदा किं कार्यमित्यत आह—

> चरितव्रत आयाते निनयेरन्नवं घटम्।
> जुगुप्सेरन्न चाप्येनं संवसेयुश्च सर्वशः ॥ २९५ ॥

कृतप्रायश्चित्ते बन्धुसमीपं पुनरायाते तत्सपिण्डादयस्तेन सहिता नवम् अनुपहतं घटम् उदकपूर्णं निनयेयुः।—एतच्च निनयनं पुण्यह्रदादिस्नानोत्तरकालं द्रष्टव्यम्। (११।१८६)—'प्रायश्चित्ते तु चरिते पूर्णं कुम्भमपां नवम्। तेनैव सार्धं प्रास्येयुः स्नात्वा पुण्ये जलाशये ॥' इति मनुस्मरणात्। गौतमेन तु विशेष उक्तः—'यस्तु प्रायश्चित्तेन शुद्ध्येत्तस्मिन् शुद्धे शातकुम्भमयं पात्रं पुण्यतमाद् ह्रदात्पूरयित्वा स्रवन्तीभ्यो वा, तत एनमप उपस्पर्शयेयुः; अथास्मै तत्पात्रं दद्युस्तत्संप्रतिगृह्य जपेत् 'शान्ता द्यौः शान्ता पृथिवी शान्तं शिवमन्तरिक्षं यो रोचनस्तमिह गृह्णामि' इत्येतैर्यजुर्भिः पावमानीभिस्तरत्समन्दीभिः कूष्माण्डै-

१. विपरिसिंचेयुः। २. चाप्येनं संपिबेयुश्च।

स्नाज्यं जुहुयाद्धिरण्यं दद्याद्गां चाचार्याय । यस्य तु प्राणान्तिकं प्रायश्चित्तं स मृतः शुद्ध्येदेतदेव शान्युदकं सर्वेषूपपातकेषु' (गौ० १९।१०।१७) इति । तत एवं कृतप्रायश्चित्तं ते नैव कुत्सयेयुः । तथा सर्वकार्ये क्रयविक्रयादिषु तेन सह संव्यवहरेयुः ॥ २९५ ॥

भाषा—प्रायश्चित्त का व्रत करके यदि बन्धु बान्धवों में मिलने के लिये आवे तो सपिण्ड उसके साथ दूसरा जल से पूर्ण नया घड़ा (किसी तालाब में स्नान करके वहाँ से) मँगवावें । तब उसको घृणित न समझें और उसे सब प्रकार से अपने साथ सम्मिलित कर लें ॥ २९५ ॥

पूर्वोक्तस्य पतितपरित्यागादिविधेरतिदेशमाह—

पतितानामेष एव विधिः स्त्रीणां प्रकीर्तितः ।
वासो गृहान्तिके देयमन्नं वासः सरक्षणम् ॥ २९६ ॥

य एव पुरुषाणां परित्यागे पिण्डोदकदानविधिः कृतप्रायश्चित्तानां परिग्रहविधिश्च स एव पतितानां स्त्रीणामपि वेदितव्यः । इयांस्तु विशेषः—पतितान्योऽपि ताभ्यः स्त्रीभ्यः कृतोदकादिकर्मभ्यो वासस्तृणपर्णमयं कुटीगृहकं प्रधानगृहसमीपे देयम् । तथा प्राणधारणमात्रमन्नं मलिनं च वस्त्रं पुनः पुरुषान्तरोपभोगनिवारणसहितं सतिरस्कारं देयम् ॥ २९६ ॥

भाषा—यही विधि पतित स्त्रियों के लिए भी है; उन्हें घर के निकट दूसरा निवासस्थान दे देना चाहिए और केवल जीवन चलाने भर अन्न और वस्त्र देना चाहिए और उसकी रक्षा करनी चाहिए ॥ २९६ ॥

ननु काः पतितास्ता यासामयं परित्यागविधिरित्यत आह—

नीचाभिगमनं गर्भपातनं भर्तृहिंसनम् ।
विशेषपतनीयानि स्त्रीणामेतान्यपि ध्रुवम् ॥ २९७ ॥

हीनवर्णगमनं गर्भपातनमब्राह्मण्या अपि भर्तुः अब्राह्मणस्यापि हिंसनमित्येतानि स्त्रीणामसाधारणानि पतननिमित्तानि । 'अपि'शब्दात्पुरुषस्य यानि पतननिमित्तानि महापातकातिपातकानुपपातकान्यस्यस्तानि चोपपातकादीनि तान्यपि स्त्रीणां ध्रुवं निश्चितं पतनकारणानि भवन्ति । अत एव शौनकः—'पुरुषस्य यानि पतननिमित्तानि स्त्रीणामपि तान्येव ब्राह्मणी हीनवर्णसेवायामधिकं पतति' इति । यत्तु वसिष्ठेनोक्तम्—(२८।७) 'त्रीणि स्त्रियाः पातकानि लोके धर्मविदो विदुः । भर्तुर्वधो भ्रूणहत्या स्वस्य गर्भस्य पातनम् ॥' इति 'भ्रूणहत्या' ग्रहणं कृतं तद् दृष्टान्तार्थं न पुनरितरेषां महापातकादीनां पतनहेतुत्वनिरासार्थम् । यदपि तेनैव—(२१।१०) 'पतत्यर्धं

परित्याज्याः शिष्यगा गुरुगा च या। पतिघ्नी च विशेषेण जुङ्गितोपगता च या ॥' इति। 'चतसृणामेव परित्याग' इत्युक्तं तस्यापि तासां प्रायश्चित्तमचिकीर्षन्तीनां मध्ये चतसृणामेव शिष्यगादीनां चैलान्नगृहवासादिजीवनहेतुत्वाद्युच्छेदेन त्यागं कुर्यान्नान्यासामित्यभिप्रायः। अतश्चान्यासां पतितानां प्रायश्चित्तमकुर्वतीनामपि 'वासो गृहान्तिके देय'मित्यादिकं कर्तव्यमित्यवगम्यते ॥ २९७ ॥

भाषा—निम्नवर्ण के पुरुष के पास जाना, गर्भपात करना, पति की हिंसा इन सब कर्मों से स्त्रियाँ विशेष रूप से पतित होती हैं ॥ २९७ ॥

'जुगुप्सेरन्न चाप्येनं संविशेयुश्च सर्वशः' (प्रा० २९५) इत्यस्यापवादमाह—

शरणागतबालस्त्रीहिंसकान्[1]संवसेन्न तु ।
चीर्णव्रतानपि सतः कृतघ्नसहितानिमान् ॥ २९८ ॥

शरणागतादिव्यापादनकारिणः कृतघ्नसहितान्प्रायश्चित्तेन क्षीणदोषानपि न संव्यवहरेदिति वाचनिकोऽयं प्रतिषेधः, किमिति वचनं न कुर्यात्? नहि वचनस्यातिभारोऽस्ति, अतश्च यद्यपि व्यभिचारिणीनां वधेऽल्पीय एव प्रायप्रायश्चित्तं, तथापि वाचनिकोऽयं संव्यवहारप्रतिषेधः ॥ २९८ ॥

भाषा—शरण में आये हुए बालक और स्त्री की हिंसा करने वाले और कृतघ्नियों के प्रायश्चित्त द्वारा दोष हीन होने पर भी इनके साथ कोई व्यवहार नहीं रखना चाहिए ॥ २९८ ॥

एवं प्रसङ्गेन स्त्रीषु विशेषमभिधाय प्रकृत एव चरितव्रतविधौ विशेषमाह—

घटेऽपवर्जिते ज्ञातिमध्यस्थो यवसं गवाम्[2] ।
स[3] दद्यात्प्रथमं गोभिः सत्कृतस्य हि[4] सत्क्रिया ॥ २९९ ॥

घटेऽपवर्जिते ह्रदादुद्धृत्य पूर्णे कुम्भेऽवनिनीतेऽसौ चरितव्रतः सपिण्डादिमध्यस्थो गोभ्यो यवसं दद्यात्। ताभिः प्रथमं सत्कृतस्य पूजितस्य पश्चाज्ज्ञातिभिः ज्ञात्यादिभिः सत्क्रिया कार्या। गोभिश्च तस्य सत्कारस्तद्दत्तयवसभक्षणमेव। यदि गावस्तद्दत्तं यवसं न गृह्णीयुस्तर्हि पुनः प्रायश्चित्तमनुतिष्ठेत्। यदाह हारीतः—'स्वशिरसा यवसमादाय गोभ्यो दद्याद्यदि ताः प्रतिगृह्णीयुरथैनं प्रवर्तयेयुः' इति इतरथा नेत्यभिप्रेतम् ॥ २९९ ॥

महापातकादिपञ्चविधेऽपि दोषगणे प्रातिस्विकव्रतसंदोहमभिधायाधुना सकलव्रतसाधारणं धर्ममाह—

विख्यातदोषः कुर्वीत पर्षदोऽनुमतं व्रतम् ।

---

१. संपिबेन्न तु। २. सदा। ३. प्रदद्यात्प्रथमम्। ४. सह क्रिया।

यो दोषो यावत्कर्तृसंपाद्यस्ततोऽन्यैर्विख्यातो विज्ञातो दोषो यस्यासौ पर्षदुपदिष्टं व्रतं कुर्यात् । यद्यपि स्वयं सकलशास्त्रार्थविचारचतुरस्तथापि पर्षत्समीपमुपगम्य तया सह विचार्य तदनुमतमेव कुर्यात् । तदुपगमने चाङ्गिरसा विशेष उक्तः—'कृते निःसंशये पापे न भुञ्जीतानुपस्थितः । भुञ्जानो वर्धयेत्पापं यावन्नाख्याति पर्षदि ॥ सचैलं वाग्यतः स्नात्वा क्लिन्नवासाः समाहितः । पर्षदानुमतस्तत्वं सर्वं विख्यापयेन्नरः । व्रतमादाय भूयोऽपि तथा स्नात्वा व्रतं चरेत् ॥' इति । विख्यापनं च पर्षद्दक्षिणादानानन्तरं कार्यम् । यथाह पराशरः—'पापं विख्यापयेत्पापी दत्वा धेनुं तथा वृषम्' इति ।-एतच्चोपपातकविषयम् । महापातकादिष्वधिकं कल्प्यम् । यत्तूक्तम्—'तस्माद् द्विजः प्राप्तपापः सकृदाप्लुत्य वारिणि । विख्याप्य पापं पर्षद्भ्यः किंचिद्दत्वा व्रतं चरेत् ॥' इति तत्प्रकीर्णकविषयम् । पर्षत्स्वरूपं च मनुना दर्शितम्—'त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो[2] धर्मपाठकः । त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे पर्षदेषा दशावरा ॥' हैतुको मीमांसार्थादितत्त्वज्ञः, तर्की न्यायशास्त्रकुशलः, तथान्यदपि पर्षद्द्वयं तेनैव दर्शितम्—(मनु० १२।११२) 'ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च । अपरा पर्षद्विज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥' इति । तथा—(मनु० १२।११३) 'एकोऽपि[3] वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येत्समाहितः । स ज्ञेयः परमो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥' इति । आसां च पर्षदां संभवापेक्षया व्यवस्था महापातकाद्यपेक्षया । यत्तु स्मृत्यन्तरेऽभिहितम्—'पातकेषु शतं पर्षत्सहस्रं महदादिषु । उपपापेषु पञ्चाशत्स्वल्पं स्वल्पे तथा भवेत् ॥' इति,-तदपि महापातकादिदोषानुसारेण पर्षदो गुरुलघुभावप्रतिपादनपरं न पुनः संख्यानियमार्थम् ; मन्वादिमहास्मृतिविरोधप्रसङ्गात् । तथा देवलेन चात्र विशेषो दर्शितः—'स्वयं तु ब्राह्मणा ब्रूयुरल्पदोषेषु निष्कृतिम् । राजा च ब्राह्मणाश्चैव महत्सु च परीक्षितम् ॥' इति तया च पर्षदा अवश्यं व्रतमुपदेष्टव्यम्—'आर्तानां मार्गमाणानां प्रायश्चित्तानि ये द्विजाः । जानन्तो न प्रयच्छन्ति ते यान्ति समतां तु तैः ॥' इत्यङ्गिरःस्मरणात् । तया पर्षदा ज्ञात्वैव व्रतमुपदेष्टव्यम्—'अज्ञात्वा धर्मशास्त्राणि प्रायश्चित्तं ददाति यः । प्रायश्चित्ती भवेत्पूतः किल्बिषं पर्षदं व्रजेत् ॥' इति वसिष्ठस्मरणात् ॥ क्षत्रियादीनां तु कृतैनसां धर्मोपदेशे विशेषोऽङ्गिरसा दर्शितः-'न्यायतो ब्राह्मणः क्षिप्रं क्षत्रियादेः कृतैनसः । अन्तरा ब्राह्मणं कृत्वा व्रतं सर्वं समादिशेत् । तथा शूद्रं समासाद्य सदा धर्मपुरःसरम् । प्रायश्चित्तं प्रदातव्यं जपहोमविवर्जितम् ॥' इति । तत्र च यागाद्यनुष्ठानशीलानां जपादिकं वाच्यम् , इतरेषां तु तपः । 'कर्मनि-

---

१. विख्यातपापं वक्तृभ्यः । २. निरुक्तो । ३. एकोऽपि धर्मविद्धर्मं । ४-५. अथवा च पर्षदा ।

ह्यास्तपोनिष्ठाः कदाचित्पापमागताः। जपहोमादिकं तेभ्यो विशेषेण प्रदीयते ॥ ये नामधारका विप्रा मूर्खा धनविवर्जिताः। कृच्छ्रचान्द्रायणादीनि तेभ्यो दद्या-द्विशेषतः' ॥ २९९ ॥

भाषा—जलाशय से जल से भरा हुआ घड़ा लेकर आने पर सपिण्ड आदि जाति के लोगों के बीच गायों को कोमल दूब खिलावे। गौएँ यदि उसका सत्कार करती हैं (उसकी दी हुई घास खाती हैं) तभी जाति के लोग उसका सत्कार करें (जाति में सम्मिलित करें) ॥ २९९ ॥

इति प्रकाशप्रायश्चित्तप्रकरणम्।

अथ रहस्यप्रायश्चित्तम्।

'व्याख्याय ख्यातदुरितशातनीं व्रतसंततिम्।
रहःकृताघसंदोहहारिणीं व्याहरन्मुनिः ॥'

तत्र प्रथमं सकलरहस्यव्रतसाधारणं धर्ममाह—

अनभिख्यातदोषस्तु[1] रहस्यं व्रतमाचरेत् ॥ ३०० ॥

कर्तृव्यतिरिक्तैरनभिख्यातो दोषो यस्यासौ रहस्यमप्रकाशं प्रायश्चित्तमनु-तिष्ठेत्। अतः स्त्रीसंभोगादौ तस्या अपि कारकत्वात् तदितरैरविज्ञातदोषस्य रहस्यव्रतमिति मन्तव्यम्। तत्र यदि कर्ता स्वयं धर्मशास्त्रकुशलस्तदा परस्मिन्न-विभाव्य स्वनिमित्तोचितं प्रायश्चित्तमनुतिष्ठेत्। यस्तु स्वयमनभिज्ञोऽसौ केन-चिद्रहो ब्रह्महत्यादिकं कृतं तत्र किं रहस्यप्रायश्चित्तमित्यन्यव्याजेनावगम्य रहो-व्रतमनुतिष्ठेत्। अत एव स्त्रीशूद्रयोरप्यमुनैव मार्गेण रहस्यव्रतज्ञानसिद्धेरधि-कारसिद्धिः। न च वाच्यं रहस्यव्रतानां जपादिप्रधानत्वादविद्ययोश्च स्त्रीशूद्रयो-स्तदनुपपत्तेरनधिकार इति। यतोऽनैकान्ततो रहस्यव्रतानां जपादिप्रधानत्वम्। दानादेरप्युपदेशाद् गौतमोक्तप्राणायामादेरपि संभवाच्च। इतरेषामपि मन्त्रदै-वतर्षिच्छन्दःपरिज्ञानमात्रमेवाधिकारोपयोगि, न त्वन्यविषयम्। नहि तडाग-निर्माणादौ ज्योतिष्टोमादिविषयिणी प्रतिपत्तिरुपयुज्यते। देवतादिपरिज्ञानं त्ववश्यमपेक्षणीयम्; 'अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च। योऽध्यापये-ज्जपेद्वापि पापीयाञ्जायते तु सः ॥' इति व्यासस्मरणात्। अत्राभ्याहारविशे-षानुक्तौ पयःप्रभृतयः, कालविशेषानुक्तौ संवत्सरादयः, देशविशेषानुक्तौ शिलो-च्चयादयो गौतमाद्यभिहिताः प्रकाशप्रायश्चित्तवदन्वेषणीयाः ॥ ३०० ॥

---

1. अविख्यापितदोषस्तु रहस्यव्रतमाचरेत्।

भाषा—जिसका दोष सबको ज्ञात हो गया हो वह पर्षद की आज्ञा से (जैसा पर्षद द्वारा विहित हो वैसा) व्रत करें और जिसका पाप लोगों को ज्ञात न हो वह गुप्त रूप से व्रत करे ॥ ३०० ॥

एवं सकलरहस्यसाधारणधर्ममभिधाय प्रकाशप्रायश्चित्तवद् ब्रह्महत्यादिक्रमेणैव रहस्यप्रायश्चित्तान्याह—

त्रिरात्रोपोषितो जप्त्वा ब्रह्महा त्वघमर्षणम् ।
अन्तर्जले विशुध्येत दत्त्वा गां च पयस्विनीम् ॥ ३०१ ॥

त्रिरात्रमुपोषितोऽन्तर्जलेऽघमर्षणेन महर्षिणा दृष्टं सूक्तं अघमर्षणं 'ऋतं च सत्यं च' इति त्र्यृचमानुष्टुभं भाववृत्तदेवताकं जप्त्वा त्रिरात्रान्ते पयस्विनीं गां दत्त्वा ब्रह्महा विशुध्यति । जपश्चान्तर्जले निमज्जनेन त्रिरावर्तनीयः । यथाह सुमन्तुः—'देवद्विजगुरुहन्ताप्सु निमग्नोऽघमर्षणं सूक्तं त्रिरावर्तयेत् । मातरं भगिनीं गत्वा मातृष्वसारं स्नुषां सखीं वाऽन्यद्वाऽगम्यागमनं कृत्वाऽघमर्षणमेवान्तर्जले त्रिरावर्त्य तदेतस्मात्पूतो भवति' इति ।—एतच्चाकामकारविषयम् । यत्तु मनुनोक्तम् (११।२४८)—'सव्याहृतिप्रणवकाः प्राणायामास्तु षोडश । अपि भ्रूणहणं मासात्पुनन्त्यहरहः कृताः ॥' इति,—तदप्यस्मिन्नेव विषये गोदानाशक्तस्य वेदितव्यम् । यत्तु गौतमेन षट्त्रिंशद्रात्रव्रतमुक्त्वोक्तं 'तद्व्रत एव ब्रह्महत्यासुरापानसुवर्णस्तेयगुरुतल्पेषु प्राणायामैः स्नातोऽघमर्षणं जपेत्' (२४।१०) इति,—तदकामतः सकृद्वधविषयम् । यत्तु बौधायनेनोक्तम्—'ग्रामात्प्राचीं चोदीचीं दिशमुपनिष्क्रम्य स्नातः शुचिः शुचिवासा उदकान्ते स्थण्डिलमुपलिप्य सकृत्क्लिन्नवासाः सकृत्पूतेन पाणिनादित्याभिमुखोऽघमर्षणं स्वाध्यायमधीयीत । प्रातः शतं मध्याह्ने शतमपराह्णे शतं परिमितं चोदितेषु नक्षत्रेषु प्रसृतियावकं प्राश्नीयात् । ज्ञानकृतेभ्योऽज्ञानकृतेभ्यश्चोपपातकेभ्यः सप्तरात्रात्प्रमुच्यते द्वादशरात्रान्महापातकेभ्यो ब्रह्महत्यासुरापानसुवर्णस्तेयानि वर्जयित्वा एकविंशतिरात्रेण तान्यपि तरति' (३।६।४) इति,—तत्कामकारविषयम्, अकामतः श्रोत्रियाचार्यसवनस्थवधविषयं वा । यत्तु मनुनोक्तम् (११।२५८)—'अरण्ये वा त्रिरभ्यस्य प्रयतो वेदसंहिताम् । मुच्यते पातकैः सर्वैः पराकैः शोधितस्त्रिभिः ॥' इति,—तत्कामतः श्रोत्रियादिवधविषयम्, इतरत्र कामतोऽभ्यासविषयं वा । बृहद्विष्णुनोक्तम्—'ब्रह्महत्यां कृत्वा ग्रामात्प्राचीमुदीचीं वा दिशमुपनिष्क्रम्य प्रभूतेन्धनेनाग्निं प्रज्वाल्याघमर्षणेनाष्टसहस्रमाज्याहुतीर्जुहुयात्तत एतस्मात्पूतो भवति'

---

१. विशुद्ध्येत् । २. गां दत्त्वा च पयः । ३. त्र्यहात् गमनम् । ४. कामतो वध । ५. वासाः सकृत् ।

इति,–तन्निर्गुणवधविषयमनुग्राहकविषयं वा। यत्तु यमेनोक्तम्—'त्र्यहं तूपवसे-द्युक्तस्त्रिरह्नोऽभ्युपयन्नपः। मुच्यते पातकैः सर्वैस्त्रिर्जपित्वाऽघमर्षणम् ॥' इति,–तद्गुणवतो हन्तुर्निर्गुणवधविषयं प्रयोजकानुमन्तृविषयं वा। यत्तु हारीतेनोक्तम्—'महापातकातिपातकोपपातकानामेकतममेव संनिपाते चाघमर्षणमेव त्रिर्जपेत्' इति,–तन्निमित्तकर्तृविषयम्। एवमन्यान्यपि स्मृतिवाक्यान्यन्विष्यैवमेव विषयेषु विभजनीयानि ग्रन्थगौरवभयान्न लिख्यन्ते। एतदेव व्रतजातं यागस्थयोः क्षत्र-विट्स्वात्रेय्यामाहिताग्निपत्न्यां गर्भिण्यामविज्ञाते च गर्भे व्यापादिते तुरीयांशन्यूनमनुष्ठेयम् ॥ ३०१ ॥

भाषा—ब्राह्मण की हत्या करने वाला तीन दिन उपवास करके, जल में खड़ा होकर अघमर्षण ऋषि के सूक्त ('ऋतं च सत्यं च' आदि) का जप करके एक दूध देने वाली गौ का दान करने पर शुद्ध होता है। (यह ब्रह्महत्या का रहस्य प्रायश्चित्त हुआ) ॥ ३०१ ॥

प्रायश्चित्तान्तरमाह—

लोमभ्यः स्वाहेत्यथवा दिवसं मारुताशनः।
जले स्थित्वाऽभिजुहुयाच्चत्वारिंशद्घृताहुतीः ॥ ३०२ ॥

अथवाऽहोरात्रमुपोषितो रात्रावुदके वासं कृत्वा प्रातर्जलादुत्तीर्य 'लोमभ्यः स्वाहा' इत्याद्यैरष्टभिर्मन्त्रैरेकैकेन पञ्चपञ्चाहुतय इत्येवं चत्वारिंशद्घृताहुतीर्जुहुयात्।–इदं च पूर्वोक्तसमानविषयम्; उदवासस्य क्लेशबाहुल्यात् ॥ ३०२ ॥

भाषा—अथवा एक दिन-रात उपवास करके, रात्रि भर जल में रहकर प्रातःकाल जल से निकल कर 'लोमभ्यः स्वाहा' आदि आठ मंत्रों से प्रत्येक मंत्र के साथ पाँच-पाँच आहुति देकर चालीस बार आहुति करे ॥ ३०२ ॥

क्रमप्राप्तं सुरापानप्रायश्चित्तमाह—

त्रिरात्रोपोषितो हुत्वा कूष्माण्डीभिर्घृतं शुचिः।

सुरापश्चत्वारिंशद्घृताहुतीरित्यनुवर्तते। त्रिरात्रमुपोषितः कूष्माण्डीभिः 'यद्देवा देवहेळनम्' इत्याद्याभिः कूष्माण्डदृष्टाभिरनुष्टुब्भिर्मन्त्रलिङ्गदेवताभिर्ऋग्भिश्चत्वारिंशद्घृताहुतीर्हुत्वा शुचिर्भवेत्। तथा बौधायनेनाप्युक्तम्—'अथ कूष्माण्डीभिर्जुहुयाद्योऽपूत एवात्मानं मन्येत यावदर्वाचीनमेनो भ्रूणहत्यायास्तस्मान्मुच्यते। अयोनौ वा रेतः सिक्त्वाऽन्यत्र स्वप्नात्।' इति। यत्तु मनुना (११।२४९)—'कौत्सं[2] जप्त्वाप इत्येतद्वासिष्ठं च प्रतीत्यृचम्। माहित्रं शुद्ध-

[1]. स्वाहेति हि वा। [2]. मासं जप्त्वाप इत्येतद्वासिष्ठं च ऋचं प्रति। माहिन्त्रं शुद्ध।

बत्यश्च सुरापोऽपि विशुद्ध्यति ॥' इति । मासं प्रत्यहं षोडशकृत्वोऽपनःशोशुचदघं प्रतिस्तोमेभिरुषसं वासिष्ठम् । महित्रीणामवोऽस्त्वेतोन्विन्द्रस्तवामेत्येतेषामन्यतमस्य जप उक्तः, स त्रिरात्रोपवासकूष्माण्डहोमाशक्तस्य वेदितव्यः । एतच्चाकामतः पैष्ट्याः सकृत्पाने, गौडीमाध्व्योस्तु पानावृत्तौ च वेदितव्यम् । यच्च मनुना (११।२५६)—'मन्त्रैः शाकलहोमीयैरब्दं हुत्वा घृतं द्विजः । स गुर्वप्यपहन्त्येनो जप्त्वा वा नम इत्यृचम् ॥' इति । संवत्सरं प्रत्यहं 'देवकृतस्यैनसः' इत्यादिभिरष्टभिर्मन्त्रैर्होमो 'नम इदुग्रं नम आविवास' इत्येतस्या ऋचो वा जप उक्तः, स कामकारविषयः । यत्तु महापातकसंयुक्तोऽनुगच्छेद्गाः समाहितः । अभ्यस्याब्दं पावमानीर्भैक्षाहारो विशुद्ध्यति ॥' इति,—तदभ्यासविषयम् , समुच्चितमहापातकविषयं वा ।

सुवर्णस्तेयप्रायश्चित्तमाह—

ब्राह्मणस्वर्णहारी तु रुद्रजापी जले स्थितः ॥ ३०३ ॥

ब्राह्मणः स्वर्णहारी पुनस्त्रिरात्रोपोषितः जलमध्यस्थो 'नमस्ते रुद्र मन्यव' इति शतरुद्रियजपयुक्तः शुद्ध्यतीति । शातातपेनात्र विशेष उक्तः—'मद्यं पीत्वा गुरुदारांश्च गत्वा स्तेयं कृत्वा ब्रह्महत्यां च कृत्वा । भस्माच्छन्नो भस्मशय्यां शयानो रुद्राध्यायी मुच्यते सर्वपापैः ॥' इति । जपश्चैकादशकृत्वः कार्यः । 'एकादशगुणान्वापि रुद्रानावर्त्य धर्मवित् । महापापैरपि स्पृष्टो मुच्यते नात्र संशयः ॥' इत्यत्रिस्मरणात् । यत्तु मनुना (११।२५०)—'सकृज्जप्त्वाऽस्यवामीयं शिवसंकल्पमेव च । सुवर्णमपहृत्यापि क्षणाद्भवति निर्मलः ॥' इति द्विपञ्चाशदृक्संख्याकस्य 'अस्य वामस्य पलितस्य होतुः' इति सूक्तस्य तथा 'यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवम्' इति शिवसंकल्पदृष्टस्य षडृचस्य वा सकृज्जप उक्तः सोऽत्यन्तनिर्गुणस्वामिकस्वर्णहरणे गुणवतोऽपहर्तुर्द्रष्टव्यः । सुवर्णन्यूनपरिमाणविषयोऽनुग्राहकप्रयोजकविषयो वा । आवृत्तौ तु 'महापातकसंयुक्तोऽनुगच्छेत्' इत्यादिनोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ ३०३ ॥

भाषा—सुरापान करने वाला तीन दिन-रात उपवास करके कूष्माण्ड ऋषि के ('यद्देवा देवहेडनम्' आदि) मन्त्र से चालीस बार आहुति करने पर शुद्ध होता है और (ब्राह्मण) का स्वर्ण चुराने वाला जल में खड़ा होकर रुद्र का ('नमस्ते रुद्र मन्यवे') जप करने पर दोषमुक्त होता है ॥ ३०३ ॥

कमप्राप्तं गुरुतल्पगप्रायश्चित्तमाह—

सहस्रशीर्षाजापी तु मुच्यते गुरुतल्पगः ।
गौर्देया कर्मणोऽस्यान्ते पृथगेभिः पयस्विनी ॥ ३०४ ॥

---

१. सुरापः स्वर्णहारी च ।

गुरुतल्पगस्तु 'सहस्रशीर्षा' इति षोडशर्चसूक्तं नारायणदृष्टं पुरुषदैवत्यमानुष्टुभं त्रिष्टुबन्तं जपंस्तस्मात्पापान्मुच्यते। सहस्रशीर्षाजापीति ताच्छील्यप्रत्ययादावृत्तिर्गम्यते। अत एव यमेनोक्तम्—'पौरुषं सूक्तमावर्त्य मुच्यते सर्वकिल्बिषात्' इति। आवृत्तौ च संख्यापेक्षायामधस्तनश्लोकगता चत्वारिंशत्संख्याऽनुमीयते। अत्रापि प्राक्तनश्लोकगतं 'त्रिरात्रोपोषित' इति संबध्यते। अत एव बृहद्विष्णुः—'त्रिरात्रोपोषितः पुरुषसूक्तजपहोमाभ्यां गुरुतल्पगः शुद्ध्येत्' इति। एभिश्च सुरापसुवर्णस्तेनगुरुतल्पगैस्त्रिभिः पृथक्पृथगस्य त्रिरात्रव्रतस्यान्ते बहुक्षीरा गौर्देया।–इदमकामविषयम्। यत्तु मनुना (११।२५१)—'हविष्पान्तीयमभ्यस्य नतमंह इतीति च। जप्त्वा तु पौरुषं सूक्तं मुच्यते गुरुतल्पगः॥' इति। 'हविष्पान्तमजरं स्वर्विदं', 'नतमंहोनदुरितं', 'इति वा इति मे मनः', 'सहस्रशीर्षे'त्येषामन्यतमस्य मासं प्रत्यहं षोडशषोडशकृत्वो जप उक्तः; सोऽप्यकामविषय एव। कामतस्तु 'मन्त्रैः शाकलहोमीयैः' इति मनूक्तं द्रष्टव्यम्। यत्तु षट्त्रिंशन्मतेऽभिहितम्—'महाव्याहृतिभिर्होमस्तिलैः कार्यो द्विजन्मना। उपपातकशुद्ध्यर्थं सहस्रपरिसंख्यया॥ महापातकसंयुक्तो लक्षहोमेन शुद्ध्यति॥' इति,–तदावृत्तिविषयम्। यत्तु यमेनोक्तम्—'जपेद्वाप्यस्यवामीयं पावमानीरथापि वा। कुन्तापं बालखिल्यांश्च निविस्प्रैषान्वृषाकपिम्। होतृन्रुद्रान्सकृज्जप्त्वा मुच्यते सर्वपातकैः॥' इति,–तद्व्यभिचारिणीगमनविषयम्। यानि पुनः गुरुतल्पातिदेशविषयाणि तत्समानि वाऽतिपातकोपपातकपदाभिधेयानि, तेषु तुरीयांशन्यूनमर्षोनं च क्रमेण वेदितव्यम्। पातकातिपातकोपपातकमहापातकानामेकतमे संनिपाते वा अघमर्षणमेव त्रिर्जपेदिति हारीतोक्तं वा द्रष्टव्यम्। महापातकसंसर्गिणश्च 'स तस्यैव व्रतं कुर्यात्'इति वचनाद्येन सह संसर्गस्तदीयमेव प्रायश्चित्तम्। न च वाच्यम् अत्राध्यापनादिसंसर्गस्यानेककर्तृकसंपाद्यत्वाद्रहस्यत्वानुपपत्तिरिति। यतः सत्यप्यनेककर्तृकत्वे परदारगमनवत् कर्तृव्यतिरिक्ततृतीयाद्यपरिज्ञानमात्रेणैव रहस्यत्वम्। अतो भवत्येव रहस्यप्रायश्चित्तम्। एवमतिपातकादिसंसर्गिणोऽपि तदीयमेव प्रायश्चित्तं वेदितव्यम्॥ ३०४॥

भाषा—गुरुपत्नी का भोग करने वाला 'सहस्रशीर्षा' आदि सोलह ऋचाओं के सूक्त का जप करने से पापमुक्त होता है। इन सबको (सुरापी, सुवर्णहारी और गुरुतल्पग को) त्रिरात्रव्रत के अन्त में एक दूध देने वाली गाय का दान करना चाहिए॥ ३०४॥

इति महापातकरहस्यप्रायश्चित्तप्रकरणम्।

---

१. षोडशर्चा चत्वारिंशत्संख्याकजप उक्तः।

क्रमप्राप्तं गोवधादिषट्पञ्चाशदुपपातकप्रायश्चित्तमाह—

प्राणायामशतं कार्यं सर्वपापापनुत्तये ।
उपपातकजातानामनादिष्टस्य चैव हि ॥ ३०५ ॥

गोवधादिषट्पञ्चाशदुपपातकजातानामनादिष्टरहस्यव्रतानां च जाति-भ्रंशकरादीनां सर्वेषामपनुत्तये प्राणायामानां शतं कार्यम् । तथा सर्वेषां महापातकादीनां प्रकीर्णकान्तानामप्यपनुत्तये प्राणायामाः कार्याः । तत्र च महापातकेषु चतुःशतम् , अतिपातकेषु त्रिशतम् , अनुपातकेषु द्विशतमिति संख्या-विवृद्धिः कल्पनीया । प्रकाशप्रायश्चित्तेषु महापातकप्रायश्चित्ततुरीयांशस्योपपातकेषु विधानदर्शनात् प्रकीर्णकेषु च ह्रासः कल्प्यः । अत एवोक्तं यमेन—'दशप्रणव-संयुक्तैः प्राणायामैश्चतुःशतैः । मुच्यते ब्रह्महत्यायाः किं पुनः शेषपातकैः ॥' इति । बौधायनेनाप्यत्र विशेष उक्तः—'अपि वाक्चक्षुःश्रोत्रत्वक्घ्राणमनोऽव्यतिक्रमेषु त्रिभिः प्राणायामैः शुद्धयति । शूद्रस्त्रीगमनान्नभोजनेषु पृथक्पृथक् सप्ताहं सप्त-प्राणायामान्धारयेत् । अभक्ष्याभोज्यामेध्यप्राशनेषु तथा चाऽपण्यविक्रयेषु मधु-मांसघृततैललाक्षालवणरसान्नवर्जितेषु यच्चान्यदप्येवं युक्तं स्याद् द्वादशाहं द्वादश द्वादश प्राणायामान्धारयेत् । अथ पातकोपपातकवर्ज्यं यच्चान्यदप्येवं युक्तं स्यादर्धमासं द्वादश द्वादश प्राणायामान्धारयेत् उपपातकपतनीयवर्जं यच्चाप्य-न्यदेवं युक्तं स्यान्मासं द्वादशार्धमासान् द्वादश द्वादश प्राणायामान्धारयेत् । अन्यपातकवर्ज्यं यच्चाप्यन्यदप्येवं युक्तं द्वादश अर्धमासान् द्वादश प्राणायामान् धारयेत् । अथ पातकेषु संवत्सरं द्वादश द्वादश प्राणायामान् धारयेदिति । तत्र वाक्चक्षुरित्यादिप्राणायामत्रयं प्रकीर्णकाभिप्रायम् । 'शूद्रस्त्रीगमनान्नभोजने'त्यादि-नोक्ता एकोनपञ्चाशत्प्राणायामा उपपातकविशेषाभिप्रायाः । तथा 'अभक्ष्याभोज्ये'-त्यादिनोक्ताश्चतुश्चत्वारिंशदधिकशतप्राणायामा अप्युपपातकविशेषाभिप्राया एव । अथ 'पातकोपपातकवर्ज्य'मित्यादिनोक्ताः साशीतिशतप्राणायामा जातिभ्रंशकरा-द्यभिप्रायाः । अथ 'पातकवर्ज्य'मित्यादिनोक्ताः षष्ट्यधिकशतत्रयप्राणायामाः गोवधाद्युपपातकाभिप्रायाः । अथ 'पातकवर्ज्य'मित्यादिनोक्ताः षष्ट्यधिकद्विशत-सहितद्विसहस्रसंख्याकाः प्राणायामाः अतिपातकानुपपातकाभिप्रायाः । अथ पातकेष्वित्यादिनोक्ता विंशत्यधिकशतत्रययुक्ताश्चतुःसहस्रप्राणायामा महापातक-विषयाः । इदं चाभक्ष्यभोज्येत्यादिनोक्तं प्रायश्चित्तपञ्चकमत्यन्ताभ्यासविषयं, समुच्चितविषयं वा । यत्तु मनुना । (११।२५२)—'एनसां स्थूलसूक्ष्माणां चिकीर्षन्नपनोदनम् । अवेत्यृचं जपेदब्दं यत्किंचेदमितीति वा ॥' इत्यब्दं यावत्प्रत्यहमर्थान्तराविरुद्धेषु कालेषु 'अवतेहेळोवरुण' इत्यस्या ऋचो 'यत्किं-

१. अर्धमासद्वादशद्वादश । २. पातकवर्ज्यमित्यादि ।

चेदम्' इत्यस्याः, 'इति वा इति मे मनः' इत्यस्याश्च जप उक्तः सोऽभ्यासविषयः ॥ ३०५ ॥

भाषा—तब उपपातकों की और अन्य सभी पापों की, जिनका विधान नहीं किया गया है, शुद्धि के लिये सौ बार प्राणायाम करना चाहिए ॥ ३०५ ॥

उपपातकसामान्यप्राप्तस्य प्राणायामशतस्यापवादमाह—

ओङ्काराभिष्टुतं सोमसलिलं पावनं पिबेत् ।
कृत्वा हि[1] रेतोविण्मूत्रप्राशनं तु[2] द्विजोत्तमः ॥ ३०६ ॥

द्विजो रेतोविण्मूत्रप्राशनं कृत्वा सोमलतारसमोङ्कारेणाभिमन्त्रितं शुद्धिसाधनं पिबेत् ।-एतच्चाकामकारविषयम् । कामतस्तु सुमन्तूक्तम्—'रेतोविण्मूत्रप्राशनं कृत्वा लशुनपलाण्डुगृञ्जनकुम्भिकादीनामन्येषां चाभक्ष्याणां[3] भक्षणं कृत्वा हंसग्रामकुक्कुटश्वसृगालादिमांसभक्षणं च कृत्वा ततः कण्ठमात्रमुदकमवतीर्य शुद्धवतीभिः प्राणायामं कृत्वा महाव्याहृतिभिररोगमुदकं पीत्वा तदेतस्मात्पूतो भवती'ति । मनुनापि सप्तविधाभक्ष्यभक्षणे प्रायश्चित्तान्तरमुक्तम् (११।२५३)—'प्रतिगृह्याप्रतिग्राह्यं भुक्त्वा चान्नं विगर्हितम् । जपंस्तरत्समन्दीयं पूयते मानवस्त्र्यहात् ॥' इति । अप्रतिग्राह्यं विषशस्त्रसुरादि पतितादिद्रव्यं च । यदा स्वप्सु रेतोविण्मूत्रादिशारीरं मलं विसृजति तदापि तेनैवोक्तम्—'अप्रशस्तं तु कृत्वाऽप्सु मासमासीत भैक्ष्यभुक्' (११।२५५) इति ॥ ३०६ ॥

भाषा—वीर्य, विष्ठा या मूत्र (भूल से) मुख में डालने पर द्विज ओङ्कार मन्त्र से अभिमन्त्रित सोमलता का पवित्र रस पीए ॥ ३०६ ॥

अज्ञानकृते प्रकीर्णके मानसे चोपपातके प्रायश्चित्तमाह—

निशायां वा दिवा वापि यदज्ञानकृतं भवेत् ।
त्रैकाल्य[4]संध्याकरणात्तत्सर्वं विप्रणश्यति ॥ ३०७ ॥

रजन्यां वासरे वा यत्प्रमादादिकृतं प्रकीर्णकं मानसं वाचिकं चोपपातकं तत्सर्वं प्रातर्मध्याह्नादिकालत्रयविहितनित्यसंध्योपासनया प्रणश्यति । तथा च यमः—'यदह्नात्कुरुते पापं कर्मणा मनसा गिरा । आसीनः पश्चिमां संध्यां प्राणायामैर्निहन्ति तत् ॥' इति । शातातपेनाप्युक्तम्—'अनृतं मद्यगन्धं च दिवा मैथुनमेव च । पुनाति वृषलान्नं च संध्या बहिरुपासिता ॥' इति ॥३०७॥

भाषा—रात्रि या दिन में जो कुछ भी पापकर्म अज्ञानवश हुआ रहता है वह तीनों काल की सन्ध्या करने से नष्ट हो जाता है ॥ ३०७ ॥

---

१. तु । २. च । ३. चाभक्ष्यभक्षणम् । ४. त्रिकाल ।

अथ सकलमहापातकादिसाधारणान्पवित्रमन्त्रानाह—

शुक्रियारण्यकजपो गायत्र्याश्च विशेषतः ।
सर्वपापहरा [१]ह्येते रुद्रैकादशिनी तथा ॥ ३०८ ॥

शुक्रियं नाम आरण्यकविशेषः 'विश्वानि देव सवितः' इत्यादिर्वाजसनेयके पठ्यते, आरण्यकं च यजुः 'ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये' इत्यादि तत्रैव पठ्यते, तयोर्जपः सकलमहापातकादिहरः । तथा गायत्र्याश्च महापातकेषु लक्षमतिपातकोपपातकयोर्दशसहस्रमुपपातकेषु सहस्रं प्रकीर्णकेषु शतमित्येवं विशेषतो जपः सर्वपापहरः । तथा च गायत्रीमधिकृत्य श्लोकः शङ्खेनोक्तः—'शतं जप्ता तु [२]सावित्री महापातकनाशिनी । सहस्रजप्ता तु तथा पातकेभ्यः प्रमोचिनी ॥ दशसाहस्रजाप्येन [३]सर्वकिल्बिषनाशिनी । लक्षं जप्ता तु सा देवी महापातकनाशिनी ॥ सुवर्णस्तेयकृद्विप्रो ब्रह्महा गुरुतल्पगः । सुरापश्च विशुद्ध्यन्ति लक्षं जप्त्वा न संशयः ॥' इति । यत्तु चतुर्विंशतिमते उक्तम्—'गायत्र्यास्तु जपेत्कोटिं ब्रह्महत्यां व्यपोहति । लक्षाशीतिं जपेद्यस्तु सुरापानाद्विमुच्यते ॥ पुनाति हेमहर्तारं गायत्र्या लक्षसप्ततिः । गायत्र्या लक्षषष्ट्या तु मुच्यते गुरुतल्पगः ॥' इति,-तद्गुरुत्वात्प्रकाशविषयम् । तथा रुद्रैकादशिनी एकादशानां रुद्रानुवाकानां समाहारो रुद्रैकादशिनी । सा च विशेषतो जप्ता सर्वपापहरा । 'एकादशगुणान्वापि रुद्रानावर्त्य धर्मवित् । महद्भ्यः स तु पापेभ्यो मुच्यते नात्र संशयः ॥' इति महापातकेष्वेकादशगुणावृत्तिदर्शनात् अतिपातकादिषु चतुर्थचतुर्थांशह्रासो योजनीयः । 'च'शब्दोऽघमर्षणादिसमुच्चयार्थः । यथाह वसिष्ठः—'[४]सर्ववेदपवित्राणि वक्ष्याम्यहमतः परम् । येषां जपैश्च होमैश्च पूयन्ते नात्र संशयः ॥ अघमर्षणं देवकृतं शुद्धवत्यस्तरत्समाः । कूष्माण्ड्यः पावमान्यश्च दुर्गा सावित्र्यथैव च ॥ अभिषङ्गाः पदस्तोमाः सामानि व्याहृतीस्तथा । भारुण्डानि सामानि गायत्रं रैवतं तथा ॥ पुरुषव्रतं च भासं च तथा देवव्रतानि च । आर्लिङ्गं बार्हस्पत्यं च वाक्सूक्तं मध्वृचस्तथा ॥ शतरुद्रियाथर्वशिरस्त्रिसुपर्णं महाव्रतम् । गोसूक्तं चाश्वसूक्तं च इन्द्रशुद्धे च सामनी ॥ त्रीण्याज्यदोहानि रथन्तरं च अग्नेर्व्रतं वामदेव्यं बृहच्च । एतानि गीतानि पुनन्ति जन्तूञ्जातिस्मरत्वं लभते यदीच्छेत् ॥' इति ॥ ३०८ ॥

भाषा—शुक्रिय नाम के आरण्यक का, गायत्री का विशेष (महापातक में एक लाख, उपपातक में दस हजार) जप तथा रुद्रैकादशिनी (रुद्रों के ग्यारह अनुवाकों) का जप—ये सभी पापों को नष्ट करने वाले होते हैं ॥ ३०८ ॥

---

१. एते । २. सा देवी । ३. कल्मषनाशिनी । ४. सर्वदेवपवित्राणि ।

यत्र यत्र च संकीर्णमात्मानं मन्यते द्विजः ।
तत्र तत्र तिलैर्होमो [1]गायत्र्या वाचनं तथा ॥ ३०९ ॥

किंच, यत्र यत्र च ब्रह्मवधादौ तज्जनित[2]कल्मषजातेनात्मानं संकीर्णमभिभूतं द्विजो मन्यते तत्र तत्र गायत्र्या तिलैर्होमः कार्यः । तत्र महापातकेषु ल[3]क्षसंख्यया होमः कार्यः । 'गायत्र्या लक्षहोमेन मुच्यते सर्वपातकैः' इति यमस्मरणात् । अतिपातकादिषु पादपादह्रासः कल्पनीयः । तथा तिलैर्वाचनं दानं कार्यम् । तथा च रहस्याधिकारे वसिष्ठः—'वैशाख्यां पौर्णमास्यां तु ब्राह्मणान्स[4]प्त पञ्च वा । क्षौद्रयुक्तैस्तिलैः कृष्णैर्वाचयेदथवेतरैः ॥ प्रीयतां धर्मराजेति यद्वा मनसि वर्तते । यावज्जीवकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ॥' इति । तथा अनियतकालेऽपि दानं तेनैवोक्तम्—'कृष्णाजिने तिलान्कृत्वा हिरण्यं मधुसर्पिषी । ददाति यस्तु विप्राय सर्वं तरति दुष्कृतम् ॥' इति । तथा व्यासेनाप्युक्तम्—'तिलधेनुं च यो दद्यात्संयतात्मा द्विजन्मने । ब्रह्महत्यादिभिः पापैर्मुच्यते नात्र संशयः ॥' इति । एवमादि दानजातं रहस्यकाण्डोक्तमविदुषां द्विजातीनां स्त्रीशूद्रयोश्च वेदितव्यम् । यत्तु यमेनोक्तम्—'तिलान्ददाति यः प्रातस्तिलान्स्पृशति खादति । तिलस्नायी तिलाञ्जुह्वन्सर्वं तरति दु[5]ष्कृतम् ॥' तथा—'द्वे चाष्टम्यौ तु मासस्य चतुर्दश्यौ तथैव च । अमावास्या पौर्णमासी सप्तमी द्वादशीद्वयम् ॥ संवत्सरमभुञ्जानः सततं विजितेन्द्रियः । मुच्यते पातकैः सर्वैः स्वर्गलोकं च गच्छति ॥' इति । यच्चात्रिणोक्तम्—'क्षीराब्धौ शेषपर्यङ्के त्वाषाढ्यां संविशेद्धरिः । निद्रां त्यजति कार्तिक्यां तयोः संपूजयेद्धरिम् ॥ ब्रह्महत्यादिकं पापं क्षिप्रमेव व्यपोहति ॥' इत्येवमादि तत्सर्वं विद्याविरहिणां कामाकामसकृदसकृदभ्यासविषयतया व्यवस्थापनीयम् ॥ ३०९ ॥

भाषा—जहाँ-जहाँ द्विज (ब्रह्महत्यादि) कर्मों के पाप से अपने को युक्त समझे वहां वहां गायत्री का जप करते हुए तिल का होम करे ॥ ३०९ ॥

वेदाभ्यासरतं क्षान्तं पञ्चयज्ञक्रियापरम् ।
न स्पृशन्तीह पापानि महापातकजान्यपि ॥ ३१० ॥

किंच, 'वेदस्वीकरणं पूर्वं विचारोऽभ्यसनं जपः । तद्दानं चैव शिष्येभ्यो वेदाभ्यासो हि पञ्चधा ॥' इत्युक्तक्रमेण वेदाभ्यासनिरतं तितिक्षायुक्तं पञ्चमहायज्ञानुष्ठाननिरतं महापातकजान्यपि पापानि न स्पृशन्ति । किमुत प्रकीर्णकजानि वाङ्मनसजन्योपपातकानि वेत्यत्र तात्पर्यमविशब्दाद्गम्यते ।—एत-

---

१. गायत्र्यावर्तनं । २. दोषजातेन । ३. गायत्र्या लक्षहोमः । ४. सप्त च । ५. किल्बिषं ।

च्चाकामकारविषयम् । अत एव वसिष्ठेन—'यद्यकार्यशतं साग्रं कृतं वेदश्च धार्यते । सर्वं तत्तस्य वेदाग्निर्दहत्यग्निरिवेन्धनम् ॥' इति प्रकीर्णकाद्यभिप्राये- णाभिधायाभिहितम्—'न वेदबलमाश्रित्य पापकर्मरतिर्भवेत् । अज्ञानाच्च प्रमादाच्च दह्यते कर्म नेतरत् ॥' इति ॥ ३१० ॥

भाषा—वेदाभ्यास में रत रहने वाले और पंचयज्ञ क्रिया में तत्पर व्यक्ति को महापातक से उत्पन्न पाप नहीं छूते हैं ॥ ३१० ॥

वायुभक्षो दिवा तिष्ठन्[1] रात्रिं नीत्वाऽप्सु सूर्यदृक् ।
जप्त्वा सहस्रं गायत्र्याः शुद्ध्येद्[2] ब्रह्मवधादृते ॥ ३११ ॥

किंच, सोपवासो वासरमुपविशन् उषित्वा सलिले वसतिशां नीत्वादित्यो- दयानन्तरं सावित्र्याः सहस्रं जप्त्वा ब्रह्मवधव्यतिरिक्तसकलमहापातकादिपाप- जातान्मुच्यते । अतश्चोपपातकादिष्वभ्यासेऽनेकदोषसमुच्चये वा वेदितव्यम् ; विषमविषयसमीकरणस्यान्याय्यत्वात् । अत एव वृद्धवसिष्ठेन महापातको- पपातकयोः कालविशेषेण व्रतविशेष उक्तः । यथाह—'यवानां प्रसृतिमञ्जलिं वा श्रप्यमाणं [3]श्रृतं वाभिमन्त्रयेत् । यवोऽसि धान्यराजस्त्वं वारुणो मधुसंयुतः । निर्णोदः सर्वपापानां पवित्रमृषिभिः स्मृतः ॥' इत्यनेन । 'घृतं यवा मधुयवाः पवित्रममृतं यवाः । सर्वं पुनन्तु मे पापं वाङ्मनःकायसंभवम् ॥' इत्यनेन वा । 'अग्निकार्यं तु कुर्वीत तेन भूतबलिं तथा । नाग्रं न भिक्षां नातिथ्यं न चोच्छिष्टं परित्यजेत् ॥' 'ये देवा मनोजाता मनोयुजः सुदक्षा दक्षपितरस्ते नः पान्तु ते नोऽवन्तु तेभ्यो नमस्तेभ्यः स्वाहा' इत्यात्मनि जुहुयात्त्रिरात्रं मेधाभिवृद्धये पापक्षयाय त्रिरात्रं ब्रह्महत्यादिषु द्वादशरात्रं पतितोत्पन्नश्चेत्येतद्विगवलत्वन्ने- गान्यान्यपि स्मृतिवचनानि विवेचनीयानि ॥ ३११ ॥

भाषा—दिन में उपवास करके रात्रि भर जल में रहकर सूर्योदय के हो जाने पर एक सहस्र वार गायत्री का जप करने पर ब्रह्महत्या के अतिरिक्त अन्य सभी महापातकों से शुद्धि हो जाती है ॥ ३११ ॥

इति रहस्यप्रायश्चित्तप्रकरणम् ।

विनियुक्तव्रतव्रातरूपभेदे बुभुत्सिते ।
कीदृशमिति संक्षेपाल्लक्षणं वण्यतेऽधुना ॥

तत्र तावत्सकलप्रकाशरहस्यव्रताङ्गभूतान्धर्मानाह—

ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिर्दानं सत्यमकल्कता ।
अहिंसा स्तेयमाधुर्ये दमश्चेति यमाः स्मृताः ॥ ३१२ ॥

---

१. तिष्ठेत् । २. शुद्धिर्भवेत् । ३. घृतं चाभिमन्त्रयेत् ।

स्नानं मौनोपवासेज्यास्वाध्यायोपस्थनिग्रहाः ।
नियमा गुरुशुश्रूषा शौचाक्रोधाप्रमादता ॥ ३१३ ॥

ब्रह्मचर्यं सकलेन्द्रियसंयमः, उपस्थनिग्रहो लिङ्गनिग्रहः गोबलीवर्दन्यायेन निर्दिष्टः, अकल्कता अकुटिलता । शेषं प्रसिद्धम् । यत्पुनर्मनुनोक्तम्—'अहिंसा सत्यमक्रोधमार्जवं च समाचरेत्' इति,–तदप्येतेषामुपलक्षणं न परिगणनाय । अत्र च दयाक्षान्त्यादीनां पुरुषार्थतया प्राप्तानामपि पुनर्विधानं प्रायश्चित्ताङ्गत्वार्थम् । क्वचिद्विशेषोऽप्यस्ति । यथा विवाहादिष्वभ्यनुज्ञातस्याप्यनृतवचनस्य निवृत्त्यर्थं सत्यत्वविधानम् । पुत्रशिष्यादिकमपि न ताडनीयमित्येवमर्थमहिंसाविधानमित्येवमादि ॥ ३१२–३१३ ॥

भाषा—ब्रह्मचर्य (सभी इन्द्रियों का संयम), दया, क्षमा, दान, सत्यभाषण, सरलता, अहिंसा, चोरी न करना, माधुर्य (मधुर वचन बोलना) और दम (ज्ञानेन्द्रियों का दमन)-ये यम कहे गये हैं ॥

स्नान, मौन रहना, उपवास, देवपूजन, स्वाध्याय, लिङ्ग का निग्रह (कामुकता का त्याग), गुरु की सेवा, पवित्रता, अक्रोध और प्रमाद का त्याग—ये सभी नियम कहलाते हैं ॥ ३१२–३१३ ॥

तत्र सान्तपनाख्यं व्रतं तावदाह—

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् ।
जग्ध्वा परेऽह्न्युपवसेत्कृच्छ्रं सान्तपनं चरन् ॥ ३१४ ॥

पूर्वेद्युराहारान्तरपरित्यागेन गोमूत्रादीनि पञ्चगव्यानि पञ्चद्रव्याणि कुशोदकसहितानि संयुज्य पीत्वा अपरेद्युरुपवसेदिति द्वैरा[2]त्रिकः सान्तपनः कृच्छ्र संयोजनं[3] चोत्तरश्लोके पृथग्विधानादवगम्यते । 'कृच्छ्र' इति चान्वर्थसंज्ञेयम् ; तपोरूपत्वेन क्लेशसाध्यत्वात् । गोमूत्रादीनां परिमाणं वक्ष्यते । यदा पुनः पूर्वेद्युरुपोष्यापरेद्युः समन्त्रकं संयुज्य समन्त्रकमेव पञ्चगव्यं पीयते तदा ब्रह्मकूर्च इत्याख्यायते । यथाह पराशरः–'गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् । निर्दिष्टं पञ्चगव्यं तु प्रत्येकं कायशोधनम् ॥ गोमूत्रं ताम्रवर्णायाः श्वेतायाश्चापि गोमयम् । पयः काञ्चनवर्णाया नीलायाश्च तथा दधि ॥ घृतं च कृष्णवर्णायाः सर्वं कापिलमेव च । अलाभे सर्ववर्णानां पञ्चगव्येष्वयं विधिः ॥ गोमूत्रं माषकास्त्वष्टौ गोमयस्य तु षोडश । क्षीरस्य द्वादश प्रोक्ता दध्नस्तु दश कीर्तिताः ॥ गोमूत्रवद्घृतस्याष्टौ तदर्धं तु कुशोदकम् । गायत्र्यादाय गोमूत्रं गन्धद्वारेति गोमयम् । आप्यायस्वेति च क्षीरं दधिक्राव्णेति वै दधि ॥ तेजोऽ-

१. परम् । २. द्वैरात्रः । ३. सांतपनं । ४. पवित्रं कायशोधनमिति ।

सिशुक्रमित्याज्यं देवस्य त्वा कुशोदकम् । पञ्चगव्यमृचा पूतं होमयेदग्निसंनिधौ ॥ सप्तपत्राश्च ये दर्भा अच्छिन्नाग्राः शुचित्विषः । एतैरुद्धृत्य होतव्यं पञ्चगव्यं यथाविधि ॥ इरावती इदंविष्णुर्मानस्तोके च शंवतीः । एताभिश्चैव होतव्यं हुतशेषं पिबेद् द्विजः ॥ प्रणवेन समालोड्य प्रणवेनाभिमन्त्र्य च । प्रणवेन समुद्धृत्य पिबेत्तत्प्रणवेन तु ॥ मध्यमेन पलाशस्य पद्मपत्रेण वा पिबेत् । स्वर्णपात्रेण [2]रौप्येण ब्राह्मतीर्थेन वा पुनः ॥ यत्त्वगस्थिगतं पापं देहे तिष्ठति मानवे । ब्रह्मकूर्चोपवासस्तु दहत्यग्निरिवेन्धनम् ॥' इति । यदा त्वेतदेव मिश्रितं पञ्चगव्यं त्रिरात्रमभ्यस्यते तदा यतिसान्तपनसंज्ञां लभते—'एतदेव त्र्यहाभ्यस्तं यतिसान्तपनं स्मृतम्' इति शङ्खस्मरणात् ॥ जाबालेन तु सप्ताहसाध्यं सान्तपनमुक्तम्—'गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् । एकैकं प्रत्यहं पीत्वा त्वहोरात्रमभोजनम् । कृच्छ्रं सान्तपनं नाम सर्वपापप्रणाशनम् ॥' इति । एषां च गुरुलघुकृच्छ्राणां शक्त्याद्यपेक्षया व्यवस्था विज्ञेया । एवमुत्तरत्रापि व्यवस्था बोद्धव्या ॥ ३१४ ॥

भाषा—एक दिन गाय का मूत्र, गोबर, दूध, दही, घी और कुशा का जल पीकर दूसरे दिन उपवास करने पर दो दिन का सान्तपन कृच्छ्रव्रत होता है ॥ ३१४ ॥

महासान्तपनाख्यं कृच्छ्रमाह—

> पृथक्सान्तपनद्रव्यैः षडहः सोपवासकः ।
> सप्ताहेन तु कृच्छ्रोऽयं महासान्तपनः स्मृतः ॥ ३१५ ॥

सप्ताहेनापवर्जितो महासान्तपनाख्यः कृच्छ्रो विज्ञेयः । कथमित्यपेक्षायामुक्तं पृथग्भूतैः षड्भिर्गोमूत्रादिभिरेकैकेनैकैकमहरतिवाहयेत् सप्तमं चोपवासेनेति । यमेन तु पञ्चदशाहसंपाद्यो महासान्तपनोऽभिहितः—'त्र्यहं पिबेत्तु गोमूत्रं त्र्यहं वै गोमयं पिबेत् । त्र्यहं दधि त्र्यहं क्षीरं सर्पिस्ततः शुचिः ॥ महासान्तपनं ह्येतत्सर्वपापप्रणाशनम् ॥' इति । जाबालेन त्वेकविंशतिरात्रिनिर्वर्त्यो महासान्तपन उक्तः—'षण्णामेकैकमेतेषां त्रिरात्रमुपयोजयेत् । त्र्यहं चोपवसेदन्त्यं महासान्तपनं विदुः ॥' इति । यदा तु षण्णां सान्तपनद्रव्याणामेकैकस्य द्व्यहमुपयोगस्तदा अतिसान्तपनम् । यथाह यमः—'एतान्येव तथा पेयान्येकैकं[3] तु त्र्यहं द्व्यहम् । अतिसान्तपनं नाम श्वपाकमपि शोधयेत् ॥' इति । 'श्वपाकमपि शोधयेत्' इत्यर्थवादः ॥ ३१५ ॥

---

१. अच्छिन्नाग्राः कुशाः स्थिता । २. ताम्रेण । ३. पेयाद्येकैकं ।

भाषा—सान्तपन के (गोमूत्र आदि छः) द्रव्यों से पृथक्-पृथक् (अर्थात् एक एक दिन एक-एक को पीकर) छः दिन बिताकर एक दिन उपवास करने पर एक सप्ताह का महासान्तपन कृच्छ्र व्रत बताया गया है ॥ ३१५ ॥

इति महासांतपनातिसांतपने ।

पर्णकृच्छ्राख्यं व्रतमाह—

पर्णोदुम्बरराजीवबिल्वपत्रकुशोदकैः ।
प्रत्येकं प्रत्यहं पीतैः पर्णकृच्छ्र उदाहृतः ॥ ३१६ ॥

पलाशोदुम्बरारविन्दश्रीवृक्षपर्णानामेकैकेन क्वथितमुदकं प्रत्यहं पिबेत् । कुशोदकं चैकस्मिन्नहनीति पञ्चाहसाध्यः पर्णकृच्छ्रः । यदा तु पर्णादीनामेकीकृतानां क्वाथस्त्रिरात्रान्ते पीयते तदा पर्णकूर्चः । यथाह यमः—'एतान्येव समस्तानि त्रिरात्रोपोषितः शुचिः । क्वाथयित्वा पिबेदद्भिः पर्णकूर्चोऽभिधीयते ॥' इति । यदा तु बिल्वादिफलानि प्रत्येकं क्वथितानि मासं पीयन्ते तदा फलकृच्छ्रादिव्यपदेशं लभन्ते । यथाह मार्कण्डेयः—'फलैर्मासेन कथितः फलकृच्छ्रो मनीषिभिः । श्रीकृच्छ्रः श्रीफलैः प्रोक्तः पद्माक्षैरपरस्तथा ॥ मासेनामलकैरेवं श्रीकृच्छ्रमपरं स्मृतम् । पत्रैर्मतः पत्रकृच्छ्रः पुष्पैस्तत्कृच्छ्र उच्यते ॥ मूलकृच्छ्रः स्मृतो मूलैस्तोयकृच्छ्रो जलेन तु ॥' इति ॥ ३१६ ॥

भाषा—पलाश, उदुम्बर (गूलर), कमल, बिल्वपत्र में से एक-एक को एक-एक दिन पानी में उबालकर वही जल पीवे और फिर एक दिन (पांचवे दिन) कुशा का जल पीवे तो पर्णकृच्छ्र व्रत कहलाता है ॥ ३१६ ॥

इति पर्णकृच्छ्र एकादशविधः ।

तप्तकृच्छ्रमाह—

तप्तक्षीरघृताम्बूनामेकैकं प्रत्यहं पिबेत् ।
एकरात्रोपवासश्च तप्तकृच्छ्र उदाहृतः ॥ ३१७ ॥

दुग्धसर्पिरुदकानां तप्तानामेकैकं प्रतिदिवसं प्राश्यापरेद्युरुपवसेत् । एष दिवसचतुष्टयसंपाद्यो महातप्तकृच्छ्रः । एभिरेव समस्तैः सोपवासैस्त्रिरात्रसंपाद्यः सान्तपनवत्तप्तकृच्छ्रः । मनुना तु द्वादशरात्रनिर्वर्त्योऽभिहितः (११।२१४)—'तप्तकृच्छ्रं चरन्विप्रो जलक्षीरघृतानिलान् । प्रतित्र्यहं पिबेदुष्णान्सकृत्स्नायी समाहितः ॥' इति । क्षीरादिपरिमाणं तु पराशरेणोक्तं द्रष्टव्यम् ।—'अपां पिबेत्तु

१. प्रत्यहाभ्यस्तैः । २. पर्णकृच्छ्र उदाहृतः ।

त्रिपलं द्विपलं तु पयः पिबेत्। पलमेकं पिबेत्सर्पिस्त्रिरात्रं चोष्णमारुतम् ॥ इति। त्रिरात्रमारुतस्य पूरणे उष्णोदकबाष्पं पिबेदित्यर्थः। यदा तु शीतं क्षीरादि पीयते तदा शीतकृच्छ्रः; 'त्र्यहं शीतं पिबेत्तोयं त्र्यहं शीतं पयः पिबेत्। त्र्यहं शीतं घृतं पीत्वा वायुभक्षः परं त्र्यहम् ॥' इति यमस्मरणात् ॥ ३१७ ॥

भाषा—दूध, घी और जल में से प्रत्येक को गर्म करके एक-एक दिन पीकर और फिर एक दिन-रात (चौथे दिन) उपवास रखने पर तप्तकृच्छ्र व्रत होता है ॥ ३१७ ॥

इति तप्तकृच्छ्रश्चतुर्विधः।

पादकृच्छ्रमाह—

एकभक्तेन नक्तेन तथैवायाचितेन च।
उपवासेन चैवा[1]यं पादकृच्छ्रः प्र[3]कीर्तितः ॥ ३१८ ॥

एकभक्तेन सकृद्भोजनेन दिवैव; नक्तेनेति पृथगुपादानात्। अतश्च दिवैवैकवारमेव भोजनेनैकमहोरात्रमतिवाहयेदिति। तत्र दिवेति रात्रिव्युदासः। एकवारमिति द्विवारादिव्युदासः। भोजनेनेत्यभोजनव्युदासः। एतच्च कृच्छ्रादीनां व्रतरूपत्वात् पुरुषार्थभोजनपर्युदासेन कृच्छ्राङ्गभूतं भोजनं विधीयते। तथा चापस्तम्बः—'त्र्यहमनक्ताश्यदिवाशी च ततस्त्र्यहं। त्र्यहमयाचितव्रतस्त्र्यहं नाश्नाति किंचन' इति। अत्र च 'अनक्ताशी' इत्यनेन व्रतविहितेन णिनिप्रत्ययेन नक्तपर्युदासेन दिवाभोजननियमं दर्शयति। गौतमेनापीदमेव स्पष्टीकृतम्—'हविष्यान्प्रातराशान्भुक्त्वा तिस्रो रात्रीर्नाश्नीयात्' इति। एवं नक्तभोजनविधावपि। न विद्यते याचितं यस्मिन्भोजने तदयाचितम्। तेन कालविशेषानुपादानाद्दिवा रात्रौ वा सकृदित्येव; तपोरूपत्वात्कृच्छ्राणां द्वितीयभोजने तदनुपपत्तेः। अयाचितमिति न केवलं परकीयान्नयाचनप्रतिषेधोऽपि तु स्वकीयमपि परिचारकभार्यादिभ्यो न याचितव्यम्। प्रेषणाध्येषणयोः साधारणत्वाद्याच्ञायाः। अतः स्वगृहेऽपि भृत्यभार्यादयोऽनाज्ञप्ता एव यदि भोजनमुपहरन्ति तर्हि भोक्तव्यं, नान्यथा। अमुनैवाभिप्रायेणोक्तं गौतमेन—'अथापरं त्र्यहं न कंचन याचेत' इति। अत्र च ग्राससंख्यानियमः पराशरेण दर्शितः—'सायं तु द्वादशग्रासाः प्रातः पञ्चदश स्मृताः। चतुर्विंशतिरायाच्याः परं निरशनं स्मृतम् ॥' इति। आपस्तम्बेन त्वन्यथोक्तम्—'सायं द्वाविंशतिर्ग्रासाः प्रातः षड्विंशतिः स्मृताः। चतुर्विंशतिरायाच्याः परं निरशनास्त्रयः। कुक्कुटाण्डप्रमाणास्तु यथा वास्यं विशेत्सुखम् ॥' इति ॥ अनयोश्च कल्पयोः शक्त्यपेक्षया विकल्पः। आपस्तम्बेन तु प्राजापत्य-

---

१. त्रिरात्रस्य मारुतस्य। २. चैकेन। ३. उदाहृतः।

प्रायश्चित्तं चतुर्धा विभज्य चतुरः पादकृच्छ्रान्कृत्वा वर्णानुरूपेण व्यवस्था दर्शिता—'त्र्यहं निरशनं पादः पादश्चायाचितं त्र्यहम्। सायं त्र्यहं तथा पादः पादः प्रातस्तथा त्र्यहम्॥ प्रातः पादं चरेच्छूद्रः सायं वैश्ये तु दापयेत्। अयाचितं तु राजन्ये त्रिरात्रं ब्राह्मणे स्मृतम्॥' इति। यदा त्वयाचितोपवासात्मकत्र्यहद्वयानुष्ठानं तदाऽर्धकृच्छ्रः। सायंव्यतिरिक्तापरत्र्यहत्रयानुष्ठानं तु पादोनमिति विज्ञेयम्। 'सायंप्रातर्विनार्धं स्यात्पादोनं नक्तवर्जितम्' इति तेनैवोक्तत्वात्॥ अर्धकृच्छ्रस्य प्रकारान्तरमपि तेनैव दर्शितम्—'सायं प्रातस्तथैकैकं दिनद्वयमयाचितम्। दिनद्वयं च नाश्नीयात्कृच्छ्रार्धं तद्विधीयते॥' इति॥ ३१८॥

भाषा—एक दिन दिन में केवल एक बार और दूसरे दिन केवल रात्रि को एक बार भोजन करे, तीसरे दिन विना मांगे ही मिला हुआ भोजन करे और चौथे दिन उपवास करे तो पादकृच्छ्र व्रत होता है॥ ३१८॥

प्राजापत्यं कृच्छ्रमाह—

यथाकथंचित्त्रिगुणः प्राजापत्योऽयमुच्यते।

अयमेव पादकृच्छ्रः यथाकथंचिद्दण्डकलितवदावृत्त्या स्वस्थानविवृद्ध्या वा, तत्राप्यानुलोम्येन प्रातिलोम्येन वा तथा वक्ष्यमाणजपादियुक्तं तद्रहितं वा त्रिरभ्यस्तः प्राजापत्योऽभिधीयते। तत्र दण्डकलितवदावृत्तिपक्षो वसिष्ठेन प्रदर्शितः—'अहः प्रातरहर्नक्तमहरेकमयाचितम्। अहः पराकं तत्रैकमेवं चतुरहौ परौ॥ अनुग्रहार्थं विप्राणां मनुर्धर्मभृतां वरः। बालवृद्धातुरेष्वेवं शिशुकृच्छ्रमुवाच ह॥' इति। आनुलोम्येन स्वस्थानविवृद्धिपक्षस्तु मनुना दर्शितः (११।२११)—'त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम्। परं त्र्यहं च नाश्नीयात्प्राजापत्यं चरन्द्विजः॥' इति प्रातिलोम्यावृत्तिस्तु वसिष्ठेन दर्शिता—'प्रातिलोम्यं चरेद्विप्रः कृच्छ्रं चान्द्रायणोत्तरम्' इति। जपादिरहितपक्षस्तु स्त्रीशूद्रादिविषयेऽङ्गिरसा दर्शितः—'तस्माच्छूद्रं समासाद्य सदा धर्मपथे स्थितम्। प्रायश्चित्तं प्रदातव्यं जपहोमादिवर्जितम्॥' इति। जपादियुक्तपक्षस्तु पारिशेष्याद्योग्यतया च त्रैवर्णिकविषयः स च गौतमादिभिर्दर्शितः—'अथातः कृच्छ्रान्व्याख्यास्यामो हविष्यान्प्रातराशान्भुक्त्वा तिस्रो रात्रीर्नाश्नीयादथापरं त्र्यहं नक्तं भुञ्जीताथापरं त्र्यहं न कंचन याचेताथापरं त्र्यहमुपवसेत्तिष्ठेदहनि रात्रावासीत क्षिप्रकामः सत्यं वदेदनार्यैः सह न भाषेत रौरवयौधाजपे नित्यं प्रयुञ्जीतानुसवनमुदकोपस्पर्शनमापोहिष्ठेति तिसृभिः पवित्रवतीभिर्मार्जयीत हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका इत्यष्टाभिरथोदकतर्पणम्। 'नमोहमाय मोहमाय महमाय धन्वने तापसाय पुनर्वसवे नमः मौञ्ज्याय ऊर्म्याय वसुविन्दाय सर्वविदाय नमः। पाराय सुपाराय महापाराय पारदाय परपाराय पारयिष्णवे नमः। रुद्राय पशुपतये महते देवाय त्र्यम्बका

यैकचरायाधिपतये हराय शर्वायेशानायोग्राय वज्रिणे घृणिने कपर्दिने नमः सूर्यायादित्याय नमः। नीलग्रीवाय शितिकण्ठाय नमः। कृष्णाय पिङ्गलाय नमः। ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय वृद्धायेन्द्राय हरिकेशायोर्ध्वरेतसे नमः। सत्याय पावकाय पावकवर्णायैकवर्णाय कामाय कामरूपिणे नमः। दीप्ताय दीप्तरूपिणे नमः। तीक्ष्णाय तीक्ष्णरूपिणे नमः। सौम्याय सुपुरुषाय महापुरुषाय मध्यमपुरुषाय उत्तमपुरुषाय ब्रह्मचारिणे नमः। चन्द्रललाटाय कृत्तिवाससे नम' इति। एतदेवादित्योपस्थानमेता एवाज्याहुतयो द्वादशरात्रस्यान्ते चरुं श्रपयित्वा एताभ्यो देवताभ्यो जुहुयाद् 'अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहाग्नीषोमाभ्यामिन्द्राग्निभ्यामिन्द्राय विश्वेभ्यो देवेभ्यो ब्रह्मणे प्रजापतयेऽग्नये स्विष्टकृते' इति अन्ते ब्राह्मणभोजनम् इति। तत्र तिष्ठेदहनि रात्रावासीत क्षिप्रकाम इत्यस्यार्थः—यस्तु महतोऽप्येनसः क्षिप्रमेकेनैव कृच्छ्रेण क्षिप्रं मुच्येयमित्येवं कामयते असावहनि कर्माविरुद्धेषु कालेषु तिष्ठेद्रात्रावासीत। एवं रौरवयौधाजयसामजपो नमोहंसायेत्यादिभिस्तर्पणमादित्योपस्थानादिकं चरुश्रपणादिकं च योगीश्वराद्यनुक्तं क्षिप्रकामः कुर्वीत। अतश्च योगीश्वराद्युक्तमाजापत्यद्वयस्थाने गौतमीयमनेकेतिकर्तव्यतासहितं द्रष्टव्यम्। एवमन्यान्यपि स्मृत्यन्तरोक्तानि विशेषेणा[1]न्वेषणीयानि॥

अतिकृच्छ्रमाह—

अयमेवातिकृच्छ्रः स्यात्पाणिपूरान्नभोजनः॥ ३१९॥

एतद्धर्मक एव एकभक्तादिप्राजापत्यधर्मयुक्तोऽतिकृच्छ्रः स्यात्। इयांस्तु विशेषः—आद्ये त्र्यहत्रये पाणिपूरणमात्रमन्नं भुञ्जीत न पुनर्द्वाविंशत्यादिग्रासान्। अत्र च ग्रासभोजनानुवादेन पाणिपूरान्नविधानादन्त्यत्र्यहेऽतिदेशप्राप्त उपवासोऽप्रतिपन्न एव। अत्रापि पादशो व्यवस्था पूर्ववदेव द्रष्टव्या। यत्तु मनुनोक्तम्। (११।२१३)—'एकैकं ग्रासमश्नीयात्त्र्यहाणि त्रीणि पूर्ववत्। त्र्यहं चोपवसेदन्त्यमतिकृच्छ्रं चरन् द्विजः॥' इति,—तत्पाणिपूरान्नपरिमिता[2]दल्पत्वाच्छक्तं विषयम्॥ ३१९॥

भाषा—इसी पादकृच्छ्र व्रत का जिस किसी प्रकार तिगुना करके व्रत करने पर प्राजापत्य कृच्छ्र कहा जाता है और यदि तीन दिनों में केवल एक हाथ में आने भर भोजन करके बितावे तो उपरोक्त व्रत ही अतिकृच्छ्र व्रत होता है॥ ३१९॥

कृच्छ्रातिकृच्छ्रमाह—

कृच्छ्रातिकृच्छ्रः पयसा दिवसानेकविंशतिम्।

---

१. विशेषेणान्तराण्यन्वेषणीयानि। २. परिमितत्वात्।

एकविंशतिरात्रं पयसा वर्तनं कृच्छ्रातिकृच्छ्राख्यं व्रतं विज्ञेयम् । गौतमेन तु द्वादशरात्रमुदकेन वर्तनं कृच्छ्रातिकृच्छ्र[1] उक्तः 'अब्भक्षस्तृतीयः स कृच्छ्रातिकृच्छ्रः' इति । अतश्च शक्त्यपेक्षयाऽनयोर्व्यवस्था ॥

पराकमाह—

द्वादशाहोपवासेन पराकः परिकीर्तितः ॥ ३२० ॥

ऋज्वर्थोऽयमर्धश्लोकः ॥ ३२० ॥

भाषा—केवल दूध पीकर इक्कीस दिन बिताने पर कृच्छ्रातिकृच्छ्र व्रत होता है । बारह दिन के उपवास को पराकव्रत कहा गया है ॥ ३२० ॥

सौम्यकृच्छ्रमाह—

पिण्याकाचामतक्राम्बुसक्तूनां प्रतिवासरम् ।
एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रः सौम्योऽयमुच्यते ॥ ३२१ ॥

पिण्याकोदनमिस्रावोदश्विदुदकसक्तूनां पञ्चानामेकैकं प्रतिदिवसमुपभुज्य[2] षष्ठेऽह्नि उपवसेदेष सौम्याख्यः कृच्छ्रोऽभिधीयते । द्रव्यपरिमाणं तु प्राणयात्रामात्रनिबन्धनमधिगन्तव्यम् । जाबालेन तु चतुरहव्यापी सौम्यकृच्छ्र उक्तः— 'पिण्याकं सक्तवस्तक्रं चतुर्थेऽहन्यभोजनम् । वासो वै दक्षिणां दद्यात्सौम्योऽयं कृच्छ्र उच्यते ॥' इति ॥ ३२१ ॥

भाषा—पिण्याक (तिल की खली), आचाम (भात का मांड), तक्र (मट्ठा) जल और सत्तू में से एक एक से क्रमशः पांच दिन व्यतीत करके फिर एक दिन उपवास करने पर सौम्यकृच्छ्र व्रत होता है ॥ ३२१ ॥

तुलापुरुषाख्यं कृच्छ्रमाह—

एषां त्रिरात्रमभ्यासादेकैकस्य यथाक्रमम् ।
तुलापुरुष इत्येष ज्ञेयः पञ्चदशाहिकः ॥ ३२२ ॥

एषां पिण्याकादीनां पञ्चानां क्रमेणैकैकस्य त्रिरात्राभ्यासेन पञ्चदशाहव्यापी तुलापुरुषाख्यः कृच्छ्रो वेदितव्यः । अत्र च पञ्चदशाहिकत्वविधानादुपवासस्य निवृत्तिः ॥ यमेन त्वेकविंशतिरात्रिकस्तुलापुरुष उक्तः—'आचाममथ पिण्याकं तक्रं चोदकसक्तुकान् । त्र्यहं त्र्यहं प्रयुञ्जानो वायुभक्षी त्र्यहद्वयम् ॥ एकविंशतिरात्रस्तु तुलापुरुष उच्यते ॥' इति । अत्र हारीताद्युक्तेतिकर्तव्यता ग्रन्थगौरवभयान्न लिख्यते ॥ ३२२ ॥

भाषा—इन पिण्याक आदि में क्रमशः एक-एक का तीन-तीन दिन तक सेवन करने पर पन्द्रह दिन का तुलापुरुष व्रत होता है ॥ ३२२ ॥

---

१. तिकृच्छ्रमित्युक्तं । २. सौम्याः कृच्छ्रोऽयमुच्यते । ३. मुपयुज्य । ३. यथाविधि ।

चान्द्रायणमाह—

तिथिवृद्ध्या चरेत्पिण्डान् शुक्ले शिख्यण्डसंमितान् ।
एकैकं ह्रासयेत्कृष्णे पिण्डं चान्द्रायणं चरन् ॥ ३२३ ॥

चान्द्रायणाख्यं व्रतं कुर्वन्[1] मयूराण्डपरिमितान् पिण्डान् शुक्ले आपूर्यमाणपक्षे तिथिवृद्ध्या चरेत् भक्षयेत् । यथा प्रतिपत्प्रभृतिषु चन्द्रकलानामेकैकशो वृद्धिरर्धमासे तद्वत्पिण्डानपि प्रतिपद्येको द्वितीयायां द्वावित्येवमेकैकशो वर्धयन् भक्षयेद्यावत्पौर्णमासी । ततः पञ्चदश्यां पञ्चदश ग्रासान्भुक्त्वा ततः कृष्णपक्षे चतुर्दश प्रतिपदि द्वितीयायां त्रयोदशेत्येवमेकैकशो ग्रासान् ह्रासयन्नश्नीयाद्यावच्चतुर्दशी । ततश्चतुर्दश्यामेकं ग्रासं प्रसित्वा इन्दुक्षयेऽर्थादुपवसेत् । तथा च वसिष्ठः—'एकैकं वर्धयेत्पिण्डं शुक्ले कृष्णे च ह्रासयेत् । इन्दुक्षये न भुञ्जीत एष चान्द्रायणो विधिः ॥' इति । चन्द्रस्यायनमिवायनं चरणं यस्मिन्कर्मणि ह्रासवृद्धिभ्यां तच्चान्द्रायणम् । संज्ञायां दीर्घः । इदं च यववत् प्रान्तयोरणीयो मध्ये स्थवीय इति यवमध्यमिति कथ्यते । एतदेव व्रतं यदा कृष्णपक्षप्रतिपदि प्रक्रम्य पूर्वोक्तक्रमेणानुष्ठीयते तदा पिपीलिकावन्मध्ये ह्रसिष्ठं भवतीति पिपीलिकमध्यमिति कथ्यते । तथा हि—पूर्वोक्तक्रमेण कृष्णप्रतिपदि चतुर्दश ग्रासान् भुक्त्वा एकैकग्रासापचयेन चतुर्दशीं यावद् भुञ्जीत । ततश्चतुर्दश्यामेकं ग्रासं प्रसित्वाऽमावास्यायामुपोष्य शुक्लप्रतिपद्येकमेव ग्रासं प्राश्नीयाद् । तत एकैकोपचयभोजनेन पक्षशेषे निर्वर्त्यमाने पौर्णमास्यां पञ्चदश ग्रासाः संपद्यन्त इति युक्तैव पिपीलिकामध्यता । तथा च वसिष्ठः—'मासस्य कृष्णपक्षादौ ग्रासानद्याच्चतुर्दश । ग्रासापचयभोजी सन् पक्षशेषं समापयेत् । तथैव शुक्लपक्षादौ ग्रासं भुञ्जीत चापरम् । ग्रासोपचयभोजी सन्पक्षशेषं समापयेत् ॥' इति । यदा त्वेकस्मिन्पक्षे तिथिवृद्धिह्रासवशात् षोडश दिनानि भवन्ति चतुर्दश वा तदा ग्रासानामपि वृद्धिह्रासौ वेदितव्यौ । 'तिथिवृद्ध्या पिण्डांश्चरेत्' इति नियमात् । गौतमेनात्र विशेषो दर्शितः—'अथातश्चान्द्रायणं तस्योक्तो विधिः कृच्छ्रे वपनं च व्रतं चरेत् श्वोभूतां पौर्णमासीमुपवसेत् आप्यायस्व संतेपयांसि नवोनव इति चैताभिस्तर्पणमाज्यहोमो हविषश्चाशुमन्त्रणमुपस्थानं च चन्द्रमसः यद्देवादेवहेडनमिति चतसृभिराज्यं जुहुयाद्देवकृतस्येति चान्ते समिद्भिस्त्रिभिः ॐभूः ॐभुवः ॐस्वः ॐमहः ॐजनः ॐतपः ॐसत्यं यशः श्रीः ऊर्क् इट् ओजः तेजः पुरुषः धर्मः शिवः इत्येतैर्ग्रासानुमन्त्रणं प्रतिमन्त्रं मनसा नमः स्वाहेति वा सर्वानेतैरेव ग्रासान्भुञ्जीत । तद्ग्रासप्रमाणमास्याधिकारेण चरुभैक्षसक्तुकणयावकशाकपयोदधिघृतमूलफलोदकानि हवींष्युत्तरोत्तरं

---

१. कर्म कुर्वन् ।

प्रशस्यानि। पौर्णमास्यां पञ्चदश ग्रासान् भुक्त्वा एकैकापचयेनापरपक्षम-श्नीयात्। अमावास्यायामुपोष्यैकैकोपचयेन पूर्वपक्षं विपरीतमेकेषामेव चान्द्रायणो मासः' इति। अत्र ग्रासप्रमाणमास्याधिकारेणेति यदुक्तं,—तद्बालाभिप्रायम्। तेषां शिख्यण्डपरिमितपञ्चदशग्रासभोजनाशक्तेः। क्षीरादिहविष्षु शिख्यण्डपरि-मितत्वं तु पर्णपुटकादिना संपादनीयम्। तथा कुक्कुटाण्डार्द्रामलकादीनि तु ग्रासपरिमाणानि स्मृत्यन्तरोक्तानि शक्तिविषयाणि शिख्यण्डपरिमाणाल्लघुत्वा-त्तेषाम्। यत्पुनरत्र 'श्वोभूतां पौर्णमासीमुपवसेत्' इत्यत्र चतुर्दश्यामुपवासम-भिधाय 'पौर्णमास्यां पञ्चदशग्रासान्भुक्त्वा' इत्यादिना द्वात्रिंशदहरात्मकत्वं चान्द्रायणस्योक्तं तत्पक्षान्तरप्रदर्शनार्थं न सार्वत्रिकम्; योगीश्वरवचनानुरोधेन त्रिंशदहरात्मकस्य दर्शितत्वात्। यद्येतत्सार्वत्रिकं स्यात्तदा नैरन्तर्येण संवत्सरे चान्द्रायणानुष्ठानानुपपत्तिः स्यात्। चन्द्रगत्यनुवर्तनानुपपत्तिश्च ॥ ३२३ ॥

भाषा—शुक्लपक्ष में तिथि की वृद्धि के साथ मयूर के अण्डे के बराबर एक-एक ग्रास बढ़ाते हुए फिर कृष्णपक्ष में एक-एक ग्रास घटाते हुए भोजन करने पर चान्द्रायण व्रत होता है ॥ ३२३ ॥

चान्द्रायणान्तरमाह—

यथाकथंचित्पिण्डानां चत्वारिंशच्छतद्वयम्।
मासेनैवोपभुञ्जीत[1] चान्द्रायणमथापरम् ॥ ३२४ ॥

पिण्डानां चत्वारिंशदधिकं शतद्वयं मासेन भुञ्जीत। यथाकथंचित्प्रतिदिनं मध्याह्नेऽष्टौ ग्रासान्, अथवा नक्तंदिनयोश्चतुरश्चतुरो वा, अथवैकस्मिंश्चतुरोऽ-परस्मिन्द्वादश वा तथैकरात्रमुपोष्यापरस्मिन्षोडश वेत्यादिप्रकाराणा-मन्यतमेन शक्त्याद्यपेक्षया भुञ्जीतेत्येतत्पूर्वोक्तचान्द्रायणद्वयादपरं चान्द्रायणम्। अतस्तयोर्नायं ग्राससंख्यानियमः, किंतु पञ्चविंशत्यधिकशतद्वयसंख्यैव। मनुना चैते प्रकारा दर्शिताः (११।२१८–२२०)—'अष्टावष्टौ समश्नीयात्पिण्डान्मध्य-न्दिने स्थिते। नियतात्मा हविष्यस्य यतिचान्द्रायणं चरेत् ॥ चतुरः प्रातरश्नी-यात्पिण्डान्विप्रः समाहितः। चतुरोऽस्तमिते सूर्ये शिशुचान्द्रायणं चरेत् ॥ यथा-कथंचित्पिण्डानां तिस्रोऽशीतीः समाहितः। मासेनाश्नन्हविष्यस्य चन्द्रस्यैति सलोकताम् ॥' इति। तथा चत्वारिंशच्छतद्वयन्यूनसंख्याग्राससंपाद्यस्यापि संग्रहार्थं 'अपर' ग्रहणम्। यथाह यमः—'त्रींस्त्रीन्पिण्डान्समश्नीयान्नियतात्मा दृढव्रतः। हविष्यान्नस्य वै मासमृषिचान्द्रायणं स्मृतम् ॥' इति। एषु च यतिचान्द्रायणप्रभृतिषु चन्द्रगत्यनुसरणमपेक्षितम्। अतस्त्रिंशद्दिनात्मकसाधा-

---

1. युञ्जीत '

रणेन मासेन नैरन्तर्येण चान्द्रायणानुष्ठाने यदि कथंचित्तिथिवृद्धिह्रासवशात् पञ्चम्यादिष्वारम्भो भवति तथापि न दोषः। यदपि सोमायनाख्यं मासव्रतं मार्कण्डेयेनोक्तम्—'गोक्षीरं सप्तरात्रं तु पिबेत्स्तनचतुष्टयात्। स्तनत्रयात्सप्तरात्रं सप्तरात्रं स्तनद्वयात्॥ स्तनेनैकेन षड्रात्रं त्रिरात्रं वायुभुग्भवेत्। एतत्सोमायनं नाम व्रतं कल्मषनाशनम्॥' इति। स्मृत्यन्तरे 'सप्ताहं चेत्येतद्वोस्तनमखिलमथ त्रीन्स्तनान्द्वौ तथैकं कुर्यात्त्रींश्चोपवासान्यदि भवति तदा मासि सोमायनं तत्' इति,-तदपि चान्द्रायणकर्मकमेव। हारीतेनापि 'अथातश्चान्द्रायणमनुक्रमिष्ये' इत्यादिना सेतिकर्तव्यताकं चान्द्रायणमभिधायैवमेव सोमायनमित्यतिदेशाभिधानात्। यत्पुनस्तेन कृष्णचतुर्थीमारभ्य शुक्लद्वादशीपर्यन्तं सोमायनमुक्तम्। चतुर्थीप्रभृतिचतुःस्तनेन त्रिरात्रं त्रिस्तनेन त्रिरात्रं द्विस्तनेन त्रिरात्रं एकस्तनेन त्रिरात्रमेवमेकस्तनप्रभृति पुनश्चतुःस्तनान्तं[1] 'या ते सोम चतुर्थी तनूस्तया नः पाहि तस्यै नमः स्वाहा, या ते सोम पञ्चमी षष्ठीत्येवं यागार्थास्तिथिहोमा एवं[2] स्तुत्वा एनोभ्यः पूतश्चन्द्रमसः समानतां सायुज्यं च गच्छति' इति चतुर्विंशतिदिनात्मकं सोमायनमुक्तं,-तदशक्तविषयम्॥ ३२४॥

भाषा—अथवा जिस किसी प्रकार एक मास में दो सौ चालीस ग्रास भोजन करे तो चान्द्रायण व्रत होता है॥ ३२४॥

अथ कृच्छ्रचान्द्रायणसाधारणीमितिकर्तव्यतामाह—

कुर्यात्त्रिषवणस्नायी कृच्छ्रं चान्द्रायणं तथा।
पवित्राणि जपेत्पिण्डान्गायत्र्या चाभिमन्त्रयेत्॥ ३२५॥

कृच्छ्रं प्राजापत्यादिकं चान्द्रायणं वा त्रिषवणस्नानयुक्तः कुर्यात्।-एतच्च तप्तकृच्छ्रव्यतिरेकेण। तत्र 'सकृत्स्नायी समाहितः' इति मनुना विशेषाभिधानात्॥ यत्पुनः शङ्खेन कृच्छ्रेषु त्रिषवणस्नानमभिहितम्—'त्रिरह्नि त्रिर्निशायां तु सवासा जलमाविशेत्' इति,-तदशक्तविषयम्। यत्पुनर्वैशम्पायनेन द्वैकालिकं स्नानमुक्तम्-'स्नानं द्विकालमेव स्यात्त्रिकालं वा द्विजन्मनः' इति,-तत्त्रिषवणस्नानाशक्तस्य वेदितव्यम्॥ यत्पुनर्गार्ग्येणोक्तम्—'एकवासाश्चरेद्भैक्षं स्नात्वा वासो न पीडयेत्' इति,-तदपि शक्तस्यैव, 'एकवासा आर्द्रवासा वा लघ्वाशी स्थण्डिलेशयः' इत्येकवस्त्रताया अपि शङ्खेन पाक्षिकत्वेनाभिधानात्। स्नाने च हारीतेन विशेष उक्तः—'ऽयवरं शुद्धवतीभिः स्नात्वाघमर्षणमन्तर्जले जपित्वा धौतमहतं वासः परिधाय साम्ना सौम्येनादित्यमुपतिष्ठेत' इति। स्नानानन्तरं च

1. स्तनान्ते। 2. एकमात्वा।

पवित्राणि जपेत् । पवित्राणि च 'अघमर्षणं देवकृतः शुद्धवत्यस्तरत्समाः' इत्यादीनि वसिष्ठादिप्रतिपादितानामन्यतमान्यर्थाविरुद्धेषु कालेषु अन्तर्जले जपेत्, सावित्रीं वा । (११।२२५)—'सावित्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तितः' इति मनुस्मरणात् । यत्तु गौतमेनोक्तम्—'रौरवयौधाजपे नित्यं प्रयुञ्जीत' इति,- तदपि पवित्रत्वादेवोक्तं, न पुनर्नियमाय; तथा सति श्रुत्यन्तरमूलत्वकल्पनाप्रसङ्गात् । अतोऽनधीतसामवेदेन गायत्र्यादिकमेव जप्यम् । यदपि 'नमो हमाय मोहमाय' इत्यादि पठित्वा एता एवाज्याहुतयः' इत्युक्तं,-तदपि न नैयमिकं किंतु 'महाव्याहृतिभिर्होमः कर्तव्यः स्वयमन्वहम्' (११।२२२) इति मनुना महाव्याहृतिभिर्होमविधानात् ॥ तथा षट्त्रिंशन्मतेऽप्युक्तम्—'जपहोमादि यत्किंचित्कृच्छ्रोक्तं संभवेन्न चेत् । सर्वं व्याहृतिभिः कुर्याद्गायत्र्या प्रणवेन च ॥' इति । 'आदि'ग्रहणादुदकतर्पणादित्योपस्थानादेर्ग्रहणम् । अत एव वैशम्पायनः—'स्नात्वोपतिष्ठेदादित्यं सौरीभिस्तु कृताञ्जलिः' इति । एवमन्येष्वपि विरोधिपदार्थेषु विकल्प आश्रयणीयः । अविरोधिषु समुच्चयः । शाखान्तराधिकरणन्यायेन सर्वस्मृतिप्रत्ययत्वात्कर्मणः ॥ जपसंख्यायां विशेषस्तेनैव दर्शितः—'ऋषभं विरजं चैव तथा चैवाघमर्षणम् । गायत्रीं वा जपेद्देवीं पवित्रां वेदमातरम् ॥ शतमष्टशतं वापि सहस्रमथवा परम् । उपांशु मनसा वापि तर्पयेत्पितृदेवताः ॥ मनुष्यांश्चैव भूतानि प्रणम्य शिरसा ततः ॥' इति । तथा पिण्डांश्च प्रत्येकं गायत्र्या चाभिमन्त्रयेत् । तथा यमेनापि विशेष उक्तः—'अङ्गुल्यग्रस्थितं पिण्डं गायत्र्या चाभिमन्त्रितम् । प्राश्याचम्य पुनः कुर्यादन्यस्याप्यभिमन्त्रणम् ॥' इति । अतश्च ॐभूर्भुवःस्वरित्यादिभिर्गौतमोक्तैरभिमन्त्रणमन्त्रैः सहास्य विकल्प उक्तः । यत्पुनराप्यायस्व संतेपयांसीत्यादिभिः पिण्डकरणात्पूर्वं हविषोऽभिमन्त्रणमुक्तं,-तद्भिन्नकार्यत्वात्समुच्चीयते । एतानि च कृच्छ्रादिव्रतानि यदा प्रायश्चित्तार्थमनुष्ठीयन्ते तदा केशादिवपनपूर्वकं परिगृहीतव्यानि; 'वापनं व्रतं चरेत्' इति गौतमस्मरणात् । अभ्युदयार्थे तु नैव वपनम् । वसिष्ठेनाप्यत्र विशेष उक्तः—'कृच्छ्राणां व्रतरूपाणां श्मश्रुकेशादि वापयेत् । कुक्षिरोमशिखावर्ज्यम्' इति । कृच्छ्राणां व्रतरूपाणि वपनादीन्यङ्गानि वपयन्त इति शेषः । पर्षदुपदिष्टव्रतग्रहणं च व्रतानुष्ठानदिवसात्पूर्वेद्युः सायाह्ने कार्यम् । यथाह वसिष्ठः—'सर्वपापेषु सर्वेषां व्रतानां विधिपूर्वकम् । ग्रहणं संप्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्ते चिकीर्षिते ॥ दिनान्ते नखरोमादीन्प्रवाप्य स्नानमाचरेत् । भस्मगोमयमृद्वारिपञ्चगव्यादिकल्पितैः ॥ मलापकर्षणं कार्यं बाह्यशौचोपसिद्धये । दन्तधावनपूर्वेण पञ्चगव्येन संयुतम् ॥ व्रतं निशामुखे ग्राह्यं बहिस्तारकदर्शने । आचम्यातः परं मौनी ध्यायन्दुष्कृतमात्मनः ॥

---

१. आज्येन वा ।

मनःसंतापनं तीव्रमुद्वहेच्छोकमन्ततः ॥' इति। बहिरिति ग्रामाद्बहिर्निष्क्रम्य। स्त्रियाप्येवमेव व्रतपरिग्रहः कार्यः। केशश्मश्रुलोमनखवपनं तु नास्ति; 'चान्द्रायणादिष्वेतदेव स्त्रियाः केशवपनवर्ज्यम्' इति बौधायनस्मरणात् ॥

वपनानिच्छोस्तु हारीतेन विशेष उक्तः—'राजा वा राजपुत्रो वा ब्राह्मणो वा बहुश्रुतः। केशानां वपनं कृत्वा प्रायश्चित्तं समाचरेत् ॥ केशानां रक्षणार्थं तु द्विगुणं व्रतमाचरेत्। द्विगुणे[1] तु व्रते चीर्णे दक्षिणा द्विगुणा भवेत् ॥' इति। एतच्च महापातकादिदोष[2]विशेषाभिप्रायेण द्रष्टव्यम्—'विद्वद्विप्रनृपस्त्रीणां नेष्यते केशवापनम्। व्रते महापातकिनो गोहन्तुश्चावकीर्णिनः ॥' इति मनुस्मरणात्। जाबालेनाप्यत्र विशेष उक्तः—'आरम्भे सर्वकृच्छ्राणां समाप्तौ च विशेषतः। अ[3]न्नेनैव च शालाग्नौ जुहुयाद् व्याहृतीः पृथक् ॥ श्राद्धं कुर्याद् व्रतान्ते तु गोहिरण्यादि दक्षिणा' इति। यमेनाप्यत्र विशेषोऽभिहितः—'पश्चात्तापो निवृत्तिश्च स्नानं चाङ्गतयोदितम्। नैमित्तिकानां सर्वेषां तथा चैवानुकीर्तनम् ॥' तथा—'गात्राभ्यङ्गशिरोभ्यङ्गौ ताम्बूलमनुलेपनम्। व्रतस्थो वर्जयेत्सर्वं यच्चान्यद्बलरागकृत् ॥' इति। एवमादिकर्तव्यताजातं स्मृत्यन्तरादन्वेष्टव्यम्। एवमनेन विधिना व्रतं गृहीत्वाऽवश्यं परिसमापनीयम्, अन्यथा तु प्रत्यवायः; 'पूर्वं व्रतं गृहीत्वा तु नाचरेत्काममोहितः। जीवन्भवति चाण्डालो मृतः श्वा चैव जायते ॥' इति छागलेयस्मरणात्। इत्यलं प्रपञ्चेन ॥ ३२५ ॥

भाषा—प्राजापत्य आदि कृच्छ्र व्रत और चान्द्रायण व्रत तीनों सवन में (प्रातः, मध्याह्न, एवं सायं) स्नान करते हुए करे। पवित्र मंत्रों का जप करे और भोजन के प्रत्येक ग्रास को गायत्री मंत्र से अभिमन्त्रित करे ॥३२५॥

इत्थमुक्तविनियोगस्य चान्द्रायणादेः स्वरूपमभिधाय लब्धप्रसङ्गकार्यान्तरेऽपि विनियोगमाह—

अनादिष्टेषु पापेषु शुद्धिश्चान्द्रायणेन च[4]।
धर्मार्थं यश्चरेदेतच्चन्द्रस्यैति सलोकताम् ॥ ३२६ ॥

आदिश्यत इत्यादिष्टं प्रायश्चित्तं न विद्यते आदिष्टं येषु पापेषु तेषु चान्द्रायणेन शुद्धिः। 'च'शब्दात्प्राजापत्यादिभिः कृच्छ्रैरै[5]न्दवसहितैस्तन्निरपेक्षैर्वा शुद्धिः। तथा च षट्त्रिंशन्मतेऽभिहितम्—'यानि कानि च पापानि गुरोर्गुरुतराणि च। कृच्छ्रातिकृच्छ्रैश्चान्द्रैयैः शोध्यन्ते मनुरब्रवीत् ॥' इति त्रयाणां समुच्चयः प्रतिपादितः। उशनसा तु द्वयोः समुच्चय उक्तः—'दुरितानां दुरिष्टानां पापानां महतामपि। कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव सर्वपापप्रणाशनम् ॥' इति। दुरितमुप-

---

१. द्विगुणे व्रत आचीर्णे। २. दोषव्यतिरेकेण। ३. आज्येनैवेति। ४. तु। ५. चान्द्रैस्त्विति।

पातकम् , दुरिष्टं पातकम् । गौतमेन तु कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चान्द्रायणमिति सर्वप्रायश्चित्तमिति विसमासकरणेनैन्द्वनिरपेक्षता कृच्छ्रातिकृच्छ्रयोः सूचिता । चान्द्रायणस्य निरपेक्षता 'इति'शब्देन च त्रयाणां समुच्चयः । केवलप्राजापत्यस्य तु निरपेक्षं चतुर्विंशतिमतेऽभिहितम्—'लघुदोषे त्वनादिष्टे प्राजापत्यं समाचरेत्' इति । गौतमेनापि प्राजापत्यादेर्नैरपेक्ष्यमुक्तम्—'प्रथमं चरित्वा शुचिः पूतः कर्मण्यो भवति, द्वितीयं चरित्वा यदन्यन्महापातकेभ्यः पापं कुरुते तस्मात्प्रमुच्यते, तृतीयं चरित्वा सर्वस्मादेनसो मुच्यते' इति महापातकादपीत्यभिप्रेतम् । मनुनाप्युक्तम् (११।२१५)—'पराको नाम कृच्छ्रोऽयं सर्वपापापनोदनः' इति । हारीतेनाप्युक्तम्—'चान्द्रायणं यावकश्च तुलापुरुष एव च । गवां चैवानुगमनं सर्वपापप्रणाशनम् ॥' तथा—'गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् । एकरात्रोपवासश्च श्वपाकमपि शोधयेत् ॥' तथा तप्तकृच्छ्रमधिकृत्यापि तेनैवोक्तम्—'एष कृच्छ्रो द्विरभ्यस्तः पातकेभ्यः प्रमोचयेत् । त्रिरभ्यस्तो यथान्यायं शूद्रहत्यां व्यपोहति ॥' इति । उशनसा चोक्तम्—'यत्रोक्तं यत्र वा नोक्तं महापातकनाशनम्[1] । प्राजापत्येन कृच्छ्रेण शोधयेन्नात्र संशयः ॥' इति । एतानि प्राजापत्यादीन्यनादिष्टेषूपपातकादिषु सकृदभ्यासापेक्षया व्यस्तानि वा योजनीयानि । तथा आदिष्टव्रतेष्वपि महापातकादिषु अभ्यासापेक्षया योजनीयानि । अत एव यमेनोक्तम्—'यत्रोक्त'मित्यादि । गौतमेनाप्युक्तनिष्कृतीनां संग्रहार्थं सर्वप्रायश्चित्तग्रहणं कृतम् । तथा यद्यपि तेनैवोक्तम्—'द्वितीयं चरित्वा यदन्यन्महापातकेभ्यः पापं कुरुते तस्मात्प्रमुच्यते' इत्युक्त्वा 'तृतीयं चरित्वा सर्वस्मादेनसो मुच्यते' इति,–तदपि महापातकाभिप्रायं नतु क्षुद्रपातकाभिप्रायम् । नच महापातकमनुक्तनिष्कृतिकं संभवति, तस्मादुक्तनिष्कृतिकेष्वपि प्राजापत्यादयो योजनीयः । तत्र द्वादशवार्षिकव्रते द्वादशद्वादशदिनान्येकैकं प्राजापत्यं परिकल्प्य गण्यमाने प्राजापत्यानां षष्ट्यधिकशतत्रयं द्वादशवार्षिके वैकल्पिकमनुष्ठेयं भवति । तदशक्तौ तावत्यो वा धेनवो दातव्याः । तदसंभवे निष्काणां षष्ट्यधिकशतत्रयं दातव्यम् । तथा स्मृत्यन्तरम्—'प्राजापत्यक्रियाऽशक्तो धेनुं दद्याद्विचक्षणः । धेनोरभावे दातव्यं मूल्यं तुल्यमसंशयम्[2] ॥ मूल्यार्धमपि निष्कं वा तदर्धं शक्त्यपेक्षया । गवामभावे निष्कः स्यात्तदर्धं पाद एव वा' इति स्मरणात् । मूल्यदानस्याप्यशक्तौ तावन्तो वोदवासाः कार्याः । तत्राप्यशक्तौ गायत्रीजपः षट्त्रिंशल्लक्षसंख्याकः कार्यः; 'कृच्छ्रोऽयुतं तु गायत्र्या उदवासस्तथैव च । धेनुप्रदानं विप्राय सममेतच्चतुष्टयम् ॥' इति पराशरस्मरणात् । यत्तु चतुर्विंशतिमतेऽभिहितम्—'गायत्र्यास्तु जपन्कोटिं ब्रह्म-

---

१. सर्वपातकनाशनं । २. तन्मूल्यं वा न संशयः ।

हत्यां व्यपोहति । लक्षाशीतिं जपेद्यस्तु सुरापानाद्विमुच्यते ॥ पुनाति हेमहर्तारं गायत्र्या लक्षसप्ततिः । गायत्र्याः षष्टिभिर्लक्षैर्मुच्यते गुरुतल्पगः ॥' इति,—तत् द्वादशवार्षिकतुल्यविधानतयोक्तं; न पुनरशक्तविषयमिति न विरोधः । एवमन्येऽपि—'कृच्छ्रो देव्ययुतं चैव प्राणायामशतद्वयम् । तिलहोमसहस्रं तु वेदपारायणं तथा ॥' इत्यादयः प्रत्याम्नायाश्चतुर्विंशतिमतादिशास्त्राभिहिताः षष्ट्यधिकत्रिशतगुणिता महापातकेषु बोद्धव्याः । अतिपातकेषु सप्तत्यधिकशतद्वयं प्राजापत्यानां कर्तव्यम् । तावन्तो वा धेन्वादयः प्रत्याम्नायाः । पातकेषु साशीतिशतं प्राजापत्याः प्रत्याम्नायाः धेन्वादयस्तावन्त एव वा । यथा चतुर्विंशतिमतेऽभिहितम्—'जन्मप्रभृति पापानि बहूनि विविधानि च । कृत्वाऽर्वाग् ब्रह्महत्यायाः षडब्दं व्रतमाचरेत् ॥ प्रत्याम्नाये गवां देयं साशीति धनिना शतम् । तथाऽष्टादशलक्षाणि गायत्र्या वा जपेद् बुधः ॥' इति । इदमेव द्वादशवार्षिके व्रते द्वादशद्वादशदिनैरेकैकप्राजापत्यकल्पनायां लिङ्गम् । एवमुपपातकेषु त्रैवार्षिकप्रायश्चित्तविषयभूतेषु नवतिप्राजापत्यास्तावन्तः प्रत्याम्नायाः । त्रैमासिकविषयेषु पुनः सार्धसप्तप्राजापत्याः प्रत्याम्नायाश्च धेनूदवासादयस्तावन्त एव । मासिकव्रतविषयेषु तु सार्धं प्राजापत्यद्वयं तावानेव वा प्रत्याम्नायः । चान्द्रायणविषयभूतेषु पुनरुपपातकेषु प्राजापत्यत्रयम् । तदशक्तस्य प्रत्याम्नायस्तावानेव । यत्पुनश्चतुर्विंशतिमतेऽभिहितम्—'अष्टौ चान्द्रायणे देयाः प्रत्याम्नायविधौ सदा' इति,—तदपि[2] धनिनः पिपीलिकामध्यादिचान्द्रायणप्रत्याम्नायविषयम् । मासातिकृच्छ्रविषयभूतेषु पुनरुपपातकेषु सार्धसप्तप्राजापत्याः[1] प्रत्याम्नायाश्च धेन्वादयस्तावन्त एव । 'प्राजापत्ये तु गामेकां दद्यात्सान्तपने द्वयम् ; पराकतप्तातिकृच्छ्रे[3] तिस्रस्तिस्रस्तु गास्तथा ॥' इति चतुर्विंशतिमतेऽभिधानात् । एतच्च 'एकैकं ग्रासमश्नीयादि'त्यामलकपरिमितैकैकग्रासपक्षे वेदितव्यम् । पाणिपूरान्नभोजनपक्षे पुनर्धेनुद्वयमेव । प्राजापत्यस्य षडुपवासतुल्यत्वात्[4] तद्द्विगुणत्वाच्चातिकृच्छ्रस्य । यद्यपि नवसु दिनेषु पाणिपूरान्नस्य भोजनं, तथापि नैरन्तर्येण द्वादशदिवसानुष्ठाने क्लेशातिशयात्षडहोपवाससमानप्राजापत्यद्वयतुल्यत्वमेव । प्राजापत्यस्य च षडुपवासतुल्यत्वं युक्तमेव । तथा हि-प्रथमे त्र्यहे सायंतनभोजनत्रयनिवृत्तावेकोपवाससंपत्तिः । द्वितीये त्र्यहे प्रातःकालभोजनत्रयनिवृत्तिपरस्य[5] । तथा च अयाचितत्र्यहेऽपि सायंतनभोजनत्रयवर्जनेऽपरस्येत्येवं[6] नवभिर्दिनैरुप-

---

१. प्राजापत्यानां प्रत्याम्नायधेन्वादयः । २. तदतिधनिनः । ३. पराकतप्तातिकृच्छ्रे तिस्रस्तिस्रस्तु गास्तथा । ४. तुल्यत्वाद् द्विगुणत्वाच्च । ५. त्रयवर्जनपरस्य । ६. भोजनवर्जनेऽन्यस्येति ।

चान्त्रयम् । पुनश्चान्त्यऽयहे चोपवासत्रयमिति युक्तं षडुपवासतुल्यत्वम् । ऋष-भैकादशगोदानसहितत्रिरात्रोपवासात्मकगोवधव्रते तु सार्धैकादशप्राजापत्यास्ता-वत्संख्याकाश्चोदवासादयः प्रत्याम्नायाः । मासं पयोव्रते तु सार्धं प्राजापत्य-द्वयम् । पराकात्मके तूपपातकव्रते प्राजापत्यत्रयं पराकतप्तातिकृच्छ्रस्थाने कृच्छ्र-त्रयं चरेत् । 'सान्तपनस्य वाप्यर्धमशक्तौ व्रतमाचरेत्' इति षट्त्रिंशन्मतेऽ-भिधानात् , चान्द्रायणपराककृच्छ्रातिकृच्छ्रास्तु प्राजापत्यत्रयात्मका द्वादश-वार्षिकव्रतस्थाने विंशत्युत्तरशतसंख्या अनुष्ठेयाः । तत्प्रत्याम्नायास्तु धेन्वाद-यस्त्रिगुणाः । अतिपातकेषु नवतिसंख्याकाश्चान्द्रायणादयः । तत्समेषु पुनः पात-कपदाभिधेयेषु षष्टिसंख्याः । उपपातकेषु त्रैवार्षिकविषयेषु त्रिंशत्संख्याः । त्रैमासिके गोवधव्रतस्थाने गोमूत्रस्नानादीनां कर्तव्यताबाहुल्याच्चान्द्रायणा-दित्रयम् । मासिकव्रते तु योगीश्वरोक्ते एकमेव चान्द्रायणं धेनूदवासादिप्रत्या-म्नायस्तु सर्वत्र त्रिगुण एव । प्रकीर्णकेषु पुनः प्रतिपदोक्तप्रायश्चित्तानुसारेण प्राजापत्यं पादादिकल्पनया योजनीयम् । आवृत्तौ पुनश्चान्द्रायणादिकमिति एत-द्विगवलम्बनेनान्यत्रापि कल्पना कार्या । यत्पुनर्बृहस्पतिनोक्तम्—'जन्मप्रभृति यत्किंचित्पातकं चोऽपातकम् । तावदावर्तयेत्कृच्छ्रं यावत्षष्टिगुणं भवेत् ॥' इति । तत् 'द्वे परदारे' इति गौतमोक्तद्विवार्षिकसमानविषयम् । तथा त्रैमासिका-दिविषयभूतोपपातकावृत्तिविषयं वा । पातकपदाभिधेयचाण्डालादिस्त्रीगमने द्विरभ्यासविषयं वा । तत्र 'ज्ञानात्कृच्छ्राब्दविधानात्तदभ्यासे द्विवर्षतुल्यषष्टि-कृच्छ्रविधानं युक्तमेव । यत्तु सुमन्तुनोक्तम्—'यदप्यसकृदभ्यस्तं बुद्धिपूर्वमघं महत् । तच्छुध्यत्यब्दकृच्छ्रेण महतः पातकादृते ॥' इति,-तदप्युपपातकावा-वृत्तिविषयम् । तथा 'अज्ञानादैन्दवद्वयमि'ति यमोक्तैन्दवद्वयविषयभूतपातका-वृत्तिविषयं वा । यस्तु तपस्यसमर्थो धान्यसमृद्धश्च स कृच्छ्रादिव्रतानि द्विजा-ग्रयभोजनदानेन संपादयेत् । तथाहि स्मृत्यन्तरम्—कृच्छ्रे पञ्चातिकृच्छ्रे त्रिगुण-महरहस्त्रिषदेवं तृतीये, चत्वारिंशच्च तप्ते त्रिगुणितगुणिता विंशतिः स्यात्पराके । कृच्छ्रे सान्तापनाख्ये भवति षडधिका विंशतिः सैव हीना, द्वाभ्यां चान्द्रायणे स्यात्तपसि कृशबलो भोजयेद्विप्रमुख्यान् ॥' इति । अहररिति सर्वत्र संबन्ध-नीयम् । तृतीयः कृच्छ्रातिकृच्छ्रः । अत्र प्राजापत्यदिवसकल्पनया विद्वद्विप्राणां षष्टिभोजनं भवति । यत्तु चतुर्विंशतिमतेऽभिहितम्—'विप्रा द्वादश वा भोज्याः पावकेष्टिस्तथैव च । अन्यौ[3] वा पावनी काचित्समाम्याहुर्मनीषिणः ॥' इति प्राजापत्यस्थाने द्वादशानां विप्राणां भोजनमुक्तं,-तन्निर्धनविषयम् । यच्चा-

---

१. ततश्चान्त्यऽयहे । २. स्नानादीतिकर्तव्यता । ३. अन्यद्वा पावनं किंचित्समम्माहुर्मनीषिणः ।

न्द्रायणस्यापि तत्रैव प्रत्याम्नायाद्युक्तम्—'चान्द्रायणं मृगारेष्टिः पवित्रेष्टिस्तथैव च। मित्रविन्दापशुश्चैव कृच्छ्रं मासत्रयं तथा॥ नित्यनैमित्तिकानां च काम्यानां चैव कर्मणाम्। इष्टीनां पशुबन्धानामभावे चरवः स्मृताः॥' इति,–तदपि चान्द्रायणाशक्तस्य। यत्तु 'कृच्छ्रं मासत्रयं तथा' इति कृच्छ्राष्टकं प्रत्याम्नातं,—तदपि जरठमूर्खविषयम्। चान्द्रायणं त्रिभिः कृच्छ्रैरिति दर्शितत्वादित्यलं प्रपञ्चेन। प्रकृतमनुसरामः—यस्त्वभ्युदयकामो धर्मार्थकाम्यनियोगनिष्पत्त्यर्थमेतच्चान्द्रायणमनुतिष्ठति न पुनः प्रायश्चित्तार्थमसौ चन्द्रसालोक्यं स्वर्गविशेषं प्राप्नोति। एतच्च संवत्सरावृत्त्यभिप्रायेण। 'एकमाप्त्वा विपापो विपाप्मा सर्वमेनो हन्ति, द्वितीयमाप्त्वा दशपूर्वान्दशापरानात्मानं चैकविंशं पङ्क्तिं च पुनाति, संवत्सरं चाप्त्वा चन्द्रमसः सलोकतामाप्नोती'ति गौतमस्मरणात्॥ ३२६॥

भाषा—जिन पापों के प्रायश्चित्त का विधान नहीं किया गया है उनकी शुद्धि चान्द्रायणव्रत से होती है। जो धर्म के लिये यह व्रत करता है वह चन्द्रलोक को जाता है॥ ३२६॥

कृच्छ्रकृद्धर्मकामस्तु महतीं श्रियमाप्नुयात्।
यथा गुरुक्रतुफलं प्राप्नोति सुसमाहितः[1]॥ ३२७॥

किंच, यस्त्वभ्युदयकामः प्राजापत्यादिकृच्छ्रानतुतिष्ठति स महतीं राज्यादिलक्षणां श्रियं विभूतिमनुभवति। यथा गुरुक्रतूनां राजसूयादीनां कर्ता तत्फलं स्वाराज्यादिलक्षणं महत्फलं लभते, तथायमपि सुसमाहितः सकलाङ्गकलापमविकलमनुतिष्ठन्निति फलमहिमप्रकाशनार्थं क्रतुदृष्टान्तकीर्तनम्। 'सुसमाहित' इत्यनेनाविकलशास्त्रानुष्ठानं वदन्काम्यकर्मतयाङ्गवैकल्ये फलासिद्धिं द्योतयति। अतो नात्र प्रायश्चित्तेष्विव यावत्संभवाङ्गानुष्ठानमङ्गीकरणीयमिति दूरोत्सारितं प्रत्याम्नायोपादानम्। कृच्छ्राद्यनुष्ठानावृत्तौ तु 'अधिकारिणः फलावृत्तिः कर्मण्यारम्भभाव्यत्वादि'ति न्यायलभ्या स्थितैवेति नेदमविवक्षितम्॥ ३२७॥

भाषा—जो धर्म (अभ्युदय) की इच्छा से कृच्छ्र व्रत करता है वह उसी प्रकार अत्यन्त प्रचुर (राज्य आदि) विभूति प्राप्त करता है जिस प्रकार बड़े यज्ञों (राजसूय आदि) का कर्ता उनके फल पाता है॥ ३२७॥

प्रागुदिताखिलार्थोपसंहारव्याजेन धर्मशास्त्रधारणादिविधीन् सार्थवादान् प्रार्थनावरदानरूपेण प्रतिपादयितुमाह—

[2]श्रुत्वैतानृषयो धर्मान्याज्ञवल्क्येन भाषितान्।
इदमूचुर्महात्मानं योगीन्द्रममितौजसम्॥ ३२८॥

---

१. च समाहितः। २. श्रुत्वेमामृषयो।

अत्र हि वर्णाश्रमादिव्यावृत्ता धर्माः षट्प्रकाराः प्रतिपादिताः तानखिलान् योगीश्वरभाषितान् ऋषयः श्रुत्वा प्रहर्षोत्फुल्ललोचनास्तं महिमगुणशालिनमचिन्त्यनीयशक्तिविभवमिदमभिधास्यमानमूचिवांसः ॥ ३२८ ॥

भाषा—ऋषियों ने याज्ञवल्क्य द्वारा बताये गये इन धर्मों को सुनकर महात्मा, योगिराज और अत्यन्त तेजस्वी (याज्ञवल्क्य) से कहाः ॥ ३२८ ॥

य इदं धारयिष्यन्ति धर्मशास्त्रमतन्द्रिताः ।
इह लोके यशः प्राप्य ते यास्यन्ति त्रिविष्टपम् ॥३२९॥
विद्यार्थी प्राप्नुयाद्विद्यां धनकामो धनं तथा ।
आयुष्कामस्तथैवायुः श्रीकामो महतीं श्रियम् ॥ ३३० ॥
श्लोकत्रयमपि ह्यस्माद्यः श्राद्धे श्रावयिष्यति ।
पितॄणां तस्य तृप्तिः स्यादक्षय्या नात्र संशयः ॥३३१॥
ब्राह्मणः पात्रतां याति क्षत्रियो विजयी भवेत् ।
वैश्यश्च[1] धान्यधनवानस्य शास्त्रस्य धारणात् ॥ ३३२ ॥

इत्थमृग्वर्थैः श्लोकैः सामश्रवःप्रभृतयोऽनेकधा प्रार्थयन्ते स्म ॥३२९-३३२॥

भाषा—जो आलस्य का त्याग करके इस धर्मशास्त्र को धारण करते हैं वे इस संसार में यश प्राप्त करके मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग पाते हैं । विद्यार्थी हो तो उसे विद्या मिले, धन की इच्छा रखने वाले को धन मिले, आयु (दीर्घजीवन) की इच्छा वाला दीर्घजीवन और शोभा या सम्पत्ति की इच्छा वाला समृद्धि प्राप्त करे ॥ ३२९-३३० ॥

भाषा—जो श्राद्ध के समय इसके तीन श्लोकों को ही सुनावेगा उसके पितरों को अक्षय-तृप्ति प्राप्त होगी इसमें सन्देह नहीं ॥ ३३१ ॥

भाषा—इस शास्त्र के अध्ययन से ब्राह्मण योग्य होता है, क्षत्रिय विजयी होवे, वैश्य धन-धान्य से समृद्ध होवे ॥ ३३२ ॥

अपरामपि प्रार्थनामाह—

य इदं श्रावयेद्विद्वान्द्विजान्[2]पर्वसु पर्वसु ।
अश्वमेधफलं तस्य उद्भवाननुमन्यताम् ॥ ३३३ ॥

यस्त्विदं धर्मशास्त्रं प्रतिपर्व द्विजान् श्रावयेत् तस्याश्वमेधफलं भवेदिति श्रवणविध्यर्थवादः । तदेतदस्मत्प्रार्थितमर्थं सर्वत्र भवाननुमन्यताम् ॥ ३३३ ॥

---

१. वैश्यस्तु । २. सर्वान् ।

भाषा—जो विद्वान् प्रत्येक पर्व में इसे द्विजो को सुनावे वह अवश्य ही अश्वमेध यज्ञ का फल पावे ऐसी अनुमति भी आप दें ॥ ३३३ ॥

वरदानमाह—

श्रुत्वैतद्याज्ञवल्क्योऽपि प्रीतात्मा मुनिभाषितम् ।
एवमस्त्विति होवाच नमस्कृत्य स्वयंभुवे ॥ ३३४ ॥

एतदृषिभिर्भाषितं श्रुत्वा योगीन्द्रोऽपि स्वनिर्मितधर्मशास्त्रधारणादिफलप्रार्थनोन्मीलितमुखपङ्कजः स्वयंभुवे ब्रह्मणे नमस्कृत्य प्रणम्य 'भवत्प्रार्थितं सकलमित्थं भवतु'इत्येवं किल भगवान्बभाषे ॥ ३३४ ॥

भाषा—मुनियों के इन वचनों को सुनकर प्रसन्नचित्त योगिराज याज्ञवल्क्य ने स्वयंभू ब्रह्मा को नमस्कार करके कहा 'एवमस्तु' (ऐसा ही हो) ॥

इति श्रीभारद्वाजपद्मनाभभट्टोपाध्यायात्मजस्य श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकविज्ञानेश्वरभट्टारकस्य कृतौ ऋजुमिताक्षरायां याज्ञवल्क्यधर्मशास्त्रविवृतौ प्रायश्चित्ताध्यायस्तृतीयः समाप्तः ॥

टिप्पणी (नोट्स)

आचाराध्यायः

वन्दे निर्द्वन्द्वमानन्दममन्दानन्द-मन्दिरम् ।
वन्दारु-वृन्दार-वृन्द-वन्दितं नन्द-नन्दनम् ॥ १ ॥
नमामि विधिवल्लक्ष्मीनाथं धीरं महागुरुम् ।
याज्ञवल्क्यं महर्षि च सज्ज्ञानोद्धूत-कल्मषम् ॥ २ ॥
यद्यप्युच्छिष्टमाचार्यैः न विशिष्टमिदम्भवेत् ।
तथाऽपि शिष्टोपदिष्टं परिशिष्टं प्रकल्पितम् ॥ ३ ॥

श्लो० १—योगीश्वरम्—अत्र कर्मधारयः, षष्ठी-तत्पुरुषे षष्ठ्यर्थ-लक्षणा-प्रसङ्गात्—अपरार्क ।

वर्णाश्रमेतराणाम्—यह तो स्मृति का विषय बतलाया गया है । धर्मान्—यहाँ बहुवचन से नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य का परिग्रह हुआ है ।

श्लो० २—मृगः कृष्णः—कृष्णशब्दो हरिण-वचनः, मृगपदं च तात्पर्य-ग्राहकम्—अपरार्क । कृष्ण-मृग-युक्त देश के विषय में मनु का वचन है:—

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः ।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्ततः परः ॥

श्लो० ४—५—इनके विषय में प्रस्तावना द्रष्टव्य है ।

श्लो० ७—श्रुति तथा स्मृति में परस्पर विरोध होने पर श्रुति प्रबल होती है:—

श्रुति-स्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी । (जाबाल-स्मृति)

जैमिनि का भी यही मत है:—

विरोधे त्वनपेक्षं स्यात् असति ह्यनुमानम् ।

सदाचारः—सदाचार की परिभाषा मनु ने की है:—

यस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः ।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥

विष्णु-पुराण में सदाचार शब्द की व्युत्पत्ति निम्नलिखित रूप में की गई है:—

साधवः क्षीणदोषाः स्युः सच्छब्दः साधुवाचकः ।
तेषामाचरणं यत्स्यात् सदाचारः स उच्यते ॥

स्त्री-शूद्र आदि के वेदाऽविरुद्ध आचार भी सदाचार हैं। अत एव आपस्तम्ब का कथन है:—

स्त्रीभ्यश्चावरवर्णेभ्यो धर्मशेषान् प्रतीयात् इत्येके इत्येके ॥

प्रियमात्मनः—यदि श्रुतिद्वैध हो। अत एव मनु का कथन है:—

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात् तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ ।
उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥

गौतम का भी वचन है:—

तुल्यबल-विरोधे विकल्पः ॥

विकल्प होने पर आत्म-तुष्टि प्रमाण है। यही बात गर्ग के द्वारा भी बतलाई गई है:—

विकल्पे स्वात्म-तुष्टिः-प्रमाणम् ॥

श्लो० ८—आत्मदर्शनम्—इस प्रसङ्ग में स्मृति-मुक्ताफलोक्त बृहस्पति-वचन भी द्रष्टव्य है:—

भोगेष्वसक्तिः सततं तथैवात्मावलोकनम् ।
श्रेयः परं मनुष्याणाम् प्राह पञ्चशिखो मुनिः ॥

श्लो० ९—वीरमित्रोदय में यम का भी कथन है:—

एको द्वौ वा त्रयो वापि यद् ब्रूयुर्धर्मपाठकाः ।
स धर्म इति विज्ञेयो नेतरेषां सहस्रशः ॥

वहीं धर्म-पाठक का लक्षण भी दिया गया है:—

वेदविद्याव्रतस्नातः सत्यसन्धो जितेन्द्रियः ।
अनेकधर्म-शास्त्रज्ञः प्रोच्यते धर्मपाठकः ॥

अध्यात्मवित्तमः = कृतात्मसाक्षात्कारः—ऐसी व्याख्या शूलपाणि ने की है।

श्लो० ११—ऋतुकाल के विषय में बृहस्पति का वचन प्रयोगपारिजात में लिखित है:—

निशाषोडशकं नारी संज्ञितर्तुमती तु सा ।
तावद्योग्या प्रजास्थाने विनाऽऽद्यहंचतुष्टयम् ॥

इसमें भी कुछ विशेषता आचारादर्श में बतलाई गई है:—

ऋतुकालाभिगमनं पुंसा कार्यं विशेषतः ।
सदैव पर्ववर्जं तु स्त्रीणामभिमतं हि तत् ॥

सीमन्त-काल के विषय में वीरमित्रोदय में बृहस्पति का वचन इस प्रकार है:—

रोहिण्यैन्दवमादित्यपुष्यहस्तोत्तरात्रयम् ।
पौष्णं वैष्णवभं चैव सीमन्ते दश संस्मृताः ॥

जातकर्म-समय का निर्देश मनुस्मृति में इस तरह है:—

प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते ।
मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम् ॥

नाभिवर्धन का अर्थ है नाभिच्छेदन ।

श्लो० १२—नामकरण के विषय में मनु का कथन है:—

नामधेयं दशम्यान्तु द्वादश्यां वाऽस्य कारयेत् ।
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥

इस प्रसङ्ग में विशेष बात वीरमित्रोदय में उद्धृत बृहस्पति के वचन में मिलती है :—

दशाहे द्वादशाहे वा जन्मतोऽपि त्रयोदशे ।
षोडशैकोनविंशे वा द्वात्रिंशे वर्णतः क्रमात् ॥

गोभिल ने "जननाद्दशरात्रे व्युष्टे (= व्यतीते) शतरात्रे संवत्सरे वा नामधेयकरणम्" ऐसा कहा है ।

नाम-करण-स्वरूप के विषय में विष्णुपुराण में निम्नलिखित श्लोक हैं :—

शर्मवद् ब्राह्मणस्योक्तं वर्मेति क्षत्रसंयुतम् ।
गुप्तदासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः ॥

स्त्री के नाम के स्वरूप के विषय में विशेष बात मनुस्मृति में है :—

स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम् ।
मङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत् ॥

चतुर्थे मासि निष्क्रमः—"एतच्च छन्दोगव्यतिरिक्तपरम्" ऐसा शूलपाणि का मत है । मनु का विशेष मत इस प्रकार है :—

'यद्वेष्टं मङ्गलं शुभे !' इसीलिए यम ने कहा है :—'ततस्तृतीये कर्त्तव्यं मासि सूर्यस्य दर्शनम् ॥' गोभिल ने तो और भी विशेष बतलाया है :—

'अननाथस्तृतीयो ज्यौत्स्नः तस्य तृतीयायाम् ।' इति ॥

बृहस्पति ने इस विषय में विशेष बात कही है :—

स्वस्तिवाच्य समारूढवाहनं निर्यपेद् गृहात् ।
मातुलो वा वहेत्तत्र निर्वाहनशिशुं स्वयम् ।
शिशुना सह मित्राणि निर्ययुश्च गृहात्स्वयम् ॥

इत्यादि ।

षष्ठेऽन्नप्राशनमिति—लौगाक्षि का मत है :—

'षष्ठे मासेऽन्नप्राशनम् , जातेषु दन्तेषु वा ।'

जातेषु दन्तेषु के द्वारा अष्टम मास अभिप्रेत है, कारण अष्टम मास ही दन्तोत्पत्ति की उचित अन्तिम अवधि है। अत एव संस्कार-कौस्तुभ में बृहस्पति की स्मृति है :—

बालानामष्टमे मासि षष्ठे मासि ततः पुनः ।
दन्ता यस्य न जायन्ते माता वा म्रियते पिता ॥

चूडा कार्येति—इस विषय में मनु का मत निम्नलिखित है :—

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः ।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्त्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥

तत्र तृतीयाब्द एव औत्सर्गिकश्चूडाकरणकालः कुलाचारनियमस्तु तस्यापवादः" यह शूलपाणि का मत है। अत एव आश्वलायन ने भी कहा है :—

'तृतीये वर्षे चौलं, यथा कुलधर्मं वा ।' तृतीय वर्ष में भी लौगाक्षि ने विशेष बतलाया है :—'तृतीये भूयिष्ठे गते चूडा ।' इति ।

यहीं कर्णवेध भी प्रशस्त है। कर्णवेध का काल बृहस्पति ने बतलाया है :—

कार्त्तिके पौषमासे वा चैत्रे वा फाल्गुनेऽपि वा ।
कर्ण-वेधश्प्रशंसन्ति शुक्लपक्षे शुभे दिने ॥
द्वितीया दशमी षष्ठी सप्तमी च त्रयोदशी ।
द्वादशी पञ्चमी शस्ता तृतीया कर्णवेधने ॥

सूची (वेधनी) के विषय में वीरमित्रोदय में बृहस्पति का कथन उद्धृत है :—

सौवर्णी राजपुत्रस्य राजती विप्रवैश्ययोः ।
शूद्रस्य चायसी सूची मध्यमाष्टाङ्गुलात्मिका ॥

आयसी—अर्थात् लोहे की बनी हुई ।

चूडाकरण में प्रतिबन्धक तत्त्व संस्कारमयूख में बताया गया है :—

गर्भे मातुः कुमारस्य न कुर्याच्चौलकर्म तु ।
पञ्चमासादधः कुर्यादत ऊर्ध्वं न कारयेत् ॥

श्लो० १४—'उपनायनमित्यत्र ण्यन्तप्रयोगादुपनयनमन्यद्वारा अपि कर्त्तव्यम्' यह शूलपाणि का मत है ।

बृहस्पति ने विशेषता बतलाई है :—

द्वितीयजन्मनः पूर्वमारभेताक्षरान् सुधीः ।
मौञ्जीबन्धस्ततः पश्चाद्वेदारम्भो विधीयते ॥

इस प्रसङ्ग में गौतम का मत निम्नलिखित है :—

उपनयनं ब्राह्मणस्य अष्टमे नवमे पञ्चमे वा काम्यम् ।

राज्ञाम्—राजन् शब्द क्षत्रिय जाति का वाचक है ।

श्लो० १५—महाव्याहृति के विषय में मनु का कथन है :—

ओङ्कारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः ॥
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥

गौतम तथा हरदत्त के अनुसार—भूः, भुवः, स्वः, पुरुषः तथा सत्यम् ये पांच महाव्याहृतियां हैं । मूल में महाव्याहृति-पद प्रणव का भी उपलक्षण है । अत एव मनु का वचन है :—

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ।
स्रवत्यनोङ्कृतं सर्वं परस्ताच्च विशीर्यति ॥

श्लो० १६—कर्णस्थः = दक्षिण कर्ण पर स्थित । अत एव कहा गया है:—पवित्रं दक्षिणे कर्णे कृत्वा विण्मूत्रमाचरेत् ॥ यह नियम भी एक-वस्त्र-युक्त होने पर पालनीय है । अन्यथा निम्नलिखित यम-वचन के अनुसार कार्य करना चाहिए :—

कृत्वा यज्ञोपवीतन्तु पृष्ठतः कण्ठलम्बितम् ॥

मुख-नियम भी सम्भव होने पर अनुसरणीय है । अन्यथा निम्न-निर्दिष्ट यम-वचन का आदर करना चाहिए:—

छायायामन्धकारे वा रात्रावहनि वा द्विजः ।
यथासुखमुखः कुर्यात् प्राण-बाध-भयेषु च ॥

श्लो० १७—मृद्भिः—संख्या-नियम मनुस्मृति में बतलाया गया है :—

एका लिङ्गे गुदे तिस्रः तथैकत्र करे दश ।
उभयोः सप्त दातव्या मृदः शुद्धिमभीप्सता ॥

एकत्र करे = वाम कर में। किन्तु यदि उपर्युक्त संख्या से शुद्धि नहीं हो सके तो संख्याधिक्य का भी अवलम्बन करना ही चाहिए। यदि तु उक्त संख्या से अल्प-संख्या के द्वारा भी शुद्धि हो जाय तब भी उपर्युक्त संख्या-नियम को अदृष्टार्थ मानना चाहिए।

शौच के विषय में आश्रम का नियम मनु ने बतलाया है :—

एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम्।
त्रिगुणं स्याद्वनस्थानां यतीनान्तु चतुर्गुणम्॥

यह नियम दिवा-शौच-विषयक है। रात्रि-शौच आदि के विषय में दक्ष का कथन निम्नलिखित है :—

यथोदितं दिवाशौचमर्धं रात्रौ विधीयते।
आतुरस्य तदर्धं स्यात् तदर्धन्तु पथि स्मृतम्॥

आतुर पद अत्यातुर का अभिधायक है। अत एव आपस्तम्ब का भी कथन है:—

आर्त्तः कुर्याद् यथाबलम्॥

स्त्री-शूद्र आदि के शौच में संख्या-नियम नहीं है। अत एव देवल का वचन है:—

यावता मन्यते शुद्धिं शौचं कुर्वीत तावता।
प्रमाणं द्रव्य-संख्या च न शिष्टैरुपदिश्यते॥

श्लो० १८—अन्तर्जानु—देवल का मत इस विषय में यह है:—"शिखां बद्ध्वा वसित्वा" इति। ब्राह्मेण—यह प्रधान पक्ष है। मनु ने पक्षान्तर भी बतलाये हैं:—

ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्य-कालमुपस्पृशेत्।
कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदाचन॥

त्रैदशिक = दैव-तीर्थ।

श्लो० २०—खानि = शिरःस्थित इन्द्रियों को। अत एव गौतम का वचन है:—"खानि चोपस्पृशेत् शीर्षण्यानि।" मनु ने कुछ विशेष बतलाया है :—

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विःप्रमृज्यात्ततो मुखम्।
खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च॥

आत्मानम् = हृदय को, क्यों कि श्रुति में हृदय को आत्मा का स्थान बतलाया गया है :—

"हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः।"

श्लो० २५—सन्ध्यामिति—अविद्यमानार्धाधिकमार्त्तण्डमण्डलः स्पष्टलक्ष्य-नक्षत्रगणः कालविशेषः सन्ध्या—वीरमित्रोदय । सन्ध्या का लक्षण योगि-याज्ञ-वल्क्य ने बतलाया है :—

त्रयाणां चैव देवानां ब्रह्मादीनां समागमः ।
सन्धिः सर्वसुराणां च सन्ध्या तेन प्रकीर्तिता ॥

सन्ध्या-फल का निर्देश मनु ने किया है :—

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेन्नैशमेनो व्यपोहति ।
पश्चिमान्तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥

यहां अनध्यायादिप्रतिबन्ध नहीं है । अत एव मनु का कथन है:—

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके ।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥

अग्निकार्यम्—यह उपलक्षण है :—

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधः शय्यां गुरोर्हितम् ।
आसमावर्त्तनात् कुर्यात् कृतोपनयनो द्विजः ॥

अधःशय्याम् = अखट्वाशयनम् , न तु स्थण्डिलशायित्वमेव—कुल्लूक-भट्ट ।

श्लो० २६—अभिवादयेत् इति । अभिवादन का प्रकार मनु ने बतलाया है:—

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः ।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः ॥

अभिवादन-वाक्य-प्रयोग के विषय में मनु का कथन है :—

अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन् ।
असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत् ॥
नामधेयस्य ये के चिदभिवादं न जानते ।
तान्प्राज्ञोऽहमिति ब्रूयात् स्त्रियः सर्वास्तथैव च ॥
भोः शब्दं कीर्त्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोऽभिवादने ।

और प्रत्यभिवादन-प्रकार भी मनु ने ही बतलाया है :—

आयुष्मान् भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने ।
अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः ॥

यहाँ अकार स्वरमात्र का उपलक्षक है, क्यों कि नाम में अकारान्तत्व का नियम नहीं है ।

'गुरुं चैवाप्युपासीत' में उपासन का अर्थ प्रणाम से अतिरिक्त उपासना के लिए है, क्योंकि प्रणाम वृद्ध-प्रणाम-पूर्वक ही मनु के द्वारा बतलाया गया है :—

लौकिकं वैदिकं वाऽपि तथाऽऽध्यात्मिकमेव वा ।
आददीत यतो ज्ञानं तत्पूर्वमभिवादयेत् ॥

श्लो० २९—दण्ड के विषय में मनु का वचन है :—

ब्राह्मणो बैल्व-पालाशौ क्षत्रियो वाट-खादिरौ ।
पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः ॥

दण्ड का प्रमाण भी मनु ने ही बतलाया है :—

केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः ।
ललाट-सम्मितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिको विशः ॥

अजिन के विषय मे बृहस्पति का वचन है :—

कृष्णाजिनम्ब्राह्मणस्य रौरवं क्षत्रियस्य तु ।
बस्ताजिनन्तु वैश्यस्य सर्वेषां वा गवाजिनम् ॥

बस्ताजिनम् = छाग-चर्म । यम के अनुसार "सर्वेषां रौरवाजिनम्" का सिद्धान्त है । परन्तु दोनों ही मत तत्तत् अजिन के अभाव में ग्राह्य हैं ।

उपवीत के विषय में मनु का मत निम्नलिखित है :—

कार्पासमुपवीतं स्यात् विप्रस्योर्ध्व-वृतं त्रिवृत् ।
शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसूत्रजम् ॥

त्रिवृत् = तीन गुण करके । ऊर्ध्ववृतम् = दक्षिणावर्तित । यहाँ छन्दोग-परिशिष्ट में निम्नलिखित विशेष है :—

ऊर्ध्वन्तु त्रिवृतं कार्यं तन्तुत्रयमधोवृतम् ।
त्रिवृतं चोपवीतं स्यात् तत्रैको ग्रन्थिरिष्यते ॥

अधोवृतम् = वामावर्त्तित । एवञ्च तीन सूत्रों को वामावर्तित करने के पश्चात् पुनः तीन बार दक्षिणावर्तित करने पर सङ्कलन में नौ सूत्र हो जाते हैं । उसके प्रत्येक त्रिक में एक ग्रन्थि होनी चाहिए ।

मेखलाम्—इस विषय में मनु का वचन निम्न-निर्दिष्ट है :—

मौञ्जी त्रिवृत् समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला ।
क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शण-तान्तवी ॥

मूर्वा = एक प्रकार की लता । ज्या-पद के निर्देश से क्षत्रिय की मेखला में त्रिवृत्त्व का सम्बन्ध नहीं होता है, क्योंकि वैसा होने पर ज्यात्व का ही

अपहार हो जायगा—ऐसा मेधातिथि तथा गोविन्दराज का मत है। अनुकल्प का भी निर्देश मनु ने किया है :—

मुञ्जालाभे तु कर्त्तव्या कुशाऽश्मन्तक-बल्वजैः।
त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा॥

अश्मन्तक = कुश सदृश तृणविशेष। बल्वज = 'सावय'। मेखला आदि के नष्ट होने पर क्या करना चाहिए इसका नियम मनु ने ही बतलाया है :—

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम्।
अप्सु प्राश्य विनष्टानि गृह्णीतान्यानि मन्त्रवत्॥

ब्राह्मणेषु चरेद् भैक्षम्—यह मनूक्त का उपलक्षण है :—

मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम्।
भिक्षेत भिक्षाम्प्रथमं या चैनं नावमानयेत्॥

पूर्व-पूर्व के अभाव में उत्तरोत्तर पक्ष ग्राह्य है।

श्लो० ३१—

सत्कृत्यान्नम्—अत एव आदित्य-पुराण में कहा गया है :—

अन्नं दृष्ट्वा प्रणम्यादौ प्राञ्जलिः कथयेत्ततः॥
अस्माकं नित्यमस्त्वेतदिति भक्त्या स्तुवन्नमेत्॥

मनु ने भी कहा है :—

पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति।
अपूजितं तु तद्भुक्तमुभयं नाशयेदिदम्॥

श्लो० ३६—मनु का मत कुछ भिन्न है :—

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्।
तदर्धिकं पादिकं वाऽपि ग्रहणान्तिकमेव वा॥

प्रतिवेद बारह-बारह वर्ष, अथवा छः-छः वर्ष, अथवा, तीन-तीन वर्ष किम्वा अध्ययन-समाप्ति-पर्यंन्त॥

श्लो० ३६—केशान्तश्चैव षोडशे—यहाँ वर्ष की गणना गर्भ-वर्ष से ही करनी चाहिए ऐसा बौधायन ने कहा है :—

"स गर्भषोडशे वर्षे कर्त्तव्यः साग्निकेन, गर्भादिः संख्या वर्षाणाम्"

श्लो० ३७-३८—उपनयन की चरमावधि के विषय में मनु का भी यही मत है—

आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।
आद्वाविंशात् क्षत्र-बन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः॥

यद्यपि पैठीनसि का मत है—"द्वादश षोडश विंशतिश्चेत्यतीताः विरुद्धकाला भवन्ति" तथापि यह वचन इस तथ्य का प्रतिपादन करता है कि बारहवें वर्ष के बीत जाने पर अनुपनीत ब्राह्मण, सोलहवें वर्ष के समाप्त हो जाने पर अनुपनीत क्षत्रिय तथा बीसवें वर्ष के अतिक्रान्त हो जाने पर अनुपनीत वैश्य कुछ पाप का भागी हो जाता है—यह वीरमित्रोदयकार का मत है। याज्ञवल्क्य ने अन्तिम अवधि का निर्देश किया है, अतः उपर्युक्त पैठीनसि से कोई विरोध नहीं पड़ता है।

व्रात्यों की निन्दा मनु के द्वारा निम्न-लिखित श्लोक में की गई है—

नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित्।
ब्राह्मान् यौनांश्च सम्बन्धानाचरेद् ब्राह्मणः सह॥

यहाँ ब्राह्मणपद द्विजातिमात्र का उपलक्षक है।

श्लो० ३९—मौञ्जी-बन्धन रूप द्वितीय जन्म के विषय में मनु का कथन है :—

तत्र यद्ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जी-बन्धनचिह्नितम्।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते॥

मनु ने द्वितीय जन्म के अतिरिक्ति तृतीय जन्म का भी निर्देश किया है—'तृतीयं यज्ञ-दीक्षायाम्'। यहाँ यज्ञदीक्षा का अर्थ ज्योतिष्टोमादि-यज्ञ-दीक्षा है। इस तृतीय जन्म के विषय में कुल्लूकभट्ट की व्याख्या है—प्रथम-द्वितीय-तृतीयजन्मकथनञ्चेदं द्वितीयजन्म-स्तुत्यर्थम्, द्विजस्यैव यज्ञ-दीक्षाया-मधिकारात्।

श्लो० ४४—अथर्वाङ्गिरसः—इसकी व्याख्या शूलपाणि ने निम्न-लिखित शब्दों में की है :—"अङ्गिरसा पृथक्कृतं सामवेदैकदेशम् अभिचार-प्रधानकम्"।

श्लो० ४५—नाराशंसी :—इसका अर्थ शूलपाणि ने "नारायणस्तुति-प्रकाशक ऋक्" किया है। "इदं जरा उपस्कृता" इत्यादि तीन ऋक् जो ऋग्वेद के खिल भाग में निर्दिष्ट हैं, नाराशंसी कहलाते हैं—ऐसा वीर-मित्रोदय का मत है। विद्या शब्द का अर्थ शूलपाणि के अनुसार, उपनिषद् है।

श्लो० ४६—पत्न्याम् का अर्थ सवर्ण-पत्नी है, ऐसा शूलपाणि तथा वीरमित्रोदय-कार का कथन है। वैश्वानरेपि वा—अग्निशुश्रूषा का निरूपण बालम्भट्टी मे निम्नलिखित हारीत, शंख-लिखित तथा यम के वचन के अनुसार किया गया है :—

"यज्ञियाः समिध आहृत्य सम्मार्जनोपलेपनोद्बोधनसमूहनेन्धनपर्यग्निकरणपरिक्रमणोपस्थानहोमस्तोत्रनमस्कारादिभिरग्निं परिचरेन्नाग्निमधितिष्ठेन्न पद्भ्यां कर्षेन्न मुखेनोपधमेत् नापश्च अग्निं च युगपद् धारयेत् नाजीर्णभुक्तो नोच्छिष्टो वा अभ्यादध्याद्विविधैर्विविशेषैर्यज्ञियैः अहरहरग्निमिन्धेदामन्त्र्य गच्छेत् आगत्य निवेदयेत् तन्मनाः शरीरोपरमान्ते ब्रह्मणः सायुज्यं गच्छति" ।

श्लो० ५०—इस कथन से यह सङ्केत किया जाता है कि चातुराश्रम्य का विधान नित्य नहीं है अपितु ऐच्छिक । तात्पर्य यह है कि चातुराश्रम्य में व्यतिक्रम की सम्भावना नहीं है अतिक्रम तो सर्वथा सम्भव है ।

श्लो० ५१—वर शब्द का अर्थ गुरु का अभिमत पदार्थ ही है । अतएव मनु का भी कथन है :—

क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम् ।
धान्यं शाकं च वासांसि गुरवे प्रीतिमावहेत् ॥

यह उपलक्षण-मात्र है, यथासम्भव अन्यान्य पदार्थ का भी समर्पण करना चाहिए । यही बात लघुहारीत के वचन में भी कही गई है :—

एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये निवेदयेत् ।
पृथिव्यां नास्ति तद्द्रव्यं यद्दत्वा चानृणी भवेत् ॥

इससे स्पष्ट है कि केवल गुरु-प्रसन्नता ही गुरु-दक्षिणा है । यहाँ वेदाध्ययन का तात्पर्य अर्थज्ञान-पूर्वक वेदाध्ययन से है । अतएव कूर्म-पुराण में कहा गया है :—

वेदं वेदौ तथा वेदान् वेदान् वा चतुरो द्विजः ।
अधीत्य चाधिगम्यार्थं ततः स्नायाद्यथाविधि ॥

अतएव प्रकृत याज्ञवल्क्य-श्लोक में 'वेदम्' इस एकवचन को भी जातिविवक्षा से ही उपयुक्त मानना चाहिए ।

व्रतानि—इस प्रसङ्ग में बालम्भट्टी का परिष्कार निम्नलिखित है :—

"व्रतपक्षेपि आरण्यकमधीत्यैव तत् ।
वेदं व्रतानि वा पारं नीत्वा ह्युभयमेव वा ।
व्रतपक्षेऽपि शब्दार्थमारण्याध्ययने कृते ॥

इति कारिकोक्तेः । शब्दार्थमक्षरग्रहणार्थम् न त्वर्थज्ञानाऽपेक्षाऽपि, अनुष्ठानानुपयोगात् । विरक्त्युत्तरकालं साधनचतुष्टयसम्पन्नं प्रत्युत्तरमीमांसाप्रवृत्तेः । प्रागुक्तकौर्मन्तु कर्मकाण्डार्थज्ञानपरमिति भावः ।"

श्लो० ५२—लक्षण्याम्—बाह्य लक्षण के विषय में मनु का कथन है :—

अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम् ॥

आभ्यन्तर लक्षणों का वर्णन आश्वलायन ने इस प्रकार किया है :—

दुर्विज्ञेयानि लक्षणान्यष्टौ पिण्डान् कृत्वा 'ऋतमग्रे प्रथमं जज्ञे ऋते सत्यम्प्रतिष्ठितं यदियं कुमार्यभिजाता तदियमिह प्रतिपद्यतां यत्सत्यं तद् दृश्यताम्' इति पिण्डानभिमन्त्र्य कुमारीं ब्रूयादेषामेकं गृहाणेति। क्षेत्राच्चेदुभयतः सस्याद्-गृह्णीयात् अन्नवत्यस्याः प्रजा भविष्यति इति विद्यात्, गोष्ठात् पशुमती, वेदि-पुरीषात् ब्रह्मवर्चस्विनी, अविदासिनो ह्रदात् सर्वसम्पन्ना, देवनात् कितविनी, ईरिणादधन्या, श्मशानात् पतिघ्नी'' (आ० गृ० सू० १।५।४-६)

उभयतः सस्य क्षेत्र आदि वाक्योक्त आठ स्थानों से मिट्टी लेकर आठ ही पिण्ड बनाना चाहिए। उन पिण्डों को 'ऋतमग्रे प्रथमम्' आदि मन्त्र से अभिमन्त्रित कर कन्या को यथेच्छ किसी पिण्ड का स्पर्श करने के लिए कहना चाहिए। प्रत्येक पिण्ड के स्पर्श का फल उपर्युक्त समझना चाहिए। उभयतः सस्य क्षेत्र का अर्थ है जिस क्षेत्र में वर्ष में दो बार उपज होती है। वेदिपुरीषम् = अपकर्म में बनाई हुई वेदी। अविदासी ह्रद = सर्वदा जलयुक्त ह्रद; देवन = जुआ खेलने का स्थान; द्विप्रव्राजिनी = अनेक पुरुष से सम्पर्क करने वाली; ईरिण = जहाँ बीज में अङ्कुर न होता हो ऐसी नमकीन भूमि।

यह परीक्षा कुल—परीक्षा के बाद करनी चाहिए। कुल-परीक्षा के विषय में मनु का कथन है :—

महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाविधनधान्यतः ।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥
हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् ।
क्षयामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ॥

हीनक्रिय = जातकर्मादि संस्कारशून्य; निष्पुरुष = पुरुषहीन, स्त्रीमात्रावशेष; निश्छन्दः = वेदाध्ययनशून्य; रोमश = दीर्घरोम सम्पन्न; अर्शस = 'अर्श' रोगग्रस्त; क्षय = राजयक्ष्मा; आमयावि = मन्दाग्निरोग; अपस्मार = रोग विशेष (Epilepsy); श्वित्र = श्वेत-कुष्ठ।

स्वयं याज्ञवल्क्य भी इसका वर्णन आगे—"स्फीतादपि न सञ्चारि-रोग-दोषसमन्वितात्" (श्लो० ५४) में करेंगे।

श्लो० ५३—अरोगिणीम्—यह मनूक्त दोषों का उपलक्षण है। मनुस्मृति में निम्नलिखित प्रकार की कन्या त्याज्य मानी गई है :—

नोद्वहेत् कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम् ।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचालां न पिङ्गलाम् ॥
नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् ।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥

एष च प्रतिषेधः न भार्यात्वाभावफलकः किन्तु शास्त्रातिक्रमात्प्रायश्चित्त-मात्रम्—ऐसा कुल्लूक भट्ट का मत है । भ्रातृमतीम्—इसकी व्याख्या मनुस्मृति में ही मिलती है:—

यस्यास्तु न भवेद्भ्राता न विज्ञायेत वा पिता ।
नोपयच्छेत तांप्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया ॥

वह कन्या जिसके भावी पुत्र को उस कन्या का पिता स्व-पुत्राभाव होने के कारण अपने श्राद्धाधिकारी के रूप में मनोनीत कर लेता है—पुत्रिका कहलाती है:—

अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम् ।
यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरम् ॥

असमानार्षगोत्रजाम्—यहां कुछ विशेष विवरण शूलपाणि ने दिया है—

पितुः पितुः स्वसुः पुत्राः पितुर्मातुः स्वसुः सुताः ।
पितुर्मातुलपुत्राश्च विज्ञेयाः पितृबान्धवाः ॥
मातुः मातुः स्वसुः पुत्रा मातु र्मातुः स्वसुः (पितृष्वसुः) सुताः ॥
मातुर्मातुल-पुत्राश्च विज्ञेया मातृ-बान्धवाः ।

श्लो० ५५—परीक्षितः पुंस्त्वे – इस विषय में शूलपाणि ने देवल के दो वचन उद्धृत किए हैं :—

रेतोऽस्य प्लवते नाप्सु ह्लादि मूत्रं च फेनिलम् ।
पुमान् स्याल्लक्षणैरेतैर्विपरीतं नपुंसकम् ॥
न मूत्रं फेनिलं यस्य विष्ठा चाप्सु निमज्जति ।
मेढ्रश्चोन्मादशुक्राभ्यां हीनः क्लीबः स उच्यते ॥

परन्तु प्रथम श्लोक के प्रथम पाद में जो वर्णन है वह निम्नलिखित नारद-वचन से विपरीत है—

"यस्याप्सु प्लवते वीर्यं ह्लादि मूत्रं च फेनिलम् ।
पुमान् स्याल्लक्षणैरेतै विपरीतस्तु षण्ढकः ॥

श्लो० ५८—एकविंशतिम्—इस प्रसङ्ग में मनु का वचन यह है :—

दश पूर्वान्परान् वंश्यानात्मानं चैकविंशतिम् ॥

ब्राह्मविवाह का परिष्कृत लक्षण वीरमित्रोदय में इस प्रकार दिया गया है—
"निरुपाधिककन्यादानपूर्वकः सवर्णापरिणयो ब्राह्मो विवाहः। उपाधयश्च ऋत्विक्त्वद्रव्यग्रहणसमयबन्धादयः"।

श्लो० ५९—ऋत्विजे—दक्षिणासु दीयमानासु कन्यादानम्—ऐसा शूलपाणि का परिष्कार है। गोद्वयम्—यह उपलक्षण है। अत एव मनु ने कहा है:—

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते॥

श्लो० ६०—धर्ममिति—अत्र धर्मशब्दः अर्थकामयोरप्युपलक्षणम् स्मृत्यन्तरानुरोधात्—यह बालम्भट्टीकार का मत है।

श्लो० ६१—युद्धहरणात्—अत एव मनु का कथन है—

हत्वा छित्वा च भित्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात्।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते॥

कन्यकाच्छलात्—इसका स्पष्टीकरण मनु में हुआ है:—

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥

इन अष्टविध विवाहों के विषय में जात्यनुकूल व्यवस्था का निर्देश मनु ने इस प्रकार किया है:—

षडानुपूर्व्या विप्रस्य क्षत्रस्य चतुरोऽवरान्।
विट्शूद्रयोस्तु तानेव विद्याद्धर्म्यानराक्षसान्॥

ब्राह्मण के लिए ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर एवं गान्धर्व; क्षत्रिय के लिए, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच; वैश्य एवं शूद्र के लिए आसुर, गान्धर्व और पैशाच विवाह धर्म्य हैं। विशेष विवरण के लिए निम्न-लिखित मनु-वचन द्रष्टव्य है:—

चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान् प्रशस्तान् कवयो विदुः।
राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः॥ इत्यादि॥

श्लो० ६२—क्षत्रिया शरम् = ब्राह्मणवरहस्तधृत शर। प्रतोद = वरहस्तस्थ यष्टि। शूद्रा के विषय में मनु का कथन है—

वसनस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोत्कृष्ट-वेदने॥

किन्तु स्वयं याज्ञवल्क्य ने शूद्रा के विषय में कुछ नहीं कहा है, कारण शूद्रा-ग्रहण ब्राह्मण के लिए याज्ञवल्क्य का कथमपि सम्मत नहीं है—

यदुच्यते द्विजातीनां शूद्राद्दारोपसंग्रहः।
नैतन्मम मतं यस्मात्तत्रायं जायते स्वयम्॥ या० स्मृ० १।५६॥

श्लो० ६४—कन्या कुर्यात् स्वयम्वरम्—यह अधिकार तीन ऋतुकाल के अतिक्रमण के बाद ही होता, ऐसा विष्णु का कथन है—

ऋतुत्रयमतीत्यैव कन्या कुर्यात् स्वयंवरम् ।
ऋतुत्रये व्यतीते तु प्रभुः कन्या स्वयंवरे ॥

परन्तु यदि पिता आदि के जीवित रहने पर भी कन्या का अभिभावक प्रमादादि के कारण उचित समय पर कन्यादान नहीं करे, वैसी स्थिति में बौधायन का सिद्धान्त निम्न-लिखित है—

त्रीणि वर्षाण्यृतुमती कांक्षेत पितृशासनम् ।
ततश्चतुर्थे वर्षे तु विन्देत सदृशं पतिम् ॥
अविद्यमाने सदृशे गुणहीनमपि श्रयेत् ॥

इस प्रसङ्ग में नारद का निम्न-निर्दिष्ट वचन भी ध्येय है—

यदा तु नैव कश्चित् स्यात् कन्या राजानमाव्रजेत् ।
अनुज्ञया वरं तस्य परीक्ष्य वरयेत् स्वयम् ॥

श्लो० ६५—सकृत्प्रदीयते कन्या—यही मनु का भी मत है—

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते ।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत् ॥

श्लो० ६६—यदि वर भी अपना दोष पहले स्पष्ट नहीं कर देता है तो उसे भी दण्ड मिलना चाहिए। वर-दण्ड की व्यवस्था नारद के अनुसार निम्न-लिखित है—

गूहयित्वाऽऽत्मनो दोषान् विन्दन्नत्ययमर्हति ।
वरस्य दत्त-नाशश्च भवेत् स्त्री च निवर्त्तते ॥

अत्यय = दण्ड । कहीं-कहीं द्वितीय पाद में "विन्दते द्विगुणो दमः" पाठान्तर है ।

श्लो० ६८-६९—यहाँ मनुस्मृति में विधवा के लिए विशेष बतलाया गया है—

विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि ।
एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन ॥

श्लो० ७०—याज्ञवल्क्य का यह कथन सवर्ण-व्यभिचारिणी के लिए है। हीनवर्ण-व्यभिचारिणी के लिए बृहस्पति ने निम्नलिखित व्यवस्था की है—

हीनवर्णोपभुक्ता या त्याज्या वध्या च सा भवेत् ॥

श्लो० ७१—इस प्रसङ्ग में बृहस्पति का वचन अवधेय है—

रोमोद्भवे शशी भुङ्क्ते गन्धर्वः कुचदर्शने ।
अनलस्तु रजोयोगे स्त्रियो भुङ्क्ते तु नान्यथा ॥

श्लो० ७३—यहाँ द्वितीय विवाह की अवधि का निरूपण मनु ने इस प्रकार किया है—

वन्ध्याऽष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृत-प्रजा ।
एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी ॥

अप्रियवादिनी के साथ अपुत्रा का अध्याहार करना आवश्यक है ।

श्लो० ७९—युग्मासु संविशेत्—युग्मरात्रिगमन से पुत्र होता है—ऐसा मनु का कथन है :—

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ।
तस्माद् युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्त्तवे स्त्रियम् ॥

आद्याश्चतस्रस्तु वर्जयेत्—यद्यपि शंख ने पति के लिए चतुर्थ दिन में ही पत्नी की शुद्धि मानी है—

शुद्धा भर्तुश्चतुर्थेऽह्नि अशुद्धा दैवपित्र्ययोः ।

तथापि यह शुद्धि सेवा के लिए न कि सम्भोग के लिए भी । अतएव मनु का भी कथन है—

"तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दिताः" ।

श्लो० ८९—यह नियम सवर्णा स्त्री के विषय में है । अत एव मनु का कथन है—

एवं वृत्तां सवर्णां स्त्रीं द्विजातिः पूर्वमारिणीम् ।
दाहयेदग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैश्च धर्मवित् ।

अत एव निम्नलिखित वचन को असवर्णा स्त्री के विषय में समझना चाहिए—

यो दहेदग्निहोत्रेण स्वेन भार्यां कथञ्चन ।
स स्त्री सम्पद्यते तेन भार्या चास्य पुमान् भवेत् ॥

श्लो० ९१—पारशवोऽपि वा—पारशव की व्युत्पत्ति मनु ने निम्न-निर्दिष्ट पद्य में की है—

यं ब्राह्मणस्तु शूद्रायां कामादुत्पादयेत् सुतम् ।
स पारयन्नेव शवस्तस्मात् पारशवः स्मृतः ॥

धारयन् = जीवन् । यद्यप्ययं पितृपकारार्थं श्राद्धादि करोत्येव तथाप्य-सम्पूर्णोपकारकत्वात् 'शव' व्यपदेशः—कुल्लूक भट्ट ।

इन सबों की जीविका का निर्देश मनु ने दशवें अध्याय में विशदरूप में किया है ।

श्लो० ९५—रथकारः प्रजायते—बौधायन के कथनानुसार वैश्य से शूद्रा में उत्पन्न सुत रथकार कहलाता है—"वैश्याच्छूद्रायां रथकारः" । अतः रथ-कार शब्द को अनेकार्थक मानना चाहिए—ऐसा शूलपाणि का मत है ।

श्लो० ९८—इस कार्य के समय के विषय में दक्ष का कथन है—

उषः काले तु सम्प्राप्ते शौचं कृत्वा यथार्थवत्
ततः स्नानं प्रकुर्वीत दन्तधावन-पूर्वकम् ।

श्लो० १०१—विद्यां चाध्यात्मिकीम् = उपनिषदम् ।

श्लो० १०२—पञ्चमहायज्ञ के अनुष्ठान का फल भी मनु ने बत-लाया है—

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ॥
तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः ।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥

यहाँ कुल्लूकभट्ट की टिप्पणी है—प्रत्यहमित्यभिधानात् प्रतिदिनं तत्पा-पक्षयस्यापेक्षितत्वात् सन्ध्यावन्दनादिवन्नित्यत्वमपि न विरुध्यते ।

पञ्च महायज्ञों के नामान्तर भी मनुस्मृति में दिये गये हैं—

अहुतं च हुतं चैव तथा प्रहुतमेव च ।
ब्राह्म्यं हुतं प्राशितं च पञ्चयज्ञान् प्रचक्षते ॥
जपोऽहुतो हुतो होमः प्रहुतो भौतिको बलिः ।
ब्राह्म्यं हुतं द्विजाग्र्यार्चा प्राशितं पितृतर्पणम् ॥

श्लो० १०५—सम्भोज्य—इससे बाल आदि का भोजन अतिथि से पूर्व ही कराना चाहिए—ऐसा सिद्ध होता है । अत एव मनु ने कहा है :—

सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणो गर्भिणीः स्त्रियः ।
अतिथिभ्योऽग्र एवैतान् भोजयेदविचारयन् ॥

श्लो० १०६—उपरिष्टात् = पूर्वम् , अधस्तात् = पश्चात् ।

श्लो० १०७—अतिथि की परिभाषा मनु ने की है—

एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः ।
अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥

सायमपि—अतिथि को सायंकाल में भोजन नहीं देने पर पाप का निदर्शन विष्णुपुराण में किया गया है—

दिवाऽतिथौ तु विमुखे गते यत्पातकं नृप।
तदेवाष्ट-गुणं प्रोक्तं सूर्योढे विमुखे गते॥

यदि ब्राह्मण के गृह में क्षत्रिय आदि उपस्थित हों तो उनके विषय में मनु के निम्नलिखित वचन ध्येय हैं :—

न ब्राह्मणस्य त्वतिथिर्गृहे राजन्य उच्यते।
वैश्यशूद्रौ सखा चैव ज्ञातयो गुरुरेव च॥
यदि त्वतिथिधर्मेण क्षत्रियो गृहमाव्रजेत्।
भुक्तवत्सु च विप्रेषु कामं तमपि भोजयेत्॥
वैश्यशूद्रावपि प्राप्तौ कुटुम्बेऽतिथिधर्मिणौ।
भोजयेत्सह भृत्यैस्तावानृशंस्यं प्रयोजयन्॥
इतरानपि सख्यादीन् सम्प्रीत्या गृहमागतान्।
प्रकृत्यान्नं यथाशक्ति भोजयेत्सह भार्यया॥

श्लो० ११०—अर्घ्यः—अर्घ्यपद मधुपर्क का उपलक्षक है। अत एव मनु का कथन है—

राजर्त्विक्-स्नातक-गुरून् प्रियश्वशुरमातुलान्।
अर्हयेन्मधुपर्केण परिसम्वत्सरात्पुनः॥

परिसम्वत्सरात् = सम्वत्सर बीतने के बाद। ऋत्विजः—यह पद पूज्यमात्र का उपलक्षण है। एवञ्च तात्पर्य यह है कि एक वर्ष के बीतने के बाद स्नातक आदि का मधुपर्क से पूजन करना चाहिये। यदि सम्वत्सर-मध्य में ही यज्ञ उपस्थित हो तो सम्वत्सर-मध्य में भी वे सम्मानार्ह हैं। परन्तु यदि सम्वत्सर के बीच कोई यज्ञ नहीं उपस्थित हो तो सम्वत्सर के बीत जाने के बाद यज्ञ उपस्थित हो या नहीं हो, उनका सम्मान अवश्य हीं करना चाहिये। यहाँ मनु ने राजा तथा स्नातक के पूजन में विशेष बतलाया है कि यदि सम्वत्सर-मध्य में यज्ञ की उपस्थिति नहीं होती है, तो सम्वत्सर के बीत जाने पर भी राजा तथा स्नातक की पूजा यज्ञ में ही करनी चाहिए न कि केवल सम्वत्सर के अतिक्रमण से ही—

राजा च श्रोत्रियश्चैव यज्ञकर्मण्युपस्थितौ।
मधुपर्केण सम्पूज्यौ न त्वयज्ञ इति स्थितिः॥

अतः राजा तथा स्नातक का यज्ञ में और शेष का सम्वत्सर-मध्य में यज्ञ-काल में, सम्वत्सर के बीतने पर यज्ञाऽयज्ञ-साधारण पूजन करना चाहिए।

श्लो० ११२—अति-भोजनम्—अत एव मनु ने कहा है—

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चाति-भोजनम् ।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात् तत्परिवर्जयेत् ॥

श्लो० ११३—आसीमान्तम्—यहाँ अपरार्घव्याख्या में तीन प्रकार की सीमा बतलाई गई है—सीमा त्रिविधा—वास्तु-सीमा, ग्राम-सीमा, क्षेत्र-सीमा च; सा चानुव्रजनीयगुणापेक्षया व्यवस्थापनीया ।

श्लो० ११६—वार्धके—मनु का कथन है—शूद्रोपि दशमीं गतः । ९० वर्ष की अवस्था के बाद शूद्र भी प्रतिष्ठित होता है। परन्तु गौतम ने ८० वर्ष को ही परमावधि मानी है ।

श्लो० १२७—कुशूलेति—द्वादशदिनोचित-धान्याधारा कोष्ठी कुसूलः, षड्दिनोचित-धान्याधारा कुम्भी—शूलपाणिः ।

श्लो० १२९—प्रेतधूमम्—बालम्भट्टीकार ने प्रेतधूम का अर्थ बालातप किया है । इन्होंने अपने मत के समर्थन में निम्न लिखित मनु के वचन को ध्यान में रक्खा था—ऐसा प्रतीत होता है—

बालातपः प्रेतधूमो वर्ज्यं भिन्नं तथाऽऽसनम् ।

परन्तु यहाँ बालातप एवम् प्रेतधूम मे उद्देश्य-विधेय-भाव की कल्पना करना भ्रममूलक है । यहाँ तो बालातप एवं प्रेतधूम दोनो हीं स्वतन्त्र पदार्थ हैं जिनको मनु ने वर्ज्य माना है। अतः प्रेतधूम का अर्थ दह्यमान-शव-धूम हीं करना चाहिए ।

श्लो० १४०—न राज्ञः प्रतिगृह्णीयात्—इस प्रसङ्ग में मनु के निम्न-लिखित वचनों को देखना चाहिए—

यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्योच्छास्त्रवर्तिनः ।
स पर्यायेण यातीमान् नरकानेक-विंशतिम् ॥
तामिस्रमन्धतामिस्रं महारौरवरौरवौ ।
नरकं कालसूत्रं च महानरकमेव च ॥
सञ्जीवनं महावीचिं तपनं सम्प्रतापनम् ।
संघातं च सकाकोलं कुड्मलं प्रतिमूर्तकम् ॥
लोहशङ्कुमृजीषं च पन्थानं शाल्मलिंनदीम् ।
असिपत्रवनं चैव लोहदारकमेव च ॥
एतद्विदन्तो विद्वांसो ब्राह्मणा ब्रह्मवादिन; ।
न राज्ञः प्रतिगृह्णन्ति प्रेत्य श्रेयोऽभिकांक्षिणः ॥

श्लो० १४१—इस प्रसङ्ग में मनु का कथन अधिक स्पष्ट है :—

न राज्ञः प्रतिगृह्णीयात् अराजन्यप्रसूतितः ।
सूनाचक्रध्वजवतां वेशेनैव च जीवताम् ॥
दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः ।
दशध्वजसमो वेशो दशवेशसमो नृपः ॥
दशसूनासहस्राणि यो वाहयति सौनिकः ।
तेन तुल्यः स्मृतो राजा घोरस्तस्य प्रतिग्रहः ॥

श्लो० १४६—अमावास्या आदि में अध्ययन के दुष्परिणाम का वर्णन मनुस्मृति में इस प्रकार किया गया है :

अमावास्या गुरुं हन्ति शिष्यं हन्ति चतुर्दशी ।
ब्रह्माष्टकापौर्णमास्यौ तस्मात्ताः परिवर्जयेत् ॥

ब्रह्म = वेद को ।

श्लो० १५४—आचारमाचरेत्—इस प्रसङ्ग में मनु के वचन को ध्यान में रखना चाहिए—

आचाराल्लभतेह्यायुः आचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥
दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥
सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥

श्लो० १५५—पुत्रं शिष्यं च ताडयेत्—यह ताडन केवल अनुशासन के लिए करना चाहिए । अत एव मनु ने कहा है:—

शिष्ट्यर्थं ताडयेत्तु तौ ॥

ब्राह्मण की निन्दा का फल मनुस्मृति में बतलाया गया है—

ब्राह्मणायावगूर्यैव द्विजातिर्वधकाम्यया ।
शतं वर्षाणि तामिस्रे नरके परिवर्त्तते ॥
ताडयित्वा तृणेनापि संरम्भान्मतिपूर्वकम् ।
एकविंशतिमाजातीः पापयोनिषु जायते ॥ इत्यादि ।

श्लो० १५७-५८—इन लोगों से विवाद नहीं करने पर इन लोगों के अधीनस्थ लोकों पर विजय मिलती है । इन लोगों के वशीभूत लोकों का विवरण मनु मे निम्नलिखित प्रकार से पाया जाता है:—

आचार्यो ब्रह्मलोकेशः प्राजापत्ये पिता प्रभुः ।

अतिथिस्त्विन्द्रलोकेशो देवलोकस्य चर्त्विजः ॥
जामयोऽप्सरसां लोके वैश्वदेवस्य बान्धवाः ।
सम्बन्धिनो ह्यपां लोके पृथिव्यां मातृमातुलौ ॥
आकाशेशास्तुविज्ञेयाः बालवृद्धकृशातुराः ।
भ्राता ज्येष्ठः समः पित्रा भार्या पुत्रः स्वका तनुः ॥
छाया स्वो दासवर्गश्च दुहिता कृपणं परम् ।
तस्मादेतैरधिक्षिप्तः सहेताऽसञ्ज्वरः सदा ॥

जामयः = विद्यमानभर्तृकाः भगिनीस्नुषाद्याः; बान्धवाः = पितृमातृपक्षवाः जनाः; सम्बन्धिनः = जामातृश्यालकादयः; कृशः = कृशधनः; संश्रितः = आश्रितः इत्यर्थः ।

श्लो० १५९—मुनि ने परकीय जलाशय आदि में स्नान का प्रतिषेध किया है—

परकीय-निपानेषु न स्नायाच्च कदाचन ।
निपान-कर्तुः स्नात्वा तु दुष्कृतांशेन लिप्यते ॥

अंशेन = चतुर्थांशेन । इसका प्रायश्चित्त भी व्यासने बतलाया है—

अन्त्यजैः खानिताः कूपाः तडागा वाप्य एव च ।
एषु स्नात्वा च पीत्वा च प्राजापत्येन शुध्यति ॥

इसी में विशेष व्यवस्था बतलाने के लिए याज्ञवल्क्य ने—पञ्च पिण्डान-नुद्धृत्य न स्नायात् पर वारिणि—कहा है । इसका तात्पर्य यह है कि यदि स्नानार्थ अकृत्रिम नदी आदि की उपलब्धि नहीं होती हो तो परकीय निपान में भी पाँच पिण्ड का उद्धरण कर स्नान करना चाहिए । अत एव विष्णु का वचन है—"पर-निपानेषु न स्नानमाचरेत् आचरेद्वा पञ्च पिण्डानुद्धृत्य आपदि" इति । सर्वार्थमुत्सृष्टेषु परकीयत्वाभावादनुद्धरणेऽपि न दोषः—ऐसा हेमाद्रि का मत है । स्नायान्नदी-देव०—अत एव मनु का भी मत है—

नदीषु देवखातेषु तडागेषु सरःसु च ।
स्नानं समाचरेन्नित्यं गर्त-प्रस्रवणेषु च ॥

श्लो० १६०—इस विषय में मनु ने पाप का निर्देश किया है—

यानशय्यासनान्यस्य कूपोद्यान-गृहाणि च ।
अदत्तान्युपभुञ्जान एनसः स्यात्तुरीयभाक् ॥

अदत्तानीति स्वाम्यभावः अनुमत्यभावश्च विवक्षितः—ऐसा शूलपाणि का मत है ।

अग्निहीनस्य—श्रौत-स्मार्त्ताग्न्यधिकारहीनस्य शूद्रस्य अविधिनोत्सृष्टाग्नेर्द्विजस्यापि ।

श्लो० १६१—कदर्येति—कदर्य की परिभाषा नारद ने इस तरह की है—

आत्मानं धर्मकृत्यञ्च पुत्रदारांश्च पीडयन् ।
लोभाद्यः प्रचिनोत्यर्थान् स कदर्य इति स्मृतः ॥

बद्धः—निगडबद्धः । अत एव मनु का कथन है—बद्धस्य निगडस्य च । निगडस्येति तृतीयार्थे षष्ठी—कुल्लूकभट्ट । रङ्गावतारी—नटगायकव्यतिरिक्तस्य रङ्गावतरणजीविनः—कुल्लूकभट्ट, मेधातिथि ।

वार्धुष्यः—यस्तु निन्देत् परं जीवं प्रशंसत्यात्मनो गुणान् ।
स वै वार्धुषिको नामः—विष्णुः
समर्घं धान्यमुद्धृत्य महार्घ यः प्रयच्छति ।
स वै वार्धुषिको नाम यश्च वृद्धया प्रयोजयेत्—यम ।

श्लो० १६२—एषामन्नं न भोक्तव्यम्—इन सबों के अन्न-भक्षण में दोष मनुस्मृति में बतलाया गया है—

य एतेऽन्ये त्वभोज्यान्नाः क्रमशः परिकीर्त्तिताः ।
तेषां त्वगस्थिरोमाणि वदन्त्यन्नं मनीषिणः ॥

तेषां त्वगस्थि-रोम्णां भक्षणेन यः दोषःएव तेषामन्नभक्षणेऽपि—कुल्लूकभट्ट ।

श्लो० १६६—अर्धसीरिणः—कार्षिकाः । ये शब्द सापेक्ष शब्द हैं । अत एव जो जिसकी कृषि करता हो उसी का अन्न उस व्यक्ति मात्र के लिए भोज्य हैं । इसी तरह दास गोपाल आदि के विषय में भी समझना चाहिए । यश्चात्मानं निवेदयेत्—निवेदन का प्रकार मनु ने बतलाया है—

यादृशोऽस्य भवेदात्मा यादृशं च चिकीर्षितम् ।
यथा चोपचरेदेनं तथाऽऽत्मानं निवेदयेत् ॥

श्लो० १७०—सन्धिनी—ऋतुमती वृषमिच्छती गौः । या गर्भिणी सति दुग्धे सा सन्धिनी—हरदत्त । अनिर्दशा—यह अजा तथा महिषी का भी उपलक्षण है । अत एव यम का कथन है—

अनिर्दशाहं गोक्षीरमाजं माहिषमेव च ॥

श्लो० १७५—मत्स्यांश्च कामतः—मत्स्य-भक्षण की निन्दा मनुस्मृति में की गई है :—

यो यस्य मांसमश्नाति स तन्मांसाद उच्यते ।
मत्स्यादः सर्वमांसादः तस्मान्मत्स्यान् विवर्जयेत् ॥

मत्स्य के सर्वमांसभक्षक होने के कारण मत्स्यादः सर्वमांसादः कहा गया है।

श्लो० १७६—इस श्लोक में कथित लशुन तथा गृञ्जन पलाण्डु के ही भेद हैं—

लशुनो दीर्घपत्रश्च पिच्छगन्धो महौषधम्।
तरुण्डश्च पलाण्डुश्च नरलङ्कः पराक्किका।
गृञ्जनो यवनेष्टश्च पलाण्डोर्दश जातयः॥

श्लो० १७७—भक्ष्याः पञ्चनखाः—यहाँ मनु ने यद्यपि खड्ग का भी निर्देश किया है तथापि वह श्राद्धविषयक है—ऐसा शूलपाणि का मत है। सेधा = स च श्वभक्षको व्याघ्रविशेषः—अपरार्क। गोधा = पल्लीसदृशः प्राणि-विशेषः—अपरार्क।

श्लो० २१२—सर्वधर्ममयं ब्रह्म—अतएव मनु का भी मत है—
सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।

श्लो० २१५—अयाचिताहृतम्—मनु का भी निर्देश है—
आहृताभ्युद्यताम्भिक्षाम् पुरस्तादप्रचोदिताम्।
मेने प्रजापतिर्ग्राह्याम् अपि दुष्कृतकर्मणः॥

श्लो० २१६—सर्वतः—देव आदि के अर्चन के लिए ही न कि आत्म-पालन के निमित्त भी। अतएव मनुस्मृति में कहा गया है :—
गुरून् भृत्यांश्चोज्जिहीर्षन् अर्चिष्यन्देवतातिथीन्।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयात् न तु तृप्येत् स्वयं ततः।

आत्मवृत्त्यर्थमेव च—मनुस्मृति में आत्मवृत्ति के लिए केवल साधुजन के अन्न का ही प्रतिग्रह विहित माना गया है—
गुरुषु त्वभ्यतीतेषु विना वा तैर्गृहे वसन्।
आत्मनो वृत्तिमन्विच्छन् गृह्णीयात्साधुतः सदा॥

श्लो० २१७—१८ = व्यतीपातः—
श्रवणाश्विधनिष्ठाऽऽर्द्रानागदैवतमस्तके।
यद्यमा रविवारेण व्यतीपातः स उच्यते॥

गजच्छाया—
योगो मघात्रयोदश्यां कुञ्जरच्छायसंज्ञितः।
भवेन्मघायां संस्थे च शशिन्यर्के करे स्थिते॥ (ब्रह्मपुराण)

करे = हस्तनक्षत्र में। श्राद्धम्—"अथैतन्मनुः श्राद्धं कर्म प्रोवाच प्रजानिः-श्रेयसार्थं तत्र पितरो देवता ब्राह्मणास्त्वाहवनीयार्थे" इस आपस्तम्ब के वचन के

अनुसार पितृगण के उद्देश्य से द्रव्य के उत्सर्ग से ब्राह्मण के द्वारा उस द्रव्य के स्वीकार तक का कर्म श्राद्ध-पद-वाच्य है। देवश्राद्ध आदि पदों में श्राद्ध शब्द गौण है—यह कल्पतरु का मत है।

श्लो० २२१—पञ्चाग्निः—पाँच अग्नियों के नाम ये हैं :—

पवनः पावनस्त्रेता यस्य पञ्चाग्नयो गृहे।
सायं प्रातः प्रदीप्यन्ते स विप्रः पंक्ति-पावनः॥ (हारीत)

पवनः = आवसथ्याग्निः; पावनः = सभ्याग्निः। त्रेता = आहवनीय गार्हपत्य तथा दक्षिणाग्नि।

श्लो० २२२—रोगी = दीर्घरोगी—अपरार्क।

श्लो० २२४—इससे अतिरिक्त निन्द्य पुरुषों का विवरण मनुस्मृति के तृतीयाध्याय में देखना चाहिए।

श्लो० २२५—निमन्त्रणम् = अप्रत्याख्येयो नियोगः निमन्त्रणम्—अपरार्क। संयतैर्भाव्यम्—इस विषय में मनु का कथन यह है—

निमन्त्रितो द्विजः पित्र्ये नियतात्मा भवेत्सदा।
न च छन्दांस्यधीयित यस्य श्राद्धं च तद्भवेत्॥
निमन्त्रितान्हि पितरः उपतिष्ठन्ति तान्द्विजान्।
वायुवच्चानुगच्छन्ति तथासीनानुपासते॥ इत्यादि।

श्लो० २३६—अभ्यनुज्ञातः—ब्राह्मणों के द्वारा अभ्यनुज्ञात। अतएव मनु का कथन है—

अग्नौ कुर्यादनुज्ञातो ब्राह्मणो ब्राह्मणैः सह।

अनुज्ञासामर्थ्याच्च प्रार्थनाऽपि पूर्वं कर्त्तव्या, सा च स्वगृह्यानुसारेण करवाणि, करिष्ये इत्यादिका। अनुज्ञा अपि 'ओम्' इत्येवं रूपा 'कुरुष्व' इति वा—(कुल्लूक भट्ट)।

यदि अग्नि का अभाव हो (अग्न्यभावश्च अनुपनीतस्य सम्भवति, उपनीतस्य समावृत्तस्य च पाणिग्रहणात्पूर्वम्, मृतभार्यस्य वा) तो ब्राह्मण के हाथ में ही समर्पण करना चाहिए—

अग्न्यभावे तु विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत्।
यो ह्यग्निः स द्विजो विप्रैर्मन्त्रदर्शिभिरुच्यते॥ (मनु)

तथा कात्यायन का भी कथन है :-

पित्र्ये यः पंक्तिमूर्धन्यः तस्य पाणावनग्निकः।
हुत्वा मन्त्रवदन्येषां तूष्णीं मन्त्रेषु निःक्षिपेत्॥

श्लो० २३९—वाग्यताः—मनु का कथन निम्न-लिखित है—

अत्युष्णं सर्वमन्नं स्यात् भुञ्जीरंस्ते च वाग्यताः ।
न च द्विजातयो ब्रूयुः दात्रा पृष्टा हविर्गुणान् ॥

दात्रा अन्नादिगुणान् पृष्टा वक्त्राद्यभिनयेनाऽपि न ब्रूयुः, वाग्यतत्वस्य अत्रैव विधानात्—कुल्लूक भट्ट ।

श्लो० २४५—इदं जपेत्—यह पितृ प्रार्थना है । अतएव मनु का कथन है :—

दक्षिणां दिशमाकाँक्षन् याचेतेमान् वरान् पितॄन् ॥
दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः सन्ततिरेव च ।
श्रद्धा च नो मा व्यगमत् बहुदेयं च नोऽस्त्विति ॥

अतः दातारो नोऽभि० आदि की भूमिका में "ब्राह्मणप्रार्थना"—का विज्ञानेश्वरकृत निर्देश उचित नहीं प्रतीत होता है ।

श्लो० २५४—स्त्रिया अपि—स्त्री के सपिण्डीकरण के विषय में हारीत का कथन निम्नलिखित है:—

स्वेन भर्त्रा सहैवास्याः सपिण्डीकरणं स्त्रियाः ।
एकत्वं सा गता यस्मात् चरुमन्त्राहुतिव्रतैः ॥
तस्मिन् सति सुताः कुर्युः पितामह्या सहैव तु ।
तस्यां चैव तु जीवन्त्यां तस्याः श्वश्र्वेति निर्णयः ॥
तस्याः श्वश्र्वाः = प्रपितामही के साथ ।

श्लो० २५५—वृद्धयाद्यपकर्षनिमित्तं सपिण्डनं मध्येऽपि कर्त्तव्यम् । कृते तस्मिन् अभ्युदयश्राद्धं वर्षपर्यन्तं कर्त्तव्यमेव । किन्तु प्रेतपदोल्लेखो न कार्यः—शूलपाणि ।

श्लो० २५६—प्रतिसम्वत्सरम्—एतच्च निरग्निविषयम्—ऐसा शूलपाणि का मत है ।

श्लो० २५७—पिण्ड-प्रक्षेप के विषय में मनु का मत निम्नलिखित है—

एवं निर्वपणं कृत्वा पिण्डांस्तांस्तदनन्तरम् ।
गां विप्रमजमग्निं च प्राशयेदप्सु वा क्षिपेत् ॥
पिण्डनिर्वपणं केचित्पुरस्तादेव कुर्वते ।
वयोभिः खादयन्त्यन्ये प्रक्षिपन्त्यनलेऽप्सु वा ॥
पतिव्रता धर्मपत्नी पितृपूजनतत्परा ।
मध्यमन्तु ततः पिण्डमद्यात्सम्यक् सुतार्थिनी ॥
आयुष्मन्तं सुतं सूते यशोमेधासमन्वितम् ।
धनवन्तं प्रजावन्तं सात्विकं धार्मिकं तथा ॥

मध्यमं पिण्डम् = पितामहपिण्डम् । सत्सु विप्रेषु०—मनु का भी वही मत है—उच्छेषणं तु तत्तिष्ठेद् यावद् विप्राः विसर्जिताः ॥

परन्तु वशिष्ठ ने दिनपर्यन्त रखने को कहा है—

श्राद्धे नोद्वासनीयानि उच्छिष्टान्यादिनक्षयात् ।
श्चोतन्ति हि स्वधाहाराः ताः पिबन् सकृतोदकाः ॥

श्लो० २५९—वाराहपद माहिष का भी उपलक्षण है। अत एव मनु का कथन है:—

दशमासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः ॥

इसी प्रकार शाश पद भी कौर्ममांस का उपलक्षक है।

श्लो० २६०—महाशल्कः = शल्यकः—मेधातिथि। महाशल्कः = मत्स्यविशेषाः इति युज्यन्ते, महाशल्कलिनो मत्स्याः इति वचनात्—विज्ञानेश्वरप्रभृति। मनु ने महाशल्क प्रभृति के मांस को अक्षय तथा वार्ध्रीणस के मांस को द्वादशवार्षिक तृप्ति का सम्पादक माना है:—

वार्ध्रीणसस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी ॥
कालशाकं महाशल्काः खड्गलोहामिषं मधु ।
आनन्त्यायैव कल्पन्ते मुन्यन्नानि च सर्वशः ॥

श्लो० २६१—तथा वर्षात्रयोदश्याम्—अत्र च प्रोष्ठपदापरपक्षे या त्रयोदशी याश्च मघाः ता एव गृह्यन्ते—अपरार्क। प्रोष्ठपद्याः श्रावणपूर्णिमायाः अपरे भाद्रकृष्णे—ऐसा अर्थ करना चाहिए। अत एव शंख का वचन है:—

प्रोष्ठपद्यामतीतायां मघायुक्तां त्रयोदशीम् ।
प्राप्य श्राद्धं हि कर्त्तव्यं मधुना पायसेन च ॥

श्लो० २६४—शस्त्रेण—यहाँ शस्त्र पद उपलक्षण है। अत एव मरीचि का कथन है:—

विषसर्पश्वापदाहितिर्यग्ब्राह्मणघातिनाम् ।
चतुर्दश्यां क्रियाः कार्याः अन्येषान्तु विगर्हिताः ॥

श्लो० २६९—वसुरुद्रादितिसुताः—अत एव पैठीनसि का वचन है:—य एवं विद्वान् पितॄन् यजते वसवो रुद्रा आदित्याश्चास्य प्रीताः भवन्ति।

श्लो० २७८—सर्वौषधैः—

मुरामांसीवचाकुष्ठं शैलेयं रजनीद्वयम् ।
शुण्ठचम्पकमुस्तं च सर्वौषधिगणः स्मृतः ॥

अथवा—व्रीहयः शालयो मुद्गाः गोधूमाः सर्षपास्तिलाः ।
यवाश्चौषधयः सप्त विपदो घ्नन्ति धारिताः ॥

श्लो० २९५—गृहयज्ञं समाचरेत्—इस यज्ञ के लिए उत्तरायण आदि कालनियम अनपेक्षित है । अत एव दक्ष का वचन है :—

नैमित्तिकानि काम्यानि निपतन्ति यथा यथा ।
तथा तथैव कार्याणि न कालस्तु विधीयते ॥

श्लो० ३१८—निबन्धम्—आयस्थाने प्रतिनियतवस्तुदानम्—शूलपाणि । अस्मिन् ग्रामे प्रतिक्षेत्रं क्षेत्रस्वामिना एतद्धनमस्मै प्रत्यब्दं प्रतिमासं वा देयम् इत्यादिनियमः—अपरार्क ।

श्लो० ३२४—अकूटैः—

न कूटैरायुधैर्हन्यात् युध्यमानो रणे रिपून् ।
न कर्णिभिर्नापि दिग्धैः नाग्निज्वलिततेजनैः ॥

श्लो० ३२७—स्नात्वा—स्नानग्रहणं सकलमाध्याह्निकोपलक्षणम्—ऐसा अपरार्क का मत है ।

श्लो० ३४४—सुरक्षितम्—अत एव मनु का वचन है—

यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः ।
स कृत्स्नां पृथिवीम् भुंक्ते कोशहीनोऽपि पार्थिवः ॥

श्लो० ३४९—दैवे पुरुषकारे च—दैव = पूर्वजन्मकृत-कर्म-फल, पुरुषकार = ऐहिकपुरुष प्रयत्न । अत एव व्यासने कहा है—

दैवमात्मकृतं विद्यात् कर्म यत्पौर्वदेहिकम् ।
स्मृतः पुरुषकारश्च क्रियते यदिहापरम् ॥

श्लो० ३५०—संयोगे = साहित्ये । अत एव मत्स्यपुराण में कहा गया है :—

दैवं पुरुषकारश्च कालश्च पुरुषोत्तम ।
त्रयमेतन्मनुष्यस्य पिण्डितं स्यात् फलाय वै ॥

श्लो० ३५२—मित्रलब्धिः—मित्र का लक्षण निम्नलिखित है :—

धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च ।
अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघु मित्रं प्रशस्यते ॥

श्लो० ३५८—धर्माद्विचलितः—अत एव दक्ष का कथन है :—

पारिव्राज्यं गृहीत्वा तु यः स्वधर्मे न तिष्ठति ।
श्वपादेनाङ्कयित्वा तं राजा क्षिप्रं विवासयेत् ॥

श्लो० ३६७—दण्ड-स्थान का निर्देश मनुस्मृति में मिलता है:—

दश स्थानानि दण्डस्य मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ।
त्रिषु वर्णेषु यानि स्युरक्षतो ब्राह्मणो व्रजेत् ॥
उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम् ।
चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च ॥

श्लो० ३६८—कालम् = दिवारात्रिसन्ध्यात्मकम्—शूलपाणि ।

कालम् = सुभिक्षदुर्भिक्षादियुक्तम्—वीरमित्रोदय ।
कर्म = अग्निहोत्रादि तथा सूनाधिष्ठानादि ॥
यथाचार्यमथाचारे याज्ञवल्क्यनिरूपिते ।
नारायणेन मिश्रेण टिप्पणीयं समापिता ॥

व्यवहाराध्याय

श्लो० १—व्यवहारपदार्थस्वरूपनिरूपण के लिए अपरार्कमें कात्यायन का वचन है :—

प्रयत्न—साध्ये विच्छिन्ने धर्माख्य न्याय-विस्तरे।
साध्य-मूलोऽत्र यो वादः व्यवहारः स उच्यते ॥

न्यायविस्तरे = न्यायप्रपञ्च मे।

ऋणादानादिनानाविवादपद—विषय—संशयः निराक्रियते अनेनेति नाना संशयहारी विचारो व्यवहारः यह शूलपाणि का मत है।

"लोभश्च उत्कोचादिरूपेण परवित्तलिप्सा लोभः। अज्ञान—प्रमादावप्यत्र वर्जनीयतया द्रष्टव्यौ" (अपरार्क)

व्यवहार-काल के विषय में पराशर—माधवीय में बृहस्पति का वचन है :—

दिवसस्याष्टमं भागं मुक्त्वा कालं सुसंविशेत्।
स कालो व्यवहाराणां शास्त्र-दृष्टः परः स्मृतः ॥

अपरार्क में उद्धृत कात्यायन का मत है :—

आद्यादह्नोऽष्टभागाद्यत् ऊर्ध्वंम्भागत्रयं भवेत्।
स कालो व्यवहारस्य शास्त्रे दृष्टो मनीषिभिः ॥

व्यवहार-दर्शन की विधि मनु में कही गई है :—

तत्रासीनः स्थितो वापि पाणिमुद्यम्य दक्षिणम्।
विनीत—वेषाभरणः पश्येत् कार्याणि कार्यिणाम् ॥

श्लो० २—सभासदाश्च बहु-शास्त्रज्ञाः ब्राह्मणाः तदलाभे क्षत्रियाः तदलाभे तादृशा एव वैश्याः शूद्रस्तु न कथमपीति कात्यायनमनुप्रामाण्यात्—(अपरार्क)

लो० ३—कार्यवशात् = व्यवहारदर्शनादधिकगुरुतरकार्यवशात् रोगादि-वशाद्वा—(अपरार्क)

श्लो० ४—स्मृत्यपेतादीत्यत्रादिपदात् व्यवहारापेतस्य ग्रहणम्—शूलपाणि एतच्च दण्डविधानं धन—विषय-विवादे, वादान्तरे तु पारुष्यादिविषये दण्डान्तरं वेदितव्यम्" (अपरार्क)

श्लो० ६—जात्यादि—यहाँ आदि पद से कात्यायनोक्त द्रव्यसंख्या आदि परिमाण हैं।

अपरार्क में कात्यायन के वचन ये हैं :—

साध्यं प्रमाणं द्रव्यं च संख्या नाम तथात्मनः ।
राज्ञां च क्रमशो नाम निवासं साध्यनाम च ॥
क्रमात्पितॄणां नामानि पीडामाहर्तृदायकौ ।
क्षमालिङ्गानि चान्यानि पक्षे संकीर्त्य कल्पयेत् ॥

देशादि के अनुल्लेख होने पर पक्ष-स्वीकार नहीं होता है। अत एव जीमूत-वाहनकृत व्यवहार-मातृका बृहस्पति का वचन है :—

देश-काल-विहीनश्च द्रव्य-संख्या-विवर्जितः ।
साध्य-प्रमाण-हीनश्च पक्षोऽनादेय इष्यते ॥
(अनादेयः = अग्राह्यः राज्ञा इत्यर्थः) ॥

श्लो० ७—(पूर्वार्धं) उत्तर-लेख से पूर्वकालिक कृत्य के विषय में पराशर-माधवीय में बृहस्पति का वचन है :—

विनिश्चिते पूर्वपक्षे ग्राह्याग्राह्य-विशेषिते ।
प्रतिज्ञाते स्थिरीभूते लेखयेदुत्तरन्ततः ॥

उत्तरदान में अवधि का परिमाण स्मृति-कल्पतरु में बृहस्पति ने बतलाया है :—

शालीनत्वाद्भयात्तद्वत् प्रत्यर्थी स्मृति-विभ्रमात् ।
कालम्प्रार्थयते यत्र तत्रेमं लब्धुमर्हति ॥
एकाहत्र्यहपञ्चाहसप्ताहं पक्षमेव वा ।
मासं ऋतुत्रयं वर्षं लभते शक्त्यपेक्षया ॥

कात्यायनीय मे तो कुछ विशेष बतलाया गया है :—

सद्यो वैकाह-पञ्चाहौ त्र्यहं वा गुरुलाघवात् ।
लभेतासौ त्रिपक्षम्वा सप्ताहम्वा ऋणादिषु ॥
कालं शक्तिं विदित्वा तु कार्याणां च बलाबलम् ।
अल्पं वा बहु वा कालं दद्यात्प्रत्यर्थिने प्रभुः ॥
उभयोर्लिखिते वाच्ये प्रारब्धे कार्यनिर्णये ।
अनुक्तं तत्र यो ब्रूयात् तस्मादर्थात्स हीयते ॥

श्लो० ७—(उत्तरार्धं) सद्य इति । यहाँ कात्यायन का निम्न-लिखित वचन द्रष्टव्य है :—

सद्यः कृतेषु कार्येषु सद्य एव विधीयते ।
कालातीतेषु वा कालं दद्यात्प्रत्यर्थिने प्रभुः ॥

श्लो० १०—कलहो वाक्पारुष्यम् , साहसो दण्डपारुष्यम्–(अपरार्कः)

श्लो० ११—प्रत्यर्थी के द्वारा निह्नव करने पर अर्थी के कृत्य के विषय में मनु का कथन है :—

अपह्नवेऽधमर्णस्य देहीत्युक्तस्य संसदि ।
अभियोक्ता दिशेद् देश्यं करणं वान्यदुद्दिशेत् ॥

(देश्यम् = धनप्रयोगदेशवर्त्तिसाक्षिणम् , अन्यद्वा करणं पत्रादि इति । एवं निह्नवे प्रत्यर्थिना कृते यदि साक्ष्यादि–प्रमाणेन अर्थी प्रत्यर्थिनोऽपराधं भावयति तदा प्रत्यर्थी भावित इत्युच्यते, स च अर्थिना अभियुक्तं धनं दत्वा राज्ञे च स्वापह्नव–भाषणजन्य–दोषप्रयुक्तदण्डरूपेण तत्समन्धनन्दापयेदिति तात्पर्यम् ।)

श्लो० १२—सहसा हठेन जनसमक्षं यत्परहिंसादि क्रियते तत्साहसम्—(अपरार्कः)

श्लो० १३—१५—अत एव मनु ने भी कहा है :—

बाह्यैः विभावयेल्लिङ्गैः भावमन्तर्गतं नृणाम् ।
स्वर-वर्णेङ्गिताकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च ॥
आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च ।
नेत्र-वक्त्र-विकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ (८।२५-२६)

श्लो० १३–१५—आकृति से मनोभाव का अभिव्यञ्जन रामायण में भी बतलाया गया है :—

आकारश्छाद्यमानोऽपि निग्रहीतुं न शक्यते ।
बलाद्धि विवृणोत्येव भावमन्तर्गतं नृणाम् ॥

श्लो० १६—नारद ने पाँच प्रकार के हीन का निर्देश किया है :—

अन्यवादी क्रियाद्वेषी नोपस्थायी निरुत्तरः ।
आहूतप्रपलायी च हीनः पञ्चविधः स्मृतः ॥

श्लो० १८—सपणः—जितेन मया एतावद्देयम् इत्यभ्युपेतं धनं पणः (अपरार्कः)

श्लो० २०—एतत्तु वचनमपह्नववादिनः सावष्टम्भे प्रतिवचने द्रष्टव्यम् । यथा—एतेषामर्थानां मध्ये यद्येकमप्यर्थमर्थी साधयति तदा सर्वानेतानहं ददामीति । कुत एतत् ? छलोदाहरणपरत्वादस्य वाक्यस्य । अन्यथा—

अनेकार्थाभियोगेऽपि यावत्संसाधयेद्धनी ।
साक्षिभिस्तावदेवासौ लभते साधितं धनम् ॥

इति कात्यायनवचनविरोधः स्यात् (अपरार्कः)

श्लो० २१—प्रमाणान्तरदृष्टार्थविषया स्मृतिः अर्थशास्त्रम् ।
वेदैकसमधिगम्यार्थविषया तु धर्मशास्त्रम् ॥ (अपरार्कः)

दोनों के विरोध होने पर धर्मशास्त्र प्रबल माना जाता है—

यत्र विप्रतिपत्तिः स्याद् धर्मशास्त्रार्थशास्त्रयोः ।
अर्थशास्त्रोक्तमुत्सृज्य धर्मशास्त्रोक्तमाचरेत् ॥

श्लो० २४—धनस्य दशवार्षिकी—यहाँ विशेष द्रष्टव्य है :—

सम्प्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यन्ति कदाचन ।
धेनुरुष्ट्रो वहन्नश्वो यश्च दम्यः प्रयुज्यते ॥ (मनुस्मृतिः)

श्लो० २५—इनसे अतिरिक्त पदार्थों का भी निर्देश बृहस्पति ने किया है :—

विवाह्य श्रोत्रियैर्भुक्तं राजामात्यैस्तथैव च ।
सुदीर्घेणापि कालेन तेषां सिध्यति तत्तु न ॥
असक्तालसरोगार्त्तबालभीतप्रवासिनाम् ।
शासनारूढमन्येन भुक्तं भुक्त्वा न हीयते ॥

शासनारूढम् = ताम्रपट्टादिलिखितम् ।

श्लो० २७—पूर्वक्रमागतात् = पूर्व शब्द का अर्थ है—पिता, पितामह तथा प्रपितामह । इससे स्पष्ट है कि पूर्वक्रमागत भोग आगम से बलवत्तर होता है । अत एव बृहस्पति का कथन है :—

अनुमानाद् गुरुः साक्षी साक्षिभ्यो लिखितं गुरु ।
अव्याहता त्रिपुरुषी भुक्तिरेभ्यो गरीयसी ॥

त्रिपुरुषी भुक्ति का अर्थ व्यास ने निम्नोक्त प्रकार से किया है :—

प्रपितामहेन यद्भुक्तं तत्पुत्रेण विना च तम् ।
तौ विना तस्य पित्रा च तस्य भोगस्त्रिपौरुषः ॥

तीनों पूर्वजों के जीवित रहने पर किया गया भोग त्रिपुरुषभोग नहीं होता है । अत एव बृहस्पति का भी मत है :—

पिता पितामहो यस्य जीवेच्च प्रपितामहः ।
त्रयाणां जीवतां भोगो विज्ञेयस्त्वेकपौरुषः ॥

श्लो० ३४—विद्वानशेषमाददीत—परन्तु ब्राह्मण भी निधि को प्राप्त कर पहले राजा को निवेदित करे, पश्चात् राजा की अनुमति पाकर उसका उपभोग करे । अत एव नारद का कथन है :—

ब्राह्मणोऽपि निधिं लब्ध्वा क्षिप्रं राज्ञे निवेदयेत् ।
तेन दत्तं तु भुञ्जीत स्तेनः स्यादनिवेदयन् ॥

श्लो० ३७—अशीतिभागः—सपादरूप्यकं प्रतिशतम् ।
यह वृद्धि-प्रकार वसिष्ठ-निर्दिष्ट है । अत एव मनुस्मृति में कहा गया है—

वसिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद्वित्तविवर्धिनीम् ।
अशीतिभागं गृह्णीयान्मासाद्वार्धुषिकः शते ॥ इत्यादि ।

यहाँ व्यास ने कुछ विशेष बतलाया है :—

सबंधे भाग आशीतः षष्ठिभागः सलग्नके ।
निराधारे त्वेकशतं मासलाभ उदाहृतः ॥

श्लो० ४०—न वाच्यो नृपतेः—अत एव मनु का भी कथन है :—

यः स्वयं साधयेदर्थमुत्तमर्णोऽधमर्णिकात् ।
न स राज्ञाऽभियोक्तव्यः स्वकं संसाधयन्धनम् ॥

परन्तु यह संसाधन यथेच्छ विधि से नहीं होना चाहिए । उसकी विधि भी मनु ने ही बतलायी है—

धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च ।
प्रयुक्तं साधयेदर्थं पञ्चमेन बलेन च ॥

धर्म की व्याख्या बृहस्पति ने की है :—

सुहृत्सम्बन्धिसन्दिष्टैः साम्ना चानुगमेन च ।
प्रायेण वा ऋणी दाप्यो धर्म एव उदाहृतः ॥

व्यवहारेण = लिखित आदि प्रमाण के आधार पर । मेधातिथि ने तो दूसरी व्याख्या की है :—

"निःस्वो यः स व्यवहारेण दापयितव्यः । अन्यत्कर्मोपकरणं धनं दत्त्वा कृषिवाणिज्यादिना व्यवहारयितव्यः । तदुत्पन्नं धनं तस्माद् गृह्णीयात् ।"

छल, आचरित तथा बल की व्याख्या बृहस्पति ने निम्नलिखित प्रकार से की है :—

छद्मना याचितं चार्थमानीय ऋणिकाद् बली ।
अन्याहृतादि वाऽऽहृत्य दाप्यते तत्र सोपधिः ॥
दारपुत्रपशून् हत्वा कृत्वा द्वारोपवेशनम् ।
यत्रार्थी दाप्यतेऽर्थं स्वं तदाचरितमुच्यते ॥

(विज्ञानेश्वर ने तो 'अचरितेन' शब्द को अभिप्रेत मान कर 'अभोजनेन' अर्थ किया है । अपरार्क के अनुसार 'आचरितेन = देशाचारेण' अर्थ है ।)

बद्ध्वा स्वगृहमानीय ताडनाद्यैरुपक्रमैः ।
ऋणिको दाप्यते यत्र बलात्कारः प्रकीर्तितः ॥

(बलं = भोजननिषेधादिना पीडनम्—अपरार्कः)

पूर्व-पूर्व उपाय के अभाव में उत्तरोत्तर का अनुसरण करना चाहिए ।

श्लो० ४३—अत एव बृहस्पति का भी मत है :—

ऋणिनं निर्धनं कर्म गृहमानीय कारयेत् ।
शौण्डिकाद्यम् , ब्राह्मणस्तु दापनीयः शनैः शनैः ॥

किन्तु यदि उत्तमर्ण अधमर्ण से पूर्वानुक्त अनुचितकर्म करवाता है तो अधमर्ण ऋणमुक्त हो जाता है और उत्तमर्ण दण्डय हो जाता है । अत एव कात्यायन का कथन है :—

यदि ह्याश्रावनाविष्टमशुभं कर्म कारयेत् ।
प्राप्नुयात्साहसं पूर्वमृणान्मुच्येत चर्णिकः ॥

श्लो० ४४—वर्धते न ततः परम्—अत एव संवर्त्त का वचन है :—

न वृद्धिः स्त्रीधने लाभे निक्षेपे च तथा स्थिते ।
सन्दिग्धे प्रातिभाव्ये च यदि न स्यात् स्वयङ्कृता ॥

स्थिते = मध्यस्थ के यहाँ जमा किये हुए धन की । यदि न स्यात् स्वयङ्कृता का तात्पर्य है कि यदि अधमर्ण वृद्धि की प्रतिज्ञा नहीं की हो तो वृद्धि नहीं होती, अन्यथा उपर्युक्त धन में भी वृद्धि होती है ।

श्लो० ४५—अत एव नारद का भी वचन है :—

पितृव्येणाविभक्तेन भ्रात्रा वा यदृणं कृतम् ।
मात्रा वा यत्कुटुम्बार्थे दद्युः तत्सर्वमृक्थिनः ॥

श्लो० ४६—न पुत्रेण कृतं पिता—इसका अपवाद बृहस्पति ने बतलाया है :—

ऋणं पुत्रकृतं पित्रा शोध्यं यदनुमोदितम् ।
सुतस्नेहेन वा दद्याद् नान्यथा दातुमर्हति ॥

यहाँ पुत्र पद उपलक्षण है योषिदादि का भी । अतः भार्या आदि के द्वारा कृत ऋण भी स्वानुमोदित होने पर समाधेय है ।

श्लो० ४७—तथैव—यह प्रातिभाव्य तथा क्रोधकृत ऋण का भी उपलक्षण है । प्रातिभाव्य का निर्देश मनु ने किया है :—

प्रातिभाव्यं वृथा दानमाक्षिकं सौरिकं च यत् ।

दण्डशुल्कावशेषं च न पुत्रो दातुमर्हति ॥
दर्शनप्रातिभाव्ये तु विधिः स्यात् पूर्वचोदितः ।

क्रोधकृत ऋण का निर्देश नारद ने किया है :—

न पुत्रर्णं पिता दद्याद् दद्यात् पुत्रस्तु पैतृकम् ।
काम-क्रोध-सुरा-द्यूत-प्रातिभाव्यकृतं विना ॥

क्रोधकृत ऋण की परिभाषा कात्यायन ने की है :—

यत्र हिंसां समुत्पाद्य क्रोधाद् द्रव्यं विनाश्य वा ।
उक्तं तुष्टिकरं यत्तु विद्यात् क्रोधकृतं हि तत् ॥

परस्य हिंसां धनविनाशं वा क्रोधात् कृत्वा तत्तुष्टये यद्द्रव्यं दातव्यत्वेन अङ्गीकृतं तत् क्रोधकृतम्—(अपरार्कः)

श्लो० ४९—प्रतिपन्नम्—कभी कभी अप्रतिपन्न ऋण को भी चुकाना पड़ता है, जैसा कात्यायन ने कहा है :—

मर्तुकामेन या भर्त्रा प्रोक्ता देयमृणं त्वया ।
अप्रपन्नाऽपि सा दाप्या ऋणं पत्याश्रितं स्त्रियाः ॥

श्लो० ५२—अत एव नारद का भी कथन है :—

साक्षित्वं प्रातिभाव्यं वा दानं ग्रहणमेव च ।
विभक्ताः भ्रातरः कुर्युः नाविभक्ताः परस्परम् ॥

परन्तु यदि सर्वानुमत हो तो अविभक्त को भी साक्षित्व आदि का अधिकार हो सकता है ।

श्लो० ५३—बृहस्पति ने चार प्रकार का प्रतिभू बतलाया है :—

दर्शने प्रत्यये दाने ऋणद्रव्यार्पणे तथा ।
चतुष्प्रकारः प्रतिभूः शास्त्रे दृष्टो मनीषिभिः ॥
प्राहैको दर्शयिष्यामि साधुरेषोऽपरोऽब्रवीत् ।
दाता तवैतद् द्रविणमर्पयाम्यपरोऽब्रवीत् ॥
आद्यौ तु वितथे दाप्यौ तत्कालावेदितं धनम् ।
उत्तरौ तु विसंवादे तौ विना तत्सुतौ पुनः ॥

सुता अपि—सुत शब्द के प्रयोग से मनु के वचन में प्रयुक्त 'दायाद' (दान-प्रतिभुवि प्रेते दायादानपि दापयेत्) शब्द से पुत्र-पौत्रादि-संग्रह-विषयक भ्रम का निवारण हो जाता है । तात्पर्य यह है कि पुत्रमात्र ही प्रातिभाव्य का समर्पण करे पौत्र आदि नहीं । अत एव कात्यायन का मत है :—

प्रातिभाव्यागतं पौत्रैर्दातव्यं न तु तत् क्वचित् ।

पुत्रेणापि समं देयम् ऋणं सर्वत्र पैतृकम् ॥

समम् = वृद्धिरहितम् ।

श्लो० ५५—एकच्छायाश्रिताः = प्रत्येकं विकल्पेन सकलधनदायकत्व-माश्रिताः—(अपरार्कः)

श्लो० ५६—द्विगुणम्—यदि धनिक के द्वारा प्रतिभू ऋणिक-गृहीत धन देने के लिए पीड़ित हुआ हो तब की स्थिति है। साधारणतः अपने धन का समान रूप ही प्रतिभू ऋणिक से प्राप्त करने का अधिकारी है। अत एव कात्यायन का कथन है—

यस्यार्थे येन यद् दत्तं विधिनाऽभ्यर्थितेन तु ।
साक्षिभिर्भावितेनैव प्रतिभूस्तत्समाप्नुयात् ॥

द्वैगुण्य की अवधि बृहस्पति ने बतलायी है :—

त्रिपक्षात्परतः सोऽर्थं द्विगुणं लब्धुमर्हति ॥

श्लो० ५७—स्त्रीपशुषु = गोमहिष्यादिषु—(अपरार्कः) स्त्री च पशुश्च··· दास्यादि छाग्यादि च—(शूलपाणिः)

श्लो० ६०—स्वीकरणात् = परिग्रहात्······स्वीकरणं च भोग्याधौ भोगपर्यन्तं गोप्याधौ भाण्डागारप्रवेशपर्यन्तम्—(अपरार्कः)

श्लो० ६१—प्रयोजके = बन्धकग्रहीतरि । असति = मृते प्रोषिते वा (अपरार्कः)

श्लो० ६६—राजदैविकतस्करैः—अत एव मनु का भी मत है :—

चौरैर्हृतं जलेनोढमग्निना दग्धमेव च ।
न दद्याद् यदि तस्मात्स न संहरति किञ्चन ॥

श्लो० ६९—साक्षिणः—साक्षी शब्द का विवेचन मनु ने किया है :—

समक्षदर्शनात् साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिध्यति ।

यथाजाति यथावर्णम्—अत एव मनु का कथन है :—

स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युर्द्विजानां सदृशा द्विजाः ।
शूद्राश्च सन्तः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः ॥

श्लो० ७२—एकोऽपि—अत एव मनु का कथन है :—

एकोऽलुब्धस्तु साक्षी स्यात्··· ।

व्यास का भी मत है :—

शुचिक्रियश्च धर्मज्ञः साक्षी यत्रानुभूतवाक् ।
प्रमाणमेकोऽपि भवेत् साहसेषु विशेषतः ॥

साहसम् = "स्यात्साहसं त्वन्वयवत् प्रसभं कर्म यत्कृतम्" (मनुस्मृतिः)

श्लो० ७८—अत एव नारद का भी कथन है :—

साक्षिविप्रतिपत्तौ तु प्रमाणं बहवो मताः ।
तत्साम्ये शुचयो ग्राह्यास्तत्साम्ये शुचिमत्तराः ॥

श्लो० ८१—विवास्यो ब्राह्मणः—अतएव मनु ने कहा है :—

न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्ववस्थितम् ।
राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात् समग्रधनमक्षतम् ।
कौटसाक्ष्यं तु कुर्वाणांस्त्रीन् वर्णान् धार्मिको नृपः ।
प्रवासयेद्दण्डयित्वा ब्राह्मणन्तु विवासयेत् ॥
मौण्ड्यं प्राणान्तिको दण्डो ब्राह्मणस्य विधीयते ।
इतरेषान्तु वर्णानां दण्डः प्राणान्तिको भवेत् ॥ इत्यादि ।

श्लो० ८३—चरुः सारस्वतः—इसका विकल्प मनु ने बतलाया है :—

कूष्माण्डैर्वापि जुहुयाद् घृतमग्नौ यथाविधि ।
उदित्यृचा वा वारुण्या तृचेनाब्दैवतेन तु ॥

द्वादशरात्रं पयः पिबन् कूष्माण्डैर्जुहुयात् (बौधायनः)

शूद्रस्यैकदिनकं गोदशकस्य ग्रासं दद्यात् (विष्णुः)

श्लो० ८६—स्वहस्तेन—यह अक्षराभिज्ञ ऋणी के विषय में है । अक्षरानभिज्ञ ऋणी को अन्य सत्पुरुष द्वारा लिखवाना चाहिए । अत एव व्यास का कथन है :—

अलिपिज्ञ ऋणी यः स्याल्लेखयेत् स्वमतं तु सः ।

श्लो० ९५—दिव्य का विषय नारद ने बतलाया है :—

यदा साक्षी न विद्येत विवादे वदतां नृणाम् ।
तदा दिव्यैः परीक्षेत शपथैश्च विभावयेत् ॥

शीर्षकस्थे = यदि अभियोक्ता साभिमान ऐसा उद्घोष करे कि यदि अभियुक्त अपराधी नहीं सिद्ध होगा तो वह अभियोक्ता स्वयं दण्डभागी बनेगा—तो (तुला आदि दिव्य का प्रयोग होना चाहिए) ।

श्लो० ९८—यहाँ कात्यायन का वचन द्रष्टव्य है :—

राजन्येऽग्निं घटं विप्रे वैश्ये तोयं निधापयेत् ।
सर्वेषु सर्वं दिव्यं वा विषवर्जं द्विजोत्तमे ॥
गोरक्षकान् वाणिजकान् तथा कारुकुशीलवान् ।
प्रेष्यान् वार्धुषिकांश्चैव ग्राहयेत् शूद्रवद् द्विजान् ॥

श्लो० ९९—इस प्रसङ्ग में बृहस्पति के निम्नलिखित वचन अव-धेय हैं :—

संख्या रश्मिरजोमूला मनुना समुदाहृता ।
कार्षापणान्ता सा दिव्ये नियोज्या विनयेत्तथा ॥
विषं सहस्रेऽपहृते पादोने तु हुताशनः ।
त्रिपादोने च सलिलमर्धे देयो घटः सदा ॥
चतुःशताभियोगे च दातव्यस्तप्तमाषकः ।
त्रिशते तण्डुला देयाः कोशश्चैव तदर्धके ॥
शते हृतेऽपहुते च दातव्यं धर्मशोधनम् ।
गोचौरस्य प्रदातव्यः सभ्यैः फालः प्रयत्नतः ॥
एका संख्या निकृष्टानां मध्यानां द्विगुणा स्मृता ।
चतुर्गुणोत्तमानां च कल्पनीया परीक्षकैः ॥

निकृष्टानां = जाति, गुण तथा कर्म से निकृष्ट ।

श्लो० १००—१०२—प्रतिमानसमीभूतो रेखां कृत्वाऽवतारितः । इसका तात्पर्य है कि दिव्यकर्त्ता के तोलने के समय तुला की रज्जु की लम्बाई जितनी रहे उसको परीक्षा के समय यथावत् समझने के लिए रज्जु की उस बिन्दु (जहाँ तुला संलग्न रहे) पर रेखा डाल देनी चाहिए । यह विधि अधिवास के दिन की है । अधिवास के दिन एक बार दिव्यकर्त्ता को तौलना चाहिए । और तौलने के बाद दिव्यकर्त्ता तुला से उतर कर तुला को अभिमन्त्रित करे । अतः 'रेखां कृत्वाऽवतारितः' से लेकर 'तुलामित्यभिमन्त्रयेत्' तक का कार्य अधिवास के दिन का है—यह ध्यान रखना चाहिए । इसके बाद पर दिन में अभिमन्त्रित तुला पर दिव्यकर्त्ता को तौलना चाहिए । तौलने के बाद निर्णय के प्रकार का निर्देश निम्न-लिखित श्लोक में किया गया है :—

तुलितो यदि वर्धेत विशुद्धः स्यान्न संशयः ।
समो वा हीयमानो वा न विशुद्धो भवेन्नरः ॥

यद्यपि मिताक्षरा में यह श्लोक पितामह के नाम से उद्धृत है तथापि वीरमित्रोदयकार के अनुसार यह मूल याज्ञवल्क्य-स्मृति का ही माना जाता है । विचार करने पर यही उचित भी लगता है कि यह मूल-ग्रन्थ का है । यदि इसे मूल श्लोक नहीं माना जाय तो मूल में न्यूनता रह जाती है, क्योंकि तुला-परीक्षा के निर्णय का प्रकार अस्पष्ट ही रह जाता है । अतः इस श्लोक को मूल-ग्रन्थ का ही अङ्ग मानना उचित है । भूमिकान्तर्गत

श्लोक संख्या विवरण के प्रसङ्ग में इस का सङ्केत नहीं हो सका। अतः पाठक से क्षमा-याचना अपेक्षित है।

श्लो० १०३—अश्वत्थपत्राणि—यहाँ अपरार्क में उद्धृत निम्न-लिखित स्मृति पर ध्यान देना अपेक्षित है :—

पितामहः—

सप्त पिप्पलपत्राणि शमीपत्राण्यथाक्षतान्।
हस्तयोर्निक्षिपेत्तत्र तन्तुसूत्रस्य सप्त वै॥

वीरमित्रोदय में कुछ और भी विशेष बात बतलाई गई है :—

"अत्र, "शम्यक्षतन्तथा दूर्वां दत्वा पत्रेषु विन्यसेत्" इति विशेषः स्मृत्यन्तरेऽभिहितः"।

श्लो० १०६—मण्डलानि—गोमय के द्वारा निर्मित होना चाहिए।

श्लो० १०७—मुक्त्वाग्निम्—यहाँ शूलपाणि का कथन अवश्य-ध्येय है :—

"गत्वा तत्तु तृणे क्षिपेत्" इति कालिकापुराणवचनात्।
अग्निवर्णं लोहपिण्डं तृणचये क्षिप्त्वा...... ॥

अदग्धः—करभिन्ने अङ्गे दग्धोऽपि शुद्ध एव (वीरमित्रोदयः)

श्लो० ११४—इच्छया—यह केवल पिता के द्वारा अर्जित धन में ही, यदि पितामह आदि का अर्जित हो तो पिता को अनिच्छा से भी विभाग हो सकता है। अतएव बृहस्पति का कथन है :—

क्रमागते गृहक्षेत्रे पितापुत्राः समांशिनः॥

श्लो० ११५—पत्न्यः = पुत्रशून्याः—शूलपाणिः।

श्लो० ११६—अनीहमानस्य—यः पुत्रः धनार्जनसमर्थतया पितृधनं नेच्छति, यो वा धनार्जनसमर्थोऽपि शठतया धनस्यार्जनरक्षणानुकूलां चेष्टां न कुरुते तस्मै किञ्चिदसारं दत्वा पित्रा पृथक् क्रिया कार्या—(अपरार्कः) यह नियम पिता की सम्पत्ति के विभाजन में नहीं होता अपि तु सभी भाई जो कृषि आदि के द्वारा धनार्जन करते हैं उस धन में आलस्यवशात् कार्यविमुख भ्राता अंशहर नहीं हो सकता है। इसी प्रकार विद्या आदि से स्वतन्त्र धन को अर्जित करने की शक्ति से सम्पन्न भ्राता को भी पहले ही पृथक् कर देना चाहिए। इसका कारण यह है कि जो विद्या से अर्जित धन होता है उसमें दूसरे का अंश नहीं होता है एवञ्च यदि सभी साथ रहें तो विद्या से अर्जन करने वाले को समूह में कृषि के द्वारा अर्जित धन में अंश मिल जाता है

और विद्या से भी अतः विद्या-प्राप्त व्यक्ति को अनुचित लाभ से रोकने के लिए यह नियम बतलाया गया है । धर्मः—अत एव बृहस्पति का वचन है :—

समन्यूनाधिका भागाः पित्रा येषां प्रकल्पिताः ।
तथैव ते पालनीया विनेयास्ते स्युरन्यथा ॥

श्लो० ११७—अन्वयः—दुहित्रभावे दुहित्रन्वयः, तदभावे पुत्रादिरेव—(अपरार्कः)

श्लो० ११९—विद्यया लब्धम्—विद्यालब्ध धन की व्याख्या कात्यायन ने निम्नलिखित वचनों द्वारा की है :—

परभक्तप्रदानेन प्राप्ता विद्या यदाऽन्यतः ।
तया च प्राप्तं विधिना विद्या-प्राप्तं तदुच्यते ॥
उपन्यस्ते च यल्लब्धं विद्यया पणपूर्वकम् ।
विद्याधनं तु तद्विद्याद् विभागे न विभज्यते ॥
शिष्यादार्त्विज्यतः प्रश्नात् सन्दिग्धप्रश्ननिर्णयात् ।
स्वज्ञानशंसनाद् वादाद् लब्धं प्राज्यधनाच्च यत् ॥
विद्याधनन्तु तत्प्राहुर्विभागे न विभज्यते ॥

श्लो० १२०—समः स्मृतः—"एतदविद्यानाम् इत्याह मनुः—
अविद्यानां च सर्वेषामीहातश्चेद्धनं भवेत् ।
समस्तत्र विभागः स्यादपित्र्य इति धारणा ॥" (शूलपाणिः)

श्लो० १२१—निबन्धः = आकरादौ राजादिदत्तं नियतद्रव्यम्—(शूलपाणिः)

सदृशं स्वाम्यम्—अत एव बृहस्पति का भी मत है :—
द्रव्ये पितामहोपात्ते स्थावरे जङ्गमे तथा ।
सममंशित्वमाख्यातं पितुः पुत्रस्य चैव हि ॥

श्लो० १२२—विभागभाक् = पिता के धन का भागी होता है । यह नियम विभाग के उत्तर काल में यदि सवर्णा में गर्भाधान हुआ हो, तब उपयुक्त है । विभाग से पूर्व ही गर्भाधान होने पर तो सर्व-भ्रातृ-सम-अंश का भागी होता है :—

पितृविभक्तविभागानन्तरोत्पन्नस्य भागं दद्युः (विष्णुः)
उपर्युक्त मत शूलपाणि का है ।

श्लो० १२३—माता—इस प्रसङ्ग में कुछ विशेष बात व्यास ने बतलाई है :—

असुतास्तु पितुः पत्न्यः समानांशाः प्रकीर्त्तिताः ।
पितामह्यश्च सर्वास्ता मातृतुल्याः प्रकीर्तिताः ॥

श्लो० १२६—द्रव्यं समैरंशैः—यह ऋण का भी उपलक्षण है । अत एव मनु का कथन है :—

ऋणे धने च सर्वस्मिन् प्रविभक्ते यथाविधि ।
पश्चाद् दृश्येत यत् किञ्चित् तत्सर्वं समतां नयेत् ॥

श्लो० १३०—पौनर्भवः—इसका लक्षण कात्यायन ने बतलाया है :—

क्लीबं विहाय पतितं या पुनर्लभते पतिम् ।
तस्यां पौनर्भवो जातो व्यक्तमुत्पादकस्य सः ॥

श्लो० १३१—गर्भे विन्नः सहोढजः—

इसका स्पष्ट लक्षण मनुस्मृति में किया गया है :—

या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताऽज्ञाताऽपि वा सती ।
वोढुः स गर्भो भवति सहोढ इति चोच्यते ॥

श्लो० १३२—पुत्र-प्रतिनिधीनां मध्ये दत्तक एव कलियुगे ग्राह्यः । अत एव कलौ निवर्त्तन्ते इत्यनुवृत्तौ शौनकेनोक्तम्—

दत्तौरसेतरेषां तु पुत्रत्वेन परिग्रहः । (अपरार्कः)

श्लो० १३५—पितरौ—यद्यपि विग्रह-वाक्य में (माता च पिता च = पितरौ) मातृ का प्रथम प्रयोग होता है; अतः पत्नी के बाद दुहिता तथा दुहिता के बाद माता, पिता इत्यादि क्रम प्रतीत होता है और विज्ञानेश्वर ने यही माना भी है तथापि यहाँ विग्रहगत पौर्वापर्य विवक्षित नहीं है । एवञ्च पत्नी, दुहिता, पिता, माता इत्यादि क्रम समझना चाहिए । अतएव विष्णु का वचन है :—

अपुत्रधनं पत्न्यभिगामि, तदभावे दुहितृगामि, तदभावे दौहित्रगामि, तदभावे पितृगामि, तदभावे मातृगामि, तदभावे भ्रातृगामि, तदभावे भ्रातृपुत्र-गामि, तदभावे सकुल्यगामि ।

अत एव कात्यायन का भी मत है :—

अपुत्रस्याप्यकुलजा पत्नी दुहितरोऽपि वा ।
तदभावे पिता माता भ्राता पुत्राः प्रकीर्त्तिताः ।

पुत्राः = भ्रातृपुत्राः । किन्तु शूलपाणि ने अपुत्रधनं पत्न्यभिगामि, तद-भावे दुहितृगामि, तदभावे मातृगामि, तदभावे पितृगामि······ऐसा ही उपर्युक्त विष्णु-वचन का स्वरूप माना है ।

कुल्लूकभट्ट का मत कुछ और ही है।

अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात्।
मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम्॥

इस श्लोक की व्याख्या में कुल्लूकभट्ट का कथन निम्नलिखित है :—

"अनपत्यस्य पुत्रस्य धनं माता गृह्णीयात्, पूर्वं "पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थम्" इत्युक्तत्वात् इह 'माता हरेदि'त्यादि। याज्ञवल्क्येन 'पितरौ' इत्येकशेषकरणात्, विष्णुना च—अपुत्रस्य धनं पत्न्यभिगामि, तदभावे दुहितृगामि, तदभावे पितृगामि इत्येकशेषस्यैव कृतत्वात् मातापितरौ विभज्य गृह्णीयाताम्॥"

यहाँ पत्नी का अर्थ पतिव्रता पत्नी है। अत एव वृद्ध मनु का कथन है:—

अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती व्रते स्थिता।
पत्न्येव दद्यात् तत्पिण्डं कृत्स्नमंशं लभेत च॥

अन्यथा तो सोदर को अधिकार होता है। इस पक्ष में निम्न लिखित शंख-लिखित वचन प्रमाण है :—

अथापुत्रस्य स्वर्यातस्य भ्रातृगामि द्रव्यं तदभावे मातापितरौ लभेतां पत्नी वा ज्येष्ठा।

श्लो० १४०—जडः = स्वधर्मकृत्ये निरुत्साहः—(शूलपाणिः)

श्लो० १४९—विभागव्यञ्जक तत्त्वों का उल्लेख नारद ने किया है :—

पृथगायव्ययधनाः कुसीदं च परस्परम्।
वणिक्पथं च ये कुर्युर्विभक्तास्ते न संशयः॥

श्लो० १६०—विवीतः = तृण आदि के निमित्त सुरक्षित भूमि।

श्लो० १६१—गोमी = गोस्वामी। गो के द्वारा भक्षित धान्य की याचना में उशना ने दोष बतलाया है :—

गोभिर्विनाशितं धान्यं यो नरः प्रतियाचते।
पितरस्तस्य नाश्नन्ति न चाश्नन्ति दिवौकसः॥

(तस्य धान्यम् न अश्नन्ति)।

श्लो० १६७—धनुः = चतुर्हस्तो धनुः। खर्वटः=ग्रामादधिकः नगराल्न्यूनः गृहसमूहः—(अपरार्कः)

श्लो० १—स्वं लभेत—अस्वामिविक्रीत पदार्थ में स्वामी का स्वत्व नष्ट नहीं होता है :—

अस्वामिना कृतो यस्तु दायो विक्रय एव वा।
अकृतः स तु विज्ञेयो व्यवहारे यथास्थितिः॥

श्लो० १७१—यहाँ मनु ने विशेषता बतलाई है :—

सम्भोगो दृश्यते यत्र न दृश्येतागमः क्वचित् ।
आगमः कारणं तत्र न संभोग इति स्थितिः ॥

श्लो० १७३—अर्वाक् संवत्सरात्—मनु के द्वारा "राजा ऽब्दं निधापयेत् ।" जो कहा गया है वह सुवर्णादि स्थिर वस्तुओं के विषय में है, ऐसा शूलपाणि का मत है।

श्लो० १७५—नान्वये सति सर्वस्वम्—एतच्च प्रागदायविभागात्, विभक्तदायेषु तु पुत्रेषु सर्वस्वदानमनिषिद्धम्—(अपरार्कः)

श्लो० १७६—दत्त्वा नापहरेत्—अपहरण करने पर दोष का निर्देश हारीत ने किया है :—

प्रतिश्रुताऽप्रदानेन दत्तसंच्छेदनेन च ।
विविधान्नरकान्याति तिर्यग्योनौ च जायते ॥

श्लो० १७७—परीक्षण के पहले दोष निकलने पर कृत्य का निर्देश बृहस्पति ने किया है :—

अतोऽर्वाक् पण्यदोषस्तु यदि संजायते क्वचित् ।
विक्रेतुः प्रतिदेयं तत् क्रेता मूल्यमवाप्नुयात् ॥

मूल्य का तात्पर्य है कि बिना सूद का ही मूलधनमात्र प्रत्यर्पणीय होता है।

श्लो० १८३—आमरणान्तिकम्—अत एव नारद का कथन है :—

राज्ञ एव तु दासः स्यात् प्रव्रज्याऽवसितो नरः ।
न तस्य प्रतिमोक्षोऽस्ति न विशुद्धिः कथञ्चन ॥
द्वावेव कर्मचाण्डालौ लोके दूरबहिष्कृतौ ।
प्रव्रज्योपनिवृत्तश्च वृथा प्रव्रजितश्च यः ॥

'वृथा प्रव्रजितः' का अर्थ है प्रव्रज्या का अनधिकारी शूद्र यदि प्रव्रज्या का ग्रहण करे तो उससे भी आमरण दास्य करवाना चाहिए। परन्तु ब्राह्मण के प्रव्रज्याच्युत होने पर भी दास्य विहित नहीं है। ब्राह्मण के दण्ड का निरूपण वृष ने किया है :—

पारिव्राज्यं गृहीत्वा तु यः स्वधर्मे न तिष्ठति ।
श्वपादेनाङ्कितं तन्तु राजा शीघ्रं विवासयेत् ॥

कात्यायन-कथित प्रकार भी निम्नलिखित है :—

प्रव्रज्याऽवसिता यत्र त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
निर्वासं कारयेद्विप्रं दासत्वं क्षत्रविन्नृपः ॥

श्लो० १८५—इस प्रसंग में बृहस्पति के निम्नलिखित वचन अवधान योग्य हैं :—

राजा वेदविदो विप्रान् श्रोत्रियानग्निहोत्रिणः ।
आकृष्य स्थापयेत्तत्र तेषां वृत्तिं प्रकल्पयेत् ।
नित्यं नैमित्तिकं काम्यं शान्तिकं पौष्टिकन्तथा ।
पौराणां कर्म कुर्युस्ते सन्दिग्धौ निर्णयस्तथा ॥

श्लो० १९३—कर्म त्यजन् = समर्थ होकर भी कर्म नहीं करने वाला भृत्य ।

श्लो० १९४—दशमं भागम्—यह नियम अल्पश्रमकारी भृत्यों के विषय में है। यदि श्रमाधिक्य हो तो निम्नलिखित बृहस्पति-वचनों के आधार पर विधान करना चाहिए:—

त्रिभागं पञ्चभागं वा गृह्णीयात्सीरवाहकः ।
भक्ताच्छादभृतः सीराद्भागं गृह्णीत पञ्चमम् ।
जातसस्यात् त्रिभागन्तु प्रगृह्णीयादथाऽभृतः ॥

भक्त = भोजन, आच्छाद = वस्त्र, आवास आदि, अभृतः = भोजनादि-रहित भृत्य ।

श्लो० १९७—भाण्डम् = वणिग्धनम् कुङ्कुमादिकम् ।

श्लो० २०१—जेत्रे दद्यात्—यहाँ निम्न-निर्दिष्ट बृहस्पति-वचन अवधान-योग्य है :—

रहो-जितोऽनभिज्ञश्च कूटाक्षैः कपटेन वा ।
मोच्योऽभिज्ञोऽपि सर्वस्वं जितः सर्वं न दाप्यते ॥

श्लो० २०२—सचिह्नं निर्वास्याः—नारद के अनुसार चिह्न का अर्थ है:-

कूटाक्षदेविनः पापान् राजा राष्ट्राद्विवासयेत् ।
कण्ठेऽक्षमालामासज्य स ह्येषां विनयः स्मृतः ॥

यहाँ द्वितीय पाद में शूलपाणि के अनुसार "निर्हरेद् द्यूतमण्डलात्" पाठ है, न कि 'राष्ट्राद्विवासयेत्' (यह पाठ मिताक्षरा में है)। विनयः = दण्ड । विष्णु के अनुसार चिह्न का अर्थ निम्नलिखित है :—

द्यूते च कपटाक्षदेविनां करच्छेदः, उपधिदेविनां संदंशच्छेदः ।

उपधिः = हस्तचातुरी से यथेच्छ रूप में अक्ष का देवन-प्रकार । संदंश = अङ्गुष्ठ ।

यद्यपि मनु ने कहा है कि—

द्यूतं समाह्वयं चैव यः कुर्याद् यस्तु कारयेत् ।
तान्सर्वान् घातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः ॥

तथापि यह नियम राजपुरुषानधिष्ठित द्यूत आदि के विषय में है । अत एव बृहस्पति का कथन है :—

द्यूतं निषिद्धम्मनुना सत्यशौचधनापहम् ।
तत्प्रवर्तितमन्यैश्च राजभागसमन्वितम् ॥

श्लो० २११—वाक्पारुष्यप्रकरणोक्त दण्ड में ह्रास का कारण उशना ने बतलाया है :—

मोहात् प्रमादात् संहर्षात् प्रीत्या चोक्तं मयेति यः ।
नाहमेवं पुनर्वक्ष्ये दण्डार्धं तस्य कल्पयेत् ॥

श्लो० २१२—यह दण्ड-पारुष्य का प्रकरण है । दण्ड-पारुष्य का लक्षण बृहस्पति ने बतलाया है :—

दण्ड-पाषाण-लगुडैर्भस्म-कर्दम-पांसुभिः ।
आयुधैश्च प्रहरणं दण्ड-पारुष्यमुच्यते ॥

श्लो० १२२—समुत्थानजं व्ययम्—तात्पर्य यह है कि उस व्यक्ति का व्रण आदि निवृत्त जब तक होता है तब तक का सारा खर्च व्रणकर्त्ता को देना होता है । अत एव कात्यायन का कथन है :—

समुत्थानव्ययं चासौ दद्यादाव्रणरोपणात् ॥

इस नियम के अपवाद नारद के द्वारा निर्दिष्ट हुए हैं :—

अनुशास्यो गुरूणां तु न चेदनुविधीयते ।
अवधेनाथ वा हन्याद् रज्ज्वा वेणुदलेन वा ॥
भृशं न ताडयेदेनं नोत्तमाङ्गे न चोरसि ।
अनुशास्य च विश्वास्यः शास्यो राज्ञाऽन्यथा गुरुः ॥
पुत्राऽपराधे न पिता श्ववान्न शुनि दण्डभाक् ।
न मर्कटे च तत्स्वामी तेनैव प्रहतो नु चेत् ॥

अवधेन = अहिंसया ।

श्लो० २२८—चैत्यः = मनोहर स्थान—(अपरार्कः) चैत्यः उद्देशवृक्षः—(शूलपाणिः)

श्लो० २२९—यहाँ विष्णु का वचन अवधान देने योग्य है :—फलोपभोगद्रुमच्छेदी तूत्तमसाहसं दण्ड्यः । पुष्पोपभोगच्छेदी मध्यमम् । वल्लीगुल्मलताच्छेदी कार्षापण-शतम् । तृणच्छेद्येकम् ॥

श्लो० २३९—साक्षिणाम्—जो व्यक्ति विरोध का समाधान करने में समर्थ होकर भी ईर्ष्या-द्वेषादि के कारण समाधान नहीं करता है अपि तु पिता-पुत्र के विवाद में साक्षित्व को स्वीकार करता है, उस वर्ग के लोगों के लिए 'त्रिपणो दमः' कहा गया है। यह नियम भी मध्यम अपराध के लिए है। यदि अपराध अधिक हो तो निम्न-लिखित विष्णु के वचन के अनुसार दण्ड करना चाहिए :—

पितृ-पुत्र-विरोधसाक्षिणां दशपणो दण्डः।
यस्तयोरन्तरे तस्योत्तमसाहसो दण्डः॥

श्लो० २४१—नाणकपरीक्षी = टङ्क-परीक्षक। यहाँ निम्न-निर्दिष्ट बृहस्पति-वचन को देखना चाहिए :—

अल्पमूल्यं तु संस्कृत्य नयन्ति बहुमूल्यताम्।
स्त्रीबालकान् वञ्चयन्ति दण्ड्यास्तेऽर्थानुरूपतः॥
हेम-मुक्ता-प्रवालाद्यं कृत्रिमं कुर्वते तु ये।
क्रेत्रे मूल्यं प्रदाप्यास्ते राज्ञा तद्द्विगुणं दमम्॥

श्लो० २४२—तिर्यक्षु = गो आदि पशुओं के विषय में।

श्लो० २४९—कारुः = तन्तुवाय। सम्भूय = राजा की अनुमति के विना ही अपने वर्ग में मिलकर।

श्लो० २५२—सद्यः—इससे यह स्पष्ट है कि विलम्ब होने पर यह नियम नहीं है। इसी का प्रपञ्च अग्रिम श्लोक में किया गया है, जिससे अव्यवस्था नहीं हो जाय।

श्लो० २५४—विष्णु के अनुसार विक्रीयासम्प्रदान में दण्ड भी निर्दिष्ट है :—

गृहीतमूल्यं यः पण्यं क्रेतुर्नैव दद्यात् तस्यासौ
सोदयं दाप्यः राज्ञा च पणशतं दण्ड्यः॥

श्लो० २५५—अत एव नारद का भी कथन है :—

दीयमानं न गृह्णाति क्रीतं पण्यं च यः क्रयी।
स एवास्य भवेद्दोषो विक्रेतुर्योऽप्रयच्छतः॥

श्लो० २५९—यहाँ समवाय मे प्रतिषिद्ध तथा विहित व्यक्तियों का निर्देश बृहस्पति ने किया है :—

अशक्तालसरोगार्तमन्दभाग्य-निराश्रयैः।
वाणिज्याद्याः सहैतैस्तुः न कर्त्तव्या बुधैः क्रियाः॥

कुलीनदक्षानलसैः प्राज्ञैर्नाणकवेदिभिः ।
आयव्ययज्ञैः शुचिभिः शूरैः कुर्यात् सह क्रियाः ॥

निराश्रयैः = मूलधनहीन व्यक्तियों के साथ (नहीं करना चाहिए) लाभाऽलाभौ यथाद्रव्यम्—अत एव नारद का कथन है :—

फलहेतोरुपायेन कर्म सम्भूय कुर्वताम् ।
आधारभूताः प्रक्षेपाः उत्तिष्ठेरंस्ततोंऽशतः ॥
समोऽतिरिक्तो हीनो वा यत्रांशो यस्य यादृशः ।
क्षयाऽक्षयौ तथा वृद्धिस्तत्र तस्य तथाविधाः ॥

उन सबों में परस्पर-विवाद उपस्थित होने पर निर्णय का प्रकार बृहस्पति ने बतलाया है :—

परीक्षकाः साक्षिणश्च त एवोक्ताः परस्परम् ।
सन्दिग्धेऽर्थेऽवञ्चनीया न चेद्विद्वेषसंयुताः ॥
यः कश्चिद्वञ्चकस्तेषां विज्ञातः क्रय-विक्रये ।
शपथैः स विशोध्यः स्यात् सर्ववादेष्वयं विधिः ॥

श्लो० २६०—दशमांशभाक्—दशम अंश तो रक्षा-कार्य के पुरस्कार के रूप में देकर शेष में यथोचित अंश का भागी होता है। अत एव बृहस्पति का कथन है :—

दैवराजभयाद् यस्तु स्वशक्त्या परिपालयेत् ।
तस्यांशं दशमं दत्त्वा गृह्णीयुस्तेंऽशतोऽपरम् ॥

श्लो० २७७—प्रमापणम् = हत्या ।

श्लो० २७९—गोभिः प्रमापयेत् = तीक्ष्णश्रृङ्ग बलीवर्द के द्वारा मरवाना चाहिए। अपरार्क ने तो 'गोभिः प्रवासयेत्' पाठ मान कर 'बलीवर्दमारोप्य देशाद्बहिः कुर्यात्'—ऐसा अर्थ किया है ।

श्लो० २८४—संग्रहण के तीन भेद का निर्देश बृहस्पति ने किया है :—

बलोपाधिकृते द्वे तु तृतीयमनुरागजम् ।
तत्पुनस्त्रिविधम्प्रोक्तं प्रथमं मध्यमोत्तमम् ॥
अनिच्छन्त्या यत् क्रियते सुप्तोन्मत्त-प्रमत्तया ।
रहसि प्रलपन्त्या वा बलात्कारकृतं तु तत् ॥
छद्मना गृहमानीय दत्त्वा वा मद्यकार्मणम् ।
संयोगः क्रियते यस्याः तदुपाधिकृतं विदुः ॥
अन्योन्य-चक्षूरागेण दूतीसम्प्रेषणेन च ।

कृतं रूपार्थलोभेन ज्ञेयं तदनुरागजम् ॥
अपाङ्गप्रेक्षणं हास्यं दूतीसम्प्रेषणन्तथा ।
स्पर्शो भूषण-वस्त्राणां प्रथमः संग्रहः स्मृतः ॥
प्रेषणं गन्धमाल्यानां फलमद्यन्नवाससाम् ।
सम्भाषणं च रहसि मध्यमं संग्रहं विदुः ॥
एकशय्यासनं क्रीडा चुम्बनालिङ्गने तथा ।
एतत्संग्रहणम्प्रोक्तमुत्तमं शास्त्रवेदिभिः ॥

श्लो० २९१—प्रसह्य दास्यभिगमे—परदासीं हठादभिगच्छतो दशपणो दण्डः—(अपरार्कः)

श्लो० २९४—कुबन्धेन—यहाँ अपरार्क तथा शूलपाणि ने 'कबन्धेन' पाठ माना है और इसका शिरोरहित पुरुष के आकार का अङ्कन अर्थ किया है ।

धर्मशास्त्रानुसारेण ग्रथितेयं यथामति ।
टिप्पणी याज्ञवल्क्योक्त-व्यवहारे समापिता ॥

प्रायश्चित्ताध्याय

श्लो० १—ऊनद्विवार्षिकम्—यह नियम चूड़ाकरणहीन शिशु के लिए है। यदि तु प्रथम वर्ष में ही चूड़ाकरण हो जाता है, अनन्तर शिशु की मृत्यु होती है तो वहाँ विना मन्त्र से ही अग्नि संस्कार तथा उदक-दान करना ही चाहिए। अत एव लौगाक्षि का कथन है :—

तूष्णीमेवोदकं कुर्यात् तूष्णीं संस्कारमेव च।
सर्वेषां कृतचूडानामन्यत्रापीच्छया द्वयम् ॥

अधिक विवरण तो मिताक्षरा में ही दिया गया है।

प्रेत-निर्हरण में दिशा का नियम आदिपुराण में बतलाया गया है :—

पूर्वामुखस्तु नेतव्यो ब्राह्मणो बन्धवैर्गृहात्।
उत्तराभिमुखो राजा वैश्यः पश्चान्मुखस्तथा।
दक्षिणाऽभिमुखः शूद्रो निर्हर्त्तव्यः स्वबान्धवैः ॥

श्लो० २—यमसूक्तम्—'परेयिवांसम्' इत्यादि सूक्त (ऋग्वेद ७। ६। १४)। यम-गाथा—नाके सुपर्णम् इत्यादि मन्त्र (ऋग्वेद ७। ३। ११)।

श्लो० ४—कामोदकम्—अत एव पारस्कर का भी कथन है:—"कामोदकम् ऋत्विक् श्वशुर-सखि-मातुल-भागिनेयानाम्"।

श्लो० ५—सकृत्प्रसिञ्चन्ति—यह उदक प्रेत को प्राप्त होता है। अत एव रामायण में कहा गया है :—

इदं पुरुषशार्दूल विमलं दिव्यमक्षयम्।
पितृलोकेषु पानीयं मद्दत्तमुपतिष्ठताम् ॥

सकृत्—त्रित्व का भी विधान शास्त्र में है :—

प्रेतं मनसा ध्यायन् दक्षिणाऽभिमुखः त्रीन् उदकाञ्जलीन् निनयेत्—(पैठीनसि।

अतः विकल्प मानना चाहिए। न ब्रह्मचारिणः—यह उपलक्षण है। अत एव बृहस्पति ने कहा है—

नैष्ठिकानां वनस्थानां यतीनां ब्रह्मचारिणाम्।
नाऽऽशौचं सूतके प्रोक्तं शावे वाऽपि तथैव च ॥

श्लो० ८—मानुष्ये कदली०—यह उपलक्षण है। यथासम्भव उपदेश देकर संस्कर्ता को शान्त करना चाहिए।

श्लो० १६—क्रीत-लब्धाशनाः—यहाँ निम्नलिखित बृहस्पति-वचन द्रष्टव्य है :—

अधः शय्यासनाः दीना मलिना भोगवर्जिताः ।
अक्षार-लवणान्नाः स्युः लब्धक्रीताशनास्तथा ॥

श्लो० १८—त्रिरात्रं दशरात्रं वा—ये दोनों पक्ष क्रमशः सकुल्य अथवा समानोदक एवं सपिण्ड के लिए हैं । अत एव बृहस्पति का वचन है :—

दशाहेन सपिण्डास्तु शुध्यन्ति प्रेत-सूतके ।
त्रिरात्रेण सकुल्यास्तु स्नात्वा शुध्यन्ति गोत्रजाः ॥

इसका सम्बन्ध केवल ब्राह्मण से है । क्षत्रियादि के लिए क्षत्रस्य द्वादशाहानि आदि श्लोक में बतलाया जायगा ।

श्लो० २०—शेषाहोभिः—अत एव बृहस्पति का भी मत है :—

आशौचे वर्तमाने तु पुनर्दाहक्रिया यदि । तच्छेषेणैव शुद्धिः स्यात्··· ॥

अधिक विवेचन के लिए धर्मशास्त्र-निबन्ध द्रष्टव्य हैं ।

श्लो० २७—नाशौचम्—परन्तु मनु आदि ने सद्यः शौच माना है :—

राज्ञो माहात्मिके स्थाने सद्यः शौचं विधीयते ।
प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चात्र कारणम् ॥
डिंभाहवहतानाञ्च विद्युता पार्थिवेन च ।
गो-ब्राह्मणस्य चैवार्थे यस्य चेच्छति पार्थिवः ॥

बृहस्पति का भी यही मत है :—

राजानः श्रोत्रियाश्चैव सद्यः शौचाः प्रकीर्तिताः ।
डिम्भाहवे विद्युता च राज्ञा गोविप्रपालने ।
सद्यः शौचं हतस्याहुः त्र्यहं चान्ये महर्षयः ॥

श्लो० ३५—आपत्काल में भी ब्राह्मण को शूद्र-वृत्ति का अनुसरण नहीं करना चाहिए । अत एव बृहस्पति का कथन है :—

अजीवन् कर्मणा स्वेन विप्रः क्षत्रं समाश्रयेत् ।
वैश्यकर्माथवा कुर्यात् वार्षलं परिवर्जयेत् ॥

पावयित्वा—इस प्रसङ्ग में बृहस्पति का मत भी निम्नलिखित है :—

लब्ध-लाभः पितॄन् देवान् ब्राह्मणांश्चैव भोजयेत् ।
ते तुष्टास्तस्य तं दोषं शमयन्ति न संशयः ॥

श्लो० ४८—दान्तः = शीतातपादिदुःखसहिष्णुः—(शूलपाणिः)
अनिषिद्धोद्यमः, मृषावादादिभ्य उपरतः—(अपरार्कः)

श्लो० ५४—वानप्रस्थगृहेषु-यदि सम्भव हो तब। अन्यथा निम्नलिखित मनुस्मृति के अनुसार भिक्षाहरण करना चाहिए :—

तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत्।
गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु॥

श्लो० ५५—भुञ्जीत वाग्यतः—यहाँ भी निम्न निर्दिष्ट मनु-वचन द्रष्टव्य है :—

ग्रामादाहृत्य वाऽश्नीयादष्टौ ग्रासान् वने वसन्।
प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा॥

वायु·भक्षः—वायुपद जल का भी उपलक्षण है। अत एव मनु का कथन है :—

आनिपाताच्छरीरस्य युक्तो वार्यनिलाशनः॥

श्लो० ५७—नान्यथा—अत एव मनु ने कहा है :—

अनधीत्य द्विजो वेदानुत्पाद्य तथा सुतान्।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः॥

श्लो० ५८—त्रिदण्डी—इसका विशेष विवरण नरसिंहपुराण के निम्नलिखित श्लोकों में देखना चाहिए :—

त्रिदण्डं वैणवं सौम्यं सत्वचं समपूर्वकम्।
वेष्टितं कृष्णगोवालरज्ज्वा च चतुरङ्गुलम्॥
ग्रन्थिभिर्वा त्रिभिर्युक्तं जलपूतेन चोपरि।
गृह्णीयात् दक्षिणे हस्ते मन्त्रेणैव तु मन्त्रवित्॥

श्लो० ६०—तैजसद्रव्य-विनिर्मित-भिक्षा-पात्र की निन्दा यम ने की है :—

सुवर्णरौप्यपात्रेषु ताम्रकांस्यायसेषु च।
भिक्षादातुर्न धर्मोऽस्ति ग्रहीता नरकं व्रजेत्॥

विशेष विवरण के लिए नरसिंहपुराण के निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य हैं :—

ततो निवृत्य तत्पात्रं संस्थाप्याचम्य संयमी।
चतुरङ्गुलैः प्रक्षाल्य ग्रासमात्रं समाहितः॥
सर्वव्यञ्जनसंयुक्तं पृथक्पात्रे निवेदयेत्।
सूर्यादिदेवभूतेभ्योऽथ दत्वाऽन्नं प्रोक्षयवारिणा॥
भुञ्जीत पर्णपुटके पात्रे वा वाग्यतो यतिः।

वटार्काश्वत्थपर्णेषु कुम्भी तिन्दुकपर्णयोः ।
कोविदारकरञ्जेषु न भुञ्जीत कदाचन ॥
समलाः सर्वं उच्यन्ते यतयः कांस्य-भोजिनः ।
कांस्यकस्य तु यत्पापं गृहस्थस्य तथैव च ॥
कांस्य-भोजी यतिः सर्वं प्राप्नुयात् किल्बिषं तयोः ।
भुक्त्वा पात्रं यतिर्नित्यं क्षालयेन्मन्त्रपूर्वकम् ॥
न दुष्येतास्य तत्पात्रं यज्ञेषु चमसा इव ॥ इत्यादि ।

श्लो० ६७—ब्रह्म-पुराण में भी कहा गया है :—

एकस्मादेव चैतन्याज्जाताः क्षेत्रज्ञजातयः ।
लोहज्वलनसंदीप्ता मरीचय इवोद्गताः ॥

इसके अतिरिक्त श्रुतिसहस्र इसका समर्थक है ।

श्लो० ७०—"तस्मादेतस्माद्वा आत्मन आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः" इत्यादि श्रुति इसके प्रमाण है ।

श्लो० ७४—आदिमिच्छतः—अत एव श्रुति भी कहती है :—"तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय" इत्यादि ।

श्लो० ७५—मास्यर्बुदं द्वितीये तु—यहाँ सुश्रुतसंहिता की उक्ति द्रष्टव्य है :—

"द्वितीये मास एव हि गर्भस्य सम्भवतः पूर्वं शिरः
सम्भवतीत्याह शौनकः, शिरोमूलत्वाद् देहेन्द्रियाणाम् ।
पाणि-पादमिति मार्कण्डेयः, तन्मूलत्वाच्चेष्टायाः गर्भस्य ।
नाभिरिति पाराशर्यः, ततो हि वर्धते देहो देहिनः ।
हृदयमिति कृतवीर्यः, बुद्धेर्मनसश्च स्थानत्वात् ।
मध्य-शरीरमिति सुभूतिर्गौतमः, तन्निबद्धत्वात् ।
सर्व-गात्रस्य सर्वाङ्गानि युगपत्सम्भवन्ति" इति (धन्वन्तरिः ।)

श्लो० ७९—दोषम्—अत एव श्रुति भी है :—

"दौर्हृदाऽदानात् काणं कुब्जं वामनं वा जनयति, तस्मात्सा यदिच्छेत्तत्तस्यै प्रदापयेत्, वीर्यवन्तं चिरायुषं जनयति" ।

श्लो० ८४—षट् त्वचो धारयन्ति—सुश्रुतसंहिता आदि में तो सात त्वचाओं का निर्देश है । उनके नाम हैं—अवभासिनी, रोहिता, श्वेता, ताम्रा, वेदिनी, रोहिणी, वंशधरा ।

श्लो० ११७—आत्मनस्त जगत्सर्वम्—इसमें निम्न-लिखित श्रुति प्रमाण है :—

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति······आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते······" इत्यादि ॥

श्लो० १२६—१२८—इन श्लोकों में पुरुषसूक्त के अर्थ का ही संग्रथन किया गया है।

श्लो० २१५—श्वित्री = श्वेतकुष्ठवान्।

श्लो० २१८—कर्म-विपाक का विवरण मनुस्मृति के बाहरवें अध्याय में भी देखना चाहिए।

श्लो० २२६—व्यवहार्यस्तु—यहाँ मनु का मत निम्न-लिखित है :—

अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः।
कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥

श्लो० २२८—इनमें से वेदनिन्दा, सुहृद्वध तथा अधीतनाशन को मनु ने सुरापान-सम माना है :—

ब्रह्मोज्झता वेदनिन्दा कौटसाक्ष्यं सुहृद्वधः।
गर्हितानाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट् ॥

श्लो० २२९—जैह्म्यमुत्कर्षे च वचोऽनृतम्—इन दोनों को मनु ने ब्रह्महत्या-सम माना है :—

अनृतं च समुत्कर्षे राजगामि च पैशुनम्।
गुरोश्चालीकनिर्बन्धः समानि ब्रह्महत्यया ॥

श्लो० २३४-२४२—इनका निर्देश मनुस्मृति के अध्याय-११, श्लोक-५९—६६ तक किया गया है।

श्लो० २५३—यह प्रायश्चित्त कामकार कृत सुरापान के लिए है। अतएव बृहस्पति का कथन है :—

सुरापाने कामकृते ज्वलन्तीं तां विनिःक्षिपेत्।
मुखे तया स निर्दग्धो मृतः शुद्धिमवाप्नुयात् ॥

श्लो० २५४—यह प्रायश्चित्त अबुद्धिपूर्वक सुरापान के लिए है, पूर्व प्रायश्चित्त का विकल्प नहीं है। इसका कारण यह है कि तुल्यता रहने पर ही विकल्प हो सकता है। यहाँ पर पूर्वोक्त प्रायश्चित्त तथा इस प्रायश्चित्त में तुल्यता नहीं है अतः विषय—भेद मानना आवश्यक है।

श्लो० २५५—पुनः संस्कारम्—इसका मूल निम्न-लिखित मनु-वचन में देखना चाहिए :—

यस्य कायगतं ब्रह्म मद्येनाप्लाव्यते सकृत्।
तस्य व्यपैति ब्राह्मण्यं शूद्रत्वं च स गच्छति ॥

श्लो० २५६—आयस्या योषिता—इसे भी सन्तप्त ही होना चाहिए। अत एव मनु का कथन है :—

सूर्मी ज्वलन्तीं स्वाश्लिष्येत् मृत्युना स विशुद्ध्यति ।

श्लो० २९१—अत एव मनु ने भी कहा है :—

हुङ्कारं ब्राह्मणस्योक्त्वा त्वंकारं च गरीयसः।
स्नात्वाऽनश्नन्नहः शेषमभिवाद्य प्रसादयेत् ॥
ताडयित्वा तृणेनापि कण्ठे बावध्य वाससा ।
विवादे वा विनिर्जित्य प्रणिपत्य प्रसादयेत् ॥

श्लो० २९८—कृतघ्नसहितान्—

इस प्रसङ्ग में स्कन्द-प्रमाण के वचन द्रष्टव्य हैं :—

ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरे च गुरुतल्पगे ।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृति ॥

कृतघ्न का विवरण भी वहीं दिया गया है :—

भर्तृपिण्डोपहर्ता च पितृपिण्डोपहारकः ।
गुरोर्गृहीत्वा विद्यां च दक्षिणां यो न यच्छति ॥

न यच्छति = गुरु के द्वारा दक्षिणा की याचना करने पर भी जो शिष्य दक्षिणा नहीं देता है।

पुत्रान् स्त्रियश्च यो द्वेष्टि यश्च तान् घातयेन्नरः ।
कृतस्य दोषं वदति स्वयं कामात् करोति न ॥
न स्मरेच्च कृतं यस्तु आश्रमान्यश्च दूषयेत् ।
सर्वांस्तानृषिभिः सार्धं कृतघ्नानब्रवीन्मनुः ॥
इत्थमाचार्यवचनं विभाव्य विविधोदितम् ।
याज्ञवल्क्यस्मृतौ लघ्वी टिप्पणी रचिता मया ॥
शूलपाण्यपरार्कौ च वीरमित्रोदयस्तथा ।
बालक्रीडा च विपुला व्याख्या अस्याः स्मृतेः स्थिताः ॥
ताभ्यः तथाऽन्यतः प्राप्तं सारं मानवमेव च ।
निबद्धमत्र विश्वेशाराधनायैव केवलम् ॥ ३ ॥
सिन्ध्वर्तुग्रहचन्द्राख्ये ख्रिस्ताब्दे याचिता त्वियम् ।
नारायणेन मिश्रेण काश्यां विश्वेशसन्निधौ ॥ ४ ॥

इति श्रीनारायणमिश्र-संग्रथिता याज्ञवल्क्यस्मृतिटिप्पणी समाप्ता ।

पद्यार्धानुक्रमणिका